भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास

(संस्कृत एवं हिन्दी-नाटकों के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० रामजी पाण्डेय

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), बी० एल्०, डी० लिट्०

पूर्ववर्त्ती रीडर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग

राजेन्द्र महाविद्यालय, छपरा (बिहार)





बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना ४

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास

(संस्कृत एवं हिन्दी-नाटकों के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० रामजी पाण्डेय
एम्० ए० (हिन्दी, संस्कृत), बी० एल्०, डी० लिट्०
पूर्ववर्त्ती रीडर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
राजेन्द्र महाविद्यालय, छपरा (बिहार)



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना-८०००४

प्रथम संस्करण : २,०००
विक्रमाब्द : २०३९; शकाब्द १९०४; खृष्टाब्द : १९८२

मूल्य : [redacted]
70/z

मुद्रक :
श्रीकृष्णचन्द्र बिश्नोई
रोहित प्रिंटिंग वर्क्स
लंगरटोली, पटना-८०००४

चण्डिकार्द्धांगिनी यस्य पुत्रौ चाद्‌भुतरूपिणौ ।
तं वन्दे ताण्डवानन्दं शङ्करं नागभूषणम् ॥

उज्ज्वलं चरितं किन्तु रूपं कृष्णं मनोहरम् ।
वन्दे नटवरं गोपीवल्लभं योगिनं परम् ॥

नाट्यशास्त्रप्रणेतारं नरानन्दप्रदं परम् ।
भरतं भारतं वन्दे कालिदासादिदायकम् ॥

वक्तव्य

डॉ० रामजी पाण्डेय द्वारा लिखित 'भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास' नामक ग्रन्थ सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक सन्तोष हो रहा है; क्योंकि कार्य-सम्पन्नता अपने-आप में एक आह्लादकारिणी उपलब्धि है। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने भारतीय नाट्य के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ इसका ऐतिहासिक विकास-पक्ष भी प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-नाट्य-ग्रन्थमाला में यह एक अभिनव अनुस्यूति है। स्वभावतः, इस प्रकाशन से हम आह्लादित हैं।

डॉ० पाण्डेय ने दसवीं शती के काफी पूर्व से, **भरत मुनि** और **अभिनवगुप्त** के काल से ही आरम्भ करते हुए, अत्याधुनिक नाट्यसमीक्षकों तक के मतों का संकलन कर अपना वैयक्तिक अभिमत व्यक्त किया है। फिर भी, हम यह दावा नहीं करते कि यह ग्रन्थ भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वांगपूर्ण है; क्योंकि नाट्य-विधा का विकास विश्व में अनवरत रूप से होता ही जा रहा है और भारतीय नाट्य-सिद्धान्त अब भारतीय सीमाओं तक ही सीमित नहीं हैं, न ही भारतेतर सिद्धान्तों, पद्धतियों एवं प्रेरणाओं से अप्रभावित हैं। इस प्रकार के परस्पर प्रभाव की समन्वय-प्रक्रिया स्वाभाविक तथा अभिनन्दनीय भी है।

अतः, हम भारतीय नाट्य-सिद्धान्त-शृंखला को इस ग्रन्थ के रूप में ही इत्यलम् न मान लें, प्रत्युत नव-नव विकास-शृंखलाएँ भी इसमें संयुक्त करते रहें। इसी भावना एवं प्रयोजना के अनुसार परिषद् ने रंगमंच-पक्ष-प्रधान ग्रन्थ 'नाटक और रंगमंच' का प्रकाशन किया है।

हम विद्वान् लेखक के श्रम एवं स्वाध्याय-साध्य इस साहित्यिक कार्य के लिए उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं और उनके प्रति शत-शत आभार भी निवेदित करते हैं। हम उनकी सारस्वत साधना की गति-प्रगति के साथ-साथ सुज्ञ पाठकों की शुभकामनाओं के भी आकांक्षी हैं।

३१ मार्च, १९८२ ई०
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—८००००४

△ रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

आमुख

शिव को नटराज कहा गया है। उन्होंने ताण्डव नृत्य तथा भगवती पार्वती ने लास्य नृत्य प्रदान करके भारतीय नाट्य में अपूर्व योगदान किया। वस्तुतः, विश्व की रंगशाला में नटराज शिव का अभिनय ही विभिन्न रूपों में दिखाई दे रहा है। इसीलिए, 'अभिनयदर्पण' में नाट्याचार्य नन्दिकेश्वर ने ग्रन्थारम्भ में नटराज शिव की स्तुति में लिखा है :

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङमयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥

भगवान् विष्णु भी अपने विभिन्न रूपों में विभिन्न रसों का अभिनय करने के लिए ही इस विश्व-रंगमंच पर अवतीर्ण हुए। विष्णु की वन्दना करते हुए धनंजय ने 'दशरूपक' के आरम्भ में लिखा है :

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च॥

प्रस्तुत ग्रन्थ भी नटराज शिव तथा नटवर विष्णु की अर्चना का ही आक्षरिक रूप है।

नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी संस्कृत-ग्रन्थ : भारतीय नाट्य-सिद्धान्त अत्यन्त समृद्ध तथा विकसित रहा है। भरत मुनि के बहुत पूर्व से ही नाट्य-सिद्धान्त पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। भरत के पूर्ववर्त्ती नाट्याचार्यों में से किसी का भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। किसी-किसी के कतिपय उद्धरण कुछ ग्रन्थों में मिलते हैं और कुछ नाट्याचार्यों के तो नाम-मात्र का ही उल्लेख पाया जाता है। परन्तु, जो कुछ हमें आज उपलब्ध है, वह भी अपर्याप्त नहीं है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य-सम्बन्धी विभिन्न विषयों का जितना सर्वांगीण विवरण मिलता है, उतना सम्भवतः किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं। इस ग्रन्थ में अनेक शास्त्रों का आधार लिया गया है और विविध कलाओं का विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के तद्विषयक ज्ञान का यह एक बृहत् कोश ही है। यह ग्रन्थ सभी परवर्त्ती नाट्य-शास्त्रियों का उपजीव्य रहा है।

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में अभिनवगुप्त सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने 'अभिनव-भारती' में 'नाट्यशास्त्र' की विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है। टीकाकार होते हुए भी अभिनवगुप्त ने नाट्य-सम्बन्धी अपने स्वतन्त्र तथा मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः, भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के विकास में अभिनवगुप्त का विशिष्ट स्थान है।

धनंजय का 'दशरूपक' दसवीं शती का ग्रन्थ है। इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें नाट्य के दस रूपों का विवरण है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धनंजय के समय तक नाट्य की कल्पना अत्यन्त संकुचित तथा अव्यावहारिक हो चुकी थी। यह 'नाट्यशास्त्र' के कुछ अध्यायों के आधार पर लिखित स्वतन्त्र ग्रन्थ है और नाट्य-सिद्धान्त के विकास में इसका विशेष महत्त्व है। यह छोटी पुस्तक कारिका-रूप में लिखी गई है और धनंजय के अनुज धनिक ने इसपर 'अवलोक' नाम की टीका लिखी है। वस्तुतः, 'अवलोक' 'दशरूपक' का पूरक कहा जा सकता है।

बारहवीं शती में रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र नामक दो जैन विद्वानों ने सम्मिलित रूप से 'नाट्यदर्पण' नामक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ कारिका-रूप में लिखा गया है और ग्रन्थकारों ने ही इसकी वृत्ति भी लिख दी है। इसमें 'नाट्यशास्त्र' तथा 'अभिनवभारती' का पूरा उपयोग किया गया है और 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों के मतों की, स्थान-स्थान पर, आलोचना की गई है। इस ग्रन्थ का भी अपना महत्त्व है।

बारहवीं शती का एक दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ शारदातनय का 'भावप्रकाशन' है, जिसमें 'दशरूपक' तथा 'नाट्यदर्पण' की अपेक्षा अधिक विस्तार से विषय का निरूपण किया गया है। 'भावप्रकाशन' का आधार अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है। यद्यपि, लेखक ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थों का आधार स्वीकार किया है, तथापि उनमें मौलिक दृष्टि भी है। नाट्य-सिद्धान्त के विकास में इस ग्रन्थ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

परवर्त्ती नाट्यशास्त्रियों में कविराज विश्वनाथ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के छठे परिच्छेद में नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन किया है। यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने 'साहित्यदर्पण' को एक समान महत्त्व दिया है।

इनके अतिरिक्त, अनेक संस्कृत-विद्वानों ने अपने ग्रन्थों द्वारा भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के विकास में अमूल्य योगदान किया है। वस्तुतः, हमारा प्राचीन संस्कृत-साहित्य इस दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है।

हिन्दी में नाट्यसिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ : सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'मुद्राराक्षस' नाटक का अनुवाद करते समय नाट्यसिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ की ओर ध्यान दिया और संवत् १९३९ वि० में 'नाटक' शीर्षक निबन्ध पूर्ण किया। उन्होंने इसका आधार संस्कृत तथा अँगरेजी, दोनों की ही नाट्यकला के ग्रन्थों को बनाया और अपना स्वतन्त्र विवेचन भी प्रस्तुत किया। उन्होंने दृश्यकाव्य के दो भेद——रूपक तथा उपरूपक के प्राचीन तथा नवीन भेद देने के बाद प्रस्तावना, वृत्ति आदि के साथ नाटक-रचना का विवरण दिया है, फिर अभिनय, नायक, भावद्योतन, रस आदि का विवेचन करके नाटकों का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। इस प्रकार, यद्यपि यह निबन्ध-ग्रन्थ संक्षिप्त है, तथापि इसमें नाट्यकला की लगभग सभी आवश्यक वस्तुओं का समावेश हो गया है और साथ ही संस्कृत तथा अँगरेजी-नाटकों का संक्षिप्त इतिहास भी आ गया है।

इसके बाद, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९०३ ई० में 'नाट्यशास्त्र' निबन्ध लिखा, जो सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें द्विवेदीजी ने भारतीय नाट्य-साहित्य की प्राचीनता की चर्चा की है; फिर रूपक, उपरूपक, पात्र-कल्पना, भाषा, वृत्ति आदि का संक्षेप में विवरण दिया है। पं० चन्द्रराज भण्डारी ने सन् १९२५ ई० में 'नाट्यकला-दर्शन' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक का आधा भाग मूल लक्ष्य से दूर हो गया है और शेष आधे भाग की विवेचना भी कुछ विशेष लाभदायक नहीं है।

इसी समय, अर्थात् सन् १९२५ ई० में ही, बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'समालोचक' में तथा संवत् १९८२ वि० की 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में नाट्यकला के कुछ अंगों का विवेचन किया और पीछे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' के छठे तथा सातवें अध्यायों में दृश्यकाव्य पर उचित रीति से प्रकाश डाला। उक्त ग्रन्थ के अन्य अध्यायों में रस, शैली आदि का भी विवेचन किया गया है। आगे चलकर, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा डॉ० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल ने मिलपर 'रूपक-रहस्य' लिखा, जो संवत् १९८८ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें रूपक के सभी पक्षों का सम्यक् विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ का आधार 'दशरूपक' तथा 'साहित्यदर्पण' है। हिन्दी में इस विषय पर इतना सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ इससे पहले नहीं निकला था।

संवत् १९८६ वि० में 'हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास' नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित हुई, जिसमें 'नाट्यशास्त्र' की कुछ बातें संक्षेप में कही गई हैं। सेठ गोविन्ददास ने संवत् १९९२ वि० में 'नाट्यकला-मीमांसा' नाम से एक छोटी पुस्तिका लिखी। इसमें यूरोपीय लेखकों के उद्धरण अधिक हैं और आधुनिक काल की नाट्यकला का बहुत संक्षेप में विवेचन किया गया है। संवत् १९९५ वि० में श्रीव्रजरत्नदास का 'हिन्दी-नाट्यसाहित्य' प्रकाशित हुआ। यह मूलतः नाटक का इतिहास-ग्रन्थ है, परन्तु इसके आरम्भिक ४४ पृष्ठों में नाट्य-सिद्धान्त की भी चर्चा की गई है।

कुछ दिनों के बाद आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने 'अभिनव नाट्यशास्त्र' नामक विशाल ग्रन्थ लिखा, जिसका प्रथम खण्ड (रूपक-रचना) संवत् २००८ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें नाट्य की उत्पत्ति, परिभाषा, सिद्धान्त, नाटककार, कथावस्तु, पात्र-योजना, स्थान-योजना, व्यापार-योजना, संवाद-योजना आदि सभी विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें पहले संस्कृत में सूत्र दिये गये हैं, फिर हिन्दी में उनका पद्यानुवाद और व्याख्या है। उक्त ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड सन् १९६४ ई० में 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' नाम से निकला, जिसमें नाट्यप्रयोक्ता की दृष्टि से रस, रंगमंच, प्रस्तुति आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है। यह पूर्वोक्त ग्रन्थ का दूसरा भाग होते हुए भी अपने-आप में स्वतन्त्र है। सन् १९४८ ई० में डॉ० एस्० पी० खत्री की 'नाटक की परख' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें ६ खण्ड हैं और सभी में नाटक के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। परन्तु, इसमें अँगरेजी-नाट्यसिद्धान्त पर ही अधिक बल दिया गया है। भूमिका में लेखक ने लिखा भी है कि इसमें अँगरेजी-नाट्यसिद्धान्तों का निचोड़ है।

डॉ० दशरथ ओझा का शोधप्रबन्ध 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास' संवत् २०११ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने हिन्दी-नाटकों की दीर्घकालीन परम्परा और उनकी विशाल पृष्ठभूमि का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के पहले अध्याय में उन्होंने नाट्य-सिद्धान्त पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला है। 'नाट्यसमीक्षा' संवत् २०१६ वि० में प्रकाशित हुई। यह डॉ० ओझा के कतिपय निबन्धों का संग्रह है, जिनमें नाट्य-सिद्धान्त के कई विषयों पर विचार किया गया है। 'रास और रासान्वयी काव्य' नामक ग्रन्थ में ओझाजी ने रासक-काव्यरूप के विकास का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है।

सन् १९६३ ई० में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्रीपृथ्वीनाथ द्विवेदी का ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक' निकला। इसकी विस्तृत भूमिका में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाट्य-सिद्धान्तों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें प्राचीन नाट्यशास्त्र पर सुलझा हुआ और स्वस्थ दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। भूमिका के अन्तिम भाग में आधुनिक विद्वानों की कुछ अटकलबाजियों की भी आलोचना की गई है। इसमें आचार्य द्विवेदी ने सिद्ध किया है कि भारतीय नाटकों में बाह्य प्रभाव की बातें बिलकुल अटकल पर आधृत हैं और नाट्यशास्त्र के विकास में किसी विदेशी परम्परा का नाममात्र का भी सम्बन्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता।

डॉ० रघुवंश की पुस्तक 'नाट्यकला' में नाटक के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसमें भारतीय तथा यूरोपीय नाट्य-सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित ने 'भारतीय नाट्यकला को भरत की देन' शीर्षक अपनी पुस्तक में भरत के नाट्यशास्त्र का तीन बिन्दुओं—नाट्यकार, नाट्यप्रयोक्ता तथा नाट्य-प्रेक्षक—से मूल्यांकन किया है।

इधर नाट्यसिद्धान्त-विषयक अनेक पुस्तकें निकली हैं, जिनमें निम्नांकित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं : १. 'हिन्दी-नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा' (श्रीरामगोपाल सिंह चौहान), २. 'नाट्यालोचन' (डॉ० श्यामनारायण पाण्डेय), ३. 'हिन्दी-नाटक के सिद्धान्त और नाटककार' (प्रो० रामचरण महेन्द्र), ४. 'हिन्दी-नाटक-साहित्य और रंगमंच' (श्रीकुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह), ५. 'हिन्दी-एकांकी की शिल्पविधि का विकास' (डॉ० सिद्धनाथ कुमार), ६. 'रेडियो नाट्य-शिल्प' (डॉ० सिद्धनाथ कुमार), 'रेडियो-नाटक' (श्रीहरिश्चन्द्र खन्ना) आदि।

जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति नाटककारों ने अपने नाटकों की भूमिकाओं तथा स्वतन्त्र लेखों में नाट्य-सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है। नाट्य-सिद्धान्त के विकास में उन भूमिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन : प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन भारत के नाट्य-सिद्धान्त की उत्पत्ति दिखाकर उसके क्रमिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करना है।

युग की बहुविध प्रवृत्तियों के फलस्वरूप, नाटक के विषय तथा शिल्प में परिवर्त्तन होता रहता है और नवीन नाटक रचे जाते हैं, जिनके शिल्प तथा विषय में नवीनता रहती है। उन्हीं नाटकों को दृष्टि में रखकर नाट्य-सिद्धान्त में भी नवीनता आती है और फिर नवीन नाट्य-सिद्धान्त के अनुशासन में नाटक-रचना में भी परिवर्त्तन होते हैं। इस प्रकार, नाट्य-सिद्धान्त तथा नाट्य-साहित्य एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि भरत द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में विकास होते-होते अद्यतन नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। विकास का यह क्रम निश्चित तथा परिलक्ष्य है। नाट्य-सिद्धान्त पर संस्कृत में तो विशद विवेचन तथा सूक्ष्म विश्लेषण हुआ ही है, हिन्दी में भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। हिन्दी में अनूदित तथा सम्पादित नाट्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों की लम्बी भूमिकाओं में भी इस विषय पर विद्वत्तापूर्ण रीति से प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का एक विशिष्ट प्रयोजन है। बड़े ग्रन्थों की जो भूमिकाएँ लिखी गई हैं, उनमें विद्वान् लेखकों का उद्देश्य नाट्य-सिद्धान्त की उत्पत्ति तथा क्रमिक विकास का विवेचन करना नहीं, अपितु परिचय देना रहा है। कुछ छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गईं, जिनमें विषय का सर्वांगीण निरूपण करने का प्रयास नहीं दीखता। अनेक बड़ी पुस्तकों में भी लेखकों का ध्यान किसी विशेष पक्ष पर रहा है। कतिपय ग्रन्थों में नाट्य-शास्त्र का विवेचन केवल प्रासंगिक है। किसी-किसी ने पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का अधिक विवेचन किया है और भारतीय नाट्यशास्त्र का कम। किसी-किसी ग्रन्थ में किसी विशेष भारतीय नाट्याचार्य पर बल दिया गया है और दूसरों की उपेक्षा हो गई है। कुछ ग्रन्थों में 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों की ही बातें कही गई हैं, आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। सारांश यह कि भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का उद्‌भव और क्रमिक विकास प्रदर्शित करने का स्वतन्त्र प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। मेरा अभिप्रेत भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के उद्‌भव और क्रमिक विकास का परिदर्शन एवं विवेचन करना है। इस प्रकार, प्रस्तुत ग्रन्थ की पृथक्ता और सार्थकता स्पष्टतः सिद्ध हो जाती है।

आभार-ज्ञापन : इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे अनेक विद्वानों से सहायता मिली है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। स्व० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने बहुमूल्य सुझावों से मेरे कार्य को पूर्णता प्रदान की है। मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। मैंने डॉ० दशरथ ओझा से वार्त्तालाप करके उनके अमूल्य परामर्शों से लाभ उठाया है। वस्तुतः, उनके परामर्शों से मुझे एक नई दिशा मिली। मैं उनका अतिशय ऋणी हूँ। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने अपना अमूल्य समय देकर मेरा कार्य सरल कर दिया; उनके ग्रन्थों और परामर्शों से मुझे बहुत सहायता मिली है। मैं उनका उपकार भूल नहीं सकता। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इस ग्रन्थ को लिखने में अनेक प्रकार से सहायता प्रदान की है। यदि उनकी वैपश्चिती प्रज्ञा एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का आलोक मुझे नहीं मिलता, तो प्रस्तुत ग्रन्थ का यह रूप नहीं हो पाता। अतएव, मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता निवेदित करता हूँ।

मेरे मित्र तथा सहयोगी डॉ० केदारनाथ लाभ से मुझे बहुत सहायता मिली है। अतः, मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

मेरे पुत्रों—श्रीअशोककुमार पाण्डेय, आइ० ए० एस्०, श्रीअनिलकुमार पाण्डेय, आइ० पी० एस्० तथा श्रीअरुणकुमार पाण्डेय, एम्० बी० ए० के सतत अनुरोध तथा प्रेरणा ने ही यह ग्रन्थ लिखने की पृष्ठभूमि तैयार की। बालहठ को टालना सदा सम्भव नहीं होता। अपने इन आयुष्मानों को मेरा शुभाशीः।

इनके अतिरिक्त, जिन सज्जनों ने पुस्तकों या परामर्शों से या किसी अन्य प्रकार से मुझे सहायता पहुँचाई, उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ। मैं उन समस्त लेखकों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके ग्रन्थों से मैंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता प्राप्त की है।

अन्त में, मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना के उपाध्यक्ष-सह-निदेशक पं० रामदयाल पाण्डेय के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया है।

पुस्तक में त्रुटियों का रहना स्वाभाविक है। इस पुस्तक में भी अनेक त्रुटियाँ रह गई होंगी। आशा है, सुधी पाठक त्रुटियों के लिए मुझे क्षमा कर देंगे।

△ **रामजी पाण्डेय**

विषय-सूची

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश तथा परिधि

नाट्य के अध्ययन की आवश्यकता

नाट्य : मनोरंजन का साधन : शिव नटराज हैं और विष्णु नटवर। समस्त विश्व उन्हीं की लीला है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उन्हीं का अभिनय दिखाई दे रहा है। संसार के सारे दृश्य विश्व-रंगमंच पर वे ही दिखाते हैं। फिर, नाटक की मनोरंजकता में कहाँ सन्देह रह जाता है?—नाटक मनोरंजन का सर्वोत्कृष्ट साधन है। इसमें छोटे-बड़े, मूर्ख-विद्वान्, ग्रामीण-नागरिक—सभी अपना मनोरंजन कर सकते हैं। नाट्य की उत्पत्ति के विषय में भरत ने जो कथा दी है, उससे भी इस बात की पुष्टि होती है। उनका कहना है कि त्रेता युग में लोक ईर्ष्या, क्रोध आदि से विमूढ होकर काम और लोभ के वशीभूत हुआ, वासनाओं में प्रवृत्त सुख-दु:ख का अनुभव करने लगा। लोकपालों से रक्षित जम्बू द्वीप दानव, गन्धर्व, राक्षस आदि से आक्रान्त हो गया। उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्मा से कहा—"हम ऐसा मनोरंजन का साधन (क्रीडनीयक) चाहते हैं, जिसे देखा भी जा सके और सुना भी। वेदों का व्यवहार और श्रवण शूद्रों के द्वारा नहीं किया जाता है, अत: ऐसे पाँचवें वेद की रचना कीजिए, जो सार्ववर्णिक हो, अथवा जो सभी वर्णों के लिए हो।" देवताओं का यह अनुरोध मानकर ब्रह्मा ने चारों वेदों से सामग्री लेकर नाट्यवेद नामक पाँचवें वेद की रचना की।

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि नाटक ऐसा क्रीडनीयक या मनोरंजन का साधन है, जो दृश्य तथा श्रव्य भी है। अन्य साधन केवल श्रव्य हुआ करते हैं, परन्तु उनमें इतना आकर्षण कहाँ रहता है? हम आये दिन देखा करते हैं कि यदि एक ओर बहुत विज्ञ तथा विख्यात पण्डित रामायण की सुन्दर कथा कहते रहते हैं तो उधर कम ही लोग जाते हैं, परन्तु यदि अपढ़ व्यक्तियों की रामलीला-मण्डली रामलीला आरम्भ करती है तो जनता की अपार भीड़ उसे देखने चली जाती है। दृश्य काव्य श्रव्य काव्य से स्वभावत: अधिक आकर्षक तथा मनोरंजक हुआ करता है। देवताओं ने मनोरंजन का ऐसा साधन माँगा, जो श्रव्य के साथ दृश्य भी हो और ब्रह्मा ने नाटक की रचना की, जो दृश्य और श्रव्य है। इससे दृश्य काव्य की श्रेष्ठता सिद्ध हो जाती है।

इसके अतिरिक्त नाटक सार्ववर्णिक है। चार वेदों का अध्ययन तो केवल द्विज ही कर सकते थे, अत: शूद्र तो वेदों से वंचित ही रह जाते थे। अतएव, ब्रह्माजी ने चारों वेदों से कुछ तत्त्व लेकर नाट्यवेद नामक पंचम वेद की रचना की। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नाटक से सभी प्रकार के लोग अपना मनोरंजन कर सकते हैं। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' के अष्टम अधिकार में विस्तार से लिखा है कि सब प्रकार के लोगों को नाटक में किस प्रकार आनन्द प्राप्त होता है :

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
यद्यत्स्वशिल्पं नेपथ्यं कर्म वा चेष्टितं वचः ॥[1]

—लोग अनेक रुचि और स्वभाव के होते हैं और इन्हीं मानव-स्वभावों के आधार पर नाट्य की रचना भी की जाती है। इसीलिए, लोग अपना-अपना काम करते भी अपने-अपने शिल्प, शृंगार, व्यवसाय, क्रिया और वाणी—सब कुछ नाट्य में पा सकते हैं। आगे शारदातनय ने बताया है कि किस प्रकार सभी प्रकार के लोग नाट्य में आनन्द प्राप्त करते हैं। कामी, चतुर, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, बड़े-बूढ़े, रस-भाव के ज्ञाता, यहाँ तक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ—सभी नाट्य का आनन्द ले सकते हैं; क्योंकि नाट्य से वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार हर्ष पाते हैं। तरुण लोग काम की बातों से, चतुर लोग नीति की बातों से, सेठ लोग धन की बातों से, विरागी लोग मोक्ष की बातों से, शूर लोग बीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों से, वृद्ध लोग धर्म की कथाओं से और पण्डित लोग सभी प्रकार की अच्छी बातों से सन्तुष्ट होते हैं। यहाँ तक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ हँसी-विनोद की बातें सुनकर और नटों की वेश-भूषा देखकर ही प्रसन्न हो जाते हैं।

ब्रह्माजी ने भी नाट्य की मनोरंजकता के विषय में नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में कह दिया है :

विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।[2]

अर्थात् यह नाट्य संसार में विनोद उत्पन्न करनेवाला होगा।

नाटक की मनोरंजकता सर्वदेशीय तथा सार्वकालिक है। सभी स्थानों पर और सभी कालों में यह लोकप्रिय रहा है और रहेगा। आज भी नाट्यगृहों और सिनेमाघरों में दर्शकों की अपार भीड़ लगी रहती है। नाटक का साधारण खेल भी यदि कहीं होता हो, तो उसे देखने के लिए जनता उमड़ पड़ती है और अनेक प्रकार की कठिनाई का सामना करके भी नाटक देखने में तन्मय रहती है। इसका प्रधान कारण यही है कि लोगों को किसी अन्य व्यक्ति का अनुकरण करने और देखने में अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। अद्भुत वस्तु देखने में तो स्वभावतः सभी रस लेते हैं। यदि किसी के अनुकरण में नृत्य और गीत का संयोग हो जाय तो आनन्द में और भी वृद्धि हो जाती है। नाटक में ये सभी बातें मिल जाती हैं, इसीलिए सभी उसे अत्यन्त रुचि तथा तन्मयता से देखते हैं।

भरत मुनि के सैकड़ों वर्ष बाद कालिदास के समय में भी नाट्य के गुणों में कोई कमी नहीं आई, बल्कि यह कहना चाहिए कि उस युग में नाटक की महत्ता में वृद्धि ही हुई थी। नाटक से सामान्य जनता का मनोरंजन तो होता ही रहा, देवताओं को भी प्रिय लगनेवाले एक यज्ञ का काम भी यह करता रहा। नाटक में भिन्न-भिन्न रुचियोंवाले

१. **भावप्रकाशन : अष्टम अधिकार, पृ० २२७**

२. **नाट्यशास्त्र : अध्याय १, का० १२४**

व्यक्तियों को समभाव से आनन्द उपलब्ध होता रहा। मालविकाग्निमित्र नाटक के प्रथम अंक में कालिदास ने नाट्याचार्य गणदास के मुख से यह स्पष्ट करा दिया है :

देवानामिदमामनन्ति मुनय. शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

—मुनियों का कहना है कि नाट्य तो देवताओं की आँखों को सुहानेवाला एक यज्ञ है। स्वयं महादेवजी ने उमा से विवाह करके अपने शरीर में इसके दो भाग कर दिये हैं—एक ताण्डव, दूसरा लास्य। इसमें तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम—दिखाई देते हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए प्राय: नाटक ही एक ऐसा उत्सव है, जिससे सबको एक-सा आनन्द मिलता है।

भगवान् बुद्ध और महावीर भी नाटक देखकर प्रसन्न हुए थे। जैनियों के धार्मिक ग्रन्थ 'शत्रपणेसीय सुत्त' में एक कथा आई है, जिसके अनुसार भगवान् महावीर भ्रमण करते-करते आमलकप्पा नाम की नगरी में पहुँचे और अम्बसाल वन में अशोक वृक्ष की शीतल छाया में एक शिला पर बैठ गये। उसी समय सूर्याभदेव स्वर्ग से उतरकर उनके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने भगवान् महावीर का अभिनन्दन करने के लिए अनेक वाद्यों तथा संगीत के साथ अभिनयात्मक नाटक भी दिखाया। सूर्याभदेव अभिनय-कला में इतने निपुण थे कि उन्होंने भगवान् महावीर को प्रसन्न कर दिया।

अभिनय की लोकप्रियता का बहुत बड़ा प्रमाण तो यह है कि साधारण लोग भी पारिवारिक उत्सवों के समय नाटक के अभिनय का प्रबन्ध कर लिया करते थे।

दशरूपक के आरम्भ में धनंजय ने रसिकों पर व्यंग्य करते हुए लिखा है :

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥[1]

—रूपक अलौकिक आनन्द से युक्त रहते हैं। इनका लक्ष्य सहृदय को अलौकिक आनन्द-रूप रस का आस्वाद कराना है। कोई अल्पबुद्धि विद्वान् रूपकों का फल केवल इतना ही मानता है कि इनसे व्युत्पत्ति होती है, जैसे पुराण आदि के अध्ययन से लौकिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार का मतवाला विद्वान् रस के आस्वाद के पराङ्मुख है; उसमें रसिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसे विद्वान् को हमारा नमस्कार है।

धनंजय के कहने का अभिप्राय है कि नाटक से केवल ज्ञान की ही उपलब्धि नहीं होती, प्रत्युत इससे अपार आनन्द भी प्राप्त होता है। वह आनन्द परमानन्द के समान रसमय तथा आह्लादकारक होता है।

---

१. दशरूपक : प्रथम अध्याय, श्लोक ६

उपदेश तथा शान्ति का साधन : आरम्भ से ही नाटक को साहित्य का सर्वाधिक शक्तिशाली माध्यम स्वीकृत किया गया है। इसके द्वारा मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों की दिशा का निर्देश मिलता रहा है। शास्त्रों के ज्ञान और उपदेश जनता तक पहुँचाने का इसे साधन-मात्र माना गया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र के आरम्भ में नाट्य की उत्पत्ति के विषय में बताया है कि ब्रह्मा ने चारों वेदों से चार तत्त्व लेकर नाट्यवेद नामक पंचम वेद की रचना की :

जग्राह नाट्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥[1]

—ब्रह्माजी ने पाठ ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से तथा रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया। नन्दिकेश्वर ने भी अपने ग्रन्थ अभिनय-दर्पण में नाट्य की उत्पत्ति के विषय में यही लिखा और इसे चतुर्वर्ग का दायक बताया है :

पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥

—अर्थात् ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रसों का संग्रह करके यह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष देनेवाला नाट्यशास्त्र बनाया। आगे नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि इससे कीर्त्ति, वाग्वैदग्ध्य, सौभाग्य और विद्वत्ता में वृद्धि होती है; उदारता, स्थिरता, धैर्य और विलास की उत्पत्ति होती है; दुःख, पीड़ा, शोक, असन्तोष, जी की जलन समाप्त हो जाती है और इसमें ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है; नहीं तो भला ब्रह्मानन्द का आनन्द ले चुकनेवाले नारद जैसे बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों का मन यह नाट्य किस प्रकार मोहित कर सकता?

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्माजी ने नाट्यवेद की रचना करते समय केवल इसके बाह्य प्रभाव—मनोरंजन आदि—तक ही अपनी दृष्टि को सीमित नहीं रखा, प्रत्युत इसके आन्तरिक तथा गम्भीरतर प्रभाव को भी अपना लक्ष्य बनाया। नाटक देखने से सामाजिकों का मन प्रसन्न तो होता ही है, उनपर कान्तासम्मित उपदेश का भी प्रभाव पड़ता है। यह उपदेश किसी उपदेशक के लिए उपदेश के समान कड़वा तथा अप्रिय नहीं होता, वरन् अमूर्त्त, अव्यक्त तथा अदृष्ट रहता है। मम्मट ने इसे कान्तासम्मित उपदेश कहा है। वस्तुतः मनोरंजन तो नाट्य का बाह्य तथा दृष्ट फल है; आभ्यन्तर या अदृष्ट फल तो उपदेश तथा शान्ति की प्राप्ति ही है। भरत ने नाट्य को केवल मनोरंजन का साधन नहीं मानकर इसे 'हितोपदेशजननं', 'सर्वोपदेशजननं', 'विश्रान्तिजननं' और 'लोकोपदेशजननं' माना। इससे सभी मनुष्यों को अनेक प्रकार से लाभ हैं :

---

१. नाट्यशास्त्र : अध्याय १, श्लोक १७

हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥
एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति ॥
दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥[1]

—यह सबको हितकारी उपदेश देनेवाला तथा धैर्य, क्रीड़ा, सुख देनेवाला भी है। यह नाट्य रस, भाव, कर्म तथा क्रियाओं के अभिनय द्वारा लोक में सबको उपदेश देनेवाला होगा। यह नाट्य दुःख से आर्त्त, परिश्रम से क्लान्त, शोक से सन्तप्त जनों को विश्राम देनेवाला होगा। यह नाट्य धर्म, यश और आयु बढ़ानेवाला, बुद्धि को उद्दीप्त करनेवाला तथा लोक को उपदेश देनेवाला होगा।

चिन्ताओं से आक्रान्त, सांसारिक कष्टों से सन्तप्त व्यक्ति भी नाटक का अभिनय देखकर कुछ समय के लिए उसमें इतना मग्न तथा तल्लीन हो जाता है कि वह अपनी सारी चिन्ताओं, सारे कष्टों से मुक्त होकर अलौकिक आनन्द प्राप्त करने लगता है। इतना ही नहीं, उसे अलक्षित रूप से उपदेश मिलने लगता है, और वह अपने चरित्र में सुधार भी लाता है। वह उपदेश अप्रत्यक्ष ही रहता है और इसीलिए उसका प्रभाव अधिक गम्भीर तथा व्यापक भी होता है। नाटककार स्वयं नहीं कहता कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वह तो नाटक की घटनाओं या क्रियाओं में ही अपनी बात गूँथ देता है और दर्शक नाटक की घटनाओं को देखकर सारे उपदेश, विना प्रयास के ही, आत्मसात् कर लेता है। वह किसी प्रकार का अध्यवसाय नहीं करता, फिर भी सारे उपदेश उसके चरित्र में घुल-मिल जाते हैं, उसके रक्त और मज्जा का अंश बन जाते हैं। यह प्रभाव किसी उपदेशक के उपदेश की अपेक्षा अधिक स्थायी एवं गम्भीर होता है।

नाट्य-सिद्धान्त के अध्ययन की आवश्यकता : नाट्य-सिद्धान्त का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्त बहुत उन्नत तथा पूर्ण है। नाट्य-सिद्धान्त के सभी अंगों का बहुत सूक्ष्म तथा विस्तृत विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र तथा अन्य नाट्याचार्यों के ग्रन्थों में किया गया है। उतना सूक्ष्म विवेचन संसार की अन्य भाषाओं के साहित्य में मिलना कठिन है। भरत ने अपना नाट्शास्त्र नाटक से सम्बद्ध सभी पक्षों के लिए लिखा। उससे कवि, प्रयोक्ता, अभिनेता तथा सामाजिक सभी समान रूप से लाभ उठा सकते हैं। कवि को नाटक लिखने में जितनी वस्तुओं तथा जैसे ज्ञान की आवश्यकता होती है, सब नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हो सकता है। अभिनेता की दृष्टि से आंगिक, सात्त्विक, वाचिक तथा आहार्य अभिनयों का विशद वर्णन दिया गया है। नाट्य-प्रयोक्ता की दृष्टि से रंगमंच-

---

१. नाट्यशास्त्र : अध्याय १, श्लोक ११३—११५

निर्माण, रंग-पूजा आदि का सम्यक् निरूपण हुआ है। सामाजिक को भी ध्यान में रखकर सभी आवश्यक बातें लिख दी गई हैं। इसी प्रकार, नाट्य-सिद्धान्त के अन्य ग्रन्थों में भी न्यूनाधिक मात्रा में कवि, अभिनेता तथा सामाजिक को ध्यान में रखकर नाट्य का विवेचन किया गया है। ग्रन्थों से सभी पक्षों का पूर्ण पथ-प्रदर्शन होता है और वे अपने क्षेत्रों में सफलता के साथ अपना कार्य कर सकते हैं।

नाट्य-सिद्धान्त के अध्ययन की दूसरी आवश्यकता यह है कि इससे अपनी प्राचीन नाट्य-परिपाटी का हमें ज्ञान हो जाता है। कई एसी बातें हैं, जो अत्यन्त प्राचीन काल में हमारे यहाँ थीं, परन्तु समय के प्रवाह के साथ धीरे-धीरे लुप्त होती गईं। नाट्यशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि भरत के युग में रंग देवता की पूजा बहुत विस्तार से होती थी, परन्तु परवर्त्ती युग में पूजा बहुत संक्षिप्त हो गई थी। इसी प्रकार, भरत के नाट्यशास्त्र में नृत्य, गीत और वाद्य को बहुत महत्त्व दिया गया है, परन्तु परवर्त्ती काल में इनका महत्त्व बहुत कम हो गया है। नाट्यशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि आरम्भ में स्त्रियाँ नाटक में भाग नहीं लेती थीं, परन्तु कैशिकी वृत्ति के अभिनय के लिए भरत के अनुरोध पर ब्रह्माजी ने अप्सराओं की सृष्टि की। इसका अर्थ हुआ कि भरत के ही युग में पीछे स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेने लगी थीं। तात्पर्य यह कि प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के अध्ययन से प्राचीन भारत की नाट्य-परिपाटी का सम्यक् ज्ञान हमें प्राप्त होता है।

नाट्य-सिद्धान्त के ज्ञान से नवीन भारतीय नाटकों की रचना में बहुत सहायता मिलती है। प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों ने बहुत परिश्रम तथा सूझ-बूझ से नाट्य-रचना के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया, जिसका अनुसरण करके आधुनिक युग में नवीन नाटकों की रचना सम्पूर्ण भारत में हो रही है। कवि या नाटककार को नाटक-रचना में जितनी कठिनाइयाँ होती हैं, सभी के उचित समाधान हमारे नाट्य-सिद्धान्त में वर्त्तमान हैं। भरत का नाट्यशास्त्र सभी उत्तरवर्त्ती नाट्यशास्त्रियों तथा नाटककारों का उपजीव्य रहा है और आज भी उसके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर नवीन नाटक लिखे जा रहे हैं। यह बात ठीक है कि नवीन भारतीय नाटकों की रचना में सभी प्राचीन नाट्य-सिद्धान्त व्यवहार में नहीं आते और बहुत-सी नवीन शैलियों का विकास हुआ है। फिर भी, यह मानने में हमें हिचक नहीं होनी चाहिए कि नवीन नाटकों का भी आधार मुख्यतया प्राचीन नाट्य-सिद्धान्त ही है।

प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के अध्ययन की आवश्यकता इस बात में भी देखी जा सकती है कि भारतीय नाटकों के समीक्षण की कसौटी वही है। इस युग में कोई भी नाटक लिखा जायगा, परन्तु उसकी समीक्षा के लिए हमें प्राचीन नाट्य-सिद्धान्त को जानना ही होगा। यदि हम वे सिद्धान्त नहीं जानते हैं तो हमारी समीक्षा पूर्ण तथा परिपक्व नहीं कही जा सकती। यद्यपि पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्त पर्याप्त रूप से समुन्नत है और हमारी आधुनिक समीक्षण-पद्धति उससे बहुत प्रभावित है, फिर भी यदि आधुनिक नाट्यालोचक को प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का पर्याप्त ज्ञान नहीं है तो उसका समीक्षण अधूरा ही

रहेगा और वह आधुनिक भारतीय नाटकों का भी उचित मूल्यांकन नहीं कर सकता है। भारतीय समाज, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य आदि पश्चिम से काफी भिन्न हैं, अतः भारतीय नाटकों के समीक्षण की कसौटी पाश्चात्य आलोचना-पद्धति नहीं हो सकती। भारतीय वातावरण में लिखे नाटक का वास्तविक मूल्यांकन भारतीय समीक्षण-पद्धति से ही सम्भव है और भारतीय समीक्षण-पद्धति का अक्षय भाण्डार भरत का नाट्यशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थ हैं।

नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता इस बात में भी दिखाई देती है कि भारतीय नाट्य-सिद्धान्त तथा रूढियों को जानने का स्रोत यही है। हमारे नाट्य-साहित्य तथा नाट्य-सिद्धान्त अत्यन्त सम्पन्न रहे हैं। अनेक नाटकों की रचना तो हुई ही, नाट्य-शास्त्र-विषयक अनेक ग्रन्थों की भी रचना हुई। उन ग्रन्थों से प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का परिपूर्ण ज्ञान अध्येता को हो जाता है। नाट्य-सिद्धान्त में कई नाट्य-रूढियाँ भी हैं, जिनकी चर्चा भरत मुनि ने की है। नाट्यशास्त्र के अध्ययन से हमें उन रूढियों का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

नाट्यशास्त्र में नाट्यधर्मी रूढियों का विशाल संग्रह है। बहुत दीर्घकाल तक प्रचलित अनेक रूढियों का उसमें संग्रह हुआ है। नाट्यशास्त्र के पन्द्रहवें अध्याय में दो रूढियों की चर्चा है—एक लोकधर्मी तथा दूसरी नाट्यधर्मी। लोकधर्मी रूढियाँ लोक का स्वाभाविक अनुकरण हैं। इसके विपरित नाट्यधर्मी रूढियाँ अत्यन्त सांकेतिक वाक्य और क्रियाएँ हैं। नाट्योक्त रूढियाँ जैसे जनान्तिक, स्वगत, आकाश-भाषित आदि; शैल, यान, विमान, ढाल, तलवार आदि के संकेत देनेवाली रूढियाँ हैं, जिनसे संकेत से अभिनय में काम होता है। लोक में जो सुख-दुःख क्रियात्मक आंगिक अभिनय है, वह भी नाट्यधर्मी ही है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वे सभी संकेतमूलक आंगिक अभिनय, जो रंगमंच पर किये जाते हैं और प्रत्यक्ष अनुकरण के विषय नहीं होते, नाट्यधर्मी रूढियाँ हैं।

इन रूढियों का उचित ज्ञान हुए विना प्राचीन नाटकों को समझने में कठिनाई होती है। प्राचीन नाट्य-सिद्धान्त के अध्ययन से ही इन रूढियों का ज्ञान होता है।

इस अध्ययन की परिधि : इस ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं। उन अध्यायों में निम्नलिखित विषय हैं :

प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश के रूप में नाटक तथा नाट्यशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता का निर्देश किया गया है, फिर इस अध्ययन की परिधि का संकेत किया जा रहा है। द्वितीय अध्याय में उन सभी सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है, जो नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। अनेक भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक अनुमान किये हैं, उनका आलोचनात्मक अध्ययन आवश्यक है, अतः उनपर विचार किया गया है और एक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय नाट्य-सिद्धान्त के ऐतिहासिक परिचय से सम्बन्ध रखता है। जितने आचार्यों ने नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन किया है, उनका तथा उनके ग्रन्थों का सामान्य परिचयात्मक विवरण दिया गया है। उनमें जो भरत आदि अधिक महत्त्वपूर्ण नाट्यशास्त्री हैं,

उनका अधिक विस्तृत परिचय देने का प्रयास किया गया है। इसी अध्याय में दिखाया गया है कि परवर्त्ती नाट्याचार्यों पर भरत का कितना प्रभाव पड़ा, उन आचार्यों ने कितनी नवीन उद्भावना की। चतुर्थ अध्याय में नाट्य-लक्षण दिया गया है। भारतीय विद्वानों के द्वारा दिये गये लक्षणों के अतिरिक्त अरस्तू के द्वारा दिये गये लक्षण की भी समीक्षा प्रस्तुत की गई है। यहाँ विभिन्न शास्त्रकारों के मत देकर उनकी मीमांसा की गई है और फिर एक उपयुक्त लक्षण देने का प्रयत्न किया गया है। नाट्य के मूल तत्त्वों के विषय में पूर्वीय तथा पश्चिमीय और प्राचीन तथा नवीन नाट्यशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद रहा है। उनका विवेचन करके नाटकीय तत्त्वों के विषय में विचार किया गया है। इसी अध्याय में वृत्तियों का भी समावेश किया गया है। नाट्य-रचना में वृत्तियों का बहुत अधिक महत्त्व माना गया है, अतः इसी स्थल पर उनपर भी विचार किया गया है। इसी अध्याय में नाटक के आरम्भ में होनेवाली विधियों—पूर्वरंग, नान्दी तथा प्रस्तावना—का भी विवेचन हुआ है।

फिर धनंजय द्वारा बताये गये रूपक के भेदक तत्त्वों—वस्तु, नायक और रस की मीमांसा हुई है। पंचम अध्याय में वस्तु का विवेचन है। इसमें कथा तथा कथानक का अन्तर, कथानक के भेद, कथानक के अंग आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इसी स्थल पर अरस्तू द्वारा प्रतिपादित तीन अन्वितियों का भी विवेचन है। संवाद का भी विवेचन वस्तु के ही अन्तर्गत किया गया है। वस्तु और पात्र का विवेचन करते समय आवश्यकतानुसार अरस्तू के भी मत की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। षष्ठ अध्याय में पात्र या नायक का विवरण दिया गया है। भारत के प्राचीन आचार्यों ने नायक-नायिका के अनेक भेद तथा उपभेद किये हैं। वस्तुतः, परवर्त्ती आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद को नाटक से अधिक काव्य का विषय बना दिया और हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के लिए तो नायक-नायिका-भेद बहुत प्रिय विषय हो गया। इस अध्याय में उन उपभेदों पर भी, संक्षेप में, ध्यान दिया गया है। पात्र के विषय में अरस्तू के भी मत की समीक्षा की गई है। सप्तम अध्याय का विषय रस-सिद्धान्त है। रस-सिद्धान्त भारतीय विद्वानों का बहुत प्रिय विषय रहा है। भरत मुनि ने रस पर बहुत बल दिया और अभिनवगुप्त ने उसका और भी विस्तृत विवेचन किया। आगे चलकर तो यह विषय काव्यशास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। इस अध्ययन में भी रस-सिद्धान्त पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया गया है।

अष्टम अध्याय में रंगमंच का विवरण दिया गया है। रंगमंच के निर्माण तथा सजावट का विवरण भरत ने बहुत विस्तार से दिया है। वस्तुतः, नाट्यशास्त्र के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय में भरत ने रंगमंच के निर्माण तथा इसके भेदोपभेदों का विस्तृत विवरण दिया है। इतना विस्तृत वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। नाट्य की प्रस्तुति में रंगमंच का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु, परवर्त्ती नाट्याचार्यों—धनंजय-धनिक, शारदातनय, रामचन्द्र गुणचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने रंगमंच का कोई विवरण नहीं दिया। वस्तुतः, इन नाट्याचार्यों ने कवि की दृष्टि से अपने ग्रन्थों की रचना की, नाट्य-प्रयोक्ता की दृष्टि से नहीं।

कुछ अन्य ग्रन्थों में रंगमंच का थोड़ा-बहुत विवरण मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी रंगमंच का संक्षिप्त विवरण दे दिया गया है। इस सिलसिले में हिन्दी-रंगमंच का भी संक्षिप्त इतिहास देने की चेष्टा की गई है।

नवम अध्याय में रूपक, उपरूपक और उनके भेदों—नाटक, प्रकरण, नाटिका आदि—का विवेचन किया गया है। वर्गीकरण के आधार की समीक्षा करके उसके विभिन्न भेदों की समीक्षा भी की गई है। अरस्तू ने त्रासदी को बहुत अधिक महत्त्व दिया है और उनके बाद सम्पूर्ण यूरोप में अनेक विद्वानों ने त्रासदियों की रचना और विवेचना की है। इस स्थल पर आवश्यक समझकर त्रासदियों का भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन भारतीय नाटककारों ने त्रासदियों की रचना करना उचित नहीं समझा। इसके कारण पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में हिन्दी के आधुनिक नाटकों पर विचार नहीं किया गया है।

दशम अध्याय में हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त के विकास का विवेचन किया गया है। जबतक हिन्दी-नाटकों के नाट्य-सिद्धान्त का विकास नहीं दिखाया जाता, तबतक भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के विकास का विवेचन पूरा नहीं होता। भारतीय नाट्य-सिद्धान्त की परिणति हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त में होती है। अतः, इस अध्याय में हिन्दी के प्रमुख नाटककारों के नाटकों में परिलक्षित उनके नाट्य-सिद्धान्त का विकास दिखाने का प्रयत्न किया गया है। कुछ प्रमुख नाट्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त आजकल रूपक के अनेक नवीन भेद विकसित हो गये हैं और कुछ नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। रेडियो के आविष्कार के कारण रेडियो-नाटक की भिन्न विधा विकसित हो गई है। इस अध्याय में उनका विकास तथा उनके नाट्य-सिद्धान्त के विकास का भी विवेचन किया गया है।

एकादश अध्याय में हिन्दी के आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त के प्रमुख तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। प्राचीन नाट्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्त से आधुनिक हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त मूलतः वही रहते हुए भी कई दृष्टियों से भिन्न हो गया है। स्वभावतः, आज के हिन्दी-नाटकों में नई कला, नये नाट्य-सिद्धान्त दिखाई दे रहे हैं। इस नये रूपान्तर के कारणों का भी विश्लेषण करने का प्रयास हुआ है। अन्त में, द्वादश अध्याय में नाट्य-सिद्धान्त-विषयक कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकार, इस ग्रन्थ में भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के उद्भव और विकास का विवेचन करते हुए उसका सर्वांगीण स्वरूप उपस्थित करने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय

नाटक की उत्पत्ति

विषय-प्रवेश

अनुकरण-वृत्ति : मानव में अनुकरण करने की प्रवृत्ति जन्मजात है। मानव का बच्चा जन्म लेने के थोड़े ही समय बाद से आसपास की वस्तुओं, अपने परिवार के सदस्यों, सबको देखता है और उनकी कई बातों का अनुकरण करने का प्रयास करता है। डेढ़-दो वर्ष के बच्चे भी अपने पिता, बड़े भाई या परिवार के अन्य सदस्यों के जूते पहनने का प्रयत्न करने लगते हैं, टोपी सिर पर रख लेते हैं, या ऐसी ही अन्य क्रियाएँ करने का प्रयास करते हैं। छोटे शिशुओं की अविकसित चेतना में अनुकरण-वृत्ति का बीज वर्त्तमान रहता है। यह बीज प्रकृति से ही मिला है। यदि उनकी इन क्रियाओं में बाधा दी जाए तो वे रुदन कर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। यह अनुकरण करने की प्रवृत्ति केवल बच्चों में ही नहीं, प्रत्युत बड़े-बूढ़ों में भी देखी जाती है। वे भी दूसरे व्यक्तियों की चाल-ढाल, रहन-सहन, चलने-बोलने आदि क्रियाओं का अनुकरण करते हैं—सामान्य रूप से भी और व्यंग्यात्मक रूप से भी। अनुकरण करने की यह प्रवृत्ति मानव में ही नहीं, वरन् कई पशुओं—विशेषतः बन्दर और चिपेंजी—में भी दृष्टिगोचर होती है।

अनुकरण-वृत्ति का मुख्य उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना या मनोरंजन है। कोई बच्चा यदि अपने बड़ों की क्रियाओं का अनुकरण करता है, तो उसके मन में भी यही मनोरंजन या मनःतुष्टि की भावना रहती है। यदि कोई नवयुवक बड़े-बूढ़ों की चाल-ढाल, रहन-सहन का व्यंग्यात्मक अनुकरण करता है, तो उसके मन में अपना या दूसरों का मनोरंजन करना या दिल बहलाना ही उद्देश्य रहता है। मनोरंजन की वस्तु में एक ऐसी क्षमता है कि वह हमें थोड़ी देर के लिए एकाग्रचित्त बना देती है और कुछ समय के लिए हम मनोराज्य में विचरण करने लगते हैं। थोड़े समय के लिए हम अपने सुख-दुःख भूलकर उसी मनोरंजन की वस्तु में लीन हो जाते हैं। यह साधारण मनोरंजन की बात है, काव्य का मनोरंजन पूर्णतः इसी कोटि का नहीं होता। उसके आस्वाद में मनोरंजन के अतिरिक्त और कुछ भी होता है। काव्य या कला में भी अनुकरण-वृत्ति को मूल कारण मानना उचित ही है। इसीलिए यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कला को अनुकरण ही माना है। नाटक में तो यह अनुकरण की वृत्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। धनंजय ने तो नाट्य या रूपक की परिभाषा देते समय यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है :

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' तथा **'रूपकं तत्समारोपात्।'**[1]

---

१. दशरूपक : प्रथम प्रकाश, का० ७

ललित कला तथा काव्य—विशेषतः नाटक—मानव तथा मानवेतर प्रकृति का अनुकरण करके आनन्द की उत्पत्ति करते हैं। कलाकार या नाटककार केवल बाह्य प्रकृति का ही नहीं, वरन् मानव की अन्तःप्रकृति और उसके मानसिक भावों का भी अनुकरण करते हैं। कोई निपुण मूर्त्तिकार या चित्रकार किसी पुरुष या स्त्री के केवल बाह्य अंगों—नाक, कान, आँख आदि—का ही अनुकरण करके मूर्त्ति या चित्र नहीं बनाता, बल्कि उनके मनोगत भावों को भी उनके मुखमण्डल पर अंकित कर देता है। इसी प्रकार कोई कुशल कवि भी अपने पात्रों के मनोगत भावों का वर्णन भी उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार उनके बाह्य रूप का। कोई नाटककार जब अपने पात्रों के बाह्य रूप तथा आभ्यन्तर भावों का सुन्दर चित्रण कर देता है, तभी वह सफल तथा निपुण कहा जा सकता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त की महत्ता का संकेत इसी ओर है और दृश्य काव्य के क्षेत्र में रस की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठा भरत मुनि के भी बहुत पहले हो चुकी थी—सम्भवतः नन्दिकेश्वर या किसी अन्य आचार्य द्वारा। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नाटक का एकमात्र उद्देश्य मानव तथा मानवेतर प्रकृति का चित्रण करना है।

आधुनिक युग के समाजशास्त्रियों ने काव्य के उद्भव के विषय में अनेक नई बातों की खोज की है। उनका कथन है कि आदिम सभ्यता के मनुष्यों में प्रकृति के रहस्यों के विषय में जिज्ञासा की भावना रहती है। वे प्रकृति के रहस्यों को देखकर चकित हो जाते हैं और उन्हें समझने का प्रयास करते हैं। इसी जिज्ञासा-वृत्ति के कारण आदिम मनुष्य में जादू की उत्पत्ति होती है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि काव्य या संगीत के ही क्षेत्र में नहीं, प्रत्युत भाषा के विकास के क्षेत्र में भी जादू एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कई आदिम सभ्यतावाली जातियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे जादू के द्वारा प्रकृति को अपने वश में करने की प्रक्रिया में नृत्य, गीत तथा उत्सव की दूसरी पद्धतियाँ काम में लाती रही हैं। समाजशास्त्री इन्हीं उत्सवों में नाटक का भी उद्भव मानते हैं।

संगीत तथा नृत्य : प्राचीन भारत के ऐतिहासिक विवरणों से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतवासी संगीत-प्रेमी रहे हैं। आरम्भिक वैदिक काल में भी आर्य-महिलाएँ अपना बहुत समय संगीत तथा नृत्य में लगाती थीं। यज्ञ-विधान में भी संगीत तथा नृत्य का बहुत महत्त्व था और खेल तथा विनोद के अवसरों पर तो ये अनिवार्य ही थे।

बचपन से ही बालक-बालिकाओं को संगीत तथा नृत्य की शिक्षा दी जाती थी, परन्तु बालिकाएँ इसे अपना विशेष क्षेत्र समझती थीं। ऋग्वेद (१०।८५) में हमें मिलता है :

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ (ऋक्, ४०)

"पुत्री का विवाह पहले सोम से हुआ, फिर गन्धर्व से और तब अग्नि से। अन्त में वह मनुष्य को विवाह में दी गई।" इस वेदवाक्य से अर्थ निकाला जाना चाहिए कि बालिकाओं को पहले सोमरस बनाना सिखाया जाता था, फिर उन्हें नृत्य सिखाया जाता था और इसके बाद उन्हें यज्ञ-अनुष्ठान की विधि सिखाई जाती थी। इन अवस्थाओं को पार करने के उपरान्त ही उनका विवाह होता था।

ऋग्वेद की एक पंक्ति से पता चलता है कि सोमरस बनाते समय लड़कियों के गीत गाने की प्रथा थी। लड़कियों में नृत्य का इतना अधिक प्रचलन हो गया था कि वैदिक काल में सामान्य परिचारिकाएँ भी इस कला में निपुणता प्राप्त कर लेती थीं। कृष्ण-यजुर्वेद की पंक्तियों (७।५।१०) में एक दृश्य का वर्णन किया गया है कि यज्ञ की अग्नि जल रही है और परिचारिकाएँ सिर पर घड़े रखकर उसके चारों ओर नृत्य कर रही हैं। जो पुरुष संगीत से अनभिज्ञ होते थे, वे लड़कियों के बीच लोकप्रिय नहीं होते थे। लड़कियाँ संगीत में ऐसी निपुण होती थीं कि वे ऐसे पति के लिए प्रार्थना करती थीं, जो संगीत का ज्ञान रखता हो और उसका प्रशंसक हो।[1]

कौषीतकी ब्राह्मण में स्पष्टतः कहा गया है कि नृत्य, गीत और वाद्ययन्त्रों को बजाना वैदिक कृत्यों का प्रमुख अंग था।[2] आगे चलकर सामान्य जनता को यज्ञ-उत्सवों की ओर अधिक आकृष्ट करने के लिए पुरोहितों की एक नई श्रेणी का आविर्भाव हुआ, जिसे उद्गाता कहा जाने लगा। उनका काम था ऋग्वेद के मन्त्रों को यज्ञ के समय संगीत में बाँधकर गाना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संगीत-कला का सुसंस्कृत ज्ञान तथा विकास का उद्गम सामवेद में ही है। यहीं से संगीत का निर्झर प्रवाहित हुआ।

उस युग के यज्ञों में संगीत आवश्यक था। अश्वमेध यज्ञ में दो वीणावादक वीणा बजाते थे। इनमें एक ब्राह्मण होता था, जो दिन को वीणा बजाता था, और दूसरा क्षत्रिय होता था, जो रात को बजाता था। पुरुषमेध यज्ञ में वीणा के साथ अन्य वाद्य-यन्त्र भी बजाये जाते थे। इनके साथ गीत और नृत्य भी चलते थे। महाव्रत में संगीत के साथ नृत्य भी होता था। इसके साथ नाटक से मिलता-जुलता भी कुछ दिखाया जाता था। महाव्रत के अनुष्ठान के समय सोम के विक्रय को लेकर झगड़ा और शूद्रों तथा आर्यों के बीच संघर्ष आदि का अभिनय देखने योग्य होता था।

वैदिक काल में एक विशेष संस्था सभा और समिति थी, जिसमें ग्राम की समस्याओं पर नियमपूर्वक विचार-विमर्श हुआ करता था। उनसे मनोरंजन तथा सांस्कृतिक विकास का भी काम होता था। इनमें लोग आते और वार्त्तालाप करते, खेलों का संगठन होता; गीत, नृत्य तथा वाद्ययन्त्रों का अध्ययन होता और विभिन्न विषयों पर समय-समय वाद-विवाद होता था। वैदिक आर्य इन कामों में अपना बहुत समय लगाते थे।

१. कृष्णयजुर्वेद; ६।१।६
२. कौषीतकी ब्राह्मण, २५।५

नाटक या रंगमंच का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इससे पता चलता है कि उस युग में नाटक अज्ञात था। यह निश्चित रूप से बताना लगभग असम्भव है कि भारत में नाटक की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। वार्त्तालाप के रूप में लिखना, विशेषतः प्रश्नोत्तर के रूप में लिखना—वैदिक तथा पौराणिक युग के लेखकों में अभिव्यक्ति का बहुत लोकप्रिय ढंग था। वस्तुतः, यह ढंग पौराणिक काल के बाद भी चला आया। संस्कृत-साहित्य में भी यह ढंग खूब चला। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर लम्बे-लम्बे वार्त्तालाप दिये गये हैं।

पुराणों तथा उपनिषदों में भी बहुत वार्त्तालाप पाये जाते हैं। यद्यपि वैदिक काल में वास्तविक नाटक नहीं पाया जा सकता, फिर भी उस समय बहुत संगीत, नृत्य, नाटकीय भावभंगी तथा वार्त्तालाप प्राप्य हैं। सम्भव है, इन वस्तुओं ने धीरे-धीरे परिवर्तित होकर नवीन रूप धारण कर लिया हो। यह सम्भव जान पड़ता है; क्योंकि भारतीय नाटकों में संगीत तथा नृत्य का बहुत अधिक महत्त्व है। ये ही वे स्रोत हैं, जो नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक काल में पाये जाते हैं।

सम्भव है कि नृत्य के साथ कुछ अन्य बातों, जैसे मूक अभिनय, नाटकीय भाव-भंगिमा तथा वार्त्तालाप आदि का विकास भी धीरे-धीरे होता गया हो। इससे आगे चलकर वास्तविक नाटक का विकास हुआ। सर्वप्रथम प्रस्तुतकर्त्ता, नृत्य करते समय, केवल शरीर तथा हाथों से सुन्दर तथा आकर्षक मुद्राएँ बनाता था। वास्तव में नाटक-निर्णय में नृत्य का यही लक्षण दिया गया है (१३वीं शती):

अङ्गविक्षेपवैशिष्ट्यं जनचित्तानुरञ्जनम्।
नटेन दर्शितं यत्र नर्त्तनं कथ्यते तदा॥

सूत्र-साहित्य में नाटक का कोई उल्लेख नहीं है, कुछ दिनों बाद उल्लेख मिलते हैं। पाणिनि ने अपने सूत्रों में 'नट' शब्द का प्रयोग किया है और भाष्यकार पतंजलि ने भी इसका उल्लेख किया है। पाणिनि का समय ८वीं शती ई० पू० और पतंजलि का दूसरी शती ई० पू० है। अतः, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वास्तविक नाटक के साथ 'नट' शब्द ८वीं शती ई० पू० तक अवश्य आ गया था।

भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक की उत्पत्ति

नाट्यशास्त्र में दिया गया आख्यान : भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के प्राचीनतम ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनोरंजक विवरण दिया गया है। नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में वर्णित आख्यान से नाटक की उत्पत्ति दैवी है और उसका सम्बन्ध चारों वेदों से प्रदर्शित किया गया है। सतयुग में मनुष्यों को किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं था, कोई वेदना नहीं थी। उन्हें किसी प्रकार के मनोरंजन की भी आवश्यकता नहीं थी। त्रेतायुग में देवताओं ने पितामह ब्रह्मा के निकट जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे एक ऐसे वेद की रचना करें, जिसका अनुशीलन शूद्र भी कर सकें; क्योंकि चारों वेदों का अध्ययन और अनुशीलन केवल द्विज ही कर सकते थे और शूद्रों के लिए निःश्रेयस का कोई साधन

नहीं था। देवताओं की इस प्रार्थना पर ब्रह्माजी ने ध्यान दिया और ऐसे वेद की रचना करने का विचार किया, जिसमें इतिहास के साथ मानव-जीवन के सभी अंगों के लिए शिक्षा का सम्मिश्रण हो। इस उद्देश्य से ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर पंचम वेद की सृष्टि की। इस पंचम वेद में चार अंगों का समावेश है—पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण किया।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥[1]

तदनन्तर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाट्य-गृह बनाने का आदेश दिया और भरत को इस नवीन कला की शिक्षा देने और इसका सम्पादन करने को कहा। ब्रह्मा ने भरत मुनि को सौ शिष्य दिये और सौ अप्सराएँ भी इसलिए दीं कि वे इस कला को सम्पादित कर सकें और भरत मुनि उन्हें इस कला की शिक्षा दें। देवताओं ने इस नवीन कला का स्वागत किया। अभिनय देखकर शिवजी बहुत प्रसन्न हुए, परन्तु नृत्य का अभाव देखकर उन्होंने तण्डु को आदेश दिया कि भरत को नृत्य सिखावें। तण्डु ने भरत को नृत्य की विधिवत् शिक्षा दी। आरम्भ में तण्डु ने ही नृत्य की शिक्षा दी, इसलिए इस कला को 'ताण्डव' कहा जाने लगा। इस प्रकार, शिवजी ने ताण्डव नृत्य दिया। पार्वती ने भी लास्य नृत्य दिया। विष्णु ने चार वृत्तियाँ प्रदान कीं, जो नाटक के प्रभाव के लिए अत्यावश्यक थीं। इस स्वर्गीय वेद को पृथ्वी पर नाट्यशास्त्र के रूप में उतारने का काम भरत को दिया गया।

नारद-जैसे संगीतज्ञ इस उत्सव में सम्मिलित हुए। भरत-पुत्रों द्वारा 'असुर-पराजय' नामक नाटक रंगमंच पर खेला जाने लगा। सूचना मिलने पर असुरों ने उपद्रव खड़ा किया। रंग में भंग होते देख इन्द्र ने अपनी ध्वजा के नीचे अपने स्वर्गवालों को बुलाया। युद्ध की तैयारी होने लगी। अन्त में इन्द्र ने असुरों को पराजित किया और नाटक खेला गया। दूसरी बार 'अमृत-मन्थन' का खेल हुआ। यह खेल देखकर ब्रह्माजी इतने प्रभावित तथा प्रसन्न हुए कि नटों को शिवजी के पास ले गये। शिवजी की उपस्थिति में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम खेला गया।

इस आख्यान का महत्त्व : असुरों के साथ हुए इस झगड़े की कथा पर टिप्पणी करते हुए डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है : "इस कथानक से हमारे उल्लिखित मत की और भी पुष्टि हो जाती है। जब भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले तथा विभिन्न संस्कृतियों के अनुयायी आये तथा अनार्य, शिष्ट और अशिष्ट, एक ही मैदान में एक ही समारोह के अन्तर्गत समान रूप से सम्मिलित हुए होंगे, तो कोई-न-कोई विवाद अथवा आतंक पैदा हुआ होगा। जिस प्रकार वैदिक यज्ञों का विध्वंस करने के लिए असुर पहुँच जाते थे, उसी प्रकार आर्य तथा अनार्य सम्मिलन के साधन नाटक-रूपी यज्ञ का विध्वंस करने के लिए देशद्रोही तथा

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय १, का० १७**

आततायी पहुँचते रहे होंगे। नाटक के प्रेक्षण के लिए न केवल नर, प्रत्युत नारियाँ तथा बच्चे भी उपस्थित रहते होंगे। उनकी रक्षा तथा कला-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने के लिए रंगमंच-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। अतः, स्वभावतः भरत मुनि के काल में नाटक के अभिनय के लिए रंगमंच का निर्माण हुआ।"[१]

डॉ० दशरथ ओझा का मत है कि भरत मुनि के समय में नाटक के निम्नलिखित अंग निर्धारित हो चुके थे : १. नट, २. नटी (स्त्री-पात्र का अभिनय स्त्री ही करती थी), ३. नृत्य, वाद्य; ४. संगीत, ५. संवाद, ६. कथावस्तु तथा ७. रंगमंच।

इस आख्यान से निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं :

१. नाट्यवेद वेदों से भिन्न पंचम वेद है, फिर भी इसके मुख्य अंश चारों वेदों से लिये गये हैं।

२. यद्यपि नाट्यवेद के मूल तत्त्व चारों वेदों से गृहीत हैं, फिर भी यह स्वतन्त्र वेद है, और अपनी प्रामाणिकता के लिए दूसरे का मुखापेक्षी नहीं है।

३. नाट्यवेद अन्य वेदों के समान केवल उच्च वर्णों के लिए नहीं है, प्रत्युत सार्ववर्णिक है।

४. बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वैदिक आचार तथा क्रिया-परम्परा के प्रवर्त्तित होने के काफी समय बाद त्रेतायुग में इस वेद की रचना हुई। उस समय इस जम्बूद्वीप को देवता, दानव, यक्ष, नाग और राक्षस समाक्रान्त कर चुके थे, अर्थात् भारतवर्ष में अनेक नवीन जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था।

नाट्यवेद की उत्पत्ति के विषय में भरत ने जो आख्यान दिया, उसकी ओर अनेक परवर्त्ती आचार्यों ने संकेत किया है। 'अभिनयदर्पण' के रचयिता नन्दिकेश्वर ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही नाटक की उत्पत्ति के विषय में लिखा है :

ऋग्यजुः सामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात् ॥ ७ ॥
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥ ८ ॥
नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः ॥ ९ ॥

ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रसों को लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देनेवाला यह शास्त्र बनाया। सबसे पहले यह नाट्य ब्रह्माजी ने भरत को दिया।

धनंजय ने 'दशरूपक' के आरम्भ में इसी कथा का समर्थन किया है और यह भी बताया है कि इसमें ताण्डव या उद्धत नृत्य शिवजी ने और लास्य या कोमल नृत्य पार्वतीजी ने जोड़ा। शारदातनय ने संगीत की उत्पत्ति बताते समय 'भावप्रकाशन' के दसवें अधिकार में उल्लेख किया है कि किस प्रकार ब्रह्माजी ने भरत को नाट्यवेद दिया।

---

१. **हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास; पृ० १७-१८**

इन विवरणों से निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं :

१. सांसारिक दुःख-कष्टों तथा चिन्ताओं को भुला देने के उद्देश्य से नाटक का जन्म हुआ।

२. ब्रह्माजी ने सबसे पहले इसकी सृष्टि की या उन्होंने ही सबसे पहले इसका प्रचार किया।

३. वेदों के कुछ तत्त्वों को मिलाकर नाटक की रचना की गई है।

४. आरम्भिक नाटक में चार तत्त्व रहते थे—पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस।

५. नाटक का द्वार सबके लिए खुला था। इसमें शूद्र आदि भी भाग लेकर अपना मनोरंजन कर सकते थे।

अब इस आधुनिक युग के अनुसार विचार कर लेना चाहिए कि ब्रह्माजी कौन हैं, जिन्होंने नाट्यवेद की सृष्टि की। भारतीय परम्परा मानती आई है कि ब्रह्मा ने ही सारे विश्व की सृष्टि की; फिर उन्हें नाट्यवेद का रचयिता कहा जाय, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यही बात दूसरे ढंग से यों भी कही जा सकती है कि जैसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वेदों का साक्षात्कार किया, वैसे ही उन्होंने नाट्यवेद का भी साक्षात्कार किया या यह उनके नेत्रों के सम्मुख प्रकट हुआ। यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि ऋषियों ने वैदिक ज्ञान से लोकोपयोगी अंश लेकर उससे लोक-रंजक तथा उपदेशात्मक नाट्य का आविष्कार कर लिया हो और आगे चलकर अनेक ऋषियों ने इच्छानुसार इसमें कलाओं तथा प्रयोगों का सन्निवेश कर लिया हो। बुद्धिवादियों के सन्तोष के लिए यह भी कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति ने पहले-पहल चारों वेदों का अध्ययन करके और सभी में से लोकरंजन के उपयोगी तत्त्व निकालकर और मिलाकर सबके लिए बोधगम्य नाट्यवेद बनाया, उसे ही ब्रह्मा, विधाता या रचयिता कहा जाने लगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस किसी ब्रह्मा ने नाट्यवेद की सृष्टि की, वह निश्चय ही अत्यन्त ज्ञानी रहा होगा।

नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस कथा का उल्लेख है, उससे दो बातों की ओर संकेत है। पहली बात तो यह है कि महेन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्माजी से ऐसे वेद की रचना करने की प्रार्थना की, जिसमें सभी वर्णों के लोग भाग ले सकें। दूसरी बात यह है कि उन देवताओं ने उस समय यह प्रार्थना की जब संसार के सभी लोग दुष्कर्मों में लगे थे और किसी प्रकार अपना समय व्यतीत कर रहे थे। इन संकेतों से कुछ विद्वानों ने अर्थ निकाला है कि सम्भवतः किसी प्रतापी राजा के राज्य में अनाचार बढ़ गये थे और जब बड़े अधिकारियों ने इस प्रकार से समाज का पतन होते देखा तो किसी लोक-विश्रुत सर्वविद् विद्वान् से ऐसा साधन निकालने की प्रार्थना की, जिससे सब प्रकार की शिक्षा दी जा सके और जिसकी ओर सबका आकर्षण हो। ब्रह्माजी या उस अलौकिक विद्वान् ने सम्भवतः इसीलिए नाटक की रचना की हो।

इस आख्यान में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं :

१. नाट्य की नवीन कला की सृष्टि में हिन्दुओं के त्रिदेव के प्रत्येक सदस्य का सहयोग हो जाता है, और

२. यह प्रयास कि परम्परागत पंचमवेद नाट्यवेद है। इस आख्यान से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वेदों में नाटक का अभाव था; क्योंकि देवताओं को ब्रह्मा से ऐसे सर्वथा नवीन प्रकार के साहित्य की रचना करने की प्रार्थना करने की आवश्यकता पड़ी, जो परवर्त्ती युग की पीढ़ियों के लिए उपयुक्त हो सके। साथ ही, नाट्यवेद के विकास के इस आख्यान से कम-से-कम एक बात की पुष्टि हो जाती है कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व ही भारत में नाटक और रंगमंच का पर्याप्त विकास हो चुका था। वस्तुतः, भारतीय परम्परा नाटक की दैवी उत्पत्ति मानती है।

किसी भी नवीन शास्त्र के प्रवर्त्तन के समय उसका मूल वेदों में ढूँढ़ने की भारतीय परम्परा है। भारतीय मनीषियों का विश्वास है कि वेद ज्ञानस्वरूप हैं; उनमें त्रिकाल का ज्ञान निहित है। अतः, वे अपने किसी भी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना नहीं मानते। नाट्यवेद की उत्पत्ति के विषय में भी यह बात देखी जा सकती है। परन्तु, इस नाट्य-शास्त्र को वेद की मर्यादा देने का एक और भी अभिप्राय है। इसमें कुछ ऐसी भी बातें कही गई हैं, जो चारों वेदों में अप्राप्य हैं और जिनके लिए नाट्यवेद ही स्वतः प्रमाण है। जब किसी शास्त्र को वेद कहा जाता है तो इसका अर्थ होता है कि वह स्वयं अपना प्रमाण है और उसके लिए किसी दूसरे आप्त वाक्य की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में इसे श्रुति के गौरव से भूषित किया गया है।

आधुनिक ढंग के शोध-पण्डितों में भी इस विषय को लेकर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है। नाट्यशास्त्र को पंचमवेद क्यों कहा गया, वे कौन-सी बातें हैं, जिनका उस शास्त्र के प्रवर्त्तित होने के पूर्व आर्यों में प्रचार था और कौन-सी बातें नई आई हैं, नई बातों का प्रेरणा-स्रोत क्या है, फिर नाट्यशास्त्र पर यवनों आदि का कुछ प्रभाव है या नहीं आदि ऐसे विषय हैं, जिन पर इधर कुछ वर्षों में बहुत-कुछ विवेचन हुआ है। नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त कथा से इतना तो स्पष्टतः विदित हो जाता है कि नाटकों में जो पाठ्य अंश होता है उसका मूल ऋग्वेद में देखा जा सकता है; जो गेय अंश है, वह सामवेद में मिलता है और रस का मूल स्वरूप अथर्ववेद में मिलता है। कम-से-कम नाट्यशास्त्र के रचयिता को इसमें पूर्ण विश्वास था।

वेदों में नाट्य के तत्त्व : ऋग्वेद के विभिन्न संवादों से सहज दिखाया जा सकता है कि किस प्रकार इससे संवाद नाट्यवेद में लिया गया। यजुर्वेद के अनेक स्थलों से दिखाया जा सकता है कि उसी वेद से नाट्यवेद में अभिनय का ज्ञान लिया गया। कुछ विद्वान् ऐसा अनुमान करते हैं कि यज्ञ-क्रियाओं में कुछ ऐसे तत्त्व मिल गये हैं, जो तत्कालीन जन-साधारण में प्रचलित खेल-तमाशे या नाच-गान से लिये गये होंगे। यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में ऐसे नाच-गान या खेल-तमाशे अवश्य ही प्रचलित

रहे होंगे। कौषीतकी ब्राह्मण (२४।५) में नृत्य, गीत आदि की गिनती कलाओं में की गई है। पारस्कर-गृह्यसूत्र (२।७।३) में द्विजातियों को इन सबमें भाग लेने का निषेध किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस युग के समाज में अनेक लोक-गीतों, नृत्यों तथा नाटकों का प्रचलन था। सर्वसाधारण उनसे मनोरंजन करते तथा उनका सम्मान करते थे, किन्तु अत्यन्त नैतिकतावादी ब्राह्मण उनसे अलग रहने की भी चेष्टा करते थे। इसका कारण यह है कि वेदों के पवित्र वातावरण में उनका विश्वास था कि ऐसा कोई काम द्विजों को नहीं करना चाहिए, जिससे चरित्रगत पतन की थोड़ी भी सम्भावना दिखाई देती हो। फलस्वरूप नृत्य, गीत आदि की मनोरंजकता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उन्हें शिष्ट व्यक्तियों के योग्य नहीं स्वीकार किया। जो भी हो, नाट्य-शास्त्र में यह बताया गया है कि अभिनय यजुर्वेद से लिया गया है। किन्तु, हमें समझना चाहिए कि नाट्यशास्त्र में अभिनय किस वस्तु को कहा गया है।

नाट्यशास्त्र में 'अभिनय' शब्द का व्यवहार बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है। इसमें नाटक के प्रायः सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। वेश-विन्यास और रंगमंच की सजावट भी इससे अलग नहीं। वास्तव में पाठ्य-गान तथा रस के अतिरिक्त नाटक में जो कुछ भी होता है, सबका समावेश अभिनय में हो जाता है। पाठ्य-गान और रस के भी सभी आश्रय और उपादान अभिनय में आ जाते हैं। अतः, जब नाट्यशास्त्र की परम्परा में 'अभिनय' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो वास्तव में कुछ बच नहीं जाता।

कुछ विद्वानों ने अभिनय का अर्थ अनुकरण (Imitation) और भाव-भंगी (Gesture) किया है, परन्तु ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। अभिनय के अन्तर्गत विभिन्न अंगों की विशेष भंगिमाओं का ही प्रधान स्थान नहीं है। नाट्यशास्त्र में अभिनय के चारों अंगों—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—सब पर समान भाव से बल दिया गया है। उस युग में आंगिक अभिनय अपने चरम उत्कर्ष पर था। नाट्यशास्त्र, अभिनय-दर्पण आदि ग्रन्थों में सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर के सैकड़ों प्रकार के अभिनय का वर्णन है। फिर, वाचिक या वचन-सम्बन्धी अभिनय भी महत्त्वहीन नहीं समझा गया। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि वचन का अभिनय बड़ी सावधानी से करना चाहिए; क्योंकि यह नाट्य का शरीर है, शरीर और वेश-भूषा के अभिनय से वाक्यार्थ व्यंजित होता है।

वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्येदं तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥[1]

परन्तु, केवल शारीरिक या आंगिक तथा वाचिक अभिनय भी अपूर्ण समझे गये। आहार्य या वस्त्रालंकारों की उपयुक्त रचना भी अभिनय का आवश्यक अंग मानी जाती थी। यह चार प्रकार की होती थी—पुस्त, अलंकार, अंग-रचना और संगीत। नाट्यशास्त्र के २३वें अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है। यहाँ विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु, इन तीनों प्रकार के अभिनयों से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्त्विक समझा

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १४, का० २

गया। विभिन्न रसों तथा भावों के अभिनय में अभिनेता या अभिनेत्री की कठिन परीक्षा इसी प्रकार के अभिनय में होती थी।

अभिनय के उपर्युक्त अनेक तत्त्व यजुर्वेद-संहिता में निर्दिष्ट यज्ञ-विधानों में आसानी से मिल जाते हैं। यही कारण है कि भरत मुनि ने कहा है कि अभिनय यजुर्वेद से लिया गया।

महाव्रत में हम ऐसे तत्त्व पाते हैं, जो नाटक के विकास में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। महाव्रत हेमन्त-ऋतु में सम्पन्न किया जानेवाला धार्मिक नृत्य है, जिसका उद्देश्य सूर्य को शक्तिशाली बनाना है, जिससे वह पृथ्वी को उर्वर और सस्य-सम्पन्न बना सके। डॉ० कीथ ने अश्वमेध यज्ञ आदि का हवाला देकर सिद्ध किया है कि इन धार्मिक कृत्यों में नाटक के केवल कुछ तत्त्व उपलब्ध होते हैं, परन्तु वास्तविक नाटक अभी अज्ञात ही था। यजुर्वेद में सभी तरह के मनुष्यों के सभी प्रकार के पेशों की लम्बी सूचियाँ हैं, परन्तु कहीं भी नट का नाम नहीं था, जो परवर्त्ती साहित्य में सामान्य रूप से अभिनेता का नाम दिया जाता था।

किन्तु, कतिपय विद्वानों का मत है कि वैदिक काल में व्यवसाय रूप में नाटक करनेवाली शैलूष जाति वर्त्तमान थी। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के ३०वें अध्याय में शैलूष जाति का उल्लेख मिलता है :

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठाये।
भीमलं नर्माय रेभं हासाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे॥
कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्य्याय तक्षाणम्॥६॥[1]

अर्थात् नृत्त (नाच) के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष को, धर्म-व्यवस्था के लिए सभाचतुर को, सबको ढंग से बैठाने के लिए भीमकाय युवकों को, विनोद के लिए विनोदी व्यक्तियों को, शृंगार-सम्बन्धी रचना के लिए कलाकारों को, काल-यापन के लिए कुमारपुत्र को, चतुरतापूर्ण कार्यों के लिए रथकारों को और धैर्ययुक्त कार्य के लिए बढ़ई को नियुक्त करना चाहिए।

इस उद्धरण से पता चलता है कि यज्ञ के समय नाच-गान के लिए सूत और शैलूष को नियुक्त किया जाता था। नृत्त और गीत में अभिनय का पूर्वरूप बन जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि शुक्लयजुर्वेद के युग में नाटक का कोई प्रारम्भिक रूप प्रचलित था।

परन्तु, कुछ विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। डॉ० दासगुप्त वैदिक काल में नाटक के कुछ तत्त्वों की स्थिति मानते हुए भी यह नहीं मानते कि उस काल में नाटक का कोई प्रारम्भिक रूप वर्त्तमान था। उनका कथन है :

"It seems, therefore, that even if the elements of the drama were present in the Vedic times, there is no proof that the dramas, in however

---

१. यजुर्वेद संहिता, अध्याय ३०, मन्त्र ६

rudimentary form, were actually known. The actor is not mentioned nor does any dramatic terminology occur. There may have been some connection between the dramatic religious ceremonies and the drama embryo."[१]

नाटक के अन्य तत्त्वों में हम सामवेद में गीत तथा धार्मिक नृत्य पाते हैं। यह कहना यथार्थ ही है कि सामवेद से गीत-अंश लिया गया है। ऋक् या पद्य को साम की योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थान कहा गया है। सामवेद एक अत्यन्त समृद्ध संगीत-परम्परा का परिचायक ग्रन्थ है। अतः, भरत का यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि सामवेद से गीत नाट्यवेद में लिया गया। महाव्रत में कुमारियाँ फसलों के लिए वर्षा लाने और गोधन की वृद्धि के लिए अग्नि के चारों ओर नृत्य करती हैं। भारतीय रंगमंच के इतिहास में नाटक का सम्बन्ध नृत्य से सदा ही रहा है और शिव तथा विष्णु से सम्बन्ध रखनेवाले धार्मिक कृत्यों में नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यदि हम यह भी मान लें कि धार्मिक कृत्यों से गद्य में संवाद लिया गया, तो वैदिक कृत्यों में ही हमें वे सभी तत्त्व उपलब्ध हो जाते हैं, जिनसे नाटक का विकास होता है।

नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि रस अथर्ववेद से लिया गया। इस वेद में मारण, मोहन, वशीकरण आदि अभिचार पाये जाते हैं। जिन लोगों पर ये प्रयोग किये जाते हैं, इसमें उनके स्थानापन्न किसी का अवधारण किया जाता है, जो नाटक के विभाव आदि के समकक्ष ही है। साथ ही, इसमें मारण, मोहन आदि अभिचारों के समय सिहरन, कम्पन आदि अनुभाव तथा धृति, प्रमोद आदि व्यभिचारी भाव भी वर्त्तमान रहते हैं। इस प्रकार, इसमें विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का संयोग मिल जाता है और इन्हीं के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। अभिनव गुप्त का मत है कि इसीलिए रस को अथर्ववेद से गृहीत बताया गया है। अतः, अथर्ववेद से रसों के ग्रहण किये जाने का अनुमान भी युक्तिसंगत तथा उचित है।

भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्त विवरण से नाटक की उत्पत्ति के विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। परन्तु, इतना निष्कर्ष तो अवश्य ही निकाला जा सकता है कि नाट्यशास्त्र में लिखे जाने के पूर्व नाटक और रंगमंच का अस्तित्व था। यह भी निश्चित है कि उस समय स्त्रियाँ भी रंगमंच पर अभिनय में भाग लेती थीं।

नाटक का अवतरण : भरत के नाट्यशास्त्र के ३६वें अध्याय में बताया गया है कि नाटक का स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरण किस प्रकार हुआ। मुनियों के प्रश्न के उत्तर में भरत मुनि ने इस विषय में दो कथाएँ सुनाईं, जिनसे नाटक के पृथ्वी पर अवतरण का विवरण ज्ञात होता है। पहली कथा के अनुसार भरत-पुत्रों को अपने उत्तम अभिनय के कारण देवताओं से पुरस्कृत तथा सम्मानित होने पर बहुत अभिमान हो गया। वे अभिनय में तो निपुण थे ही, स्वयं नाटक भी लिखने लगे थे। एक बार एक नाटक में उन्होंने ऐसा कुछ लिख दिया, जिससे ऋषियों का अपमान होता था। ऋषियों ने जब यह देखा तो अत्यन्त

१. **History of Sanskrit Literature by S.N. Dasgupta and Dr. K.K. De; pp. 46-47.**

क्रुद्ध हुए। परिणाम-स्वरूप मुनियों ने भरत-पुत्रों को शाप दे डाला कि तुमलोग ब्राह्मणों का आचरण छोड़कर शूद्र हो जाओगे। तुम्हारा वंश और उसमें उत्पन्न होनेवाले सभी शूद्र तथा नर्त्तक कहे जायेंगे। देवताओं ने मुनियों से भरत-पुत्रों को क्षमा कर देने की प्रार्थना की। तब मुनियों ने अपने शाप में इतना संशोधन किया कि नाट्यवेद का नाश नहीं होगा, परन्तु शेष शाप ज्यों-का-त्यों रहेगा। इस शाप के अनुसार भरत-पुत्र पृथ्वी पर शूद्रों के रूप में आये और नर्त्तक कहलाकर नाट्य का अभिनय आदि करने लगे।

इस विषय की दूसरी कथा राजा नहुष से सम्बन्ध रखती है। पृथ्वी के राजा नहुष अपने पुण्य-बल से एक बार कुछ समय के लिए देवलोक में इन्द्र-पद पर आसीन हुए। उन्होंने देवलोक के नाट्य को देखकर देवताओं से कहा कि अप्सराओं का यह नाट्य पृथ्वी-लोक पर हमारे घर पर भी होना चाहिए। तब बृहस्पति आदि देवताओं ने नहुष को समझाया कि अप्सराओं का सम्बन्ध मानवों से नहीं हो सकता है। यह हो सकता है कि भरत मुनि अपने पुत्रों के साथ जाकर आपके कथनानुसार कार्य कर दें। तदनन्तर नहुष ने भरत मुनि से प्रार्थना की। भरत मुनि ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने पुत्रों को पृथ्वी पर जाकर नाटक का प्रचार करने का आदेश दिया। इस प्रकार, स्वर्ग से पृथ्वी पर नाट्य का अवतरण हुआ।

नाटकोत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त : अभी नाट्य के दैवी उत्पत्ति वाले सिद्धान्त का विवेचन हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक पाश्चात्त्य तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने नाट्य की उत्पत्ति के विषय में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है।

आख्यान या संवाद-सिद्धान्त : ऋग्वेद में कई संवाद-सूक्तों को देखकर प्रो० मैक्डोनल ने अपने 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर' में कहा है कि संवाद ही भारतीय नाट्य-साहित्य के आदिरूप हैं। ऋग्वेद के पुरूरवा और उर्वशी के संवाद को लेकर कालिदास ने 'विक्रोमोर्वशीयम्' नाटक की रचना की। डॉ० ए० बी० कीथ ने इन संवादों को आख्यान कहा है। इन संवादों के बल पर दो प्रसिद्ध मत स्थापित हुए हैं। पहला मत है प्रो० विंडिश और ओल्डेनबर्ग का आख्यान-मत, जिसका समर्थन डॉ० पिशेल और गेल्डेनर ने भी किया। इन लोगों का मत है कि मूलतः ये संवाद गद्य-पद्यात्मक कथा के रूप में रहे होंगे, जिनमें परस्पर बातचीत के अवसर पर कथा ने संवाद का रूप ग्रहण कर लिया होगा। अन्त में, डॉ० ओल्डेनबर्ग ने अपना मत निर्धारित किया कि पद्य-भाग तो एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ में परम्परा से आने के कारण बचा रहा, किन्तु गद्य-भाग नष्ट हो गया।

नाटक में अनेक तत्त्व होते हैं, जिनमें संवाद तथा अभिनय का विशेष महत्त्व है। संवाद का तत्त्व भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में हम पा सकते हैं। इस प्रकार, नाटक का बीज ऋग्वेद में हमें मिलता है। ऋग्वेद में कम-से-कम १५ ऐसे स्थल हैं, जिनमें हमें संवाद का तत्त्व मिल सकता है और जिनका विशेष महत्त्व है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ व्यक्तियों के दल मानकर संवाद की कल्पना कर सकते हैं। दशम मण्डल के

१०वें सूक्त में यम-यमी संवाद है, जिसमें यमी यम से अपना प्रेम स्वीकार करने का अनुरोध करती है :

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

यम का उत्तर :

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवोधर्तार उर्विया परिख्यन् ॥ २ ॥[1]

इसी मण्डल में (१०।९५) पुरूरवस्-उर्वशी संवाद है। कहीं-कहीं वार्त्तालाप करनेवाले तीन पात्र हैं, जैसे (१।१७० में) ऋषि अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा और अपने पुत्र से वार्त्तालाप करते हैं। इन्द्र, उनकी पत्नी इन्द्राणी तथा वृषाकपि का वाद-विवाद (१०।८६) अल्पबोध-गम्य है। इन्द्र-मरुत्-संवाद (१।६५–७०) में इन्द्र मरुतों से विवाद करते हैं; क्योंकि उन्होंने वृत्रासुर के साथ संग्राम में इन्द्र का साथ छोड़ दिया था। १०वें मण्डल के १०८वें सूक्त में इन्द्रदूती सरमा अपने सारमेय पुत्रों के लिए पणियों के पास जाती है और उनसे वार्त्तालाप करती है। दो संवाद अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं : १. विश्वामित्र-नदी-संवाद (३।३३) और २. वशिष्ठ का अपने पुत्रों से संवाद (७।३३)। विश्वामित्र-नदी-संवाद का अन्त इस वचन के साथ होता है कि अपने पुरोहित की पूजा के बाद भरतों ने नदियों को पार कर लिया; क्योंकि नदियों ने उन्हें मार्ग दे दिया था। हमें यह स्वीकार करना होगा कि ऋग्वेद के इन संवादों में काव्य की शैली का संकेत है, जो उत्तरवैदिक काल में धीरे-धीरे समाप्त हो गई। आधुनिक पण्डित कभी-कभी इन सूक्तों के अर्थ के विषय में एकमत नहीं हो पाते। एक विद्वान् जिसे संवाद समझता है, उसे ही दूसरा विद्वान् संवाद मानने को प्रस्तुत नहीं होता। किन्तु ऐसा विवाद पुराना ही है। १०वें मण्डल का ९५वाँ सूक्त, जिसमें पुरूरवस्-उर्वशी-संवाद है, यास्क के अनुसार संवाद है, परन्तु शौनक्य उसे कहानी मात्र मानते थे।

काव्यायन श्रौतसूत्र में तो सोम-पान के अवसर पर एक छोटा अभिनय ही देखा जा सकता है। डॉ० दशरथ ओझा ने एक रोचक प्रसंग लिखा है : "सोमयाग नामक यज्ञ-क्रिया इन्द्र के अनुयायी करते थे। सोम-विक्रेता वनवासियों के साथ यजमान विक्रेता और अध्वर्यु का संवाद अभिनय के समान लगता है।'

इस अभिनय का प्रदर्शन किंचित् काल तक चलता रहा। संकेत **'इति सोमविक्रयिणं हिरण्येनामिकावयिति'**, **'हिरण्यं दत्वा स्वीकुर्वतस्तं निराशं कुर्यात्'** का उद्धरण सूत्र की टीका में मिलता है। इस प्रकार, सोम-क्रयकर्त्ता सोम-विक्रेता को छकाकर स्वर्ण यजमान को सौंप देता और सोम के मूल्य में उसे एक बकरी दी जाती। अनुमानतः उसे स्वर्ण भी दे ही दिया जाता। तदुपरान्त विक्रेता यजमान के कपड़े पर सोम डाल देता।

---

१. ऋग्वेदसंहिता, मण्डल १०, सूक्त १०

सोम का स्पर्श हो जाने पर यजमान जप करने लगता। ऐसा प्रतीत होता कि सोम के झगड़े से उसका कोई अभिप्राय ही नहीं। सहसा परिवर्त्तन होता। **'हिरण्यं सहसाऽच्छित्य पृषता वरत्राकाण्डेनाहन्ति वा'**, सोम-विक्रेता से स्वर्ण छीनकर उसपर कोड़ों से प्रहार किया जाता है और वह भाग जाता। तत्पश्चात् सोमराजा को गाड़ी में बिठाकर उसकी परिक्रमा कराई जाती। तदुपरान्त इन्द्र का आह्वान किया जाता, जो सोमरस के रसिक, आनन्द तथा उल्लास के रूप माने जाते थे।"[१]

इन वैदिक संवादों का वास्तविक उद्देश्य अज्ञात है, परन्तु इनके आधार पर प्रो० मैक्समूलर ने सन् १८६९ ई० में यह मत प्रकट किया था कि यज्ञ के समय इन सूक्तों का पाठ इस ढंग से किया जाता रहा होगा कि विभिन्न ऋत्विक् विभिन्न पात्र (मरुत् या इन्द्र) वाले मन्त्रों (संवादों) का शंसन दो दलों के द्वारा होता होगा; एक दल इन्द्र का तथा दूसरा दल मरुत् का प्रतिनिधित्व करता होगा। सन् १८९० ई० में प्रो० सिल्वाँ लेवी ने भी इस मत की पुष्टि की। यह भी कहा गया कि ऋग्वेद के युग में धार्मिक ढंग के नाटकीय दृश्य स्वर्ग की घटनाओं का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए होते थे, जिनमें ऋत्विक् देवताओं तथा ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे। प्रो० लेवी ने यह भी कहा कि वैदिक काल में गाने की कला उन्नत थी। इतना ही नहीं, ऋग्वेद (१।९८।४) में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है, जो उत्तम वस्तु धारण करके नाचती थीं और प्रेमियों को अपनी ओर आकृष्ट करती थीं। अथर्ववेद (७।१।४१) में पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख पाया जाता है।

डॉ० ए० बी० कीथ ने अपने ग्रन्थ 'Sanskrit Drama' में प्रो० लेवी के इस मत के विषय में लिखा है :

"There is, therefore, a priori no fatal objection to assuming that the period of the Rigveda knew dramatic spectacles, religious in character, in which the priests assumed the roles of god and sages in order to immitate on earth the events of the heavens."[२]

इस सिद्धान्त को प्रो० श्रेडर भी मानते हैं और उनकी स्थापना है कि ऋग्वेद के संवादात्मक मन्त्र वैदिक रहस्यों के अवशेष-मात्र हैं, जो बीज-रूप में भारत-यूरोपीय काल से चला आ रहा है। धार्मिक कृत्यों का नाटक वास्तविक नाटक के प्रधान मार्ग से कुछ हटकर है। उस नाटक का लोक-पक्ष बंगाल की यात्राओं में कई युगों के बाद आज भी जीवित है, किन्तु परिष्कृत वैदिक नाटक अपना उत्तराधिकारी छोड़े विना ही समाप्त हो गया। उन्होंने ऋग्वेद के कुछ सूक्त उपस्थित किये, जिन्हें वे नाटक का आदिम रूप मानते हैं और उनमें वे गेय तथा अभिनेय दोनों तत्त्वों को ढूँढ़ते हैं। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त (७।१०२) के

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २२-२३

२. The Sanskrit Drama, p. 16

विषय में उनका कथन है कि ब्राह्मण लोग मेढ़कों से भरे तालाब में खड़े होकर इस सूक्त को गाते होंगे। ऋग्वेद के सोम सूक्त (९।११२) के विषय में भी उनका मत कुछ ऐसा ही है। लुडविक, पिशेल तथा ओल्डेनबर्ग जैसे विद्वानों ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि इन संवाद-मूलक पद्यों में बीच-बीच में गद्य भी प्रयुक्त होता था, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं था। जहाँ वक्ता का भावावेश तीव्र होता था, उन्हीं स्थलों पर पद्य का प्रयोग होता था। केवल उन्हीं तीव्र भावावेशवाले अंशों का संग्रह किया गया है। इस सिद्धान्त को डॉ० पिशेल ने और आगे बढ़ाया है। उनका अनुमान है कि संस्कृत-नाटकों में गद्य और पद्य के मिश्रण की जो विचित्र परिपाटी है, वह उसी प्राचीन प्रथा का परवर्त्ती रूप है। संस्कृत नाटकों में पात्र गद्य बोलते-बोलते जब भावावेश में आ जाता है, तब पद्य बोलने लगता है। परन्तु, विशाल भारतीय परम्परा इस प्रसंग में सर्वथा मौन है। किन्तु, इतना पूर्णतया स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता का मन ऋग्वेद के नाटकों में पाये जानेवाले पाठ्य तत्त्व के विषय में निर्भ्रान्त था। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में रंगदैवत-पूजन-विधि को यज्ञ-सम्मत बताया है—**'यज्ञेन सम्मतं ह्येतद् रंगदैवतपूजनम्।'**[1] यदि नाट्यशास्त्र के इस उल्लेख को परम्परा का संकेत माना जाय, तो डॉ० पिशेल का अनुमान सत्य माना जा सकता है। इतना तो निश्चित ही है कि नाट्यशास्त्र का यह दावा कि नाटक के पाठ्य अंश ऋग्वेद से लिये गये हैं, युक्ति-युक्त सिद्ध हो जाता है। यह निश्चित मत हमें संहिताओं से मिल जाता है; अतः इस विषय में हमें भटकने की आवश्यकता नहीं।

डॉ० हर्टेल ने भी वेदों के संवादों को रहस्यात्मक नाटकों के आरम्भ के रूप में माना है। उनका तर्क मुख्यतया इस सिद्धान्त पर आधारित है कि वैदिक सूक्त सदा गाये जाते थे और गाने में एक ही गायक के लिए असम्भव है कि वह विभिन्न वक्ताओं के भेद का प्रदर्शन कर सके। इसलिए, जिन सूक्तों में एक से अधिक वक्ता पाये जाते थे, उन्हें अनेक पाठकों के द्वारा पढ़ा जाना असम्भव नहीं। अतः, ये सूक्त नाट्यकला के आरम्भ कहे जा सकते हैं। किन्तु, इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे सुपर्णाध्याय में वास्तविक नाटक ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। उनके मत में वैदिक नाटक अकेला नहीं है। ऋग्वेद में उसका प्रारम्भिक रूप है, सुपर्णाध्याय में और अधिक विकास है और यात्राओं में पुराने नाटकों का निरन्तर विकास है, जिससे हमें यह समझने में सुविधा होती है कि किस प्रकार वैदिक नाटक से लौकिक संस्कृत नाटकों का विकास हुआ। इस विषय में नाटकीय सिद्धान्त के दोनों समर्थकों में स्पष्ट मत-वैषम्य है; क्योंकि प्रो० श्रेडर यात्राओं को परवर्त्ती नाटकों से सम्बद्ध मानते हैं, जिसका विकास विष्णु-कृष्ण तथा रुद्र-शिव के सम्प्रदाय के साथ हुआ था, परन्तु वैदिक संवादों के अन्य विकास का जो स्थानापन्न था।

डॉ० कीथ ने उपर्युक्त दोनों विद्वानों—प्रो० श्रेडर तथा डॉ० हर्टेल के मतों का विद्वत्तापूर्ण खण्डन किया है। वे संवादों को नाटकीय संवाद नहीं मानते, प्रत्युत पौरोहित्य

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, का० १२३

और कर्मकाण्ड से सम्बद्ध संवाद मानते हैं। वे इस बात की सम्भावना मानते हैं कि कर्मकाण्ड के समय संवादों में ऋत्विक् देव और दानव की भूमिका में आ जाते थे; क्योंकि ऐसा मानने के प्रमाण-स्वरूप बहुत-से सूक्त हैं।

हमें पता नहीं, और वस्तुतः सम्बद्ध ग्रन्थ भी नहीं बताते कि इन सूक्तों का क्या उपयोग होता था। ऋग्वेद में अनेक दार्शनिक सूक्त हैं। डॉ० कीथ का तर्क है कि यम-यमी-संवाद जैसे दार्शनिक सूक्तों के विषय में हम क्यों नहीं मानें कि ये कर्मकाण्ड के बिना भी हो सकते हैं। सातवें मण्डल में कुछ ऐतिहासिक सूक्त भी हैं। विश्वामित्र-नदी-संवाद को हम क्यों नाटक में ही परिवर्तित कर दें? हमें स्वीकार करना चाहिए कि ऋग्वेद में ऐसे सूक्त हैं, जिनका कर्मकाण्ड या यज्ञ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

प्रो० श्रेडर आदि विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के सूक्त गाये जाते थे। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि गेय तत्त्व तो सामवेद के मन्त्रों में था; ऋग्वेद के मन्त्रों का तो शंसन होता था, उद्गीथ नहीं। केवल इतना ही माना जा सकता है कि ऋग्वेद के इन मन्त्रों में नाटक के बीज वर्त्तमान हैं, पर इन्हें नाटक या उसका स्थानापन्न नहीं माना जा सकता। प्रो० श्रेडर आदि पाश्चात्त्य विद्वानों के इस मत का खण्डन अन्य विद्वानों ने भी किया है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'अभिनव नाट्यशास्त्र' में इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। उन्होंने कथान्तर्गत संवाद तथा नाटकीय संवाद में अन्तर माना है। उनके अनुसार नाटकीय संवाद में वाचिक या आंगिक अभिनय के द्वारा कथोपकथन को भावपूर्ण बनाकर रस उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु कथान्तर्गत संवाद में विशेषतः तर्क की प्रधानता रहती है। उपर्युक्त वैदिक संवादों में सीधे-सादे गुरु-शिष्य-संवाद प्रश्नोत्तर के रूप में हैं; या अज्ञात विषय पर प्रश्न करके जिज्ञासा तृप्त की गई है, या प्रणय-अनुरोध कर प्रेमी और प्रेयसी की तर्कपूर्ण बातचीत होती है। 'अतः, भाव का अभाव होने से इन संवादों में नाटकीयता का स्पर्श भी नहीं है। इसलिए, यूरोपीय विद्वानों का यह कहना नितान्त भ्रामक है कि ये संवाद ही भारतीय नाटक के आदि रूप हैं।'[1]

इस विषय में उनका दूसरा तर्क है कि नाटक में किसी कल्पित घटना का अनुकरण किया जाता है। परन्तु, इन वैदिक सूक्तों में अभिनेयता कहीं नहीं है; उनमें अभिनयशीलता नाममात्र को भी नहीं है। इसीलिए, नाट्यशास्त्र में कहा गया है: **जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्**। इन तर्कों के आधार पर वे सिद्ध करते हैं कि ये संवाद नाटक के आदि रूप नहीं हैं। इतना वे स्वीकार करते हैं कि इन संवादों ने तथा ऋग्वेद में आई हुई अनेक कथाओं ने नाटकों की कथावस्तु की रचना के लिए प्रचुर सामग्री दी।

निष्कर्ष: सभी तर्कों की परीक्षा करने पर निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद के संवादों में नाटक का बीज अवश्य मिलता है। भरत का 'जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्' इसी दिशा की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद के संवादों में नाटक का आदि रूप भले ही

१. अभिनव नाट्यशास्त्र, प्र० सं०, पृ० २१

नहीं हो, परन्तु इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनमें नाटक का बीज वर्त्तमान है।

वैदिक कर्मकाण्ड-सिद्धान्त : सन् १८६९ ई० में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि नाटक की उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्ड से हुई। फ्रांसीसी विद्वान् सिल्वां लेवी ने भी इस मत का समर्थन किया। इस विषय में उनका तर्क है कि वैदिक साहित्य में बहुत-से ऐसे संवाद हैं, जिन्हें भारतीय नाटक का मूल स्रोत माना जा सकता है। ये संवाद केवल कवियों या ऋषियों की कल्पना नहीं हैं, प्रत्युत उन्होंने वैदिक यज्ञों में इन संवादों को प्रत्यक्ष नाटकीय रूप में कहे जाते हुए देखा होगा। इस सिद्धान्त का समर्थन जर्मन विद्वान् फॉन श्रेडर और योहान्स हर्टेल ने भी किया।

प्रो० श्रेडर का यह भी कहना है कि अत्यन्त प्राचीन काल में नृत्य, गीत और वाद्य का साथ ही प्रयोग होता था। उसी से प्रभावित होकर ऋग्वेद के ऋषियों ने ऋग्वेद के संवादों का अभिनय नृत्य और गायन के साथ आरम्भ कर दिया था। हर्टेल का कथन है कि ये वैदिक सूक्त गाये भी जाते थे। एक ही व्यक्ति से संवादों का गायन नहीं हो सकता था; क्योंकि ऐसा करने से संवाद करनेवाले दो व्यक्तियों का भेद जान नहीं पड़ता था। अतः, वैदिक संवादों में नाटक का बीज अवश्य है। इसका विकास आजकल यात्राओं में पाया जाता है।

यजुर्वेद में कुछ ऐसे अंश अवश्य मिल जाते हैं, जो यज्ञ की विधियाँ बताते हैं और जिनमें कुछ ऐसे भी कार्य हैं, जो अभिनय की श्रेणी में आते हैं। वैदिक कृत्य केवल मन्त्रों के शंसन तथा गीतों के गाने-मात्र से ही सम्पन्न नहीं हो जाते थे, वरन् कर्मकाण्ड के जटिल विधान होते थे, जिनमें कुछ यूरोपीय विद्वान् नाटकीय अभिनय के तत्त्व असन्दिग्ध रूप से विद्यमान पाते हैं। अर्थात् उन कृत्यों को करनेवाले थोड़े समय के लिए अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त एक अन्य व्यक्तित्व धारण कर लेते थे। इसका एक मनोरंजक उदाहरण सोम-यज्ञ के लिए सोम-क्रय के कृत्य में मिलता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यज्ञ के अन्त में सोम-विक्रेता को उसका मूल्य नहीं दिया जाता और वह पीटा जाता है। यहाँ यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि सोम के क्रय-विक्रय का निषेध किया गया है, परन्तु सोम के अधिकारी गन्धर्वों से किस प्रकार सोम प्राप्त किया गया, उसीका अभिनयात्मक विवरण है। परन्तु, इस अभिनयात्मक विवरण को हमें इससे अधिक नहीं समझना चाहिए। इन अनुष्ठानों को नाटक नहीं कहा जा सकता। यह वास्तविक नाटक नहीं है, वरन् उससे कम है। इस बात की ओर प्रो० श्रेडर ने ध्यान नहीं दिया। वास्तविक नाटक तभी कहा जा सकता है जब अभिनेता जान-बूझकर, यदि आर्थिक लाभ के लिए नहीं भी तो स्वयं अपने को या दूसरों को आनन्द प्रदान करने के लिए भूमिका अदा करता है। यदि किसी धार्मिक कृत्य में अभिनय भी वर्त्तमान है, तो उसका मुख्य उद्देश्य अभिनय नहीं है, वरन् अभिनेता धार्मिक फल की आकांक्षा करता है।

कुछ यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक काल में नाटक का उद्भव सिद्ध करने का प्रयास किया; परन्तु डॉ० कीथ ने उनकी इस स्थापना से कोई लाभ होने में गहरी आशंका प्रकट की है। इस प्रसंग में उन्होंने कहा है :

"Unless the hymns of the Rigveda present us with real drama, which is most implausible, we have not the slightest evidence that the essential synthesis of elements and development of plot which constitute a true drama, were made in the Vedic age."[१]

डॉ० कीथ के अनुसार यह समझने का पर्याप्त कारण है कि महाकाव्यों के शंसन से नाटक की छिली हुई सम्भावनाओं का उद्रेक हुआ और नाटक के साहित्य-रूप की सृष्टि हुई। इस सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात पर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया है। संस्कृत-नाटक में प्रधान तत्त्व गीत और गद्य नहीं हैं, जैसा कि कहा गया है। पद्यों में अधिकांश का शंसन होता था, गायन नहीं और असन्दिग्ध रूप से प्रधानतः महाकाव्य से ही शंसन की प्रथा ली गई है।

खण्डन : इस प्रकार डॉ० कीथ ने कर्मकाण्ड से नाटक की उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन किया है। डॉ० कीथ के तर्क का मुख्य आधार है कि प्राचीन भारतीय यज्ञों में जो कर्मकाण्डीय संवाद होते थे, वे नाटकीय नहीं, वरन् पौरोहित्य थे। उनमें अनुकरण की भावना का सर्वथा अभाव है, इसलिए वे नाटकीय नहीं हैं; क्योंकि नाटक का तात्त्विक आधार अनुकरण ही है। प्रो० श्रेडर ने कर्मकाण्ड और नाटक का यह मौलिक अन्तर नहीं समझा है, इसलिए उन्होंने ऋग्वेद के मण्डूक-सूक्तों को नाटकीय कहा है। विण्टरनित्ज़ का कथन है कि इस प्रकार के सूक्तों को हम नाटक का स्थानापन्न तो नहीं, नाटक का एक दूसरा रूप मान सकते हैं।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि नाटक स्वतः एक यज्ञ है, अतः ऋग्वेद के उन सूक्तों का आधार मानकर इसे किसी दूसरे यज्ञ का अंग नहीं माना जा सकता; क्योंकि यह एक तथ्य है कि अंगी कभी अंग नहीं हो सकता।

उनका दूसरा तर्क यह है कि नाटक को नाच-गाने के साथ मिलाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। श्रेडर, हर्टल आदि ने नाट्य को नाच-गान के साथ मिलाने की भूल की है। उन्होंने नाच या संवाद को ही नाटक समझ लिया है और जहाँ कहीं इनमें से किसी का उल्लेख मिला कि वहीं उन्होंने नाट्य का स्रोत ढूंढ़ना आरम्भ कर दिया। किन्तु, नाट्य में अभिनय की प्रधानता रहती है। इसमें सात्त्विक, आंगिक, वाचिक तथा आहार्य चारों अभिनयों के प्रयोग से रस की सृष्टि होती है। किन्तु, वैदिक सूक्तों या व्रतोत्सव स्तोम आदि के अवसर पर होनेवाले नृत्यों में कहीं अभिनय का संकेत नहीं मिलता है। अतः, उस धार्मिक कर्मकाण्ड को नाटक कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है। उन ऋत्विजों की वाणी, क्रिया आदि बहुत ही कठोर नियमों में बँधी रहती है और वे थोड़ा भी इधर-उधर नहीं कर सकते।

---

१. The Sanskrit Drama, p. 26.

तीसरी बात यह है कि यूरोपीय विद्वान् सभी बातों में विकासवाद का सिद्धान्त लागू करने का प्रयत्न करते हैं और भारत के नाटकों के विकास का अध्ययन भी इसी विकासवाद के आधार पर करते हैं। वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि कोई बात पूर्ण होकर भी उत्पन्न हो सकती है। यह उचित नहीं है। हमारे यहाँ धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद आदि अपने प्रौढतम रूप में आरम्भ से ही पाये जाते हैं और उनके पीछे कोई-न-कोई दैवी प्रेरणा अवश्य दिखाई देती है। नाट्यशास्त्र में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि चारों वृत्तियों का विकास क्रम से आगे-पीछे हुआ है। अतः, नाटक के अन्य तत्त्वों का विकास क्रम से हुआ रहता, तो ऋषि लोग इस बात का उल्लेख किसी-न-किसी रूप में अवश्य करते।

चौथी बात यह है कि प्रत्येक वेद का प्रयोग करनेवाले को अलग-अलग नाम दिया गया है। ऋग्वेद का सूक्त कहनेवाले को होता, यजुर्वेद के अनुसार यज्ञ करनेवाले को अध्वर्यु, सामवेद के अनुसार यज्ञ करनेवाले को उद्गाता और अथर्ववेद के अनुसार यज्ञ करनेवाले को ब्रह्मा कहते हैं। किन्तु, नाट्यवेद का प्रयोग करनेवाले को प्रयोक्ता अर्थात् नाटक कराकर दिखानेवाला कहा गया है। इसका अभिप्राय है कि नाटक प्रयोग करके दिखाने के लिए ही है। अन्य किसी भी वेद के लिए यह लक्षण नहीं बताया गया। अतः, आचार्य चतुर्वेदीजी ने निष्कर्ष निकाला है कि वैदिक कर्मकाण्ड में नाटक का बीज या तथ्य खोजना अत्यन्त असंगत है।

परन्तु, निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वैदिक काल में नाटक के बीज ही दिखाई देते हैं, वास्तविक नाटक का विकास बहुत काल के उपरान्त हुआ।

नाच से नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त : मैक्डोनल आदि कुछ विद्वान् नाच को नाटक का पूर्णरूप मानते हैं। उनका तर्क है कि संस्कृत के 'नट' तथा 'नाटक' शब्द नट् धातु से बने हैं। यह नट् धातु संस्कृत के नृत् धातु का ही प्राकृत रूप है। उन्होंने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में लिखा है :

"The words for actor (Nata) and play (Nataka) are derived from the verb Nat, the Prakrit or vernacular form of the Sanskrit Nrit, to dance. × × × The latter, indeed, probably represents the beginnings of the Indian drama. It must at first have consisted only of rude Pantomime in which the dancing movements of the body were accompanied by mute mimicking gestures of hand and face."[1]

परन्तु, यह मत भ्रमपूर्ण है। संस्कृत के नट् तथा नृत्य दोनों धातुएँ हैं और दोनों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। साथ ही नृत्य, नृत्त तथा नाट्य—तीनों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। दशरूपककार धनंजय ने नाट्य की परिभाषा दी है : **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।'**[2] अर्थात्

१. A History of Sanskrit Literature, p. 346.

२. दशरूपक : प्रथम प्रकाश, का० ७

अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहा जाता है। इसी प्रकार, केवल शब्दार्थ का अभिनय करके भाव-प्रदर्शन-मात्र करने को नृत्य कहते हैं और ताल-लय के साथ हस्त-पाद-संचालन को नृत्त कहा जाता है : 'अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं താललयाश्रयम् ।'[1] यह दूसरी बात है कि नृत्य और नृत्त दोनों ही नाटक के उपस्कारक हो सकते हैं। यही बात धनंजय ने कही है :

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥[2]

इस प्रकार, दशरूपककार धनंजय के साक्ष्य पर मैक्डोनल आदि विद्वानों का मत खण्डित हो जाता है, जिसमें नाच को नाटक का पूर्वरूप माना गया था ।

मैक्डोनल ने आगे कहा है कि इसी प्रकार नाटक के पौराणिक आविष्कर्त्ता का नाम भी भरत पड़ गया होगा, जिसका अर्थ संस्कृत में नट ही है। देशी भाषाओं में भरत का अर्थ गानेवाला होता है, जिसे गुजराती में 'भरोत' कहते हैं। यूनान की ही भाँति भारत में भी संवाद बहुत बाद में जोड़ा गया होगा। इस प्राचीन नाट्य का रूप बंगाल में यात्रा में मिलता है, जो पुराने नाटकों और गीत-संवाद से भरे संस्कृत-नाटकों के बीच की कड़ी है।

खण्डन : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने इस तर्क का खण्डन किया है। मैक्डोनल का यह कथन कि भारत की देशी भाषाओं के गायक को भरत कहते हैं, असत्य है। गुजराती में भले ही भरत को भरोत कहते हों, परन्तु देश के अन्य भागों में यह बात नहीं है। संस्कृत में नट्, नृत् और णट् तीन धातुएँ हैं, जिनसे क्रमशः नाट्य, नृत्य और नृत्त शब्द बनते हैं। इन तीनों शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं। नाट्य, नृत्य और नृत्त को एक-दूसरे का पर्याय मानना भ्रमात्मक है।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि डॉ॰ मैक्डोनल का यह मत भ्रामक है कि नाच से नाट्य की उत्पत्ति हुई।

पुतली के नाच से नाट्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त : डॉ॰ पिशेल का मत है कि भारतीय नाटकों की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य—पुतलियों के नाच से है। उनका विश्वास यह भी है कि भारत से ही पुतली का नाच सारे संसार में फैला। डॉ॰ कीथ का विचार है कि पुतली का नाच सचमुच भारत से सारे विश्व में फैला होगा, परन्तु वे यह मानने को तैयार नहीं कि पुतली के नाच से ही नाटक की उत्पत्ति हुई होगी। महाभारत में पुतली के नाच का प्रमाण मिलता है। कथा-सरित्सागर में अद्भुत शिल्पी मय नामक असुर की सुन्दर कन्या का उल्लेख है, जो अपने संगी का मनोरंजन पुतलियों से करती थी, जो बोल सकती थी, नाच सकती थी, गा सकती थी और अनेक ऐसे-ऐसे कार्य कर सकती थी।

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का॰ ९

२. वही, का॰ १०

राजशेखर की 'बालरामायण' में दिखाया गया है कि सीता की आकृति की एक पुतली के द्वारा रावण को छला गया था, जिसके मुख में एक तोता रख दिया गया था, जो रावण की बातों का उत्तर दे दिया करता था। अभी थोड़े दिन पूर्व तक देश के अनेक भागों में पुतलियों के नाच होते थे। इनका व्यवस्थापक अथवा निर्देशक सूत्रधार कहलाता था। डॉ० पिशेल ने बताया है कि किसी पुत्तलिका-नृत्य से सूत्रधार तथा स्थापक शब्द नाटक में लिये गये। उनका कहना है कि पुतलियों को नचाते समय नचानेवाला उनके डोरों को—सूत्र को—पीछे से पकड़े रहता है। इसीलिए, वह सूत्रधार कहलाने लगा और यही नाम नाटक के प्रयोक्ता या निर्देशक को दिया गया। डॉ० पिशेल का कथन है कि संस्कृत में पुत्तलिका के लिए पुत्रिका, दुहित्रिका, पुत्तली और पुत्तलिका शब्दों का प्रयोग होता है, जिनका अर्थ है नन्हीं बेटी। इनसे पुत्तली या पुत्तलिका शब्द प्राकृत या लोकभाषा में पहुँचे होंगे और ये शब्द अब भी प्रचलित हैं। पुत्तलिका को नन्हीं बेटी कहने की प्रथा भारत में ही नहीं, वरन् यूनानी भाषा में भी है।

खण्डन : डॉ० पिशेल के इस मत का खण्डन प्रो० हिलेब्राण्ट ने किया है। उनका तर्क है कि पुत्तलिका-नृत्य के पूर्व नाटक की स्थिति माननी चाहिए; क्योंकि नाटक के ही आधार पर पुत्तलिका-नृत्य की योजना हुई होगी। इस प्रकार, पुत्तलिका-नृत्य के काफी पहले नाटक की उत्पत्ति हो गई थी। दूसरे पाश्चात्त्य विद्वान् प्रो० रिजवे ने भी डॉ० पिशेल के इस मत का खण्डन कर दिया है। 'सूत्रधार' शब्द की जो व्युत्पत्ति डॉ० पिशेल ने बताई है, उसके विषय में कहा जा सकता है कि यह सूत्रधार ही नाटक के इतिवृत्त, नायक, रस आदि का सूत्ररूप में (संक्षेप में) वर्णन करता है; इसीलिए सूत्रधार कहलाता है, सूत्र या डोरे को पकड़ने के कारण नहीं। 'भाव-प्रकाशन' में शारदातनय ने इस शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित कारिका में बताई है :

सूत्रयन् काव्य-निक्षिप्त-वस्तु-नेतृ-कथा-रसान्।
नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः॥[1]

फिर दूसरी कारिका में शरदातनय ने सूत्रधार के विषय में और लिखा है :

आ सूत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इहोच्यते॥[2]

'स्थापक' शब्द का भी अर्थ यदि पुत्तलिका-नृत्य से लिया जाता तो यह समझने में कठिनाई होती है कि सूत्रधार के अतिरिक्त ऐसे व्यक्ति की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि, सूत्रधार ही सूत्र का संचालन कर लेता, फिर अन्य व्यक्ति की क्या आवश्यकता?

परन्तु, पुतली के नाच के लिए भी कथा की आवश्यकता होती है और साथ ही यह भी निर्णय करना होता है कि पुतलियाँ क्या कहेंगी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य ने पहले अपनी कथा, बोली तथा आंगिक चेष्टाएँ ठीक की होंगी। यह कहने तथा

---

१. **भावप्रकाशन, दशम अधिकार, पृ० २८८, पं० ७-८**
२. **वही, पृ० २८८, पं० ९-१०**

करने का सारा रूप मनुष्य के मस्तिष्क में आता है, तभी वह उसे लोक में एक रूप देता है। अतः, पुतलियों के नाच को नाटक से पहले का माना ही नहीं जा सकता।

इस विषय में दूसरा तर्क है कि मनुष्य के सम्पूर्ण क्रीड़ा-साधन वास्तविक प्रकृति के प्रतिरूप होते हैं। कुम्हार हाथी, घोड़ा आदि खिलौने तभी बनाता है, जब उसने इन्हें देखा हो या इनका वर्णन पढ़ा हो। यह सम्भव नहीं है कि खिलौने बन जाने पर हाथी, घोड़े आदि पीछे बने हों। उसी प्रकार, यह भी सम्भव नहीं कि पहले पुतली का नाच हुआ हो, पीछे नाटक करने की भावना आई हो। यदि पुतली का नाच प्राचीन होता, तो प्राचीन ऋषियों ने पुत्तलिका-नृत्य के अनेक भेद-उपभेद अवश्य गिना दिये होते; क्योंकि सभी प्राचीन वस्तुओं का सूक्ष्म वर्गीकरण तथा विश्लेषण करने की प्रवृत्ति ऋषियों में देखी जाती है।

अतः, सिद्ध हो जाता है कि पुतलियों के नाच से नाटक की उत्पत्ति का सिद्धात नितान्त भ्रामक तथा असंगत है।

छाया नाटक से नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त : नाटक की उत्पत्ति के लिए पुत्तलिका-नृत्यवाले सिद्धान्त के समर्थक यद्यपि प्रो० पिशेल को नहीं मिल सके, परन्तु उनके छाया-नाटकवाले सिद्धान्त के कई समर्थक मिले। उन्होंने बताया कि छाया-नाटक से नाटकों की उत्पत्ति हुई। प्रो० ल्यूडर्स ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा कि नाटक के विकास में छाया-नाटक एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्रो० कोनो ने भी इसे स्वीकार किया। उनका कहना है कि मलाया, कम्बोडिया, स्याम, चीन, बर्मा, जापान, अरब और उत्तरी अफ्रिका में छाया-नाटक का बड़ा प्रचार है। छाया-नाटक के महीन पर्दे के पीछे अभिनेताओं या पुतलियों के द्वारा अभिनय किया जाता है और सामाजिक पर्दे पर उसकी केवल छाया देखता है। प्रो० ल्यूडर्स ने प्राचीन भारत में छाया-नाटक की विद्यमानता सिद्ध करने और यह दिखाने का प्रयास किया है कि शोभिक उसे दिखाने का कार्य करते थे। उनकी धारणा है कि नाटक पर महाकाव्य का प्रभाव छाया-चित्रों के द्वारा संचारित किया जाता था और नटों की कला के साथ मिलकर इसी ने नाटक को जन्म दिया। फिर भी उन्हें विश्वास नहीं है कि पतंजलि के समय में वास्तविक नाटक की स्थिति थी या नहीं।

खण्डन : किन्तु, छाया-नाटकों की विद्यमानता के विषय में जो प्राचीन प्रमाण दिया जाता है, वह पूर्णतः अविश्वसनीय है। पिशेल ने भी छाया-नाटकों की प्राचीन स्थिति सिद्ध करने के जो साक्ष्य उपस्थित किये हैं, वे भी महत्त्वहीन हैं। उन्होंने इस विषय में कई उदाहरण दिये हैं। परन्तु, डॉ० कीथ ने सबका खण्डन कर दिया है। महाभारत में छाया-नाटक के अर्थ में 'रूपोजीवन' शब्द पाना असम्भव है। इसकी व्याख्या नीलकण्ठ ने दी है और अपने समय, १७वीं शती में इस प्रथा की स्थिति सिद्ध की है, परन्तु यह शब्द रंगावतरण (रंगमंच पर उतरना) के समान प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द नटों की शोचनीय अनैतिकता की ओर संकेत करता है; क्योंकि उस समय नट को 'जायाजीव' (जाया की अप्रतिष्ठा से जीनेवाला) भी कहते थे। यह भी स्वीकार करना असम्भव है कि जो ऐन्द्रजालिक रत्नावली,

प्रबोध-चन्द्रोदय और दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका में इन्द्रजाल के खेल दिखाते हैं, वे वस्तुतः छाया-नाटककार हैं। शोभिक नाम से भी कुछ स्पष्ट नहीं होता है, इस शब्द को छाया से कोई सम्बन्ध नहीं और किसी विद्वान् ने इस अर्थ में इसकी व्याख्या भी नहीं की है।

छाया-नाटक नाम कई नाटकों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि संस्कृत के नाट्य-लक्षण-ग्रन्थों में छाया-नाटक का कोई उल्लेख नहीं है, फिर भी संस्कृत में सात छाया-नाटकों का विवरण मिलता है, जिनमें सबसे प्राचीन तथा प्रकाशित 'दूतांगद' है। इस नाटक के दो पाठ उपलब्ध हैं। दूतांगद की तिथि के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। यह नाटक प्रमट ने तेरहवीं शती में लिखा। ऐसा नाटक छाया-नाटक ही था। इस बात की सबसे अधिक पुष्टि मेघप्रभाचार्य के धर्माभ्युदय नाटक से होती है। इसे छायानाट्य-प्रबन्ध की संज्ञा दी गई है। इसमें रंगमंच-निर्देश पाया जाता है कि जब राजा संन्यासी बनना चाहता है, तो नेपथ्य में संन्यासी के वेश में एक पुतली रख दी जाय। किन्तु, इसकी तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु, इस बात का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता कि दूतांगद में इस प्रकार का कोई रंगमंच का निर्देश क्यों नहीं दिया गया। छाया-नाटक की उत्पत्ति भारतवर्ष के ही किसी भाग में हुई; क्योंकि नीलकण्ठ ने इसका उल्लेख किया है, परन्तु इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि दूतांगद के समय में कोई छाया-नाटक था या नहीं। बहुत दिनों तक छाया-नाटक का अर्थ स्पष्ट नहीं था। विल्सन ने अपने ग्रन्थ 'सिलेक्ट स्पेसीमेन्स ऑव दि थियेटर ऑव दि हिन्दूज़' में अनुमान किया है कि छाया-नाटक, नाटक के ढाँचे या रूपरेखा को कहते होंगे, और दूतांगद नाटक किसी उत्सव-यात्रा के दृश्य की प्रस्तावना के रूप में रचा गया होगा। प्रो० लेवी ने भी यह बात मानी है। पिशेल ने भी कहा है कि नाटक का अर्थ सम्भवतः अर्द्धनाटक होगा।

दीपक के सहारे दिखाये जानेवाले सबसे पुराने रूप का दूतांगद ही उत्तराधिकारी है। यह अपने ढंग का सबसे पुरानी भारतीय उदाहरण है, चाहे इसमें पुतलियों की छाया प्रदर्शित की जाती हो, चाहे वास्तविक अभिनेता की।

जो कुछ हो, किसी निश्चित तथा प्रभावपूर्ण साक्ष्य के अभाव में इस बात का निर्णय नहीं हो सकता, किन्तु प्रो० ल्यूडर्स का यह तर्क डॉ० कीथ मानने को तैयार नहीं, जिसके बल पर दूतांगद को छायानाटक का उदाहरण माना जा सकता है और जिससे निष्कर्ष निकाला जाय कि महानाटक और हरिदूत भी छाया-नाटक हैं। दूतांगद और महानाटक में पर्याप्त सादृश्य है—गद्य से भी अधिक पद्य की विद्यमानता, प्राकृत का अभाव, पात्रों की अधिक संख्या और विदूषक का बहिष्कार। जान पड़ता है कि यह साहित्यिक नाटक है—खेलने के लिए नहीं, वरन् पढ़ने के लिए। कुछ भी हो, परन्तु संस्कृत के उत्तरवर्त्ती नाटकों के विकास के विषय में विवाद है और इससे संस्कृत-नाटक के आरम्भिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं है। दो-चार परवर्त्ती छाया-नाटकों को आधार मानकर भारतीय नाटकों का

विकास छायानाटकों से मानना उचित नहीं प्रतीत होता। स्पष्ट है कि प्राचीन नाटक छायानाटक से किसी प्रकार प्रभावित नहीं हुआ होगा।

श्रीवरदाचारी और आचार्य सीताराम चतुर्वेदी आदि ने भी इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। जिन विद्वानों ने छायानाटकों से नाटक की उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया है, उनका प्रयास पूर्णतः असफल प्रमाणित हुआ है। इसके कई कारण हैं: १. दूतांगद बहुत पीछे का है। २. यदि छायानाटक नाट्य का भेद होता, तो नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों में उसका उल्लेख कहीं अवश्य होता। शारदातनय ने सभी आचार्यों के मत लेकर 'भावप्रकाशन' लिखा, परन्तु उसमें भी छायानाटक का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

छायानाटक का अर्थ दो में से कोई हो सकता है—या तो वह किसी बड़े नाटक का लिखा छोटा नाटक हो या किसी काव्य का कोई नाटकीय अंश इस प्रकार निकाल लिया गया हो कि उसके भाव कवि के हों, परन्तु शब्द नाटककार के।

अतः प्रमाण के अभाव में यह मत सिद्ध नहीं होता।

वीर-पूजा से नाट्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त : उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों का खण्डन करके डॉ० रिजवे ने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। इन निष्कर्षों पर पहुँचने के पहले उन्होंने संस्कृत-नाटक, रामलीला, रासलीला और यात्रा के उत्सवों का पूर्णरूप से विवेचन तथा विश्लेषण किया। उनके निष्कर्ष निम्नलिखित हैं :

(क) राम और सीता की कथा भारत में ही नहीं, प्रत्युत जावा, बर्मा, कम्बोडिया, मलएशिया और स्याम देश में अत्यन्त लोकप्रिय है।

(ख) महाभारत की कथा तथा श्रीकृष्ण के चरित्र के आधार पर भारत के अनेक स्थानों पर नाटक या नाट्योत्सव किये जाते हैं।

(ग) राम और कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु के या उनके अन्य अवतारों के चरित्र के आधार पर भी नाटक खेले जाते हैं; जैसे—भक्त प्रह्लाद, हिरण्यकशिपु का वध आदि।

(घ) इन पौराणिक वीरों के अतिरिक्त कई ऐतिहासिक वीरों के चरित्र के सम्बन्ध में भी नाटक खेले जाते हैं या इन नाटकों द्वारा उनके चरित्र प्रदर्शित किये जाते हैं; जैसे—रामदास, शिवाजी, महाराणा प्रताप, पूरन भगत, गोपीचन्द आदि।

(ङ) आरम्भ से हिन्दू-नाटक की मूल प्रेरणा रही है वीर पुरुषों के चरित्र को सदा स्मरण कराते रहना। इतिहास से भी यह बात प्रमाणित होती है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि नृत्य, प्रशस्ति, स्तम्भ तथा मूर्त्ति आदि साधन तो किसी विशिष्ट व्यक्ति के प्रति आदर दिखाने के साधन तो थे ही, साथ ही उसके कष्टों तथा पराजयों का नाटक खेलना भी एक प्रमुख साधन माना जाता था।

(च) अभी हिन्दू-नाटकों में उनका धार्मिक स्वरूप वर्त्तमान है और आरम्भ में भी इन नाटकों का यह स्वरूप रहा होगा। इन नाटकों ने अपने जीवन-काल में अपने भाव से तत्कालीन समाज पर गहरा प्रभाव डाला।

(छ) इससे सिद्ध होता है कि इन कथाओं को नाटकीय स्वरूप देने का मुख्य उद्देश्य यही है कि वीरों के पराक्रमों तथा कष्टों की स्मृति समाज में स्थायी तथा अक्षुण्ण बनी रहने दी जाय। दूसरे शब्दों में, भारतीय नाटक के मूल में वीर-पूजा या वीरों के प्रति आदर की भावना रही है।

खण्डन : डॉ० रिजवे ने अपने उपर्युक्त मत का प्रतिपादन यूनानी त्रासदियों के ही सम्बन्ध में किया था, परन्तु पीछे भारतीय नाटकों पर भी यही मत लागू कर दिया। उन्होंने भारतीय नाट्य-साहित्य, रामलीला, रासलीला, यात्रा आदि का विश्लेषण करके यही सिद्ध किया है कि इन नाटकीय प्रवृत्तियों के पीछे मृत पुरुषों के प्रति आदर प्रदर्शित करने की भावना ही काम करती रही है। परन्तु, यह सिद्धान्त अंशतः भ्रामक है, यद्यपि सर्वथा भ्रामक नहीं है।

जब रामलीला का प्रचार किया गया तो उसका उद्देश्य यही था कि लोग श्रीरामचन्द्र की लीलाओं का स्मरण करें और तदनुकूल अपने चरित्र को बनावें। कृष्णलीला के प्रचार का भी यही उद्देश्य था। परन्तु, इन लीलाओं के पीछे मृत वीर व्यक्तियों के प्रति आदर दिखाने की भावना—वीर-पूजा की भावना—कभी नहीं थी।

यदि नाटक की उत्पत्ति के मूल में वीर-पूजा की भावना रहती तो संस्कृत में इतने श्रृंगारपरक नाटक तथा प्रहसन क्यों लिखे जाते? निश्चय ही इन बातों में वीरता या पराक्रम की कोई भावना नहीं है। यदि कहीं वीरता का उल्लेख भी है तो अवश्य ही वह नायिका के लिए नायक की योग्यता सिद्ध करने के लिए है। भास, कालिदास आदि के नाटकों में कौन-सी वीरता का वर्णन है? शूद्रक के मृच्छकटिक में ही कौन-सा पराक्रम वर्णित है, जो समाज के लिए आदर्श का काम करता? अतः स्पष्ट है कि नाटक लिखने के मूल में वीर-पूजा की प्रवृत्ति कभी नहीं रही है, चाहे और जो कुछ हो।

संस्कृत-नाटकों की परिपाटी रही है कि आरम्भ में जहाँ रचना और रचयिता का परिचय दिया जाता है, वहाँ अवसर का भी परिचय दिया जाता है। परन्तु, किसी भी नाटक की प्रस्तावना में यह नहीं बताया गया है कि इस नाटक की रचना भगवान् रामचन्द्रजी या कृष्णजी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए की जा रही है। ऐसे प्रायः सभी नाटकों में यही बताया गया है कि अमुक राजा को अथवा सभासदों को अपनी नाट्य-कला से प्रसन्न करने के लिए यह नाटक रचा गया है।

अतः, वीर-पूजा से नाटक की उत्पत्तिवाला सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

नाट्य : प्रकृति-परिवर्त्तन का प्रतीकात्मक रूप : डॉ० कीथ ने डॉ० रिजवे के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन करते समय अपना एक विचित्र मत उपस्थित किया है, उनका कथन है

कि प्रकृति में जो जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि का परिवर्त्तन हुआ करता है, उसी परिवर्त्तन को दिखाने के लिए भारतीय नाटकों की रचना हुई है। महाभाष्य में जिस कंस-वध नाटक का उल्लेख हुआ है, उसके विषय में डॉ० कीथ का कहना है कि कंस तथा उसके अनुयायी काले रंग का वस्त्र पहने हुए थे और कृष्ण तथा उनके अनुयायी लाल रंग के। इस नाट्य के माध्यम से कवि ने कंस-रूपी हेमन्त पर कृष्ण-रूपी ग्रीष्म की विजय प्रदर्शित की है। यह विजय उद्भिज-जगत् में वासन्तिक जागरण का प्रतीक है।

स्वयं डॉ० कीथ ने अपने परवर्त्ती ग्रन्थों में इस मत को असम्भव मान लिया है। अतः इस मत का स्वयं खण्डन हो जाता है और अधिक तर्क की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इन्द्रध्वज-महोत्सव या मे-पोल से नाट्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त : कतिपय यूरोपीय विद्वानों ने यूनानी नाटकों की उत्पत्ति का विवेचन करते समय यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वे नाटक पहली मई को होनेवाले उत्सव से सम्बन्ध रखते हैं। यूरोप में मई-दिवस मनाने के सिलसिले में पहली मई को किसी युवती को पुष्पालंकृत करके उसे मई की रानी बनाकर और मे-पोल गाड़कर उसके चारों ओर लोग नाचा करते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसी उत्सव से यूनानी नाटकों की उत्पत्ति हुई।

कुछ विद्वानों ने इस मई-दिवस के उत्सव और भारतीय होली में तुलना की है। श्रीहरप्रसाद शास्त्री ने इस तथ्य में भारतीय नाटक की उत्पत्ति का कारण देखा है कि उस खेल के आरम्भ में इन्द्र की ध्वजा की वन्दना पर विशेष ध्यान दिया जाता है। एक सजा-सजाया ध्वज-दण्ड इन्द्र की ध्वजा का काम करता है। नाटक की उत्पत्ति के विषय में भारतीय परम्परा बताती है कि जब ब्रह्माजी ने भरत को यह दिव्य कला सिखाने का आदेश दिया, उस समय इन्द्र के पूजनोत्सव का अवसर चुना गया। असुरों ने विरोध किया, किन्तु, इन्द्र ने अपने ध्वज-दण्ड से सबको मार भगाया। तब से ध्वज-दण्ड—जर्जर नाटक के प्रदर्शन के प्रारम्भ में उसकी रक्षा करने के लिए व्यवहृत होता है। इस प्रकार, नाटक उस उत्सव से सम्बद्ध हो गया, जिसमें असुरों पर इन्द्र की विजय के उपलक्ष्य में कृतज्ञता-ज्ञापन किया जाता था। भरत के नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में इस बात का वर्णन है कि सबसे पहले नाटक महेन्द्र-ध्वजोत्सव के अवसर पर खेला गया था। यह उत्सव वर्षाऋतु के अन्त में भाद्रपद शुक्ल द्वादशी के दिन इन्द्र को सन्तुष्ट करने के लिए मनाया जाता था। उस दिन से ध्वज-दान की परम्परा भारत में अभी भी चली आती है।

खण्डन : यह सिद्धान्त स्वयं में अपूर्ण तथा अपुष्ट है, किन्तु नाटक की आरम्भिक विधियों से स्पष्ट हो जाता है कि देवताओं को प्रसन्न करने का कितना अधिक महत्त्व समझा जाता था। इन्द्रध्वज-उत्सव और मे-पोल-उत्सव में किसी प्रकार का साम्य नहीं है। उक्त विद्वान् ने इन्द्रध्वज-उत्सव की उत्पत्ति का उद्देश्य समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, नहीं तो उनसे इतनी बड़ी भूल नहीं होती। इन्द्रध्वज-उत्सव से इन्द्र प्रसन्न होकर यथेष्ट वर्षा देते हैं, जिसके फलस्वरूप खेतों में प्रचुर मात्रा में अन्न उत्पन्न होता है। यह उत्सव अभी भी

नेपाल में मनाया जाता है। यदि मान लिया जाय कि नेपाल का इन्द्रध्वज-उत्सव भारत के इसी महेन्द्र-ध्वजोत्सव का अवशिष्ट रूप है, तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जब इस उत्सव का आरम्भ हुआ था, तो उस समय इस अवसर पर नाटक भी खेले जाते रहे होंगे। नाटक और इन्द्रध्वज में इससे अधिक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यदि महेन्द्रध्वज-उत्सव पर आरम्भ में नाटक किया गया हो या आजकल भी इन्द्रध्वज के अवसर पर नेपाल में नाटक किया जाता हो, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि नाटक का जन्म ही इस उत्सव से हुआ था। अतः, यह मत सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

यूनानी नाटक से भारतीय नाट्य की उत्पत्ति या संस्कृत-नाटक पर ग्रीक-प्रभाव : पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि उस युग में भारत में जो सामग्री उपलब्ध थी, उससे वास्तविक नाटक का निर्माण नहीं हो सकता। अतः, वेबर तथा अन्य कई विद्वानों ने यह बताने की चेष्टा की कि ग्रीस के साथ भारत के सम्पर्क से ही भारतीयों को नाटक रचने की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। बैक्ट्रिया, पंजाब और गुजरात के ग्रीक राजाओं के दरबार में ग्रीक-संस्कृति के वाहक नाटकों का अभिनय होता होगा और इन्हीं अभिनयों से भारतीयों को प्रेरणा मिली होगी, किन्तु महाभाष्य में नाटक की वर्त्तमानता का साक्ष्य मिल जाने से इस धारणा में संशोधन और परिवर्त्तन हुआ और वेबर को केवल इस मत से सन्तुष्ट रहना पड़ा कि संस्कृत-नाटक पर ग्रीक-नाटक का आंशिक प्रभाव पड़ा होगा।

खण्डन : डॉ० पिशेल ने इस मत का जोरदार विरोध किया। तदनन्तर, विंडिश ने ग्रीक-प्रभाव के विस्तार का पता लगाने का प्रयास किया। उनका दृष्टिकोण विशेष महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उन्होंने स्वतन्त्र भारतीय नाटक की रचना में जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे, उन्हें पूर्ण मान्यता दी। वे तत्त्व थे—महाकाव्यों का शंसन और नट की अनुकरण-वृत्ति। उनका कहना है कि नट पहले भारतीय अर्थ में नर्त्तक था अर्थात् अपनी भाव-भंगिमा और मुद्रा से विभिन्न प्रकार के भावों को प्रस्तुत करता था। परन्तु, उन्होंने महाभाष्य में निर्दिष्ट महाकाव्य की सामग्री के नाटकीयकरण और शास्त्रीय ढंग के नाटकों के अन्तर पर बल दिया। अब नाटक के विषय में अन्तर आ गया; मुख्य विषय-वस्तु सुखान्त प्रेम हो गया; कथानक का कलात्मक विकास किया गया; कार्य को दृश्यों में विभक्त किया गया; संवाद के समक्ष काव्य का तत्त्व घटने लगा, पद्य के साथ गद्य का सम्मिश्रण होने लगा और संस्कृत के साथ प्राकृत का सम्मिश्रण हुआ। स्पष्टतः महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ। निश्चय ही किसी शक्तिशाली कारण से यह परिवर्त्तन हुआ। विंडिश का मत है कि इस परिवर्त्तन के मूल में सम्भवतः ग्रीक-प्रभाव है।

विंडिश के लिखने के बहुत दिनों बाद तक इस विषय पर विद्वानों ने पर्याप्त अनुसन्धान किया। उनका मत है कि भारत में गान्धार-कला का विकास मूलतः ग्रीक-कला के आधार पर हुआ। प्रो० सिल्वाँ लेवी ने विंडिश के नाटक-सम्बन्धी मत का प्रबल विरोध किया, परन्तु उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया कि अश्वघोष के द्वारा बौद्धधर्म में

नवीन चेतना दृष्टिगोचर होती है, जिसका कारण वे पश्चिम से आई नवीन धार्मिक विचारधारा बताते हैं। इस तरह विंडिश ने जिस ग्रीक-प्रभाव को भारतीय नाटकों का प्रेरणा-स्रोत बताया था, उसका अस्तित्व शिल्प तथा धर्म के क्षेत्रों में ही स्थापित करने का प्रयास हुआ। प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच कुछ भारतीय प्रान्तों के ग्रीक शासकों के दरबारों में ग्रीक-नाटकों का अभिनय हुआ करता था? परन्तु, दुर्भाग्य की बात है कि इसके पक्ष या विपक्ष में कोई उल्लेखनीय प्रमाण नहीं मिलता। सन् १९०९ ई० में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की पत्रिका में विख्यात पुरातत्त्वज्ञ जॉन मार्शल ने पेशावर में मिले एक बर्त्तन पर ग्रीक-नाटक 'ऐण्टिगोन' के एक चित्र का अभिप्राय बताने का प्रयास किया, परन्तु प्राय: सभी विद्वानों ने इसे अत्यन्त सन्देहास्पद तथा कष्ट-कल्पना माना। यह अवश्य कहा जाता है कि सिकन्दर नाटक देखने का शौकीन था और यह भी कहा जाता है कि अकेले 'एकबताना' (Ekbotana) में ही तीन हजार ग्रीक कलाकार थे। परवर्त्ती ग्रीक-लेखकों ने यह भी लिखा कि ईरान आदि कई देशों के लोग यूरीपाइड और सोफोक्लीज के नाटकों के गीत गाया करते थे। परवर्त्ती ग्रीक-लेखक फिलोस्ट्रेटस (Philostratos) ने एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है, जिसे गर्व था कि उसने यूरीपाइड का नाटक हेराक्लीदई (Heraklidai) सम्पूर्ण पढ़ लिया है।

प्रो० सिल्वाँ लेवी ने इन विवरणों को सन्देहात्मक तथा अतिरंजित माना है। परन्तु, इतना स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जो ग्रीक इस देश में आये, वे अपने देश के कुछ नृत्य, गान, नाटक का अभिनय आदि कराते ही होंगे। उन ग्रीक शासकों ने अपने देश से कलाकारों को बुलाकर सुन्दर सिक्के ढलवाये, फिर उनसे इतने कला-प्रेम की अपेक्षा तो की ही जा सकती है। यहाँ फिर नया प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इन नाटकों ने क्या भारतीय नाटकों पर सचमुच कोई प्रभाव डाला होगा? विंडिश की मान्यता है कि ईसा के ३४० वर्ष पूर्व से २६० ई० पूर्व के बीच ग्रीस में जो नवीन ऐक्टिक कॉमेडियाँ लिखी गईं, मूलत: उन्हीं से भारतीय नाटक प्रभावित हुए। उन्होंने दोनों की समानता की कई बातें देखी हैं। परन्तु, डॉ० कीथ का विश्वास है कि संस्कृत-नाटक और कॉमेडियों में जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह अत्यल्प है। डॉ० कीथ ने इस प्रसंग में लिखा है :

"The actual points of contact between the New Comedy and the Sanskrit Drama are, however, scanty. The division of both the Roman drama and the Sanskrit into acts, distinguished by the departure of all the actors from the stage and the number of five as normal, though often exceeded in India are facts which need not be more than casual coincidences."[१]

१. The Sanskrit Drama, p. 60-61.

अर्थात् संस्कृत-नाटकों और नव कॉमिडियों में वास्तविक सम्बन्ध बहुत कम है। भारतीय और रोमन दोनों नाटकों का अंकों में विभाजन, अंक के अन्त में सभी पात्रों का रंगमंच से प्रस्थान, साधारणतः अंकों की संख्या पाँच होना (भारतीय नाटकों में इस संख्या से प्रायः बढ़ जाया जाता है) आदि कोई महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं है; क्योंकि यह संयोगजन्य साम्य भी हो सकता है। आगे डॉ० कीथ ने कहा है कि संस्कृत-नाटक का अंक-विभाजन कार्य के विश्लेषण पर आधृत होता है, जो ग्रीस तथा रोम में कहीं भी लिखित नहीं है। इसी प्रकार दृश्य-सम्बन्धी रूढ़ियों में जो समानता है, जनान्तिक तथा अपवारित भाषण की रूढ़ियों में जो एकरूपता है और किसी पात्र के प्रवेश के समय रंगमंच पर उपस्थित किसी अन्य पात्र से उसके विषय में परिचयात्मक वाक्य कहलाने की जो समान प्रक्रियाएँ हैं, वे ऐसी हैं, जो लगभग एक ही परिस्थिति में खेले जानेवाले नाटकों में अवश्य नियोज्य हैं। इस सम्बन्ध में श्रीवरदाचारी का मत द्रष्टव्य है :

"The evidences do not, however, prove a Greek origin for the Sanskrit Drama. The technical part of the drama in India and Greece might have arisen independent of each others' influence. Its details should have risen out of necessity peculiar to the occasion. The theme also must be purely of independent origin. The division of the characters is based on actual life."[1]

डॉ० कीथ का विश्वास है कि संस्कृत-नाटक का आरम्भ उस समय हुआ था जब भारत में ग्रीक-प्रभाव वर्त्तमान था। यह प्रभाव मिनान्दर के समय में ई० पू० दूसरी शती के मध्य में सर्वाधिक था। अतः, यह माना जा सकता है कि संस्कृत-नाटकों पर ग्रीक-नाटकों का प्रभाव पड़ा। विंडिश ने न्यू एटिक कॉमेडी और संस्कृत-नाटकों में तुलना की कई बातें दिखाई हैं, किन्तु उनका कोई विशेष मूल्य नहीं हो सकता। उनमें कुछ बातें तो केवल इसलिए हुईं कि दोनों देशों के नाटकों का विकास लगभग समान परिस्थितियों में हुआ।

रंगमंच के आगेवाले पर्दे यवनिका या जवनिका पर अधिक बल दिया जाता है। इससे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुईं, परन्तु विंडिश तथा सिल्वाँ लेवी ने उन भ्रान्त धारणाओं का निराकरण कर दिया। वास्तव में, यवनिका या जवनिका संस्कृत के 'यमनिका' शब्द का प्राकृत रूप है। इसका अर्थ होता है—संचयन की जानेवाली पाटी या पर्दा। 'यवनिका' शब्द यूनान या यवन शब्द से बनाया हुआ जान पड़ता है। 'यवन' शब्द का प्रयोग भारत में केवल ग्रीस देश के लिए ही नहीं, प्रत्युत फारस-साम्राज्य, मिस्र, सीरिया, बैक्ट्रिया आदि सभी के लिए होता था। भारतीयों का प्रत्यक्ष परिचय आयोनियन (Ionian) लोगों से हुआ, उसी से संस्कृत 'यवन' शब्द बना। बाद में, अर्थ-विस्तार के कारण फारस आदि देशों का बोध होने लगा। पर्दे के लिए जब यवनिका का प्रयोग होता था, तब किसी विदेशी वस्त्र से

---

१. A History of Sanskrit Literature (V. Verdachari); pp. 131-32.

अर्थ लिया जाता था, जिससे पर्दा बनाया जाता था। प्रो० सिल्वाँ लेवी का मत है कि शायद फारस से कोई वस्त्र यूनानी लोग यूनानी जहाजों पर लाते थे। 'यवनिका' शब्द से नाटक के पर्दे से कोई विशेष अर्थ नहीं लिया जाता था, अतः यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि नाटक का यह पदार्थ-विशेष यूनानी नाटक से लिया गया। वस्तुतः, जैसा कीथ ने कहा है, उस समय ग्रीस में रंगमंच पर पर्दे की तरह की कोई वस्तु रहती भी नहीं थी। उस समय यूनानी नाटक खुले मैदान में खेले जाते थे, उनमें पर्दा होता ही नहीं था। फिर भी विंडिश का कथन है कि ग्रीक रंगमंच के पीछे जो दृश्यावली होती थी, उसे ही भारतीय रंगमंच पर पर्दे से दिखाया जाता होगा, इसीलिए उसे यवनिका कहा गया। अनेक यूरोपीय विद्वानों ने इस विचित्र तर्क की निस्सारता सिद्ध की है। फिर भी 'यवनिका' शब्द से भ्रान्त धारणा बनी है और अच्छे-अच्छे भारतीय विद्वान् भी यह तर्क देते हैं। इस प्रकार, यवनिका के लिए भारतीय नाटकों को यूनानी नाटकों का ऋणी होने का संकेत ढूँढना निष्फल प्रयास होगा। इस मत के प्रतिष्ठापक डॉ० वेवर का खण्डन डॉ० कीथ ने कर दिया है। यदि हमारे पास पर्दे के लिए पटी, तिरस्करिणी, प्रतिशिरा, यहाँ तक कि यमनिका आदि देशीय तथा उपयुक्त शब्द नहीं भी होते, तो भी इस तर्क में कोई शक्ति नहीं रहती।

संस्कृत-नाटकों में राजाओं की अंग-रक्षिकाएँ प्रायः यवनियाँ या यवन-कुमारियाँ दिखाई गई हैं और कुछ लोग इसे यूनानी नाटकों का प्रभाव मानते हैं। परन्तु यह तर्क भी निस्सार है; क्योंकि यूनानी नाटकों में राजाओं की अंग-रक्षिकाएँ कुमारियाँ नहीं मिलतीं। इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि तत्कालीन राजाओं को यूनानी कुमारियों के प्रति विशेष आकर्षण था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मेगास्थनीज आदि के लेखों से इसका अनुमान किया जा सकता है। यूनानी व्यापारी भी सुन्दर कुमारियों का व्यापार करके बहुत अधिक लाभ उठाने के इच्छुक थे।

भारतीय तथा यूनानी नाटकों के कथानक में सादृश्य द्रष्टव्य है। नाटिका और नवसुखान्त नाटक नव कॉमेडी (New Comedy) की विषय-वस्तु में कुछ समानता दिखाई देती है। नाटिका में राजा नायिका से प्रेम करता है, मार्ग में कई बाधाएँ आती हैं और अन्त में राजा उस कुमारी से विवाह करने में सफल होता है; क्योंकि वह नायिका वास्तव में राजकुमारी रहती है और कारणवश उसका परिचय छिपाया रहता है। नव कॉमेडी के कथानक में भी लगभग ऐसी ही बात रहती है और अन्त में नायिका किसी चिह्न या अभिज्ञान के द्वारा पहचानी जाती है। निश्चय ही पहचानने के लिए कोई चिह्न भारतीय और यूनानी—दोनों ही नाटकों में समान रूप से पाया जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में मुद्रिका है, विक्रमोर्वशीय में संगम-मणि है, जिसके कारण पुरूरवा लता में परिवर्त्तित उर्वशी को पहचान लेता है। रत्नावली में हार है, जिसके कारण नायिका पहचानी जाती है। नागानन्द में वह रत्न है, जो आकाश से गिरकर राजकुमार के भाग्य के विषय में बता

देता है। मालतीमाधव में माला है, मृच्छकटिक में मिट्टी की गाड़ी है, जिसमें आभूषण रखे गये हैं। इसी प्रकार, मुद्राराक्षस में राक्षस की मुद्रा है, जिसका उपयोग चाणक्य करता है। नव कॉमेडी के भी कुछ नाटकों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। इन तथ्यों का उत्तर दिया जा सकता है कि संस्कृत-नाटकों के पूर्व साहित्य के अन्य अंगों में ऐसी बातें थीं और विकसित होते-होते संस्कृत-नाटकों में आईं। यह स्वाभाविक विकास है।

विंडिश ने मृच्छकटिक के आधार पर ग्रीक-नाटकों का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्हें इसमें बहुत प्राचीनता के चिह्न दिखाई दिये और एक ग्रीक-नाटक से निकट साम्य जान पड़ा। शीर्षक की तुलना उन्होंने Cistellaria (little cart) या Anluria (little pot) से की। इसी प्रकार उन्होंने मृच्छकटिक का पूर्ण विश्लेषण करके एक-एक अवयव की तुलना ग्रीक-नाटकों से की। परन्तु विंडिश जिस प्रकार मृच्छकटिक को प्राचीन भारतीय नाटक का प्रतिनिधि मानते हैं, वह बात नहीं है। यह भास के नाटक चारुदत्त पर आधारित है, यद्यपि चारुदत्त में राजनीतिक षड्यन्त्र के साथ प्रेम-व्यापार का मिश्रण नहीं है। मृच्छकटिक का जो शीर्षक दिया गया है, वह केवल प्राचीन नाटक से अन्तर दिखाने के उद्देश्य से है। इसी प्रकार विंडिश द्वारा बताये गये तुलनात्मक तथ्यों के विषय में डॉ० कीथ ने स्पष्टतया सिद्ध कर दिया है कि उनका सम्बन्ध किसी ग्रीक-नाटक से बिल्कुल नहीं है। मृच्छकटिक में कुछ नवीनता अवश्य है।

संस्कृत-नाटकों के लिए नियम बनाया गया कि एक अंक की घटना एक दिन से अधिक की नहीं होनी चाहिए। नाटकों में यथासम्भव इसका पालन भी होता रहा है। अरस्तू ने भी ऐसा ही नियम बनाया। इस बात को लेकर कुछ विद्वान् मानते हैं कि इस नियम पर अरस्तू के ही नियम का प्रभाव पड़ा है। परन्तु, इसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः संस्कृत-नाटकों में एक दिन से लेकर एक वर्ष तक के समय की अनुमति दी गई है। वास्तविकता लाने के लिए इस नियम की नैतिक आवश्यकता प्रतीत हुई होगी, जिसके कारण किसी बाह्य प्रभाव के विना ही यह नियम बना होगा। ग्रीक-नाटकों में तीन अन्वितियों—कालान्विति, कार्यान्विति तथा स्थानान्विति का पालन होता है, परन्तु भारतीय नाटकों में इनका पालन नहीं होता। कहा जा सकता है कि संस्कृत-नाटक के लिए यह विषय अज्ञात था।

नाटक के पात्रों की भी तुलना करने से संस्कृत-नाटकों पर ग्रीक-नाटकों का प्रभाव सिद्ध नहीं होता। विंडिश ने तीन पात्रों पर विशेष बल दिया है। उन्होंने विट, विदूषक और शकार की तुलना ग्रीक-नाटकों के क्रमशः Parasite, Servas Currens और Milas Gloriosus से की है। सूत्रधार और परिपार्श्विक के साथ ही तीनों मिलकर पाँच पुरुष-पात्र हो जाते हैं, जिनका उल्लेख भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया है, और ग्रीक-नाटकों में भी इन पाँचों के समकक्ष मिल जाते हैं। यह भी सत्य है कि अभिज्ञानशाकुन्तल, चारुदत्त और मृच्छकटिक-जैसे प्राचीन नाटक में शकार आया है, परन्तु परवर्त्ती नाटकों में

उसका कोई उल्लेख नहीं; विट भी निर्जीव हो जाता है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रीक-नाटकों से लिये गये इन पाँचों की पीछे आवश्यकता नहीं समझी गई और ये अनायास लुप्त होते गये।

परन्तु, ग्रीक-नाटकों से उधार लेनेवाली बात सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिया गया, वह अपर्याप्त है। उदाहृत सभी पात्रों में विट ही ऐसा पात्र है, जो ग्रीक-नाटक के Parasite से सर्वाधिक मिलता-जुलता है, परन्तु Parasite विट के समान सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत नहीं होता। विदूषक का उद्‌भव सम्भवतः धार्मिक नाटकों में हुआ, उसके उद्‌भव के विषय में प्रकट किये गये अन्य मत अविश्वसनीय हैं। शकार ग्रीक-नाटक के Milas Gloriosus से निश्चय ही सादृश्य रखता है, परन्तु उधार लेनेवाले तर्क का निराकरण इस तथ्य से हो जाता है कि भास और मृच्छकटिक के युग में वास्तविक भारतीय जीवन में ऐसे व्यक्ति पाये जा सकते थे। उस युग में कुछ वेतनभोगी और द्रव्य-लोलुप सैनिकों के काले कारनामों से भारतीय जनता पूर्ण परिचित रही होगी।

भारतीय और ग्रीक-नाटकों की पात्र-संख्या में बिल्कुल साम्य नहीं है। केवल भास के ही नाटकों में अत्यधिक पात्र नहीं हैं, नहीं तो शकुन्तला में तीस, मृच्छकटिक में उनतीस, विक्रमोर्वशीय में अट्ठारह और मुद्राराक्षस में चौबीस पात्र हैं। उत्तरवर्त्ती नाटककार भवभूति के मालतीमाधव में तेरह और उत्तररामचरित में ग्यारह पात्र हैं।

दोनों, भारतीय और ग्रीक, नाटकों की प्रस्तावना में नई बातों की जानकारी दी जाती है, जैसे नाटककार का नाम, नाटक का शीर्षक आदि; परन्तु भारतीय नाटक प्रारम्भिक बातों की ओर अधिक ध्यान देता है। भारतीय नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार और उसकी पत्नी नटी के बीच वार्त्तालाप चलता है, उससे उसका स्वतन्त्र तथा निश्चित व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। अतः, यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि भारतीय नाटक प्रस्तावना को लेकर ग्रीक-नाटक का ऋणी है।

विंडिश ने स्वीकार किया था कि नाट्‌यशाला के विषय में दोनों देशों में किसी प्रकार की तुलना सम्भव नहीं है; क्योंकि भारतीय नाट्‌यशाला स्थायी नहीं होती थी। ब्लौच (Bloch) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सीताबेंगा गुफा-नाट्‌यशाला ग्रीक-नाट्‌यशाला के समान है। किन्तु, यह प्रयास निष्फल सिद्ध हुआ है। सीताबेंगा की नाट्‌यशाला चट्टानों को काटकर बनाई गई थोड़े दर्शकों के लिए छोटी-सी नाट्‌यशाला है और यूनान के किसी युग की नाट्‌यशाला से उसकी कोई विशेष तुलना नहीं हो सकती।

विंडिश के कुछ परवर्त्ती विद्वानों ने, जो भारतीय नाटक पर ग्रीक-प्रभाव सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, यह प्रमाणित करने की प्रवृत्ति दिखाई है कि स्वांग (Mime) ने भारतीय नाटक को प्रभावित किया है। इन लोगों ने विंडिश द्वारा दिये गये तर्कों को नया रूप और नया बल दिया है। भारतीय नाटक के कई अवयवों की तुलना ग्रीक और रोमन स्वांगों से करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि भारतीय नाटक वास्तव में ग्रीक-

स्वांगों के ऋणी हैं। किन्तु अन्य पाश्चात्त्य विद्वानों ने इस स्थापना का जोरदार खण्डन किया है। वस्तुतः इस बात का हमारे पास कोई सन्तोषप्रद प्रमाण नहीं है कि बहुत प्राचीन काल में भारत में स्वांग की तरह कोई वस्तु थी या नहीं; क्योंकि स्वांग केवल नट की करामात ही नहीं, वरन् उससे बहुत बढ़कर चीज है। इस स्थापना का खण्डन करने के लिए पर्याप्त तर्क है। यह कहना असंगत है कि ग्रीक-स्वांग से ही भारतीय नाटककारों ने विभिन्न उपभाषाओं का प्रयोग सीखा। अधिक संख्या में अभिनेताओं का उपयोग दोनों देशों में स्वाभाविक है। हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ग्रीक-स्वांग में पर्दे का उपयोग होता था या नहीं, फिर वहाँ से भारतीय नाटक में पर्दा उधार लेने की चर्चा ही व्यर्थ है। अतः इन उत्तरवर्त्ती पाश्चात्त्य विद्वानों की यह स्थापना पूर्ववर्त्ती विंडिश की स्थापना के ही समान महत्त्वहीन सिद्ध होती है।

त्रासदी की उत्पत्ति ग्रीस में हुई और यह उस देश के नाटक की मुख्य विशेषता है। परन्तु भारतीय नाटकों में त्रासदी का सर्वथा अभाव है। इन तर्कों के आधार पर श्रीवरदाचारी ने संस्कृत-नाटक की उत्पत्ति ग्रीक-नाटक से नहीं मानी, परन्तु उसका प्रभाव मानने को तैयार हैं। उनका कथन है :

"Therefore, it must be admitted that the Sanskrit drama arose and developed independently in India and that it might have been influenced by the Greeks or by some other foreigners."[१]

कुछ यूरोपीय पण्डितों ने केवल बाह्य साक्ष्यों पर निर्भर नहीं रहकर अन्तः-साक्ष्य या विषय-वस्तु तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक-रोमन नाटकों की तुलना की है। उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय नाटक में जो प्रकार-विशेष (Type) की प्रधानता है, इससे प्रमाणित होता है कि वे आरम्भ में अनुकरणमूलक रहे होंगे और पीछे ग्रीक तथा रोमन-प्रभाव के कारण उन्होंने नया रूप ग्रहण किया होगा। उनका मत है कि पुराने टाइपों के रह जाने से रोमन कॉमेडियों से उनके प्रभावित होने का लक्षण है। यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया, परन्तु पुराना गया नहीं। डॉ० कीथ के निम्नलिखित उद्धरण से इस बात की निराधारता प्रकट हो जाती है :

"The similarity of types is not at all convincing, the borrowing of the idea of using different dialects from the mime is really absurd and large number of actors is equally natural in either case ?"[२]

अर्थात्, टाइपों की समानता बिल्कुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग के सम्बन्ध में स्वांग से उधार लेनेवाला विचार निरर्थक तर्क है तथा अधिक संख्या में अभिनेताओं का होना दोनों देशों के नाटकों में समान रूप से सम्भव है।

---

१. A History of Sanskrit Literature by V. Verdachari; p. 132.

२. The Sanskrit Drama, pp. 67-68.

डॉ० कीथ ने बलपूर्वक कहा है कि ग्रीक तथा रोमन कॉमेडियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के फलस्वरूप कथानक में जो विकास हो जाता है, वह उसमें सर्वथा अप्राप्य है।

डॉ० कीथ ने यूरोपीय विद्वानों के इस दावे का विद्वत्तापूर्ण ढंग से खण्डन किया है कि भारतीय नाटक ग्रीक-नाटक से उत्पन्न या प्रभावित है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय नाटक ग्रीक-नाटक से प्रभावित नहीं है। परन्तु, उन्होंने अन्त में बताया है कि कुछ छोटी-मोटी बातों में भारतीय नाटक ग्रीक-नाटक से मिलता जुलता है और यदि इसने कुछ उधार भी लिया, तो उसे पूर्णरूप से आत्मसात् भी कर लिया। वे लिखते हैं :

"India has a strange genius for converting what it borrows and assimilating it, as it did in the case of the image of the Buddha which it fabricated from Greek models."[१]

डॉ० कीथ के मत के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ग्रीक-नाटक से भारतीय नाटक प्रभावित नहीं है। इसके लिए ग्रीक-नाटक तथा रंगमंच की निम्नलिखित विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है :

१. यूनानी नाटक में कोरस या समवेत गान की प्रधानता पाई जाती है।
२. अभिनेताओं का क्रम एक से बढ़कर धीरे-धीरे अनेक तक पहुँचा था।
३. ग्रीक अभिनेता मुख पर मुखौटा लगाकर तथा पैर में ऊँची खड़ाऊँ बाँधकर रंगमंच पर आते थे।
४ ग्रीक-रंगशाला में पीछे भित्ति होती थी।
५. ग्रीक-रंगशाला किसी पहाड़ी की अधित्यका या उपत्यका में बनी होती थी और यह गोल, ढालुआ तथा सीढ़ीदार होती थी।
६. ग्रीक-नाटक या तो त्रासात्मक होते थे, जिनमें भय तथा करुणा भरी रहती थी या परिहासात्मक होते थे, जिनमें फूहड़ तथा भद्दे गीत या व्यंग्य भरे रहते थे।
७. यूनान में निश्चित उत्सव के अवसर पर ही नाटक खेले जाते थे और दो-तीन दिनों तक चलते रहते थे।

उपर्युक्त सात बातों में से एक बात भी भारतीय नाटक और रंगमंच के साथ लागू नहीं होती। भरत के अनुसार, भारतीय रंगशाला तीन प्रकार की होती है—त्र्यस्र, चतुरस्र तथा विकृष्ट। परन्तु, इन तीनों में से किसी का रूप या विस्तार यूनानी रंगशाला से नहीं मिलता। एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि हमारे नाटकों में आठ रस हुआ करते थे, परन्तु यूनानी नाटकों में केवल तीन रस—भयानक, करुण तथा हास्य ही हुआ करते थे।

१. Sanskrit Drama, p. 68.

भारतीय नाटकों में विभिन्न पात्रों के लिए विभिन्न भाषाओं का विधान पाया जाता है, परन्तु ग्रीक-नाटकों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती। उन्हें अभिनेताओं के मुख पर अनेक रंग पोतने की बात तथा कला ज्ञात नहीं थी, परन्तु नाटकीय रंगों का वे पूरा उपयोग जानते और करते थे। गीत तथा नृत्य का भी विधान भारतीय शास्त्रकारों ने जिस रूप में किया है, उस रूप में ग्रीस में विधान नहीं था। हमारे नाटकों के समान ग्रीक-नाटकों में पूर्वरंग, नान्दी तथा प्रस्तावना का प्रयोग नहीं होता था। वहाँ के नाटकों में प्रोलोग (Prologue) के रूप में प्रस्तावना का जो विधान है, वह नाटकीय वस्तु की केवल भूमिका है।

नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय में भरत ने पूर्वरंग के विषय में जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वरंग की कुछ क्रिया पर्दे के पीछे से होती थी और कुछ पर्दे के बाहर आकर होती थी। यूनानी गीत-वाद्य का कुछ अंश रंगमंच के सामनेवाले घेरे में होता था, जिसे ऑरकेस्ट्रा नाम दिया गया है। इसके विपरीत भारतीय रंगशाला में प्रदर्शन से सम्बद्ध सभी कार्य रंगमंच पर ही सम्पादित किये जाते थे। ध्यान देने की एक और बात यह है कि भारतीय रंगमंच का पर्दा बीच में से फटा रहता था, जिससे उसके दोनों पल्ले ऊपर उठाये जा सकें।

यूनान और रोम की नाट्यशालाओं में कहीं भी यवनिका के प्रयोग का प्रमाण नहीं मिलता। उन देशों में मंच के पीछे चित्रित दीवार के दोनों ओर द्वार बने रहते थे, जिनसे पात्र आते-जाते थे।

अतः, यह कहना नितान्त भ्रामक है कि भरत ने अपनी नाट्य-कला यूनान से सीखी है या भारतीय नाटकों पर यूनानी नाटक का प्रभाव है।

यह मानना शायद उचित नहीं होगा कि ग्रीकों के समान शक्तिशाली जाति के सम्पर्क में आने पर भारतीयों के समान प्रबल कल्पनाशील जाति के विचारों तथा कल्पना-शक्ति में किसी प्रकार का परिवर्त्तन हुआ ही न होगा। परन्तु, जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्त का प्रश्न है, इसकी अत्यन्त प्राचीन तथा गौरवपूर्ण परम्परा भारत में वर्त्तमान थी। यह भी समझना उचित नहीं कि ग्रीक-साहित्य और विचारधारा ने भारत के सम्पर्क में आकर यहाँ से कुछ ग्रहण करने में किसी प्रकार की अनिच्छा दिखलाई। दोनों जातियों में पारस्परिक सम्पर्क के कारण सांस्कृतिक आदान-प्रदान अवश्य हुआ होगा, परन्तु उसे नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों की देन कहना युक्तिसंगत नहीं है।

भारत की किसी भी साहित्यिक, सांस्कृतिक, कलात्मक या शास्त्रीय समृद्धि में यूनानी बीज ढूँढ़ना या यूनानी प्रभाव देखना पाश्चात्त्य विद्वानों का प्रधान और मनोरंजक उद्देश्य रहा है। वे समझते हैं कि जैसे यूरोप की सभ्यता, संस्कृति, कला और कविता पर यूनान का प्रभाव पड़ा है, वैसे ही भारत की सभ्यता आदि पर भी पड़ा है। डॉ॰ कीथ आदि कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों ने इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है।

मनोविनोद का सिद्धान्त : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने सभी प्रचलित मतों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति

अपने दैनिक व्यवसाय और घर-बाहर की चिन्ताओं से मुक्ति पाकर कुछ देर ऐसे वायुमण्डल में विचरण करना चाहता है, जिसमें तन्मय होने पर उसे व्यवहार, परिवार तथा अन्य किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रह जाए। इस प्रयत्न में सफलता पाने के निमित्त मानव ने संगीत, अभिनय तथा कथा--इन तीन सार्वजनिक मनोविनोदों को जन्म दिया और किसी समय किसी आचार्य ने इन तीनों का समन्वय करके नाट्य की सृष्टि कर दी।

"अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लोगों को चिन्तामुक्त करने के लिए संगीत, कथा और अभिनय के संयोग से मनोविनोद और उपदेश के उद्देश्य से विशेष पर्वों और उत्सवों पर प्रयोग करने के लिए नाट्य की उत्पत्ति हुई।"[1]

वेदोत्तर साहित्य

महाकाव्यों में नाटक : नाटक के उद्‌गम की सम्भावना महाकाव्यों और आख्यायिकाओं में ढूँढ़ना अधिक महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि इस दिशा में तिथियों की कठिनाई उपस्थित हो जाती है। कुछ संस्कृत-नाटकों में काव्यत्व और नाटकीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह बात सर्वत्र सत्य नहीं है।

भारत के सबसे बड़े महाकाव्य महाभारत में स्पष्ट रूप से कहीं भी नाटक का उल्लेख नहीं है। अतः, यह नहीं कहा जा सकता कि उस युग में नाटक की स्थिति थी या नहीं। हाँ, विराट-पर्व में रंगशाला का उल्लेख मिलता है, जिससे नाटक की ओर संकेत होता है। नट, शैलूष आदि शब्द अवश्य ही आये हैं और नट का अर्थ यदि अभिनेता है तो नाटक की भी स्थिति सिद्ध हो जायगी; परन्तु इसका अर्थ सामान्य खेल-तमाशा दिखानेवाला भी हो सकता है। नाटक की खोज में हमें हरिवंश की ओर जाना होता है। हरिवंश वस्तुतः महाभारत की ही शृंखला में है।

हरिवंश में दिये गये वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में नाटक का सम्बन्ध कृष्ण-भक्ति से था। महाभाष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है। अन्धक के मरणोपरान्त यादवों ने उत्सव मनाया, जिसमें स्त्रियों ने नृत्य किया और गीत गाये। इस उत्सव में कृष्ण ने स्वर्ग की अप्सराओं को नृत्य-गान के लिए बुलाया। अप्सराओं ने कंस और प्रलम्ब की मृत्यु, रंगभवन में चाणूर के पतन तथा कृष्ण के अन्य चरित्रों को, सम्भवतः नृत्य द्वारा, प्रस्तुत किया। उनके अभिनय के बाद देवर्षि नारद ने अनेक व्यक्तियों की नकल उतारकर दर्शकों का मनोरंजन किया। उन्होंने सत्यभामा, केशव, अर्जुन, बलदेव जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की चाल-ढाल, हँसी आदि का अनुकरण किया, जिससे दर्शकों का अत्यन्त मनोरंजन हुआ। इससे हमें नाटक में विदूषक के अभिनय की याद आ जाती है।

हरिवंश में हमें स्पष्ट प्रमाण मिलता है; क्योंकि उसमें ऐसे अभिनेताओं का उल्लेख है, जिन्होंने रामायण की कथा पर नाटक खेला था। वज्रनाभ नामक दैत्य का वध करने के

---

१. अभिनव नाट्यशास्त्र (प्र० सं०), पृ० ४२

निमित्त श्रीकृष्ण तथा अन्य यादवों ने कपट-नटों का वेश धारण कर उसके नगर में रामायण पर आधारित नाटक खेला। रामायण के अतिरिक्त उन्होंने 'कौवेर रम्भाभिसार' नाटक भी खेला। नाटक का अभिनय इतना सुन्दर हुआ कि दैत्यों और उनकी स्त्रियों ने अपने शरीर पर के सुवर्ण के आभूषण खोल-खोलकर नटों को दिये। तत्पश्चात् प्रद्युम्न ने वज्रनाभ का वध करके उसकी कन्या प्रभावती से अपना विवाह सम्पन्न किया। इस घटना से संकेत मिलता है कि हरिवंश या महाभारत के काल में नाटक का सर्वांगीण रूप वर्त्तमान था।

किन्तु, डॉ० कीथ का विश्वास है कि इससे नाटक की किसी निश्चित तिथि का पता नहीं मिल सकता; क्योंकि हरिवंश की ही तिथि निश्चित नहीं है। वे हरिवंश को ईसा की दूसरी या तीसरी शती से पहले का मानने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं :

"But this is of no importance for the purpose of determining the date of drama, the Harivansha is of uncertain date, but in all probability, as we have it, it cannot be placed earlier than the second or the third century A.D."[१]

रामायण से भी नाटक की कोई प्राचीन तिथि निश्चित करने में विशेष सहायता नहीं मिलती। हमलोग उत्सवों और समाजों के विषय में सुनते हैं, जिनमें नट और नर्त्तक आनन्दोपभोग करते पाये जाते हैं। रामायण के आरम्भ में ही अयोध्या के वर्णन में वाल्मीकि ने बताया है कि वहाँ नाटक-मण्डलियाँ तथा वेश्याएँ थीं—**वधू नाटकसङ्घैश्च संयुक्तम्।** राम के अभिषेक के समय भी रामायण में नटों, नर्त्तकों आदि के उपस्थित होने तथा अपनी कला-कुशलता से लोगों को प्रसन्न करने का उल्लेख है :

नटनर्त्तकसङ्घानां गायकानां च संघ्नताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥

अन्यत्र हम 'व्यामिश्रक' शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ टीकाकारों ने ऐसा नाटक बताया है, जो मिश्रित भाषा में लिखा गया हो। किन्तु, डॉ० कीथ इन संकेतों से भी नाटक की कोई प्राचीन तिथि मानना पसन्द नहीं करते। किन्तु, यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। अयोध्याकाण्ड में एक श्लोक पाया जाता है, जिसमें नाटक की ओर संकेत है।

किन्तु, यद्यपि महाकाव्यों में नाटक की स्थिति का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि किस प्रकार महाकाव्यों के शंसन से नाटक के विकास पर प्रबल प्रभाव पड़ा। साहित्य के साक्ष्य से पता चलता है कि महाकाव्यों का शंसन कितने दीर्घकाल तक लोकप्रिय रहा। ईसा की सातवीं शती के आरम्भ में सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण ने, जो कम्बोडिया के राजवंश से सम्बद्ध था, भारतीय सभ्यता के उस सुदूर प्रदेश में एक मन्दिर को महाभारत की एक पूर्ण प्रति समर्पित की, इसलिए कि इसका

१. The Sanskrit Drama, p. 28.

नियमित शंसन होता रहे। लगभग इसी समय बाण ने कादम्बरी में वर्णन किया कि रानी महाभारत का शंसन सुनने मन्दिर में जा रही है। रामायण के कवि वाल्मीकि ने सीता के बच्चों—कुश और लव—को रामायण पढ़ाई। जब राम अश्वमेध-यज्ञ करने जा रहे हैं, उसी समय कुश और लव अयोध्या में प्रवेश करते हैं और राम की भी उत्सुकता को जागरित करते हैं। वे अपने ही कार्यों का विवरण सुनते हैं। तदनन्तर राम पहचान जाते हैं कि कुश और लव मेरे ही पुत्र हैं। उत्तररामचरित में भवभूति ने स्पष्ट रूप से अपने को इस बात से अभिज्ञ प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार नाटक महाकाव्यों का ऋणी है। भास के नाटकों में सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि किस प्रकार वे महाकाव्यों के ऋणी हैं।

'कुशीलव' शब्द का अर्थ नट या अभिनेता होता है। यह शब्द रामायण के कुश और लव से बना जान पड़ता है। इस शब्द में समास बनाने का ढंग विचित्र है। सम्भव है कि इसका नाम आरम्भ में कुश और लव से लिया गया हो और पीछे 'कुशीलव' (कु + शील) में परिवर्तित कर दिया गया हो। यह नटों की नैतिकता पर आघात रहा होगा; क्योंकि सभी लोग मानते थे कि नटों का आचरण अच्छा नहीं था।

व्याकरण-ग्रन्थ : वैयाकरण पाणिनि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों में शिलाली तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है :

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४।३।११०)

कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (४।३।१११)। इससे शिलाली और कृशाश्व नामक दो आचार्यों के नट-सूत्रों के विषय में ज्ञात होता है। इन दोनों आचार्यों की कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। यदि उनके ग्रन्थ मिल सकते, तो सम्भव था कि नाट्यशास्त्र और नाटक के विषय में कितनी नई बातों का पता चलता।

प्रो० सिल्वाँ लेवी ने इन दोनों नामों के विचित्र अर्थ लगाये हैं। उनके अनुसार शिलाली का अर्थ है, 'जिसके पास शिला की ही शय्या है और कोई वस्तु सोने को नहीं', और कृशाश्व का अर्थ है, 'जिसके घोड़े दुबले-पतले हैं।' डॉ० कीथ इन्हीं कोरे मन-गढ़न्त अर्थों के साक्ष्य पर इन दोनों शब्दों में व्यंग्य मानकर इन्हें नाट्याचार्यों के नाम मानने को तैयार नहीं हैं। डॉ० कीथ यह भी संकेत करते हैं कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'नट' शब्द के पाये जाने से पुत्तलिका-नृत्य की पुष्टि हो सकती है। वे पाणिनि का काल चौथी शती ई० पू० मानते हैं और उनके व्याकरण-ग्रन्थ में 'नाटक' शब्द के अभाव को इस काल में भारतीय नाटकों की अविद्यमानता का प्रमाण मानते हैं :

"The conclusion is important, for Panini's date is most probably the fourth century B.C., and the fact that he has no term certainly denoting drama is of significance."[१]

किन्तु वस्तुतः नट-सूत्र किन्हीं सैद्धान्तिक सूत्रों की ओर संकेत करता है, जिनमें नटों के कला-कौशल और क्रिया-कलाप का विवेचन किया गया होगा। स्पष्ट है कि पाणिनि के

१. The Sanskrit Drama, p. 31.

समय में या उनके पूर्व अनेक नाट्य-ग्रन्थों की रचना हो गई होगी, जिनके आधार पर नट-सूत्रों का निर्माण हुआ। वस्तुतः लक्ष्य-ग्रन्थों की रचना के उपरान्त ही लक्षण-ग्रन्थों की रचना होती है। भारतीय विद्वान् (वी० वरदाचारी आदि) पाणिनि का समय ८वीं शती ई० पू० मानते हैं। इस प्रकार, इन नट-सूत्रों का समय डॉ० कीथ के बताये समय से ४०० वर्ष पहले हो जाता है।

महाभाष्यकार : पतंजलि का समय निश्चित है। वे १४० ई० पू० के आसपास वर्त्तमान थे। वे शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र के गुरु और पुरोहित थे। उनके ग्रन्थ में नाटक की स्थिति के सम्बन्ध में स्पष्ट और निश्चित प्रमाण मिलता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरण कात्यायन के एक वार्त्तिक की आलोचना करते समय 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन'—इन दो कथाओं से सम्बद्ध नाटकों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि कंस पहले मारा जा चुका है और बलि का बन्धन अतीत काल में हो चुका है, किन्तु ये नट वर्त्तमान काल में ही हमारी आँखों के सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं :

इह तु कथं वर्त्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति
चिरंहते कंसे चिरं बद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्।
ये तावदेते शोभनिका (शौभिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं
घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।[1]

किन्तु, प्रो० वेबर तथा प्रो० ल्यूडर्स ने पतंजलि के इस अति स्पष्ट संकेत का भी बहुत बेढंगा अर्थ लगाया है। वेबर ने अर्थ लगाया है कि पतंजलि का संकेत पुत्तलिका-रूप में कंसवध तथा बलिबन्धन की ओर है। प्रो० ल्यूडर्स के मत के अनुसार 'शौभिकाः' या 'शोभनिकाः' शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ये नट विना किसी संवाद या वार्त्तालाप के कंसवध या बलि-बन्धन का स्वांग रचते थे। बाद के साहित्य में संवाद का प्रयोग करनेवालों के लिए 'ग्रन्थिक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। डॉ० कीथ ने इन मतों की सम्यक् आलोचना की है। महर्षि पतंजलि ने अपनी पंक्तियों के द्वारा नाट्याभिनय की ओर स्पष्ट संकेत किया है। फिर इसमें खींच-तान व्यर्थ ही है।

महाभाष्य से हमें पता लगता है कि उस समय रंगमंच था, जिसमें नाटक के सभी तत्त्व वर्त्तमान थे। हम अभिनय भी पाते हैं और दो दलों के बीच में शंसन भी पाते हैं। नट भी मिलते हैं, जो शंसन करने के साथ गायन भी कर सकते हैं। महाभाष्य के काल में हम पाते हैं कि नट की भूख मयूर के नृत्य के समान विख्यात हो गई थी और कभी-कभी उसे मार भी खानी पड़ती थी। उस समय एक विशेष शब्द भ्रुकुंस ऐसे पुरुषों के लिए प्रचलित हो गया था, जो स्त्री की वेशभूषा में स्त्री की भूमिका करते थे। ऐसा जान पड़ता है कि महाभाष्य ने नर्त्तकी और गायिका के अतिरिक्त अन्य स्त्री को मान्यता नहीं दी. अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यकला के शैशव में स्त्रियों की भूमिका पुरुषों को ही

---

१. **महाभाष्य, ३।१।२६।**

मिलती थी, यद्यपि बाद के नाटकों में ऐसी बात नहीं थी। परन्तु डॉ० कीथ मानते हैं कि पतंजलि के समय में नाटक अभी प्रारम्भिक रूप में ही था।[1]

धर्म और नाटक : विद्वानों का मत है कि नाटक का प्रारम्भिक रूप धार्मिक ही था। डॉ० कीथ ने कंसवध की कथा को हेमन्त और ग्रीष्म के संघर्ष का प्रतीक माना है। धर्म के साथ नाटक के सम्बन्ध में और भी प्रमाण मिलते हैं। रंगमंच में जनता के समक्ष कृष्ण पहले अपने मामा कंस के योद्धाओं को पराजित करते हैं और अन्त में उस अत्याचारी कंस का वध करते हैं। वसुदेव, देवकी आदि सभी वहाँ उपस्थित रहते हैं, अप्सराएँ गीत गाती हैं और दर्शक सारी रात यह मनोहर दृश्य देखते रहते हैं, फिर कृष्ण और गोपियों का प्रेम दिखाया जाता है और रास-मण्डल का नृत्य होता है। इस सम्बन्ध में यात्रा की लोकप्रियता का महत्त्व देखा जा सकता है। संस्कृत-नाटक का लिखा जाना और खेला जाना बन्द भी हो गया, परन्तु अभी भी यात्रा का महत्त्व बना हुआ है। कृष्ण-भक्ति का एक बहुत अधिक महत्त्व एक अन्य बात में भी देखा जा सकता है। संस्कृत-नाटक के गद्य की सामान्य भाषा शौरसेनी प्राकृत है और हमलोग सामान्यतया यही मान सकते हैं कि इसका कारण यही है कि जिन लोगों के बीच नाटक का रूप सबसे पहले निश्चित हुआ, उनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत ही थी। आगे भी चलकर हम देखते हैं कि मुसलमानी आक्रमण के उपरान्त कृष्ण-भक्ति का पुनर्जागरण हुआ तो व्रजभाषा में ही हुआ। प्राचीन शौरसेनी के स्थान की मध्यकालीन भाषा व्रजभाषा है और कृष्ण-भक्ति के प्रचार के साथ इसका प्रचार अपनी सीमाओं से बहुत आगे बढ़कर हुआ।

नाटक के इतिहास में कृष्ण के साथ शिव का भी बहुत अधिक महत्त्व है। शिव ने ताण्डव-नृत्य दिया और उनकी पत्नी पार्वती ने लास्य-नृत्य। नाटक में इन नृत्यों का बहुत अधिक महत्त्व है। वैदिक काल में शिव सभी काम-धन्धोंवाले मनुष्यों के संरक्षक-रूप में विख्यात रहे हैं, परन्तु अब कलाकारों के विशेष संरक्षक माने गये। परन्तु, सम्भवतः नाटक में शिव का यह महत्त्व कृष्ण के बाद ही हुआ। भास वैष्णव थे और उनके नाटकों की प्रस्तावना में कृष्ण की वन्दना है। किन्तु, कालिदास, शूद्रक, भवभूति और हर्ष के नाटकों की प्रस्तावनाओं में शिव की वन्दना की गई है। ज्ञातव्य है कि भास इन सभी नाटककारों के पूर्ववर्त्ती हैं। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में नृत्य को शिव की सृष्टि कहा गया है और शिव के साथ नृत्य का सम्बन्ध बताया गया है। पाशुपतों के पूजा-विधान और तान्त्रिकों के कृत्यों में भी नृत्य, गान, शिव, शक्ति आदि से काफी सम्बन्ध है।

नाटक के विकास में राम का स्थान कृष्ण से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि देश-भर में रामायण का शंसन लोकप्रिय था और आजकल भी प्रचलन में है। रामलीला और दशहरा से राम-कथा की लोकप्रियता पूर्णतः सिद्ध हो जाती है। ऐसे अवसरों पर तीर्थ-यात्रियों और अन्य लोगों के समक्ष लड़के ही राम, लक्ष्मण, सीता आदि की भूमिका

१. The Sanskrit Drama, p. 37.

निभाते हैं। सभी दर्शक राम-कथा से पूर्णतया परिचित रहते हैं, अतः उन अभिनेताओं के नहीं बोलने पर भी वे राम के जीवन की सभी घटनाएँ—वनवास, सीता के अन्वेषण और राम की रावण पर विजय—आदि समझते जाते हैं। वस्तुतः, रामायण महाकाव्य का पूर्ण प्रभाव नाटक पर दृष्टिगोचर होता है।

नाटक की धार्मिक उत्पत्ति के विषय में विदूषक पात्र को भी प्रस्तुत किया जाता है। विदूषक नाटक के नायक राजा का विश्वस्त सखा और सहचर होता है। नाटक में ऐसा बहुधा देखा जाता है कि देवी की किसी सेविका और विदूषक में वाद-विवाद होता है और उसमें हार प्रायः विदूषक की ही होती है। डॉ० कीथ का कथन है कि ऐसे अवसर पर महाव्रत में वर्णित ब्राह्मण और गणिका के वाद-विवाद (या गाली-गलौज) को नहीं भुलाया जा सकता। अनुमान लगाया जाता है कि विदूषक के पात्र में दूसरा धार्मिक तत्त्व उस शूद्र की स्मृति है, जो सोमयज्ञ में सोम-क्रय के अनन्तर पीटा जाता है। सम्भवतः, इसीलिए विदूषक का आकार-प्रकार बेढंगा बताया गया है। विदूषक ब्राह्मण होता है, इसी बात से यह सिद्ध होता है कि उसके चरित्र का दूषित भाग ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए, यह प्राकृत का व्यवहार करता है; क्योंकि यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि कोई ब्राह्मण गाली-गलौजवाला वाद-विवाद संस्कृत-जैसी पवित्र भाषा में करेगा। महाव्रत की गणिका-जैसी निम्न सामाजिक स्थिति की स्त्री प्राकृत ही समझ सकती है।

बौद्धधर्म और नाटक : नाटक का धार्मिक महत्त्व इसके प्रति बौद्धों के दृष्टिकोण में भी परिलक्षित होता है। नाटक के बहुत प्राचीन अंश भी, जो छिट-पुट रूप में पाये गये हैं, अश्वघोष के बौद्ध नाटक हैं। नाटक को स्वीकार कर लेने पर 'ललितविस्तर' यह भी कहता है कि बुद्ध को नाटक का भी ज्ञान प्राप्त था। कहा जाता है कि बुद्ध के समय में भी नाटक थे; क्योंकि राजा बिम्बिसार ने दो नाग-राजाओं के सम्मान में एक नाटक का प्रदर्शन कराया था। 'अवदानशतक' के अनुसार तो नाटक बहुत प्राचीन काल में ही वर्त्तमान थे। इन नाटकों की छाप सद्धर्मपुण्डरीक पर पड़ी है, जो ललितविस्तर के समान महाकाव्य नहीं है, वरन् संवाद-शृंखला के समान है। इसमें अतिमानव बुद्ध प्रमुख हैं, किन्तु अन्य व्यक्ति भी वक्ता हैं। सिंहल में राजवंश के एक राजकुमार के द्वारा स्तूप के शिलान्यास के समय गीत, संगीत, नृत्य और कुछ दृश्य-प्रदर्शन के द्वारा ऐसे ही कलात्मक प्रभाव लाने का प्रयास किया गया। महावंश का कथन है कि ऐसे अवसरों पर नाटक भी खेले गये थे। अजन्ता की चित्रकारियों से पता चलता है कि उस युग में गीत, संगीत और नृत्य का कितना सम्मान था। तिब्बत में भी पुराने धार्मिक नाटकों के अवशेष पाये जाते हैं, जो सामान्य जनता के द्वारा खेले जाते थे।

विनयपिटक से प्रमाणित होता है कि नाटक का प्रचार भारत-व्यापी था। विनय-पिटक के 'चुल्लवग्ग' में यह कथा मिलती है कि एक बार अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु कीटागिरि की रंगशाला में नाटक देखने गये। नाटक समाप्त हो जाने पर दोनों भिक्षु संघाटी फैलाकर नाचनेवाली नर्त्तकी से मधुर वार्त्तालाप करते रहे। जब

विहार के महास्थविर को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने उन भिक्षुओं को तुरन्त विहार से निर्वासित कर दिया।

जैनधर्म और नाटक : जैसा बौद्धधर्म के साथ है, वैसा ही जैनधर्म के भी साथ है। बौद्ध-मत के समान जैन-मत में भी नाटक से सम्बन्ध रखनेवाले आनन्दोपभोगों की निन्दा है, परन्तु साथ ही धर्म-सिद्धान्तों में गीत, संगीत, नृत्य और दृश्य-प्रदर्शन को मान्यता भी दी गई है। परन्तु, यह पता नहीं चलता कि उन धर्म-सिद्धान्तों का संग्रह कब हुआ, इसलिए नाटक की तिथि निश्चित करने में कठिनाई है। बौद्ध-मत के ही समान जैन-मत ने भी अपने धर्म के प्रचार के लिए नाटक को भी अपना माध्यम बनाया। जैनियों का 'सत्तपसेणीय सुत्त' नामक धार्मिक ग्रन्थ है। इसकी एक कथा से जान पड़ता है कि भगवान् महावीर नाटक देखकर प्रसन्न हुए थे। भगवान् महावीर भ्रमण करते आमलकप्पा नगरी में पहुँचे और अम्बसालवन में एक शिला पर आसीन हुए। उसी समय सूर्यभिदेव स्वर्ग से आकर उपस्थित हुए। भगवान् महावीर का अभिनन्दन करने के लिए अनेक वाद्यों और संगीत के साथ सूर्याभिदेव ने अभिनन्दनात्मक नाटक भी दिखाया। अभिनय-कला में वे इतने कुशल थे कि उन्होंने अपनी अभिनय-कला से महावीर को प्रसन्न कर दिया।

धर्म और राज्याश्रय से नाटक को प्रेरणा-प्रोत्साहन : धर्म और नाटक के घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में पुष्ट प्रमाण है और यह भी स्पष्ट जान पड़ता है कि धर्म से ही नाटक-रचना की निर्णयात्मक प्रेरणा मिली। महाकाव्यों का महत्त्व निस्सन्देह बहुत अधिक है, किन्तु महाकाव्यों के मात्र शंसन से, नाटक के अत्यधिक निकट पहुँचने पर भी, इसकी रचना नहीं हो सकती थी। नाटकीय संघर्षवाले तत्त्व की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्त्ति महाव्रत के धार्मिक कृत्य से हुई। पीछे कृष्ण और कंस का आख्यान प्रचलित हुआ। फिर महाभाष्य में बताया गया कि कृष्ण और कंस की कथा को ग्रन्थिक भी प्रस्तुत कर सकते हैं, जो अपने चेहरे रँग लेते थे और जिन लोगों का अभिनय करते थे, उनकी भावनाओं को भी प्रस्तुत करते थे; शौभिक मूक अभिनय के द्वारा प्रस्तुत करते थे। पतंजलि द्वारा वर्णित नट केवल नर्त्तक ही नहीं, वरन् इससे कहीं अधिक थे।

प्राचीनकाल में सामान्य जनता अपनी साधारण बोली में ही नाटक प्रस्तुत करती थी। परन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि यह धार्मिक कृत्य का ही एक अंग होता था। सर्वसाधारण के समक्ष नाटक यात्रा के ही रूप में प्रस्तुत किया जाता था और यह शब्द सूचित करता है कि नाटक धार्मिक कृत्य का ही एक अंग था; क्योंकि यात्रा का सम्बन्ध किसी देवी या देवता के सम्मान में किये गये समारोह से था। आज भी जनता के सामने प्रदर्शित किये गये अनेक नाटकों के कथानक रामायण, महाभारत या किसी देवी-देवता की पूजा की कथा से लिये गये रहते हैं।

जब नाटक के अभिनय में शासक दिलचस्पी लेने लगे, तो नाटक गुण की दृष्टि से शीघ्र विकसित हुआ और रंगमंच पर संस्कृत भाषा का प्रयोग होने लगा। वसन्तोत्सव

आदि विशेष अवसरों पर शासकों के महलों में नाटक का अभिनय लगभग अनिवार्य ही हो गया और राजकवि नाटक लिखने लगे। किन्तु, साधारण जनता के लिए नाटक खुले मैदानों में यात्रा के रूप में खेले जाते रहे।

लोग रंगमंच के नाटकों को राज्य के प्रभाव के विस्तार का साधन मानते थे। शासक भी रंगमंच को जनता की शिक्षा का माध्यम मानकर इसे सहायता देते थे। नासिक में गुफा की दीवारों और हाथीगुम्फा में पाये गये शिलालेखों में भी नाटक का संकेत मिलता है।

काल-निर्धारण : निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि संस्कृत-नाटक कब से लिखा जाने लगा। आजकल नाटक के जो नमूने मिलते हैं, वे उस समय के हैं, जब नाट्य-कला का कुछ विकास हो चुका था। किन्तु, नाट्यकला के शैशव का कोई नाटक नहीं मिलता।

डॉ० कीथ संस्कृत-नाटक की प्राचीनता के बहुत प्रमाण देने के बाद भी इसकी उत्पत्ति ई० पू० द्वितीय शती से पूर्व नहीं मानते।[1]

किन्तु, ऊपर दिखाया जा चुका है कि रामायण, महाभारत, बौद्धधर्म तथा जैनधर्म-ग्रन्थों में भी नाटक के संकेत मिलते हैं, जिनसे सिद्ध हो जाता है कि डॉ० कीथ द्वारा निर्दिष्ट तिथि के बहुत पहले ही संस्कृत में नाटक लिखे जाने लगे थे।

अशोक के शिलालेख तृतीय शती ई० पू० के हैं। उनमें 'समाज' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रथम शिलालेख में 'समाज' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। गिरनार के शिलालेख में 'समाज' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। डॉ० डी० आर्० भण्डारकर और श्री एम्० जी० मजुमदार ने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है कि 'समाज' शब्द के दो अर्थ हैं। अशोक के उपर्युक्त शिलालेख में प्रयुक्त पहले 'समाज' का अर्थ ऐसा स्थान है, जहाँ लोगों का मनोरंजन नृत्य, गीत आदि से किया जाय। श्रीमजुमदार ने इस अर्थ का समर्थन किया है। उन्होंने बताया है कि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में 'समाज' शब्द का प्रयोग नाटक के अभिनय के सन्दर्भ में किया है।

ईसा की दूसरी शती पूर्व के बहुत पहले नाटक की स्थिति नहीं माननेवाले पाश्चात्त्य विद्वानों के सामने वात्स्यायन के कामसूत्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :

कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः।
द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजानियतं लभेरन्॥
ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा।
व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता॥[2]

---

१. The Sanskrit Drama, p. 45

२. **कामसूत्र, १।४, २८—३१**

—अर्थात् बाहर से आये हुए नट पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उसका पारिश्रमिक या पूजा दूसरे दिन लें। यदि लोग देखना चाहें, तो फिर देखें, नहीं तो नटों को विदा कर दें। नगर के नटों और आगन्तुक नटों—दोनों को एक-दूसरे के कष्ट तथा आनन्द में परस्पर सहयोग देना चाहिए।

फिर, कामसूत्र में अन्यत्र लिखा है :

पक्षस्य मासस्य वा प्रख्यातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तो नित्यं समाजः।

—अर्थात् पखवारे या महीने के निश्चित या प्रसिद्ध पर्व के दिनों पर सरस्वती के मन्दिर में राजा की ओर से नियुक्त नाटक या उत्सव हो।

वात्स्यायन के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि समाज नाटक का एक रूप है, जिसका सम्बन्ध धर्म से है। बौद्ध-जातकों से भी स्पष्ट होता है कि 'समाज' का प्रयोग रंगमंच के नाटकों के अर्थ में होता था।

स्मरणीय है कि वात्स्यायन का समय डॉ० कीथ द्वारा नाटक की उत्पत्ति के लिए निर्दिष्ट समय—दूसरी शती ई० पू०—से बहुत पहले (सम्भवतः चतुर्थ शती ई० पू०) है। अतः, डॉ० कीथ द्वारा दिया गया समय भ्रामक है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक, कथा सुनाकर जीविका चलानेवाले कुशीलव (नृत्य के साथ गानेवाले), प्लवक (रस्सी पर खेल दिखानेवाले), शौभिक (ऐन्द्रजालिक), चारण आदि वर्तमान थे। इतना ही नहीं, प्रत्येक मण्डली को कुछ निश्चित राजकर देना पड़ता था। यदि नटों की कोई मण्डली खेल दिखाने के लिए बाहर से आती थी, तो प्रत्येक खेल के लिए पाँच पग राजा को कर के रूप में देना पड़ता था—**एतेन नटनर्त्तकगायकवादक-वाग्जीवनकुशीलव-प्लवकशौभिकचारणानां स्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियो गूढाजीवाश्च व्याख्याताः। तेषां तूर्यकामन्तुकं पञ्च पणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्।**[1]

कौटिल्य का समय भी चतुर्थ शती ई० पू० कुछ विद्वान् मानते हैं। उस समय नाटक की विद्यमानता सिद्ध होती है।

मई, १९१० ई० में दक्षिण-भारत के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीगणपति शास्त्री को त्रावणकोर के एक प्राचीन पुस्तकालय में १० हस्तलिखित पुस्तकें मिलीं, जिनमें भास के नाटकों के कुछ अंश हैं। उसी प्रकार की कुछ और भी हस्तलिखित पुस्तकें आगे चलकर मिलीं। इन नाटकों से पता चलता है कि नाटककार को नाट्यशास्त्र के विषयों से कोई परिचय नहीं था। उनके काल का निश्चय अभी नहीं हो सका है। कुछ लोग उन्हें प्रथम शती और दूसरे लोग प्रथम शती ई० पूर्व का मानते हैं। किन्तु, अन्य साक्ष्यों को छोड़कर भाषा का ही साक्ष्य यदि ग्रहण किया जाय, तो पता चलेगा कि वे ईसा के कम-से-कम तीन या चार

१. **कौटिल्य अर्थशास्त्र : अध्यक्ष, प्रचार-अधिकरण, २७वाँ अधि०।**

शती पूर्व रचे गये होंगे। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों से सिद्ध होता है कि वे पाणिनि के नियमों से परिचित नहीं थे। हमें पता नहीं कि भारत का सर्वप्रथम नाटक कौन था या कैसा था। परन्तु, भास के पहले का कोई नाटक उपलब्ध नहीं है।

मध्यएशिया में बौद्ध-काल के कुछ नाटक मिले हैं। उनमें कोई भी पूर्ण नहीं है। ताल-पत्र पर लिखे गये प्राप्त अंश केवल हस्तलिखित नाटकों के खण्ड-मात्र हैं। वे कुषाण-काल के हैं। तूर्फान में पाया गया एक अंश कुषाण राजा कनिष्क के राजकवि अश्वघोष द्वारा लिखे गये नौ अंकों के नाटक सारिपुत्त-प्रकरण का खण्ड है। इससे पहले इस नाटक के अस्तित्व के विषय में कोई नहीं जानता था। इस प्रकरण में नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। विदूषक के सम्बन्ध में भी नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि अश्वघोष के समय के पूर्व ही नाट्यशास्त्र की रचना हो गई थी और नाटककार इसके नियमों का पालन करते थे।

निष्कर्ष : अभी नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन किया गया। अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले विद्वानों में प्रायः सभी यूरोपीय ही हैं, जिन्होंने भारत की परम्परा, प्रकृति तथा प्रवृत्ति से अधिकांशतः अनभिज्ञ रहने के कारण अंशतः भ्रान्त मतों की स्थापना कर दी है। किन्तु, यह तो मानना ही होगा कि भारतीय साहित्य के अनुसन्धान तथा अनुशीलन में उन्होंने जो प्रयत्न किये हैं, वे सर्वथा स्तुत्य तथा श्लाघ्य हैं।

प्रस्तुत समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नाटक अपने क्रमिक विकास में अनेक विषयों तथा ग्रन्थों का ऋणी रहा है। उसने कुछ तत्त्व वैदिक साहित्य से लिये, कुछ रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों से लिये, कुछ इतिहास-पुराणों से और कुछ लोकगीतों से लिये। उसे धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों से भी पर्याप्त प्रेरणा मिली। नाट्य का बीज वस्तुतः ऋग्वेद के संवाद में ही पाया जाता है, जो पीछे पल्लवित और पुष्पित होकर नाटक के रूप में विकसित हुआ।

यह भी निश्चित है कि मनोविनोद के लिए नाटक की रचना हुई। मानव संसार और परिवार की चिन्ताओं से ग्रस्त होकर दुःख पाने लगता है। और नहीं तो वह अपने दैनिक व्यवसाय से ऊबकर कुछ क्षण मुक्त वातावरण में विचरण कर अपना मनोविनोद करना चाहता है। इस उद्देश्य से उसने नृत्य, संगीत तथा अभिनय का निर्माण किया। पीछे इन तीनों का समन्वय करके नाट्य की सृष्टि कर ली गई।

पाणिनि के समय तक कुछ नाटक लिखे जा चुके होंगे; क्योंकि उन्होंने अष्टाध्यायी में दो नाट्य-सूत्रकारों शिलाली और कृशाश्व का उल्लेख किया है। इन सूत्रकारों के सूत्र कुछ नाटकों के ही आधार पर रचे गये होंगे। भरत के समय तक तो नाटक का पर्याप्त विकास हो गया होगा, जिसके आधार पर उन्होंने नाट्यशास्त्र की रचना की। लक्ष्य-ग्रन्थों की रचना पहले होती है और उन्हीं को ध्यान में रखकर लक्षण-ग्रन्थ निर्मित

होते हैं। अतः, भारतीय नाट्य-साहित्य काफी प्राचीन है। श्रीवरदाचारी ने सीताबेंगा गुफा-नाट्यशाला के साक्ष्य के आधार पर सिद्ध किया है कि नाटक की उत्पत्ति महाकाव्यों के समय में हुई होगी। सीताबेंगा की गुफा-नाट्यशाला का समय ३०० ई० पूर्व माना गया है। पतंजलि के समय में तो नाटक के विकसित रूप का अभिनय होने लगा था, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है।

पाणिनि का समय यूरोपीय विद्वानों ने ई० पूर्व चौथी शती माना है। भारतीय विद्वान् उनका समय ई० पूर्व ८वीं शती मानते हैं। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति ईसा के ४०० वर्ष पहले अवश्य हो गई होगी।

इस प्रकार, भारतीय नाटक का पूर्ण विकास कई शतियों में हुआ और उसकी उत्पत्ति तथा विकास में अनेक तत्त्वों एवं उपादानों का उपयोग हुआ।

तृतीय अध्याय

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का परिचय

लक्षण-ग्रन्थ : साहित्य में लक्षण-ग्रन्थों और लक्ष्य-ग्रन्थों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। पहले लक्ष्य-ग्रन्थों—काव्य, नाटक आदि—की रचना होती है और फिर उन्हें नियन्त्रण में रखने के लिए लक्षण-ग्रन्थों की। इस प्रकार लक्षण-ग्रन्थ लक्ष्य-ग्रन्थों को जहाँ एक ओर प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ दूसरी ओर उनका नियन्त्रण भी करते हैं। लक्ष्य-ग्रन्थों के रचयिता—कवि, नाटककार आदि—की उच्छृंखलता पर नियन्त्रण रखने के लिए लक्षण-ग्रन्थों की अनिवार्यता सर्वमान्य है। लक्षण-ग्रन्थों की भी रचना पूर्वरचित लक्ष्य-ग्रन्थों को ही आदर्श मानकर होती है, किन्तु फिर ये ही लक्षण-ग्रन्थ परवर्त्ती लक्ष्य-ग्रन्थों के आदर्श और नियामक बन जाते हैं। वाल्मीकि, व्यास आदि महर्षियों की रचनाओं को ही देखकर भामह ने अलंकार-विभाजन किया, परन्तु परवर्त्ती कवियों के लिए भामह का ग्रन्थ नियामक सिद्ध हुआ। यदि पूर्ववर्त्ती कवियों के काव्य-ग्रन्थ नहीं होते, तो भामह के लिए अलंकारशास्त्र पर ग्रन्थ लिखना असम्भव ही होता। वैसे ही, अरस्तू अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पोएतिका' (Poetics) तभी लिख सके जब उनके सामने होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' नामक काव्य-ग्रन्थ और सोफोक्लीज के नाटक वर्त्तमान थे।

यह बात नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में भी लागू होती है। संस्कृत-नाट्यशास्त्र की परम्परा बहुत ही प्राचीन है, साथ ही गौरवपूर्ण भी। ई० पू० चौथी-पाँचवीं शती से लेकर ईसा के बाद १५वीं शती तक अनेक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिभा के योग से इस परम्परा को शक्तिशाली बनाया। संस्कृत में नाट्यशास्त्र के इतने ग्रन्थ लिखे गये, यह इस बात का प्रमाण है कि संस्कृत में नाटक प्रचुर संख्या में विद्यमान थे। भरत का नाट्य-शास्त्र बहुत प्राचीन है और परवर्त्ती आचार्यों के लिए यह ग्रन्थ आद्य उपजीव्य माना गया। भरत के नाट्यशास्त्र के बहुत पहले अवश्य ही पर्याप्त संख्या में नाटक लिखे गये होंगे, जो आज काल-कवलित हो गये और फलस्वरूप अब अप्राप्य हैं।

नाट्याचार्यों की कोटियाँ : यदि नाट्यशास्त्र-विषयक सम्पूर्ण उपलब्ध तथा अनुपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण किया जाय, तो प्रमुख नाट्याचार्यों को निम्नलिखित सात श्रेणियों में बाँट सकते हैं :

१. भरत के पूर्ववर्त्ती आचार्य, जिनकी रचनाएँ अनुपलब्ध हैं और जिनकी रचनाओं को भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में ग्रहण कर लिया है। नाट्यशास्त्र में इसके असंख्य प्रमाण मिलते हैं।

२. आचार्य भरत मुनि, जिनका नाट्यशास्त्र सभी परवर्त्ती नाट्याचार्यों का कई शतियों तक उपजीव्य रहा है।

३. भरत के अनुवर्त्ती आचार्य, जिन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र को अपने ग्रन्थ का आधार बनाया। इन्होंने अपने ग्रन्थ में भरत के ही मत का स्पष्टीकरण किया। इस श्रेणी के आचार्यों में प्रधान हैं—धनंजय, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र शारदातनय, नन्दिकेश्वर आदि।

४. वे आचार्य, जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ तो अप्राप्य हैं, परन्तु परवर्त्ती आचार्यों ने अपनी रचनाओं में जिनके उद्धरण दिये हैं। उदाहरणार्थ, अभिनवगुप्त ने कोहल का उद्धरण दिया है, जिससे पता चलता है कि उन्हें कोहल की कोई रचना उपलब्ध थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने दत्तिलाचार्य के श्लोकों को चौदह बार उद्धृत किया है। सागरनन्दी के 'नाट्यलक्षण-रत्नकोश' में अश्मकुट्ट तथा वादरायण के कई उद्धरण दिये गये हैं। इसी ग्रन्थ में शातकर्णी के भी उद्धरण मिलते हैं। अभिनवगुप्त ने तुम्बुरु तथा कात्यायन के भी उद्धरण दिये हैं। उन्होंने राहुल के भी मत का उद्धरण दिया है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में नखकुट्ट की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। इस श्रेणी के प्रमुख आचार्य हैं : मातृगुप्त, दत्तिल, शातकर्णी, तुम्बुरु, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट, वादरायण, कात्यायन, राहुल आदि।

५. पाँचवीं श्रेणी में उन आचार्यों की गणना होगी, जिनकी न कोई रचना मिलती है और न किसी श्लोक का उद्धरण ही मिलता है, केवल उनका नामोल्लेख ही पाया जाता है। ऐसे आचार्यों में भरत के पूर्ववर्त्ती हैं : शिलाली, कृशाश्व, धूर्त्तिल, शाण्डिल्य, वात्स्य। अभिनवगुप्त, धनंजय तथा शारदातनय ने सदाशिव, पद्मभू, द्रोहिणि, व्यास, आंजनेय नामक आचार्यों का नामोल्लेख किया है, परन्तु इनकी किसी रचना का उद्धरण नहीं मिलता। शारदातनय ने सुबन्धु का भी उल्लेख किया है। किन्तु, यह कहना कठिन है कि ये सुबन्धु वासवदत्ता के रचयिता हैं या अन्य कोई।

६. छठी श्रेणी में उन आचार्यों की गणना होगी, जिन्होंने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं करके भरत के नाट्यशास्त्र का भाष्य लिखा है। ऐसे भाष्यकारों में अभिनव-गुप्त, श्रीशंकुक, कीर्त्तिधर, नान्यदेव, भट्ट उद्भट, भट्ट यन्त्र, भट्ट लोल्लट आदि प्रख्यात हैं।

७. सातवीं श्रेणी में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन करके किसी अध्याय में नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया है। ऐसे आचार्यों में शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी, विद्यानाथ, राजा भोज और विश्वनाथ के नाम लिये जा सकते हैं। राजा भोज ने श्रृंगारप्रकाश के १२वें अध्याय में नाटक का विवेचन किया और शेष में साहित्य के सभी अंगों का वर्णन किया। उन्होंने अपने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के पाँचवें परिच्छेद में नाट्यशास्त्र का विवेचन किया और शेष में काव्यशास्त्र के सभी अंगों का। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में और विद्यानाथ ने प्रताप-रुद्र-यशोभूषण के तीसरे प्रकरण में नाटक का विवेचन किया। शिंगभूपाल ने अपने ग्रन्थ रसार्णव-सुधाकर में नाट्य-विषय को लेकर नाटक-परिभाषा की रचना की और इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग में काव्य के अन्य विषयों के साथ नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया।

इन सभी आचार्यों ने भरत के नाट्यशास्त्र और धनंजय के दशरूपक को अपनी रचना का आधार बनाया।

अब यहाँ नाट्य-सिद्धान्त के रचनाकारों और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है। सुविधा के लिए कालक्रमानुसार उनके तीन भाग कर सकते हैं : १. भरत के पूर्ववर्त्ती आचार्य, २. मध्यवर्त्ती आचार्य और ३. उत्तरवर्त्ती आचार्य।

भरत के पूर्ववर्त्ती आचार्य

नाट्य-सिद्धान्त पर लिखे गये ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध है, परन्तु जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के पहले भी व्याकरण के कई ग्रन्थ थे, और जिनका उल्लेख पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में किया है, उसी प्रकार भरत के पहले भी कई नाट्याचार्य हो गये हैं, जिनका उल्लेख भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। भरत के उल्लेख के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उनके पूर्व भी नाट्य-विषयक ग्रन्थों के कई प्रणेता थे।

शिलाली तथा कृशाश्व : पाणिनि ने अपने व्याकरण-ग्रन्थ में शिलाली तथा कृशाश्व नामक नटसूत्रों के रचयिता दो नाट्याचार्यों का उल्लेख किया है। वे नटसूत्र हैं : **पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः** (४।३।११०) और **कर्मन्दकृशाश्वादिनिः** (४।३।१११)। ये नट-सूत्र नाट्यशास्त्र पर लिखे गये मौलिक सूत्र रहे होंगे, परन्तु भरत का नाट्यशास्त्र बन जाने पर उनका लोप हो गया होगा। प्रो० हिलेब्राण्ट ने भी माना है कि नाट्यशास्त्र पर भारत में सबसे प्राचीन ग्रन्थ इसे ही माना जाना चाहिए और यह अभिनेताओं के लिए लिखा गया था। सिल्वाँ लेवी भी यही मानते हैं। किन्तु, डॉ० कीथ का मत है कि ये नियम केवल नर्त्तकों एवं नटों के लिए बनाये गये होंगे और पाणिनि के समय में नाटक की विद्यमानता का कोई अन्य प्रमाण नहीं मिलता। उन्होंने 'नट' शब्द का अर्थ मौन अभिनय या मुद्रा-निरूपण स्वीकार किया है। उनका मत है कि इन सूत्रों का सम्बन्ध नाट्यशास्त्र से नहीं है। कोनो का कथन है कि इन दोनों के ग्रन्थों का अन्तर्भाव नाट्यशास्त्र में हो गया होगा। किन्तु, नटविद्या और बाजीगरी के लिए सूत्रों में रचने की कल्पना संगत नहीं जान पड़ती। वस्तुतः, यहाँ नट का अर्थ अभिनेता है।

पाणिनि के प्रयोग से जान पड़ता है कि शैलालिन् तथा कृशाश्विन् दो प्रकार के सम्प्रदाय के लोग थे, जो अपने आचार्यों के नाम पर पुकारे जाते थे; अर्थात् ये दोनों नाट्य-सम्प्रदाय थे। वस्तुतः, कृशाश्व तथा शिलाली दोनों आचार्यों ने अपने अलग-अलग संस्थान स्थापित किये, जहाँ नाट्यशास्त्र की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इन संस्थानों में शिक्षा प्राप्त कर अभिनेता होते थे, शौभिक या निर्देशक होते थे। ऐसे ही शौभिक का उल्लेख पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है, जो अपने एक अभिनेता को घायल कंस का अनुकरण करने का ढंग सिखाता है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि डॉ० कीथ ने नट-सूत्रों को अवाक् अभिनय के अर्थ में ग्रहण किया है और उनके मत से इन्हें नाटक के अन्तर्गत गिनना उचित नहीं। किन्तु, यह मत असिद्ध हो जाता है। पतंजलि ने पाणिनि के एक सूत्र (१४।८९) का भाष्य करते हुए लिखा है : 'नटस्य शृणोति' अर्थात् अभिनेता की कही हुई बात श्रोता या दर्शक सुनता है। इसे ध्यान में रखकर डॉ० एस्० एम्० दासगुप्त का निष्कर्ष है कि दर्शक रंगशालाओं में स्पष्टतः वार्त्तालाप सुनने जाते थे, मुद्राभिनय देखने नहीं। इस तर्क के बल पर माना जा सकता है कि ई० पूर्व तीसरी शती में इस देश में रंगशालाएँ वर्त्तमान थीं, जिनमें पौराणिक आख्यानों के आधार पर अभिनय होते थे और अभिनेता सम्भाषण का भी प्रयोग करते थे।[1] साथ ही यह भी कहना ठीक होगा कि शिलाली और कृशाश्व के नट-सूत्रों की रचना उस समय हुई जब इस प्रकार के अभिनय पर्याप्त रूप से लोकप्रिय थे।

आगे चलकर अमरकोश में इन दोनों के नाम भरत के साथ नट के पर्याय-रूप में माने गये हैं। अमरसिंह ने अपने कोश में सम्भवतः चार परम्पराओं का उल्लेख किया है—शिलाली द्वारा प्रवर्त्तित नट-सूत्र, जिसके आधार पर अभिनय करनेवाले शैलूष कहे जाते थे; कृशाश्व द्वारा प्रवर्त्तित नट-सूत्र, जिनके आधार पर जायाजीव अभिनय करते थे; भरत द्वारा रचित नाट्यशास्त्र, जिसके आधार पर नट अभिनय करते थे, एवं लोकगाथाओं के गानेवाले कुशीलव।[2] इनके ग्रन्थों और सूत्रों के विषय में हम अन्धकार में हैं, अतः नहीं कहा जा सकता कि इनका समय कब रहा होगा।

कोहल : कोहल भी भरत के पूर्ववर्त्ती नाट्याचार्य हैं। आजकल इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु भरत, अभिनवगुप्त, शारदातनय आदि ने इनका और इनके मत का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है। भरत के नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल—इन चार प्राचीन नाट्याचार्यों का एक ही श्लोक में उल्लेख हुआ है :

कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्द्धनम्॥[3]

अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में अनेक स्थलों पर कोहल के मत का स्पष्ट उल्लेख किया है; जैसे प्रथम अध्याय में नान्दी का विवेचन करते समय **'इत्येषापि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति।'**[4] षष्ठ अध्याय के दशम श्लोक में रस, भाव आदि ग्यारह अंगों का उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त का मत है कि ये अंग भरत के मत से नहीं, वरन् कोहल के मत से हैं। इस प्रसंग में उन्होंने लिखा है :

१. हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर; दासगुप्त एण्ड डे; पृ० ६४०
२. अमरकोश, १०।१२
३. नाट्यशास्त्र, अध्याय ३६, श्लोक ७१
४. हिन्दी-अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० १३७

अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते । न तु भरते ।[1]

इसी तरह कतिपय अन्य स्थलों पर भी अभिनवगुप्त ने भरत मुनि के मत से अन्तर दिखाते हुए कोहल के मत का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के पहले कोहल का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रसिद्ध था, जिसके आधार पर अभिनवगुप्त ने उनके मत का स्पष्ट उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है।

केवल यही बात नहीं है कि अभिनवगुप्त ने कोहल के मत का उल्लेख अपने शब्दों में किया, प्रत्युत कई स्थलों पर उन्होंने कोहल के ही श्लोक उद्धृत किये हैं। चतुर्थ अध्याय (बड़ौदा-संस्करण, पृ० १८०) **'तदुक्तं कोहलेन'** लिखकर—दो श्लोक, फिर अगले पृ० १८१ पर **'तदुक्तं चिरन्तनैः'** से फिर आठ श्लोक और अगले पृ० १८२ पर **'यथोक्तं कोहलेन'** लिखकर एक श्लोक स्पष्ट रूप से कोहल के नाम से उद्धृत है। इस प्रकार, नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती मिलाकर आठ स्थानों पर कोहल का उल्लेख किया गया है।

परवर्त्ती आचार्यों में शारदातनय ने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' में अनेक प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध नाट्याचार्यों के मतों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने कोहल और उनके मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। सप्तम अधिकार में बीज के विषय में कोहल का मत उद्धृत है : **तस्याविच्छेदको हेतुः बिन्दुरित्याह कोहलः ।**[2] पताका के विषय में कोहल का उल्लेख : **तस्मात्पताका स्यान्नेति विकल्पं प्राह कोहलः ।**[3] अष्टम अधिकार में अंक-कार्यकाल के विषय में कोहल का उल्लेख : **प्रयुज्यते यदि भवेत्तत्राङ्क इति कोहलः ।**[4] भाण के लक्षण में कोहल का मत : **कोहलादिभिराचार्यैरुक्तं भाणस्य लक्षणम् ।**[5] सन्धि के विषय में कोहल का मत : **मुखनिर्बहणे सन्धिरिति कोहलभाषितम् ।**[6]

'कुट्टनीमत' में कोहल को भरत के साथ नृत्य का आचार्य माना गया है। 'रसार्णव-सुधाकर' में कोहल को भरतपुत्रों में स्मरण किया गया है।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कोहल प्रसिद्ध नाट्याचार्य थे। उन्होंने नाट्य के विविध अंगों, नृत्य तथा संगीत पर अधिकृत रूप से लिखा था और नाट्याचार्य के रूप में उनकी प्रतिष्ठा रही है। किन्तु, अब उनका ग्रन्थ अप्राप्य है।

धूर्त्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य : नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय का सूत्र ऊपर उद्धृत किया गया है, जिसमें कोहल के साथ धूर्त्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य का भी उल्लेख

१. हिन्दी-अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४१६
२. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० २०४
३. वही, पृ० २१०
४. वही, अष्टम अधिकार, पृ० २३६
५. वही, पृ० २४५
६. वही, पृ० २५१

भरत के श्लोक में किया गया है। इससे जान पड़ता है कि ये तीनों आचार्य पूर्ववर्त्ती हैं, यद्यपि ये तथा अनेक अन्य आचार्य भी भरत के पुत्रों में गिनाये गये हैं। अभिनवगुप्त ने दत्तिल का भी उल्लेख कोहल के ही समान अपने ग्रन्थ में किया है। संगीतवाले अध्याय में दत्तिल के मत का उल्लेख लगभग १४ बार किया है और उनके उद्धरण भी दिये हैं। 'कामसूत्र' में संकेत मिलता है कि पाटलिपुत्र की गणिकाओं के अनुरोध से उनके दैसिक भाग की रचना दत्तकाचार्य (दत्तिलाचार्य) ने की। रामकृष्ण कवि ने उनके ग्रन्थ 'गान्धर्ववेदसार' का उल्लेख किया है, जो अब अप्राप्य है। इससे सिद्ध हो जाता है कि कोहल के समान दत्तिल भी नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं, जो भरत के पहले हो चुके हैं। ऊपर उद्धृत किये गये भरत मुनि के श्लोक में वात्स्य और शाण्डिल्य के भी नाम आये हैं। परन्तु, अभिनवगुप्त ने उनका कोई उद्धरण नहीं दिया। इसलिए, यह स्पष्ट रूप से कहना कठिन है कि उन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं।

नखकुट्ट और अश्मकुट्ट : नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट को भी भरत के सौ पुत्रों (या शिष्यों) में गिनाया गया।[1] उसी प्रकार कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य को भी पुत्रों में गिनाया गया है। परन्तु, जिस प्रकार कोहल और दत्तिल के उद्धरण अभिनवभारती आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं, उसी प्रकार नखकुट्ट और अश्मकुट्ट के भी उद्धरण अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं। ये दोनों आचार्य समकालीन जान पड़ते हैं और यह भी जान पड़ता है कि दोनों एक ही स्थान के निवासी थे। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में नखकुट्ट का उद्धरण दिया है। सागरनन्दी ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यलक्षण-रत्नकोश' में अश्मकुट्ट के अनेक उद्धरण दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनके समय तक इन दोनों आचार्यों की रचनाएँ वर्त्तमान थीं। स्पष्ट है कि ये दोनों नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य हैं।

बादरायण : भरत-पुत्रों की सूची में बादरायण का भी नाम आया है।[2] सागरनन्दी ने 'नाट्यलक्षण-रत्नकोश' में दो स्थलों पर बादरायण या बादरि के नाम से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार बादरायण भी नाट्य पर विचार करनेवाले आचार्य हैं। इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि बादरायण या बादरि ने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा, जो आजकल उपलब्ध नहीं है।

शातकर्णी या शालिकर्ण : शालीकर्ण, शालिकर्ण, शातकर्णी और शातकर्णि सम्भवतः एक ही व्यक्ति के नाम हैं। सिलेक्ट 'इन्सक्रिप्शन्स' (Select Inscriptions) के पृ० १९१–२०७ के अनुसार विक्रम-पूर्व प्रथम शती से लेकर विक्रम-पश्चात् प्रथम शती के शिलालेखों में शातकर्णी का नाम देखा जाता है। सागरनन्दी के ग्रन्थ 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' और रुचिपति-कृत टीका में शातकर्णी के उद्धरण मिलते हैं। शिलालेखों पर नाम होने से

१. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, श्लोक ३३

२. वही, श्लोक ३२

अनुमान होता है कि ये राजा या राजपुरुष थे और इन्होंने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा और ये कोई प्राचीन नाट्याचार्य रहे होंगे। इनका समय बहुत सुविधापूर्वक निश्चित किया जा सकता है; क्योंकि कुछ निश्चित समय के शिलालेखों में इनके नाम का उल्लेख मिलता है।

कालिदास ने रघुवंश के त्रयोदश सर्ग के ३८–४० संख्या के श्लोकों में शातकर्णि मुनि के विषय में लिखा है। ये मुनि इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं के मोह-जाल में फँस गये थे। रामचन्द्र जब पुष्पक विमान में बैठकर लंका से अयोध्या लौट रहे थे, इनके आश्रम से उठी हुई संगीत-ध्वनि पुष्पक विमान तक पहुँच रही थी। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय, श्लोक-संख्या २८ में शालिकर्ण नाम लिखित है। सम्भव है कि शातकर्णी और शालिकर्ण एक ही व्यक्ति के नाम हों।

विशाखिल : काणे ने विशाखिल को भी एक पूर्ववर्त्ती नाट्याचार्य माना है। उनकी इस मान्यता का आधार वामन की काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति (१; ३; ७), कुट्टनीयत (५; १२३) और अभिनवभारती का साक्ष्य है।

मध्यवर्त्ती नाट्याचार्य

नन्दी (नन्दिकेश्वर) : नन्दी, नन्दि या नन्दिकेश्वर नामक नाट्याचार्य का उल्लेख अभिनवगुप्त और शारदातनय ने किया है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के चतुर्थ अध्याय में नन्दिमत का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिससे जान पड़ता है कि वे नन्दिकेश्वर से अवश्य परिचित थे। शारदातनय ने भावप्रकाशन में नन्दिकेश्वर और नन्दी का उल्लेख किया है :

इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः।[1]
उवाच वाक्यं ब्रह्माणं नन्दी तच्चिन्तितार्थवित्॥[2]

शारदातनय ने नन्दिकेश्वर को भरत का गुरु बताया है। नन्दिकेश्वर ने भरत को नाट्यशास्त्र पढ़ाया और इसका प्रचार भारतों में करने की आज्ञा दी। नन्दिकेश्वर का नाम राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिया है और रसाधिकरण का आचार्य माना है :

रूपकनिरूपणं भरतः रसाधिकरणं नन्दिकेश्वरः।

इस प्रकार, यदि नन्दिकेश्वर भरत के गुरु नहीं तो समान कोटि के आचार्य ज्ञात होते हैं। ३३४ श्लोकों के उनके ग्रन्थ अभिनयदर्पण में भरत का नाम कई स्थानों पर आया है और नाट्यवेद-विषयक प्रसिद्ध कथा का भी उल्लेख है, जिसमें बताया गया है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद भरत को सौंपा था। इससे स्पष्ट होता है कि अभिनयदर्पण भरत के बाद की कृति है।

---

१. भावप्रकाशन, तृतीय अधिकार, पृ० ५६
२. वही।

तुम्बुरु और चारायण : अभिनवगुप्त ने **'तुम्बुरेणेदमुक्तम्'** लिखकर आगे तुम्बुरु का उद्धरण दिया है। सागरनन्दी ने 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' में एक स्थल पर (श्लोक-संख्या २६२-६३ में) चारायण आचार्य का उल्लेख किया है। इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि ये दोनों मध्यकालीन नाट्याचार्य थे और सम्भवतः इन्होंने ग्रन्थ-रचना भी की थी।

सदाशिव : शारदातनय, धनंजय और अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थों में सदाशिव का उल्लेख किया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में रस-स्वरूप के प्रसंग में लिखा है :

प्रोक्तः सदाशिवेनास्य स्वरूपाश्रयनिर्णयः।[1]

और इसके बाद सदाशिव का उद्धरण दिया है। इसी प्रकार, दशरूपक में भी सदाशिव के मत का उल्लेख किया गया है। अभिनवभारती में ब्रह्म और भरत के साथ सदाशिव का भी उल्लेख है।

पद्मभू, द्रौहिणि, व्यास और आंजनेय : शारदातनय ने भावप्रकाशन में पद्मभू (पृ० ४७), द्रौहिणि (पृ० २३९), व्यास (पृ० २५१) और आंजनेय (पृ० २५१) का भी उल्लेख नाट्यकार के रूप में किया है।

तस्मान्नाट्यस्य रसा अष्टाविति पद्मभुवो मतम्।[2]
सात्त्वती वृत्तिरत्र स्यादिति द्रौहिणिरब्रवीत्।[3]
व्यासाञ्जनेयगुरवः प्राहुरङ्गत्रयं यदा।[4]

परन्तु, भावप्रकाशन में उनके केवल नाम का ही उल्लेख है, कोई उद्धरण नहीं दिया गया है। अतः यह कहना कठिन है कि इन आचार्यों ने किसी ग्रन्थ की भी रचना की थी या नहीं।

कात्यायन : अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के १४वें अध्याय में **'यथोक्तं कात्यायनेन'** लिखकर :

वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।
नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम्॥
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे।[5] इत्यादि।

यह कात्यायन का उद्धरण दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कात्यायन नाट्यशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र के किसी ग्रन्थ के रचयिता हैं। सागरनन्दी के 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' में भी कात्यायन उल्लिखित हैं।

---

१. भावप्रकाशन, षष्ठ अधिकार, पृ० १५२
२. वही, द्वितीय अधिकार, पृ० ४७
३. वही, अष्टम अधिकार, पृ० २३९
४. वही, पृ० २५१
५. अभिनवभारती : अध्याय १४, पृ० २४५-४६

राहुल तथा गर्ग : अभिनवभारती के चतुर्थ अध्याय (पृ० १३३ पर) अभिनवगुप्त ने राहुल का उद्धरण दिया है और आगे (पृ० १७० पर) **'यथोक्तं राहुलेन'** तथा **'ते च यथाह राहुलः'** लिखकर उद्धरण दिये हैं। इन पंक्तियों तथा उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि राहुल ने भी नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा। इस बात की पुष्टि सागरनन्दी के द्वारा हो जाती है; क्योंकि उन्होंने भी 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' में राहुल का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि राहुल ने नाट्य-सिद्धान्त पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा। सागरनन्दी ने गर्ग का भी उल्लेख किया है, परन्तु इनका कोई उद्धरण प्रस्तुत नहीं किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की होगी।

शकलीगर्भ तथा घण्टक : अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के द्वितीय अध्याय में शकलीगर्भ नामक नाट्याचार्य का उल्लेख किया है। फिर उसी अध्याय में अन्यत्र 'घण्टकादपरत्वाहुः' लिखा है जिसमें घण्टक नामक किसी दूसरे नाट्याचार्य का उल्लेख हो जाता है। इससे जान पड़ता है कि मध्यकाल के नाट्याचार्यों में शकलीगर्भ तथा घण्टक नामक आचार्यों ने भी नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की थी। घण्टक श्रीशंकुक के समसामयिक जान पड़ते हैं, परन्तु शकलीगर्भ के समय के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है।

वार्त्तिककार हर्ष : अभिनवभारती के अनेक स्थलों पर अभिनवगुप्त ने वार्त्तिककार का उल्लेख किया है। प्रथम भाग के पृ० १७० पर **'वार्त्तिककृताप्युक्तम्'**, पृ० १७२ पर **'यद्वार्त्तिककार'**, पृ० २०९ पर **'श्रीहर्षस्तु'**, पृ० २१० ,**उक्तं च वार्त्तिके'** आदि शब्दों में वार्त्तिककार का स्पष्ट उल्लेख अनेक प्रकार के हुआ है। सागरनन्दी ने नाट्यलक्षणरत्नकोश में (श्लोक ३२२५) हर्ष विक्रम वार्त्तिककार का उल्लेख किया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में **'तदेव त्रोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्'**[1] लिखकर हर्ष का उल्लेख किया। इससे जान पड़ता है कि हर्ष या हर्षविक्रम नाम के किसी आचार्य ने इस वार्त्तिक की रचना की। यह वार्त्तिक सम्भवतः नाट्यशास्त्र पर ही लिखा गया था। परन्तु, कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वार्त्तिक नाट्यशास्त्र की व्याख्या के रूप में नहीं था, प्रत्युत कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा। काणे के मतानुसार हर्ष-वार्त्तिक में नाटक-सम्न्बधी सभी प्रकार की सामग्री प्राप्त होने की सम्भावना है। अनुमान है कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्या छन्द में रचा गया था; बीच में गद्य-भाग और नाट्य-साहित्य के उद्धरण भी दिखाई देते हैं। रामकृष्ण कवि ने अंगहारों के वार्त्तिक के एक अंश के प्राप्त होने की सूचना गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज द्वारा प्रकाशित नाट्यशास्त्र के द्वितीय भाग की भूमिका में दी है : "The following Vartika on Sthira hasta (first Angahara) may be compared with our commentator's observations on the same (Vol. 1, Page 140).

इत्येवं करणग्रामः सम्यग्योजनया कृतः।
निर्वर्त्तत्यङ्गहारः स्थिरहस्तसमाह्वयम् ॥[2]

---

१ **भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २३८**

२. **नाट्यशास्त्र, द्वितीय भाग, भूमिका।**

राजतरंगिणी में हर्ष विक्रमादित्य नामक राजा का वर्णन मिलता है, जिनके द्वारा मातृगुप्त नामक कवि को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है। अनुमान लगाया जाता है कि हर्षवार्त्तिक की रचना करनेवाले ये ही हर्ष विक्रमादित्य रहे होंगे।

इसी प्रकार, अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती के द्वितीय अध्याय, पृ० ४३६ पर संग्रह और संग्रहकार का उल्लेख किया है। भरत ने भी नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय, कारिका ३ और १० में संग्रह की चर्चा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के समय में कोई संग्रह विद्यमान था, जिसे अभिनवगुप्त भी जानते थे। सम्भवतः, इसमें सभी पूर्वाचार्यों के मतों का संग्रह था और यह भी सम्भव जान पड़ता है कि इसी के आधार पर भरत ने भी अपने ग्रन्थ की योजना बनाई हो। संग्रहकर्त्ता का नाम अज्ञात ही है, किन्तु यह भी सम्भव है कि स्वयं भरत ने यह कार्य किया हो और इसलिए यह ग्रन्थ आगे चलकर आदिभरत के नाम से विख्यात हो गया हो।

मातृगुप्त : इस मध्ययुग के नाट्यकारों में मातृगुप्त का भी नाम सम्मान से लिया जाता है। सिल्वाँ लेवी ने इन्हें नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार माना है, किन्तु कतिपय अन्य व्याख्याकारों ने उनके जो उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे प्रतीत होता है कि इन्होंने इस विषय में किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी। यह सम्भव है कि इन्होंने स्थान-स्थान पर नाट्यशास्त्र के मत की व्याख्या गद्य में की हो।

काश्मीर के राजा हर्ष विक्रमादित्य के साथ मातृगुप्त का नाम राजतरंगिणी में मिलता है। राघव भट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में मातृगुप्ताचार्य के नाम से कई पद्य उद्धृत किये हैं। यह पद्य नाटक के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत हुए हैं; जैसे नान्दी, सूत्रधार, नाटक तथा यवनिका के लक्षण देते समय राघव भट्ट ने मातृगुप्ताचार्य के ही पद्य प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने पृ० १५ पर भरत के आरम्भ और बीज से सम्बद्ध पद्य उद्धृत करते समय लिखा है :

अत्र विशेषो मातृप्गुताचार्यैरुक्तः।
क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम् ॥[1]

इन उद्धरणों से अनुमान लगाने का कारण है कि मातृगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। शारदातनय ने भी भावप्रकाशन के पृ० २३४ पर मातृगुप्त का मत उद्धृत किया है। सन् १६१३ ई० में सुन्दर मिश्र ने 'नाट्यप्रदीप' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय के २५ तथा २८ संख्या के दो श्लोकों के अनुसार नान्दी का लक्षण दिया है। उस पद्य की व्याख्या करते समय मातृगुप्त के मत का उल्लेख इन शब्दों में वर्णित है :

अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशाङ्घ्रिपदापीयमुदाहृता।[2]

---

१. आचार्य विश्वेश्वर द्वारा उद्धृत, हिन्दी-अभिनवभारती, भूमिका, पृ० १२
२. वही, भूमिका, पृ० १३

इस उद्धरण से जान पड़ता है कि मातृगुप्त भरत के नाट्यशास्त्र के व्याख्याता तथा टीकाकार हैं, परन्तु राघव भट्ट द्वारा प्रस्तुत उद्धरणों से स्पष्टत: प्रतीत होता है कि इन्होंने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी।

कुछ लोग कालिदास के साथ मातृगुप्त का कोई सम्बन्ध जोड़ते हैं और कुछ लोग दोनों को एक ही मानते हैं। यह कथा भी प्रचलित है कि थोड़े समय के लिए मातृगुप्त काश्मीर के राजा भी हुए थे। परन्तु, आधुनिक विद्वान् इसका कोई उल्लेख नहीं करते। इनके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। अभिनव ने इनका उद्धरण दिया है, अत: ये अभिनव के पूर्ववर्त्ती हैं। इसके अतिरिक्त सागरनन्दी ने, जो अभिनवगुप्त के पूर्ववर्त्ती हैं, मातृगुप्त का नामोल्लेख किया है। यदि वार्त्तिककार हर्ष राजतरंगिणी में वर्णित काश्मीर के महाराजा हर्ष विक्रमादित्य ही हैं और यदि ये मातृगुप्त उस ग्रन्थ में वर्णित उनके समकालीन मातृगुप्त ही हैं, तो इनका समय चतुर्थ शती के अन्त और पंचम शती के आरम्भ में माना जा सकता है। उनके ग्रन्थ के उद्धरणों से पता चलता है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र-सिद्धान्त तथा संगीतशास्त्र पर लिखा था।

सुबन्धु : शारदातनय ने भावप्रकाशन में सबन्धु का उल्लेख निम्नलिखित पंक्ति में किया है :

सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पञ्चधा।[1]

तदनन्तर उन्होंने सुबन्धु के मतानुसार नाटक के पाँच भेदों का विवेचन किया है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि ये सुबन्धु कौन थे। यह भी कहना कठिन है कि ये नाट्याचार्य सुबन्धु और प्रख्यात गद्यकाव्य वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न-भिन्न व्यक्ति। यदि वासवदत्ता के रचयिता से शारदातनय का अभिप्राय है तो इनका समय पंचम शती में माना जाना चाहिए।

मारुति : शारदातनय ने भावप्रकाशन में नायिका-भेद के प्रसंग में मारुति नामक किसी नाट्याचार्य का उल्लेख निम्नलिखित पंक्ति में किया है :

साधारणास्ते सर्वासां स्त्रीणामित्याह मारुति:।[2]

किन्तु, अन्य विद्वानों ने इनके विषय में कुछ नहीं लिखा। अत:, इनके विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्भवत:, इन्होंने भी नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा हो।

वासुकि : शारदातनय ने भावप्रकाशन में रसोत्पत्ति के प्रसंग में वासुकि का मत बहुत विस्तार से उद्धृत किया है; नामोल्लेख-मात्र नहीं किया है :

इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भव:।[3]

---

१. भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २३८

२. वही, पंचम अधिकार, पृ० ११४

३. वही, द्वितीय अधिकार, पृ० ३७

संभवतः इन्होंने भी नाट्य-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा है। अन्य ग्रन्थकारों ने इनका भी नामोल्लेख नहीं किया है।

अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर—अग्निपुराण में नाट्य, नृत्य, रस आदि का बहुत विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इसमें ३३७ से ३४१ तक के अध्याय नाट्यकला पर हैं। ३३७वें अध्याय में नाटकों के भेद, प्रस्तावना, अर्थ-प्रकृति तथा पंच सन्धियों, ३३८वें में रस, स्थायीभाव, अनुभावादि एवं नायक-नायिका के विवरण हैं। ३३९वें में चार रीतियों तथा चार वृत्तियों का, ३४०वें में नृत्यकला के अंग-विक्षेप और ३४१वें में अभिनय का विवेचन किया गया है। अग्निपुराण का समय दण्डी के बाद सप्तम शती में माना जाता है। इसी तरह विष्णुधर्मोत्तर में भी नाट्य, नृत्य आदि का विचार काफी विस्तार से किया गया है। किन्तु, यह सम्पूर्ण विवेचन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के ही आधार पर हुआ है। अनेक स्थलों पर भरत की ही कारिकाएँ उद्धृत कर दी गई हैं। अतः, इन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता।

भरत मुनि : भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का भारतीय साहित्य में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस अकेले ग्रन्थ में नाट्य का जितना पूर्ण विवेचन मिलता है, उतना पूर्ण और सांगोपांग वर्णन संसार के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक शास्त्रों, शिल्पों आदि का विवेचन है। स्वयं भरत मुनि ने इस ओर संकेत किया है :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न विद्यते ॥[1]

वस्तुतः, नाट्यशास्त्र में अनेक शास्त्रों, अनेक कलाओं, अनेक शिल्पों और अनेक विद्याओं का विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के तत्सम्बन्धी ज्ञान का इसे कोश ही कहा जा सकता है।

नाटकों के मूल तत्त्वों, रंगमंच तथा अन्य आवश्यक उपकरणों के विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन के साथ ही तत्कालीन समाज की मनोवृत्तियों और विशिष्टताओं का अद्भुत चित्रण इस ग्रन्थ में देखा जा सकता है। ऋषियों के प्रश्न के उत्तर में भरत ने बताया कि चूँकि वेद शूद्रों द्वारा नहीं पढ़े जा सकते, अतः इस सार्वर्वणिक वेद की रचना हुई। इस विशाल ग्रन्थ में कला-सम्बन्धी किसी भी पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्राप्त किया जा सकता है। भाषा, अलंकारशास्त्र, संगीत, नृत्य, चित्रकला, रंगसाजी, स्थापत्य तथा मूर्त्तिकला का एक स्थान पर इतना विस्तृत विवेचन विश्व के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिल सकता। प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का यह उपजीव्य ग्रन्थ है, जिसने हजारों वर्षों तक मनुष्यों के मानस पर प्रभाव डाला है।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, कारिका ११६

भारत में नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है। साहित्यिक मान्यताओं और परवर्त्ती आचार्यों की रचनाओं में दिये गये संकेत से पता चलता है कि भरत प्रथम नाट्याचार्य थे। परवर्त्ती आचार्य धनंजय ने दशरूपक में भरत की वन्दना आद्याचार्य के रूप में की है (१-२)। धनंजय के समय तक (सन् ९७४—९९५ ई०) भरत को आद्याचार्य का गौरव प्राप्त था। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में रूपक का आचार्य भरत को बताया है : **'रूपकनिरूपणं भरतः'**। इस प्रकार कई प्रमाण मिलते हैं, जो भरत को नाट्यशास्त्र का प्रथम आचार्य घोषित करते हैं। किन्तु, वर्त्तमान नाट्यशास्त्र को देखकर इसे संस्कृत-नाट्य-समीक्षा की परिणति मानना अधिक समीचीन होगा, आदि स्थापना या व्यवस्था का प्रयत्न मानना अपेक्षाकृत कम।

प्रश्न उठता है कि यह किस भरत का लिखा ग्रन्थ है। यह थोड़ा जटिल और विवादास्पद प्रश्न है। इसमें तो सन्देह नहीं कि भरत मुनि इसके रचयिता हैं, परन्तु भरत मुनि के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है। भारतीय परम्परा में कतिपय व्यक्ति भरत नाम के पाये जाते हैं। रामचन्द्र के छोटे भाई भरत या दुष्यन्त के पुत्र भरत या मान्धाता के पौत्र भरत नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि नहीं हो सकते; क्योंकि वे राजपुत्र थे, मुनि नहीं। भरत नाम के इन तीन व्यक्तियों के अतिरिक्त आदिभरत, वृद्धभरत तथा जड भरत नाम के तीन भरतों का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में प्राप्य है। इन्हीं में एक, दो या तीनों को नाट्यशास्त्र का प्रणेता माना जा सकता है। नाट्यशास्त्र का जो रूप आज उपलब्ध है, वह मूल रूप में नहीं है। कई बार इसका सम्पादन हो चुका है। अतः, माना जा सकता है कि तीनों भरत किसी-न-किसी रूप में नाट्यशास्त्र के निर्माता थे। भावप्रकाशन में शारदातनय ने नाट्यशास्त्र के दो संस्करणों का स्पष्ट उल्लेख किया है। इनमें प्रथम संस्करण का रचयिता आदिभरत या वृद्धभरत को और द्वितीय संस्करण का रचयिता भरत को माना जाता है। आदिभरत या वृद्धभरत ने जो नाट्यशास्त्र लिखा था, वह कलेवर और आकार में वर्त्तमान नाट्यशास्त्र से दूना बड़ा था। उसमें बारह हजार श्लोक थे, इसलिए उसे द्वादशसाहस्री संहिता कहते हैं। वर्त्तमान नाट्यशास्त्र में छह हजार श्लोक हैं, अतः इसे षट्साहस्री संहिता कहते हैं। पहलेवाले दीर्घकाय नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप छह हजार श्लोकों का लघुरूप भरत ने बनाया। इन दोनों संहिताओं में यही भेद है। दोनों संहिताओं का उल्लेख शारदातनय ने निम्नलिखित श्लोक में किया है :

एकं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्द्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य सङ्ग्रहः॥[1]

इससे सहज अनुमान हो सकता है कि जिन्होंने द्वादशसाहस्री संहिता की रचना की थी, उन्हें भरत या वृद्धभरत की संज्ञा से याद किया गया और जिन्होंने षट्साहस्री संहिता का निर्माण किया, उन्हें केवल भरत कहा गया।

---

१. भावप्रकाशन, दशम अधिकार, पृ० २८७

यह बहुत जटिल तथा विवादास्पद प्रश्न रहा है कि दोनों रचनाओं में कौन रचना पूर्व की है। पिशेल तथा मैक्डोनल विस्तृत रचना को प्राचीन मानते हैं, परन्तु लक्ष्मणस्वरूप लघु रचना को प्राचीन मानने के पक्ष में हैं। रामकृष्ण कवि विस्तृत रचना को प्राचीन मानने के पक्ष में हैं। यह निर्विवाद है कि १०वीं शती तक दोनों रचनाओं का प्रचार हो चुका था। बहुरूप मिश्र ने दशरूपक की टीका में विस्तृत और लघु दोनों से उद्धृत किया है। धनंजय ने दशरूपक में लघुपाठ से उद्धृत किया, तो भोज ने बृहत् पाठ से उद्धृत किया। अभिनवगुप्त ने लघुपाठ को अपना आधार बनाया। मनमोहन घोष ने रामकृष्ण कवि का मत स्वीकार किया और इसके पक्ष में अन्य तर्क भी दिये हैं। किन्तु, ऐसा जान पड़ता है कि दोनों पाठों या रचनाओं में रचना-विस्तार के अन्तर के अतिरिक्त कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। "ऐसी स्थिति में यह कल्पना भी की जा सकती है कि पूर्ववर्त्ती रचयिताओं के नाट्यसूत्रों का संकलन वृद्धभरत के नाम से बाद में प्रसिद्ध हुआ, जबकि भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती समस्त नाट्य-सामग्री का निरीक्षण करके उसके आधार पर नाट्यशास्त्र की एक व्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में रचना की। उन्होंने अपने से पूर्ववर्त्ती आचार्यों की सामग्री का उपयोग किया, उनके मतों को प्रस्तुत किया और उनपर विचार करके अपना मत भी निर्धारित किया।"[१] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया है कि नाट्यशास्त्र में कई स्थानों पर पूर्वाचार्यों के ऐसे मत मिलते हैं, जिनको मुनि ने यथास्थान निवेशित किया है।[२]

दोनों संहिताओं के निर्माता भरत ही हैं, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता के रूप में जिस भरत का उल्लेख होता है, वह एक व्यक्ति का नाम नहीं, अपितु एक उपाधि-विशेष है। ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् भरत नाम की कोई उपाधि रही हो, जो अपने समय के प्रधान नाट्याचार्य को दी जाती हो। इसलिए, कुछ विद्वानों का मत है कि भरत वास्तविक नहीं, वरन् कल्पित नाम है। मेरा मत है कि पीछे भले ही यह कल्पित नाम हो गया हो, परन्तु आरम्भ में भरत नाम के कोई नाट्याचार्य अवश्य रहे होंगे और परवर्त्ती नाट्याचार्यों को यह नाम दे दिया जाता हो; जैसे आदि शंकराचार्य नामक संन्यासी विद्वान् हुए, परन्तु बाद में शंकराचार्य द्वारा स्थापित सभी मठों की गद्दी पर बैठनेवालों को शंकराचार्य की पदवी दे दी गई।

नाट्यशास्त्र में 'भरत' शब्द का प्रयोग अभिनेता के अर्थ में हुआ है :

षष्ठे कृत्वा कुतपं नाट्यं युक्ते यतो मुखं भरतः।[३]

नाट्यशास्त्र की अपेक्षा प्राचीन ग्रन्थ याज्ञवल्क्यस्मृति को माना जाता है। उसमें 'भरत' और 'अभिनेता' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है, ऐसा जान पड़ता है : **यथा हि भरतो वर्णैर्वणयत्यात्मनस्तनुम्।**[४] इस प्रकार, अभिनेता के अर्थ में 'भरत' शब्द के

१. नाट्यशास्त्र : अनुवादक डॉ० रघुवंश, भूमिका।

२. अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३२८

३. नाट्यशास्त्र, अध्याय १३, कारिका ६६

४. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३।१६३

प्रयोग से दो अनुमानों को स्थान मिलता है। पहला तो यह कि अभिनेताओं या भरतों ने अपने पेशे को महत्त्व प्रदान करने के निमित्त भरत नामक कल्पित ऋषि के नाम पर इस नाट्यशास्त्र की रचना की; दूसरा अनुमान है कि भरत कोई वास्तविक मुनि नाट्याचार्य अवश्य थे, जिनके नाम पर नाट्यकला के ज्ञाता भरत कहे गये। डॉ० काणे ने पहले अनुमान को युक्तिपूर्ण मानकर स्वीकार किया है।

नाट्यशास्त्र का समय : नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। प्रश्न उठता है कि इसके रचयिता भरत मुनि का समय क्या है ? इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ विद्वान् भरत मुनि का समय ईसा के पूर्व दूसरी शती और अन्य कुछ विद्वान् पंचम शती ई० पू० मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् ईसा की दूसरी शती और दूसरे विद्वान् इससे भी बाद का समय मानते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो भरत का तो समय ईसा की तीसरी या चौथी शती मानते हैं, परन्तु नाट्यशास्त्र के वर्त्तमान रूप को उस काल का नहीं मानते। डॉ० एस्० के० दे के मतानुसार नाट्यशास्त्र के संगीतवाले अध्याय चौथी शती के हैं, परन्तु नाट्यशास्त्र के रूप में निरन्तर परिवर्त्तन होते रहे और अनुमान है कि उसका वर्त्तमान उपलब्ध संस्करण आठवीं शती के अन्त तक का है।

इतना तो निर्विवाद है कि आज हमें अलंकारशास्त्र, रसशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है। भरत के समय के निर्धारण में सहायक रूप में कुछ बाह्य साक्ष्य और अन्तस्साक्ष्य हमें प्राप्य हैं। पहले बाह्य साक्ष्य पर ध्यान दें। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के एक स्थल (२।१८) पर भरत का संकेत मिलता है। उस समय तक भरत इतने प्रख्यात हो चुके थे कि कालिदास इन्द्र के सम्मुख भरत के अभिनय की ओर संकेत करते हैं। उस समय तक भरत केवल नाट्याचार्य ही नहीं रह गये थे, प्रत्युत पौराणिक व्यक्तित्व प्राप्त कर चुके थे। वे मुनि थे और ब्रह्मा से उन्होंने नाट्यवेद की शिक्षा ग्रहण की थी। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत ने नाटक की उत्पत्ति की कथा बताई है, इसका संकेत कालिदास के पद्य में मिलता है। विक्रमोर्वशीय नाटक के प्रथम अंक का वह पद्य निम्नांकित है :

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भरत का समय कालिदास से काफी पहले, लगभग २०० वर्ष पहले, है।

हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्यशास्त्र का रचना-काल ईसा-पूर्व दूसरी शती माना है। लेवी ने कुछ शब्दों—जैसे स्वामी, सुगृहीतनामन् और भद्रमुख—के प्रयोग के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल क्षत्रपों का शासन-काल माना है; क्योंकि उनके अभिलेखों में इन शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। किन्तु, काणे ने इस मत का युक्तिपूर्ण खण्डन कर दिया है। डॉ० कीथ ने इसका रचना-काल ईसा की तीसरी शती स्वीकार किया है, इससे

पहले का समय मानने को वे तैयार नहीं। इस ग्रन्थ के तिथि-निर्धारण के सन्दर्भ में डॉ० कीथ ने एक प्रमाण यह भी दिया है कि भरत के नाट्यशास्त्र के लक्षण अश्वघोष के नाटकों में अन्तर्निहित विषयों से मेल नहीं खाते। जैसे भरत द्वारा अनुमोदित प्राकृत अश्वघोष के नाटकों में नहीं मिलती जबकि भास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत बहुलांश में इससे साम्य रखती है; यद्यपि भास के नाटकों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि ईसा की तीसरी शती तक भरत के नाट्यशास्त्र की नियामकता सर्वमान्य नहीं हो सकी थी; क्योंकि भास के नाटकों में भरत के सभी नियम स्वीकृत नहीं हुए थे।

मनमोहन घोष ने अनेक दृष्टियों से परीक्षा करके तथा अभिलेखों के आधार पर सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र का वर्त्तमान रूप ईसा की दूसरी शती में विद्यमान था। कालिदास ने नाट्यशास्त्र के अनेक नियमों का पालन नहीं किया है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे नाट्यशास्त्र के पूर्व के कवि हैं। कालिदास ने अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनसे सिद्ध हो जाता है कि वे नाट्यशास्त्र से पूर्ण परिचित थे। विक्रमोर्वशीय के पद्य का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कुछ अभिलेखों में उल्लिखित शक, यवन आदि जातियों का उल्लेख नाट्यशास्त्र में भी है। इन सब साक्ष्यों के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय ईसा की दूसरी शती के आसपास माना जाता है। डॉ० घोष ने इस मत का भी खण्डन किया है कि चूंकि भास के नाटकों में नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन है, इसलिए वे भरत के पूर्ववर्त्ती हैं। भास के नाटकों में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं, जिनसे सिद्ध हो जाता है कि वे नाट्यशास्त्र से परिचित थे; उदाहरणार्थ विदूषक का प्रयोग, प्रस्तावना, सूत्रधार, प्रेक्षक, चारी, गति, भद्रमुख, हाव, भाव, मारिष आदि को प्रस्तुत कर सकते हैं। उपर्यक्त साक्ष्यों के आधार पर डॉ० मनमोहन घोष नाट्यशास्त्र का समय भास के पूर्व दूसरी शती के लगभग मानते हैं।

डी० सी० सरकार ने नाट्यशास्त्र में महाराष्ट्र तथा नेपाल के उल्लेख के आधार पर उसका समय दूसरी शती के बहुत बाद का माना है; क्योंकि नेपाल का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में चौथी शती में और महाराष्ट्र का उल्लेख महावंश, पाँचवी शती, में है। काणे ने इस मत का खण्डन इस तर्क पर किया है कि क्यों न माना जाय कि नेपाल और महाराष्ट्र का प्रथम उल्लेख नाट्यशास्त्र में ही हुआ है। काणे का मत है कि नाट्यशास्त्र का समय ईसवी सन् के आरम्भ के बहुत पहले नहीं माना जा सकता, परन्तु उनके अनुसार बाद की तिथि अधिक निश्चय से निर्धारित की जा सकती है। सन् ४५० ई० के पहले कालिदास के विक्रमोर्वशीय (२।१८) से पता चलता है कि उस समय तक भरत को नाट्यशास्त्र का अधिष्ठाता स्वीकार किया जा चुका था और उसमें आठ ही रसों की चर्चा है। 'कुट्टनीमत' में नाट्यशास्त्र के विभिन्न अध्यायों की सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे स्पष्ट होता है कि ८वीं शती तक इसके सभी प्रमुख अध्याय अपनी वर्त्तमान स्थिति में थे। बाण ने कादम्बरी और हर्षचरित में भरत द्वारा प्रवर्त्तित संगीत का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि छठी शती तक नाट्यशास्त्र का वर्त्तमान पाठ

स्थिर हो चुका था। दूसरी ओर, याज्ञवल्क्यस्मृति में नाट्यशास्त्र की सामग्री ग्रहण की गई है और गाथा सत्तसई में नाट्यशास्त्र के पूर्वरंग-सम्बन्धी मत की चर्चा है। अतः, दूसरी शती तक इसकी पूर्व तिथि पहुँच जाती है।

इसी प्रकार, भरत के नाट्यशास्त्र में कुछ ऐसे अन्तस्साक्ष्य वर्त्तमान हैं, जिनसे उसकी प्राचीनता का आभास मिलता है। नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण और यास्क के निरुक्त के कुछ उद्धरण मिलते हैं, परन्तु पाणिनि के नहीं मिलते। इससे अनुमान होता है कि नाट्यशास्त्र उस काल की कृति है, जब पाणिनि के व्याकरण का बहुत बोलबाला नहीं था या कम-से-कम उसके सामने ऐन्द्र व्याकरण का महत्त्व अभी कम नहीं हो पाया था।

नाट्यशास्त्र में अनेक स्थलों पर बहुत प्राचीन सूत्रों और श्लोकों के उद्धरण पाये जाते हैं : **'अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः'**, **'तत्र श्लोकः'** आदि। यदि नाट्यशास्त्र की भाषा या उसकी प्रतिपादन-शैली पर ध्यान दें, तो स्पष्ट हो जायगा कि यह बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीनता के कारण भरत भी भरत मुनि के नाम से प्रख्यात हो गये हैं। प्राचीनकाल में बहुत-से ग्रन्थ सूत्र-परिपाटी में लिखे जाते थे। नाट्यशास्त्र भी अनेक स्थलों पर सूत्र-परिपाटी में लिखा गया है। कई टीकाकारों ने भरत की रचना को सूत्र कहा है और भरत को सूत्रकृत् की संज्ञा दी है। नान्यदेव ने भरत को सूत्रकृत् के नाम से स्मरण किया— **'कलानामानि सूत्रकृदुक्तानि यथा'**— अभिनवगुप्त ने भी भरत के नाट्यशास्त्र को भरत-सूत्र कहा है :

'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्—'

इन प्रमाणों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि भरत का समय कालिदास के समय से कम-से-कम दो शती पूर्व का है। किन्तु, स्वयं कालिदास का समय विवाद का विषय है। कुछ विद्वान् कालिदास का समय ईसा की चौथी शती मानते हैं, उस दशा में भरत का समय ईसा की दूसरी शती होगा।

नाट्यशास्त्र का विस्तार तथा विषय : ऊपर लिखा जा चुका है कि प्राचीन ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र की द्वादशसाहस्री और षट्साहस्री दो संहिताओं का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु आजकल द्वादशसाहस्री संहिता उपलब्ध नहीं है, केवल षट्साहस्री संहिता ही प्राप्य है। तात्पर्य यह कि आजकल के नाट्यशास्त्र में केवल छह हजार श्लोक हैं। आजकल नाट्यशास्त्र के दो संस्करण मिलते हैं—एक में ३६ अध्याय हैं और दूसरे में ३७ अध्याय। अभिनवगुप्त ३६ ही अध्याय मानते हैं, जैसा कि षट्त्रिंशक भरत-सूत्र नाम से स्पष्ट होता है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने ३७वें अध्याय पर भी अपनी भारती लिखी है। साथ ही, उन्होंने इस ३७वें अध्याय का अलग से मंगलाचरण लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि वे ३६ अध्याय की परम्परागत मान्यता स्वीकार करते हुए भी इस अध्याय की व्याख्या कर रहे हैं। नाट्यशास्त्र की जो प्रतियाँ उत्तर और दक्षिण में मिली हैं, उनमें भी यह भेद दिखाई देता है। उत्तर की प्रतियों में ३७ अध्याय हैं, परन्तु दक्षिण की प्रतियों में

३६वाँ और ३७वाँ दोनों अध्याय एक ही साथ ३६वें अध्याय में कर दिये गये हैं। वस्तुतः जहाँ ३७ अध्याय हैं, वहाँ भी कोई अन्तर नहीं; क्योंकि ३६वें अध्याय के ही दो भाग करके ३६वें और ३७वें अध्याय में करके रख दिये गये हैं। इस दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अभिनवगुप्त ने ही ३६वें अध्याय को दो भागों में बाँटकर ३७वाँ अध्याय भी बना दिया है। ३७वाँ अध्याय बनाना उन्हें ही अभीष्ट था, तथापि ३६ अध्यायवाली परम्परा को सर्वथा भंग करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। वे अपने शैव-सिद्धान्तों का मेल शैव-सिद्धान्त के ३६ तत्त्वों से करना चाहते थे। इन तत्त्वों से परस्थित 'अनुत्तर' तत्त्व का संकेत करने के लिए उन्होंने ३६वें अध्याय में ३७वें अध्याय का निर्माण कर दिया है।

प्रस्तुत नाट्यशास्त्र की रचना-शैली, प्रयोग आदि के आधार पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसकी रचना अनेक विद्वानों ने विभिन्न समय पर की है; क्योंकि इसमें अनेक स्तर हैं। नाट्यशास्त्र में गद्य का भी प्रयोग मिलता है और षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में तो गद्य का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। बहुत श्लोक तथा आर्याएँ आनुवंश्य हैं, बहुत श्लोक तथा आर्याएँ 'सूत्रानुबद्ध' भवतः, लिखकर उद्धृत हैं। लगभग १०० छन्द 'भवन्ति चात्र श्लोकः', 'अत्रार्यें भवतः', 'अत श्लोकाः' के रूप में उद्धृत किये गये हैं। शेष ग्रन्थ की रचना श्लोक, आर्या, उपजाति आदि वृत्तों में हुई है। इस ग्रन्थ में सूत्र, भाष्य, संग्रह, कारिका, निरुक्ति आदि अनेक शैलियों और पद्धतियों का प्रयोग किया गया है।

नाट्यशास्त्र में गद्य का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है, इससे प्रतीत होता है कि यह सूत्र-ग्रन्थ होगा। भवभूति और अभिनवगुप्त के उल्लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। परन्तु, नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त गद्य में सूत्र और भाष्य दोनों ही हैं। यह धारणा भी भ्रामक है कि सूत्र केवल गद्य में ही होते हैं। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि ग्रन्थों में गद्य के साथ पद्य का भी प्रयोग हुआ है। अतः, नाट्यशास्त्र की मूल रचना में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग सम्भव है। अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत नाट्यशास्त्र को भरत-सूत्र नाम दिया है। आनुवंश्य श्लोकों के विषय में कहा जा सकता है कि भरत ने इन श्लोकों और आर्याओं को वंश-परम्परा—पितृ या गुरु—से लिया है। जिन श्लोकों और आर्याओं को भरत ने **'सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः'** कहकर लिखा है, उन्हें अभिनवगुप्त भरत-कृत मानते हैं, परन्तु इन श्लोकों को प्राचीन आर्या के रूप मानना उचित है, जिस प्रकार 'अत्रार्याः', 'अत्रार्ये भवतः' कहकर उल्लिखित श्लोकों को मानते हैं। अभिनवगुप्त ने माना है कि ये श्लोक प्राचीन आचार्यों के संग्रहों से भरत ने उद्धृत किये हैं। इस विषय में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए कि भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है—कहीं उनका समर्थन किया है और कहीं उनसे असहमति प्रकट की है। ऐसा उन्होंने अपने मूल ग्रन्थ में भी किया है।

वास्तव में योजना, विषय-प्रतिपादन आदि दृष्टियों से देखा जाय तो नाट्यशास्त्र बहुत ही व्यवस्थित, सुनियोजित तथा सुसम्पादित ग्रन्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि जैसे व्यासों की परम्परा ने पुराणों की रचना की, वैसे ही भरतों की परम्परा ने नाट्यशास्त्र की

रचना की। परन्तु, ध्यान देने पर यह कथन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। नाट्यशास्त्र में सुनियोजित रीति से विषय का प्रतिपादन किया गया है, इससे इसकी रचना की एकता और संघटना सिद्ध होती है। भरत के पूर्व जितने नाट्याचार्य हुए, सबके विचारों और मान्यताओं के आधार पर उन्होंने व्यवस्थित और संगठित रूप से अपने ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ-रचना के समय उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों तथा सामग्री का उपयोग किया है।

नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने की है। कुछ लोगों का कथन है कि यह ग्रन्थ भरत मुनि का लिखा हुआ नहीं है, प्रत्युत उनके किसी शिष्य का लिखा हुआ है। जान पड़ता है कि यह मत अभिनवगुप्त के समय में भी प्रचलित था। अभिनवगुप्त ने इस मत का पूरा खण्डन किया है और सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र भरत मुनि की ही रचना है, दूसरे की नहीं। अपने खण्डन को समाप्त करते समय उन्होंने भारती में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं : **एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममत-सारताप्रतिपादनाय मतत्रयं सारासार विवेचनं प्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रं न तु मुनिरचितमिति त्वाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रयुक्तम्।**

नाट्यशास्त्र की धार्मिक प्रेरणा : धर्म नाट्यशास्त्र की मुख्य प्रेरणा और शक्ति है। भारतीय साहित्य में धर्म और नैतिकता घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। वैदिक साहित्य में धर्म का एक उदार रूप दृष्टिगत होता है, किन्तु परवर्त्ती साहित्य में धर्म का रूप क्रमशः जटिल होता गया और आचार तथा नैतिकता पर अत्यधिक बल देने के कारण जीवन में नीरसता बढ़ती गई। नाट्यशास्त्र ने एक ओर धर्म के आतंक को कम करने का प्रयास किया है, तो दूसरी ओर उसके सर्वव्यापी प्रभाव को मान्यता दी है। भरत ने नाट्यशास्त्र को पंचम वेद की संज्ञा दी, इससे ध्वनित होता है कि चारों वेदों के अतिरिक्त एक पंचम वेद की भी आवश्यकता का अनुभव किया गया था। इस पंचम वेद में उन बातों का समावेश किया गया है, जो चारो वेदों में नहीं हैं और यह उन लोगों के लिए है, जो उन वेदों के पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। यह सार्ववर्णिक वेद है।

इस प्रकार, नाट्यवेद हिन्दूधर्म की रूढ़िवादिता का विरोधी दिखाई देता है, परन्तु दूसरी ओर इसमें धर्म का प्रभाव भी दिखाई देगा, जिसके कारण भरत को स्मृतिकारों के समान मुनि स्वीकार कर लिया गया है। नाट्यशास्त्र को वेद कहा गया और इसके सम्यक् प्रयोग से देवताओं की प्रसन्नता तथा मोक्ष आदि माहात्म्य रूप में बताये गये। नाट्यशास्त्र ने जिन कार्यावस्थाओं का निर्देश किया, उनमें भारतीय धर्म और आदर्श की प्रेरणा स्पष्टतया देखी जा सकती है। वास्तविक जीवन में असफलता भी होती है, निराशा भी मिलती है, परन्तु नाट्यशास्त्र फलागम को अनिवार्य मानता है। जीवन-यात्रा का मुख्य उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है; अतः कष्ट पड़ सकते हैं, परन्तु फलागम होगा ही, इसमें सन्देह नहीं। इस सिद्धान्त का ऐसा प्रभाव पड़ा कि सभी भारतीय नाटककारों ने सुखान्त नाटकों की रचना की, क्योंकि दुःखान्त नाटक भारतीय दर्शन के फलागम के सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ते हैं।

नाट्यशास्त्र ने वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार भारतीय समाज के गठन के अनुरूप सामाजिक व्यवहारों की व्यवस्था दी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्त्तव्यों-व्यवहारों, भाषा-शब्दावली, सम्बोधन आदि की व्यवस्था पूर्णरूप से स्मृति के नियमों के अनुसार की गई। सम्भवतः, शूद्र नाटक में सर्वाधिक भाग लेते थे, इसलिए शूद्र अभिनेताओं को शापित भरत-पुत्रों का वंशज कहा गया।

भरत के नाट्यशास्त्र के व्याख्याता : आगे चलकर भरत के नाट्यशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर स्वभावतः अनेक टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गईं। भरत द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को इस अमूल्य ग्रन्थ के भाष्यकारों ने और भी विकसित तथा पल्लवित किया। उन टीकाओं तथा व्याख्याओं में कुछ ही आजकल उपलब्ध हैं। इनसे नाट्यशास्त्र के विकास में बहुत सहायता मिलती है। कई टीकाएँ आजकल प्राप्य नहीं हैं; जैसे हर्षकृत वार्त्तिक, शाम्याचार्य राहुल-कृत कारिकाएँ, मातृगुप्त-टीका, कीर्त्तिधर-टीका। इनमें से कुछ के उद्धरण अभिनवगुप्त ने अपनी भारती में दिये हैं।

शार्ङ्गदेव ने अपने संगीतरत्नाकर में लोल्लट, उद्भट, शंकुक, अभिनवगुप्त और कीर्त्तिधर का उल्लेख किया है :

व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
महाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्त्तिधरोऽपरः॥

इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में भट्टोद्भट, भट्ट यन्त्र तथा भट्ट नायक का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने कीर्त्तिधर का एक बार उल्लेख किया है और इन्हें आचार्य कहा है, इसलिए जान पड़ता है कि ये प्राचीन टीकाकारों में थे। अभिनव ने नान्यदेव को भरत-भाष्य का लेखक माना है, अतः ये भी प्राचीन टीकाकार होंगे।

आजकल भरत के नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती को छोड़कर कोई अन्य टीका या व्याख्या प्राप्य नहीं है, किन्तु इनके पूर्व ही भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक आदि विद्वानों ने टीकाएँ लिखी थीं। अभिनवभारती के ही साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में भरत के रससूत्र की जो व्याख्या दी है, उसमें भी उन्होंने उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त—इन पाँच टीकाकारों के मतों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्र पर कम-से-कम पाँच टीकाएँ अवश्य लिखी गई थीं।

अब इन व्याख्याताओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

आचार्य कीर्त्तिधर : कीर्त्तिधर का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में केवल एक बार चतुर्थ अध्याय के अन्त में किया है। परन्तु, इनके नाम के साथ अभिनवगुप्त ने विशेष सम्मान-सूचक आचार्य शब्द का प्रयोग किया है : **इति कीर्त्तिधराचार्याः**। इस प्रकार, विशेष सम्मान देने के कारण जान पड़ता है कि ये कदाचित् सबसे प्राचीन और प्रतिष्ठित

व्याख्याकार या टीकाकार थे। यदि कीर्त्तिधर सबसे प्राचीन टीकाकार थे, और उद्भट के पूर्ववर्त्ती थे, तो इनका काल सप्तम शती में मानना चाहिए।

भाष्यकार नान्यदेव : अभिनवगुप्त ने नान्यदेव को भरत-भाष्य का लेखक माना है। अतः ये भी एक आरम्भिक टीकाकार माने जा सकते हैं। नान्यदेव नाम के एक राजा मिथिला में हो चुके हैं, परन्तु राजा नान्यदेव भाष्यकार नान्यदेव से अवश्य ही भिन्न होंगे। राजा नान्यदेव का समय १२वीं शती में अर्थात् अभिनवगुप्त के बाद पड़ता है। अतः, उनका उल्लेख अभिनवगुप्त नहीं कर सकते थे। भाष्यकार नान्यदेव निश्चय ही कोई भिन्न व्यक्ति हैं। अभिनवगुप्त ने नान्यदेव को भरत के भाष्यकार के रूप में निम्नलिखित शब्दों में स्मरण किया है : **'उक्त नान्यदेवेन एव भरतभाष्ये।'**

भट्ट उद्भट : अभिनवगुप्त ने भट्ट उद्भट के मत को कई बार (मनमोहन घोष के अनुसार तीन बार) उद्धृत किया है। आचार्य मम्मट ने भी रससूत्र की व्याख्या करते समय उद्भट को रससूत्र का व्याख्याकार माना है और उनका मत उद्धृत किया है। शार्ङ्गदेव ने अपने संगीतरत्नाकर में उद्भट का उल्लेख नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं में किया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि भट्ट उद्भट नाट्यशास्त्र के टीकाकार और व्याख्याकार हैं। अभिनव ने यह भी बताया है कि भट्टलोल्लट ने भट्ट उद्भट की आलोचना की है और उनके मत से अपनी असहमति प्रकट की है। अभिनवभारती के षष्ठ अध्याय की दशम कारिका की व्याख्या में अभिनव ने उद्भट का उल्लेख इस प्रकार किया : **'निर्देशे चैतत् क्रमव्यत्ययादित्योद्भटः।'** उसी स्थल पर उन्होंने यह भी लिखा : **'नैतदिति भट्टलोल्लटः।'** इस विवरण से प्रतीत होता है कि भट्टलोल्लट ने भट्ट उद्भट की व्याख्या का खण्डन किया है। अतः, भट्ट उद्भट को भट्ट लोल्लट का पूर्ववर्त्ती माना जाना चाहिए। विद्वानों ने भट्ट लोल्लट का काल सप्तम शती का अन्तिम भाग या अष्टम शती का आरम्भिक भाग माना है। इसलिए, उद्भट का समय लोल्लट के कुछ पहले सप्तम शती का मध्यकाल माना जाना चाहिए।

भट्टलोल्लट : अभिनवगुप्त ने भट्टलोल्लट को भी कई बार (आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार दस बार और मनमोहन घोष के अनुसार ग्यारह बार) उद्धृत किया है। इनका समय ८वीं शती का आरम्भिक भाग माना जाता है। सम्भवतः, भट्टलोल्लट ने भरत के नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्या लिखी थी, जो आज अप्राप्य है। उन्होंने भरत के रससूत्र **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** की व्याख्या की, जिसमें उन्होंने संयोग से कार्यकारण-भावरूप सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' से 'उत्पत्ति' अर्थ ग्रहण किया। लोल्लट ने रस की स्थिति नटों और सामाजिकों में नहीं मानी, प्रत्युत रामादि अनुकार्यों में ही मानी। रस के प्रसंग में उनका सिद्धान्त उत्पत्तिवाद है। वे मीमांसक थे और साथ ही व्यंजना-विरोधी भी। वे अभिधा-शक्ति को ही सभी काव्यार्थ का साधन मानते थे। उनका मत था कि शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतिपत्ति अभिधा-शक्ति से उसी प्रकार हो जाती है,

जिस प्रकार बाण कवच को छेदकर और शरीर में प्रवेश कर प्राणों का अपहरण कर लेता है। इसी मत को मम्मट ने इन शब्दों में व्यक्त किया है : **सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।** उनके अनुसार दीर्घदीर्घतर अभिधा-व्यापार से ही व्यंग्य कहे जानेवाले अर्थ की प्रतीति हो जाती है। भट्टलोल्लट के मत का प्रभाव कुछ अंश में दशरूपककार धनंजय और दशरूपक की टीका अवलोकवृत्ति के लेखक धनिक पर पड़ा है। लोल्लट नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे काश्मीरी थे।

श्रीशंकुक : अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में श्रीशंकुक का १५ बार उल्लेख किया है। रस-प्रसंग से ज्ञात होता है कि वे भरत के नाट्यशास्त्र के टीकाकार और व्याख्याता थे। किन्तु, उनकी लिखी टीका अब अप्राप्य है, और अभिनवगुप्त तथा मम्मट के उल्लेखों से ही उनकी व्याख्या के विषय में ज्ञात होता है। उनके समय के विषय में हम निश्चय के साथ अनुमान कर सकते हैं। सम्भवतः, भुवनाभ्युदय नामक काव्य के रचयिता वही हैं, जो काश्मीर के राजा अजितापीड के समय में लिखा गया था। उनका काल सन् ८१३ ई० के आसपास है। अतः इनका काल नवीं शती का पूर्वार्द्ध है।

राजतरंगिणी में अजितापीड के वर्णन के सिलसिले में इनका भी नाम निम्नांकित श्लोक में आया है :

कविर्बुधमनःसिन्धुः शशाङ्कः शङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥[1]

इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीशंकुक ने अजितापीड की प्रशंसा में भुवनाभ्युदय नामक काव्य-ग्रन्थ लिखा था। शार्ङ्गधर-पद्धति और सूक्ति-मुक्तावली में श्रीशंकुक को मयूर का पुत्र बताया गया है। पर ये मयूर कौन हैं? क्या सूर्यशतक के रचयिता? यदि यह सत्य है, तो श्रीशंकुक का समय सातवीं शती के आसपास होगा। किन्तु, हमारे नाट्यशास्त्री श्रीशंकुक को इस काल का नहीं माना जा सकता। स्पष्टतः, दोनों शंकुक भिन्न-भिन्न हैं। भरत के व्याख्याकार और भुवनाभ्युदय काव्य के रचयिता एक ही हैं और उनका समय नवीं शती मान सकते हैं। श्रीशंकुक भी काश्मीरी ही थे।

श्रीशंकुक ने भरत के रससूत्र की जो व्याख्या की, उसे अनुमितिवाद की संज्ञा दी गई। वे नैयायिक थे और उन्होंने विभावादिक साधनों और रसरूप साध्य में अनुमाप्य-अनुमापक भाव की कल्पना की। इस प्रकार, उनकी दृष्टि में रस अनुमेय या अनुमिति-गम्य है। इसके अतिरिक्त उन्होंने चित्र-तुरंग न्याय की नई कल्पना की है। इस कल्पना के अनुसार अनुकर्त्ता नट सच्चे अनुकार्य रामादि नहीं हैं, बल्कि वे चित्र में लिखे घोड़े की तरह राम हैं। यह कल्पना दशरूपककार धनंजय को भी मान्य है। श्रीशंकुक ने रस की स्थिति उसी प्रकार सहृदयों या सामाजिकों में मानी है, जैसे घोड़े के चित्र को देखकर अनुभव होता है। उन्होंने ही सबसे पहले भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद का

---

१. राजतरंगिणी, ४।७०४

खण्डन किया। जो लोग मानते थे कि सहृदय में रस की स्थिति नहीं है, उनका भी खण्डन शंकुक ने किया।

भट्टनायक : भरत के नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं तथा टीकाकारों में भट्टनायक का भी प्रमुख स्थान है। अभिनवगुप्त ने भारती में उनका उल्लेख छह बार किया है। अभिनवगुप्त के अतिरिक्त जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यक ने भी उनके मत का उल्लेख किया है। इनलोगों ने भट्टनायक की रचना हृदय-दर्पण का भी निर्देश किया है। हृदय-दर्पण भट्टनायक का स्वतन्त्र ग्रन्थ था या भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका, इस विषय में विद्वानों में दो मत हैं। डॉ० एस्० के० दे का मत है कि हृदय-दर्पण नाट्यशास्त्र का टीका-ग्रन्थ नहीं, वरन् अलंकारशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ था। आजकल हृदय-दर्पण उपलब्ध नहीं है, परन्तु दक्षिण में एक प्रति थी, जिससे पता चलता है कि यह नाट्यशास्त्र की टीका के ही रूप में लिखा गया था। आजकल यह भी प्रति प्राप्य नहीं है। भट्टनायक ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के ही समकालीन थे। सम्भवतः, ये भी आनन्दवर्द्धन के आश्रयदाता काश्मीर-राज अवन्तिवर्मा के ही राजकवि थे। अवन्तिवर्मा का समय सन् ८५५—८८४ ई० है। अतः भट्ट नायक का समय नवीं शती का उत्तरार्द्ध तथा दसवीं शती का पूर्वार्द्ध होता है। डॉ० कीथ ने भट्टनायक को शंकर वर्मन के समय का विद्वान् माना है। शंकर वर्मन का समय सन् ८३३–९०२ ई० है।

भट्टनायक भी भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, महिमभट्ट तथा कुन्तक के समान अभिधावादी तथा व्यंजना-विरोधी हैं। वे व्यंजनावृत्ति अथवा ध्वनि की कल्पना नहीं मानते। रससूत्र की व्याख्या में उनका सिद्धान्त भुक्तिवाद कहा जाता है। भट्टनायक सांख्य मत के अनुयायी हैं और रस-सिद्धान्त में भी वे सांख्य मत का ही अनुकरण करते हैं। उनके भुक्तिवाद के सिद्धान्त के अनुसार काव्य में भावकत्व और भोजकत्व—दो व्यापारों की कल्पना है। रससूत्र में आये संयोग का अर्थ वे भाव्य-भावक-सम्बन्ध मानते हैं और निष्पत्ति से भुक्ति या आस्वाद का अर्थ लेते हैं। वे रस की स्थिति सहृदय में ही मानते हैं। भट्टनायक ने ही साधारणीकरण के सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया, जिसका विस्तार अभिनवगुप्त ने किया। धनंजय और धनिक पर भी भट्टनायक के सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा।

भट्टयन्त्र : अभिनवगुप्त ने भट्टयन्त्र का केवल एक बार उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे भी नाट्यशास्त्र के व्याख्याता थे। इनके विषय में विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इतना ही ज्ञात है कि ये अभिनवगुप्त के कुछ पहले हुए।

अभिनवगुप्तपादाचार्य : भरत के नाट्यशास्त्र पर लिखित टीकाओं और व्याख्याओं में सर्वाधिक पूर्ण, प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण टीका अभिनवगुप्त की अभिनवभारती या नाट्यवेद-विवृत्ति है। यही टीका उपलब्ध भी है। १०वीं शती के मध्य में अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या लिखकर मध्यकाल के व्यवधान में होनेवाले परिवर्त्तनों को ध्यान में रखते हुए, नाट्यशास्त्र के विकास की नवीन दिशा का संकेत किया। अभिनवगुप्त का

समय १०वीं शती का अन्त और ११वीं शती का आरम्भ है। ७वीं शती से १४वीं शती तक काश्मीर में नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। यहाँ काव्यशास्त्र और साहित्य के गम्भीर चिन्तन एवं अनुशीलन की गौरवपूर्ण परम्परा रही है। वस्तुतः, कश्मीर शतियों तक संस्कृत-विद्या—विशेषतः काव्यशास्त्र—का प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित केन्द्र रहा है। काव्यशास्त्र के साथ ही प्रत्यभिज्ञान शैव-सिद्धान्त का निरूपण काश्मीर में इसी युग में हुआ, जिसे काश्मीरी शैवमत कहा जाता है। यहाँ के काव्याचार्यों एवं अलंकार-शास्त्रियों ने काव्य-सौन्दर्य की समुचित व्याख्या के लिए इस शैवमत का सहारा लिया है। इस युग के काश्मीरी काव्यशास्त्री, नाट्यशास्त्री तथा संगीतशास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या का आधार इस शैवमत के दर्शन को बनाया है।

इन्हीं काश्मीरी पण्डितों की गौरवमयी परम्परा में अभिनवगुप्तपादाचार्य एक देदीप्यमान नक्षत्र हैं। अभिनव ने अपने माता-पिता, कुल, गुरु तथा समय के विषय में स्वयं अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। उनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त या चुखुलक था :

तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलङ्कुरुते स्म भक्तिः॥[1]

अभिनवगुप्त के गुरु महेन्द्रराज तथा भट्टतौत थे—उनके गुरुओं की सूची बहुत लम्बी है। उन्होंने सात गुरुओं के नामों के साथ उन शास्त्रों के नाम दिये, जो उन्होंने उनसे पढ़े। फिर तेरह गुरुओं के नाम दिये हैं, परन्तु उनके साथ शास्त्रों का उल्लेख नहीं है। गुरु महेन्द्रराज स्वयं कवि भी थे; क्योंकि अभिनवगुप्त ने अपने लोचन में उनके पद्यों के उद्धरण दिये हैं। साहित्यशास्त्र उन्होंने महेन्द्रराज से पढ़ा। भट्टतौत प्रसिद्ध मीमांसक थे और सम्भवतः अभिनव ने उनसे मीमांसाशास्त्र का अध्ययन किया था। उनके पिता स्वयं शैव-आगम के प्रसिद्ध विद्वान् और शिवभक्त थे। अभिनव ने अपने पिता से व्याकरण पढ़ा।

अभिनवगुप्त ध्वनि-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य हैं, साथ ही नाट्यशास्त्र के भी प्रख्यात आचार्य। इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व में शैव-दर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने ध्वनिवाद और नाट्यशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा, टीकाएँ ही लिखीं। ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक पर अभिनव ने लोचन नाम का टीका-ग्रन्थ लिखा और भरत के नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती लिखी। दोनों ग्रन्थ अमूल्य हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं होते हुए भी विद्वत्समाज में इनका आदर किसी आकर-ग्रन्थ से कम नहीं है। वस्तुतः ये दोनों टीका-ग्रन्थ अलंकारशास्त्र तथा रसशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र और शैव-आगम पर अभिनव ने अनेक ग्रन्थ लिखे। उन्होंने अन्तिम पुस्तक सन् १०१५ ई० में लिखी थी। ऐसा जान पड़ता है कि अभिनव ने काव्यशास्त्र पर एक तीसरी भी पुस्तक लिखी थी। उनकी यह तीसरी साहित्यशास्त्रीय

---

१. तन्त्रालोक, ३७

पुस्तक काव्य-कौतुक-विवरण थी, जो अब अप्राप्य है। सब मिलाकर अभिनव ने ४०–४१ ग्रन्थों की रचना की थी।

अभिनवगुप्त शैव दार्शनिक के साथ ही साहित्य में ध्वनिवादी और व्यंजनावादी भी थे। अतः, उनके रसपरक सिद्धान्त का आधार व्यंजनावाद और शैवदर्शन दोनों ही हैं। वे रस को व्यंग्य मानते हैं, और भरत के प्रसिद्ध रससूत्र में आये शब्द 'संयोग' का अर्थ 'व्यंग्य-व्यंजक भावरूप' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' करते हैं। उनकी स्थापना है कि रस की स्थिति सहृदय सामाजिक में होती है, अनुकर्त्ता नट या अनुकार्य रामादि में नहीं। जान पड़ता है कि वे रस-दशा को शैवों की विमर्श-दशा से जोड़ते हैं। यह कहना कठिन है कि धनंजय और धनिक अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों से परिचित थे या नहीं; क्योंकि वे दोनों अभिनव के ही समय के थे। पर जान पड़ता है कि वे आनन्दवर्द्धन के व्यक्तिवादी मत और रस-सम्बन्धी मत से पूर्ण परिचित थे, जो अभिनव से भी पहले रस में व्यंग्यत्व स्थापित कर चुके थे। तभी उन्होंने दशरूपककारिका तथा अवलोकवृत्ति में व्यंजना की कल्पना का तथा रस के व्यंग्यत्व का प्रचण्ड विरोध किया है।

रस-निष्पत्ति के अतिरिक्त अभिनवगुप्त की एक अन्य नई स्थापना है। यह शान्त रस की स्थापना है। भरत ने नाट्यशास्त्र में आठ ही रसों की स्थापना की है, परन्तु अभिनव ने नाट्यशास्त्र के ही आधार पर भारती में शान्त रस जैसे नवम रस की स्थापना की है। यह शान्त रस अभिनव के शैवदर्शन वाले सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है।

अभिनवगुप्त का रचनाकाल ११वीं शती के आरम्भ तक है। उनकी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' की रचना सन् १०१५ ई० में हुई थी, इसका संकेत स्वयं उन्होंने एक पद्य में दिया है, जिसके अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल कलिसंवत् ४०९० अर्थात् सन् १०१५ ई० है।

अभिनवगुप्त की सर्वश्रेष्ठ देन है रस-सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या। उन्होंने रस को व्यंग्य माना। उन्होंने रससूत्र की जो व्याख्या की और जिस रस-सिद्धान्त की स्थापना की, वह मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक मान्य रहा है। संस्कृत के नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के विद्वानों में अभिनवगुप्त का स्थान अन्यतम है।

उत्तरवर्त्ती नाट्य-साहित्यकार

अबतक नाट्यशास्त्र के पूर्वाचार्यों का परिचय दिया गया, फिर मध्यवर्त्ती ग्रन्थकारों का और फिर भरत के नाट्यशास्त्र के टीकाकारों तथा व्याख्याकारों का परिचय संक्षेप में दिया गया। अब नाट्यशास्त्र के परवर्त्ती आचार्यों का परिचय दिया जा रहा है। यद्यपि इन आचार्यों ने अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की, फिर भी बहुलांश में वे नाट्यशास्त्र के आभारी हैं। नाट्यशास्त्र के ही किसी अंश-विशेष के आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है। धनंजय का दशरूपक, सागरनन्दी का नाट्यलक्षणरत्नकोश, रामचन्द्र

गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण', शारदातनय का 'भावप्रकाशन', शिंगभूपाल की 'नाटक-परिभाषा' तथा रूपगोस्वामी की 'नाटकचन्द्रिका' ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें केवल नाट्य-सम्बन्धी विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गये, जिनका विषय केवल नाट्य-साहित्य ही नहीं है, परन्तु उनके एक भाग में नाट्य-सम्बन्धी विवेचन भी किया गया है। ऐसे ग्रन्थों में भोज के 'शृंगारप्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण', विद्यानाथ का 'प्रताप-रुद्रीय यशोभूषण', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' तथा शिंगभूपाल का 'रसार्णवसुधाकर' हैं। इन ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

धनंजय : अबतक नाट्यशास्त्र पर लिखे गये जिन ग्रन्थों की तथा ग्रन्थकारों की चर्चा की गई है, उनके विषय में हमें निश्चित तथा समुचित ज्ञान नहीं है। उनके ग्रन्थों के उल्लेखों और सन्दर्भों के ही आधार पर उनके विषय में कुछ लिखा गया है। परन्तु, १०वीं शती से नाट्यशास्त्र पर लिखे गये कई ग्रन्थ मिलने लगते हैं। इनमें धनंजय के दशरूपक का स्थान अन्यतम है। स्वतन्त्र रूप में नाट्य-विवेचन पर लिखे गये ग्रन्थों में दशरूपक सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। वस्तुतः, भरत के बाद नाटक पर व्यवस्थित ढंग से लिखनेवाले आचार्य के रूप में धनंजय की ख्याति सर्वमान्य है।

दशरूपक के रचयिता धनंजय के पिता का नाम विष्णु था। धनंजय मालवा के परमार-वंशीय राजा मुंज (वाक्पतिराज द्वितीय) के राजकवि थे। मुंज का समय सन् ९७४–९९५ ई० माना गया है। स्पष्टतः दशरूपक १०वीं शती के अन्तिम चतुर्थांश में लिखा गया। धनंजय ने पुस्तक के अन्त में अपने पिता तथा आश्रयदाता का निर्देश निम्नांकित श्लोक में दिया है :

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥

धनंजय ने नाट्यशास्त्र के ही आधार पर दशरूपक की रचना की, किन्तु उन्होंने अन्य विषयों को छोड़कर केवल नाट्य से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों को ही अपने ग्रन्थ का विषय चुना है और उनका ही विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र के ही सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप दशरूपक की कारिकाओं में दिया गया है। इसमें किया गया विवेचन संक्षिप्त, किन्तु पूर्ण है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही धनंजय ने लिख दिया है :

नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं सङ्क्षिपामि।[1]

इसीलिए उन्होंने दो-एक विषयों को छोड़कर सम्पूर्ण ग्रन्थ में भरत के मत का आश्रय लिया है। धनंजय ने नायिका-भेद और शृंगाररस के विषय में भरत का अनुकरण नहीं किया। किन्तु, उन्होंने आंगिक, वाचिक और आहार्य अभिनय का उतना विशद और विस्तृत वर्णन नहीं किया है, जितना विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र में मिलता है। धनंजय का

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, श्लोक ४

मुख्य उद्देश्य वस्तु, नेता, रस तथा रूपकों के मुख्य दस भेदों का ही विवेचन करने तक ही सीमित है।

दशरूपक कारिका रूप में ही लिखा गया है। इसमें चार प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में वस्तु-विभाग, अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं, सन्धियों, अर्थोपक्षेपकों आदि का वर्णन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका-भेद का विवेचन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है और फिर उनके सहकारियों का वर्णन है। तृतीय प्रकाश में रूपक के दस भेदों का और चतुर्थ प्रकाश में रस-निरूपण का सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र का कोई भी अध्येता सरलता से समझ सकता है कि धनंजय ने भरत की बातें संक्षेप में शृंखलाबद्ध रीति से कही हैं। उन्होंने इतना संक्षेप कर दिया है कि बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें छूट गई हैं। उन्होंने नाटक के साहित्यिक रूप पर ही अधिक बल दिया है, साज-सज्जा तथा अन्य प्राविधिक बातों का उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भारत की कलात्मक या सौन्दर्यात्मक संस्कृति का काफी पतन हो गया था। उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र के विषयों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की है, किन्तु जान पड़ता है कि वे लेखक के उद्देश्य ठीक तरह से समझ नहीं सके हैं। वस्तुतः, भरत ने नाट्य लेखकों, अभिनेताओं, सामाजिकों और नाट्य-प्रस्तुतकर्त्ताओं के लिए लिखा था। धनंजय के इस ग्रन्थ से स्पष्टतया परिलक्षित हो जाता है कि १०वीं शती तक नाट्य की कल्पना किस प्रकार संकुचित और अव्यावहारिक हो चुकी थी।

धनंजयकृत दशरूपक तथा उनके भाई धनिक के द्वारा उसके कारिका-भाग पर 'अवलोक' नाम की वृत्ति का बहुत अधिक प्रभाव उत्तरवर्त्ती नाट्याचार्यों और अलंकार-शास्त्रियों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वस्तुतः, दशरूपक और अवलोक की ही प्रधानता हो गई; क्योंकि समय बीतते जाने पर नाट्यशास्त्र को लोग भूलते गये और वह अप्राप्य होता गया। दशरूपक के समक्ष सभी पूर्ववर्त्ती ग्रन्थ फीके पड़ गये और नाट्यशास्त्र को छोड़कर यह सबसे अधिक प्रसिद्ध हो गया और परवर्त्ती आचार्यों ने इस विषय के ग्रन्थ लिखने में इसका बहुत अधिक सहारा लिया। इस विषय पर लिखे गये परवर्त्ती ग्रन्थों को देखने से दशरूपक के महत्त्व का अनुमान हो सकता है।

विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रीययशोभूषण' का नायिका-भेद स्पष्ट रूप से दशरूपक का ऋणी है। विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में वर्णित नायिका-भेद और षष्ठ परिच्छेद के दृश्यकाव्य-वर्णन पर दशरूपक का स्पष्ट प्रभाव है। भानुदत्त की 'रसमंजरी', 'रसतरंगिणी', भावमिश्र की 'रससरसी' आदि ग्रन्थ, जो रस और नायिका-भेद का विवेचन करते हैं, दशरूपक के प्रभाव से दूर नहीं जा सके हैं। १२वीं शती में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण की रचना नाट्यशास्त्र पर की। उन्होंने भी दशरूपक से बहुत सहायता ली है। शारदातनय का भावप्रकाशन भी दशरूपक का बहुत ऋणी है। दशरूपक पर निम्नलिखित विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं—धनिक, बहुरूप भट्ट, नृसिंह भट्ट, देवपाणि, क्षोणीधर मिश्र तथा कूरवी राम। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध धनिक की 'अवलोक' नाम की वृत्ति है।

धनिक : धनंजय के छोटे भाई धनिक ने दशरूपक पर 'दशरूपकावलोक' नाम की उच्च कोटि की टीका या वृत्ति लिखी है। धनंजय ने दशरूपक को इतने संक्षेप में लिखा कि यदि धनिक की अवलोक-वृत्ति नहीं रहती तो उसके बहुत स्थल ठीक से बोधगम्य नहीं होते। अवलोक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में दी गई पुष्पिका से स्पष्ट हो जाता है कि ये विष्णु के पुत्र थे; जैसे चतुर्थ प्रकाश के अन्त की पुष्पिका है : **इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपकावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः।**

कुछ आलोचकों का विश्वास है कि दशरूपक का कारिका-भाग तथा वृत्तिभाग एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं। काव्यशास्त्र के कुछ ग्रन्थों में दशरूपक को धनिक का ही ग्रन्थ बताया गया है। इसीलिए यह भ्रामक मत प्रचलित हो गया कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु, अवलोक में कुछ स्थल ऐसे ही हैं, जो कारिकाकार धनंजय और वृत्तिकार धनिक को दो भिन्न व्यक्ति होने की ओर संकेत करते हैं।

धनिक ने अवलोकवृत्ति के अतिरिक्त काव्यनिर्णय नामक एक दूसरे ग्रन्थ की रचना की थी, जो साहित्यशास्त्र पर है। धनिक ने अपनी वृत्तियों के चतुर्थ प्रकाश में स्वयं इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है और उससे सात कारिकाएँ उद्धृत की हैं : **यथाऽवोचाम काव्यनिर्णये।** सम्भवतः यह ग्रन्थ कारिकाओं में लिखा गया था। धनिक कवि भी थे; उन्होंने वृत्ति में कई स्थलों पर अपनी कविता के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

धनिक भी धनंजय की ही तरह पक्के अभिधावादी तथा व्यंजना-विरोधी थे। रस के विषय में वे भट्टनायक के मत के समर्थक थे, यद्यपि उस मत में उन्होंने भट्टलोल्लट तथा श्रीशंकुक के मतों का भी कुछ अंशों में सम्मिश्रण कर लिया है। उन्होंने शान्तरस को नाटक में स्थान नहीं दिया।

सागरनन्दी : सागरनन्दी धनंजय के समसामयिक हैं या कुछ ही पहले हुए। कुछ ही वर्ष पहले तक इनके ग्रन्थ 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' के विषय में हमारा ज्ञान यत्र-तत्र कुछ उद्धरणों तक ही सीमित था। सर्वप्रथम सिल्वाँ लेवी ने सन् १९२२ ई० में 'नाट्यलक्षण-रत्नकोश' की पाण्डुलिपि नेपाल में प्राप्त की और उसका विवरण जरनल एशियाटिक में प्रकाशित कराया। इससे पता चला कि सागरनन्दी ने नाट्य-विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसके पूर्व विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न उद्धरण मिलते थे, परन्तु मूल ग्रन्थ अप्राप्य था। इसके बाद सन् १९३७ ई० में एम० डिलन ने लन्दन से इस ग्रन्थ का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया। धनंजय के समान सागरनन्दी ने भी अपने ग्रन्थ में नाटक के विभिन्न विषयों का विवेचन किया है और यत्र-तत्र नाट्य के अभिनय-सम्बन्धी अवयवों की चर्चा की है। परन्तु, धनंजय के विपरीत उन्होंने केवल नाट्य-सिद्धान्त का ही विवेचन नहीं किया, वरन् आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं अभिनय का भी वर्णन किया है।

सागरनन्दी ने 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' में सात पूर्वाचार्यों का भी उल्लेख किया है और उनके उद्धरण दिये हैं। वे आचार्य हैं— भरत मुनि, वार्त्तिककार हर्ष, मातृगुप्त, गर्ग,

अश्मकुट्ट, नखकुट्ट और बादरि। इससे स्पष्ट होता है कि सागरनन्दी ने इन सात आचार्यों के ग्रन्थों को आधार मानकर अपने ग्रन्थ का निर्माण किया। परन्तु, ग्रन्थकार इनमें सर्वाधिक ऋणी भरत के नाट्यशास्त्र का है। वस्तुतः, नाट्यशास्त्र पर ही यह ग्रन्थ आधारित है। अनेक स्थलों पर सागरनन्दी ने भरत मुनि के श्लोकों को उसी रूप में अपने ग्रन्थ में रख दिया है। यह ग्रन्थ भी दशरूपक के समान कारिका-रूप में लिखा गया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र : काल की दृष्टि से धनंजय और सागरनन्दी के बाद तीसरा स्थान रामचन्द्र-गुणचन्द्र का है। ये दोनों प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हेमचन्द्राचार्य के शिष्य थे। रामचन्द्र और गुणचन्द्र दो भिन्न व्यक्ति हैं। इन दोनों ने मिलकर एक नाट्य-विषयक ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम नाट्यदर्पण है। नाट्यदर्पण की रचना कारिका-पद्धति पर हुई है, परन्तु इन दोनों ने उसपर अपनी वृत्ति भी लिख दी है। इन दोनों में रामचन्द्र अधिक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें अधिकतर नाटक हैं। उनमें अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। गुणचन्द्र के किसी अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ का पता नहीं। उनके विषय में इतना ही ज्ञात है कि वे हेमचन्द्राचार्य के शिष्य थे।

नाट्यदर्पण में इन विद्वानों ने भरत के नाट्यशास्त्र और उसपर प्रसिद्ध टीका 'अभिनवभारती' का पूर्ण उपयोग किया है। नाट्यशास्त्र का उपयोग कारिका-भाग में तो पर्याप्त रूप में है ही, वृत्ति-भाग में तो और भी अधिक है। अभिनव की व्याख्या का भी पूर्ण उपयोग किया गया है। नाट्यदर्पण अनुष्टुप छन्द में लिखा गया है। अपनी संक्षिप्तता में इसकी तुलना दशरूपक से की जा सकती है। संक्षेप होने के कारण कई स्थलों पर कारिकाएँ पूर्ण रूप से समझ में नहीं आतीं। सौभाग्य से इन्हीं लोगों ने अपने ग्रन्थ की बहुत ही स्पष्ट वृत्ति लिख दी है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों का खण्डन किया है; उनमें दशरूपककार धनंजय के मत की विशेष आलोचना स्थान-स्थान पर की गई है। नाट्यदर्पण में कम-से-कम २१ स्थल ऐसे हैं, जहाँ दशरूपक से वर्त्तमान लेखक सहमत हैं, परन्तु दशरूपक या धनंजय के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। सर्वत्र 'अन्ये', 'अपरे', 'केचित्' का प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ का भी मुख्य विषय नाटक-रचना ही है, नाट्य के अन्य अंगों के विवेचन की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

नाट्यदर्पण का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी बहुत है। इस ग्रन्थ में कई अप्राप्य काव्यों तथा नाटकों के उद्धरण पाये जाते हैं। विशाखदत्त या विशाखदेव के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' जैसे महत्त्वपूर्ण तथा अनुपलब्ध नाटक का पता इसी ग्रन्थ से लगता है। इन सब बातों से नाट्यदर्पण अमूल्य ग्रन्थ हो जाता है और कुछ अर्थों में इसका मूल्य दशरूपक से भी अधिक हो जाता है। नाट्यदर्पण में चार अध्याय या विवेक हैं : १ नाटकनिर्णय, २. प्रकरणाद्येकादश रूपनिर्णय, ३. वृत्तिरस-भावाभिनय-विचार और ४. सर्वरूपक साधारण लक्षण-निर्णय।

रामचन्द्र का समय १२वीं शती है। वे गुजरात के राजाओं–सिद्धराज (सन् १०९३–११४३ ई०), कुमारपाल (सन् ११४३–११७२ ई०) और अजयपाल (सन् ११७२–

११७५ ई०) के समकालीन थे। अनुमान से उनका समय सन् ११००–११७५ ई० माना गया है। सम्भावना है कि वे गुजरात के निवासी थे।

रुय्यक : कई अन्य साहित्यशास्त्रियों के समान रुय्यक भी काश्मीरी विद्वान् थे। उन्होंने महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ पर बहुत विद्वत्तापूर्ण टीका-ग्रन्थ लिखा। उसी टीका से ज्ञात होता है कि उन्होंने नाट्य-साहित्य पर भी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था, जिसका नाम 'नाटक-मीमांसा' है। किन्तु, आजकल यह ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

राजा भोज : साहित्यशास्त्र के ग्रन्थकारों में राजा भोज का भी नाम आदर से लिया जाता है। वे मालवा के प्रसिद्ध परमार-वंशी राजा थे। उनका राज्यकाल सन् ९९५ से १०५० ई० है। उनका शृंगार-प्रकाश ग्रन्थ भारतीय साहित्यशास्त्र का सम्भवतः सर्वाधिक विशाल ग्रन्थ है। इसमें ३६ प्रकाश या अध्याय हैं, किन्तु अभी तक ३६वाँ प्रकाश नहीं मिल सका है। इसके १२वें प्रकाश में नाट्य का विवेचन किया गया है। अन्य प्रकाशों में साहित्यशास्त्र के अन्य विषयों का विवेचन है। राजा भोज का दूसरा ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है, जिसके पंचम परिच्छेद में नाट्य-सम्बन्धी विषयों का विवेचन हुआ है।

शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' में कई स्थानों पर भोज का उल्लेख किया है और अनेक स्थलों पर उनका मत भी उद्धृत किया है। संय्यंग के सम्बन्ध में लिखते समय शारदातनय ने भोज का मत दिया है :

निबन्धः कार्य इत्येव निर्णयो भोजभूभुजः।[1]

विष्कम्भक के विषय में शारदातनय ने लिखा :

इति प्रकरणे शुद्धविष्कम्भो भोजनिर्मितः।[2]

शारदातनय ने भाण के लक्षण के सम्बन्ध में भी भोज का उल्लेख किया है :

भाणस्य लक्षणं चेदृग्भोजेनापि प्रकाशितम्।[3]

आगे भोज के मत से भाण का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार शारदातनय ने राजा भोज का उल्लेख कई स्थलों पर किया है और उनके उद्धरण भी दिये हैं।

शारदातनय : नाट्य-सिद्धान्त पर ग्रन्थ लिखनेवालों में शारदातनय का विशिष्ट स्थान है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ भावप्रकाशन है, जिसमें दशरूपक तथा नाट्यदर्पण की अपेक्षा अधिक विस्तार से नाट्य-निरूपण किया गया है। आकार में भी यह ग्रन्थ दशरूपक तथा नाट्यदर्पण से बहुत बड़ा है और नाट्यशास्त्र से थोड़ा ही छोटा है। इनमें नाट्य-सम्बन्धी सभी विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। भावप्रकाशन श्लोकबद्ध

---

१. भावप्रकाशन; सप्तम अधिकार, पृ० २१४

२. वही, अष्टम अधिकार, पृ० २४३

३. वही, पृ० २४५

ग्रन्थ है। दस अधिकारों या अध्यायों में ग्रन्थ विभक्त है, जिनमें रूपकों और उपरूपकों का विवेचन किया गया है और यथास्थान उदाहरण भी दिये गये हैं। इस ग्रन्थ पर टीका भी लिखी गई थी। परन्तु, आजकल वह उपलब्ध नहीं है। इसमें बहुत-से नाटकों के नाम आये हैं, जिनमें से अनेक आजकल अप्राप्य हैं।

शारदातनय ने भाव-प्रकाशन की आरम्भिक पंक्तियों में अपने पूर्वजों के विषय में लिखा है। वे काश्यप गोत्र के ब्राह्मण थे और उनके पितामह का नाम लक्ष्मण था, जो धार्मिक प्रवृत्ति के विद्वान् थे। शारदातनय के पिता भट्टगोपाल थे, जिन्होंने शारदादेवी की उपासना करके एक पुत्र पाया, जिसका नाम उन्होंने शारदातनय रखा। उन्होंने अपने गुरु का नाम दिवाकर बताया है और जान पड़ता है कि दिवाकर स्वयं एक नाट्यशाला के निर्देशक थे :

दृष्ट्वा स देवीं वरदां नाट्यवेदमयाचत।
नाट्यशालापतिः कश्चिद्दिवाकर इति द्विजः॥
तयैव नाट्यवेदस्य नियुक्तोऽध्यापने तदा।[1]

इनके गुरु एक नाट्यशाला के निर्देशक थे, इसका फल यह हुआ कि भाव-प्रकाशन का आधार अधिक व्यावहारिक है। जिस ढंग से उन्होंने विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। किसी विषय का प्रतिपादन करते समय उन्होंने सभी पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है और सावधानीपूर्वक सभी में अन्तर बताया है। उन्होंने सभी का आधार स्वीकार किया है, परन्तु किसी भी विषय में उनकी मौलिक दृष्टि भी है। भाव-प्रकाशन में निर्दिष्ट आचार्यों में निम्नांकित हैं : भरत, वासुकि, पद्मभू, नारद, शंकुक, भट्टनायक, व्यास, नन्दिकेश्वर, रुद्रट, मारुति, भोज, सदाशिव, अभिनवगुप्त, कोहल, मातृगुप्त, सुबन्धु, हर्ष तथा ध्वनिकार। इनमें कुछ नाट्याचार्यों के मतों के उद्धरण दिये गये हैं और कुछ का नामोल्लख-मात्र है। भरत का आधार तो उन्होंने स्वीकार ही किया है।

भावप्रकाशन में शारदातनय ने नाट्य का विषय भाव के आधार पर ग्रहण किया है; क्योंकि नाट्य में भावों का ही प्रकाशन माना गया है। भरत के अनुसार भावों की उचित अभिव्यक्ति से ही रस की उत्पत्ति होती है। इसीलिए, शारदातनय ने अपने ग्रन्थ का आरम्भ भाव के प्रकाशन तथा इससे सम्बद्ध बातों से किया है, तब रस को ग्रहण किया है। फिर लेखक ने नायक-नायिका विवेचन किया है; क्योंकि ये ही रस के मुख्य आधार हैं। लेखक तत्पश्चात् नाटक-रचना पर आया है और फिर कथावस्तु के विभाजन का प्रसंग उठाया है। लेखक ने रूपक के प्रधान रस-भेदों का विवरण देने के बाद उपरूपक के बीस भेदों का विस्तृत विवेचन किया है। तब शारदातनय ने नाटक और रंगमंच से सम्बद्ध कतिपय विषयों पर विचार किया है। यहाँ सबका विस्तृत विवरण

१. भावप्रकाशन; प्रथम अधिकार, पृ० २

देना कठिन है; क्योंकि उन्होंने नाट्य-सम्बन्धी अनेक विषयों को स्पर्श किया है। यही कहना पर्याप्त होगा कि शारदातनय द्वारा दिया गया विवरण दशरूपक, नाट्यलक्षण-रत्नकोश और नाट्यदर्पण के विवरण से अधिक विस्तृत है।

यह विश्वास तथा निश्चय से कहा जा सकता है कि शारदातनय के पहले कई ग्रन्थ वर्त्तमान थे, जिनमें उपरूपकों का विवेचन हुआ था। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि धनिक, भोज और अभिनवगुप्त ने इन पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं। रूपक और उपरूपक का विवेचन करने के बाद शारदातनय ने अभिनय-सम्बन्धी अन्य विषयों का प्रतिपादन किया है। स्पष्ट है कि भाव-प्रकाशन में शारदातनय ने समसामायिक तद्विषयक सभी ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विस्तार किया है। उन्होंने नाट्यशास्त्र तथा उससे भी पूर्व के लेखकों—कोहल, मातृगुप्त, हर्ष तथा सुबन्धु—के ग्रन्थों का हवाला दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने ध्वनिकार, रुद्रट, धनिक, अभिनव, भोज आदि का उल्लेख किया है। कभी-कभी उन्होंने उनके मत की आलोचना भी की है। इन बातों से उनके ग्रन्थ का और भी मूल्य बढ़ जाता है।

रस के विषय में शारदातनय ने अभिनवगुप्त के ही समान माना है कि रस ही काव्य की आत्मा है और अलंकार, गुण, रीति आदि काव्य का केवल सौन्दर्य बढ़ाते हैं। परन्तु, कई स्थलों पर शारदातनय ने अभिनवगुप्त से मतभेद भी दिखाया है; उदाहरणार्थ, शारदातनय अभिनवगुप्त के समान यह नहीं मानते कि उत्तम काव्य में रस सदा व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं। इस स्थल पर वे दशरूपककार धनंजय के मतानुयायी हैं।

शारदातनय नाट्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य हैं, परन्तु यह भी कह देना चाहिए कि वे अपने युग की प्रवृत्ति के अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी नाट्य के सम्पूर्ण अंगों का विवेचन प्रसंग-मात्र से ही किया है। उनका मूल प्रतिपाद्य विषय नाटक की रचना और रस-प्रकरण ही है।

शारदातनय ने 'शारदीय' नाम का कोई अन्य ग्रन्थ भी लिखा था, जिसकी चर्चा उन्होंने निम्नांकित पंक्ति में की है :

मयापि शारदीयाख्ये प्रबन्धे सुष्ठु दर्शितम् ।[1]

उन्हीं के लिखने से जान पड़ता है कि यह संगीत-विषयक ग्रन्थ था। परन्तु, यह ग्रन्थ अप्राप्य है। कुछ लोगों का कथन है कि उन्होंने काव्य-प्रकाश की कोई टीका लिखी थी, परन्तु इसका कोई आधार नहीं दिखाई देता।

भावप्रकाशन का रचना-काल सन् ११७५ और १२५० ई० के बीच माना गया है। जान पड़ता है कि शारदातनय दक्षिण-भारतीय थे।

शिंगभूपाल : लगता है कि मध्य युग में धीरे-धीरे नाट्यकला का ह्रास होता गया। नाट्यशालाएँ नहीं रह गई थीं, जिनमें नाट्य-प्रदर्शन हो सके। फलस्वरूप नाटक की उत्कृष्ट परम्परा भी समाप्त प्राय हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में नाट्यशास्त्र पर

---

१. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० १९४

स्वतन्त्र ग्रन्थों के निर्माण को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा था। नाट्यशास्त्र भी काव्यशास्त्र में सम्मिलित कर लिया जाता था, फलस्वरूप उसकी चरम परिणति नायक-नायिका-भेद के निरूपण में ही हो गई।

शिंगभूपाल का समय १४वीं शती है। उनके दो ग्रन्थ हैं : १. 'नाटक-परिभाषा' और २. 'रसार्णव-सुधाकर'। नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि नाटक-परिभाषा की रचना मुख्यतः नाटक के विषय के प्रतिपादन के लिए हुई। 'रसार्णव-सुधाकर' में मुख्य रूप से नाटक का विवय नहीं लिया गया है, प्रत्युत यह साहित्यशास्त्र का ग्रन्थ है। किन्तु, इसके अन्तिम भाग में नाटक का भी विवेचन किया गया है। शिंग भूपाल विन्ध्य और श्रीशैल के मध्यवर्त्ती प्रदेश 'राजाचल' के राजा थे और उनका समय सन् १३३० ई० के आसपास है। उन्होंने विद्याधर का उल्लेख किया है।

विद्यानाथ : शिंगभूपाल के समान विद्यानाथ भी १४वीं शती के विद्वान् हैं। उन्होंने वारंगल के काकतीय वंशीय राजा प्रतापरुद्र की प्रशंसा में 'प्रतापरुद्रीययशोभूषण' या 'प्रतापरुद्रीय' नाम का ग्रन्थ लिखा। प्रतापरुद्र उनके आश्रयदाता थे। 'प्रतापरुद्रीययशोभूषण' धनंजय के दशरूपक और मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर लिखा गया साधारण कोटि का ग्रन्थ है, जिसमें काव्यशास्त्र का सम्पूर्ण क्षेत्र समाहित है। इसमें ९ प्रकरण हैं। तीसरे प्रकरण में नाट्य-विषय का विवेचन है। लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने आश्रयदाता की स्तुति में 'प्रतापरुद्रकल्याण' नाम का अति साधारण कोटि का नाटक लिखा। प्रतापरुद्र का समय शिलालेखों के अनुसार सन् १२९८ से १३१४ ई० तक है। अतः, विद्यानाथ का समय १४वीं शती माना गया है।

विश्वनाथ कविराज : कविराज विश्वनाथ साहित्यशास्त्र के अत्यन्त सम्मानित विद्वान् हैं और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' की बहुत प्रतिष्ठा है। इसके छठे परिच्छेद में नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन किया गया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र के कुछ अध्यायों पर मुख्य रूप से आधारित है। इसमें दशरूपक और अवलोक से भी बहुत सहायता ली गई है। प्राचीन परम्परागत सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए साहित्यदर्पण का विशेष महत्त्व है। इसके छठे परिच्छेद पर ही प्राचीन भारतीय नाटकों का विवेचन करने-वाले पाश्चात्य विद्वान् अधिक निर्भर रहे हैं।

विश्वनाथ ने अपने पूर्वजों और ग्रन्थों के विषय में पर्याप्त मात्रा में लिखा है, परन्तु उनके समय के विषय में निश्चित प्रमाण यह है कि उनके ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति जम्मू के पुस्तकालय में मिली है। अनुमान है कि इसकी तिथि सन् १३८३ ई० है। साहित्यदर्पण में जिन पद्यों के उदाहरण दिये गये हैं, उनमें से एक में अलाउद्दीन का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः यह अलाउद्दीन खिलजी है :

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥[1]

---

१. साहित्यदर्पण, चतुर्थ परिच्छेद, शालग्राम शास्त्री की टीका, पृ० २१२

अतः, कविराज विश्वनाथ का समय १४वीं शती माना गया है।

कविराज विश्वनाथ महापात्र चन्द्रशेखर के पुत्र थे, जो कलिंगराज के सन्धि-विग्रहिक थे। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय दे दिया है। साहित्यदर्पण में दस परिच्छेद हैं। उन्होंने कई काव्य-नाटकादि की रचना की थी, जिनका उल्लेख साहित्य-दर्पण में हुआ है। विश्वनाथ रस के विषय में अभिनवगुप्त के अनुयायी हैं; इतना अन्तर अवश्य है कि उन्होंने दसवें रस—वात्सल्य रस—को मान्यता दी है। वे भी व्यंजनावादी हैं। डॉ० काणे ने विश्वनाथ के नाट्य-विवेचन की महत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है कि भरत, धनंजय और विश्वनाथ संस्कृत-नाट्यशास्त्र के तीन सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। परन्तु, विश्वनाथ के इस विवेचन में कोई नवीन तथ्य नहीं मिलता। हाँ, रसों के विवेचन में कुछ नवीनता दृष्टिगत होती है।

रूपगोस्वामी : रूपगोस्वामी प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। उनका समय १५वीं शती माना गया है, परन्तु डॉ० कीथ ने १६वीं शती का आरम्भ माना है। नाट्य-सिद्धान्त पर उनका ग्रन्थ 'नाटक-चन्द्रिका' है, जो भरत के नाट्यशास्त्र और शिंगभूपाल के 'रसार्णव-सुधाकर' के आधार पर लिखा गया है। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से भी उन्होंने बहुत सामग्री ग्रहण की है। साहित्यदर्पण की ही त्रुटियों की आलोचना को आधार बनाकर इस ग्रन्थ की रचना हुई, परन्तु वे अपने ग्रन्थ को साहित्यदर्पण से अच्छा नहीं बना सके। इसमें मुख्यतः नाटक-सम्बन्धी विषयों का विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें प्रायः वैष्णव-ग्रन्थों से ही उदाहरण लिये गये हैं। रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे और यह ग्रन्थ लिखने का उनका मुख्य उद्देश्य उन्हीं की स्तुति करना था। रूपगोस्वामी का दूसरा ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' है, जो 'नाटक-चन्द्रिका' से अधिक प्रसिद्ध है।

विद्याधर : विद्याधर ने भी 'एकावली' नामक नाट्य-ग्रन्थ लिखा। वे उत्कल के राजा नरसिंह द्वितीय के राजकवि थे, जिनका समय सम्भवतः सन् १२८०–१३१४ ई० है। विद्यानाथ के ही समान विद्याधर ने भी अपने ग्रन्थ में जो उदाहरण दिये, वे अपने आश्रयदाता की स्तुति के थे। कविता की दृष्टि से इन उदाहरणों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता, परन्तु नाट्यशास्त्री की दृष्टि से उन्होंने विशेष योग्यता का प्रदर्शन किया है। उनका समय तेरहवीं शती का अन्तिम भाग और चौदहवीं शती का आरम्भिक भाग है।

सुन्दरमिश्र : सुन्दरमिश्र ने 'नाट्य-प्रदीप' नामक नाट्य-ग्रन्थ सन् १६१३ ई० में लिखा। उन्होंने भी अपने ग्रन्थ का आधार धनंजय के दशरूपक और विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण को बनाया।

इनके अतिरिक्त राघवभट्ट का 'नाट्यप्रदीप', त्रिलोचनादित्य का 'नाट्यालोचन', वसन्तराज का 'नाट्यशास्त्र' आदि भरत की 'नाट्यसर्वस्व-दीपिका', अन्यदेव का

'भरतभाष्य', या 'सरस्वतीहृदयालंकार', मोहनदास का 'नाटकावतार' (रसोदधि) आदि नाट्य-सिद्धान्त पर लिखे ग्रन्थ हैं।

ह्रास का युग :

परवर्त्ती आचार्यों में ऐसा कोई विद्वान् नहीं था, जो भरत के समान अन्तर्व्यापिनी दृष्टि रखे और जिसने समाज का पूर्ण अध्ययन किया हो। सम्भवतः, यह काल भारतीय रंगमंच के ह्रास का काल था। दसवीं शती के बाद मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होते रहे, जिससे समाज क्षत-विक्षत हो रहा था। ऐसे समाज में संगठित मनोरंजन की न शक्ति रह गई थी और न साहस ही था। ऐसी दशा में नाटकों की प्रयोगात्मक व्याख्या नहीं हो सकती थी। ये आचार्य मौखिक शास्त्रालोचन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पा रहे थे। परवर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि ये ग्रन्थ रसों की संख्या, नायिकाओं के भेदोपभेद आदि तक ही सीमित थे। इस युग में मुसलमानों के प्रबल आक्रमणों के बाद सामाजिक विशृंखलता उत्पन्न हो गई, फलस्वरूप रंगमंच नष्ट हो गये। अब नाटक या रास आदि मठ-मन्दिरों में होने लगे, जिनका मुख्य उद्देश्य हरिकीर्त्तन हुआ करता था।

संस्कृत-नाट्यशास्त्र के आरम्भ और विकास की यही संक्षिप्त कहानी है। १३वीं शती के उपरान्त इसका ह्रास हो गया। इस ह्रास का प्रधान कारण समाज का विघटन था। मुसलमानों के प्रचण्ड आक्रमणों के फलस्वरूप नाटक जीवित कला नहीं रह सका, रंगमंच का विनाश हुआ, इसके साथ ही नाट्यशास्त्र के अध्ययन और अध्यापन की शृंखला समाप्त हो गई। राजाश्रय प्राप्त कर ही प्रायः संस्कृत-नाटक का विकास हुआ था। भारतीय राज्य-शक्ति के नष्ट होते ही राजाश्रय भी समाप्त हो गया। परिणाम-स्वरूप नाट्य-कला शनैः-शनैः नष्ट होती गई।

प्रमुख ग्रन्थ और उनके मूल सिद्धान्त

ऊपर नाट्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी जितने ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है, उनमें निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—भरत का नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त की अभिनवभारती, धनंजय का दशरूपक, राजा भोज का शृंगारप्रकाश, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण, शारदातनय का भावप्रकाशन और कविराज विश्वनाथ का साहित्यदर्पण। साहित्यदर्पण का छठा परिच्छेद नाट्य से सम्बन्ध रखता है।

परवर्त्ती ग्रन्थों में नाटक के सम्पूर्ण अंगों का विवेचन कम ही हुआ है, अधिक ध्यान रस और भाव पर दिया गया है। यह बात अभिनवभारती में भी देखी जा सकती है और प्रायः अन्य सभी ग्रन्थों में भी। भावप्रकाशन का आधार अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है, परन्तु यह ग्रन्थ भी अपने युग की प्रवृत्ति का अपवाद नहीं हो सका है। इसमें भी नाट्य के अन्य सभी अंगों का विवेचन प्रासंगिक ही रहा है। इसका मूल प्रतिपाद्य विषय नाटक की रचना और रस-प्रकरण ही है।

नाट्यशास्त्र में नाट्य के अभिनय-पक्ष या व्यावहारिक-पक्ष पर पूरा ध्यान दिया गया है। इसमें चारों प्रकार के अभिनय—वाचिक, आंगिक, सात्त्विक और आहार्य—का भी विस्तृत विवेचन हुआ है। रंगमंच के निर्माण और पूजन का भी विशद वर्णन है। परन्तु, परवर्त्ती ग्रन्थों में से किसी ने भी इस विषय पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। आंगिक और आहार्य अभिनय तो इन ग्रन्थों में अछूते ही रह गये।

अब कुछ प्रमुख ग्रन्थों के मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जा रहा है। भरत के नाट्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का विवरण देने के बाद अन्य ग्रन्थों के उन्हीं सिद्धान्तों की समीक्षा की जायगी, जहाँ नाट्यशास्त्र से उनका मतभेद है। शेष प्रायः सभी सिद्धान्त नाट्यशास्त्र के ही हैं।

नाट्यशास्त्र : नाटकों के मूल तत्त्वों, रंगमंच तथा अन्य उपकरणों का विस्तृत तथा सूक्ष्म वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र में देखा जा सकता है। इसमें कला-सम्बन्धी किसी भी पक्ष का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन प्राप्य है। भाषा, अलंकारशास्त्र, संगीत, नृत्य, चित्रकला, रंगसाजी, स्थापत्य तथा मूत्तिकला का एक स्थान पर वर्णन नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। नाट्य-सिद्धान्त पर जितने ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, सभी भरत के नाट्यशास्त्र पर ही आधारित हैं। युग के परिवर्त्तन तथा स्वतन्त्र चिन्तन के कारण कुछ आचार्यों ने कहीं-कहीं थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया है।

नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय में नाटक तथा नाट्यवेद की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। दूसरे तथा तीसरे अध्यायों में रंगभूमि और रंगमंच का विस्तृत विवरण है, फिर विभिन्न देवताओं के पूजन का विधान है। चौथे अध्याय में ताण्डव-नृत्य का विस्तृत विवरण है। पाँचवें अध्याय में पूर्वरंग-विधान का वर्णन किया गया है। तदनन्तर चार प्रकार के अभिनय का वर्णन है। नाट्यशास्त्र के अनुसार अभिनय चार प्रकार का होता है : सात्त्विक, आंगिक, वाचिक तथा आहार्य। छठे एवं सातवें अध्यायों में सात्त्विक अभिनय का विवेचन किया गया है। सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत भावाभिव्यक्ति आती है। छठे अध्याय में रसों का तथा सातवें अध्याय में भावों का विवेचन हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से ये दो अध्याय अत्यन्त मूल्यवान् हैं।

आठवें से तेरहवें अध्यायों में आंगिक अभिनय का वर्णन है और १४वें से १६वें अध्यायों में वाचिक अभिनय का। वाचिक अभिनय के अन्तर्गत छन्दोविधान, काव्य के गुण-दोष, अलंकार, भाषा आदि का विवेचन है। १८वें अध्याय में नाटक आदि दशरूपक का विवेचन किया गया है। १९वें अध्याय में वृत्ति, सन्धि, अवस्था, अर्थ-प्रकृति आदि का विस्तृत वर्णन है। २०वें अध्याय में सात्त्वती, भारती, केशिकी तथा आरभटी—इन चार वृत्तियों का विवरण दिया गया है। २१वें से २७वें अध्यायों में आहार्य अभिनय तथा उससे सम्बद्ध विषयों का वर्णन है। २८वें से ३३वें अध्यायों का विषय संगीतशास्त्र है। ३४वें अध्याय में स्त्री-पुरुष पात्रों की प्रकृति तथा ३५वें अध्याय में सूत्रधार, पारिपार्श्वक आदि का विवेचन है। ३६वाँ अध्याय उपसंहारात्मक है।

अपने विषय का विस्तृत विवेचन करने के पूर्व भरत ने छठे अध्याय के आरम्भ के ही एक श्लोक में अपने विषय का संकेत दे दिया है :

रसा भावा ह्यभिनया धर्मो वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च सङ्ग्रहः ॥[1]

भरत के अनुसार ये ११ सिद्धान्त मिलकर नाट्य की प्रकृति का निर्माण करते हैं। इनमें प्रधान प्रथम सिद्धान्त रस ही है। शेष भाव से रंग तक १० तत्त्व रस की ही उत्पत्ति के लिए साधन माने गये हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध रससूत्र में रस की उत्पत्ति तथा प्रकृति के विषय में संकेत किया है।

भरत के अनुसार रस केवल आठ होते हैं। जब कुशल नट दस रूपकों का अभिनय करते हैं, तो प्रेक्षक का चित्त ऐसी स्थिति में आ जाता है कि वह देश, काल, व्यक्ति में अन्तर भूल जाता है और उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे रस कहा गया है। इसके साथ स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का भी विवेचन किया गया है। रस के विवेचन में भरत का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक से अधिक अभिनय-परक है।

भरत ने दस ही रूपकों को स्वीकार किया, साथ ही संकर-रूप नाटिका को भी स्थान दिया। नाट्यशास्त्र में उपरूपकों का कोई उल्लेख नहीं है। वस्तु के अन्तर्गत कथानक के भेद, पाँच अर्थ-प्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं तथा पाँच सन्धियों का विवेचन किया गया है। संवाद के अन्तर्गत प्रकाश, स्वगत, अपवारित तथा जनान्तिक का विवरण दिया गया है। फिर नेता या नायक और नायिका का विश्लेषण करके इसके कई भेदों का वर्णन हुआ है। तत्पश्चात् नायक और नायिका के सहायकों का विवेचन है। परवर्त्ती आचार्यों ने भी इन विषयों का वर्णन किया। उनके वर्णन में कहीं-कहीं स्वतन्त्र उद्भावना है, किन्तु अधिकतर स्थानों पर भरत के ही मत का समर्थन हुआ है।

अभिनवभारती : भरत के नाट्यशास्त्र पर आचार्य अभिनवगुप्त ने एक टीका लिखी, जिसका नाम अभिनवभारती है। यह अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अभिनवभारती की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा हम रस-सिद्धान्त, नाट्य-सिद्धान्त संगीत आदि विषयों पर लिखनेवाले प्राचीनतम आचार्यों के सम्बन्ध में संकेत पाते हैं। भरत के प्रसिद्ध रससूत्र के तीन प्रमुख व्याख्याकार भट्टतोत, श्रीशंकुक तथा भट्टनायक के रस-निष्पत्ति पर विचार हम सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में पाते हैं। इसमें इन आचार्यों के सिद्धान्तों का सारांश देकर उनकी आलोचना की गई है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में एक नया सिद्धान्त अभिनवगुप्त ने बनाया, जो वास्तव में भट्टनायक के सिद्धान्त में परिष्कार तथा संशोधन करके स्थापित किया गया था। प्रायः सभी परवर्त्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया।

अभिनव ने ध्वनि और रस दोनों का प्रबल समर्थन किया। आनन्दवर्द्धन ने ही इस सिद्धान्त का सूत्रपात किया था, परन्तु विरोधियों की तीव्र आलोचना के कारण इसकी

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, श्लोक १०

जड़ हिल गई थी। अभिनवगुप्त ने अपने सबल समर्थन से इसे फिर दृढ़ किया। फिर, तो परवर्त्ती आचार्यों ने उनके सिद्धान्तों को बहुत आदर से ग्रहण किया। उनके अनुसार रस-ध्वनि ही काव्य की आत्मा है और गुण, वृत्ति आदि उसके सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

अभिनवभारती में व्यंजनावाद का समर्थन है, अतः इसमें रस-सिद्धान्त, शैवदर्शन तथा व्यंजनावाद की आधारशिला पर स्थापित है। अभिनवभारती में रस को व्यंग्य माना गया है और इसकी स्थिति सहृदय में स्वीकार की गई है, अनुकर्त्ता नट या अनुकार्य राम-दुष्यन्त में नहीं। रस की चर्वणा तथा निष्पत्ति के मत के अतिरिक्त अभिनवभारती में एक नई स्थापना की गई है, वह शान्तरस की स्थापना है। नाट्यशास्त्र में आठ ही रसों का उल्लेख है, परन्तु उसी के आधार पर अभिनवभारती में शान्तरस जैसे नवम रस की स्थापना हुई है। अभिनव ने न केवल शान्तरस की स्थिति सिद्ध की, वरन् यह भी सिद्ध कर दिया कि काव्य के सभी रूपों में इसका विकास किया जा सकता है। उन्होंने इसे अन्य रसों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

अभिनव का सिद्धान्त है कि लोक के प्रसंग में स्थायीभाव सुख तथा दुःख-रूपात्मक होते हैं, परन्तु नाट्य-प्रयोग में काल्पनिक अनुभव प्रत्यक्ष के समान होने पर भी लोक के सत्य तथा असत्य से विलक्षण होता है। जो अर्थ लौकिक यथार्थ के समान प्रतीत होता है, वह साधारणीकरण-व्यापार से आस्वाद्य होकर नाट्य का अनुभव माना जाता है। रति, ह्रास, उत्साह तथा विस्मय सुखात्मक होते हैं, परन्तु अवस्था-विशेष में इनमें भी दुःख का संयोग होता है। इसके विपरीत क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा दुःखात्मक माने गये हैं, परन्तु अवस्था-विशेष में इनमें भी सुख का मिश्रण हो जाता है। परन्तु, निर्वेद सदा सुखमय है।

अभिनव ने नान्दी के प्रयोग के विषय में चलनेवाली चर्चा का उल्लेख किया है। विद्वानों का एक दल कहता है कि नान्दी पूर्वरंग का उपलक्षण है। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि भरत ने केवल नान्दी के प्रयोग का उल्लेख किया है। अभिनव के उपाध्याय भट्टतोत के अनुसार यहाँ केवल नान्दी के प्रयोग का भाव है। अभिनव ने भी पूर्वरंग का अवसर नहीं माना प्रत्युत मंगल-कामना की दृष्टि से नान्दी का प्रयोग स्वीकार किया है।

वृत्ति के सम्बन्ध में अभिनव का विचार अभिनय को ध्यान में रखकर निर्धारित हुआ है। वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक सामान्य व्यापारों से सम्बद्ध क्रमशः भारती, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ हैं। केशिकी वृत्ति में किसी अपूर्व लालित्य का समावेश माना गया है। वास्तव में, अभिनव मानते हैं कि अभिनय का समस्त कार्य व्यापार वृत्तियों के कारण सुन्दर होता है।

भरत ने उपरूपकों का विवेचन नहीं किया, टीकाकार अभिनव ने भी उपरूपकों का कोई विवेचन नहीं किया, परन्तु अभिनवभारती में उपरूपकों का उल्लेख कई स्थलों पर पाया जाता है। उसमें कई पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनमें उपरूपकों का विवेचन किया गया था।

दशरूपक : नाट्य-विवेचन पर स्वतन्त्र रूप से लिखे गये ग्रन्थों में दशरूपक सार्वधिक प्रसिद्ध तथा प्रचलित है। इसके रचयिता धनंजय हैं और इसपर अवलोक नाम की टीका लिखनेवाले उनके छोटे भाई धनिक। उत्तरवर्त्ती नाट्य-सिद्धान्त पर दशरूपक का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इसमें चार प्रकाश हैं, जिनमें वस्तु-विभाग, अर्थ-प्रकृति, अवस्थाओं तथा सन्धियों के अंगों का विभाजन, अर्थोपक्षेपकों का वर्णन, नायक-नायिकाओं के वर्गीकरण के आधार का विवेचन, रस-प्रसंग आदि विषय हैं।

दशरूपक की कारिकाएँ भरत के नाट्यशास्त्र के ही सिद्धान्तों का संक्षेप हैं। इसीलिए विशेषतः नायिका-भेद तथा शृंगाररस के भेद-जैसे कुछ विषयों को छोड़कर दशरूपक में नाट्यशास्त्र का ही आश्रय लिया गया है। वैसे नाट्यशास्त्र में जिस प्रकार से आंगिक, वाचिक तथा आहार्य अभिनयों का विस्तृत वर्णन है, वैसा दशरूपक में नहीं है। नाट्यशास्त्र के सारे व्यापक विषयों को छोड़कर केवल नाट्य से सम्बद्ध विषय लिये गये हैं। दशरूपक का प्रमुख उद्देश्य रूपक के तीन भेदक तत्त्वों—वस्तु, नेता तथा रस के विश्लेषण एवं रूपकों के मुख्य दस भेदों के वर्णन तक ही सीमित है। दशरूपक में रूपक के स्पष्ट रूप से तीन भेदक तत्त्व माने गये हैं : वस्तु, नेता और रस। यह दशरूपक की मौलिक देन है।

दशरूपक अभिधा का समर्थन तथा व्यंजना का विरोध करता है। रस के सम्बन्ध में यह भट्टनायक का सिद्धान्त मानता है। दशरूपक ने नाटक में शान्तरस को स्थान नहीं दिया। दशरूपक की मान्यताओं को निम्नलिखित शब्दों में रख सकते हैं :

१. दशरूपक में व्यंजना-वृत्ति का निषेध किया गया है। धनंजय तथा धनिक अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य-वृत्ति को ही मानते हैं, व्यंजना अथवा तुरीया वृत्ति उन्हें मान्य नहीं। उनका विश्वास है कि स्थायीभाव (रस भी) विभावादि के द्वारा प्रतीत वाक्यार्थ ही है।

२. रस के सम्बन्ध में दशरूपक के सिद्धान्त को निम्नांकित रूप में कहा जा सकता है :

(क) रस वाक्य का तात्पर्य अर्थ ही है, व्यंग्य नहीं।

(ख) रस की विभावना होती है, विभावादि तथा रस में परस्पर भाव्य-भावक भाव है।

(ग) सामाजिक के लिए नट उसी प्रकार राम, दुष्यन्त आदि बन जाते हैं, जिस प्रकार बच्चे के लिए मिट्टी के हाथी, घोड़े वास्तविक हाथी, घोड़े बन जाते हैं।

३. नाटक में शान्तरस का निषेध—दशरूपक में शम स्थायीभाव तथा शान्त रस का निषेध किया गया है। ग्रन्थकार का तर्क है कि शम भाव या शान्तरस में समस्त

व्यापारों की समाप्ति होनी चाहिए, किन्तु इस व्यापार-समाप्ति का अभिनय नहीं हो सकता। अतः अनभिनेय होने के कारण नाटक में शान्तरस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। परन्तु, शान्तरस का निषेध केवल नाटकादि रूपकों में ही किया गया है।

नाट्यदर्पण : जैन आचार्यद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण भी बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये दोनों आचार्य नाट्यशास्त्र के निर्भीक रचयिता थे। उन्होंने अपने सभी पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों की यथावसर आलोचना की है। उन्होंने धनंजय, सागरनन्दी आदि का ही विरोध नहीं किया, वरन् अवसर आने पर भरत मुनि का भी विरोध किया। नाट्यशास्त्र के परवर्त्ती ग्रन्थों में, मौलिकता की दृष्टि से, नाट्यदर्पण का विशिष्ट स्थान है।

प्ररोचना के विषय में नाट्यदर्पण का मत नाट्यशास्त्र से भिन्न है। नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग के १९ अंगों का विधान है, जिनमें ९ यवनिका के भीतर और ९ बाहर किये जाते हैं। नाट्यदर्पण ने इनमें से केवल एक प्ररोचना को स्वीकार किया और शेष को छोड़ दिया। दूसरा अन्तर भारती वृत्ति के विवेचन में है। ग्रन्थकारों ने भरत मुनि के भारती वृत्ति के विवेचन में 'वदतो व्याघात' दोष दिखाया है।

भरत ने रूपक के १० भेद किये, परन्तु नाट्यदर्पणकार ने जैनधर्म के कुछ सिद्धान्तों के अनुसार १२ भेद किये और मंगलाचरण में ही इसकी ओर संकेत कर दिया है। भरत के १० रूपक-भेदों में से नाटिका और प्रकरणी अधिक मानकर नाट्य-दर्पण में नवीन पद्धति से १२ भेदों का वर्गीकरण किया गया है। नाट्यदर्पण में तेरह उपरूपकों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में नाटक, प्रकरण, नाटिका तथा प्रकरणी में सात्त्वती, केशिकी, आरभटी तथा भारती वृत्तियाँ मानी गई हैं, किन्तु व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, अंक, ईहामृग तथा वीथी में केशिकी-रहित केवल तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं। इस प्रकार, वृत्तियों के आधार पर रूपकों का वर्गीकरण नाट्यदर्पण की मौलिक देन है।

नाट्यदर्पण में रस-विवेचन भी पूर्वाचार्यों से कुछ भिन्न प्रकार का है। इसमें यथास्थान मम्मट तथा अभिनवगुप्त के भी मतों का खण्डन किया गया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का रस-विवेचन मौलिक अवश्य है, भले ही सर्वथा मान्य नहीं हो। उनके मतानुसार शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुखात्मक रस हैं, परन्तु करुण, भयानक, बीभत्स और रौद्र रस दुःखात्मक हैं।

इस ग्रन्थ में रस के मूलतः नौ भेद माने गये हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त तृष्णा को स्थायी मानकर लौल्य रस, आर्द्रता को स्थायी मानकर स्नेहरस, आसक्ति को स्थायी मानकर व्यसनरस, अरति को स्थायी मानकर दुःखरस और संतोष को स्थायी मानकर सुखरस की अनुभूति स्वीकार की गई है। इस प्रकार, ग्रन्थकारों ने स्वतन्त्र रूप से रस की

विवेचना की। परन्तु, आगामी आचार्यों ने उनके मत को मान्यता नहीं दी और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने उनके मत की सर्वथा अवहेलना की।

नाट्यदर्पण के अनुसार रसानुभूति के पाँच आधार होते हैं : १. लौकिक रूप में स्थित पुरुष; २. नट; ३. काव्य-नाटक के श्रोता; ४. काव्य-नाटक के अनुसन्धाता अर्थात् कवि एवं नाटककार; ५. सामाजिक। अनुकार्य, अनुकर्त्ता, श्रोता तथा अनुसन्धाता को तो प्रत्यक्ष रूप में रसानुभूति होती है, किन्तु सामाजिक को परोक्ष रूप में। नाट्यदर्पण के अनुसार प्रेक्षक आदि में रहनेवाला रस लोकोत्तर है और शेष लौकिक।

भावप्रकाशन : शारदातनय का भावप्रकाशन भी नाट्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी एक प्रख्यात ग्रन्थ है। इसमें दशरूपक तथा नाट्यदर्पण की अपेक्षा अधिक विस्तार है। इसमें दस अधिकारों में नाट्य-सम्बन्धी सभी विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। भावप्रकाशन का आधार अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक है; क्योंकि शारदातनय के गुरु दिवाकर स्वयं एक नाट्यशाला के निर्देशक थे। भावप्रकाशन में अधिक पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों का आधार है, परन्तु विषय के सम्बन्ध में इसकी अपनी मौलिक दृष्टि भी है। इसमें नाट्य के विषय को भाव के आधार पर ग्रहण किया गया है; क्योंकि नाट्य से भावों का ही प्रकाशन होता है, इसीलिए ग्रन्थ का नाम भावप्रकाशन रखा गया है। यही कारण है कि ग्रन्थ का आरम्भ भाव तथा रस से किया गया है।

इस ग्रन्थ में नायक-नायिका, नाटक-रचना और कथावस्तु के विभाजन का विवेचन करके रूपक के प्रकारों की चर्चा की गई है। दस रूपकों के बाद बीस उपरूपकों का विवरण दिया गया है। वस्तुतः, इतने अधिक उपरूपकों का विवेचन किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। शारदातनय ने उपरूपकों के लक्षण के विषय में अनेक आचार्यों के मत दिये हैं, इससे सिद्ध होता है कि इस विषय पर कई ग्रन्थ वर्त्तमान थे। फिर अन्य अभिनय आदिक नाट्य-प्रसंगों का संक्षेप में विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में तद्विषयक अन्य समसामयिक ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विस्तार है और लेखक ने अपने पूर्ववर्त्ती कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु आदि के उद्धरण दिये हैं, नाट्यशास्त्र का आधार तो उन्होंने स्वीकार किया ही है। साथ ही, रुद्रट, अभिनव, भोज, धनिक आदि का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है।

फिर भी, इसमें नाट्य के समस्त अंगों का विवेचन नाममात्र के लिए ही है, नाटक की रचना तथा रस-प्रकरण ही इसके मूल प्रतिपाद्य विषय हैं। शारदातनय ने भरत के नाट्यशास्त्र का मुख्य रूप से अनुसरण किया है, परन्तु जहाँ-कहीं महत्त्वपूर्णक लेखकों ने भरत से मतभेद प्रकट किया है, वहाँ उन्होंने उनकी भी सम्मति दे दी है। रस के विषय में शारदातनय ने अभिनवगुप्त का अनुसरण करके स्वीकार किया है कि रस ही काव्य की आत्मा है और अलंकार, रीति, गुण आदि काव्य का केवल महत्त्व बढ़ाते हैं। यद्यपि वे अभिनवगुप्त से सामान्यतः सहमत हैं, फिर भी कई स्थलों पर मतभेद प्रदर्शित करते हैं।

उदाहरणार्थ वे अभिनव के समान यह नहीं मानते कि उत्तम काव्य में रस सदा व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं। इस स्थल पर शारदातनय ने दशरूपक का अनुसरण करके एक नवीन मार्ग निकाला है कि रस वाच्य हो या व्यंग्य, सदा काव्य की आत्मा होता है। इसी प्रकार, उन्होंने शब्दों की व्यंजना-वृत्ति को तात्पर्य-वृत्ति से पृथक् अस्तित्व नहीं दिया और ध्वनि को भी तात्पर्य-वृत्ति में अन्तर्भूत कर लिया है।

दो अन्य स्थलों पर भी शारदातनय ने अभिनवगुप्त से मतभेद प्रकट किया है। रस-निष्पत्ति के विषय में प्राय: सभी रसाचार्यों ने अभिनव का अनुसरण किया, परन्तु शारदातनय ने भट्टनायक के द्वारा प्रवर्तित तथा धनिक के द्वारा संशोधित सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होंने काव्य तथा रस में भाव्य-भावक भाव माना, व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं। दूसरा स्थल वह है, जहाँ शारदातनय ने अभिनवगुप्त आदि की आलोचना शान्त रस की स्थिति के विषय में की है। इस विषय में शारदातनय ने धनंजय का अनुसरण किया है और कहा है कि रंगमंच पर शान्त रस का अभिनय नहीं हो सकता, परन्तु उन्होंने स्वीकार किया है कि शान्त रस बहुत महत्त्वपूर्ण रस है और नाटक के अतिरिक्त अन्य काव्य में इसकी स्थिति होती है।

इस प्रकार, भावप्रकाशन में लेखक का उद्देश्य भरत के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती नाट्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का संग्रह करके और उनकी परीक्षा करके उन्हें संशोधित रूप में रखना है। रस-सिद्धान्त में शारदातनय का पूर्ण विश्वास है और उन्होंने भोज के 'शृंगारप्रकाश' के आधार पर मुख्यत: शृंगार रस का विकास किया है।

साहित्यदर्पण : कविराज विश्वनाथ के प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण का स्थान संस्कृत-साहित्यशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की बहुत प्रतिष्ठा है। इसके छठे परिच्छेद में नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन किया गया है, जो मुख्यत: भरत के नाट्यशास्त्र के कुछ अध्यायों पर आधारित है। इसमें दशरूपक और उसकी टीका 'अवलोक' से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। प्राचीन परम्परागत सिद्धान्तों की व्याख्या के प्रसंग में साहित्यदर्पण महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राचीन भारतीय नाटकों का विवेचन करनेवाले पाश्चात्त्य विद्वान् इसके छठे परिच्छेद पर बहुत निर्भर करते हैं। इसके तीसरे परिच्छेद में रस का तथा उसके आलम्बन-रूप नायक-नायिका का विवेचन किया गया है।

रस के विषय में साहित्यदर्पण में अभिनवगुप्त का अनुसरण किया गया है; इतना अन्तर अवश्य है कि इसमें दसवें रस के रूप में 'वात्सल्य' को मान्यता दी गई है। विश्वनाथ भी व्यंजनावादी हैं। साहित्यदर्पण में भी रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। रस सदा सुखात्मक तथा ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। इस ग्रन्थ में रूपक के दस भेदों के अतिरिक्त १८ भेद उपरूपक के भी माने गये और इसी के आधार पर परवर्ती साहित्यकारों तथा पाश्चात्त्य विद्वानों ने उपरूपक के १८ भेद माने। शृंगार रस, नायक के दूत आदि के कुछ नवीन उपभेद किये गये हैं। फिर भी, साहित्यदर्पण में विषय का जो प्रतिपादन किया गया है, उसमें कोई नवीनता नहीं है।

भरत के नाट्य-सिद्धान्त का परवर्त्ती आचार्यों पर प्रभाव

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का मूल स्रोत भरत का नाट्यशास्त्र ही है। पहले संकेत किया जा चुका है कि भरत के भी पूर्व अनेक नाट्याचार्यों ने नाट्य-सिद्धान्त के विकास में योगदान किया है, परन्तु उनमें से किसी का भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यत्र-तत्र उन ग्रन्थों या उनके सिद्धान्तों का उल्लेख ही पाया जाता है। भरत का नाट्यशास्त्र सुनियोजित ढंग पर लिखा गया है और उसमें नाट्य-सिद्धान्त के सभी अंगों का समुचित रीति से विवेचन किया गया है। सभी परवर्त्ती नाट्याचार्य भरत से निश्चित रूप से प्रभावित हैं। किसी-किसी आचार्य ने भरत से जहाँ-तहाँ किसी-किसी विषय में मतभेद प्रदर्शित किया है। उन नाट्याचार्यों पर भरत का प्रभाव दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह भी दिखाने की चेष्टा की जा रही है कि भरत के मत से उनके सिद्धान्त में क्या अन्तर है।

पूर्वरंग, प्रस्तावना आदि : भरत ने पूर्वरंग और दैवत-पूजन का बहुत विस्तृत विवेचन दिया है, परन्तु सभी परवर्त्ती आचार्यों ने इतने विस्तार में नहीं जाकर बहुत संक्षेप में ही इसका उल्लेख किया है। इन आचार्यों ने इतने विस्तार की आवश्यकता नहीं समझी। जहाँ तक पूर्वरंग के लक्षण का सम्बन्ध है, धनंजय, धनिक, शारदातनय, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने भरत का ही अनुकरण किया है। इस विषय में भरत ने विधान किया है कि भाण्ड तथा तन्त्री-वाद्यों का संयोग और पाठ्य-योग आदि जो प्रयोग-सम्बन्धी अंग हैं, उन सबका सम्यक् सम्पादन होना चाहिए। उन्होंने पूर्वरंग में १९ अंगों का विधान किया है, जिनमें ९ यवनिका के भीतर और १० यवनिका के बाहर किये जाते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इनमें केवल प्ररोचना को ग्रहण किया है, शेष को छोड़ दिया है। परन्तु, अन्य आचार्यों ने इन्हें अनावश्यक समझकर इनका कोई उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः, भरत के समय में इतने विस्तृत पूर्वरंग का जो महत्त्व रहा हो, परन्तु धनंजय का समय आते-आते इतना विस्तार अनावश्यक ही माना जाता था, इसीलिए इन उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने पूर्वरंग का इतना विस्तार नहीं किया।

भरत ने रंगदैवत-पूजन का इतना विस्तार क्यों किया? जान पड़ता है कि 'असुर-पराजय' और 'अमृत-मन्थन' नामक रूपकों का अभिनय करते समय असुरों (आर्यों के विरोधी अनार्यों) ने जो उत्पात और विघ्न उपस्थित किये, उसी के कारण भरत ने देवताओं को प्रसन्न करके अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इतने पूजन का विधान किया। परन्तु, आगे चलकर धनंजय आदि आचार्यों के युग में अनार्यों की ओर से किसी उत्पात की आशंका नहीं रह गई थी; अतः उन आचार्यों ने इतना विस्तृत विधान नहीं किया। रंगदैवत-पूजन के पीछे तत्कालीन परिस्थिति का हाथ जान पड़ता है।

प्रस्तावना के विषय में भरत ने बहुत कम ही लिखा और परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने उसका विस्तृत विवेचन किया। भरत ने लिखा है कि अनेक प्रकार के भावों तथा रसों से

समन्वित, सुन्दर वाक्योंवाले मधुर श्लोकों से रंग (सामाजिकों) को प्रसन्न करके कवि के नाम का कीर्त्तन या वर्णन किया जाता है। इसके बाद कथावस्तु के सन्दर्भ का संकेत देने के लिए उद्घातक का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार, प्रस्तावना करके प्रस्तावक रंग-स्थल से निकल जाय। स्पष्टतः, भरत ने विषय का विस्तार नहीं किया। परन्तु, आगे चलकर धनंजय, शारदातनय तथा अग्निपुराणकार ने आमुख या प्रस्तावना के तीन अंग स्वीकार किये—कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा प्रयोगातिशय। विश्वनाथ ने और भी विस्तार किया और प्रस्तावना के पाँच अंग माने—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक तथा अवलगित।

नान्दी का लक्षण भरत ने दिया और नाटक में इसका प्रयोग अनिवार्य माना। लगभग सभी परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने नान्दी को उसी रूप में स्वीकार किया और नाटक में अनिवार्य रूप से इसके प्रयोग का विधान किया।

वस्तु : वस्तु के सम्बन्ध में भी भरत मुनि ने जो नियम बनाये, उन्हें सभी नाट्याचार्यों ने स्वीकार किया। उन्होंने वस्तु को बहुत महत्त्व प्रदान किया और इसे नाटक का शरीर माना :

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्त्तितम्।[1]

शारदातनय ने भी यही भाव दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है :

वस्तु तत्स्यात्प्रबन्धस्य शरीरं कविकल्पितम्।[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन आचार्यों की दृष्टि में वस्तु का कितना महत्त्व है।

भरत मुनि ने कथानक के दो भेद किये : आधिकारिक और प्रासंगिक। धनंजय आदि सभी परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने यह भेद इसी रूप में स्वीकार किया। किसी ने भी भरत से मतभेद दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। उत्पत्ति की दृष्टि से भरत ने कथानक या वस्तु के तीन विभाग किये : प्रख्यात, उपपाद्य तथा मिश्र। सभी नाट्याचार्यों ने इस प्रकार का विभाग स्वीकार किया।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में वस्तु की पाँच अर्थ-प्रकृतियों का उल्लेख किया है : बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। ये अर्थ-प्रकृतियाँ सभी नाट्याचार्यों को मान्य हुईं और किसी ने भी इनका विरोध करना उचित नहीं समझा। अर्थ-प्रकृति का तात्पर्य उन तत्त्वों से है, जो प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होते हैं। सभी आचार्यों ने इनको उचित महत्त्व प्रदान किया।

नाट्यशास्त्र ने नाटक के इतिवृत्त के सम्यक् विकास में पाँच अवस्थाएँ स्वीकार की हैं। ये अवस्थाएँ नाटक के इतिवृत्त की गति को प्रकट करनेवाली होती हैं। ये

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १९, का० १

२. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० २००

उक्त अवस्थाएँ हैं : आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। परवर्त्ती आचार्यों ने अन्य विषयों की ही तरह इस विषय में भी भरत का अनुसरण किया। शारदातनय ने उनका मत उन्हीं के शब्दों में भावप्रकाशन में उद्धृत किया। धनंजय, विश्वनाथ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने दूसरे शब्दों में वही बात व्यक्त की।

भरत ने नाटक के इतिवृत्त में अर्थ-प्रकृतियों तथा अवस्थाओं के अतिरिक्त सन्धियों को भी स्थान दिया और उनका विशद विवेचन किया। उनके अनुसार सन्धियाँ पाँच हैं : मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण। आगे चलकर धनंजय, शारदातनय, विश्वनाथ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने भरत का अनुसरण करके सन्धियों का विवेचन किया। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में सन्धि का विवेचन बहुत विस्तार से किया है। उन्होंने अपने ढंग से इस विषय का विवेचन किया है। भरत ने इन पाँच सन्धियों के ६४ अंगों का उल्लेख किया है। इस विषय में भी सभी नाट्याचार्यों ने भरत मुनि का अनुसरण करके उन अंगों का पूर्ण विवेचन किया है।

भरत मुनि ने वस्तु के फिर दो विभाग किये—दृश्य तथा सूच्य। धनंजय आदि आचार्यों ने इस विषय में भी भरत का अनुसरण किया। भरत ने सूच्य अंश की सूचना देने के लिए पाँच अर्थोपक्षेपकों का विधान किया है—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार तथा अंकमुख। सभी परवर्त्ती नाट्याचार्य इस विषय में भी भरत से पूर्णतः प्रभावित हैं। अंकमुख या अंकास्य के लक्षण में धनंजय ने भरत मुनि से मतभेद दिखाया है। विश्वनाथ ने इस विषय में भरत का और शारदातनय ने धनंजय का अनुसरण किया। शारदातनय ने विश्वनाथ के दिये लक्षण तथा उदाहरण भी दिये। परन्तु, इस बात में सन्देह नहीं कि अर्थोपक्षेपकों के विषय में भी भरत का प्रभाव अन्य आचार्यों पर पर्याप्त रूप से पड़ा। जान पड़ता है कि अंकमुख के विषय में विश्वनाथ को धनंजय का मत पसन्द नहीं था, धनिक-विरोधी ही मत उन्हें अधिक पसन्द था, परन्तु वे अपने ऊपर विरोध का यह श्रेय नहीं लेना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वृत्ति में लिख दिया : **एतच्च धनिक-मतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु अङ्कावतारेणैवेदं गतार्थम् इत्याहुः।**

भरत मुनि ने वस्तु के गठन में पताका-स्थानक का विधान करके चार भेदों का उल्लेख किया। विश्वनाथ ने भरत का ही अनुकरण करके चार प्रकार के पताका-स्थानक का उल्लेख किया। विश्वनाथ की परिभाषाएँ भरत के ही अनुकरण पर हैं और उन्हीं के श्लोकों में एक-आध शब्दों में परिवर्त्तन कर दिया गया है। किन्तु, धनंजय-धनिक ने दो ही प्रकार के पताका-स्थानक स्वीकार किये। शारदातनय ने धनंजय के अनुकरण पर दो ही भेद माने, परन्तु 'अन्ये' लिखकर भरत मुनि के भी श्लोकों को उद्धृत करके उनका भी मत लिख दिया। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भरत मुनि से प्रभावित होकर पताका-स्थानक के चार भेद माने। इस विषय में सभी नाट्याचार्यों ने भरत से प्रभाव ग्रहण किया, केवल धनंजय ने पताका-स्थानक का सिद्धान्त भरत से ग्रहण करके भी कुछ नवीनता दिखाई।

भरत ने वस्तु के फिर तीन विभाग किये—सर्वश्राव्य या प्रकाश, नियतश्राव्य और अश्राव्य या स्वगत। फिर उन्होंने नियतश्राव्य के दो भेद किये—जनान्तिक और अपवारित। धनंजय, विश्वनाथ आदि सभी नाट्याचार्यों ने इस विषय में भी भरत से प्रभाव ग्रहण किया और अपने ग्रन्थों में इन्हें स्थान दिया। सभी ने आकाश-भाषित को भी उसी रूप में ग्रहण किया।

पात्र : नायक—भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में नायक या राजा में सभी गुणों का समावेश कर दिया है। शायद ही कोई गुण छूटा हो, जिसकी सम्भावना उन्होंने नायक में नहीं की हो। धनंजय आदि सभी परवर्त्ती आचार्यों ने भी राजा को ही नायक स्वीकार किया और उसमें सभी गुणों का समावेश माना। धनंजय ने दो श्लोकों में उन सारे गुणों का विवरण दिया है। विश्वनाथ ने एक ही श्लोक में नायक के सभी प्रमुख गुणों का उल्लेख किया है। इन आचार्यों की दृष्टि में किसी नाटक के नायक को सर्वगुण-सम्पन्न होना आवश्यक है। संस्कृत-नाटकों का नायक वही व्यक्ति हो सकता है, जो सभी गुणों से युक्त हो। स्पष्टतः नाट्यशास्त्र में जो परम्परा चलाई गई, उसी का प्रभाव सभी परवर्त्ती नाट्याचार्यों पर पड़ा।

भरत ने नायक के चार भेद माने—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर-प्रशान्त। उनके बादवाले सभी नाट्याचार्यों ने इन भेदों को स्वीकार किया। नाट्यशास्त्र में बताया गया कि देवता धीरोद्धत, राजे धीरललित, सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त और ब्राह्मण तथा वणिक् धीरप्रशान्त नायक होते हैं। परन्तु, परवर्त्ती आचार्यों में ऐसा कोई आग्रह नहीं दिखाई देता। उनमें से किसी ने भी इस बात का उल्लेख नहीं किया।

परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने नायक के विषय में एक नवीन उद्भावना की है, जो भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं है। धनंजय ने नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि से नायक के चार भेद किये—अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट। यह विभाग शृंगार रस के नायकों में माना गया है। शारदातनय, विश्वनाथ आदि नाट्याचार्यों ने यह विभाग स्वीकार किया है। धनंजय का समय आते-आते शृंगार रस के अधिक नाटक लिखे जाने लगे थे। जान पड़ता है कि इसीलिए इस नवीन उद्भावना की आवश्यकता प्रतीत हुई।

सहायक—भरत ने नाटक में नायक के अतिरिक्त कई अन्य पात्रों का विवरण दिया है। वे सभी किसी-न-किसी रूप से नायक के सहायक होते हैं। ये सहायक दो प्रकार के हैं : १. अन्तःपुर के सहायक, जैसे—स्नातक, कंचुकीय, वर्षधर, औपस्थानिक और निर्मुण्ड। ये नायक को उसके अन्तःपुर के कार्यों में सहायता पहुँचाते हैं। २. दूसरे प्रकार के सहायक राजा या नायक के बाह्य कार्यों में सहायता करते हैं; जैसे—राजा या मित्र, सेनापति, कुमार, मन्त्री, सचिव और प्राड्विवाक। इसके बाद उन्होंने प्रयोक्ताओं का विवरण दिया है, जिनमें सूत्रधार, पारिपार्श्वक, विट, शकार, विदूषक और चेट हैं। भरत ने इन पात्रों के गुणों का विस्तार से वर्णन किया है।

परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने इस विषय में भी भरत द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किया, परन्तु कहीं-कहीं थोड़ा परिवर्त्तन भी कर दिया। धनंजय ने नायक के सहायकों में पीठमर्द, विट और विदूषक का उल्लेख किया और संक्षेप में उनके लक्षण लिखे। ये राजा के शृंगारी सहायक हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी उसके कुछ सहायक होते हैं। अनेक कार्यों में मन्त्री सहायक होता है। नायक के धर्माचरण में ऋत्विक्, पुरोहित, तपस्वी तथा ब्रह्मज्ञानी महात्मा सहायक होते हैं। नायक के राजा होने पर उसके दण्ड-विधान में सहायता करनेवाले मित्र (राजा), युवराज, आटविक, सामन्त तथा सैनिक होते हैं। नायक के अन्तःपुर में वर्षधर, किरात, गूँगे, बौने आदि का समावेश किया गया है। इनके अतिरिक्त म्लेच्छ, शकार और आभीर अपने-अपने कार्य में राजा के सहायक होते हैं।

इस विषय में विश्वनाथ ने धनंजय का ही अधिक अनुसरण किया है। उन्होंने भी नायक का मुख्य सहायक पीठमर्द को ही माना और शृंगार के सहायकों में विट, चेट तथा विदूषक को रखा। फिर उन्होंने राज्य की चिन्ता में नायक का अर्थ-विषयक सहायक मन्त्री को माना। अन्तःपुर के सहायकों में विश्वनाथ ने बौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ, आभीर, कुबड़ा, शकार आदि को माना। फिर दण्ड के सहायकों में मित्र, कुमार, आटविक, अधीनस्थ राजा तथा सैनिक गिनाये गये हैं। धर्म कार्य में ऋत्विक्, पुरोहित, ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी आदि माने गये हैं। भरत ने पात्रों में दूत को भी रखा है। विश्वनाथ ने इसका विस्तार करके तीन प्रकार के दूतों का वर्णन किया है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने नायक के सहायकों का जो विवेचन किया, उसी के आधार पर धनंजय ने भी अपना विवेचन प्रस्तुत किया, परन्तु उसमें आवश्यकतानुसार थोड़ा परिवर्त्तन भी कर दिया। विश्वनाथ ने इस विषय में भरत की अपेक्षा धनंजय का ही अधिक अनुसरण किया और उन्हीं के आधार पर अपना विवेचन प्रस्तुत किया।

नायिका : भरत ने नाट्यशास्त्र में नायिका के चार भेदों का उल्लेख किया : दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री तथा गणिका। परन्तु, परवर्त्ती नाट्याचार्यों को यह वर्गीकरण मान्य नहीं हुआ। उन लोगों ने दूसरी ही रीति से नायिका का वर्गीकरण किया। भरत ने दूसरी दृष्टि से नायिका के आठ भेद किये : स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका। धनंजय ने इन भेदों को स्वीकार किया और इनके अतिरिक्त स्वकीया, परकीया तथा सामान्याभेद किये। फिर इनके अनेक भेदोपभेद हुए। विश्वनाथ ने इस विषय का और भी विस्तार किया। भानुदत्त ने भी इस विषय में स्वतन्त्र विवेचन किया। इन भेदोपभेदों के लक्षण भी सभी ने एक से ही दिये।

स्पष्टतः नायिका-भेद के विषय में भरत का विशेष प्रभाव परवर्त्ती आचार्यों पर नहीं पड़ा। नायिका-भेद परवर्त्ती नाट्याचार्यों तथा काव्याचार्यों का प्रिय विषय रहा है और सभी ने भरत का स्वल्प आधार लेकर नवीन उद्भावनाएँ कीं। ब्रजभाषा के कवियों ने भी

नायिक-भेद का विस्तृत विवेचन किया। इस विषय में नाट्यशास्त्र का थोड़ा ही प्रभाव माना जायगा। वस्तुतः, संस्कृत के पूरवर्त्ती काव्यशास्त्रियों तथा ब्रजभाषा के कवि-आचार्यों का नायक-नायिका-भेद-वर्णन काव्य को ध्यान में रखकर हुआ है, नाटक को नहीं।

भरत ने अन्तःपुर की अनेक स्त्रियों का वर्णन किया है; जैसे—महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थायिनी एवं भोगिनी। फिर कई सहायिकाओं का भी विवरण दिया गया है; जैसे—शिल्पकारी, नर्त्तकी, आयुक्ता, परिचारिका, महत्तरा, प्रतिहारी, कुमारी, स्थविरा आदि। उन्होंने सबके विस्तृत लक्षण दिये। धनंजय ने इनका तो विवरण नहीं दिया, परन्तु नायिकाओं से नायक का समागम करानेवाली कुछ स्त्रियों का विवेचन किया है। विश्वनाथ ने भी धनंजय के अनुकरण पर दूतियों का ही वर्णन किया और दूतियों के कई भेद भी बताये। शारदातनय का भी नायिका-भेद-वर्णन धनंजय के ही अनुकरण पर है।

रस : परिभाषा या लक्षण—रस की परिभाषा सबसे पहले हम भरत के नाट्यशास्त्र में पाते हैं। उन्होंने प्रश्न उठाया है और स्वयं उत्तर दिया है : **अत्राह—रस इति कः पदार्थः। उच्यते—आस्वाद्यत्वात्।**[1] भरत मुनि का कथन है कि आस्वादनीय होने से रस कहा जाता है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि किसका आस्वादन होता है? भरत मुनि ने उसी स्थान पर इसका भी उत्तर दिया है कि जैसे नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाकर रसास्वादन करते हुए सुमनापुरुष हर्ष प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अनेक तरह के भावों और अभिनयों से युक्त स्थायीभाव का सहृदय दर्शक आस्वाद करते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं।

इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक की दृष्टि से भावों का भोग रस नहीं है, वरन् भोग से उत्पन्न होनेवाला आनन्द ही रस है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामाजिक की भावानुभूति के आस्वाद से उत्पन्न आनन्द ही रस कहा जा सकता है।

भरत मुनि के मत से सहृदय के हृदय में स्थित स्थायीभाव ही उचित वातावरण पाकर रस-रूप में परिणत हो जाते हैं और रस उत्पन्न करने के लिए उचित वातावरण की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से होती है। उन्होंने अपने रससूत्र में यही तथ्य रखा है : **'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।'** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायीभाव रस को प्राप्त होते हैं। भरत ने एक उदाहरण देकर यह समझाया है। जैसे गुड़ आदि द्रव्यों और व्यंजनों एवं औषधि आदि से षाडव या प्रपानक आदि से रस उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अनेक भावों के उपगत होने से स्थायीभाव रसत्व प्राप्त करते हैं।

आगे चलकर रसशास्त्रियों ने इस रस या आनन्द को आध्यात्मिक रूप दे दिया। तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्य **'रसो वै सः'** के आधार पर इन आचार्यों ने इसे ब्रह्मानन्द-सहोदर भी कहा है। यह रस लौकिक होते हुए भी अलौकिक तथा दिव्य है। अग्निपुराण

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, पृ० ३१५ (डॉ० रघुवंश द्वारा अनुवाद)**

में काव्य द्वारा उत्पन्न चैतन्य चमत्कार को रस कहा गया है। उक्त पुराण में कहा गया है कि वेदान्त आदि में जिस ब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य, ज्योति, ईश्वर कहा गया है, उसका सहज स्वरूप आनन्द है। उस आनन्द की प्राप्ति चैतन्य चमत्कार के रूप में होती है। इसी को रस की संज्ञा दी जाती है।[1]

इस तथ्य को अभिनवगुप्त ने और विस्तार दिया। उनका कथन है कि वासना के रूप में रहनेवाली रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण के कारण निर्वैयक्तिक हो जाने पर आनन्दस्वरूप हो जाती हैं। उस समय इनका आनन्द ब्रह्मानन्द के समकक्ष हो जाता है। भट्टनायक ने भी रस को परब्रह्म के सदृश माना है। मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इसी मत की पुष्टि की है। अभिवनगुप्त आदि आचार्य व्यंजनावादी थे और इन लोगों ने रस को व्यंग्य माना है।

परन्तु, भरत के मत के अधिक निकट मीमांसक भट्टलोल्लट जान पड़ते हैं। ये अभिधावादी थे और इनके मत का प्रभाव धनंजय और धनिक पर पड़ा जान पड़ता है। धनंजय का मत है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं व्यभिचारियों के द्वारा जब रत्यादि स्थायीभाव आस्वाद्य—चर्वणा के योग्य—बना दिया जाता है, तो वही रस कहलाता है। उन्होंने अन्य आचार्यों के समान रस को ब्रह्मानन्द या ब्रह्मानन्द-सहोदर नहीं माना। धनंजय-धनिक का मत भरत के अधिक निकट प्रतीत होता है।

स्मरणीय है कि भरत मुनि के प्रसिद्ध रससूत्र को सभी परवर्त्ती आचार्यों ने स्वीकार किया और भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि ने अपने-अपने दार्शनिक मतों के अनुसार उसकी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, जिससे सभी में कुछ अन्तर दिखाई देता है। बाद के रसाचार्यों ने अभिनवगुप्त द्वारा दी गई व्याख्या स्वीकार कर ली। अतः, रसवाद के सभी आचार्यों पर भरत का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का रस-विवेचन पूर्वाचार्यों से कुछ भिन्न है। ग्रन्थकारों ने अपने पूर्वाचार्य अभिनवगुप्त तथा मम्मट का निस्संकोच रूप से खण्डन किया है। उन्होंने रस को सुख-दुःखात्मक दोनों माना है। उनके अनुसार श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त सुखात्मक हैं, किन्तु करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स रस दुःखात्मक हैं। वे काव्य और नाटक में सामान्य-विषयक तथा विशेष-विषयक दो प्रकार के रसों की स्थिति मानते हैं। अन्य आचार्य लोक में होनेवाली स्त्री-पुरुष की रति को रस नहीं मानते, परन्तु ये आचार्य लौकिक स्त्री-पुरुष को भी विभावादि शब्दों से और उनकी रति को रस शब्द से निर्दिष्ट करते हैं।

भाव : अभिनवगुप्त का मत है कि वाचिक आदि अभिनय से सम्पादित अलौकिक चित्तवृत्तियाँ अपने मन में रहनेवाली केवल बौद्धिक दशा का आस्वादन नहीं करतीं, वरन् रसरूप में भावित होती हैं, इसीलिए उन्हें भाव कहा जाता है। ये भाव अनुभावों के

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ३३८, श्लोक १-२

वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य प्रदर्शन द्वारा नाट्य अथवा काव्य का अर्थ व्यंजित करते हैं।

धनंजय ने भाव का लक्षण लिखा है :

'सुखदु:खादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।'[1]

अर्थात् काव्य या नाटक में निबद्ध आश्रय के सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय का उसी भाव से भावित होना कहा जाता है। नाटक में जिन व्यक्तियों का अनुकरण किया जाता है, वे वास्तविक व्यक्ति होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर उनमें सुख-दुःख आदि का उपनिबन्धन करता है और नट उनको रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं। इन अनुकार्य व्यक्तियों के सुख-दुःख-भाव की भावना जब सहृदय व्यक्तियों के द्वारा होती है, तो इस भावना या वासना को भाव कहते हैं।

स्पष्ट है कि कुछ अन्तर रहने पर भी भाव के विषय में भरत मुनि की जो धारणा है, उसे लगभग सभी परवर्त्ती काव्याचार्यों ने स्वीकार किया और सभी पर भरत का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

रस-निष्पत्ति : रस-निष्पत्ति का मूल आधार भरत का प्रसिद्ध रससूत्र— **'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** है। उसी सूत्र की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर की, जिसके परिणाम-स्वरूप रस-सम्बन्धी कई वाद बन गये। भट्टलोल्लट का मीमांसादर्शन के आधार पर उत्पत्तिवाद, श्रीशंकुक का न्यायदर्शन के आधार पर अनुमितिवाद, भट्टनायक का सांख्यदर्शन के आधार पर भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त का वेदान्तदर्शन के आधार पर अभिव्यक्तिवाद इसी रससूत्र की विभिन्न व्याख्याओं के फल हैं। सूत्र में आये 'संयोग' और 'निष्पत्ति' पदों की विभिन्न व्याख्याओं के कारण ही अनेक वादों का आविर्भाव हुआ। इस विषय में भरत का प्रभाव स्पष्ट ही है।

विभिन्न रस : भरत मुनि ने आठ रसों का विवरण दिया। परवर्त्ती आचार्यों ने इन रसों को पूर्णतः स्वीकार किया और किसी-किसी ने कुछ नवीन रसों की उद्भावना की। अभिनवगुप्त ने शान्त रस की उद्भावना की, परन्तु उन्होंने भरत को ही इसका आदि स्रोत माना। भरत की ही कारिका में पाठान्तर मान या करके उन्होंने शान्त रस की स्थापना की। परवर्त्ती आचार्यों ने भक्ति, वात्सल्य आदि रसों की उद्भावना की। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने मूलतः नौ रस माने। परन्तु, इनके अतिरिक्त तृष्णा को स्थायी मानकर लौल्यरस, आर्द्रता को स्थायी मानकर स्नेहरस, आसक्ति को स्थायी मानकर व्यसनरस, अरति को स्थायी मानकर दुःखरस और सन्तोष को स्थायी मानकर सुख-रस की अनुभूति उन्होंने स्वीकार की है। ये सारी उद्भावनाएँ भरत से स्वतन्त्र हैं और इनपर भरत का कोई प्रभाव नहीं माना जा सकता।

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ४

भरत ने शृंगार रस के दो भेद किये : सम्भोग तथा विप्रलम्भ। विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे इसी रूप में स्वीकार किया, परन्तु धनंजय ने थोड़ी नवीनता ला दी। उनके अनुसार शृंगार के तीन भेद हैं : अयोग, विप्रयोग तथा संयोग। उन्होंने विप्रलम्भ के दो भाग—अयोग तथा विप्रयोग—कर दिये। भरत ने विप्रलम्भ के दो भेद नहीं किये, परन्तु परवर्त्ती आचार्यों ने इसके चार भेद किये—पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण। भरत ने हास्य रस के दो भेद किये—आत्मस्थ तथा परस्थ। फिर हास की मात्रा के न्यूनाधिक्य के कारण हास्य रस के छह भेद किये—स्मित तथा हसित उत्तम प्रकृति में, विहसित तथा उपहसित मध्यम प्रकृति में और अपहसित तथा अतिहसित अधम प्रकृति में होते हैं। परवर्त्ती आचार्यों ने इन उपभेदों को इसी रूप में स्वीकार किया। भरत मुनि ने वीर रस के तीन भेद किये—दानवीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर। परवर्त्ती आचार्यों ने इन भेदों को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया। धनंजय ने भी वीर रस के तीन ही भेद स्वीकार किये, परन्तु धर्मवीर के स्थान पर दानवीर कर दिया। विश्वनाथ ने दोनों पूर्ववर्त्ती आचार्यों का समन्वय करके वीर रस के चार भेद कर दिये—दानवीर, युद्धवीर, दयावीर और धर्मवीर। शारदातनय ने धनंजय द्वारा दिये गये तीन भेदों को स्वीकार किया। भरत ने बीभत्स रस के दो भेद माने—क्षोभज अथवा शुद्ध और उद्वेगी अथवा अशुद्ध। किन्तु, अभिनव के गुरु भट्टतोत तथा धनंजय ने बीभत्स रस के तीन भेद स्वीकार किये : १. उद्वेगी बीभत्स–कीड़े, दुर्गन्ध आदि विभावों से उत्पन्न; २. क्षोभज बीभत्स–रक्त, हड्डियों, चर्बी आदि से उत्पन्न; ३. शुद्ध बीभत्स—जघन, स्तन आदि अंगों के प्रति वैराग्य के कारण उत्पन्न।

रस के उपभेदों के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय में भी परवर्त्ती आचार्यों पर भरत का पूरा प्रभाव पड़ा है। धनंजय आदि कुछ आचार्यों ने कहीं-कहीं थोड़ी नवीनता दिखाई है, परन्तु उनका भी आधार भरत का विवेचन ही है।

रस-विवेचन के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की है कि भरत का दृष्टिकोण सदा व्यावहारिक रहा है और उन्होंने अभिनय की दृष्टि से रस का विवेचन किया है। इसीलिए, उन्होंने अनुभावों पर इतना ध्यान दिया है। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने रस के मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय पक्ष पर अधिक बल दिया है।

परवर्त्ती अलंकार-शास्त्रियों पर भरत के रस-सिद्धान्त का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अलंकार की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते भी रस से सम्बन्ध रखनेवाले रसवत् आदि अलंकारों का विधान किया।

रूपक-भेद : भरत मुनि ने रूपक के दस भेद माने, उपरूपक का कोई उल्लेख नहीं किया। फिर भी, उन्होंने दस रूपकों के अतिरिक्त नाटिका का वर्णन किया। अन्य सभी आचार्यों ने दस रूपकों का विवरण दिया। धनंजय ने इस विषय में भरत का पूर्ण अनुकरण किया। उन्होंने भी भरत के ही समान दस ही रूपकों को मान्यता देने पर भी नाटिका

का भी वर्णन कर दिया। धनंजय ने उन ग्रन्थकारों के मत का खण्डन किया है, जो मानते हैं कि 'जैसे नृत्य के तोटक, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य—ये सात भेद होते हैं, वे भाण की तरह ही होते हैं, इस प्रकार दस के अतिरिक्त अन्य भी रूपक हो सकते हैं।' धनंजय का उत्तर है कि नृत्य नाट्य से भिन्न होते हैं। इस प्रकार, धनंजय ने श्रीगदित आदि को नृत्य माना, रूपक नहीं। अतः, उनके मत से दस ही रूपक होते हैं। दस ही रूपकों का विवेचन करने के कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' रखा।

अग्निपुराण में दस रूपकों के अतिरिक्त १७ उपरूपकों के भी नाम गिनाये गये हैं। विश्वनाथ ने भी भरत द्वारा निर्दिष्ट दस रूपकों की गणना अपनी पुस्तक में कराई है। परन्तु, इसके साथ ही उन्होंने अट्ठारह उपरूपकों को भी स्थान दिया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में भरत आदि के मत से रूपकों का निर्धारण किया। उन्होंने दशरूपक का ही श्लोक उद्धृत करके दस रूपकों की गणना कराई है, परन्तु साथ ही तोटक, श्रीगदित आदि बीस उपरूपकों का उल्लेख करके अन्त में लिख दिया है कि दस रूपक तो रसात्मक होते हैं और बीस भावात्मक; किन्तु दृश्य होने के कारण उन्हें भी रूपक संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार रूपकों की कुल संख्या तीस हो जाती है।

जैन आचार्यद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रूपकों की संख्या बारह मानी है और जैन-धर्म के प्रभाव के कारण मंगलाचरण में ही इसकी ओर संकेत कर दिया है। उन्होंने प्रसिद्ध दस रूपकों में नाटिका तथा प्रकरणी नामक दो रूपक जोड़ दिये। इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थ नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में केवल नाटक का वर्णन किया और द्वितीय विवेक में शेष ग्यारह रूपकों का। मूल ग्रन्थ में श्रीगदित आदि का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु पुस्तक के अन्त में उन्होंने **'अन्यानि च रूपकाणि दृश्यन्ते। यदाहुः'**—लिखकर १३ नृत्यों या उपरूपकों का विवरण दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रूपकों की संख्या के विषय में सभी परवर्त्ती आचार्यों ने भरत का ही अनुसरण किया। जिन आचार्यों ने दस के स्थान पर ग्यारह या बारह रूपकों का विवरण दिया, वह भी भरत के ही अनुकरण पर; क्योंकि स्वयं भरत ने दस रूपकों के साथ नाटिका का भी विवरण दिया है।

वर्त्तमान नाट्यशास्त्र में उपरूपकों का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु कुछ ऐसे उद्धरण पाये जाते हैं, जिनसे उपरूपकों का भी कृतित्व कुछ लोग भरत को ही देते हैं। किन्तु, वहाँ कुछ परिवर्त्तन के साथ १५ ही नाम पाये जाते हैं। परन्तु सम्भव है कि उपरूपकों की उद्भावना में भरत का हाथ नहीं ही रहा हो। कई विद्वान् उपरूपकों की उद्भावना का श्रेय कोहल को देते हैं। यदि यही सत्य हो तो उपरूपकों के विवरण पर भरत का प्रभाव ढूँढना व्यर्थ होगा।

रूपकों के विवेचन में भी सभी परवर्त्ती नाट्याचार्यों पर भरत का प्रभाव पड़ा है। भरत ने सभी रूपकों में नाटक को प्रधान स्थान दिया और इसी का विवेचन सबसे पहले

और सबसे अधिक विस्तार से किया। सभी परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने यही किया। नाट्य-दर्पण में तो पूरा प्रथम विवेक नाटक के ही विवेचन में लगाया गया है। धनंजय ने तो नाटक के सर्वप्रथम विवेचन के कारणों का भी निर्देश किया है। उनके अनुसार नाटक का सबसे पहले विवेचन करने के तीन कारण हैं : १. नाटक ही अन्य रूपक-भेदों की प्रकृति अथवा मूल है, अर्थात् नाटक में ही वस्तु, नेता तथा रस में थोड़ा परिवर्त्तन कर देने से प्रकरण आदि अन्य रूपक-भेद हो जाते हैं; २. नाटक में ही रस का पूरा परिपाक होता है; ३. वस्तु, नेता और रस के सम्पूर्ण लक्षण नाटक में ही पाये जाते हैं।

भरत ने नाटक का जो विवेचन दिया, उसी के अनुरूप सभी आचार्यों ने भी विवरण दिया। जहाँ-तहाँ बहुत थोड़े ही परिवर्त्तन दिखाई देते हैं। शारदातनय ने नाटक के वर्गीकरण के विषय में सुबन्धु का मत उद्धृत किया है। सुबन्धु ने नाटकों के पाँच प्रकार बताये हैं—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र। इस प्रकार का कोई वर्गीकरण भरत ने नहीं किया, अतः यह सुबन्धु की स्वतन्त्र उद्‌भावना है। इसी तरह की कुछ छोटी-मोटी बातें हैं, जो भरत के प्रभाव से बाहर हैं।

रूपक के प्रकरण आदि अन्य भेदों में भी प्रायः सभी नाट्याचार्यों ने कहीं-कहीं थोड़ा विस्तार कर दिया है या यथास्थान कुछ परिवर्त्तन कर दिया है, फिर भी सर्वत्र भरत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। भरत का नाट्यशास्त्र वह केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चारों तरफ सभी नाट्याचार्य घूमते हैं। वस्तुतः, नाट्यशास्त्र समस्त नाट्यशास्त्रियों का उपजीव्य रहा है और इसी के आधार पर सभी नाट्याचार्यों ने अपने ग्रन्थों की रचना की।

परवर्त्ती आचार्यों की कृतियों में यत्र-तत्र कुछ परिवर्त्तन के अतिरिक्त भरत के नाट्यशास्त्र से कोई स्पष्ट विकास नहीं दिखाई देता है। उन्होंने नाट्यशास्त्र की स्थापनाओं की प्रायः पुनरुक्ति की है और कहीं-कहीं तो बिना समझे ही डिम, समवकार, ईहामृग रूपक-भेदों के लक्षणों को दुहराया है। यद्यपि ये उल्लिखित रूपक-भेद काफी पहले अप्रचलित हो चुके थे। अनेक आचार्यों ने भरत द्वारा लिखित कोई-कोई बात छोड़ दी है या कहीं-कहीं विस्तार देने में थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया है। कहीं-कहीं नाट्यशास्त्र में पाठान्तर के कारण ही इन आचार्यों की अपनी कृतियों में परिवर्त्तन हो गया है और कहीं-कहीं इसलिए परिवर्त्तन हुआ है कि जो उक्तियाँ भरत की कही जाती हैं, वे वर्त्तमान नाट्यशास्त्र में नहीं मिलतीं।

नृत्य, संगीत एवं रंगमंच : नाट्यशास्त्र के विवेचन में भरत का दृष्टिकोण सदा प्रयोगात्मक रहा है। इसीलिए, उन्होंने नाट्य के केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही विवेचन नहीं किया, वरन् इसके प्रयोगात्मक पक्ष का भी सम्यक् विश्लेषण किया। एक ओर जहाँ उन्होंने नाट्य के वस्तु, पात्र, रस आदि विषयों पर विचार-विमर्श किया, वहाँ दूसरी ओर गीत, संगीत तथा रंगमंच आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उन्होंने रंगमंच के

विषय में बहुत विस्तार से लिखा है, यहाँ तक कि छोटी-सी-छोटी बातों की ओर भी उनका ध्यान गया है और तत्सम्बन्धी कोई भी बात उनसे छूटी नहीं है। रंगमंच के लिए उपयुक्त स्थान की पैमाइश, नाप-जोख, उजले बैलों की जोड़ी से उस स्थान को हल से जुतवाना, नापने के लिए सूत कैसा हो, स्तम्भ-स्थापन आदि के समय किसको क्या भोजन दिया जाय आदि ऐसे विषय हैं, जिनकी और ध्यान जाना असामान्य बात है।

नृत्य, संगीत तथा वाद्य का भी भरत ने सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन किया है। किस अवसर पर कौन-सा वाद्य बजाया जायगा या कैसा गीत गाया जायगा या कौन-सा नृत्य होगा—इन बातों का विस्तृत विवरण भरत मुनि ने प्रस्तुत किया। एक पूरा अध्याय ताण्डव-नृत्य का विवरण देने में लगा है। विभिन्न करणों, अंगहारों तथा मुद्राओं का विवेचन किया गया है।

परन्तु, परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने इस व्यावहारिक तथा प्रयोगात्मक पक्ष की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। अभिनवगुप्त, धनंजय, विश्वनाथ, शारदातनय आदि सभी नाट्याचार्यों ने केवल रस, नायक, वस्तु, भेदोपभेद आदि सैद्धान्तिक पक्षों का ही विवेचन किया। इन आचार्यों ने व्यावहारिक पक्ष को अपना विषय-क्षेत्र कभी नहीं समझा। यह दूसरी बात है कि केवल अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले अभिनय-दर्पण आदि कुछ ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें व्यावहारिक पक्ष का ही विवेचन हुआ है। परन्तु, अभिनवगुप्त, धनंजय आदि नाट्याचार्यों पर इस विषय में भरत का कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। अनेक आचार्यों ने तो नाट्यशास्त्र से रस, गुण, दोष आदि लेकर पृथक् काव्यशास्त्र की रचना की, जिसमें नाट्य-सम्बन्धी कोई विशेष बात (वस्तु, पात्र, रूपक-भेद आदि) नहीं रखी गई। वस्तुतः भरत का नाट्यशास्त्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें अनेक शास्त्रों का समावेश है और पीछे चलकर अनेक शास्त्र स्वतन्त्र रूप से इससे विकसित हुए।

वृत्ति : भरत ने नाटक में चार वृत्तियों का विधान किया है। उनके मतानुसार वृत्तियाँ हैं—भारती, केशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी। सभी परवर्त्ती आचार्यों ने इन चार वृत्तियों को उसी रूप में स्वीकार किया। परन्तु, धनंजय ने सात्त्वती, केशिकी तथा आरभटी के अर्थवृत्ति और भारती को शब्दवृत्ति माना है। भरत ने वृत्तियों को नाट्य की मात्राएँ कहा है :

एवमेता बुद्धेर्ज्ञेया वृत्तयः नाट्यमातरः।

इसी से नाट्य में वृत्तियों का महत्त्व समझा जा सकता है। सभी आचार्यों ने इनका महत्त्व समझकर इन्हें उचित स्थान दिया है। उद्भट के अनुयायी एक पाँचवीं अर्थवृत्ति भी मानते हैं, किन्तु अन्य आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

परन्तु, नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भारती वृत्ति का जो विवेचन किया है, वह भरत द्वारा किये गये विवेचन से काफी भिन्न है। वृत्तियों के निरूपण के प्रसंग में नाट्यशास्त्र में लिखा गया है :

रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः ।
बीभत्से करुणे चैव भारती सम्प्रकीर्त्तिता ॥[1]

इस श्लोक से जान पड़ता है कि भरत मुनि केवल बीभत्स और करुण रसों में भारती वृत्ति उचित मानते हैं। परन्तु, इसी २०वें अध्याय में इसके पूर्व ४४वें श्लोक में लिखा गया है :

भेदास्तस्यास्तु विज्ञेयाश्चत्वारोऽङ्गत्व.... ।
प्ररोचना मुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ॥

इस श्लोक में प्ररोचना, आमुख आदि को भारती वृत्ति का भेद बताया गया है। परन्तु, प्ररोचना, आमुख आदि का तो बीभत्स और करुण रस के अतिरिक्त दूसरे रसों से भी सम्बन्ध है। अतः भरत के इन वचनों में विरोध प्रतीत होता है। इसकी आलोचना करते समय नाट्य दर्पणकार ने लिखा है : **ये तु भारत्यां बीभत्सकरुणौ प्रपन्नाः, ते सर्वरसवीथीप्रधान-शृङ्गारवीरभाणप्रधानहास्यप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि ।**[2]

उन्होंने भरत मुनि की भारती वृत्ति के विवेचन में 'वदतोव्याघात' दोष दिखाया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणी में केशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती वृत्तियाँ मानी हैं, किन्तु व्यायोग, भाण, प्रहसन, डिम, अंक, ईहामृग तथा वीथी में केशिकी-रहित केवल तीन वृत्तियाँ मानीं। इस प्रकार, वृत्तियों के आधार पर रूपकों का वर्गीकरण रामचन्द्र-गुणचन्द्र की मौलिक सूझ है।

●

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० ६४
२. नाट्यदर्पण, द्वितीय विवेक, का० १०४ के बाद वृत्ति

चतुर्थ अध्याय

नाट्य-लक्षण

नाट्य के तत्त्व एवं वृत्तियाँ

भारतीय आचार्यों के विविध मत

आरम्भ : भारतीय नाट्याचार्यों की दृष्टि विश्लेषणात्मक वर्गीकरण की ओर बहुत अधिक रही है। परन्तु, इसके साथ यह भी द्रष्टव्य है कि संश्लेषणात्मक व्यापक विवेचन करने में भी ये आचार्य अद्वितीय हैं। एक ओर उन्होंने रूपों के विभेद उपस्थित करने में अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति दिखाई है, तो दूसरी ओर रूपक की व्याख्या और रूपरेखा भी प्रस्तुत करने में अपनी योग्यता का सम्यक् प्रदर्शन किया है। इतना तो स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि हमारे नाट्याचार्यों के सामने नाटक अपने समन्वित कलात्मक रूप में था। उन्होंने नाटक के जो लक्षण दिये हैं, उनके आधार पर नाटक का आधुनिकतम प्रतिपादन भी सत्य प्रमाणित हो सकता है।

नाटक के रचनात्मक, अभिनयात्मक और रसात्मक पक्षों की अभिव्यक्ति रचयिता, अभिनेता और दर्शक के सन्दर्भ में होती है। नाटककार को इन्हीं तीनों स्थितियों को कुछ विद्वानों ने नाटकीय आयामों के रूप में स्वीकार किया है। पाश्चात्त्य विचारधारा को देखने से प्रतीत होता है कि उन विद्वानों ने नाटक की विवेचना एकांगी की है—इन तीनों आयामों को ध्यान में रखकर नहीं। आधुनिक नाट्यशास्त्रियों ने इन तीनों आयामों को ध्यान में रखकर नाटक का विवेचन किया है।

विभिन्न आचार्यों ने नाट्य के विभिन्न लक्षण दिये हैं। उन लक्षणों का विवेचन करना आवश्यक है। अब प्रमुख नाट्याचार्यों द्वारा दिये गये लक्षणों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

भरत मुनि का मत : भरत के नाट्यशास्त्र में नाटक के तीनों आयामों—रचना, अभिनय और प्रभाव—की विस्तृत विवेचना की गई है। कथावस्तु आदि के रूप में रचनात्मक, शारीरिक तथा भावात्मक प्रदर्शन को लेकर अभिनयात्मक और रस-सिद्धान्त में प्रभावात्मक विवेचना हुई है। इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि एक ही शास्त्र-ग्रन्थ में तीनों आयामों पर विचार किया गया है। किन्तु, नाटक के संश्लिष्ट रूप का व्यापक दृष्टिकोण भरत के एक ही श्लोक में दे दिया है :

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥[1]

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक ११२**

अर्थात् नाना प्रकार से भावों से युक्त और नाना प्रकार की अवस्थाओंवाला लोक-व्यवहार का अनुकरण करनेवाला यह नाट्य मैंने बनाया है।

भरत मुनि ने नाट्य में अनुकरण की ही प्रधानता मानी है। जब देवों और दैत्यों के चरित पर आधारित नाट्य प्रस्तुत किया गया, तो दैत्य लोग बहुत क्रुद्ध हुए। इसपर ब्रह्माजी ने समझाया कि इसमें केवल आपलोगों के और देवों के ही चरित प्रदर्शित नहीं किये गये हैं, अपितु नाट्य में वस्तुतः इस समस्त विश्व के भावों का प्रदर्शन कराया गया है :

नैकान्तोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्॥[1]

नाटक में अनुकार्य रामादि का जो अभिनय किया जाता है, उसमें अभिनय करनेवाले नट ही होते हैं, राम आदि स्वयं अभिनय करने नहीं आते। अभिनय करनेवाले उन नटों में ही राम आदि अनुकार्य की प्रतीति होती है। प्रतीति निम्नांकित दस प्रकार की हो सकती है : १. सत्य, २. मिथ्या, ३. सादृश्यमूलक (चन्द्र के समान मुख), ४. आरोपमूलक (मुखचन्द्र), ५. अध्यवसाय-मूलक (गौर्वाहीक—वाहीक देश का निवासी बैल के समान मूर्ख है), ६. उत्प्रेक्षामूलक (मुख में चन्द्र की उत्प्रेक्षा के समान), ७. प्रतिकृतिमूलक (चित्र या खिलौने के समान), ८. अनुकरणमूलक (गुरु-शिष्य-व्याख्यान के समान), ९. तात्कालिक निर्माण-मूलक (जैसे इन्द्रजाल), १०. युक्तिविरचित (हस्तलाघव या माया के समान)। यह प्रतीति इनमें से किसी के समान नहीं होकर विलक्षण प्रकार की होती है। इसलिए, राम आदि किसी भी अनुकार्य का किसी भी लौकिक रूप में अनुभव नाटक में नहीं होता। वहाँ जो कुछ अनुभव होता है, वह अलौकिक ही है। प्रेक्षक को उसमें तादात्म्य का अनुभव होता है।

अभिनवगुप्त और अनुकरण : अभिनवगुप्त ने नाट्य को अनुकरण-रूप नहीं माना है। भरत ने अपनी उपर्युक्त कारिका में नाट्य के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है। उसमें 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्त्तन'-रूप दो पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं। भरत ने अनुभावन-पक्ष का खण्डन करने के बाद अनुकीर्त्तन-पक्ष का प्रतिपादन किया है। परन्तु, इन दोनों पक्षों का भेद समझना कठिन है। अभिनवगुप्त ने भी अपनी वृत्ति में इनका अर्थ समझाने का प्रयत्न नहीं किया है। आचार्य विश्वेश्वर ने 'अनुभावन' का अर्थ 'पदार्थ के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले विशेष स्वरूप का ग्रहण' किया है। 'अनुभावन' शब्द का सम्बन्ध अनुभव से है। अनुभव या प्रत्यक्ष वर्त्तमान वस्तु का ही होता है। सीता/राम आदि अनुकार्य वर्त्तमान नहीं हैं, अतः नाट्य में उनका अनुभावन नहीं हो सकता। उनका 'अनुकीर्त्तन' अर्थात् शब्द द्वारा कथन ही हो सकता है। भरत के मतानुसार सीता/राम आदि के विशेष रूप नहीं लिये जाते, वरन् साधारणीकृत रूप ही लिये जाते हैं। इसीलिए नाट्य अनुभावन-

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक १०७

रूप नहीं होकर अनुकीर्त्तन-रूप ही होते हैं । यही कारण है कि भरत मुनि ने '**नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्**' लिखा ।

भरत मुनि ने उक्त कारिका में अनुभावन एवं अनुकीर्त्तन-रूप दो ही पक्ष उपस्थित किये, किन्तु अभिनवगुप्त ने इसकी वृत्ति में अनुकरण-रूप तीसरे पक्ष की भी चर्चा की है। भरत के कतिपय पूर्ववर्त्ती टीकाकारों ने भरत द्वारा 'अनुकीर्त्तन' शब्द को अनुकरणपरक मानकर नाटक को अनुकरण-रूप सिद्ध करने की चेष्टा की है। अभिनव ने इसी के आधार पर अनुकरण की चर्चा की और इससे अपनी असहमति प्रकट की। उन्होंने इस पक्ष का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। उनका कथन है कि अनुकीर्त्तन को अनुकरण कहना भ्रमात्मक है । इसके लिए उन्होंने दो युक्तियाँ उपस्थित की हैं :

१. अनुकरण का अर्थ नकल है। नकल या स्वांग भी अभिनय का एक प्रकार होता है, परन्तु यह अत्यन्त निम्नकोटि की चीज है। किसी का उपहास करने के ही उद्देश्य से नकल की जाती है। अनुकार्य व्यक्ति का अनुकरण या स्वांग करके दर्शकों में निम्नकोटि का हास उत्पन्न किया जाता है और साथ ही अनुकार्य व्यक्ति में क्रोध तथा द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं । परन्तु नाट्य में यह बात नहीं होती। यह किसी का स्वांग करके उसका अपमान नहीं करता। इसलिए, नाट्य से किसी अनुकार्य तथा उसके मित्रों में क्रोध तथा द्वेष उत्पन्न नहीं होते। इससे प्रेक्षकों को अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है । नाट्य का अनुकरण या स्वांग से यही मुख्य अन्तर है ।

२. अनुकरण-पक्ष का खण्डन करने के लिए अभिनव ने इसके बाद उसके दो अवान्तर पक्ष बनाये हैं—नियतानुकार तथा अनियतानुकार। उन्होंने इन दोनों पक्षों का खण्डन करके सिद्ध कर दिया है कि नाट्य न नियतानुकार-रूप हो सकता है और न अनियतानुकार-रूप ही। अतः, नाट्य को किसी भी रूप में अनुकरणात्मक नहीं कहा जा सकता । नियतानुकार किसी विशेष व्यक्ति के अनुकरण को कहते हैं। इसका खण्डन करने के लिए अभिनव ने तर्क दिया है कि सीता, राम आदि किसी विशेष व्यक्ति का अनुकरण सम्भव ही नहीं है । 'अनुकरण' शब्द का अर्थ सदृश क्रिया है; राम आदि विभाव यदि क्रियारूप में होते, तो उनका सदृश क्रियारूप अनुकरण हो सकता था; किन्तु वे तो क्रियारूप नहीं होकर द्रव्य रूप हैं, अतः उनका क्रियारूप अनुकरण नहीं हो सकता। यह उदाहरण देकर अभिनव ने विभाव-मात्र के अनुकरण का खण्डन कर दिया है। नाटक में जिनको विभावरूप में प्रतिपादित किया जाता है, उनमें किसी का भी अनुकरण नहीं किया जा सकता ।

पूर्व व्याख्याकारों का खण्डन : नाट्यशास्त्र के कुछ पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारों ने नाट्य को अनुकरण-रूप मानकर शंका उठाई थी कि लोक में तो सर्वत्र नृत्य, गीत आदि का प्रयोग नहीं होता, फिर नाट्य में इनका इतना अधिक प्रयोग क्यों होता है, जब नाट्य जीवन का अनुकरण है ? इस शंका का समाधान उन्होंने स्वयं उपस्थित किया कि लोक में भी स्नान, भोजन आदि के पहले वाद्य आदि का प्रयोग देखा जाता है । इसलिए नाट्य में

भी इनका प्रयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु, अभिनवगुप्त का तर्क है कि जब नाट्य की अनुकरणात्मकता का ही खण्डन हो गया तो यह शंका और इसका यह समाधान दोनों ही व्यर्थ हैं।

अभिनवगुप्त का मत : इस प्रकार, भरत के नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय की १०७वीं कारिका की विस्तृत व्याख्या अभिनवगुप्त ने की है और **'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्'** की व्याख्या अपने ढंग से प्रस्तुत की है। उनके सिद्धान्त के अनुसार नाट्य किसी विशेष व्यक्ति के चरित्रादि का अनुभावन अर्थात् प्रत्यक्ष करानेवाला नहीं है। फिर यह उसका अनुकरण-रूप भी नहीं है। नाट्य वस्तुतः साधारणीकरण-व्यापार द्वारा साधारणीकृत रूप से सम्पूर्ण संसार के भावों का अनुकीर्त्तन-रूप है।

इस मत का खण्डन : परन्तु यद्यपि अभिनवगुप्त ने नाट्य के अनुकरणमूलक सिद्धान्त का विरोध किया है और १०७वीं कारिका में भरत द्वारा प्रयुक्त 'अनुकीर्त्तन' शब्द का अर्थ अनुकरण नहीं स्वीकार किया है, फिर भी मेरा विश्वास है कि भरत ने 'अनुकीर्त्तन' शब्द का प्रयोग अनुकरण के ही अर्थ में किया। अनुकीर्त्तन शब्द की ऊपर जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है, वह क्लिष्ट कल्पना लगती है। **'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्'** का अर्थ यही होना चाहिए कि नाट्य इस सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है।

आगे की एक कारिका से स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने इस स्थल पर अनुकीर्त्तन का अर्थ अनुकरण ही रखा है :

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥[1]

—अर्थात् नाना प्रकार के भावों से युक्त और नाना प्रकार की अवस्थाओं वाले लोक-व्यवहार का अनुकरण करनेवाला यह नाट्य मैंने बनाया है। इस कारिका में **'लोकवृत्तानुकरणम्'** अर्थात् लोक-व्यवहार का अनुकरण करनेवाला कहा गया है और १०७वीं कारिका में **'भावानुकीर्त्तनम्'** अर्थात् भाव का अनुकरण करनेवाला कहा गया है।

और भी आगे बढ़ने पर एक अन्य कारिका में भरत ने नाट्य को **'सप्तद्वीपानुकरणम्'** (सातो द्वीपों का अनुकरण) कहा है :

तन्नात्र मन्युः कर्त्तव्यो भवद्भिरमरान् प्रति ।
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥[2]

—अर्थात् अतः इस विषय में आप (असुरों) को देवताओं के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि मेरे द्वारा रचित नाट्य में सातों द्वीपोंवाले लोक का अनुकरण ही नियम है। इस

१ नाट्यशास्त्र, अध्याय १, का० ११२
२. वही, अध्याय १, का० ११७

कारिका में भी भरत ने नाट्य को लोकचरित का अनुकरण ही माना है। इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने नाट्य में लोक-व्यवहार के अनुकरण को ही प्रधान माना है। नाट्य में अनुकरण-तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है। इसलिए, १०७वीं कारिका में प्रयुक्त '**भावानुकीर्त्तनम्**' का अर्थ 'भावों का अनुकरण' ही होना चाहिए।

अभिनव ने इस कारिका की व्याख्या दूसरे ही ढंग से की है। उनका अभिप्राय है कि रंगमंच पर दिखलाये जानेवाले प्राकृतिक दृश्यादि जैसे कल्पित तथा अवास्तविक होते हैं, वैसे ही देवता, दैत्यादि भी वास्तविक नहीं हैं। उनको वास्तविक समझकर क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

परन्तु, मुझे यह व्याख्या दूरारूढ लगती है। '**सप्तद्वीपानुकरणम्**' का अर्थ यही होना चाहिए कि इस नाट्य में सातो द्वीपों (सम्पूर्ण संसार) के लोक-व्यवहार तथा भावों का अनुकरण रहता है। डॉ० रघुवंश, डॉ० मनमोहन घोष, आचार्य विश्वेश्वर आदि विद्वानों ने यही अर्थ किया है। भरत ने बताया है कि नाट्य में लोक की सभी श्रेणियों के व्यक्तियों के चरित का प्रदर्शन रहता है :

देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
महर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्॥[1]

—अर्थात् नाटक को देवताओं, असुरों, राजाओं, पारिवारिकों तथा महर्षियों के चरितों का प्रदर्शन समझना चाहिए। संसार के सुख-दुःख के व्यवहार को ही रंगमंच पर नाट्य के रूप में दिखाया जाता है :

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥[2]

—अर्थात् सुख-दुःख से युक्त जो स्वभाव है, आङ्गिकादि चतुर्विध अभिनयों के साथ मिल जाने पर वही नाट्य कहलाता है।

धनंजय का मत : दशरूपककार धनंजय ने लिखा है : **अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्**।[3] अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। अपनी वृत्ति में धनिक ने इसे स्पष्ट किया है—जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त प्रकृति के नायकों तथा तत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं एवं अन्य पात्रों का आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक—इन चार प्रकार के अभिनयों के द्वारा अवस्था का अनुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्था के अनुकरण का अभिप्राय यह है कि चाल-ढाल, वेष-भूषा, वार्त्तालाप आदि के द्वारा पात्रों की सभी अवस्थाओं का अनुकरण इस प्रकार किया जाय कि नटों में पात्रों का तादात्म्य अनुभव होने लगे। यह राम या दुष्यन्त की सभी अवस्थाओं

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, का० ११८
२. वही, अध्याय १, का० ११९
३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० ७

का अनुकरण इस प्रकार करे कि प्रेक्षक उसे राम या दुष्यन्त ही समझ ले। जिस समय नाट्य का अभिनय होता रहे, प्रेक्षक यही समझे कि मैं राम या दुष्यन्त के ही कार्य-कलाप देख रहा हूँ। नट और राम या दुष्यन्त में अभेद स्थापित हो जाय।

नाट्य केवल श्रव्य काव्य न होकर रंगमंच पर अभिनय के रूप में देखा भी जाता है। देखे जाने के योग्य होने के कारण यह दृश्य कहा जाता है। जैसे हम अनेक रंग तथा दृश्य देखते हैं और हमारी नेत्रेन्द्रिय के विषय को रूप कहते हैं, उसी प्रकार नेत्र-ग्राह्य होने के कारण नाट्य रूप भी कहा जाता है। इसलिए, धनंजय ने उसी स्थल पर आगे कहा है : **'रूपं दृश्यतयोच्यते।'** यही नाट्य रूप भी कहलाता है।

उसी कारिका में आगे धनंजय ने नाट्य को रूपक भी कहा है : **'रूपकं तत्समारोपात्।'**[1] वही नाट्य-रूप रूपक भी कहा जाता है; क्योंकि उसमें आरोप किया जाता है। हम रूपक अलंकार में देखते हैं कि मुख में चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है—मुखचन्द्र, वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है; इसलिए इसे रूपक भी कहा जाता है। एक ही अर्थ में नाट्य, रूप तथा रूपक—तीनों शब्दों का प्रयोग होता है। तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

नाट्य और नृत्य में अन्तर : रूपक के नाटक आदि दस भेदों का निर्देश करने के पश्चात् धनंजय ने प्रश्न उठाया है कि डोम्बी, श्रीगदित आदि नामक नृत्य के भी सात भेद होते हैं। उनकी भी गणना रूपक के भेदों में होनी चाहिए। फिर रूपक के दस ही भेद क्यों किये गये हैं? इस शंका का समाधान करते हुए धनंजय ने नाट्य और नृत्य में अन्तर बताया है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि नाट्य रसाश्रय होता है, परन्तु नृत्य भावाश्रय होता है : **'अन्यद् भावाश्रयं नृत्यम्।'**[1] नाट्य रस पर आश्रित रहता है, परन्तु नृत्य भाव पर। अतः दोनों स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। 'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति नृत् धातु से हुई है, जिसका अर्थ गात्र-विक्षेप होता है और जिसमें आंगिक अभिनय की बहुलता होती है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति **'नट् अवस्पन्दने'** धातु से हुई है। नट् धातु का अर्थ अवस्पन्दन या कुछ-कुछ चंचलता है; इसलिए नाट्य में सात्त्विक अभिनय की अधिकता होती है। नाट्य-कला का विशारद नट कहलाता है।

नीचे की तालिका से नाट्य और नृत्य का भेद स्पष्ट हो जाता है।

नाट्य	नृत्य
१. नाट्य रस पर आश्रित होता है, जो भाव की चरम परिपोषक सीमा है।	१. नृत्य भाव पर आश्रित होता है। इसमें केवल भावों की अभिव्यंजना होती है।

---

१. **दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ९**

नाट्य	नृत्य
२. नाट्य में चारों प्रकार के—वाचिक, आंगिक, सात्त्विक और आहार्य—अभिनय पाये जाते हैं।	२. नृत्य में आंगिक अभिनय की बहुलता होती है।
३. नाट्य में कथनोपकथन आवश्यक होता है।	३. नृत्य में कथनोपकथन नहीं होता।
४. नाट्य करनेवाला नट कहलाता है।	४. नृत्य-कला-विशारद नर्त्तक कहलाता है।
५. नाट्य में देखने के अतिरिक्त सुनने को भी बहुत-कुछ रहता है।	५. नृत्य में केवल देखने-भर की वस्तु है, वहाँ सुनने को कुछ नहीं होता।

नृत्य तथा नृत्त में अन्तर : नृत्त में नृत्य के ही समान अंग-विक्षेप पाया जाता है। परन्तु, दोनों में अन्तर है। नृत्य में अनुकरण पाया जाता है, परन्तु नृत्त में नहीं। नृत्त ताल तथा लय पर आश्रित होता है—**नृत्तं ताललयाश्रयम्।**[1] नृत्त में केवल अंग-विक्षेप पाया जाता है, उसमें अभिनय का सर्वथा अभाव रहता है। यह नृत्त ताल के आधार पर मात्रा का अनुसरण करता है और लय के आधार पर गति का आश्रय लेता है। नृत्त में अभिनय का अस्तित्व नहीं रहता, केवल अंग-विक्षेप रहता है, जो ताल तथा लय के नियमों के अनुसार होता है।

स्थापना : धनंजय ने अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहा है। दशरूपक में निम्नलिखित कारिका के द्वारा उन्होंने नाट्य का लक्षण दिया है :

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥[2]

—अर्थात् अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। यही नाट्य रूप भी कहलाता है; वही नाट्य-रूप रूपक भी कहलाता है; क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता है। रसों पर आश्रित यह नाट्य दस ही प्रकार का होता है। नाट्य के लक्षण में धनंजय ने अवस्था के अनुकरण पर सर्वाधिक बल दिया है। स्पष्टतः नाट्य में अनुकरण का तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

शारदातनय का मत : नाट्य के लक्षण के विषय में शारदातनय धनंजय और अभिनवगुप्त दोनों से प्रभावित हैं। एक ओर उन्होंने धनंजय के द्वारा दिया गया लक्षण स्वीकार करके उसे थोड़े परिवर्त्तन के साथ लिखा है और दूसरी ओर अभिनवगुप्त का दिया हुआ लक्षण दूसरे शब्दों में दिया है।

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ९

२. वही, कारिका ७

धनंजय के ही समान शारदातनय ने भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य माना है और इसे नाट्य का सामान्य लक्षण कहा है :

अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति सामान्यलक्षणम् ।[1]

फिर, धनंजय के समान शारदातनय मानते हैं कि नट में राम आदि का आरोप कर दिया जाता है, इसलिए नाट्य को रूपक कहते हैं, जिस प्रकार मुख में चन्द्र का आरोप किया जाता है । प्रेक्षक इसका अभिनय रंगमंच पर देख सकते हैं, इसलिए इसे रूप भी कहते हैं ।

रूपकं तद्भवेद्रूपं दृश्यत्वात्प्रेक्षकैरिदम् ।
रूपकत्वं तदारोपात् कमलारोपवन्मुखे ॥[2]

शारदातनय ने नाट्य का लक्षण देते समय अभिनवगुप्त द्वारा दिये गये लक्षण का भी सहारा लिया है । अभिनवगुप्त ने नाट्य का लक्षण बताया है—नट में राम आदि पात्र के साक्षात्कार के प्रभाव को नाट्य कहते हैं :

नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्काराय मानैकघनमानसनिश्चलाध्यवसाय इव ।[3]

इसीसे मिलता-जुलता, किन्तु सरल लक्षण शारदातनय ने भी दिया है :

रामादितादात्म्यापत्तिर्नटे या नाट्यमुच्यते ।[4]

—अर्थात् नट में रामादि पात्रों के तादात्म्य की भावना को नाट्य कहते हैं ।

धनंजय के समान शारदातनय ने भी नृत्य तथा नृत्त का विवेचन किया है, परन्तु इस स्थल पर दोनों में थोड़ा अन्तर है । दोनों नृत्य को भावाश्रय मानते हैं, परन्तु जहाँ धनंजय नृत्त को ताल और लय पर आश्रित मानते हैं, वहाँ शारदातनय इसे रस पर आश्रित मानते हैं :

नृत्यं भावाश्रयं नृत्तं रसाश्रयमुदाहृतम् ।[5]

स्पष्टतः, नाट्य के लक्षण के लिए शारदातनय धनंजय के ऋणी हैं । धनंजय के ही समान शारदातनय भी नाट्य को लोक की अनुकृति या अनुकरण मानते हैं । अतः इनके मत के अनुसार भी नाट्य में अनुकरण का तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है ।

विश्वनाथ का मत : साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने दृश्य काव्य को अभिनेय बताया है और इसी दृश्य काव्य को रूपक कहा है । रूपक कहने का कारण यह है कि इसमें नट में रामादिक अनुकार्य का स्वरूप आरोपित किया जाता है । नट राम, सीता, दुष्यन्त आदि के रूप धारण करता है और सामाजिक को उसमें आरोपात्मक ज्ञान होता है

१. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० १८०
२. वही, स० अ०, पृ० १८०
३. अभिनवभारती, पृ० २६८
४. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० १८१
५. वही, पृ० १८१

कि यह राम है। अतएव, रूप का आरोप होने के कारण इस दृश्य काव्य को रूपक कहा जाता है :

दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ।[1]

दृश्य काव्य या रूपक में अभिनय आवश्यक तत्त्व है और विश्वनाथ ने अभिनय का लक्षण किया है : '**भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः**' ।[2] —अर्थात् अवस्था के अनुकरण को अभिनय कहते हैं। इसकी वृत्ति में उन्होंने लिखा है : '**नटैरङ्गादिभी रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः**' —अर्थात् अंग, वचन आदि से राम, युधिष्ठिर आदि की अवस्था का नटों के द्वारा जो अनुकरण किया जाता है, उसे अभिनय कहा जाता है। नटों के द्वारा अवस्था का अनुकरण ही अभिनय है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अपने पूर्ववर्त्ती नाट्यशास्त्रियों के समान कविराज विश्वनाथ ने भी दृश्य काव्य या नाट्य में अनुकरण को आवश्यक तत्त्व माना है। अनुकरण से ही अभिनय होता है और अभिनय नाट्य में अनिवार्य है, अतः नाट्य अनुकरण पर ही अवलम्बित है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी : आधुनिक नाट्यशास्त्रियों में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने नाटक का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में दिया है : "किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाटककार द्वारा रचित रचना के अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाये हुए नट जब अभिनय तथा संगीतादि के द्वारा रस उत्पन्न करके प्रेक्षकों का विनोद करते हैं, तथा उन्हें उपदेश और मनःशान्ति प्रदान करते हैं, तब उस प्रयोग को नाटक या रूपक कहते हैं।"[3]

भारतीय नाट्याचार्यों ने हमारे समक्ष नाटक की जो रूपरेखा उपस्थित की, वह पूर्ण है, अतः सर्वथा स्वीकार्य है। इन आचार्यों ने अनुकरण को स्वीकार किया, परन्तु ऐसे संकुचित अर्थ में नहीं, जो अपनी अभिनयात्मकता में निर्जीव हो; फिर यह मानसिक अनुकरण के रूप में मात्र एक रचना से सम्बन्धित भी नहीं हुआ। इसी प्रकार, यह भी द्रष्टव्य है कि रस-सिद्धान्त को कभी भावातिरेक के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। परन्तु, डॉ० रघुवंश का कथन है : "परन्तु यह सब होते हुए भी संस्कृत-आचार्यों की विवेचना आधुनिक युग की दृष्टि से हमारी परिस्थितियों को देखते हुए पूर्ण नहीं है। आज के वैज्ञानिक युग में नाटक-रचना और प्रदर्शन का रूप बिलकुल बदल चुका है, इस कारण केवल उनके आधारभूत सिद्धान्त ही हमारे प्रयोजन के हैं।"[4]

---

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका १
२. वही, कारिका २
३. अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ० ४८
४. नाट्यकला, पृ० ९

अरस्तू का मत : प्राचीन ग्रीक आचार्य अरस्तू ने सभी कलाकृतियों को अनुकरण माना है। महाकाव्य, त्रासदी, कामदी (कॉमेडी), अन्य प्रकार का काव्य, वंशी तथा वीणा का संगीत आदि सभी सामान्य रूप से अनुकरणमूलक ही होते हैं। किन्तु, उनका पारस्परिक भेद तीन बातों को लेकर होता है—माध्यम, वस्तु और रीति। प्रत्येक कलाकृति में ये तीनों भिन्न-भिन्न होते हैं।

इन कलाओं में अनेक के अनुकरण का माध्यम रंग, ध्वनि, गति, ताल, लय, भाषा आदि हैं। एक कला ऐसी है, जिसके अनुकरण का माध्यम भाषा है। भाषा भी गद्यमय हो सकती है या पद्यमय। कुछ कलाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें सभी माध्यमों—लय, सुर तथा छन्द—का उपयोग किया जाता है। इन्हीं कलाओं में त्रासदी तथा कामदी भी हैं।

कार्यशील मनुष्य ही अनुकरण की वस्तु हैं। ये मनुष्य निश्चय ही या तो उच्चतर या निम्नतर प्रकार के होंगे। फलस्वरूप कलाकार मनुष्य को वास्तविक जीवन से उत्कृष्ट या निकृष्ट या यथावत् चित्रित करेगा। यही अन्तर त्रासदी और कॉमेडी में देखा जा सकता है, क्योंकि कॉमेडी में मनुष्य को वास्तविक जीवन से निकृष्ट तथा त्रासदी में उत्कृष्ट चित्रित करने का लक्ष्य रहता है। इस विषय में अरस्तू ने कहा है :

"The same distinction marks off Tragedy from Comedy; for Comedy aims at representing men as worse, Tragedy as better than in actual life."[१]

अरस्तू ने तीसरा अन्तर बताया है—इन वस्तुओं के अनुकरण की रीति। इसका कारण यह है कि माध्यम और वस्तु वहीं रहने पर भी कवि विवरण (Narration) के द्वारा अनुकरण कर सकता है या अपने सभी पात्रों को हमारे सामने जीते-जागते और चलते-फिरते रूप में प्रस्तुत कर सकता है।

ये ही तीन तत्त्व—माध्यम, वस्तु और रीति—कलात्मक अनुकृतियों में अन्तर स्पष्ट करते हैं। अतः एक दृष्टिकोण से सोफोक्लीज़ होमर की ही कोटि का अनुकरणकर्त्ता है; क्योंकि दोनों ही उच्चतर प्रकार के चरित्रों का अनुकरण करते हैं। परन्तु, दूसरे दृष्टिकोण से सोफोक्लीज़ एरिस्टोफोनीस की कोटि का अनुकरणकर्त्ता है; क्योंकि दोनों ऐसे व्यक्तियों का अनुकरण करते हैं, जो कार्यशील होते हैं। इसलिए, कार्य का चित्रण करनेवाली कविता को कुछ लोग नाट्य कहते हैं : "Hence, some say, the name of 'drama' is given to such poems, as representing action."[२]

सामान्य रूप से कविता दो कारणों से उत्पन्न हुई जान पड़ती है। ये दोनों कारण मानव की प्रकृति में बहुत गहराई में हैं। इनमें से एक अनुकरण की नैसर्गिक शक्ति है और दूसरी है समस्वर (Harmony) की नैसर्गिक शक्ति। अनुकरण की नैसर्गिक शक्ति मानव में शैशव से ही जड़ जमाये रहती है। अन्य प्राणियों से मानव का यही अन्तर है कि यह

१. Aristotle's Poetics : Translated by S. H. Butcher; p. 13.
२. Ibid.

सभी प्राणियों में सर्वाधिक अनुकरणशील होता है और अनुकरण के ही सहारे सबसे पहले कुछ सीखता है। किसी वस्तु का अनुकरण करने पर आनन्द की उपलब्धि भी सर्वत्र होती है। इसका प्रमाण हमें अनुभव से मिल जाता है। इस प्रकार, अनुकरण हमारी प्रकृति की एक नैसर्गिक शक्ति है।

कॉमेडी (कामदी) में निम्नकोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है, जिन्हें निकृष्ट नहीं कहकर विरूप या बेढंगा कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें कुछ त्रुटि या कुरूपता रहती है, जो कष्टदायक या विनाशक नहीं होती।

अरस्तू ने कॉमेडी से अधिक महत्त्व त्रासदी को दिया है और इसे गम्भीर, पूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण कार्य का अनुकरण माना है: "Tragedy, then, is an imitation of an action that is serious, complete and of a certain magnitude; in language embellished with such kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action, not of narration; through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions."[1]

फिर त्रासदी किसी कार्य का अनुकरण है और कार्य के लिए कुछ व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जिनमें चरित्र तथा विचार के कुछ विशिष्ट गुण अवश्य होते हैं। इन्हीं दो स्वाभाविक कारणों—विचार तथा चरित्र—से कार्य उत्पन्न होते हैं और कार्य पर ही सफलता या असफलता निर्भर करती है। अतः कथावस्तु कार्य का अनुकरण है। कथावस्तु का तात्पर्य घटनाओं की व्यवस्था है। प्रत्येक त्रासदी में छह तत्त्व आवश्यक होते हैं—कथावस्तु, पात्र या चरित्र, वर्णन-शैली, विचार, दृश्य और गीत। इनमें से दो अनुकरण के माध्यम हैं, एक रीति है और तीन अनुकरण की वस्तुएँ हैं।

कविता जिस संसार की सृष्टि करती है, उसके विषय में अरस्तू ने कहीं भी स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है कि वह मूल के सदृश होगा, किन्तु उनकी सम्पूर्ण पुस्तक से इसका आभास मिलता है। मनुष्य के कार्य और चरित्र ही वह मूल है, जिसका प्रतिफलन कविता करती है। किसी अन्य कला की विषयवस्तु का इतना विस्तार नहीं है और न कोई अन्य कला अपने मूल का इतना पूर्ण तथा सन्तोषप्रद चित्र ही उपस्थित कर सकती है। नाटक में जीवन का काव्यात्मक अनुकरण पूर्णता प्राप्त कर लेता है। किन्तु, यहीं अनुकरण का भाव स्पष्ट हो जाता है। नाटक में ही बोली का अनुकरण बोली से किया जाता है और यदि नाटक रंगमंच पर दिखाया जाता है, तो कार्य का अनुकरण कार्य से होता है। कविता के सन्दर्भ में जो अनुकरण शब्द का प्रयोग हुआ, वह सम्भवतः नाटकात्मक काव्य के लिए ही हुआ। इस प्रसंग में श्रीबूचर का कथन है: "Indeed the term imitation, as popularly applied to poetry, was probably suggested to the Greeks by

१. Aristotle's Poetics : Translated by S. H. Butcher; p. 23,

these dramatic forms of poetry in which acting or recitation produced an impression allied to that of mimicry."[1]

विवेचन : कुछ विद्वान् अरस्तू द्वारा दी गई व्याख्या में उचित स्पष्टता तथा व्यापकता का अभाव पाते हैं और उनके अनुकरण-सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर अभी तक विद्वानों के बीच वाद-विवाद चलता है। अभी आज तक विद्वन्मण्डली इस विषय में किसी पूर्ण निश्चय पर नहीं पहुँच सकी है। अनुकरण को आधार-रूप में स्वीकार कर सिसिरो ने कहा है : 'नाटक जीवन का दर्पण और रीतियों का दर्पण है।' इस कथन में नाटक की सम्पूर्ण रूपरेखा समझने का प्रयत्न बहुत दिनों तक किया जाता रहा है। १९वीं शती के यथार्थवादियों ने इसे कला के सिद्धान्त-रूप में ग्रहण किया। उन्होंने जीवन के अनुकरण के साथ यथार्थ का सम्बन्ध स्थापित किया और कला के सम्पूर्ण क्षेत्र को सत्य के अनुकरण और उसकी पूर्णता की सीमा के अन्दर रखने की चेष्टा की। नाटक जनता के निकट है, इसलिए उसमें उनके जीवन की अनुरूपता नाटक के कलात्मक आदर्श की सीमा स्वीकृत की गई।

यह सिद्धान्त बहुत दिनों तक यूरोप में नाटक के आदर्श के रूप में स्वीकृत रहा है और आज भी इसका काफी मान है। परन्तु, इसमें नाटक-विषयक एकांगी सत्य की ही चर्चा है। इसमें नाटक की अभिनयात्मकता पर ही बल दिया गया है, परन्तु रचनात्मक तथा भावात्मक पक्षों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। यदि इस सिद्धान्त के आधार पर नाटक की रूपरेखा पर विचार किया जाय तो इससे नाटक का पूरा रूप सामने नहीं आ सकता। एक तो इसमें दर्शकों का मनोविज्ञान समझने में भूल की गई है; दूसरे, नाटक-रचना में जिस सामंजस्य-बुद्धि की आवश्यकता अनिवार्य है, इस सिद्धान्त में उसकी उपेक्षा की गई है।

नाटक के रचनात्मक पक्ष को ध्यान में रखकर जिन विद्वानों ने विचार किया है, उनमें से अधिकतर ने रंगमंच और दर्शकों की उपेक्षा की है। किन्तु, कुछ आधुनिक नाट्यशास्त्रियों ने नाटक के तीनों आयामों को कला के रूप में ही मानकर विचार किया है। नाटक के रचनात्मक, अभिनयात्मक और रसात्मक पक्षों का विवेचन करने पर ही नाटक की पूर्ण व्याख्या हो सकती है।

भरत के नाट्यशास्त्र में जहाँ-कहीं नाट्य की सामान्य परिभाषा की चर्चा हुई है, वहाँ नाट्य के इन तीन आयामों की कल्पना भी दिखाई देती है। प्रथम अध्याय में ब्रह्मा दैत्यों को समझाने के प्रसंग में कहते हैं कि यह नाट्यवेद आपके तथा देवताओं के—दोनों के शुभ और अशुभ को निर्धारित करनेवाला और दोनों के ही कार्यों तथा भावनाओं के अनुकरण की अपेक्षा रखनेवाला है। इसी अवसर पर ब्रह्मा नाटक की परिभाषा कहते हैं :[1]

---

१. Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : S.H. Butcher; p. 138.

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥[1]

इस परिभाषा में एक तरफ नाट्य की वस्तु का वर्णन है : "यह विविध अवस्थाओं से युक्त, अनेक प्रकार के भावों से सम्पन्न, लोकवृत्त का अनुकरण करनेवाला नाट्य मैंने रचा है ।" यहाँ वस्तु के विषय में अवस्थाएँ, जीवन की विभिन्न स्थितियाँ, भाव और वृत्त का अनुकरण जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करता है । परन्तु, दूसरी तरफ, इसी व्याख्या के अन्तर्गत नाट्य-रचना के प्रसंग में अवस्थानुरूप घटनाओं, लोकवृत्त के अनुकरण के रूप में अभिनय और भावसम्पन्नता को दर्शकों की रसानुभूति के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं । इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से ऐसे ही क्रीडनीयक की याचना की थी, जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ से ही नाट्यशास्त्र में दृश्यमानता को प्रधानता दी गई है । वास्तव में, नाट्यशास्त्र नाट्यकला के इन तीन आयामों की विवेचना प्रस्तुत करता है ।

निष्कर्ष : इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग सभी प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों तथा प्राचीन ग्रीक विद्वान् अरस्तू ने नाट्य का लक्षण देते समय अनुकरण की अनिवार्यता स्वीकार की है । वस्तुतः नाट्य में मानव के उन सारे क्रिया-कलाप का अनुकरण रहता है, जिनका सम्पादन वह अपने दैनिक जीवन में करता रहता है । यह तो ठीक ही है कि सम्पूर्ण क्रिया-कलाप रंगमंच पर नहीं प्रदर्शित किये जा सकते, अतः उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य ही रंगमंच की सीमा और मर्यादा के अनुरूप चुन लिये जाते हैं और उनका ही प्रदर्शन होता है । मनुष्य की अवस्थाओं का अनुकरण ही नाट्य होता है । अतः धनंजय द्वारा दिये गये लक्षण में, संक्षेपतः, नाट्य का यथार्थ लक्षण आ जाता है । इसलिए, धनंजय का दिया हुआ :

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ॥[2]

उचित तथा यथार्थ लक्षण है । इसमें धनंजय ने बहुत सूक्ष्म शैली में तीन नाटकीय आयामों का संकेत कर दिया है । जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ ही कथावस्तु हैं, अनुकृति ही समारोप से अभिनय का मूल सिद्धान्त है और समारोप से जिस रस की अनुभूति होती है, वह प्रेक्षकों के मन में ही है ।

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि संसार में जो घटनाएँ पहले हो चुकी हैं या हो रही हैं, उन्हें उसी रूप में ज्यों-का-त्यों दिखाना ही नाट्य कहा जाता है । इसमें निम्नांकित पाँच बातों का समावेश हो सकता है : १. जिस स्थान पर या जिस समय में वह घटना हुई हो, वह

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, का० ११२
२. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० ७

स्थान या समय दिखाना; २. उन घटनाओं में भाग लेनेवाले व्यक्तियों या जीवों के अनुरूप वेश धारण करना; ३. उन व्यक्तियों के अनुरूप बोलना; ४. उनके समान आंगिक चेष्टाएँ करना और ५. उनके अनुरूप मानसिक भाव व्यक्त करना। भारतीय नाट्यशास्त्र में स्थान के प्रदर्शन की कोई सूचना नहीं मिलती। अन्य चार बातों के अनुकरण को पारिभाषिक शब्दावली में आहार्य, वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय कहा गया है। इसका अभिप्राय हुआ कि नाटक में मुख्यतः दो कार्य होते हैं; एक तो यह है कि अतीत घटनाओं के अनुरूप लोग रूप धारण करते हैं और दूसरे, उन रूपों के अनुरूप चेष्टा या अभिनय करते हैं।

अनुकरण और वास्तविकता : नाट्यशास्त्र ने विस्तृत नियम बनाया है कि किस प्रकार नाट्य मनुष्यों, देवताओं तथा दिव्यादिव्यों के कार्यों का अनुकरण कर सकता है। रंगमंच पर प्रदर्शन के कारण परवर्त्ती आचार्यों ने नाटक को दृश्य काव्य की संज्ञा दी। इस संज्ञा के द्वारा श्रव्य काव्य, आख्यायिका इत्यादि का नाट्य से अन्तर स्पष्ट हो जाता है, जो नाट्य वस्तुतः मनुष्य, देवता आदि के कार्यों का अनुकरण है। इस स्थल पर प्रश्न हो सकता है कि भारतीय नाट्यशास्त्रियों के द्वारा प्रयुक्त 'अनुकरण' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, क्या इस शब्द का अर्थ वास्तविकता का पूर्ण प्रस्तुतीकरण है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए भारतीय नाटकों की परम्परा की ओर ध्यान देना होगा।

नाटकीय परम्परा या नाट्यधर्मी : भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने बहुत पहले ही नाटकीय प्रदर्शन या प्रस्तुतीकरण की ओर ध्यान दिया और वास्तविकता या यथार्थता के उपयुक्त यथार्थ स्थान के विषय में छानबीन की। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने इसे लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी—दो भागों में बाँट देने की बुद्धिमानी दिखाई। लोकधर्मी प्रयोग के द्वारा नाट्यशास्त्र का तात्पर्य नर और नारी के स्वाभाविक व्यवहार तथा अन्य स्वाभाविक व्यवहार का रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण है।[1]

किन्तु, विभिन्न पात्रों के नृत्य, गीत, मुद्रा आदि की विभिन्न परम्पराओं के विस्तृत वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल से ही भारतीय रंगमंच ने कुछ अंश में कृत्रिमता को भी स्थान दिया था, तभी सच्ची कला उत्कर्ष प्राप्त कर सकती है। इस परम्परागत प्रयोग का एक बहुत स्पष्ट तथा प्रसिद्ध उदाहरण रंगमंच पर का स्वगत भाषण है। अति यथार्थवादी इसे अस्वाभाविक बताकर दोषपूर्ण कह सकते हैं और दोषारोपण को अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु, यदि नाट्य की रचना और रंगमंच पर उसके प्रदर्शन पर अधिक गम्भीरता से विचार किया जाय, तो हम देखेंगे कि यदि दर्शक बहुत कठोरता से वास्तविकता की माँग करेगा, तो कोई भी महत्त्वपूर्ण नाटकीय प्रदर्शन सम्भव नहीं हो सकता। प्राचीन भारतीय नाटकों के आलोचकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए और नाटक के प्रस्तुतीकरण की विभिन्न परम्पराओं को ध्यान से नहीं हटाना चाहिए,

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १४, का० ६२–७६; अध्याय २३, का० १८७-८८

तभी वे कालिदास, भास, शूद्रक, विशाखदत्त जैसे नाटककारों की कृतियों का वास्तविक मूल्यांकन कर सकेंगे।

वृत्तियाँ

धनंजय ने वृत्तियों को नाटक के व्यापार के अनुकूल बताया है, इसीलिए उन्होंने नायक का वर्णन करने के तुरन्त ही बाद वृत्तियों का भी विवेचन किया है। वस्तुतः वृत्ति का अभिप्राय नायक का वह व्यवहार अथवा स्वभाव है, जो किसी विशेष दिशा में प्रवृत्त करता है। कविराज विश्वनाथ ने भी नायक-नायिका आदि के व्यापार-विशेष को ही नाटकीय वृत्ति कहा है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास ने 'रूपक-रहस्य' में वृत्ति के विषय में निम्नलिखित शब्द लिखे हैं : "'वृत्ति' शब्द का साधारण अर्थ है बरताव, काम अथवा ढंग। नाट्यशास्त्र में नायक-नायिका आदि के विशेष प्रकार के बरताव अथवा ढंग को वृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति—ये तीन साहित्य-विद्या के अंग माने गये हैं।"[1] आगे उन्होंने **राजशेखर** की काव्य-मीमांसा का उद्धरण देकर प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति में अन्तर बताया है। विशेष प्रकार की वेष-रचना को प्रवृत्ति, विलास-प्रदर्शन को वृत्ति और वचन-चातुरी को रीति कहते हैं। साहित्यदर्पण के टीकाकार तर्कवागीशजी ने वृत्ति का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ बताया है : **'वर्त्तते रसोऽनयेति वृत्तिः'** : जिसके कारण रस वर्त्तमान हो, अर्थात् जो रसास्वादन का प्रधान कारण है, वह वृत्ति है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के निम्नलिखित शब्दों में वृत्ति का लक्षण दिया जा सकता है : "नाट्य में यथार्थता और उसके द्वारा सजीवता लाने का प्रयत्न करते हुए नट और नटी सभी पात्रों के वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्त्विक—चारों प्रकार के अभिनय की ओर प्रसंगानुकूल दृश्यों के प्रदर्शन की उस विशेषता को वृत्ति कहते हैं, जो नाटकीय रस की अनुभूति में मुख्य सहायक हो।"[2]

भरत मुनि ने वृत्तियों को नाट्य की माताएँ कहा है :

एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः।

इन वृत्तियों की संख्या चार मानी गई है—भारती, कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी। इन्हीं वृत्तियों के आधार पर विभिन्न प्रकार के नाटकों की रचना होती है। कुछ नाटकों में हमें गीत, नृत्य तथा शृंगारी चेष्टाओं का बाहुल्य मिलता है। कुछ नाटकों में हम लड़ाई, झगड़ा, युद्ध, मार-काट, इन्द्रजाल आदि का प्रयोग पाते हैं। कुछ में संवाद की ही प्रधानता पाते हैं। किसी में नायक के उदात्त गुण ही विस्तार से दिखाये जाते हैं। हमारे प्राचीन नाट्याचार्यों ने इन्हीं के आधार पर नाटकों के भेद

---

१. रूपक-रहस्य, पाँचवाँ अध्याय, पृ० १२९

२. वही, पृ० १३०

निर्धारित किये हैं। परन्तु, विदेशी नाटकों का अध्ययन करने से पता चलता है कि कई अन्य शैलियों में भी नाटक की रचना हो सकती है। यूनान में त्रासदी और कॉमेडी नामों से जो दो भेद लिखे जाने लगे, वे वस्तुतः दो वृत्तियों के आधार पर ही लिखे गये। यूरोप के रहस्यवादी नाटक या नीतिवादी नाटक भी वस्तुतः नाट्य-वृत्तियाँ ही हैं। इन्हीं वृत्ति-भेदों के आधार पर सभी देशों में विभिन्न प्रकार के भेद-उपभेदों के साथ अनेक नाटकों की रचना हुई।

मूलतः ये वृत्तियाँ विभिन्न जातियों से ली गई जान पड़ती हैं। भारती भरतों की वृत्ति मानी गई है। भरत लोगों का व्यवसाय नाटक खेलना था। सात्वत जाति तो प्रसिद्ध ही है। भाव-प्रवणता एवं भक्ति-भावना में इस जाति का कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है। ऐसा भी कहा जाता है कि भागवत-सम्प्रदाय इन्हीं की देन है। कैशिक जाति सम्भवतः कास्पियन-तट की जाति है। आरभट शायद ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित आर्विटस जाति है। यह जाति सिन्धु-घाटी में रहती थी।

उपर्युक्त चार वृत्तियों में से भारती शब्द-वृत्ति तथा शेष तीन अर्थ-वृत्तियाँ मानी गई हैं। भारती को शब्द-वृत्ति कहने का कारण यह है कि इसमें वाचिक अभिनय की ही अधिकता रहती है; इसकी योजना करने के लिए किसी विशेष दृश्य की अवतारणा आवश्यक नहीं होती। अन्य तीन वृत्तियों में नृत्य, गीत, वाद्य तथा रसों के अनुरूप भावों तथा दृश्यों का प्रदर्शन होता है। भारती वृत्ति की उत्पत्ति ऋग्वेद से, सात्त्वती की यजुर्वेद से, कैशिकी की सामवेद से तथा आरभटी की अथर्ववेद से मानी गई है। ऋग्वेद के कई सूक्तों में ऐसे संलाप के प्रसंग पाये जाते हैं, जिनमें नाटक के बीज निहित हैं। इससे सिद्ध होता है कि वाचिक अभिनय-बहुल भारती वृत्ति की उत्पत्ति ऋग्वेद से हुई। इसी प्रकार सत्त्व, शौर्य, दया आदि भावों से सम्बन्ध रखनेवाली सात्त्वती वृत्ति यज्ञ के मन्त्रों से पूर्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। नृत्य, गीत-बहुल कैशिकी वृत्ति का सम्बन्ध संगीतमय सामवेद से और बन्ध, वध, संग्राम, क्रोध, इन्द्रजाल, माया आदि उद्धत तथा भीषण भावों से युक्त आरभटी वृत्ति का सम्बन्ध मारण, मोहन, उच्चाटन आदि आभिचारिक क्रियाओं के वर्णन से भरे अथर्ववेद से मानना उचित ही लगता है।

अब इन वृत्तियों का परिचय दिया जा रहा है।

१. भारती वृत्ति :

भरत मुनि ने भारती वृत्ति का लक्षण दिया है :

> **या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठ्ययुक्ता।**
> **स्वनामधेयैर्भरतै प्रयोज्या सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥**[1]

स्त्रियाँ इस भारती वृत्ति का प्रयोग नहीं कर सकतीं; पुरुष भी केवल संस्कृत का ही प्रयोग कर सकते हैं। नट भरत कहे जाते हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे भारती वृत्ति कहते हैं।

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० २५**

धनंजय ने भारती वृत्ति का लक्षण निम्नांकित शब्दों में में दिया है :

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।[1]

नट के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत-भाषावाला वाग्व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है। विश्वनाथ ने धनंजय का ही वाक्य रखा, परन्तु '**नटाश्रयः**' के स्थान पर '**नराश्रयः**' कर दिया है :

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ।[2]

—अर्थात् संस्कृत-बहुल वाग्व्यापार जो नर के ही आश्रित हो, नारी के नहीं, उसे भारती वृत्ति कहते हैं। जान पड़ता है कि भरत के '**पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता**' के प्रभाव के कारण उन्होंने धनंजय के '**नटाश्रयः**' में यह परिवर्त्तन कर दिया है। दशरूपक और साहित्यदर्पण में दिये गये लक्षणों में नटाश्रय और नराश्रय में जो अन्तर हुआ है, उसके कारण का एक अन्य अनुमान किया जा सकता है। जान पड़ता है कि नट लोग आरम्भ में दर्शकों को प्रसन्न करने तथा उनका मन नाटक की ओर आकृष्ट करने के लिए मुख्य वस्तु के पहले ही इसका प्रयोग करते थे। कुछ दिनों के बाद नाटक के अन्य अंशों में भी इसके प्रयोग का विधान किया जाने लगा, जिसके फलस्वरूप 'नटाश्रय' के स्थान पर 'नराश्रय' हो गया।

शारदातनय ने पहले धनंजय की पंक्ति[3] और फिर भरत की भी कारिका[4] उद्धृत कर दी है। उपर्युक्त लक्षणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस रूपक-रचना की शैली अथवा भाषा-प्रयोग की विशेषता को कहते हैं, जिसका प्रयोग भरत या नट करते हैं—नटियाँ नहीं—और जिसमें संस्कृत-वाक्यों का बाहुल्य रहता है।

भारती वृत्ति के चार भेद बताये गये हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख। प्रस्तुत विषय की प्रशंसा करके दर्शकों की उत्कण्ठा बढ़ाने के कार्य को प्ररोचना कहते हैं और पारस्परिक वार्त्तालाप के द्वारा मुख्य नाटकीय वस्तु को आरम्भ करने के कार्य को आमुख कहते हैं। वास्तव में, प्ररोचना और आमुख नाटक की प्रस्तावना से सम्बन्ध रखते हैं और इनका विवेचन प्रस्तावना के प्रसंग में अन्यत्र किया गया है।

वीथी तथा प्रहसन रूपक के भेद-मात्र हैं। परन्तु, आचार्यों ने यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया कि भारती वृत्ति का सम्बन्ध वीथी और प्रहसन से किस प्रकार का है। नाट्याचार्यों ने स्वीकार किया है कि वीथी के १३ अंग नाटक के किसी भाग, विशेषतः प्रथम सन्धि, में उपयुक्त होते हैं। इनका सम्बन्ध पूर्वरंग से उतना नहीं है जितना स्वयं रूपक के कथानक से है।

---

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, का० ५

२. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० २९

३. भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २८, पं० १६

४. वही, पृ० २८, पं० १७-१८

अनुमान है कि आरम्भ में प्रहसन और वीथी प्रस्तावना के मात्र अंग थे। हास्य रस की बातें कहकर या शृंगार रस से युक्त और उक्ति-प्रत्युक्तिपूर्ण किसी कल्पित पात्र के आश्रय से प्रेक्षकों का मनोरंजन किया जाता था। जान पड़ता है कि प्रस्तावना के समय अनेक उपायों से दर्शकों का मन नाटक की ओर आकर्षित या उन्मुख करना नटों का विशेष कर्त्तव्य समझा जाता था। आगे चलकर प्रहसन और वीथी ने स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया और वे रूपक के भेद माने जाने लगे। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि आमुख तथा प्ररोचना नाटक के प्रति आकर्षित करने के लिए प्रयुक्त होते थे और वीथी तथा प्रहसन मध्य या अन्त में दर्शकों की रुचि को सजीव रखने के लिए काम में लाये जाते थे।

भारती वृत्ति में स्त्रियों का पात्रत्व वर्जित है। इसके दो कारण जान पड़ते हैं—पहला तो यह कि भारती वृत्ति संस्कृत-प्रधान होती है और भारतीय नाट्यशास्त्र में स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलने का आदेश है; दूसरा कारण यह है कि इसमें हँसी-मजाक या मसखरेपन की बात होती है, परन्तु स्त्रियों के साथ बढ़-बढ़कर मजाक करना हिन्दू-समाज की शिष्टता के विरुद्ध है।

धनंजय ने तीन वृत्तियों को सची या क्रिया-वृत्ति माना है, भारती वृत्ति को नहीं। नाटकीय व्यापार से भारती वृत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मात्र वाचिक वृत्ति है।

२. **कैशिकी वृत्ति** : विश्वनाथ ने कैशिकी वृत्ति का वही लक्षण दिया है, जो भरत ने दिया है। दोनों के शब्दों में थोड़ा ही अन्तर है। भरत :

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥[1]

और विश्वनाथ द्वारा दिया लक्षण है :

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता॥[2]

—अर्थात् जो मनोरंजन नेपथ्य—नायकादि की वेष-रचना—से विशेष चमत्कारिणी हो, स्त्रीगण से व्याप्त और नृत्य-गीत से परिपूर्ण हो तथा जिसका उपचार काम-सुख-भोग को उत्पन्न करनेवाला हो, अर्थात् जिसके अंगों से शृंगार रस की अभिव्यक्ति होती हो, वह रमणीय विलासों से युक्त वृत्ति कैशिकी कही जाती है। धनंजय के भी अनुसार कैशिकी वृत्ति में नृत्य, गीत, विलास, काम-क्रीड़ा आदि से युक्त कोमल एवं शृंगारी व्यापार होते हैं, जिनका फल काम (पुरुषार्थ) है। कैशिकी वृत्ति में पुरुष-स्त्री दोनों प्रकार के पात्र काम करते हैं और इसमें प्रेम, साहस और आमोद-प्रमोद का वर्णन रहता है।

कैशिकी वृत्ति के निम्नलिखित चार अंग माने गये हैं :

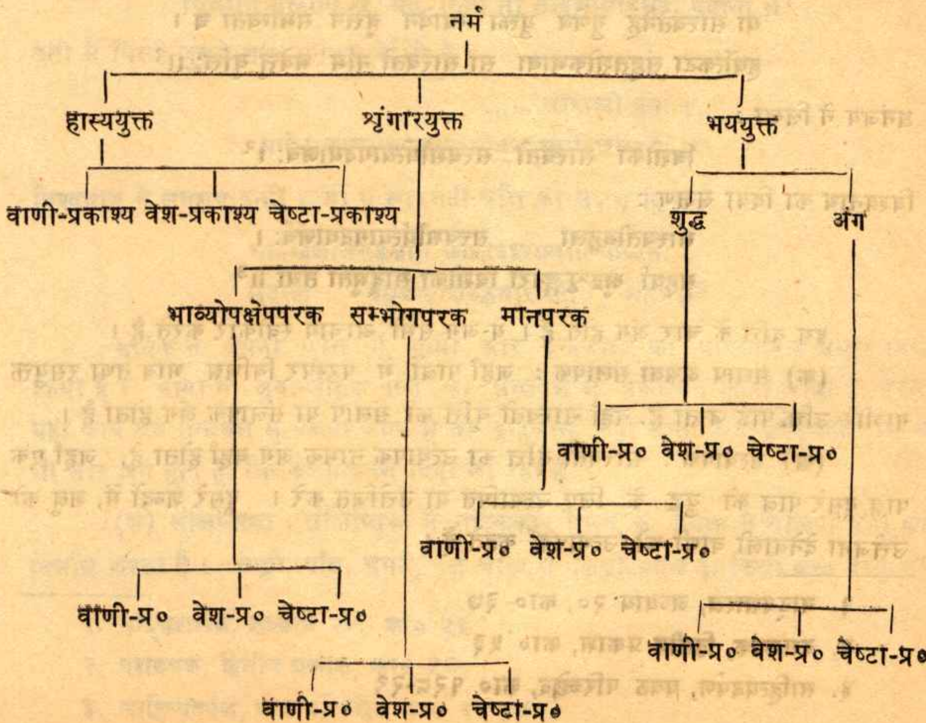
---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० ४६**
२. **साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० १२४**

(क) **नर्म** : प्रिय (नायक या नायिका) के चित्त को प्रसन्न करनेवाला विलासपूर्ण व्यापार नर्म कहा जाता है। वस्तुत:, नर्म संज्ञा उस परिहास को दी जाती है, जो प्रिय जन के चित्त को प्रसन्न करनेवाला, सभ्यतापूर्ण अथवा अग्राम्य व्यवहार होता है। नर्म का प्रमुख तत्त्व हास्य है, इसलिए यह हास्य तीनों रूपों में पाया जाता है—कभी केवल रूप में, कभी श्रृंगार से युक्त होकर और कभी भय से युक्त होकर। इस प्रकार नर्म के तीन भेद होते हैं : १. हास्य से युक्त नर्म, २. श्रृंगार से युक्त नर्म तथा ३. भय से युक्त नर्म।

इनमें श्रृंगारयुक्त नर्म तीन प्रकार का होता है–१. आत्मोपक्षेपपरक या स्वानुराग-निवेदन—जहाँ नायक या नायिका स्वयं अपना प्रेम प्रकट करते हैं; २. सम्भोगपरक या सम्भोगेच्छा-प्रकाशन—जहाँ सम्भोग की इच्छा प्रकट की जाती है; ३. मानपरक—जहाँ प्रिय जब अनिष्ट करता है, तो नायिका मान करती है। भययुक्त नर्म भी दो प्रकार का होता है : १. शुद्ध और २. अंग या रसान्तरांग (किसी दूसरे रस का अंगभूत होकर)। इस प्रकार हास्य से युक्त या शुद्ध नर्म का एक भेद, श्रृंगार से युक्त नर्म के तीन भेद और भययुक्त नर्म के दो भेद मिलकर कुल छह भेद हुए। नर्म को प्रकाशित करनेवाले साधन तीन हैं : १. वाणी, २. वेशभूषा तथा ३. चेष्टा। इस प्रकार, इनके आधार पर नर्म के भेद ३ × ६ = १८ हो जाते हैं। दशरूपक आदि ग्रन्थों में सबके उपयुक्त उदाहरण दिये गये हैं।

निम्न कोष्ठक से नर्म के सभी भेद स्पष्ट हो जाते हैं।



(ख) नर्म स्फिज : नर्म स्फिज उसे कहा जाता है, जहाँ नायक और नायिका को प्रथम समागम के समय पहले तो सुख प्राप्त होता है, परन्तु कुछ देर बाद भय होता है कि कहीं कोई—पिता आदि या देवी आदि—उसके भेद न पा जायँ। विश्वनाथ ने इसका नाम 'नर्म स्फूर्ज' दिया है।

(ग) नर्मस्फोट : नर्मस्फोट वह है, जहाँ सात्त्विक आदि भावों के लेशमात्र से रस की सूचना कर दी जाय।

(घ) नर्म गर्भ उसे कहते हैं, जहाँ किसी प्रयोजन के लिए नायक प्रच्छन्न रूप से—छिपकर—प्रवेश करें।

कैशिकी वृत्ति के ये अंग हास्ययुक्त तथा हास्य-रहित—दोनों ढंग के हो सकते हैं। धनंजय आदि आचार्यों ने सभी के उपयुक्त उदाहरण रत्नावली, मालतीमाधव आदि नाटकों से दिये हैं।

३. **सात्वती वृत्ति** : जहाँ नायक का व्यापार शोकहीन होता है और उसमें सत्त्व, शौर्य, त्याग, हर्ष, दया, कोमलता, आत्मत्याग, साहस आदि भावों की स्थिति होती है, वह सात्त्वती वृत्ति है। विश्वनाथ सात्त्वती वृत्ति में इन गुणों के अतिरिक्त यत्किंचित् श्रृंगार और अद्‌भुत रसों की प्रधानता भी मानते हैं। सात्त्वती वृत्ति के विषय में भरत, धनंजय, विश्वनाथ आदि आचार्यों में कोई विशेष मतभेद नहीं है। तीनों आचार्यों के द्वारा दिये लक्षणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा। भरत ने निम्नांकित लक्षण दिया है :

या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥[1]

धनंजय ने लिखा :

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।[2]

विश्वनाथ का दिया लक्षण :

सात्त्वतीबहुला सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
सहर्षा क्षुद्रश्रृङ्गारा विशोका साद्‌भुता तथा॥[3]

इस वृत्ति के चार अंग होते हैं। ये अंग सभी आचार्य स्वीकार करते हैं।

(क) संलाप अथवा संलापक : जहाँ पात्रों में परस्पर विभिन्न भाव तथा रसयुक्त गम्भीर उक्ति पाई जाती है, वहाँ सात्त्वती वृत्ति का संलाप या संलापक अंग होता है।

(ख) उत्थापक : सात्त्वती वृत्ति का उत्थापक नामक अंग वहाँ होता है, जहाँ एक पात्र दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्थापित या उत्तेजित करे। दूसरे शब्दों में, शत्रु को उत्तेजना देनेवाली वाणी को 'उत्थापक' कहते हैं।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० ३७
२. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, का० ५३
३. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० १२८-२९

(ग) सांघात्य : जहाँ शत्रु या प्रतिनायक के संघ का भेदन मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, देव-शक्ति आदि की सहायता से किया जाय, वहाँ सात्त्वती वृत्ति का सांघात्य नामक अंग होता है। सांघात्य में देखा जाता है कि नायक या नाटक के साथी कुछ शक्तियों के सहारे प्रतिनायक के सहयोगियों को फोड़कर उसकी शक्ति क्षीण कर देते हैं। जहाँ नायक मन्त्रणा या बुद्धि-बल के सहारे प्रतिनायक के साथियों को फोड़ ले, वह भेदन मन्त्रशक्ति के द्वारा होता है। अर्थ या द्रव्यादि के आधार पर जहाँ फोड़ा जाता है, उसे अर्थशक्ति के आधार पर भेदन कहा जाता है। कहीं-कहीं देव-शक्ति के आधार पर भेदन होता है।

(घ) परिवर्त्तक : सात्त्वती वृत्ति का परिवर्त्तक नामक अंग वहाँ होता है, जहाँ आरम्भ किये हुए किसी एक कार्य को छोड़कर दूसरा ही कार्य किया जाय।

धनंजय ने सात्त्वती वृत्ति के सभी अंगों के उपयुक्त उदाहरण 'महावीरचरित' और 'मुद्राराक्षस' नाटकों से दिये हैं।

४. आरभटी वृत्ति : आरभटी वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त चेष्टाएँ, वध तथा बन्धनादि पाये जाते हैं। यह उद्धत वृत्ति है। इसका लक्षण सभी आचार्यों ने प्रायः समान शब्दों में दिया है। भरत मुनि ने निम्नांकित लक्षण दिया है :

प्रस्तावपातप्लुतलङ्घितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशामारभटीं वदन्ति ॥[1]

इसी से मिलते-जुलते शब्द धनंजय के भी हैं :

...... आरभटी पुनः।
मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥[2]

विश्वनाथ ने लगभग इन्हीं शब्दों में आरभटी वृत्ति का लक्षण दिया है :

मायेन्द्रजालसङ्ग्राम क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ॥[3]

धनिक ने अपनी वृत्ति में माया और इन्द्रजाल का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट किया है। माया में अवास्तविक वस्तु को मन्त्रबल से प्रकाशित किया जाता है, परन्तु यही कार्य जब तन्त्रबल से किया जाता है तो 'इन्द्रजाल' कहा जाता है। आरभटी वृत्ति के भी चार अंग होते हैं, जिनका विवरण दिया जा रहा है :

(क) संक्षिप्तिका : संक्षिप्तिका में नाटककार शिल्प के प्रयोग से संक्षिप्त वस्तु का निर्माण करता है। मिट्टी, बाँस, चमड़े, पत्ते आदि से किसी भवन या किसी अन्य वस्तु का

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० ५६
२. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, का० ५६
३. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० १३२-३३

निर्माण 'संक्षिप्तिका' कहा जाता है। कुछ लोगों का मत है कि जहाँ पहला नायक निवृत्त हो जाय और दूसरा नायक आवे, या नायक की एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था ग्रहण की जाय, वहाँ संक्षिप्तिका होती है। दोनों में से किसी भी अवस्था में केवल सहकारी नायक में परिवर्त्तन दिखाया जाता है, नहीं तो नाटक की एकता या समग्रता में बाधा पड़ेगी।

(ख) सम्फेट : जहाँ दो क्रोधित पात्रों का परस्पर समाघात या एक-दूसरे का अधिक्षेप पाया जाता है, वहाँ आरभटी वृत्ति का सम्फेट नामक अंग होता है।

(ग) वस्तूत्थापन : मन्त्रबल की सहायता से माया के द्वारा किसी वस्तु की उत्थापना करने को वस्तूत्थापन कहते हैं।

(घ) अवपात : किसी भी पात्रादि के रंगमंच पर प्रवेश करने से या रंगमंच से चले जाने से दूसरे पात्रों में जो भय और भगदड़ मच जाती है, उसे 'अवपात' कहा जाता है।

आचार्यों ने सभी भेदों के उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

वृत्तियों की संख्या : वृत्तियों की संख्या के विषय में आचार्यों के बीच थोड़ा मतभेद पाया जाता है। भरत के अनुसार आरम्भ में वृत्तियाँ वस्तुतः तीन ही थीं—भारती, सात्त्वती तथा आरभटी। परन्तु, ब्रह्मा ने भरत को कैशिकी वृत्ति भी सम्मिलित कर लेने का आदेश दिया। तदनुसार भरत ने कैशिकी को भी वृत्तियों में सम्मिलित कर लिया। चूँकि यह वृत्ति स्त्रियों की सहायता के विना केवल पुरुषों के द्वारा भलीभाँति प्रयोग में नहीं लाई जा सकती, इसलिए ब्रह्मा ने अपने मन से अप्सराओं की सृष्टि की :

भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा।
समाश्रिताः प्रयोगास्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजाः॥

× × ×

अशक्या... पुरुषः प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन् महातेजा मनसाप्सरसो विभुः॥[1]

किन्तु, धनंजय ने तीन ही अर्थवृत्तियाँ मानी हैं—कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी। उनका मत है कि इनके अतिरिक्त कोई चौथी अर्थवृत्ति नहीं होती। भारती वृत्ति का अर्थ-रूपरस में कहीं भी सन्निवेश नहीं होता, वह रसों में नहीं मिलती। हास्य आदि भारती-परक होते हैं, और कोई भी शब्दार्थ रस-रहित नहीं होता। इसलिए सभी काव्यार्थों का समावेश उपर्युक्त कैशिकी आदि तीन वृत्तियों में सरलतापूर्वक हो जाता है। वास्तव में, भारती वृत्ति नाटक के आमुख या प्रस्तावना का अंग है, इसलिए लक्षण में पाये जाने के कारण शब्द-वृत्ति है। अतः धनंजय ने अर्थ-वृत्तियों का विवेचन करते समय भारती वृत्ति का विवेचन नहीं किया है, प्रत्युत नाटक के लक्षण का विवेचन करते समय किया है। किन्तु, वे भारती को चौथी वृत्ति स्वीकार करते हैं :

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, का० ४१, ४६

चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ।[1]

और,

पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ।[2]

—अर्थात् उद्भट के अनुयायी एक पाँचवीं अर्थवृत्ति मानते हैं। परन्तु, धनंजय इस पाँचवीं वृत्ति को स्वीकार नहीं करते।

शारदातनय ने चार वृत्तियों को स्वीकार किया और उनकी उत्पत्ति चार वेदों से मानी :

वृत्तिश्चतुर्विधा ऋग्यजुस्सामाथर्वसम्भवा ।
भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटीति च ॥
औद्भटाः पञ्चमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते ।[3]

वृत्ति के विषय में अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण अभिनयपरक है। वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक सामान्य व्यापारों से सम्बद्ध क्रमशः भारती, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ हैं। कैशिकी वृत्ति में अद्भुत लालित्य एवं आकर्षण का समावेश स्वीकार किया गया है। वास्तव में, अभिनव ने माना है कि अभिनय का सम्पूर्ण काव्य-व्यापार वृत्तियों के कारण सौन्दर्ययुक्त होता है। भारती वाणी का व्यापार है, सात्त्वती सत्त्व से सम्बन्ध रखने-वाला मनोविकार-रूप है और आरभटी का सम्बन्ध उत्साहपूर्ण एवं आलस्य-रहित शारीरिक व्यापारों से है। कैशिकी वृत्ति की जो व्याख्या दी गई है, वह मनोरंजक है। केश सिर पर रहकर शोभा में वृद्धि करते हैं, उनसे कोई विशेष कार्य सम्पन्न नहीं होता। उन्हीं के समान नाट्य में केवल शोभा में उपयोगी होने के कारण इसे कैशिकी वृत्ति कहा गया है। भरत ने शिव के नृत्य में कोमल, सुन्दर तथा सुकुमार वृत्ति को देखा था। सुकुमारता से अंगों के संचालन में इसका सम्पादन किया जाता है। आनन्दपूर्ण शरीर तथा हृदय से नृत्य करते हुए शंकर में कैशिकी वृत्ति की व्यंजना स्वीकार की गई है। शृंगार रस में तो इसका प्रयोग अनिवार्य ही है, किन्तु अन्य रसों में भी इसका प्रयोग अपेक्षित है। स्त्रियों के बिना प्रयोग नहीं हो सकने के विषय में अभिनव का कथन है कि यह सामान्य लोगों के विषय में ठीक माना जाना चाहिए। शिव और विष्णु के विषय में ऐसे कहना उचित नहीं। विष्णु के केशों से कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति मानी गई है।

नाट्य-सिद्धान्त के कई अन्य विषयों के समान वृत्तियाँ भी वेदों से उत्पन्न बताई गई हैं। भारती वृत्ति ऋग्वेद से, सात्त्वती यजुर्वेद से, कैशिकी सामवेद से और आरभटी अथर्ववेद से गृहीत मानी गई हैं :

---

१. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, का० ६०

२. वही, का० ६१

३. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार, पृ० १३

ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्त्वती ।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा ॥[१]

वृत्तियों की उत्पत्ति : शारदातनय ने वृत्तियों की उत्पत्ति के विषय में दो मतों का उल्लेख किया है। उनमें एक मत व्यास का है और दूसरा भरत का। व्यास का मत—ब्रह्मा ने 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक रचा और भरतों ने उनके सम्मुख उसका अभिनय किया। जब ब्रह्मा शिव का प्रेम, त्रिपुर का नाश, दक्ष के यज्ञ का विध्वंस आदि का अभिनय देख रहे थे, तब वे अत्यन्त प्रभावित तथा द्रवित हुए। फलस्वरूप उनके चारों मुखों से कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती नामक वृत्तियाँ अकस्मात् निकल गईं। उन्हीं से शृंगारादि चार रस निकले। व्यास ने बताया है कि शृंगारादि से हास्यादि चार रसों के निकलने की बात समझी जा सकती है।

भरत ने वृत्तियों की उत्पत्ति के विषय में एक दूसरी ही कथा कही है। मधु और कैटभ नामक असुरों ने दर्पोन्माद में विष्णु को ललकारा और कठोर वचनों का प्रयोग किया। उनके कठोर गर्जन-तर्जन को सुनकर ब्रह्मा ने कुछ विचलित होकर पूछा—'क्या यह भारती वृत्ति है, जिसका आरम्भ शब्दों से हुआ है और उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है? दोनों को मार डालिए।'

किमियं भारती वृत्तिर्वाग्भिरेव प्रवर्त्तते ।
उत्तरोत्तरसंवृद्धां नन्विमां निधनं नय ॥[२]

इसपर विष्णु ने उत्तर दिया, 'हाँ, मैंने अपने उद्देश्य के लिए भारती वृत्ति का ही निर्माण किया है। वक्ता की इस वृत्ति में शब्दों की ही प्रधानता रहेगी' :

भाष्यतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति ।[३]

इसी अवसर पर विष्णु ने अत्यधिक सत्त्व से पूर्ण धनुष का टंकार किया, जिससे सात्त्वती वृत्ति उत्पन्न हुई :

वल्गितैः शाङ्र्गधनुषस्तीव्रैर्दीप्तिकरैरथ ।
सत्त्वाधिकैरसम्भ्रान्तैः सात्त्वती तत्र निर्मिता ॥[४]

विष्णु ने अपने केशों से कैशिकी वृत्ति को उत्पन्न किया। उन्होंने जब वैचित्र्य के साथ अंगहार सम्पादित करते हुए, सुकुमारता के साथ अपने केशपाश को बाँधा, तब कैशिकी की रचना हुई :

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० २४
२. वही, अध्याय २०, का० ७
३. वही, अध्याय २०, का० ९
४. वही, अध्याय २०, का० १२

विचित्रैरङ्गहारैस्तु दवो लीलासमुद्भवैः ।
बबन्ध यच्छिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता ॥[1]

तब विविध आवेग और संरम्भ के साथ युद्ध हुआ, जिससे आरभटी वृत्ति निकली :

संरम्भावेगबहुलैर्नानाचारीसमुत्थितैः ।
नियुद्धकरणैश्चित्रैर्निर्मितारभटी ततः ॥[2]

इस प्रकार, हमारे प्राचीन नाट्याचार्यों ने वृत्तियों को दैवी उत्पत्ति प्रदान कर दी ।

वृत्ति और रस : नायक के व्यापार से ही वृत्ति का सम्बन्ध माना गया है, अतः रसपरक होने के कारण यह बताना आवश्यक समझा गया कि उनका प्रयोग किन रसों में होता है । आचार्यों ने कैशिकी का प्रयोग श्रृंगार रस में, सात्त्वती का वीररस में और आरभटी का रौद्र तथा बीभत्स रसों में करने का विधान किया है । शब्द-वृत्ति होने के कारण भारती वृत्ति का प्रयोग सभी रसों में होता है । इस विषय में विश्वनाथ और शारदातनय ने धनंजय का ही श्लोक उद्धृत किया है :

श्रृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥[3]

यहाँ चार ही प्रमुख रसों का उल्लेख किया गया है, किन्तु श्रृंगार से हास्य, वीर से अद्‌भुत, रौद्र से करुण तथा बीभत्स से भयानक रसों का तत्तत्प्रकरण में भाव लिया जाना चाहिए । वास्तव में, हास्यादि रस श्रृंगारादि रसों से निकले बताये गये हैं, अतः उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं ।

परन्तु, भरत का मत इन आचार्यों से थोड़ा भिन्न है । उनके अनुसार श्रृंगार तथा हास्य में कैशिकी; वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत में सात्त्वती; भयानक, बीभत्स तथा रौद्र में आरभटी और करुण तथा अद्‌भुत रसों में भारती वृत्ति का प्रयोग होता है ।[4]

वस्तुतः श्रृंगार रस में ही कैशिकी वृत्ति का सर्वोत्तम प्रयोग होता है । सात्त्वती वृत्ति वीर, अद्‌भुत तथा रौद्र रसों में सुन्दरतम रूप में प्रयुक्त होती है और कुछ अंशों में करुण तथा श्रृंगार में प्रयुक्त होती है । आरभटी वृत्ति रौद्र तथा भयानक में सबसे अधिक उपयुक्त होती है । भारती वृत्ति का सभी रसों में प्रयोग होता है, या भरत के मत से केवल वीर, अद्‌भुत तथा रौद्र रसों में ही इसका प्रयोग सुन्दर होता है ।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० १३

२. वही, अध्याय २०, का० १४

३. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, का० ६३; साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६, का० १२२; भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार, पृ० १२

४. नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, का० ६२-६३

वृत्ति और रूपक-भेद : भरत विभिन्न रूपक-भेदों का विवरण देते समय बताते गये हैं कि किस रूपक में किस वृत्ति का उपयोग होता है। धनंजय का कथन है कि भारती वृत्ति क्रिया-वृत्ति नहीं है और इसीलिए इस वृत्ति के नाटकों में यह भय बना रहता है कि वाग्व्यापार या संवाद सजाने के उत्साह में नाटककार अपने नाटक की अभिनेयता ही नहीं नष्ट कर दे। इस दशा में उसका नाटक दृश्य काव्य के स्थान पर श्रव्य काव्य या पाठ्य बनकर रह जायगा। इस तरह के कई नाटकों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। शेष वृत्तियों में कैशिकी वृत्ति के नाटक में नृत्य, गीत, विलास, श्रृंगार-चेष्टा आदि के अधिक व्यापार होते हैं। सात्त्वती वृत्ति के नाटक में किसी नायक के उदात्त गुणों का पूर्ण विकास प्रदर्शित किया जाता है। आरभटी वृत्ति के नाटक में मार-काट, युद्ध, कलह, इन्द्रजाल आदि से पूर्ण भयंकर रोमांचकारी घटनाएँ दिखाई जाती हैं।

इन नाट्य-वृत्तियों के अनुसार नाटक के मुख्यतः निम्नांकित भेद किये जा सकते हैं : १. संवाद-प्रधान नाटक, २. संगीत-प्रधान नाटक, ३. व्यक्ति-प्रधान नाटक और ४. संघर्ष-प्रधान नाटक। किन्तु, उनके अतिरिक्त भी अन्य दृष्टियों से नाटक के भेद और उपभेद किये जा सकते हैं।

नाट्यशास्त्र में रूपक के विभिन्न भेदों का जो विवरण दिया गया है, उसका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि नाटक, प्रकरण, समवकार और ईहामृग में सभी वृत्तियों का समावेश हो सकता है। किन्तु डिम, व्यायोग, प्रहसन, अंक, भाण और वीथी में इनमें से कुछ का ही प्रयोग सम्भव है। अतः वृत्तियों के चार विभाग बनाने के विषय में शंका उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु, यद्यपि यह विभागीकरण तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण दिखाई दे, तथापि इससे रूपक के अभिनय के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है जब रूपक एक या दो वृत्तियों को स्वीकार करके किसी को प्रमुखता प्रदान करता है। इन्हीं पर बल देने में अन्तर के कारण कोई रूपक नाटक, कोई ओपेरा या बैले बन जाता है। इस दृष्टि से देखने पर नाटक, प्रकरण, समवकार और ईहामृग अपने प्रत्येक अंक में ओपेरा या बैले की विशेषताओं से युक्त दिखाई देंगे। प्रहसन जो एकांकी होता है और जिसमें भिन्न-भिन्न वेशभूषाओं तथा नृत्य का प्रयोग होता है, कुछ अंश में बैले कहा जा सकता है। डिम, वीथी, भाण, अंक तथा व्यायोग सीधे-सादे नाट्य हैं, जिनमें नृत्य या चमकीली वेशभूषा नहीं रहती।

शास्त्रीय दृष्टि से वृत्तियों पर विचार करने पर पता चलेगा कि केवल नाटक, प्रकरण और नाटिका ही पूर्णांग रूपक हैं। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग में तीन ही वृत्तियों का प्रयोग होता है, अतः ये अपूर्ण हैं। भाण, प्रहसन, वीथी और अंक में तीनों का प्रयोग तो होता है, परन्तु मुख्य वृत्ति भारती ही है। अतः ये और भी विकलांग हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इन रूपकों में तीन—नाटक, प्रकरण तथा नाटिका—उत्तम श्रेणी के हैं; चार—डिम, ईहामृग, समवकार तथा व्यायोग—मध्यम श्रेणी के हैं और शेष अवर श्रेणी के हैं।

नाट्य या रूपक के तत्त्व

काव्य के दो भेद किये गये हैं—दृश्य तथा श्रव्य। दृश्य काव्य को नट रंगमंच पर चारों प्रकार के अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। रंगमंच पर अभिनय के द्वारा दिखाई जानेवाली रचना को रूपक कहते हैं; क्योंकि उस रचना में आये पात्रों का आरोप नटों में करके उसे प्रदर्शित किया जाता है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में ऐसे काव्य को दृश्य या रूपक कहा है :

दृश्यं तत्राभिनेयं स्याद्रूपारोपात्तु रूपकम्।[1]

इसका अभिनय करके दिखाया जाता है, इसलिए इसे दृश्य कहते हैं और इसके अनुसार अभिनेताओं में विभिन्न पात्रों—रामादि—का आरोप होता है, इसलिए इसे रूपक कहते हैं।

इस नाट्य या रूपक में तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्त्तन होता है और उत्तम, मध्यम तथा अधम मनुष्यों के कार्यों का प्रदर्शन किया जाता है। इसमें संसार-भर के लोगों की सभी अवस्थाओं तथा कार्यों का अनुकरण होता है। नाट्य का बहुत अधिक महत्त्व है; क्योंकि इसमें सभी विषयों का समावेश रहता है। ज्ञान, शिल्प, कला, इतिहास, आख्यान, योग, कर्म, शास्त्र, वेद, स्मृति आदि सभी विषय इस नाट्य में पाये जा सकते हैं। यह सभी वर्गों के मनुष्यों को आनन्द, सुख और मनोरंजन प्रदान करनेवाला क्रीडनीयक है। यह क्रीडनीयक सार्ववर्णिक है। इसका अभिप्राय हुआ कि रूपक को खेलने योग्य बनाया जाय और इसमें अनेक विषयों का समावेश किया जाय, जिसके कारण सभी लोग इससे विनोद के साथ विश्रान्ति प्राप्त कर सकें। जब दर्शक नाट्य में पूरी तरह मग्न होकर रस लेने लगे, तभी यह सम्भव होगा। तात्पर्य यह है कि नाटक में एक विशिष्ट कथा होनी चाहिए, जिसमें कुछ पात्रों की आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक क्रियाएँ हों, जिनके आधार पर नट या अभिनेता उन पात्रों का अनुकरण करके आंगिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय करें और उसका अभिनय रंगमंच पर दिखाया जा सके। इससे स्पष्ट होता है कि वाचिक अभिनय के लिए संवाद होना आवश्यक है और आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय के लिए और दृश्य-विधान के लिए रंग-निर्देश होना चाहिए। इस विचार से नाटक में निम्नलिखित तत्त्व आवश्यक हैं और इन्हीं पर किसी नाट्य की स्थिति सम्भव है।

१. **कथा** : इसमें किसी नायक के जीवन के इतिवृत्त से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का वर्णन हो।

२. **नायक या पात्र** : नायक या पात्र का रहना आवश्यक है; क्योंकि उसी के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन होता है।

३. **संवाद** : संवाद के अन्तर्गत कथा में आये अनेक पात्रों का पारस्परिक वार्त्तालाप रहता है। इस वार्त्तालाप से कथा के विकास के साथ पात्रों के चरित्र का भी विकास होता है।

---

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० १

४. **रंग-निर्देश** : रंग-निर्देश के अन्तर्गत रंग-व्यवस्थापक तथा अभिनेताओं के लिए निर्देश दिये रहते हैं। कोई कार्य होता है, तो वह किसी-न-किसी स्थान पर और किसी-न-किसी समय पर होता है। साथ ही उसमें कोई-न-कोई व्यापार होता है। नाटककार रंग-निर्देश के अन्तर्गत इन्हीं तीन बातों—स्थान, समय तथा व्यापार का निर्देश करता है, जिससे रंग-निर्देशक तथा अभिनेता को अभिनय में सहायता मिलती है।

५. **रस** : नाटककार कथावस्तु तथा पात्रों की सहायता से कोई-न-कोई रस प्रकट करना चाहता है। भारतीय नाट्याचार्यों ने रस पर बहुत बल दिया है।

पाश्चात्त्य मत : बहुत-से विद्वानों—विशेषतः पाश्चात्त्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वानों—ने नाटक में निम्नलिखित छह तत्त्वों को स्वीकार किया है—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, देशकाल और उद्देश्य। कुछ विद्वानों ने इनमें पात्र के स्थान पर चरित्र-चित्रण कर दिया है और देशकाल के स्थान पर कुतूहल, घात-प्रतिघात अर्थात् द्वन्द्व और अभिनयशीलता—ये तीन तत्त्व जोड़ दिये हैं। परन्तु इन सबको तत्त्व कहना उचित नहीं है। जब हम किसी वस्तु के किसी तत्त्व का उल्लेख करते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह रहता है कि यदि उनमें से एक भी तत्त्व निकाल दिया जाय, तो वह वस्तु व्यर्थ हो जाय। तत्त्वों पर किसी वस्तु का अस्तित्व निर्भर करता है। तत्त्व शब्द की व्युत्पत्ति में बताया गया है—**तनोति सर्वं इति तत्। तस्य भावः तत्त्वम्।** अर्थात् सबमें व्याप्त होने के भाव को तत्त्व कहते हैं। रूपक-रचना में उपर्युक्त पाँच ही तत्त्व वर्त्तमान रहते हैं। इनमें से एक भी तत्त्व नहीं रहने पर रूपक का अस्तित्व सन्देहास्पद हो जायगा। यहाँ एक आपत्ति हो सकती है कि आजकल कुछ नाटक ऐसे लिखे जा रहे हैं, जिनमें केवल क्रिया होती है, संवाद नहीं रहते। इन मूकाभिनयों में संवाद-तत्त्व नहीं रहता। परन्तु, ये विशेष प्रकार के दृश्य-विनोद हैं, जो नाटकीय होकर भी नाटक की परिभाषा में नहीं आ सकते।

यहाँ रूपक-रचना की दृष्टि से तत्त्वों का विवेचन किया जा रहा है। रूपक में सबसे पहले कथा की ही आवश्यकता पड़ती है, जिसके आधार पर रूपक की घटनाओं तथा पात्रों की योजना की जा सके। फिर पात्र या नायक भी रूपक के आवश्यक तत्त्व हैं; क्योंकि ये ही सारे कार्य-कलाप सम्पन्न करते हैं, घटनाओं के विभिन्न व्यापार करना पात्रों पर ही निर्भर रहता है। ये ही नाटक को परिणाम तक पहुँचाते हैं। कथा या नाट्य वस्तु का विवेचन करने में हमें इस विषय की समीक्षा करनी होगी कि कौन-कौन-सी घटनाएँ नाटक के योग्य होती हैं और उन्हें किस ढंग या क्रम से रखने के फलस्वरूप रस की निष्पत्ति हो सकती है। हमें यह भी देखना होगा कि कौन-कौन-से पात्र किस समय और किस ढंग से प्रस्तुत किये जायँ, जिससे दर्शकों का अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो और वे नाटक का रस ग्रहण कर सकें। इसी को रचना-कौशल कहा गया है।

नाटक की कथावस्तु की रचना करते समय नाटककार को यह देखना आवश्यक होता है कि सम्पूर्ण कथावस्तु को कितने भागों या अंकों में रखा जाय, कितनी बातें

सूक्ष्म हों, अर्थात् कितनी बातों को रंगमंच पर नहीं दिखाकर किसी दूसरे उपाय से मात्र उनकी सूचना दी जाय, कितनी बातें श्रव्य हों और कितनी बातें रंगमंच पर आंगिक चेष्टाओं के द्वारा दिखाई जायँ या दृश्य हों। इसका अर्थ यह हुआ कि रंग-निर्देश बहुत आवश्यक है; क्योंकि रंग-निर्देश के ही द्वारा नाटककार बताता है कि जो बातें सूच्य तथा श्राव्य हों, उन्हें संवाद के द्वारा प्रकट किया जाय और जो बातें दृश्य हों, उन्हें रंगमंच पर प्रत्यक्ष आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय के द्वारा दिखाया जाय। इस प्रकार, रूपक-रचना के लिए कथावस्तु तथा पात्र के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्व सिद्ध हुए—एक संवाद और दूसरा रंग-निर्देश। भारतीय नाट्यशास्त्र के लिए रस तो आवश्यक तत्त्व है ही; क्योंकि नाटककार कथानक आदि के द्वारा दर्शक के मन में रस का उद्रेक करना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझता है। सभी रूपकों में कोई-न-कोई रस रहना अत्यावश्यक है। नाटककार इन्हीं पाँच तत्त्वों के आधार पर नाट्य की रचना करता है। अतः, नाटक के ये ही पाँच तत्त्व हैं—कथावस्तु, पात्र, संवाद, रंग-निर्देश तथा रस।

विभिन्न देशों के नाट्याचार्यों ने रंग-निर्देश के विषय में कुछ नहीं लिखा, इसपर बल देने की तो बात ही दूर रही। परन्तु, नाटक में रंग-निर्देश बहुत आवश्यक तत्त्व है। नाटक में दो ही प्रकार से कथा का विकास दिखाया जा सकता है—एक तो संवाद के द्वारा और दूसरे, क्रियाओं के द्वारा। संवाद-तत्त्व के विषय में कहा ही गया है, परन्तु क्रियाएँ तो रंग-निर्देश के ही द्वारा सम्पन्न होंगी। यदि नाटककार रंग-निर्देश नहीं करे तो पता ही नहीं चलेगा कि किस पात्र का कब प्रवेश होता है, कब प्रस्थान होता है, वह कौन-सी क्रिया करता है, कौन-सा भाव प्रकट करता है और पात्र आपस में कैसा व्यवहार करते हैं। अतः, रंग-निर्देश नाटक के लिए बहुत आवश्यक तत्त्व है। रंग-निर्देश ही स्थान, समय और व्यापार की सूचना देता है।

ऊपर कहा गया है कि कुछ आधुनिक विद्वानों ने रूपक में निम्नलिखित छह तत्त्वों को स्वीकार किया है—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, देश-काल और उद्देश्य। किन्तु, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। वस्तु, पात्र और कथोपकथन या संवाद को यहाँ स्वीकार किया ही जा रहा है। शैली को अलग तत्त्व मानना ठीक नहीं; क्योंकि उसका समावेश संवाद में हो जाता है। संवाद और शैली को भिन्न तत्त्व मानना उचित नहीं लगता। देश तथा काल को पृथक् तत्त्व नहीं मानना चाहिए; क्योंकि यह कथावस्तु और पात्र दोनों में निहित है। इसका कारण यह है कि कोई घटना पात्र-विशेष, देश और काल से अवश्य ही सम्बद्ध होगी और उसका विवरण कथा देगी ही। अतः, देश-काल वस्तु के ही अंग हैं और रंग-निर्देश में उनका विवरण दिया जाता है। इन्हें भिन्न तत्त्व स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। अब उद्देश्य की समस्या रह जाती है। उद्देश्य को तत्त्व नहीं मानने के दो तर्क दिये जा सकते हैं। पहला तर्क है कि उद्देश्य ही साध्य है, वह तत्त्व कैसे हो सकता है? जो साध्य है, वह कभी तत्त्व नहीं हो सकता। दूसरा तर्क है कि

भारतीय आचार्यों ने नाटक का उद्देश्य रस ही माना है। कोई भी नाटककार अपनी नाट्य-कृति से दर्शक के हृदय में किसी-न-किसी विशिष्ट रस की उत्पत्ति करना ही अपने नाटक का उद्देश्य मानता है। अतः, प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों ने कभी उद्देश्य को तत्त्व मानकर इसका विवेचन नहीं किया। सभी ने रस को ही नाट्य का साध्य माना। भरत आदि नाट्याचार्यों ने रस को ही किसी काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

भरत मुनि ने नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया कि नाट्य की रचना करते समय ब्रह्मा ने किस वेद से क्या लिया :

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥[1]

ब्रह्मा ने पाठ ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया। इससे स्पष्ट होता है कि भरत ने नाट्य के चार तत्त्वों को स्वीकार किया—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस। पाठ्य में कथावस्तु और संवाद का अन्तर्भाव हो जाता है, अभिनय में पात्र (अभिनेता) और रंग-निर्देश गतार्थ हो जाते हैं, रस तो स्वतन्त्र तत्त्व हैं ही। विशेष बात यह है कि भरत ने गीत को आवश्यक तत्त्व माना, जिसकी सभी परवर्ती आचार्यों ने उपेक्षा की। संस्कृत के नाट्य-साहित्य में न किसी नाट्याचार्य ने गीत को नाट्य का तत्त्व माना और न किसी नाटककार ने अपने नाटक में इसे उचित स्थान दिया। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में और अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ में गीत की अवतारणा की है, परन्तु किसी अन्य नाटककार ने ऐसा नहीं किया। संस्कृत-नाटकों में पद्य हैं और बहुत अधिक हैं, परन्तु गीत नहीं। आधुनिक भारतीय भाषाओं के नाट्याचार्यों ने गीत को नाटक का तत्त्व नहीं माना, यद्यपि श्रीजयशंकर प्रसाद आदि नाटककारों ने अपने नाटकों में गीतों की भरमार कर दी है। फिर अति आधुनिक हिन्दी-नाटकों में गीतों की बहुत कमी हो गई है। परन्तु, भरत के बाद किसी भारतीय नाट्याचार्य ने गीत को नाटक का तत्त्व नहीं स्वीकार किया।

अरस्तू का मत : अरस्तू के मत से प्रत्येक त्रासदी में ६ अंग होते हैं : १. इतिवृत्त, २. चरित्र, ३. वर्णन-शैली, ४. विचार, ५. दृश्य और ६. गीत। इनमें प्रथम दो—इतिवृत्त तथा चरित्र—अनुकरण के साधन हैं, तीसरा (वर्णन-शैली) अनुकरण का ढंग है और शेष तीन अनुकरण के आधार हैं। उनका कहना है कि त्रासदी में दृश्यात्मक तत्त्व भी रहते हैं तथा इतिवृत्त, चरित्र, वर्णन-शैली, गीत और विचार– ये तत्त्व भी रहते हैं।

त्रासदी में सबसे महत्त्वपूर्ण बात घटनाओं का गुम्फन है। त्रासदी वस्तुतः व्यक्तियों का नहीं, बल्कि कार्य और जीवन का, सुख-दुःख का ही अनुकरण करता है। मानव के सभी सुख-दुःख कार्य का रूप धारण करते हैं। कार्य और इतिवृत्त ही त्रासदी के

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, का० १७

अन्त या परिणाम हैं और अन्त या परिणाम ही सब बातों में प्रधान माना जाता है। भले ही चरित्र के बिना भी त्रासदी का निर्माण हो जाय, परन्तु कार्य के बिना त्रासदी की रचना नहीं हो सकती। त्रासदी में भावात्मक आनन्द देने के अतिरिक्त अत्यन्त आकर्षक बनानेवाले तत्त्व—परिवर्त्तन तथा अभिज्ञान के दृश्य—भी इतिवृत्त के अंग ही हैं। अतः, इतिवृत्त ही त्रासदी का सर्वप्रथम अंग है, यही उसकी आत्मा है। चरित्र का स्थान दूसरा है। इस प्रकार, त्रासदी किसी कार्य का, तथा कार्य की दृष्टि से कर्त्ताओं का अनुकरण है।

चरित्र से वक्ता का नैतिक उद्देश्य प्रकट होता है, अर्थात् उससे यह दिखाई देता है कि किस प्रकार की बातें मनुष्य उत्तम समझता है या परित्याग करता है। इस क्रम में तीसरा स्थान विचार का है। विचार उस योग्यता को कहा गया है, जो बतावे कि उपस्थित परिस्थिति में क्या संगत तथा सम्भव है। संवादों का सम्बन्ध राजनीति, कला तथा भाषण से है; क्योंकि प्राचीन कवियों ने अपने पात्रों के मुख से राजनीतिक और नागरिक जीवन की भाषा कहलाई है। विचार वहाँ पाया जाता है, जहाँ किसी बात का होना या न होना सिद्ध किया जाता है अथवा कोई सार्वभौम सिद्धान्त निर्धारित किया जाता है।

ऊपर गिनाये गये तत्त्वों में चौथा स्थान वर्णन-शैली का है। वर्णन-शैली से अरस्तू का तात्पर्य शब्दों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति है और इसका प्रयोग पद्य और गद्य दोनों के लिए एक ही समान है। शेष दो तत्त्वों में से गीत को ही त्रासदी की सौन्दर्यवर्द्धक वस्तुओं में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है। दृश्य में स्वतः ही एक भावात्मक आकर्षण है, परन्तु त्रासदी के सब तत्त्वों में यह सबसे कम कलात्मक है। यह काव्य-कला से सबसे कम सम्बन्ध रखता है; क्योंकि नटों और अभिनय के बिना भी त्रासदी के प्रभाव का अनुभव हो सकता है। इसके अतिरिक्त दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करना कवि की अपेक्षा रंग-संचालक पर अधिक निर्भर करता है।

अरस्तू के मत की समीक्षा : यदि हम अरस्तू के मत की समीक्षा करें, तो उसमें हमारे मत से अधिक अन्तर नहीं मिलेगा। अरस्तू का इतिवृत्त वही है, जिसे हम कथावस्तु कहते हैं। चरित्र और विचार का भी सम्बन्ध पात्रों के चरित्र से है, अतः उन्हें नायक या पात्र के अन्तर्गत रखने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। वर्णन-शैली को बहुत सुविधा से संवाद में सम्मिलित कर सकते हैं। दृश्य के विषय में स्वयं अरस्तू ने स्वीकार किया है कि दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करना कवि की अपेक्षा रंग-निर्देशक पर अधिक निर्भर करता है, फिर भी उन्होंने इसे त्रासदी का तत्त्व मान लिया है। जो बात कवि या नाटककार पर निर्भर नहीं करती, उसे नाटक का तत्त्व मानना स्वयं अपने में विरोध-सा लगता है। फिर दृश्य-विधान का निर्देश कवि को तो करना ही है। इसलिए, यदि इसे तत्त्व मान भी लिया जाय, तो इसका अन्तर्भाव रंग-निर्देश में करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अरस्तू के बताये तत्त्वों में एक गीत ही ऐसा तत्त्व बच जाता है, जिसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। वह यूनानी रंगमंच की अपनी विशेषता है। भरत ने भी गीत को बहुत अधिक महत्त्व दिया, परन्तु किसी भी परवर्त्ती नाट्याचार्य ने इसे नाटक के तत्त्वों में नहीं माना। उस युग में यूनानी त्रासदियों का आधार ही गीत था, इसीलिए अरस्तू ने इसे त्रासदी के सौन्दर्यवर्द्धक तत्त्वों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। यूनान का समस्त अभिनय उस युग में, गीतों के ही आधार पर चलता था और नाटक भी गीतमय ही था, परन्तु वह परम्परा बहुत पहले ही समाप्त हो गई। आजकल भारतीय नाटकों में आवश्यकतानुसार गीतों का प्रयोग किया जाता है, परन्तु इसे नाटक का तत्त्व नहीं स्वीकार किया जा सकता।

इस प्रकार, अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वों की समीक्षा करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनके तत्त्वों को भी पाँच तत्त्वों में रख सकते हैं—१. कथावस्तु (इतिवृत्त), २. नायक या पात्र (चरित्र और विचार), ३. संवाद (वर्णन-शैली), ४. रंग-निर्देश (दृश्य) और ५. गीत।

धनंजय का मत : धनंजय ने रूपक तथा उपरूपक के भेदक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए लिखा है—**वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः**[1]—अर्थात् इन रूपकों को एक दूसरे से भिन्न करनेवाले तीन तत्त्व हैं--वस्तु, नेता (नायक) और रस। तात्पर्य यह कि वस्तु-भेद, नायक-भेद तथा रस-भेद की दृष्टि से ही इनमें परस्पर भेद हैं।

इस कारिका के आधार पर बहुत-से विद्वानों ने वस्तु, नेता और रस को नाटक के तत्त्व मानने की भूल की है। धनंजय ने नाटक के तत्त्व के रूप में इनका उल्लेख नहीं किया, प्रत्युत यह बताया कि रूपकों और उपरूपकों के भेद के ये ही आधार हैं। रूपकों तथा उपरूपकों के विभिन्न भेदों में या तो किसी विशेष प्रकार की वस्तु है, या किसी विशेष प्रकार का नायक है, या किसी विशेष प्रकार का रस है। उदाहरण के लिए नाटक का नायक धीरोदात्त होता है, प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त होता है, प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य या कवि-कल्पित होती है, अंक में करुण रस की प्रधानता रहती है, नाटक में वीर या शृंगार रस की प्रधानता रहती है।

इसलिए वस्तु, नेता और रस को नाट्य का तत्त्व मानना भ्रान्त धारणा है। इनका उद्देश्य केवल रूपकों तथा उपरूपकों के विभिन्न भेदों में पारस्परिक अन्तर बताना है। धनंजय का वास्तविक तात्पर्य नहीं समझने से ही यह भूल होती है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि जहाँ तक रूपक या नाट्य की रचना का सम्बन्ध है, इसमें पाँच तत्त्व माने जाने चाहिए। वे तत्त्व निम्नलिखित हैं : १. कथावस्तु—जिसके अन्दर घटनाओं का समावेश रहता है, २. नायक या पात्र—जो नाटकीय व्यापार को आगे बढ़ाते हैं, ३. संवाद—जिसके अन्तर्गत नाटक का श्रव्य अंश

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० ११

आता है, ४. रंग-निर्देश—जिसके अन्तर्गत वे सब संकेत आते हैं, जो अभिनेताओं के आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय के लिए और रंग-व्यवस्था, प्रकाश-व्यवस्था तथा नेपथ्य-व्यवस्था के लिए उपयोगी तथा आवश्यक होते हैं, ५. रस—जिसके अन्तर्गत वे भाव तथा रस आते हैं, जो नाटककार प्रेक्षक के हृदय में जगाना चाहता है। यूरोपीय नाट्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्य का भी समावेश रस के ही अन्तर्गत हो जाता है; क्योंकि भारतीय नाट्यशास्त्रियों का उद्देश्य नाटक के द्वारा सामाजिक के मन में रस की जागृति ही है।

पूर्वरंग

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग का विस्तृत विवरण दिया है। वास्तविक नाटक आरम्भ करने के पूर्व यह पूर्वरंग अवश्य सम्पन्न हो जाना चाहिए। इसका उद्देश्य अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के लिए दैवी कृपा को प्राप्त करना है। पूर्वरंग की सारी क्रियाएँ उस प्राचीन नाटक की याद दिलाती हैं, जिसमें गीत, संगीत तथा नृत्य का मिश्रण रहा करता था।

रंगभूमि में अभिनय के पूर्व इसका प्रयोग होता है, इसलिए इसे पूर्वरंग कहा जाता है :

यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥[1]

धनिक ने पूर्वरंग का लक्षण दिया है : **पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला।**[2] जिसमें सामाजिकों को पहले आनन्द मिले। इस प्रकार, पूर्वरंग का अभिप्राय नाट्यशाला से है। नाट्यशाला में नाटक आदि रूपक के आरम्भ में जो औपचारिक क्रियाएँ—मंगलाचरण, देवता-स्तवन आदि—की जाती हैं, उन्हें पूर्वरंगता कहते हैं, जिसका अर्थ हुआ पूर्वरंग का काम।

शारदातनय ने भी पूर्वरंग का इससे मिलता-जुलता लक्षण दिया है :

नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात्।
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते ॥
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते।
कलापाताः पादभागाः परिवर्त्ताश्च सूरिभिः ॥
पूर्वं क्रियते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः।[3]

जहाँ नट-नटी आदि परस्पर एक-दूसरे का रंजन करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं, उसे रंग कहते हैं और जो रंग के पहले किया जाता है, उसे पूर्वरंग कहते हैं। शारदातनय ने इसके बाईस अंगों का निर्देश किया है।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ५, का० ७
२. दशरूपक, तृतीय प्रकाशन, का० २ की वृत्ति
३. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० १९४

विश्वनाथ के अनुसार नाटक में पहले पूर्वरंग होना चाहिए, तत्पश्चात् पूजा। इसके बाद कवि और नाटक की संज्ञा आदि और इसके अनन्तर आमुख होना चाहिए। नाट्यवस्तु के पूर्वरंग नाट्यशाला के विघ्नों को दूर करने के लिए नर्त्तक लोग जो कुछ करते हैं उसे पूर्वरंग कहा जाता है :

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥[1]

स्पष्टतः, विश्वनाथ द्वारा दिया गया पूर्वरंग का लक्षण भरतवाला ही लक्षण है। भरत और विश्वनाथ ने नाटक का अभिनय आरम्भ होने के पूर्व अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के हेतु दैवी कृपा प्राप्त करने के लिए पूर्वरंग की व्यवस्था दी है। यह रंगमंच पर नर्त्तकों का प्रथम कर्त्तव्य है।

जिस विस्तार से भरत ने पूर्वरंग का विवेचन किया, उस विस्तार से किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया। पूर्वरंग के भाण्ड तथा तन्त्री-वाद्यों का संयोग और पाठ्य-योग आदि जो प्रयोग-सम्बन्धी अंग हैं, उनका सम्यक् सम्पादन किया जाना चाहिए। भरत का कथन है कि पूर्वरंग के इन सम्पूर्ण विधानों की योजना क्रमशः की जानी चाहिए। इसमें यवनिका के भीतर होनेवाले प्रत्याहार आदि तथा आसारित के प्रयोग आ जाते हैं। फिर बाहर के प्ररोचन आदि दस पाद-भागों से उपलक्षित गीतों की योजना भी है। अंगों के प्रयोग के न्यून अथवा अधिक होने के कारण पूर्वरंग के भेद माने गये हैं। वार्त्तिक के अनुसार ६ प्रकार के रंगभेद माने गये हैं। यह प्रयोग प्रत्याहार से क्रमशः नहीं माना जाता, अपितु रंगद्वार से माना जाता है और फिर पादभागों से आरम्भ होता है। सबकी सम्भावना पूर्वरंग में होने के कारण इससे सम्बद्ध कार्यों को इसी नाम से पुकारा जाता है। यवनिका के अन्तर्गत नाट्य-प्रयोग करनेवाले अभिनेता एवं अन्य वंशीवादक आदि के द्वारा प्रत्याहार का प्रयोग होता है। पुनः, यवनिका के अपसारित होने पर गीतक तथा पिण्डीबन्ध के साथ वर्द्धमान आदि गीतों का प्रयोग किया जाता है।

आगे भरत ने पूर्वरंग के निर्दिष्ट ६ अंगों का उल्लेख किया है। वे अंग हैं—१. प्रत्याहार, २. अवतरण, ३. आरम्भ, ४. आश्रावणा, ५. वक्त्रपाणि और ६. परवाहन। इस क्रम में विभिन्न वाद्यों तथा गायन-सम्बन्धी योजना के बाद पाणि-विभाग के लिए संघोटना और तन्त्री तथा भाण्ड-वाद्यों के संयोग के रूप में मार्गासारित की चर्चा की गई है। बाद में भरत ने इन सबकी विवेचना की है। तत्पश्चात् आसारित गीतों के तीन प्रकारों—ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ का प्रयोग स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त सभी प्रयोग यवनिका के भीतर सम्पादित किये जाते हैं। आगे भरत ने यवनिका के बाहर किये जानेवाले प्रयोगों का विवेचन किया है। उत्थापन यवनिका के बाहर

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० २२

का पहला प्रयोग है। नान्दी-पाठ करनेवाले इसी से रंग में पहले अभिनय का उत्थापन या प्रारम्भ करते हैं, इसलिए कुछ लोग उत्थापन को अभिनय का प्रारम्भ मानते हैं। अभिनव के अनुसार यवनिका के हटाये जाने के साथ उत्थापन-अंग के बीच में एक कल का पाठ-सहित प्रयोग माना गया है, इसीलिए इसका नाम भी उत्थापन कहा गया है। नाट्यकर्त्ता, सूत्रधार आदि चारों दिशाओं में घूम-घूमकर लोकपालों की वन्दना करते हैं, इसलिए इस प्रयोग को **परिवर्त्तन** कहते हैं। यह प्रयोग अपने अर्थ से बहुत अंशों में सम्बद्ध है। उत्थापन-विधि के बाद ही इस प्रयोग को माना गया है।

नान्दी : देवता, ब्राह्मण तथा राजा आदि के आशीर्वचनों से युक्त प्रयोग है। इस प्रयोग को अनिवार्य स्वीकार किया गया है। अभिनव के अनुसार 'नित्य' शब्द से इस भाव की व्यंजना होती है। उत्थापन आदि अन्य पाठ्यों का प्रयोग भिन्न रूपों में ही हो सकता है, परन्तु नान्दीपाठ के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता। **शुष्कावकृष्टा** प्रयोग-विधि में अवकृष्टा ध्रुवा शुष्काक्षरों से संयोजित की जाती है। शुष्काक्षर से तात्पर्य उन अर्थहीन ध्वनियों से है, जिनसे ताल या मात्रा आदि की पूर्त्ति की जाती है। अवकृष्टा ध्रुवा गीत का भेद मानी गई है। इस ध्रुवा गीत में जर्जर-सम्बन्धी श्लोक का निर्देश प्राप्त होता है।

रंगद्वार नामक प्रयोग से वाचिक तथा आंगिक अभिनय की प्रथमतः अवतारणा होती है, इसलिए इसे रंगद्वार कहा जाता है। इसी स्थल से नाट्य-कथावस्तु के अभिनय का आरम्भ माना जाता है। जिस रूपक-विशेष का अभिनय करना इष्ट होता है, उसका आरम्भ किया जाता है। रंगद्वार में वस्तु को उत्थापित किया जाता है। अबतक के सभी प्रयोगों से भिन्न पूर्वरंग के प्रयोग में वस्तु का निश्चय होने लगता है। इसके बाद **चारी** और **महाचारी** का भेद स्पष्ट करते हुए उसके प्रयोग का निर्देश किया गया है। जिस नृत्य की गति में शृंगाररस की व्यंजना निहित हो, वह चारी है और जिसमें रौद्ररस की अभिव्यंजना हो, वह महाचारी है। स्पष्ट है कि शृंगाररस से सम्बन्ध रहने के कारण चारी कोमल नृत्य है और रौद्ररस से सम्बद्ध होने के कारण महाचारी परुष है। जिन चारियों तथा अंगहारों से शिव और पार्वती के शृंगार-प्रधान चरित्र की अभिव्यक्ति होती है, उस प्रदर्शन को चारी माना गया है। इस समय के गेय नाट्य में भगवान् शकर और भगवती उमा की शृंगारिक स्तुति की प्रधानता रहती है। इस प्रकार, शंकर के त्रिपुर-वध से सम्बद्ध रौद्ररस-प्रधान चरित्र का वर्णन जिस काव्य में किया जाय, उसका जब उद्धत अंगहारों से प्रदर्शन किया जाता है, तो उसे महाचारी कहा जाता है।

जहाँ सूत्रधार, विदूषक तथा पारिपार्श्वक आपस में वार्त्तालाप करते हैं, उस प्रयोग-विधि को **त्रिगत** नाम दिया जाता है। यह प्रयोग भी पूर्वरंग के ही अन्तर्गत है। विदूषक भी एक पारिपार्श्वक ही है, जो अपनी वेशभूषा के कारण विदूषक का अभिनय करने के लिए प्रस्तुत रहता है। इस वार्त्तालाप के अन्तर्गत नाट्य-वस्तु के विषय में होनेवाले विषय की सूचना मिलती है। सूत्रधार जब कारण और तर्कना द्वारा नाट्य-वस्तु के उपक्षेप

(आरम्भ) से आमन्त्रित करता है, तो वह **प्ररोचन** नाम की विधि कही जाती है। काव्यवस्तु के उपस्थापन के साथ प्रयोजन तथा उद्देश्य से समाश्रित नाट्य-प्रयोक्ता के द्वारा अभिनेय वस्तु को देखने के लिए सामाजिकों का आमन्त्रण प्ररोचना नाम से अभिहित होता है।

जो देवता जिस प्रकार सन्तुष्ट होता है और जिसके मन में जो प्रिय है, उसका उसी रूप में वर्णन किया जाता है। पूर्वरंग का यह प्रवर्त्तन आयु, धर्म तथा यश की वृद्धि करने-वाला है; क्योंकि इसमें सभी देवताओं का पूजन किया जाता है और यह सभी से प्रशंसित है। समस्त देव, दैत्य तथा दानवों की सन्तुष्टि के लिए गीत-सहित पूर्वरंगीय निर्गीत का प्रयोग किया जाता है।

पूर्वरंग के प्रयोग के दो मुख्य उद्देश्य स्वीकार किये गये हैं—पहला यह है कि समस्त देवता इसकी प्रशंसा करते हैं और दूसरा यह कि इसमें देवताओं का पूजन हो जाता है। इस प्रकार, इन प्रयोगों से धर्म, आयु तथा यश—सभी की अभिवृद्धि मानी गई है। देव-पूजा का उपलक्ष्य हो जाने के कारण प्रेक्षापति तथा नाट्याचार्य का इससे कल्याण होना स्वीकार किया गया है। इस स्थल पर यह तथ्य भी दुहराया गया है कि सम्पूर्ण पूर्वरंग का विधान, चाहे संगीत हो या निर्गीत, उन सबका प्रयोग दैत्य, दानव तथा देवता के सन्तोष के लिए किया जाता है।

रंगमंच पर जब उत्थापिनी ध्रुवा की प्रथम आवृत्ति समाप्त हो जाय, तो दूसरी आवृत्ति में मध्य लय का प्रयोग करना चाहिए। इतने प्रयोगों के सम्पन्न हो जाने के अनन्तर नाट्य-प्रयोग करनेवाले के द्वारा सूत्रधार के प्रवेश का आयोजन करना चाहिए। यहाँ सूत्रधार को नाटक के व्यवस्थापक से भिन्न व्यक्ति माना गया है। सूत्रधार के साथ दो सहायकों का भी संकेत किया गया है। उनमें एक विदूषक तथा दूसरा पारिपार्श्वक होता है। ये तीनों एक साथ अंजलि में पुष्प लेकर प्रवेश करते हैं। डॉ० मनमोहन घोष ने वस्त्रों के साथ उसके द्वारा गृहीत पुष्पों का भी रंग श्वेत माना है। विघ्नों से रक्षा के लिए तथा मंगलकामना की दृष्टि से ये तीनों अभिमन्त्रित हैं। इनका प्रवेश प्रसन्न मुद्रा में माना गया है। ये अद्भुत दृष्टि तथा चेष्टा से युक्त रहते हैं। वस्तुतः, यहाँ वैष्णव स्थान (खड़े होने की चेष्टा) का निर्देश किया गया है, परन्तु उसकी एक प्रमुख विशेषता अंग की सौष्ठव-चेष्टा के साथ उसे स्वीकार किया गया है। सौष्ठव-स्थिति एक विशेष चेष्टा है।

सूत्रधार के दोनों पारिपार्श्वकों में विदूषक भृंगार (एक घड़ा) धारण करता है और दूसरा जर्जर। इन्हें धारण करके ही वे सूत्रधार के साथ, उसके दोनों पार्श्वों में प्रवेश करते हैं और इसी स्थिति में वह रंगमंच के मध्य में पाँच डग चलता है। नाट्य के आदिदेवता ब्रह्मा के पूजन के भाव से ऐसा किया जाता है। तीन ताल की दूरी पर चरण को धीरे-धीरे रखना होता है, पुनः दोनों पार्श्वों में उठाकर उठे हुए चरणों को उसके मध्य में गिराना अपेक्षित है। इस प्रकार, अपने सहयोगियों के साथ सूत्रधार पाँच डग चलकर बायें पैर से चारी का सम्पादन करता है और दाहिने पैर को विक्षेप-क्रिया से रखता है। तत्पश्चात्

ब्रह्मा के मण्डल में पुष्पांजलि दी जानी चाहिए। रंगपीठ के मध्य भाग में ब्रह्मा प्रतिष्ठित माने जाते हैं। इसके बाद ललित हस्त-चेष्टा की प्रक्रिया से युक्त हाथों से ब्रह्मा का अभिनन्दन करके पृथ्वी-तल पर तीन बार हाथ से स्पर्श करके अभिवादन किया जाता है।

इसी प्रकार की कुछ और क्रियाएँ करने के बाद भृंगार धारण करनेवाले सहायक को बुलाकर शौच-क्रिया उचित ढंग से करनी होती है। सूत्रधार को आचमन तथा प्रोक्षण करना अपेक्षित है। शौच-क्रिया करने के बाद सूत्रधार जर्जर धारण कर लेता है। वैसे पहले भृंगार विदूषक के द्वारा लाया जाता है, परन्तु आचमन आदि के लिए सूत्रधार उससे ले लेता है। वह अब जर्जर भी पारिपार्श्वक से ले लेता है। सूत्रधार द्वारा सम्पादित इस समय की सभी क्रियाएँ शुभ तथा मंगल के लिए हैं, उसके द्वारा जर्जर-ग्रहण विघ्नों के नाश के उद्देश्य से है। तदनन्तर कई क्रियाएँ करने के बाद वह कुतप की ओर पाँच पग चलता है। फिर हाथ से भूमि को तीन बार स्पर्श करके वन्दना करता है। उसके बाद परिवर्त्तिनी ध्रुवा का विधान किया गया है।

इसके बाद अतिक्रान्त चारी की चरण-प्रक्रिया से पाँच पग चलने का विधान है, फिर दिशाओं के अनुसार देवताओं का अभिवादन करना होता है। सर्वप्रथम इन्द्र द्वारा अधिष्ठित पूर्व दिशा की ओर प्रणाम करना है। फिर क्रमशः यम द्वारा अधिष्ठित दक्षिण दिशा, वरुण द्वारा अधिष्ठित पश्चिम दिशा और धनद कुबेर द्वारा अधिष्ठित उत्तर दिशा की ओर प्रणाम करना अपेक्षित है। पुनः, सूत्रधार को पूर्व की ओर मुँह करके स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक प्रकार के चरणों के न्यास से त्रिपदी करके रुद्र, ब्रह्मा तथा विष्णु का अभिवादन करना होता है। यहाँ दक्षिण चरण पुरुष, बायाँ चरण स्त्री कहा गया है और जो अधिक उठा न हो, ऐसा दाहिना चरण नपुंसक कहा गया है। पुरुष-चरण से स्थित होकर शिव की, स्त्री-चरण से विष्णु की तथा नपुंसक-चरण से स्थित होकर ब्रह्मा की वन्दना होनी चाहिए। इसके अन्त में परिवर्त्तन की क्रिया सम्पन्न होती है। फिर चतुर्थकार विधिपूर्वक फूलों को लेकर प्रवेश करता है। इसके द्वारा जर्जर, कुतप तथा सूत्रधार का सम्यक् रीति से पूजन होता है। इस पूजा के पश्चात् चतुर्थकार चला जाता है। तब अवकृष्टा ध्रुवा गायी जाती है।

तत्पश्चात् सूत्रधार मध्यम स्वर में बारह अथवा आठ पदों में अलंकृत नान्दी का पाठ करता है, जिसमें अनेक देवताओं को प्रणाम करके राजा को आशीर्वाद दिया जाता है और नाट्य के प्रस्तुतकर्त्ता के प्रति शुभकामना प्रकट की जाती है। नान्दी के प्रत्येक पद के पाठ के बाद उसके दोनों पारिपार्श्वक कहते हैं—'आर्य, ऐसा ही हो।' नान्दी-पाठ तक की क्रिया बहुत विस्तृत है। इस नान्दी-पाठ को नाट्यशास्त्र बहुत महत्त्व देता है।

नान्दी-पाठ के पश्चात् जर्जर के यश को प्रकाशित करनेवाले शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग किया जाता है। तब जिस देवता का पूजन अभीष्ट हो, उसकी स्तुति में एक श्लोक पढ़ना चाहिए, तदनन्तर राजा और ब्राह्मण के प्रति भक्तिभाव दिखानेवाला श्लोक पढ़ना

अपेक्षित है। रंगद्वार के अन्तर्गत जिसके पाठ का विधान है, उस जर्जर श्लोक का पाठ करने के पश्चात् फिर जर्जर का यश प्रकाशित करनेवाला अन्य श्लोक पढ़ा जाता है। तदनन्तर जर्जर का नमन कर चारी का प्रयोग करने का विधान है।

इस स्थिति में पारिपार्श्वकों को पीछे की ओर हट जाना होता है और यहाँ मध्यम लय से युक्त अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद भरत ने चारी-पाठ का विस्तृत निर्देश दिया है। अनन्तर पारिपार्श्वक के हाथ में उत्तम जर्जर को रखकर विधिवत् महाचारी का प्रयोग उसी प्रकार किया जाना अपेक्षित है। इसके बाद वह भाण्ड-यन्त्रों की ओर उन्मुख होकर चरण का निक्षेप करता है, फिर सूची चारी का सम्पादन करके निक्षेप-पूर्वक परिक्रमण करना अपेक्षित है। कुछ क्रियाएँ करने के बाद रौद्ररस का श्लोक पढ़ा जाता है और अन्त में तीन पग चलकर पारिपार्श्वकों को बुलाना होता है। उनसे नर्कुटक ध्रुवा का गान कराया जाता है तथा भारती वृत्ति के भेद में त्रिगत का प्रयोग किया जाना उचित है।

तत्पश्चात् इसके अन्तर्गत विदूषक एक पदवाली और सूत्रधार को हँसानेवाली प्रायः असम्बद्ध कथा-प्रसंगवाली बातचीत करता है। इसमें नाट्य-वस्तु की ओर अग्रसर करने-वाले प्रश्नों का प्रयोग किया जाता है। पारिपार्श्वक ठीक तरह से चर्चा करता है, विदूषक हँसी करता है और सूत्रधार नाट्य-वस्तु की स्थापना करता है। इस प्रकार, **त्रिगत** का प्रयोग किया जाता है। तब फल-कथन द्वारा सामाजिकों को निमन्त्रण दिये जाने की प्ररोचना-विधि का सम्पादन करना होता है। फिर, रंग की सफलता की दृष्टि से नाटक की वस्तु का निरीक्षण करना अपेक्षित है। इन सभी विधियों का सम्पादन करके सूची चारी के प्रयोग के साथ तीनों को आविद्ध चारी के अतिरिक्त चरणों की चेष्टा से बाहर निकल जाना चाहिए। इस प्रकार, चतुरश्र चमक रंगपीठ के पूर्वरंग की प्रयोग-विधि की जाती है।

त्र्यश्र रंगपीठ में भी ऐसा ही प्रयोग होता है, इसके इतने ही अंग भी होते हैं, केवल ताल के प्रमाण का संक्षिप्त होना चतुरश्र से इसे विशेषता देता है। इस प्रकार के संक्षिप्त प्रमाण को कला, ताल तथा लय से युक्त त्र्यश्र रंगपीठ पर पूर्वरंग का प्रयोग किया जाता है, जिसके अन्दर उत्थापन आदि प्रयोग भी आते हैं, नृत्तवेत्ताओं को त्र्यश्र के पूर्वरंग में वाद्य-प्रयोग, गति-संचालन, ध्रुवा तथा ताल आदि के प्रयोगों को संक्षिप्त कर देना चाहिए। वाद्य और गीत-प्रयोग के प्रमाण के अनुपात से नृत्त के अन्तर्गत अंगाभिनय करना अपेक्षित है। इस प्रकार, विस्तीर्ण तथा संक्षिप्त दो प्रकार के पूर्वरंग का नियोजन किया गया है।

यहाँ तक शुद्ध पूर्वरंग का विवरण दिया गया, आगे भरत ने चित्ररंग का वर्णन किया है। वस्तुतः, चतुरश्र तथा त्र्यश्र पूर्वरंगों में केवल प्रमाण का अन्तर बतलाया गया है। परन्तु, चित्ररंग उनका मिश्रित रूप है। यहाँ उत्थापन और परिवर्त्तन के प्रयोग के बाद ही चतुर्थकार के द्वारा पुष्पों से अलंकृत दिये जाने की चर्चा है। आसारित

तथा गीत-विधि के बाद ही इसका प्रयोग बताया गया है, परन्तु चतुर्थकार का प्रवेश बहुत पीछे माना गया है। परिवर्तिनी ध्रुवा के प्रयोग के बाद चतुर्थकार के प्रवेश की चर्चा है, जो पुष्पों से कुतप, जर्जर तथा सूत्रधार की पूजा करता है। माना जा सकता है कि या तो चित्ररंग में पूर्वरंग के प्रसंग में परिवर्त्तन के सम्पादन में ही चारों परिवर्त्तनों का समाहार हो जाता है या बीच की अन्य विधियों को निकाल देने का ही अर्थ हो सकता है। चतुर्थकार के प्रयोग के बाद यहाँ गन्धर्वों या कुशल संगीतज्ञों के द्वारा उदात्त गानों के प्रयोग का उल्लेख है। सामने देवांगनाएँ अंगहारों के साथ नृत्य करें। नृत्त के प्रकरण में पिण्डी-बन्धों से युक्त, रेचक तथा अंगहारों के द्वारा न्यास और उपन्यास के प्रयोग-सहित ताण्डव-नृत्य की जो विधि बताई गई है, कुशल नाट्याचार्य उनका प्रयोग चित्र-पूर्वरंग में करते हैं। इस प्रकार, उचित रीति से शुद्ध या चित्र, जो भी पूर्वरंग प्रासंगिक हो, उसका उचित सम्पादन करना चाहिए।

उस समय सभी देवांगनाएँ (देवांगनाओं के वेश में नर्त्तकियाँ) अन्तर्हित हो जाती हैं। उन सभी नर्त्तकियों के निकल जाने पर पूर्वरंग के अन्य अंगों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार, विधानपूर्वक शुद्ध पूर्वरंग चित्र-पूर्वरंग में बदल जाता है। यहाँ नृत्त, गीत आदि का असन्तुलित प्रयोग नहीं होना चाहिए, नहीं तो सामाजिकों का मन खिन्न हो जाता है जैसा भी पूर्वरंग प्रयुक्त हुआ हो, उसके समाप्त हो जाने पर सूत्रधार को अपने सहकारियों के साथ रंग से बाहर निकल जाना होता है।

भरत ने पूर्वरंग के ही साथ स्थापक की भी चर्चा की है। इस प्रकार, उपर्युक्त विधि से पूर्वरंग के प्रयोग का सम्पादन होने के बाद वहाँ सूत्रधार के गुण तथा आकृतिवाला स्थापक प्रवेश करता है। उस समय देवता और ब्राह्मणों की प्रशंसा से गर्भित चारी का प्रयोग किया जाता है। अनेक प्रकार के भावों तथा रसों से युक्त मधुर श्लोकों से सामाजिकों को प्रसन्न करके कवि के नाम का कीर्त्तन किया जाता है। फिर, कथावस्तु का संकेत दिया जाता है।

अन्त में, भरत मुनि ने पूर्वरंग का फल-कथन किया है। उन्होंने बताया है कि जो पूर्वरंग का विधिपूर्वक प्रयोग करता है, वह कुछ भी अशुभ नहीं प्राप्त करता है और स्वर्गलोक को जाता है। जो विधि की अवहेलना करके स्वच्छन्दतापूर्वक पूर्वरंग का प्रयोग करता है, वह पतन को प्राप्त करता है और तिर्यक् योनि में जन्म धारण करता है।

ऐसा विश्वास किया जाता था कि उपर्युक्त क्रियाओं से अप्सराएँ, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष तथा अन्य देवगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। नाट्यशास्त्र के पश्चात् इस विषय पर जो पुस्तकें लिखी गईं, उनमें इतना विस्तार नहीं किया गया है। दशरूपक तथा साहित्यदर्पण में बहुत संक्षेप में इसका केवल उल्लेख कर दिया गया है। इससे अनुमान होता है कि बाद में इतने आडम्बर से यह क्रिया नहीं होती होगी। साहित्यदर्पण से स्पष्ट आभास मिलता है कि विश्वनाथ के समय में इतनी लम्बी क्रिया नहीं होती थी।

प्रस्तावना

भरत ने लिखा है कि रसों से समन्वित, सुन्दर वाक्योंवाले, मधुर श्लोकों से रंग (सामाजिक) को प्रसन्न करके कवि के नाम का कीर्त्तन किया जाता है। इसके बाद कथावस्तु के सन्दर्भ का संकेत देने के लिए उद्घातक का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार से प्रस्तावना करके प्रस्तावक रंगस्थल से निकल जाय।

धनंजय आदि आचार्यों ने भारती वृत्ति के चार भेद बताये हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख। वास्तव में, प्ररोचना तथा आमुख नाटक की भूमिका या प्रस्तावना-मात्र है और वीथी तथा प्रहसन रूपक के भेद हैं। परन्तु, नाट्याचार्य यह स्वीकार करते हैं कि वीथी के अंग नाटक के किसी भाग में, विशेषत; प्रथम सन्धि में, उपयुक्त होते हैं, अतः स्पष्ट रूप से वे वृत्ति के अविच्छिन्न अंग हैं।

१. **प्ररोचना** : काव्यार्थ आदि की प्रशंसा के माध्यम से सामाजिकों को उसकी ओर आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है। इसमें प्रस्तुत की प्रशंसा करके लोगों की उत्कण्ठा बढ़ाई जाती है। अपने सम्बन्ध में कवि अपनी प्रकृति के अनुरूप चार प्रकार से प्ररोचना का प्रयोग करता है। प्रकृति के अनुसार कवि भी चार प्रकार के होते हैं—उदात्त, उद्धत, प्रौढ एवं विनीत। उदात्त कवि मन में छिपे हुए अभिमान से भरी हुई उक्ति का प्रयोग करते हैं। उद्धत कवि दूसरे के अपवाद करने पर अपने उत्कर्ष का कथन करते हैं। प्रौढ कवि अपने उत्कर्ष का कथन किसी युक्ति से स्पष्ट करते हैं। विनीत कवि विनयपूर्वक अपने उत्कर्ष का वर्णन करते हैं।

२. **आमुख** : जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्वक) या विदूषक के साथ वार्त्तालाप करते हुए विचित्र युक्ति से प्रस्तुत वस्तु का संकेत करते हुए अपने कार्य का वर्णन करें, उसे आमुख कहते हैं। आमुख के लक्षण में शारदातनय ने धनंजय का श्लोक लिखा है, किन्तु एक स्थान पर थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया है।

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्॥[१]

विश्वनाथ के भी वाक्य मिलते-जुलते हैं। उन्होंने कुछ विस्तार कर दिया है। शारदातनय ने भी कुछ अधिक पंक्तियाँ लिखी हैं, जो पूर्वोक्त कारिका की व्याख्या के रूप में हैं। आमुख को प्रस्तावना भी कहते हैं। धनंजय और शारदातनय ने आमुख के तीन अंग माने हैं—कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा प्रयोगातिशय। अग्निपुराण भी तीन ही अंग मानता है :

आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनादि सा।
प्रवृत्तकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा॥[२]

---

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, का० ७-८। भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २२९

२. अग्निपुराण, अध्याय ३३७, श्लोक १३

परन्तु, विश्वनाथ के अनुसार आमुख के पाँच अंग होते हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक और अवलगित।

(क) कथोद्घात : सूत्रधार के समान घटनावाले वाक्य अथवा वाक्यार्थ को लेकर उसी के अनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए जब कोई नाटकीय पात्र प्रथम अंक में मंच पर प्रवेश करता है, तो उस आमुख या प्रस्तावना को कथोद्घात कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—वाक्यमूलक और वाक्यार्थमूलक। वाक्यमूलक कथोद्घात का प्रसिद्ध उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका में पाया जाता है, जहाँ सूत्रधार के वाक्य 'द्वीपादन्यस्मादपि' आदि का प्रयोग करता हुआ यौगन्धरायण रंगमंच पर प्रवेश करता है। वाक्यार्थमूलक कथोद्घात का उदाहरण 'वेणी-संहार' की प्रस्तावना में पाया जाता है। भीमसेन सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त वाक्य का अर्थ लेकर उसी के अनुकूल उक्ति का प्रयोग करता हुआ प्रवेश करता है। कथोद्घात के लक्षण में शारदातनय ने धनंजय का श्लोक लिखा है :

स्वेतिवृत्तं समं वाक्यमर्थं यत्र च सूत्रिणः।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः॥[1]

शारदातनय ने 'द्विधैव सः' के स्थान पर 'द्विधोच्यते' कर दिया है।

(ख) उद्घातक : उद्घातक का उल्लेख धनंजय तथा शारदातनय ने नहीं किया, विश्वनाथ ने ही किया है। अप्रतीतार्थक पदों के अर्थ की प्रतीति कराने के लिए जहाँ और पद साथ में जोड़ दिये जायँ, वहाँ उद्घातक होता है। उदाहरण के लिए मुद्राराक्षस के आमुख का 'क्रूरग्रह' आदि वाक्य दिया गया है। यह वाक्य सूत्रधार ने नटी से ग्रहण लगने के विषय में कहा है कि 'क्रूरग्रह केतु यद्यपि पूर्णमण्डल चन्द्र का पराभव करना चाहता है'—इसी के आगे नेपथ्य से ध्वनि आई—'अरे, कौन यह मेरे जीते-जी चन्द्रगुप्त का पराभव करना चाहता है ?' यहाँ सूत्रधार का अभिप्राय चन्द्रगुप्त से नहीं है, परन्तु उस अर्थ की प्रतीति कराने के लिए नेपथ्य से चाणक्य के वाक्य में कुछ पद बढ़ाकर पहले जो अर्थ अप्रतीत था, उसकी प्रतीति कराई गई है। यहाँ सब पद अन्यार्थक हैं; क्योंकि सूत्रधार का तात्पर्य चन्द्रग्रहण से है, चन्द्रगुप्त के पराभव से नहीं; तथापि चाणक्य ने अपने हृदयस्थ अर्थ के अनुकूल उन्हें दूसरे अर्थ में संक्रान्त करके रंगमंच पर प्रवेश किया है।

शारदातनय ने वाक्यार्थमूलक कथोद्घात का उदाहरण यही दिया है।

(ग) प्रवृत्तक : आमुख का प्रवृत्तक नामक भेद वहाँ होता है, जहाँ वसन्त आदि ऋतुओं के वर्णन के साम्य के आधार पर श्लेष के द्वारा किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय। धनिक ने इसके उदाहरण के लिए **'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः'** आदि श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें शरत् ऋतु का वर्णन करने के साथ ही श्लिष्ट पदों के सहारे समान गुणों का वर्णन करते हुए, रामचन्द्र के प्रवेश की सूचना दे दी गई है।

---

१. दशरूपक, अध्याय ३३७, श्लोक ९-१०; भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २२९

(घ) प्रयोगातिशय : आमुख के प्रयोगातिशय नामक भेद के लक्षण में शारदातनय ने धनंजय द्वारा लिखित श्लोक उद्धृत कर दिया है :

एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयो मतः ॥[1]

'यह वह आ रहा है', इस प्रकार के वचन का प्रयोग करके जहाँ सूत्रधार किसी पात्र का प्रवेश कराता है, उस आमुख को प्रयोगातिशय कहते हैं। उदाहरण के लिए अभिज्ञान शाकुन्तल में 'एष राजेव दुष्यन्तः' आदि श्लोक से राजा दुष्यन्त के प्रवेश की सूचना दी गई है। यह प्रयोगातिशय नामक आमुख है।

परन्तु, विश्वनाथ ने प्रयोगातिशय का जो लक्षण दिया है, वह कुछ भिन्न प्रकार का और अधिक चमत्कारयुक्त है। उनके अनुसार यदि एक ही प्रयोग में दूसरा प्रयोग आरम्भ हो जाय और उसी के द्वारा पात्र का प्रवेश हो, तो उसे प्रयोगातिशय कहा जाता है। उन्होंने अप्राप्य नाटक 'कुन्दमाला' का उदाहरण दिया है। 'इत इतः' इत्यादि नेपथ्य की ओर से सुनकर सूत्रधार ने 'कोऽयम्' इत्यादि कहा। सूत्रधार नटी को नृत्य करने के लिए बुलाना चाहता था, परन्तु उसी समय उसने 'इत इतः' सुनकर इस पद्य के द्वारा सीता तथा लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना दी है, जिस सीता को वन में ले जाया जा रहा है। सूत्रधार स्वयं निकल गया। यहाँ अपने प्रयोग से उत्कृष्ट प्रयोग दिखाया गया है।

(ङ) अवलगित : धनंजय ने जो उदाहरण प्रयोगातिशय का दिया है, उसे विश्वनाथ ने अवलगित का उदाहरण माना है। उनके अनुसार अभिज्ञान शाकुन्तल का श्लोक 'तवास्मि' आदि में अवलगित नामक आमुख है। उन्होंने इसका लक्षण दिया, जहाँ एक प्रयोग में सादृश्यादि के कारण समावेश करके किसी पात्र का सूचन सिद्ध हो जाय, उसका नाम अवलगित है। उक्त श्लोक कहने के पश्चात् राजा का प्रवेश हुआ।

ये ही विश्वनाथ के अनुसार पाँच और धनंजय तथा शारदातनय के अनुसार तीन आमुख या प्रस्तावना के भेद हैं। विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट प्रस्तावना के दो अतिरिक्त भेद उद्घातक तथा अवलगित वीथी के १३ अंगों में गिनाये गये हैं। विश्वनाथ ने वीथी और प्रहसन को रूपक के भेद मानकर उनका यहाँ विवेचन नहीं किया। परन्तु, धनंजय और शारदातनय ने वीथी का भी इसी स्थल पर विवेचन किया है।

३. वीथी : आचार्यों ने वीथी के १३ अंगों का उल्लेख किया है। वे हैं—१. उद्घात्य—गूढ प्रश्नोत्तर, २. अवलगित—एक-दूसरे से सटे हुए कार्यों के सूचक वाक्य, ३. प्रपंच—हँसानेवाली पारस्परिक मिथ्या स्तुति, ४. त्रिगत—शब्द-साम्य से अनेक अर्थों की योजना, ५. छल—चिकनी-चुपड़ी बातों से बहकाना, ६. वाक्केली—आधा कहकर बाकी के लिए भाँप लेने के लिए छोड़ देना, ७. अधिबल—बढ़-बढ़कर बातें करना, ८. गण्ड—सम्बद्ध विषय से भिन्न अर्थ का उपस्थित हो जाना, ९. अवस्यन्दित—सरस बात

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, का० ११; भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० ११९-१२०

कहकर मुकरने का प्रयत्न, १०. नलिका—गूढ वचन, ११. असत् प्रलाप—ऊटपटांग या असम्बद्ध बात कहना, १२. व्याहार—हँसाने के लिए कुछ-का-कुछ कह देना और १३. मृदव—दोष को गुण और गुण को दोष बता देना।

इनमें उद्घात्य तथा अवलगित के दो-दो भेद होते हैं। धनंजय और शारदातनय ने विस्तार के साथ इनके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। किन्तु, यहाँ विस्तार में जाना अनावश्यक प्रतीत होता है।

४. **प्रहसन** : वीथी और प्रहसन—दोनों का उद्देश्य सामाजिकों की रुचि को अभिनय की ओर खींचना ही है। इसलिए, विश्वनाथ ने बताया है कि वीथी के अंग प्रहसन के भी अंग हो सकते हैं। दोनों में यही अन्तर है कि वीथी में इनकी योजना आवश्यक है, परन्तु प्रहसन में ऐच्छिक है। किन्तु, **'रसार्णवसुधाकर'** में प्रहसन के अन्य भी दस अंग माने गये हैं। वे अंग निम्नांकित हैं—१. अवलगित—जिस आचार या व्यवहार को ग्रहण कर लिया गया हो, उसमें दोष निकालना या उसे छोड़ देना; २. अवस्कन्द—एक अयोग्य वस्तु में अनेक व्यक्तियों द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार कथन; ३. व्यवहार—दो-तीन व्यक्तियों का हास्योत्पादक संवाद; ४. विप्रलम्भ—जहाँ भूत के बहाने से छल किया जाय; ५. उपपत्ति—जहाँ किसी प्रसिद्ध बात को लोक-प्रसिद्ध युक्ति से हास्य का विषय बनाया जाय; ६. भय—नगर-रक्षकों आदि के द्वारा उत्पन्न डर; ७. अनृत—झूठी प्रशंसा करना; ८. विभ्रान्ति—वस्तु-साम्य से उत्पन्न मोह; ९. गद्गद वाक्—झूठे रोने से मिला कथन; १०. प्रलाप—अयोग्य का योग्यता से अनुमोदन करना।

वीथी-प्रहसन : प्रस्तावना के अंग या रूपक-भेद : प्राचीन नाट्याचार्यों ने भारती वृत्ति का सम्बन्ध केवल नटों से माना और यह बताया कि रंगमंच पर अन्य पात्रों के प्रवेश के पहले ही इसका प्रयोग हो जाना चाहिए। धनंजय ने स्पष्टतः लिख दिया है कि इन वीथ्यंगों के द्वारा अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अन्त में सूत्रधार चला जाय। परन्तु, अभी जो वीथ्यंगों तथा प्रहसन के अंगों का वर्णन किया गया, उससे ज्ञान पड़ता है कि नाटक के सभी अंगों में भारती वृत्ति का प्रवेश होने लगा था। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रयोगों से हास्य रस का उद्रेक होता है और इनसे श्रोताओं का हृदय आनन्द से भर जाता है। ऐसा अनुमान होता है कि आरम्भ में प्रस्तावना के हास्य या आमोदपूर्ण उक्तियोंवाले अंश को वीथी या प्रहसन कहा जाता था, इनको देखने से दर्शकों का चित्त अभिनय की ओर आकर्षित होता था। कुछ दिन बीतने पर, नाटक के आरम्भ में ही नहीं, अन्य अंशों में भी दर्शकों की रुचि को आकर्षित करने की आवश्यकता समझी गई होगी, फलस्वरूप अन्य अंशों में भी इनका प्रयोग होने लगा। सम्भवतः इसीलिए भारती वृत्ति का लक्षण लिखते समय धनंजय ने जो 'नटाश्रय' लिखा था, उसे विश्वनाथ ने 'नराश्रय' में बदल दिया।

इस स्थल पर स्वभावतः प्रश्न उठता है कि भारती वृत्ति में जो वीथी और प्रहसन हैं, इनका सम्बन्ध इन्हीं नामों के रूपकों से है या नहीं? ऐसा जान पड़ता है,

भारती वृत्ति के वीथी और प्रहसन से ही रूपक-भेद वीथी तथा प्रहसन का विकास हुआ। प्रस्तावना के अंग से विकसित होकर इन्होंने पूर्ण रूपक का स्थान ले लिया और मनुष्य की आमोद-विनोदी प्रकृति का लाभ उठाया। परन्तु, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि पहले ये प्रस्तावना के अंग-मात्र थे।

विवेचन : पूर्वरंग तथा प्रस्तावना के इस विवरण से स्पष्टतः कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। दशरूपक तथा साहित्यदर्पण में पूर्वरंग का विस्तृत विवरण नहीं दिया गया है और नाट्यशास्त्र में बताया गया है कि पूर्वरंग के पूर्ण रूप के अतिरिक्त उसका एक संक्षिप्त अथवा विस्तृत रूप भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्वरंग तथा नाटक के शेष अंश में अतिव्याप्ति भी हो जाती है; क्योंकि पूर्वरंग का अन्तिम तत्त्व—प्ररोचना में नाटक की वस्तु देना—वस्तुतः, नाटक के शेष अंश का ही तत्त्व है। साहित्य-दर्पण से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि विश्वनाथ के समय में पूर्वरंग का पूर्ण विधान नहीं था। अतः, जब हम देखते हैं कि भास के नाटकों की प्रस्तावना में न लेखक और न नाटक के नाम का उल्लेख है, तब सहज ही अनुमान होता है कि प्ररोचना का सारांश पूर्वरंग से हटाकर नाटक के मुख्य अंग में रखने की पद्धति इनके बाद ही प्रचलित हुई। इस विषय में **डॉ० कीथ** का मत ध्यातव्य है :

"The point would be of importance only if it meant that Bhasa dropped the *Purva-ranga* as part of the drama; nothing, however, even hints at this, as we have seen, his omission to name himself or his play in the prologue tells strongly in favour of the view that the old *Prarocana* was still in use."[1]

स्थापक : मंगलाचरण आदि सम्पन्न करके सूत्रधार वापस चला जाता है और उसी प्रकार का वेश धारण करके कोई दूसरा नट प्रवेश करता है, जो नाटक की कथावस्तु के कव्यार्थ की स्थापना करता है, या सूचना देता है। यह नट स्थापक कहा जाता है। सभी आचार्यों ने स्थापक का उल्लेख किया है और बताया है कि यह गुण और आकृति में सूत्रधार के समान होता है।

काव्यार्थ की स्थापना करने के कारण यह नट स्थापक कहा जाता है। स्थापक कथावस्तु के अनुरूप ही वेशभूषा बनाकर प्रवेश करता है। यदि कथावस्तु दिव्य हो तो वह दिव्य वेश धारण कर प्रवेश करता है, यदि वह मर्त्य या मानव-सम्बन्धी हो तो वह नट मर्त्य-रूप धारण कर मंच पर आता है और यदि कथावस्तु मिश्र या दिव्यादिव्य हो तो स्थापक या तो दिव्य रूप में या मर्त्य-रूप में आ सकता है। ऐसी व्यवस्था लगभग सभी आचार्यों ने की है। उसके आने पर कोई उपयुक्त गीत गाया जाता है, वह चारी नृत्य करता है, देवता और ब्राह्मण की प्रशंसा करता है और नाटक तथा लेखक के नाम बतलाता है। स्थापक

१. दि संस्कृत ड्रामा, पेज ३४२

रंगमंच पर आकर काव्यार्थ की स्थापना करते समय रूपक की कथावस्तु, उसकी बीज नामक अर्थ-प्रकृति, मुख्य या प्रमुख पात्र की सूचना देता है। इस तरह सूच्य के भेद से काव्यार्थ की स्थापना चार प्रकार की हो जाती है। दशरूपक के वृत्तिकार **धनिक** ने इन चारों प्रकारों को विभिन्न नाटकों के स्थापना-प्रकारों के द्वारा दिखाया है।

धनंजय तथा शारदातनय—दोनों आचार्यों ने विधान किया है कि स्थापक सबसे पहले काव्यार्थ की सूचना देनेवाले मधुर श्लोकों के द्वारा रंग में स्थित सामाजिकों को प्रसन्न कर किसी ऋतु का वर्णन करते हुए, भारती वृत्ति का प्रयोग करे :

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥[1]

स्पष्टतः, शारदातनय ने धनंजय का ही श्लोक उद्धृत कर दिया है। विश्वनाथ ने भी लगभग उन्हीं शब्दों में यही बात कही है, केवल निम्नलिखित एक पंक्ति अधिक लिखी है :

रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्त्तयेत्।[2]

—अर्थात् रूपक नाटकादि का नाम तथा कवि के नाम-गोत्रादि का भी कीर्त्तन करता है।

स्थापक के विषय में भरत ने लिखा है :

प्रयुज्य विधिनैवं तु पूर्वरङ्गं प्रयोजयेत्।
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ॥[3]

—अर्थात् इस प्रकार कथित विधि से पूर्वरंग का प्रयोगानुसार सम्पादन होने के बाद वहाँ सूत्रधार के गुण तथा आकृतिवाला स्थापक प्रवेश करता है। यहाँ 'प्रयुज्य' पद के प्रयोग से ऐसा आभास मिलता है कि स्थापक के रूप में फिर सूत्रधार ही प्रवेश करता है। श्रीमनमोहन घोष ने यह पाठ त्रुटिपूर्ण मानकर स्थापक और सूत्रधार को भिन्न-भिन्न व्यक्ति माना है। उन्होंने परवर्त्ती आचार्यों के मत से भी अपनी इस मान्यता की पुष्टि की है। धनंजय ने दशरूपक में इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि स्थापक सूत्रधार से भिन्न पात्र है :

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥[4]

—अर्थात् जब सूत्रधार पूर्वरंग का विधान करने के बाद रंगमंच से चला जाता है, तो उसी की तरह की वेश-भूषावाला दूसरा नट रंगमंच पर प्रवेश कर काव्य की स्थापना करे। शारदातनय ने यही बात कही है :

---

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, का० ४; भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २२८

२. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० २८

३. नाट्यशास्त्र, अध्याय ५, का० १६१-१६२

४. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, का० २

प्रयुज्य रङ्गं निष्क्राम्येत्सूत्रधारः सहानुगः ।
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ॥[1]

विश्वनाथ ने भी इसी मत का समर्थन किया है :

पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते ।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत् काव्यमास्थापयेत्ततः ॥[2]

यह भी पता चलता है कि विश्वनाथ के समय में सूत्रधार वह सम्पूर्ण कार्य करता था, जिसे नाट्यशास्त्रियों ने सूत्रधार और स्थापक दोनों को दिया था। उन्होंने लिखा है :

'इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक् प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहारः ।'[3] —अर्थात् आजकल पूर्वरंग का ठीक-ठीक प्रयोग नहीं होता, अतः एक ही सूत्रधार सब कुछ कर देता है। किन्तु यह कहना कठिन है कि यह बात कितने पीछे तक जाती है। राजशेखर के 'कर्पूरमंजरी' और माधव के 'सुभद्राहरण' जैसे नाटकों में केवल सूत्रधार का उल्लेख है। पिशेल का मत है कि भास ने स्थापक को हटा दिया। दशरूपक ने स्थापक की निश्चित रूप से स्थापना की है, किन्तु फिर उसे सूत्रधार कहना आरम्भ किया है। इस तरह एक प्रकार से समझौता हो जाता है कि स्थापक सूत्रधार के गुण तथा आकृतिवाला व्यक्ति होगा और इस प्रकार इस नाम के व्यवहार का कारण बताया जा सकता है। साहित्यदर्पण में स्थापक के कार्य सूत्रधार को दे दिये गये हैं, उससे भी इस मत की पुष्टि होती है।

परन्तु, यह भी सम्भव है कि इस मत का विकास नाट्यशास्त्र के बाद हुआ हो, जिसके लिए इसमें इतना आधार तो है ही कि स्थापक को सूत्रधार के गुण तथा आकृति में प्रवेश करना चाहिए। यदि दोनों एक ही व्यक्ति हैं, तो स्थापक को सूत्रधार के गुण तथा आकृति में प्रवेश करने का निर्देश करने की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि 'प्रयुज्य' का अन्य पाठ-भेद नहीं है और इस श्लोक के ऊपर कुछ प्रक्षिप्त पंक्तियाँ हैं, जिनसे स्थापक और सूत्रधार के एक व्यक्ति होने का समर्थन होता है। जहाँ तक गुण तथा आकृति की समस्या है, ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव में सूत्रधार ही अपने पूर्वरूप में स्थापक बनकर आ जाता है। एक ही नट पूर्वरंग में सूत्रधार और प्रस्तावना में स्थापक कहा जाता है। इस मत की पुष्टि अग्निपुराण से भी होती है—**'सूत्रधार एव स्थापकः'**। आगे चलकर एक ही व्यक्ति सूत्रधार तथा स्थापक दोनों के कार्य करने लगा।

नान्दी : नाटक के आरम्भ में नान्दी बहुत महत्त्वपूर्ण, साथ ही उलझन पैदा करनेवाला विषय है। भरत आदि आचार्यों ने नान्दी का रहना आवश्यक माना है, इसे आवश्यक प्रयोग के रूप में स्वीकार किया है। भरत ने इसका लक्षण दिया है :

---

१. भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २२८
२. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० २६
३. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० २६-२७ की वृत्ति

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥[1]

सूत्रधार मध्यम स्वर में बारह अथवा आठ पदोंवाली नान्दी का पाठ करता है : "सभी देवताओं को नमस्कार, द्विजातियों के लिए शुभ हो, राजा चन्द्र की विजय हो, गायों तथा ब्राह्मणों का मंगल हो, ब्राह्मणों के अतिरिक्त शेष प्रजा-वर्ग का भी मंगल हो, ब्राह्मणद्रोही नष्ट हो जायँ, महाराज इस ससागरा पृथ्वी का शासन करें। राष्ट्र की समृद्धि हो, यह रंग समृद्धि को प्राप्त हो और नाट्य के प्रस्तुतकर्त्ता को ब्रह्मज्ञानी के समान महान् धर्म का लाभ हो। नाटककार को यश का लाभ हो, उसके धर्म की अभिवृद्धि हो और इस प्रकार के भजन से देवता उससे सदा प्रसन्न रहें।" नान्दी के प्रत्येक पद के पाठ के बाद उसके दोनों पारिपार्श्वक कहते हैं : 'आर्य, ऐसा ही हो।'

अवकृष्टा ध्रुवा के गान के पश्चात् नान्दी-पाठ का विधान है। भरत ने नान्दी के विषय में विस्तार से लिखा है। देवता, ब्राह्मण तथा राजा आदि के आशीर्वचनों से युक्त होने के कारण नान्दी अनिवार्य प्रयोग है। इसके बाद रंगद्वार नामक प्रयोग किया जाता है। इस स्थल से वाचिक तथा आंगिक अभिनय की प्रथमतः अवतारणा होती है, इसीलिए इस प्रयोग का नाम रंगद्वार है।

यस्मादभिनय....प्रथमं ह्यवतार्यते ।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥[2]

विश्वनाथ का मत : विश्वनाथ ने भी रंगस्थल के विघ्नों के निवारण के लिए नान्दी को अत्यावश्यक माना है। इन्होंने नान्दी का जो लक्षण दिया है, वह भरत का ही दिया हुआ लक्षण है, केवल एक शब्द में अन्तर है। देवता, ब्राह्मण तथा राजादिकों की आशीर्वाद-युक्त स्तुति इससे की जाती है, इसलिए इसे नान्दी कहा जाता है। लोग इससे आनन्दित होते हैं, अतएव यह नान्दी है। विश्वनाथ ने **'अनर्घराघव'** का **'निष्प्रत्यूहम्'** आदि और अपने पिता द्वारा लिखित नाटक पुष्पमाला का **'शिरसि'** आदि पद्य उद्धृत करके लिखा है कि ये पद्य किसी अन्य के मतानुसार नान्दी कह दिये गये हैं, परन्तु वास्तव में ये नान्दी नहीं, प्रत्युत पूर्वरंग का अंग रंगद्वार ही हैं। इसके प्रमाण के रूप में भरत का पूर्वोल्लिखित श्लोक दिया है।[3] अभिनय का आरम्भ होने के कारण ही यह नाम दिया गया है। विश्वनाथ का तर्क है कि पूर्वोक्त लक्षणवाली नान्दी तो इस रंगद्वार के पहले ही नटों द्वारा की जाती है, इसलिए महर्षि (भरत) ने यहाँ उसका विशेष लक्षण नहीं किया। अभिप्राय यह है कि सभी नर्त्तक किसी रूप-रचना के विना ही मिलकर मंगल के लिए जो स्तुति आदि करते हैं, उसे नान्दी कहा जाता है। यह नटों का अपना कार्य है और सभी नाटकों में समान है। किसी नाटककार को अपने नाटक में इसके लिए कोई विशेष रचना

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ५, का० २४
२. वही, अध्याय ५, का० २६
३. वही, अध्याय ५, का० २६

करने की आवश्यकता नहीं, अतः यह नाटक का अंग नहीं। अतएव, नाटक-रचना के प्रसंग में भरत मुनि ने इसका निर्देश नहीं किया।

इसके अतिरिक्त यदि नान्दी का पूर्वोक्त लक्षण मानें, तो कालिदास आदि के नाटकों में **'वेदान्तेषु'** आदि (विक्रमोर्वशीयम्) श्लोक को अव्याप्ति ही कहना पड़ेगा। इस पद्य में नान्दी का पूर्वोक्त लक्षण लागू नहीं होता; क्योंकि न यह अष्टपदा है और न द्वादशपदा। अतः यह नान्दी नहीं, रंगद्वार ही है। अतः कहा गया है :

'रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यात्' : रंगद्वार से आरम्भ करके कवि को नाटक की रचना करनी चाहिए, इसीलिए प्राचीन पुस्तकों में **'नान्द्यन्ते सूत्रधारः'** इस वाक्य के बाद **'वेदान्तेषु'** आदि लिखा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह नान्दी नहीं है, किन्तु नान्दी के अन्त में इसे सूत्रधार ने पढ़ा है। जहाँ यह वाक्य उक्त श्लोक के पीछे मिले, वहाँ समझना चाहिए कि नान्दी के पीछे सूत्रधार ने यह पद्य कहा।

शारदातनय ने नान्दी का लक्षण दिया :

या क्रिया नन्द्यते नाट्यारम्भे नान्दीति सा स्मृता।[1]

—जो क्रिया नाटक के आरम्भ में आनन्दित करे, उसे नान्दी कहते हैं। फिर उन्होंने दूसरा भी लक्षण दिया :

सभ्यान्नन्दयतीत्येवं सापि नान्दीति कीर्त्यते।[2]

उन्होंने नान्दी-पाठ विघ्न की शान्ति के लिए परम आवश्यक माना है। नान्दी के बीस अंग माने गये हैं।

शारदातनय का मत : प्रत्येक नाटक के आरम्भ में **'नान्द्यन्ते सूत्रधारः'** रहता है। शारदातनय ने इन शब्दों का अर्थ करने में काफी समय लगाया है। कुछ नाटकों में नान्दी-श्लोक के पीछे यह वाक्य रहता है और कुछ के पहले ही, और तब सूत्रधार नान्दी-पाठ करता है। यदि **'नान्द्यन्ते'** का अर्थ नान्दी-पाठ के बाद है, तब तो भास आदि के नाटकों में यह वाक्य अनुपयुक्त होगा; क्योंकि उनमें सूत्रधार के प्रवेश के पश्चात् नान्दी का पाठ होता है। दोनों विरोधी मतों में समझौता कराने के विचार से शारदातनय ने इस वाक्य के दो अर्थ लगाये हैं—एक तत्पुरुष समास से और दूसरा बहुव्रीहि समास से। तत्पुरुषवाला अर्थ प्रथम श्रेणी के नाटकों के लिए उपयुक्त है और बहुव्रीहिवाला अर्थ द्वितीय श्रेणी के नाटकों के लिए। दूसरी श्रेणी के नाटकों के लिए **'नान्द्यन्ते'** का अर्थ होगा : 'जब नान्दी के पहलेवाले अंग सम्पन्न हो जायँ।' इसी प्रकार कुछ नाटकों में प्रयुक्त **'नान्द्यन्ते सूत्रधारः'** के पश्चात् सूत्रधार द्वारा नान्दी-पाठ को समुचित ठहराया जा सकता है।

अभिनवगुप्त का मत : नान्दी के प्रयोग के विषय में चलनेवाली चर्चा का उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है। एक मत के अनुसार नान्दी पूर्वरंग (ना० शा०, अध्याय ५) के

---

१. भावप्रकाशन, षष्ठ अधिकार, पृ० १९७

२. वही, पृ० १९७

लिए उपलक्षण है। दूसरा मत है कि भरत केवल नान्दी के प्रयोग का उल्लेख कर रहे हैं। अभिनवगुप्त के उपाध्याय भट्टतोत का मत है कि दैत्यों के द्वारा विघ्न उपस्थित किये जाने पर ही पूर्वरंग की व्यवस्था की गई है, अतएव यहाँ केवल नान्दी के प्रयोग का भाव है। अभिनव ने पूर्वरंग का अवसर स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत वेद-सम्मत होने के कारण मंगल-कामना की दृष्टि से नान्दी का प्रयोग माना है। परन्तु, इसे दूरारूढ कल्पना ही माना जायगा कि यहाँ भरत ने नाट्य-प्रयोग के दो अलग काल या रूप माने हैं—पहला जब केवल नान्दी का प्रयोग होता था, और दूसरा विघ्नों को दूर करने के विचार से पूर्वरंग का प्रयोग—नान्दी जिसका अंग हुआ। यह स्वीकार्य नहीं हो सका। सामान्य दृष्टि से यही सम्भव लगता है कि यहाँ भरत ने संक्षेप में केवल नान्दी का उल्लेख कर दिया है, जिसे केन्द्र मानकर चतुर्दिक् पूर्वरंग का विकास हुआ है। नान्दी के प्रयोग में विभिन्नता है। कभी वाक्य में अथवा पदों (आठ या बारह) के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग हो सकते हैं। तिकोने या चौकोर रंगमंच के अनुसार आठ या बारह पदों की नान्दी का प्रयोग भी माना गया है।

नान्दी का स्थान या अवसर : नाटक में नान्दी की समस्या काफी जटिल है। बहुसंख्यक संस्कृत-नाटकों का आरम्भ नान्दी के श्लोकों से होता है, जिसके पीछे प्रायः लिखा रहता है—'**नान्द्यन्ते सूत्रधारः**'। परन्तु, भास के नाटकों में, विक्रमोर्वशीय की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में और कहीं-कहीं नागानन्द तथा मुद्राराक्षस जैसे नाटकों की दक्षिण भारतीय हस्तलिखित प्रतियों में और अन्य नवीनतर नाटकों में हम देखते हैं कि नाटक का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है और पीछे पद्य रहता है। इस विषय में हमारे सामने विश्वनाथ का प्रत्यक्ष साक्ष्य है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, उनका कथन है कि कुछ आचार्यों का मत था कि विक्रमोर्वशीय का प्रारम्भिक पद्य नान्दी नहीं है, यद्यपि इसे नान्दी ही समझा जाता है। विश्वनाथ के मतानुसार वस्तुतः यह रंगद्वार है, जिसके साथ नाट्यशास्त्र के मतानुसार, वास्तविक नाटक का आरम्भ होता है। उनका तर्क है कि नाट्यशास्त्र में दिये गये नान्दी के लक्षण के पूर्णतः अनुकूल यह पद्य नहीं है। अन्य विद्वानों ने अभिनवगुप्त के आधार पर इस आपत्ति का निराकरण कर दिया है। विश्वनाथ के मत से नान्दी पूर्वरंग का ही एक अंग है, जिसे कुछ भी संक्षिप्त किया जाय, रखना आवश्यक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धीरे-धीरे प्ररोचना के समान नान्दी को भी नाटककार ही अपने नाटक में रखने लगा। किन्तु, निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कितने समय में यह प्रथा स्थिर हो सकी। दक्षिण-भारत में नान्दी को सूत्रधार पर छोड़ने की प्राचीनतर प्रणाली का पालन होता रहा।

नान्दी-पाठ कौन करे : इस विषय को लेकर उलझन होती रही है कि कौन नट नान्दी-पाठ करता है। एक मत है, जिसे भरत का मत बताया जाता है कि एक विशेष नट, नान्दी, इसका पाठ करेगा अथवा सूत्रधार ही नान्दी-पाठ करेगा। दूसरा मत है कि सूत्रधार या अन्य कोई नट नान्दी-पाठ करेगा। इस नियम से समस्या और भी जटिल हो

जाती है कि पूर्वरंग के पश्चात् रंगमंच से सूत्रधार का प्रस्थान और स्थापक का प्रवेश माना जाता है। किन्तु, संस्कृत-नाटकों में सामान्यतः सूत्रधार के प्रवेश के पश्चात् नान्दी-पाठ होता है। अतः, नाट्यशास्त्रियों के सिद्धान्त का तात्पर्य यह हुआ कि सूत्रधार या स्थापक (जो गुण और आकृति में समान होने के कारण सूत्रधार कहा जाता है) नान्दी-पाठ करेगा। वह नेपथ्य में से नान्दी-पाठ करता है और तत्पश्चात् रंगमंच पर प्रवेश करता है।

नान्दी और मूलवस्तु : नाट्य-सिद्धान्त ने नाटक की मूलवस्तु और नान्दी में समरसता रखना आवश्यक माना है और वस्तुतः बहुलांश में इसका पालन भी हुआ है। उदाहरणार्थ, 'प्रबोधचन्द्रोदय' एक दार्शनिक नाटक है और उसका आरम्भ एकमात्र सत्य से हुआ है। राजनीतिक षड्यन्त्रों से पूर्ण नाटक 'मुद्राराक्षस' का आरम्भ चाणक्य की कूटनीति के समान जटिल पद्य से हुआ है। कई बार तो इस सीमा तक प्रयत्न हुए हैं कि नान्दी से ही नाटक के मुख्य पात्रों और महत्त्वपूर्ण घटनाओं में भी समरसता दिखाई जाय। इस विषय में **डॉ० कीथ** का मत ध्यातव्य है :

'It is a characteristic of the determination to carry matters to extremes which distinguishes Indian Theory that attempts are made to extract from the benediction not merely a general harmony with these them, but also a reference both to the main characters and the chief events.'[1]

नाट्यवेद में विकास : पूर्वरंग, प्रस्तावना आदि तक तो नाट्यवेद सीधा-सादा ही रहा। परन्तु, नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में इसमें एक दूसरी क्रिया जोड़ने की कथा दी गई है। चारों वेदों से पाठ्य, गीत, अभिनय और रस नाट्यवेद में लिये ही गये थे, ब्रह्मा ने इस नाट्यवेद में पहली बार इतिहास जोड़ा, दूसरी बार कैशिकी वृत्ति के साथ स्त्रियों का प्रवेश हुआ, तीसरी बार दैत्यों के द्वारा बाधा उपस्थित किये जाने पर, उसे दूर करने के उद्देश्य से रंगपूजा की विधि का समावेश किया गया। इतना सम्पन्न हो जाने पर भरत ने अमृत-मन्थन नामक समवकार का अभिनय किया। ब्रह्माजी के आदेश से फिर इसका अभिनय शिवजी के सामने हुआ। शिवजी इसे देखकर प्रसन्न हुए।

उन्होंने ब्रह्माजी से कहा कि आपने जो इस नाट्य की रचना की है, वह शुभ और बुद्धिवर्द्धक है। परन्तु, मैंने सन्ध्याकाल में नृत्य करते समय नृत्त को स्मरण किया है, जो अनेक करणों और अंगहारों से विभूषित है। आपकी पूर्वरंगवाली विधि शुद्ध है, उसमें इस नृत्त को जोड़ देने से वह 'चित्र' हो जायगा, अर्थात् उसमें विचित्रता का समावेश हो जायगा। फिर शिवजी ने करणों और अंगहारों की विधि का निर्देश किया और ब्रह्माजी ने नाटक में ताण्डव-नृत्य का भी समावेश कर दिया। यह चतुर्थ संस्कार था। भारतीय परम्परा मानती है कि इन चारों कक्षाओं का अतिक्रमण करने के उपरान्त नाट्यशास्त्र पूर्णांग बन गया। इसे ऐतिहासिक विकास की संज्ञा दे सकते हैं।

१. दि संस्कृत ड्रामा, पेज ३४४

पंचम अध्याय

वस्तु

वस्तु का महत्त्व : किसी भी नाट्यकृति में कथानक या कथावस्तु का रहना आवश्यक है। कथानक ही वह ढाँचा है, जिसके आधार पर नाटक की रचना होती है। कथावस्तु या वस्तु ही नाटक का शरीर है, जिसमें पात्र या चरित्र की प्राण-वायु मिलकर नाटक को जीवन्त सत्ता बनाती है। सभी नाट्यशास्त्रियों ने कथावस्तु के महत्त्व को समुचित मान्यता प्रदान की है और इसलिए नाटक के विभिन्न तत्त्वों में सर्वप्रथम इसी का विवेचन किया है। नाटककार कथावस्तु के ही द्वारा कौतूहल तथा मनोरंजन उत्पन्न करता है। यदि उसे कोई उपदेश देना होता है, तो कथावस्तु का ही सहारा लेता है और यदि कोई आदर्श स्थापित करना होता है तो उसे कथावस्तु की ही शरण में जाना पड़ता है। यदि कथावस्तु की ठोस आधार-शिला पर नाटक का निर्माण नहीं होगा तो पात्र आदि तत्त्व वायव्य पदार्थ होकर आकाश में उड़ते ही रह जाएँगे, उन्हें मूर्त्त रूप नहीं प्राप्त हो सकेगा। भारतीय नाट्याचार्यों के अतिरिक्त अरस्तू ने भी कथावस्तु को उचित महत्त्व दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि नाटक में कथावस्तु ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अतः सबसे पहले इसी का विवेचन वांछनीय है।

कथा और कथानक : इतिवृत्त या कथा और कथानक या कथावस्तु दोनों एक ही नहीं हैं, अपितु दोनों में बहुत बड़ा भेद है। कथा किसी नाटक के लिए केवल आधार होती है, उसमें जितने पात्र होते हैं या जितनी घटनाएँ होती हैं, उतने ही पात्रों और उतनी ही घटनाओं से नाटक का काम नहीं चल सकता। अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा को निम्नलिखित कुछ शब्दों में कह सकते हैं :

आखेट के प्रसंग में राजा दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने शकुन्तला को देखा और उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे गान्धर्व विवाह कर लिया। जब कण्व को ज्ञात हुआ कि शकुन्तला का विवाह दुष्यन्त से हो चुका है, तो उन्होंने उसे पति के पास भेज दिया। किन्तु, राजा दुष्यन्त ने लोक-निन्दा के डर से शकुन्तला को स्वीकार नहीं किया। परन्तु, कुछ दिनों के बाद कुछ परिस्थितियों के कारण उनका मिलन हो गया।

अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा इतनी ही है, परन्तु महाकवि कालिदास ने कथानक को सात अंकों में सजाया है, जिसमें अनेक काल्पनिक पात्रों और घटनाओं की अवतारणा की है। कण्व ऋषि के आश्रम में राजा दुष्यन्त का आगमन, शकुन्तला और उसकी सखियों द्वारा उनका स्वागत-सत्कार, शकुन्तला के मुखमण्डल पर भौंरे का मँडराना, परिचय और प्रेम, राजा दुष्यन्त की काम-पीड़ा, शकुन्तला की विरह-वेदना, फिर दोनों का मिलन और

विवाह, शकुन्तला को अँगूठी पहनाना, दुर्वासा ऋषि का शाप, शकुन्तला की विदाई, दुष्यन्त का उसे नहीं पहचानना, मछुओं द्वारा अँगूठी लाना, दुष्यन्त की व्यग्रता, मातलि के साथ दुष्यन्त का इन्द्र के पास जाना, लौटते समय कश्यप के आश्रम में दुष्यन्त का आगमन और अन्त में शकुन्तला से उनका मिलन आदि घटनाओं से सभी पात्रों के चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है और नाटक में सभी नाटकीय गुणों का समावेश हुआ है।

कथा और कथावस्तु के अन्तर को आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के शब्दों में इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं : "अतः इतिवृत्त या कथा उस घटना-क्रम को कहते हैं, जिसमें किसी नायक के जीवन का एक चरित्र पूर्ण आ जाय। किन्तु, अंकों और दृश्यों के अनुसार घटनाओं की ऐसी सजावट को कथावस्तु कहते हैं, जिसमें नाटकीय कुतूहल आदि से अन्त तक बना रहे और साथ ही घटनाओं को आकर्षक, कुतूहलजनक तथा रसमय बनाने के लिए कल्पित घटनाओं और पात्रों का समावेश किया जा सके।"[1]

कथा में चार बातें रहती हैं—व्यक्ति, स्थान, घटना और परिणाम। परन्तु, कथानक में इन सारी बातों के रहते हुए भी बहुत-कुछ परिवर्त्तन हो सकता है। व्यक्तियों की संख्या में अधिकता या न्यूनता लाई जा सकती है, स्थान में स्वेच्छया परिवर्त्तन किया जा सकता है, घटनाओं को कम कर सकते हैं, अधिक कर सकते हैं, या उनमें इच्छानुसार परिवर्त्तन कर सकते हैं और परिणाम में भी आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन किया जा सकता है। यदि किसी कथा में नायक कायर या स्त्रैण है, तो नाटककार कथावस्तु के निर्माण में अपने कौशल के बल पर कुछ ऐसा कर सकता है कि दर्शक और पाठक को नायक की स्त्रैणता पर श्रद्धा होने लगे या उसकी कायरता आवश्यक जान पड़ने लगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि कथानक की रचना ही नाटककार के कौशल का विषय है। यह रचना-कौशल कई तथ्यों पर निर्भर है। नायक या नायिका के प्रति नाटककार के अपने सिद्धान्त आदि कई तथ्यों पर कथानक की रचना निर्भर करती है।

वस्तु का स्वरूप : नाटक जीवन से ही लिया जाता है। नाटक ही नहीं, साहित्य का विस्तृत क्षेत्र और ज्ञान की सारी वस्तुओं पर जीवन का ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। साहित्य जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता है और फिर उसे प्रेरित करता है। डॉ० रघुवंश ने काव्य और नाटक में अन्तर बताकर कथावस्तु के विषय में लिखा है : "काव्य जीवन के केन्द्र से स्फूर्ति ग्रहण करता है, नाटक जीवन की व्यापकता से। काव्य अपने विस्तार में केन्द्र से परिधि के विस्तार में फैलता है, नाटक अपने विकास में व्यापक जीवन की परिधि से केन्द्र की ओर एकाग्र होता है। इस प्रकार, नाटक अपनी कथावस्तु जीवन के व्यापक क्षेत्र से प्राप्त करता है। कथावस्तु एक ओर जीवन की क्रियाशीलता का रूप है तो दूसरी ओर चरित्र का विकास।"[2]

---

१. अभिनव नाट्यशास्त्र (प्रथम संस्करण), पृ० १०४

२. नाट्यकला, पृ० ३८-३९

यूरोप के विद्वानों में इस बात को लेकर काफी वाद-विवाद हुआ है कि नाटक के कार्य और चरित्र में किसका महत्त्व अधिक है। अरस्तू का मत है कि कार्य चरित्र से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है; क्योंकि नाटक में अभिनय चरित्रों का प्रदर्शन करने के लिए नहीं होता। कथावस्तु ही त्रासदी का लक्ष्य और उद्देश्य है, और उद्देश्य ही प्रधान वस्तु है। इसके अतिरिक्त त्रासदी कार्य के बिना असम्भव है, चरित्र के बिना तो हो सकता है।

कोई उपन्यासकार अपने उपन्यास का विस्तार मनमाने ढंग से कर सकता है, छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा रूप दे सकता है। परन्तु, नाटककार को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। वह न तो कथानक का मनमाना विस्तार कर सकता है और न मनमानी सामग्री का ही उपयोग कर सकता है। नाटककार को कुछ ऐसे नियमों का पालन करना आवश्यक होता है, जो नाट्य-साहित्य के निर्माण के प्रायः साथ ही बन जाते हैं। नाटक की वस्तु मर्यादित होती है; क्योंकि उसे देखने में अधिक समय नहीं लगना चाहिए। अधिक देर तक देखने से दर्शक ऊब जा सकता है और ऐसी दशा में अत्यन्त अच्छे दृश्य भी दर्शक का मनोरंजन नहीं कर सकते। इसलिए नाटक की रचना करते समय लेखक को यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि नाटक यथासाध्य संक्षिप्त हो और ऐसा हो, जिसके अभिनय में अधिक समय नहीं लगे। इसके लिए नाटककार को केवल नितान्त आवश्यक सामग्री ग्रहण करनी होती है और अनावश्यक अथवा कम आवश्यक सामग्री छोड़ देनी होती है।

नाटक में वस्तु का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत मुनि ने वस्तु अथवा इतिवृत्त को नाटक का शरीर माना है :

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्त्तितम्।
पञ्चभिः सन्धिभिस्तस्य विभागः सम्प्रकल्पितः॥[1]

यही बात शारदातनय ने भावप्रकाशन में दूसरे शब्दों में कही है :

वस्तु तत्स्यात्प्रबन्धस्य शरीरं कविकल्पितम्।
इतिवृत्तं तदेवाहुर्नाट्याभिनयकोविदाः॥[2]

वस्तुतः, यदि नाटक का प्राण रस है, तो इतिवृत्त अथवा वस्तु को नाटक का शरीर कहना उपयुक्त ही है। नायकादि पात्रों के क्रिया-कलाप को इतिवृत्त कहते हैं।

कथानक के भेद : भरत मुनि आदि नाट्याचार्यों ने कथानक या वस्तु के दो भेद किये हैं—आधिकारिक तथा प्रासंगिक। आधिकारिक इतिवृत्त मुख्य होता है तथा प्रासंगिक अंग या गौण। अधिकार का अर्थ फल या स्वामित्व पाना है और उस अधिकार को पानेवाला अधिकारी कहलाता है। उस फल-प्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त आधिकारिक वस्तु कहलाता है। उदाहरणार्थ, रामकथा के आधार पर लिखित नाटकों में राक्षस-वध,

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १९, कारिका १

२. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० २००

सीता की प्राप्ति एवं राज्याभिषेक तक की सम्पूर्ण कथा आधिकारिक इतिवृत्त है। वस्तुतः, आधिकारिक कथावस्तु में नायक की कथा वर्णित रहती है। जो वृत्त आधिकारिक के प्रयोजन के लिए निर्मित रहता है, किन्तु प्रसंग से अपना भी फल सिद्ध हो जाता है, उसे प्रासंगिक वृत्त कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु का सौन्दर्य बढ़ाना और मूल कार्य या व्यापार के विकास में सहायता प्रदान करना है। कविराज विश्वनाथ ने प्रासंगिक वृत्त का लक्षण लिखा है :

अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते ।[1]

—अर्थात् इस प्रधान वृत्त के साधक इतिवृत्त को प्रासंगिक कहते हैं। शारदातनय ने आधिकारिक तथा प्रासंगिक वस्तु में अन्तर बताया है कि नायकादि के वृत्तान्त को आधिकारिक तथा उपनायक के वृत्तान्त को प्रासंगिक कहते हैं :

वृत्तान्तो नायकादीनामत्र स्यादाधिकारिकः ।
उपनायकवृत्तान्तः प्रासङ्गिक उदाहृतः ॥[2]

वस्तुतः प्रासंगिक वस्तु का प्रधान उद्देश्य आधिकारिक वस्तु को फल-निर्वहणता में सहायता प्रदान करना होता है, किन्तु साथ ही उसका अपना भी फल होता है। रामकथा में सुग्रीव-कथा का प्रयोजन बालि-वध तथा राज्य की प्राप्ति है, साथ ही यह कथा आधिकारिक वृत्त को फल-निर्वहणता में सहायता प्रदान करती है। उसी प्रकार, विभीषण-कथा भी आधिकारिक कथा में सहायता देती ही है, साथ ही उसका अपना भी फल लंका की राज्य-प्राप्ति है। अतः सुग्रीव तथा विभीषण-कथा प्रासंगिक वस्तुएँ हैं। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त की कथा आधिकारिक है तथा अलका-सिंहरण की कथा प्रासंगिक। 'राज्यश्री' नाटक में राज्यश्री, हर्ष आदि की भी कथा आधिकारिक है और शान्तिभिक्षु तथा सुरमा की कथा प्रासंगिक। प्रासंगिक वस्तु दो प्रकार से नाटकों में रखी जाती है—पताका-रूप में और प्रकरी-रूप में। जो प्रासंगिक वस्तु रूपक में काफी दूर तक चलती है और अनुबन्ध-युक्त होती है, उसे पताका कहते हैं और जो एक ही स्थान में सीमित रहती है, उसे प्रकरी। रामायण की कथा में सुग्रीव तथा विभीषण की कथाएँ पताका हैं; क्योंकि वे दूर तक चलती हैं और आधिकारिक वस्तु तथा नायक का पोषण करती हैं। वहाँ सुग्रीव तथा विभीषण पताका-नायक के रूप में वर्णित हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अलका-सिंहरण की कथा पताका-रूप में वर्णित है। रामायण के छोटे-मोटे प्रसंग प्रकरी हैं; उदाहरणार्थ, शबरी तथा जटायु की कथाएँ। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पर्वतेश्वर और कल्याणी की कथा प्रकरी-रूप में है। ध्यातव्य है कि इस स्थल पर शारदातनय ने अपनी पुस्तक में धनंजय का ही वाक्य उद्धृत कर दिया है :

---

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० ४४
२. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० २०१

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ।[1]

पताकास्थानक : शारदातनय ने प्रासंगिक वस्तु को नाटक में रखने के तीन उपाय बताये हैं। उन्होंने पताका और प्रकरी के समकक्ष पताकास्थानक को स्थान दिया है :

प्रासङ्गिकाभिधं वस्तु नाटके भवति त्रिधा ।
पताकाप्रकरीयुक्ता पताकास्थानकक्रमात् ॥[2]

धनंजय ने प्रासंगिक वस्तु के विषय में केवल पताका तथा प्रकरी का उल्लेख किया और पताकास्थानक का अलग से वर्णन किया है। कविराज विश्वनाथ ने प्रासंगिक वस्तु के सम्बन्ध में पताका तथा प्रकरी का उल्लेख नहीं किया। प्रासंगिक वस्तु का वर्णन करने के तुरन्त ही बाद पताकास्थानक का उल्लेख कर दिया :

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ।[3]

भरत मुनि ने पताका तथा प्रकरी का वर्णन करने के बाद पताकास्थानक का वर्णन किया।

जहाँ प्रयोग करनेवाले पात्र का अन्य अर्थ अभीष्ट हो, परन्तु सादृश्यादि के कारण दूसरे ही अर्थ की सूचना हो जाय, उसे पताकास्थानक कहते हैं। कभी-कभी कवि भविष्य में घटित होनेवाली किसी घटना का संकेत रूपक में किसी स्थल पर कर देता है। यह संकेत पताका की तरह भावी घटना की सूचना दे देता है। इसीलिए, इसे पताकास्थानक कहते हैं। जैसे रत्नावली में—'यातोऽस्मि' इत्यादि। "हे पद्म के नयनवाली, मेरे जाने का समय हो गया है. यह मैं जा रहा हूँ। प्रातःकाल में तुम्हें सोते से जगाऊँगा।" अस्ताचल के मस्तक पर अपनी अन्तिम किरणें रखे हुए सूर्य इस प्रकार पद्मिनी को विश्वास दिला रहा है। इस स्थल पर सूर्य-पद्मिनी के वर्णन के द्वारा भावी उदयन-रत्नावली-वृत्तान्त की सूचना मिलती है। अतः, यह पताकास्थानक ही है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटक 'नीलदेवी' में भी पताकास्थानक का प्रयोग किया है। नीलदेवी नर्त्तकी का वेश धारण कर अमीर के दरबार में जाती है और अमीर की हत्या करती है। यह पताकास्थानक ही है।

धनंजय-धनिक पताकास्थानक के दो भेद मानते हैं : १. तुल्येति वृत्त रूप और २. तुल्य-विशेष रूप। प्रथम में अन्योक्ति का आश्रय लिया जाता है और द्वितीय में समासोक्ति का।

किन्तु, भरत मुनि ने पताकास्थानक के चार भेद किये हैं। शारदातनय ने धनंजय का अनुकरण कर दो ही भेद माने, परन्तु 'अन्ये' लिखकर भरत मुनि के श्लोकों को उद्धृत करके उनका भी मत लिख दिया। कविराज विश्वनाथ ने भरत मुनि का अनुकरण किया और वे ही चार भेद माने और भरत के ही श्लोकों को, दो-एक स्थानों पर थोड़ा परिवर्त्तन

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० १३; भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० २०१
२. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० २०१
३. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० ४४

करके, उद्धृत कर दिया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने चार भेद माने। भरत के अनुसार पताकास्थानक के निम्नलिखित चार भेद हैं :

१. जहाँ प्रेमानुकूल उपचार के कारण सहसा अर्थ-सम्पत्ति या प्रयोजन-सिद्धि हो, वह प्रथम पताकास्थानक होता है।

२. जहाँ अनेक काव्य-बन्धों में आश्रित अतिशय श्लिष्ट वचन हो, वह द्वितीय पताकास्थानक होता है।

३. जहाँ वक्ता का अर्थ अव्यक्त, किन्तु निश्चययुक्त हो और श्लेषपूर्ण उत्तर से युक्त हो, उसे तृतीय पताकास्थानक कहते हैं।

४. जहाँ श्लिष्ट द्व्यर्थक वचनों का विन्यास हो तथा वह प्रधानेतर अर्थ की प्रतीति कराये, वहाँ चतुर्थ पताकास्थानक होता है।

कविराज विश्वनाथ ने इन चारों के निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं :

१. रत्नावली नाटिका में सागरिका वासवदत्ता का रूप धारण करके गई थी, परन्तु जब उसने देख लिया कि वासवदत्ता को मेरी बात का पता लग गया तो वह लतापाश के द्वारा मरने को उद्यत हो गई। इसी समय राजा वहाँ पहुँचकर उसे वासवदत्ता ही समझकर लतापाश से छुड़ाता है। तब सागरिका को पहचानकर राजा **'कथं प्रिया मे सागरिका'** इत्यादि कहने लगा। वहाँ फल-प्राप्ति-रूप अर्थ सम्पत्ति है, जो पहले की अपेक्षा अधिक गुणवती है।

२. वेणीसंहार में सूत्रधार के कथन **'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्थाः भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः'** में श्लिष्ट पदों के द्वारा नायक की मंगल-कामना की गई है। यहाँ 'रक्तादि' शब्दों का रुधिरादि भी अर्थ है और शरीरादि भी। अतः, श्लेष से बीजभूत अर्थ कौरवों के नाश—के साथ नायक की मंगलकामना की भी प्रतीति होती है।

३. वेणी-संहार में जब दुर्योधन अपनी पत्नी भानुमती से कहता है कि मेरी दोनों जाँघें ही तुम्हारे बैठने के लिए पर्याप्त हैं, तो इसी समय कंचुकी आकर कहता है : "देव, तोड़ डाला (देव, भग्नम् भग्नम्)।" इसपर सामाजिक के मन में जाँघों के तोड़ने की बात आ जाती है। आगे राजा पूछता है : 'किसने ?' तो कंचुकी उत्तर देता है, 'भीमसेन ने।' बाद में पता चलता है कि भीमसेन ने रथ तोड़ डाला है। इस प्रकार, यह तीसरा पताकास्थानक है।

४. विश्वनाथ ने चौथा उदाहरण वही दिया है, जो धनिक ने दशरूपक की वृत्ति में दूसरा उदाहरण दिया है। रत्नावली का पद्य 'उद्दाम' इत्यादि। यह राजा की उक्ति है : "आज मैं अन्य कामिनी के समान इस लता को देखता हुआ महादेवी का मुख लाल बना दूँगा, अर्थात् जब देवी इस लता को मुझे देखते देखेगी, तो उनका मुख क्रोध से लाल हो जायगा।" इस पद्य में कई विशेषण लता और कामिनी दोनों में श्लिष्ट हैं। यहाँ आगे आनेवाली बात—सागरिका से प्रीति-सूचित होती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि धनंजय और धनिक का दूसरा पताकास्थानक भरत और विश्वनाथ का चौथा पताकास्थानक है। किन्तु, उनका पहला पताकास्थानक भरत और विश्वनाथ के तीनों में से किसमें आयगा? पहले और तीसरे में तो नहीं आ सकता, शायद दूसरे में रखा जाय। परन्तु, भरत ने परिभाषा में 'अतिशय श्लिष्ट' विशेषण दिया है। उदाहृत पद्य 'यातोऽस्मि' आदि में अतिशय श्लिष्ट कुछ नहीं दिखाई देता। इसलिए, कुछ विद्वानों ने इसे दूसरे भेद में भी रखना उचित नहीं समझा। स्पष्टतः धनंजय का भेद अन्य प्रकार का है।

आधुनिक हिन्दी-नाटकों में पताकास्थानक का प्रयोग नहीं होता। यह लकीर छोड़ी जा चुकी है।

उत्पत्ति की दृष्टि से वस्तु के विभाग : नाट्यकार अपने रूपक के लिए स्वेच्छया कोई भी वृत्त ले सकता है। इस दृष्टि से वस्तु के तीन विभाग माने गये हैं: १. प्रख्यात, २. उत्पाद्य और ३. मिश्र। प्रख्यात इतिवृत्त इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत, बृहत्कथा आदि से लिया जाता है। उदाहरणार्थ भवभूति के महावीरचरित तथा मुरारि के अनर्घराघव के वृत्त रामायण से लिये गये हैं। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल का स्रोत महाभारत तथा पद्मपुराण है। भास के स्वप्नवासवदत्तम् तथा विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का सम्बन्ध ऐतिहासिक इतिवृत्तों से है। नाटक में तो ऐतिहासिक इतिवृत्त होना नितान्त आवश्यक है। जयशंकर प्रसाद के नाटक चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि तथा प्रेमी के 'रक्षाबन्धन', 'स्वप्न-भंग' आदि के इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध, अतः प्रख्यात हैं।

यदि कवि कोई प्रख्यात वृत्त चुनता है तो उसे छोटी-मोटी ही घटनाओं में परिवर्त्तन करने का अधिकार है। उसे बहुत ही सावधानी से अपनी घटनाओं का निर्माण करना होता है। वह प्रख्यात इतिवृत्त में मनमाना परिवर्त्तन करके सामाजिक के मन में बैठी धारणा में खलबली नहीं मचा सकता; इससे सामाजिक के मन में दुःख उत्पन्न होता है। दूसरी ओर, कभी-कभी नाटककार का अधिकार ही नहीं, कर्त्तव्य भी हो जाता है कि वह प्रख्यात कथानक में परिवर्त्तन कर दे। यदि प्रख्यात वस्तु में ऐसी कुछ बात हो कि नायक के धीरोदात्तत्व में बाधा पड़ती हो, तो ऐसी अवस्था में वस्तु के सम्बद्ध अंश में आवश्यक परिवर्त्तन करने का अधिकार कवि को है। महावीरचरित में बालि-वध वाली घटना में भवभूति ने रामचन्द्र के चरित्र के धीरोदात्तत्व की रक्षा के लिए परिवर्त्तन कर दिया है। भवभूति ने उस नाटक में दिखाया है कि बालि रावण का मित्र बनकर राम से लड़ने आया था और रामचन्द्र ने आत्म-रक्षा के लिए बालि को मार डाला था। मुरारि ने अनर्घराघव में इस घटना का कोई उल्लेख ही नहीं किया है। पद्मपुराण में वर्णन है कि विवाह के पश्चात् दुष्यन्त शकुन्तला को भूल गये थे; उसमें दुर्वासा के शाप-वाली घटना नहीं है। यदि कालिदास अपने नाटक में ऐसा ही दिखाते, तो निश्चय ही दुष्यन्त के चरित्र में कामुकता दृष्टिगोचर होती और उनके धीरोदात्तत्व में त्रुटि आती।

अतः, कालिदास ने दुर्वासा के शाप की घटना की कल्पना करके अपने चरित-नायक के चरित्र को ऊँचा उठा दिया। श्रव्य काव्य में कवि मनमाने ढंग से कुछ लिख सकता है, परन्तु दृश्य काव्य में कवि को बहुत सँभलकर चलना पड़ता है।

इस विषय में कविराज विश्वनाथ और रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र के मत स्पष्ट हैं। उन्होंने लिखा है कि जो रस-सम्बन्धी अथवा नायक-सम्बन्धी वस्तु अनुचित हो अथवा विरुद्ध हो, उसे नाटक आदि में छोड़ देना चाहिए या बदल देना चाहिए।

विश्वनाथ का मत : **यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।**
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मत : **अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा।**
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यं वाऽन्यथा.... ॥[2]

उत्पाद्य वस्तु कवि के द्वारा कल्पित होती है—**उत्पाद्यं कविकल्पितम्।**[3] प्रकरण, भाण आदि कई रूपकों में ऐसी वस्तु का प्रयोग होता है। भवभूति के मालतीमाधव तथा शूद्रक के मृच्छकटिक की कथावस्तु उत्पाद्य है। मिश्र वस्तु की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है, परन्तु उसमें कवि अपनी कल्पना से बहुत अंश मिला देता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों—संन्यासी, सिन्दूर की होली आदि—की वस्तु उत्पाद्य है। नाटककार अपने नाटक की कथावस्तु चुनते समय ध्यान में रखता है कि वह प्रख्यात कथावस्तु ही चुने, जिससे रसास्वादन की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करके दर्शकों के हृदय को शीघ्र ही उल्लसित कर सके। अतः, कथावस्तु की कल्पना तथा विविधता की कमी की ओर आधुनिक आलोचकों का ध्यान जाना स्वाभाविक ही है। परन्तु, ऐसी आलोचना भारतीय नाटक की मूल प्रकृति का विश्लेषण नहीं करती। इसलिए उसे पूर्ण मान्यता नहीं दी जा सकती। भारतीय आलोचक मानते हैं कि वस्तु और रस दोनों के उन्मेष में किसी का भी अतिरेक वांछनीय नहीं। न तो अतिरस के द्वारा वस्तु को सर्वथा विच्छिन्न कर देना चाहिए और न वस्तु, अलंकार द्वारा रस को तिरोहित कर देना चाहिए। मध्यम मार्ग ही उचित है :

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्यात् वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ॥[4]

आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में यह बात बहुत खटकती है कि संस्कृत-नाटकों में विषय की विभिन्नता का अभाव है। रामायण की कथा का आश्रय लेकर अनेक नाटक

---

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० ५०
२. नाट्यदर्पण, नाटक-निर्णय, १८
३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० १५
४. वही, तृतीय प्रकाश, कारिका ३२

लिखे गये हैं और उनमें यदि विचित्रता का अभाव और एकरूपता का आधिक्य है, तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। राम का चरित्र ही ऐसा है कि उनसे बढ़कर नायक की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी, रामकथा पर आश्रित नाटकों के कवियों ने अपने नाटक में घटना का वैचित्र्य दिखाने का यथासाध्य प्रयत्न किया है।

इस पिटी लकीर को छोड़कर प्रकरण तथा प्रहसन के रचयिताओं ने मध्यम श्रेणी के पात्रों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। नाटक की रचना की ओर कवि इस तरह झुके कि प्रकरण की रचना की ओर उनका उचित ध्यान नहीं गया। फिर भी, शूद्रक ने मध्यम श्रेणी के पात्रों की अवतारणा तथा उनके दैनिक जीवन की घटनाओं के चित्रण में अपूर्व सफलता प्राप्त की। प्राचीन भारतीय नाटककार मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की अभिरुचि, नैसर्गिक प्रवृत्ति तथा आवश्यक मनोरंजन के प्रति भी उदासीन नहीं हैं। यह तो ठीक ही है कि उच्च श्रेणी के व्यक्तियों में नाट्य-कला की ओर स्वाभाविक सम्मान की भावना के कारण उनका चरित्र विशेष रूप से चित्रित होता रहा है।

प्राचीन भारतीय नाटककारों ने तीन प्रसिद्ध कथा-चक्रों के आख्यानों के प्रति अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की है : १. रामकथा, २. महाभारत-कथा तथा ३. उदयन-कथा। इनमें प्रथम दो तो भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। ये भारत के सांस्कृतिक जीवन के आधार-स्तम्भ हैं, अतः जनता के सामने इनका अनेक रूपों में प्रदर्शन होता है, तो इससे राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि होगी और जातीय चरित्र के निर्माण में अपरिमेय सहायता मिलेगी। राजा उदयन की कथा प्राचीनकाल की एक रोमांचक (रोमाण्टिक) प्रेम-कहानी है, जो अपने लालित्य तथा रोमाण्टिक वातावरण के कारण बहुत दिनों तक अनेक कवियों को अपनी ओर आकृष्ट करती रही है। प्राचीन नाटककारों का ध्यान लोककथा की ओर भी आकृष्ट हुआ है और उसका चित्रण करके उन्होंने नाटक के प्रभाव में वृद्धि करने का भरपूर प्रयत्न किया है। धनंजय ने बृहत्कथा को उपजीव्य कोटि में रखने का आदेश दिया है, इससे भी इस बात का संकेत मिलता है। भास ने अपने रूपक आविमारक की रचना एक प्राचीन लोककथा के आधार पर की है। प्रहसन में तो सामान्य रूप से मध्यम श्रेणी के ही पात्रों को चुना गया है। उसका कथानक सामान्य जनता के जीवन को छूता हुआ चला है।

इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि भारत के प्राचीन नाटकों में लोकवृत्त के अनेक रूपों को प्रदर्शित करने का पूर्ण और सफल उद्योग किया गया है। रामायण तथा महाभारत के अनेक प्रकार से चित्रण करने के कारण नाटकीय कथावस्तु में विचित्रता का आंशिक अभाव हो जाता है, फिर भी प्रकरण तथा प्रहसन की कथावस्तुओं के कारण उस अभाव की पूर्त्ति का यथेष्ट प्रयत्न किया गया है।

इतिवृत्त की तीन श्रेणियों—प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र—में विभाजन नाटककार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रख्यात कथानक में नाटककार बहुत-कुछ बन्धन में रहता है,

किन्तु कल्पित या उत्पाद्य कथानक में ऐसा कोई बन्धन नहीं रहता। दोनों के निर्वाह के कौशल में बहुत अन्तर होता है। मिश्र कथानक में कुछ-कुछ बन्धन रहता ही है। निम्नलिखित सारणी में विभिन्न रूपकों की कथावस्तु का प्रकार दिखाया जा रहा है :

रूपक का नाम	कथावस्तु का प्रकार
नाटक	प्रख्यात
प्रकरण	उत्पाद्य
नाटिका	कथा उत्पाद्य, परन्तु नायक प्रख्यात
भाण	उत्पाद्य
प्रहसन	उत्पाद्य
व्यायोग	प्रख्यात
समवकार	प्रख्यात
वीथी	उत्पाद्य
उत्सृष्टिकांक	प्रख्यात
ईहामृग	मिश्र

आचार्यों ने इतिवृत्त का प्रयोजन भी बताया है। इसका फल धर्म, अर्थ तथा काम-रूप त्रिवर्ग है। यह फल इन तीनों में से कभी एक ही हो सकता है, कभी दो और कभी तीन हो सकता है।

कवि-कल्पना का स्थान : कवि या नाटककार को उत्पाद्य कथावस्तु की रचना में तो पूरी स्वतन्त्रता रहती है, परन्तु प्रख्यात—ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं में उसपर कुछ प्रतिबन्ध रहता है। कतिपय नाटककारों ने स्वतन्त्रता की इस सीमा का अतिक्रमण कर दिया है और प्रख्यात कथा में भी कल्पना का आवश्यकता से अधिक उपयोग किया है। नाटककार को इतना ही अधिकार या कवि-कल्पना की इतनी ही छूट दी जा सकती है कि वह नायक के चरित्र के विकास के निमित्त सम्भावित पात्रों तथा घटनाओं की कल्पना कर ले। इतिहास में जिन बातों का संकेत-मात्र है, उनके लिए पात्रों एवं घटनाओं की योजना कर लेने का अधिकार कवि को दिया गया है। उदाहरणार्थ, यह ऐतिहासिक तथ्य है कि हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् जब महाराणा प्रताप सिंह युद्ध-क्षेत्र से जा रहे थे, तो अकबर का दरबारी उनका छोटा भाई शक्त सिंह रास्ते में मिला और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगी। उसने अपना घोड़ा भी दिया। इस विषय को लेकर नाटककार कुछ छोटी-छोटी घटनाओं की अवतारणा कर सकता है और दोनों भाइयों के बीच हुए वार्त्तालाप को भी अपनी कल्पना से बना लेने का उसे अधिकार है। परन्तु, ऐसा दिखाना उसकी अधिकार-सीमा के बाहर की बात है कि महाराणा प्रताप सिंह का प्रताप और प्रभाव दिखाने के प्रलोभन में पड़कर नाटककार यह दिखावे कि राजा मानसिंह आकर महाराणा के पैरों पर गिर गये। अभिप्राय यह है कि कवि अपनी कल्पना से यही कर सकता है कि

ऐतिहासिक या पौराणिक नाटकों के इतिवृत्त और चरित्र का निर्वाह करते हुए उनके गुणों का उत्कर्ष प्रदर्शित करे। यदि ऐसा कोई नाटककार दिखाता है कि मेघनाद के डर से लक्ष्मण भागे जा रहे हैं, या सीता के वियोग में राम छाती पीट-पीटकर रो रहे हैं, तो यह नाटककार के अधिकार के बाहर की बात है। हाँ, यदि इतिहासकार ने किसी चरित्र, घटना या व्यक्ति के विषय में भ्रमपूर्ण निर्णय दिया हो, तो नाटककार को यह अधिकार है कि वह प्रमाण देकर उस भ्रमात्मक निर्णय को उलट दे और सत्य की स्थापना कर दे।

अर्थ-प्रकृति : भरत मुनि आदि सभी आचार्यों ने वस्तु में पाँच अन्य तत्त्वों का समावेश किया है, जिन्हें अर्थ-प्रकृति कहते हैं। अर्थ-प्रकृति का तात्पर्य उन तत्त्वों से है, जो प्रयोजन की सिद्धि के हेतु होते हैं। प्रयोजन या वस्तु के फल को अर्थ कहा गया है। इन पाँचों अर्थ-प्रकृतियों का सम्बन्ध उसी अर्थ की प्रकृति से है। रूपक में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नाम की पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं।

बीज : फल-सिद्धि का प्रथम हेतु बीज होता है। पहले जिसका अत्यल्प कथन किया जाय, परन्तु उसका विस्तार अनेक रूपों में हो, उसे बीज कहते हैं। बीज अल्प रूप में निर्दिष्ट हेतु है, जो फल का साधक होता है और वृक्ष के बीज के समान अंकुरित तथा पल्लवित होकर महान् वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। 'रत्नावली' नाटिका में अनुकूल दैव से युक्त मन्त्री यौगन्धरायण की चेष्टा बीज के रूप में रखी गई है। विष्कम्भक में यौगन्धरायण "**कः सन्देहः। (द्वीपादन्यस्मात् इति पठति)**" इत्यादि उक्ति बीज का संकेत है। इस नाटिका में उदयन तथा रत्नावली का मिलन करा देना वृत्त का कार्य या फल है, जो मन्त्री यौगन्धरायण का अभीष्ट है। 'वेणी-संहार' नाटक में द्रौपदी का केश-संयमन कार्य या फल है। इस फल का हेतु भीम के क्रोध से पुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह है, और वही इस नाटक के वृत्त का बीज है।

बिन्दु : अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर भी जो प्रधान कथा के अविच्छेद का हेतु है, उसे बिन्दु कहते हैं। जिस प्रकार तेल का बिन्दु पानी पर फैल जाता है, उसी प्रकार यह बिन्दु भी इतिवृत्त को आच्छादित कर देता है। विच्छिन्न हो गये कथा-प्रवाह को यह बिन्दु जोड़ता और आगे बढ़ाता है। रत्नावली नाटिका से इसका उदाहरण दिया जा सकता है। कामदेव की पूजा एक अवान्तर वृत्त है, जिसके समाप्त हो जाने पर कथा एक प्रकार से विच्छिन्न हो जाती है। कथा को शृंखलाबद्ध करने के उद्देश्य से नेपथ्य से चारण राजा उदयन के आगमन की सूचना देते हैं। इसपर सागरिका के रूप में वहाँ रहनेवाली रत्नावली कहती है : "क्या यही राजा उदयन हैं, जिनके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है?" इससे वृत्त की शृंखला बँध जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि किसी रूपक की वस्तु में बिन्दु एक ही होता है या अनेक? जहाँ कहीं कथा में विशृंखलता आ जाय, वहाँ उसे शृंखलाबद्ध करने के लिए बिन्दु रखा जाता है। बिन्दु के इस लक्षण के फलस्वरूप यदि कथा में कई स्थलों पर विशृंखलता हो

जाय, तो कई बिन्दुओं की अवतारणा की जा सकती है। अतः, नाटक में अनेक बिन्दुओं की अवतारणा के विरुद्ध कोई उचित कारण नहीं दीखता।

अर्थ-प्रकृतियों के विषय में भरत, धनंजय, धनिक तथा विश्वनाथ के मतों में कोई अन्तर नहीं। बहुधा उनके वाक्य भी मिलते-जुलते हैं और कहीं-कहीं एक ही हैं। शारदातनय ने बिन्दु के लक्षण में आचार्य कोहल का भी मत उद्धृत किया है :

फले प्रधाने विच्छिन्ने बीजस्यावान्तरैः फलैः।
तस्याविच्छेदको हेतुः बिन्दुरित्याह कोहलः॥[1]

उन्होंने बिन्दु के दो रूप बताये—मानज तथा विपत्तिज। क्रोध से मानज बिन्दु होता है और शोक से विपत्तिज। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में बीज के चार प्रयोग बताये।

कार्य—जो प्रधान साध्य है, जिसके लिए सभी उपायों का आरम्भ किया गया है और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री एकत्र हुई है, उसे कार्य कहते हैं; जैसे रामचरित में रावण-वध और रत्नावली नाटिका में उदयन तथा रत्नावली का मिलन करा देना।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में कार्य का छोटा-सा लक्षण दिया है :

साध्ये बीजसहकारी, कार्यम्।[2]

दशरूपक की वृत्ति 'अवलोक' में धनिक ने अर्थ-प्रकृति को स्पष्ट करते समय लिखा है कि ये अर्थ-प्रकृतियाँ प्रयोजन की सिद्धि के हेतु हैं—**अर्थप्रकृतयः—प्रयोजनसिद्धि हेतवः।** विश्वनाथ ने भी धनिक का ही अनुसरण किया है। परन्तु, यह परिभाषा आपत्ति-रहित नहीं है। पहली चार अर्थ-प्रकृतियाँ—बीज, बिन्दु, पताका तथा प्रकरी—निर्विवाद रूप से प्रयोजन की सिद्धि के हेतु हैं। परन्तु, पाँचवीं अर्थ-प्रकृति—कार्य—पर यह परिभाषा उचित नहीं जान पड़ती है। 'कार्य' तो स्वयं प्रयोजन है। इस दशा में प्रयोजन स्वयं उसी की सिद्धि का हेतु कैसे बन सकता है ? यहाँ दो में से एक ही बात सम्भव है। या तो दोनों प्रयोजन भिन्न-भिन्न हों या चार ही अर्थ-प्रकृतियाँ प्रयोजन की सिद्धि के हेतु हों।

इस प्रसंग में दशरूपक के व्याख्याकार डॉ० भोलाशंकर व्यास का मत उद्धृत करना समीचीन होगा : "इस समस्या को एक ढंग से सुलझाया जा सकता है। कार्य या प्रयोजन दो तरह के माने जाने चाहिए। एक प्रमुख कार्य, जो नाटक का खास कार्य है, जैसा रामकथा में रावण का वध। दूसरा अवान्तर कार्य, जैसे विभीषण का मिलना आदि। ऐसा मानने पर अवान्तर कार्य प्रमुख कार्यरूप प्रयोजन का सिद्धि-हेतु बन जायगा। पर

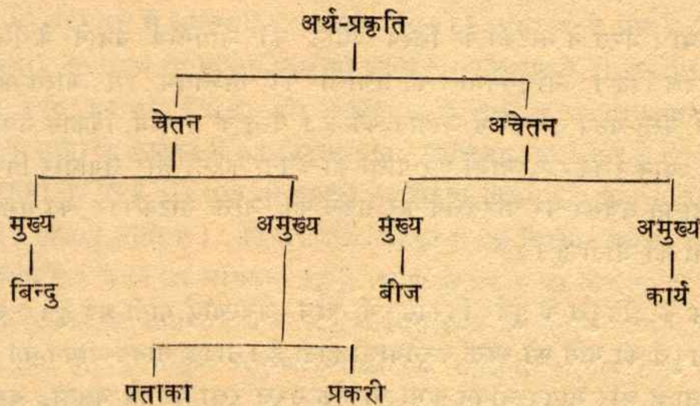
---

१. **भावप्रकाशन**, **सप्तम अधिकार**, **पृ० २०४**
२. **नाट्यदर्पण**, **नाटक-निर्णय**, **पृ० ३३०**

क्या धनंजय, धनिक तथा विश्वनाथ को यह अभीष्ट था ? यदि ऐसा हो तो उन्हें संकेत करना चाहिए था। इसके अभाव में हम इस मत को दुष्ट ही मानेंगे।"

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में अर्थ-प्रकृति को उपाय कहा है। इन पाँच उपायों में दो—बीज और कार्य—अचेतन हैं, और तीन—बिन्दु, पताका तथा प्रकरी—चेतन हैं। इन ग्रन्थकारों ने स्पष्टतः कहा है कि न तो ये इस क्रम से आते हैं, जिस क्रम से इन्हें गिनाया गया है और न अवश्यम्भावी या अपरिहार्य ही हैं। यथारुचि ही इनका प्रयोग करना चाहिए। ऐसे अनेक कथानक हो सकते हैं, जिनमें पताका या प्रकरी नहीं हों या ऐसे अनेक कथानक हो सकते हैं, जिनमें इनका क्रम उलटा हो। वास्तव में ये अर्थ-प्रकृतियाँ मात्र उपाय हैं और आरम्भ आदि अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं।

निम्नलिखित सारणी से अर्थ-प्रकृतियों का स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी।



इस प्रकार अर्थ-प्रकृतियाँ फल अर्थात् मुख्य साध्य के उपाय हैं। बीज नाटक के इतिवृत्त का उपाय है। यह मुख्य है; क्योंकि यही धीरे-धीरे अंकुरित तथा पल्लवित होकर फल का रूप धारण कर लेता है। आमुख में नट बीजभूत उक्तियों को प्रकट कर देता है और पीछे कथा का कोई मुख्य पात्र उसे दुहराता है। यह सोच-विचार कर प्रयत्नपूर्वक किया हुआ किसी पात्र का कार्य नहीं है, अतः अचेतन माना गया है। इस बीज के पल्लवित-पुष्पित होने से फल उपस्थित होता है। बीज मुख्य है और फल अमुख्य। बिन्दु, पताका तथा प्रकरी नाटककार द्वारा सोच-समझकर संयोजित होते हैं, अतः चेतन प्रयत्न हैं। इनमें भी बिन्दु मुख्य माना जाता है। नाटक का घटना-प्रवाह जब कभी अभीष्ट दिशा से हटकर दूसरी ओर मुड़ने लगता है, तब नाटककार विभिन्न पात्रों की सहायता से उसे निश्चित दिशा की ओर ले चलने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि सारे कथा-भाग में इसकी स्थिति रहती है। बिन्दु, पताका तथा प्रकरी कवि के अभीष्ट लक्ष्य तक ले जानेवाले साधन हैं, अतः इन्हें चेतन माना गया है। बिन्दु कथानक में अवश्य रहता है, परन्तु पताका और प्रकरी का रहना आवश्यक नहीं। वास्तव में बीज; बिन्दु और कार्य आवश्यक अर्थ-

प्रकृतियाँ हैं। बीज पर कवि का नियन्त्रण नहीं रहता, परन्तु बिन्दु पर उसका यत्नपूर्वक नियन्त्रण रहता है। ये दो मुख्य अर्थ-प्रकृतियाँ हैं।

"बिन्दु पात्रों की कवि-निबद्ध चेतन चेष्टाएँ हैं, पर कार्य अचेतन; जैसे सैन्य-सामग्री, दुर्ग, कोश, धन आदि। किसी वृक्ष का उपमान लें, तो बीज बीज है, बिन्दु उसे सुरक्षित, पल्लवित, पुष्पित करने का सोद्देश्य प्रयत्न है; कार्य कुदाल, खाद आदि हैं; पताका किसी स्वार्थ-सिद्धि के प्रतिदान में नियुक्त माली है और प्रकरी, क्वचित्-कदाचित् अनायास उपस्थित होकर सहायता कर जानेवाला हितैषी।"[१]

अर्थ-प्रकृति में 'अर्थ' शब्द का अभिप्राय है पूर्ण नाटकार्थ और 'प्रकृति' शब्द का तात्पर्य है प्रकार या उपाय। धनंजय की अपेक्षा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसे अधिक स्पष्टता से समझाया है।

अवस्था : भरत ने नाटकों के शिल्प-विधान को बोधगम्य बनाने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये। वस्तु-निर्माण की प्रणाली का विश्लेषण इस शास्त्र की अमूल्य उपलब्धि है। वस्तु-गठन नाटकों में अत्यावश्यक है। वस्तु के आरम्भ, विकास तथा सोद्देश्य उपसंहार का ध्यान रखकर घटनाओं एवं पात्रों की रचना करना और लगातार विकासशील वस्तुओं का उचित अवसर पर परिवर्त्तन कर सकने की शक्ति नाटककार का ऐसा गुण है, जिसकी अपेक्षा की जाती है।

नाटक के इतिवृत्त के पूर्ण विकास में पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। अवस्थाएँ नाटक के इतिवृत्त की गति को व्यक्त करनेवाली होती हैं। नाटक मानव-जीवन का दर्पण या प्रतिबिम्ब होता है और मानव-जीवन कभी भी एक सरल रेखा में नहीं चलता, वरन् अनेक उतार-चढ़ाव के बाद अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। मानव-जीवन संघर्षपूर्ण होता है और इन संघर्षों से गति आती है। अतः, नाटक के इतिवृत्त में भी इसका प्रतिबिम्ब पड़ना आवश्यक ही है। पाँच अवस्थाएँ इसी गति को सूचित करती हैं।

भरत ने अवस्थाओं को साधक के व्यापार की अवस्थाएँ कहा है :

ससाध्ये फलयोगे तु व्यापारः साधकस्य यः।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥[२]

दूसरे आचार्य इन्हें नेता के चरित्र (वृत्त) की पाँच अवस्थाएँ मानते हैं। परन्तु, धनंजय ने भरत का अनुसरण करके फल की इच्छावाले नायक के द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं। वास्तव में, वृत्त और व्यापार में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक (भूमिका), पृ० ४०

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय १९, का० ७

पात्र जो कुछ व्यापार या कार्य करता है, वही उसका चरित है। नायक के व्यापार की ये पाँच अवस्थाएँ कथावस्तु से रूप प्राप्त करती हैं, स्वयं कथावस्तु नहीं हैं।

ये अवस्थाएँ नाटक को विचित्र भावों तथा घटनाओं से समृद्ध करती हैं। नाटककार की निपुणता बिन्दु की योजना में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। इसी उपाय के द्वारा वह कथा को अभीष्ट मार्ग से बहकने से रोकता है और नायक की प्रयत्न आदि अवस्थाओं को जागरूक बनाने में समर्थ होता है। बिन्दु का निर्वाह बहुत कठिन कार्य है। यदि कथा कुछ भी निर्धारित मार्ग से भटक जाय, तो सँभालना कठिन हो जाता है। यदि आवश्यकता पड़ती है तो नाटककार पताका तथा प्रकरी-जैसे चेतन उपायों का सहारा लेता है और कार्य जैसे अचेतन उपादान—सैन्य, कोश आदि—से भी सहायता लेता है, परन्तु बिन्दु-विधान की सर्वत्र आवश्यकता होती है।

यूरोपीय मत से अवस्थाएँ : पाश्चात्त्य नाटकों के कथानक के मूल में प्राय: किसी-न-किसी प्रकार का संघर्ष या विरोध दिखाया जाता है। नाटक में दो विरोधी दल, भाव या सिद्धान्त आदि प्रदर्शित होते हैं और उन्हीं के विरोध के कारण कथानक का विकास होता है। साधारण नाटकों में यह विरोध प्राय: व्यक्तिगत ही होता है। किसी महात्मा तथा दुरात्मा या सच्चे वीर तथा अत्याचारी का विरोध दिखलाकर अन्त में महात्मा या वीर की विजय दिखाई जाती है। किन्तु, अच्छे नाटकों में यह विरोध अनेक रूपों में प्रदर्शित किया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार का विरोध या विपरीतता ही आधुनिक नाटकों का आधार है। नाटक में जिस स्थल पर से इस संघर्ष या विरोध का आरम्भ होता है, वहीं से कथावस्तु का भी आरम्भ समझना चाहिए और जहाँ संघर्ष का अन्त होता है, वहीं कथानक का भी अन्त हो जाता है। कथानक के आरम्भ में जो संघर्ष उत्पन्न होता है, वह एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है और उस सीमा के बाद किसी एक पक्ष की विजय होने लगती है और अन्त में किसी पक्ष की विजय हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विजय पानेवाला दल कुछ देर के लिए दब जाय, फिर भी अन्त में उसकी विजय में कोई बाधा नहीं पड़ती।

इसलिए, आधुनिक पाश्चात्त्य साहित्यशास्त्रियों ने नाटक के कथानक को पाँच भागों में बाँटा है—१. आरम्भ, इसमें विरोध उत्पन्न करनेवाली कुछ घटनाओं का समावेश रहता है; २. विकास—इसमें विरोध और संघर्ष में वृद्धि होती है; ३. चरम सीमा—यहाँ से किसी एक पक्ष की जीत का आरम्भ होता है; ४. उतार या निगति—यहाँ विजयी पक्ष की विजय निश्चित हो जाती है; ५. अन्त या समाप्ति—यहाँ उस संघर्ष का अन्त हो जाता है।

विरोध या संघर्ष आधुनिक सभ्यता की देन है। प्राचीन भारत में भी विरोध या झगड़े थे, किन्तु आधुनिक काल के समान प्रत्यक्ष या उग्र नहीं थे। इसलिए, रंगशालाओं में उनके अभिनय की आवश्यकता नहीं होती थी। हमारे यहाँ नाटक के अभिनय का उद्देश्य

पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—प्राप्त करना होता था, फलस्वरूप कथावस्तु का विकास भी उसी के अनुरूप होता था। भारतीय नाटकों की पाँच अवस्थाओं की तुलना पाश्चात्त्य नाटकों की पाँच अवस्थाओं से कर सकते हैं। भारतीय नाट्याचार्यों के अनुसार किसी प्रकार के फल की प्राप्ति उत्कण्ठा है और इसी उत्कण्ठा से नाटक का आरम्भ होता है। वास्तव में देखा जाय तो दोनों सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल विरोधवाले तत्त्व में अन्तर है। आरम्भ तथा अन्तवाली अवस्थाओं में तो कोई अन्तर नहीं है, शेष तीनों में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। पाश्चात्त्य पद्धति में जहाँ संघर्ष का विकास होता है, वहाँ भारतीय पद्धति में फलागम के लिए प्रयत्न होता है। एक में विजय-प्राप्ति का आरम्भ होने लगता है, तो दूसरे में फल-प्राप्ति का, एक में विजय निश्चित होती है, तो दूसरे में फल की प्राप्ति। अतः, दोनों पद्धतियों में केवल संघर्ष को लेकर अन्तर है।

भारतीय मत से अवस्थाएँ : भरत मुनि ने वस्तु की पाँच अवस्थाओं का उल्लेख किया है—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। परवर्त्ती आचार्यों ने, अन्य विषयों की भाँति इस विषय में भी भरत मुनि का अनुसरण किया। शारदातनय ने भावप्रकाशन में उनका मत उन्हीं के शब्दों में उद्धृत कर दिया। धनंजय ने दूसरे शब्दों में उन्हीं पाँच अवस्थाओं का विवेचन किया। विश्वनाथ ने धनंजय का अनुसरण लगभग उन्हीं शब्दों में किया। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उन्हीं बातों का निर्देश दूसरे शब्दों में किया।

इन आचार्यों ने निम्नलिखित पाँच अवस्थाओं का विवेचन किया :

आरम्भ : मुख्य फल की सिद्धि के लिए जो औत्सुक्य होता है, उसे आरम्भ कहते हैं। कोई भी फल प्राप्त करने के पूर्व नायकादि में उत्सुकता होती है, यह उत्सुकता-मात्र ही आरम्भ है। इस उत्सुकता का प्रदर्शन नायक भी कर सकता है अथवा कोई अन्य पात्र भी। उदाहरणार्थ, रत्नावली नाटिका में रत्नावली को उदयन के अन्तःपुर में रखने के लिए मन्त्री यौगन्धरायण की उत्कण्ठा उदयन के कार्यारम्भ की सूचना है। यौगन्धरायण की उक्ति से उदयन-रत्नावली के मिलन-रूप फल के प्रति उत्सुकता प्रकट होती है।

प्रयत्न : उस फल की प्राप्ति नहीं होने पर, उसे प्राप्त करने के लिए, जो त्वरायुक्त व्यापार होता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। इस अवस्था में नायक या नायिका अपने लक्ष्य अथवा अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा में यत्नशील रहते हैं। उदाहरणार्थ, रत्नावली नाटिका में नायिका सागरिका वत्सराज उदयन को प्राप्त करना चाहती है। इस फल की प्राप्ति के लिए वह उदयन का चित्र अंकित करती है। इससे प्रयत्न की सूचना मिलती है।

प्राप्त्याशा : जहाँ प्राप्ति की आशा, उपाय तथा विघ्न की आशंकाओं से घिरी हो, फल-प्राप्ति के विषय में कोई निश्चय नहीं हो पाता; किन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो, उस अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं। उदाहरणार्थ, रत्नावली नाटिका के तीसरे अंक में, रत्नावली के वेश-परिवर्त्तन करके अभिसरण करनेवाले समागम के उपाय के होने पर भी,

विदूषक की उक्ति से, वासवदत्ता के रूप-विघ्न की आशंका भी बनी है। यहाँ विदूषक की उक्ति से नायक तथा सामाजिक को फल-प्राप्ति में विघ्न हो जाने का सन्देह हो जाता है। अतः, समागम-रूप फल की प्राप्ति में अनिश्चय हो जाने से प्राप्त्याशा है।

नियताप्ति : जब विघ्न के अभाव के कारण फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है, तो उस अवस्था को नियताप्ति कहते हैं। प्राप्त्याशा में नायक के मन में फल-प्राप्ति के विषय में सन्देह बना रहता है, कुछ निश्चित नहीं रहता, केवल फल-प्राप्ति की सम्भावना रहती है। परन्तु, नियताप्ति की अवस्था में फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाता है, सन्देह का कोई स्थान नहीं रहता। उदाहरणार्थ रत्नावली नाटिका में रत्नावली के तहखाने में बन्द किये जाने पर विदूषक राजा से उसके छुटकारे का उपाय पूछता है। इसपर राजा कहता है—**'वयस्य, देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।'** वासवदत्ता के इस प्रसादन की भावना के कारण फल-प्राप्ति की निश्चित सूचना मिलती है।

फलागम : जहाँ समस्त फल की प्राप्ति हो जाय, उस अवस्था को फलयोग अथवा फलागम कहते हैं। लक्षण में 'समस्त' विशेषण का प्रयोग इसलिए हुआ है कि अधूरे फल की प्राप्ति में फलागम की अवस्था नहीं होगी, प्रत्युत नियताप्ति ही होगी। रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन को रत्नावली की तथा चक्रवर्त्तित्व की प्राप्ति फलागम है।

शकुन्तला नाटक में कथावस्तु की ये पाँच अवस्थाएँ देख सकते हैं। **'असंशयं क्षत्र-परिग्रहक्षमा'** आदि के द्वारा राजा दुष्यन्त में शकुन्तला को प्राप्त करने की इच्छा सूचित होती है, जिससे आरम्भ नाम की अवस्था प्रकट होती है। तत्पश्चात् राजा शकुन्तला को प्राप्त करने के लिए द्वितीय तथा तृतीय अंकों में यत्नशील दिखाई देता है। यह प्रयत्न अवस्था है। चतुर्थ अंक के आरम्भ में दुर्वासा का क्रोध-जनित शाप विघ्न-रूप में उपस्थित होता है, परन्तु तुरन्त हमें पता चल जाता है कि नायक दुष्यन्त को शकुन्तला की प्राप्ति हो जायगी। यही प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। षष्ठ अंक में जब मुद्रिका मिल जाती है, तो शकुन्तला की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यह नियताप्ति है। सप्तम अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन हो जाता है। यहाँ फलयोग अथवा फलागम नामक अवस्था दिखाई देती है।

भारतीय तथा यूरोपीय दृष्टिकोणों में भिन्नता : इस विषय में भारतीय तथा यूरोपीय दृष्टिकोणों की भिन्नता पर विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। भारतीय सदा से प्रयत्न में विश्वास करते रहे हैं, परन्तु यूरोपीय संघर्ष में। भारतीय जीवन प्रयत्नमय रहा है जबकि यूरोपीय जीवन संघर्षरत रहा है। यह भेद दोनों की सभ्यता में देखा जा सकता है और दार्शनिक धरातल पर भी यह भेद परिलक्षित होता है। इसी प्रयत्न तथा संघर्ष के सिद्धान्त पर कथावस्तु का विकास अवलम्बित है। फिर भी, दोनों स्थानों के नाटक-साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय, तो विदित होगा कि एक में दूसरे की भावना स्वीकृत हुई है; क्योंकि उनके सिद्धान्त जीवन के धरातल पर मात्र एकांगी सिद्ध होते हैं।

किन्तु, यहाँ व्यापक रूप से उनके दृष्टिकोण से भिन्नता बतानेवाले सिद्धान्त लिये गये हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक में प्रोस्पेरो निश्चित कार्य की ओर प्रयत्न के सहारे अग्रसर होता है, उसमें किसी भी प्रकार से संघर्ष की भावना दिखाई नहीं देती। इसके विपरीत भवभूति के नाटक उत्तररामचरित में किसी प्रयत्न की कोई प्रेरणा नहीं मिलती, उसमें केवल परिस्थिति से उत्पन्न मानसिक संघर्ष ही पाया जाता है। मुद्राराक्षस में राक्षस का प्रयत्न केवल प्रयत्न नहीं रहकर संघर्ष की सीमा तक पहुँच जाता है, परन्तु चाणक्य की अतुल शक्ति के सामने उसका स्पष्ट रूप नहीं आ पाता। दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि पाश्चात्त्य नाटकों का नायक अपनी परिस्थितियों में पूर्ण रूप से उलझ जाता है और निकल पाने के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु भारतीय नाटकों का नायक अपने सामने एक निश्चित लक्ष्य रखकर उसे पूर्ण करने के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार, भारतीय नाटकों के प्रयत्न में संघर्ष करने की शक्ति छिपी है और इच्छा-शक्ति के सहारे बाधाओं को परास्त करने की भी अमिट शक्ति।

भारतीय कथावस्तु में चरम (Climax) के लिए कोई स्थान नहीं। कारण यह है कि हमारे सामने फलागम का लक्ष्य रहता है, जिसमें नायक अपना अधिकार प्राप्त करके सफलता के सिंहासन पर आसीन होता है। यही सफलता की भावना भारतीय नाटकों की प्राप्त्याशा को जीवन की आशा-निराशा से पूर्ण चरम तक नहीं पहुँचने देती। यह दूसरी बात है कि जैसे सिद्धान्त-रूप से प्रयत्न में संघर्ष और बाधाओं को भी सम्मिलित कर सकते हैं, वैसे ही प्राप्त्याशा में भी आशा-निराशा से युक्त चरम की स्थिति मान सकते हैं। भारतीय तथा यूरोपीय पद्धतियों के समन्वय की अवस्था में फल जय-पराजय दोनों ही अवस्थाओं में उपस्थित हो सकता है।

अवस्था और अर्थ-प्रकृति : कथावस्तु में अर्थ-प्रकृति तथा अवस्था दोनों होती हैं, परन्तु दोनों का भेद स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता। प्रश्न उठता है कि दोनों में क्या अन्तर है? प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तैलंग ने दोनों का अन्तर स्पष्ट किया है। उनका मत है कि अर्थ-प्रकृति कथावस्तु का उपादान कारण है और जहाँ भी होगी, वस्तु का ढाँचा निर्मित हो जायगा। इसके विपरीत अवस्था नायक की मनोदशा से सम्बन्ध रखती है, यह बात उन अवस्थाओं की परिभाषा से स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार, पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ नाटक की कथावस्तु का औपादानिक विभाजन हैं और पाँच अवस्थाएँ नायक की मनोदशा की दृष्टि से कथावस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन हैं। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने यह मत स्वीकार किया है। मैं भी इससे सहमत हूँ।

यूनानी त्रासदियों में अवस्थाएँ—भारतीय नाटकों से तुलना : यूनान के दुःखान्त नाटकों या त्रासदियों की भी कथावस्तु में पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं और इस स्थान पर हमारी दृष्टि स्वभावतः उनपर पड़ती है। भारतीय नाटक दुःखान्त नहीं होते और

यूनान के उत्तम नाटक प्रायः दुःखान्त ही हैं। इसका मुख्य कारण दोनों देशों के वासियों के दृष्टिकोण में अन्तर है। भारतीयों के आशावादी दृष्टिकोण के कारण यहाँ के नाटकों में नायक को फल-प्राप्ति आवश्यक है। भारतीय नाटकों का नायक मार्ग में आनेवाले विघ्नों को पद-दलित करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में सफलता प्राप्त कर लेता है। फलस्वरूप यहाँ के नाटकों के इतिवृत्तों का अन्त फलागम में ही होगा, फलाभाव या नायक की असफलता में नहीं। मोक्ष जैसे परमानन्द में विश्वास करनेवाला भारतीय कभी निराशावादी नहीं बन सकता। उसे तो विश्वास है कि सभी कठिनाइयों तथा विघ्नों के पश्चात् सफलता का मधुर फल अवश्य प्राप्त होगा। यहाँ मानव-जीवन का उद्देश्य ही है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग के फल की प्राप्ति।

इसी कारण से भारतीय नाटककारों ने दुःखान्त नाटकों या त्रासदियों को जन्म नहीं दिया। यहाँ के नाटकों का अन्त सदा सुख में होता है। यूनान में श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण नाटक दुःखान्त (ट्रेजेडी) ही हैं, परन्तु उन दुःखान्त नाटकों—त्रासदियों—की गरिमा यहाँ के सुखान्त नाटकों में ही है। भारतीय नाटक वास्तव में पाश्चात्य अर्थ में कॉमेडी नहीं हैं। यूनान में कॉमेडी हल्का-फुलका व्यंग्यात्मक प्रहसन आदि हुआ करता है। इस अर्थ में हमारे यहाँ के प्रहसन तथा भाण ही लिये जा सकते हैं। त्रासदी में किसी महान् व्यक्ति के उदात्त चरित्र को प्रस्तुत किया जाता है। ये महापुरुष संघर्ष करने पर भी विरोधी शक्तियों पर विजय नहीं प्राप्त करते और अन्त में उनका पतन हो जाता है। इन महापुरुषों के चरित्र में कोई दुर्बलता या त्रुटि अवश्य दिखाई जाती है, जो उन्हें असफलता की ओर खींच ले जाती है। उदाहरण के लिए शेक्सपियर के हैमलेट, मैकबेथ आदि लिये जा सकते हैं। सामाजिक को उनके मरण या पतन पर सहानुभूति तथा करुणा उत्पन्न होती है। परन्तु, अन्त में सामाजिक या पाठक पर निराशावादी परिणाम पड़ता है। वह कोरा भाग्यवादी बन जाता है। यूनान के त्रासदी पाठक या सामाजिक को भाग्यवादी बना देते हैं, किन्तु भारत के सुखान्त नाटक उसे पुरुषार्थवादी बनाते हैं।

किन्तु, इसका अर्थ कदापि नहीं होता कि भारत के नाटककार अपने नाटकों में विघ्न या संघर्ष के दृश्य नहीं दिखाते। संस्कृत-नाटककार विघ्न बहुत कुशलता तथा सफलता से दिखाता है, परन्तु उसका नायक उन विघ्नों को कुचलकर सफलता प्राप्त करने में कुशल होता है। इसीलिए, यहाँ के नाटकों में यूनान के त्रासदियों के कुछ तत्त्व वर्त्तमान रहते हैं। इसी तत्त्व को देखकर कुछ आलोचकों ने संस्कृत-नाटकों को सर्वथा सुखान्त नहीं कहकर सुखोन्मुख दुःखपरक—ट्रेजी-कॉमेडी—कहा है।

सन्धि : नाटक के इतिवृत्त में अर्थ-प्रकृति एवं अवस्था के अतिरिक्त पाँच सन्धियाँ रहती हैं। भरत ने सन्धियों तथा उनके अंगों का विशद विवेचन किया है। उनके मतानुसार इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है और पाँच सन्धियाँ उसके पाँच विभाग हैं। धनंजय ने कहा है कि किसी एक प्रयोजन द्वारा अन्वित कथा-भागों को किसी दूसरे

प्रयोजन से मिलानेवाला सन्धि कहलाता है। पाँच अर्थ-प्रकृतियों तथा पाँच अवस्थाओं के मिश्रण से बनने के कारण इन्हें सन्धि कहते हैं। धनंजय ने दशरूपक में लिखा है :

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः॥[१]

—अर्थात् पाँचों अर्थ-प्रकृतियाँ पाँचों अवस्थाओं से समन्वित होकर क्रमशः पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं। कविराज विश्वनाथ ने भी सन्धियों का वर्णन किया है। शारदातनय ने धनंजय का ही प्रायः अनुसरण किया है। निम्नलिखित कारिका तो उन्होंने दशरूपक से ही ले ली है :

पञ्चावस्थाः समेतार्थप्रकृतीनां यथाक्रमम्।
तथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः॥
अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति॥[२]

तीसरी पंक्ति '**अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति**' तो साहित्यदर्पण में भी इसी रूप में वर्त्तमान है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में स्वतन्त्र ढंग से इस विषय का विवेचन किया है। सन्धि का विवेचन नाट्यदर्पण में सबसे अधिक विस्तृत है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक दुर्लभ तथा सुलभ रूपकों से सन्धि के सभी अंगों के उदाहरण दिये हैं।

धनंजय की उपर्युक्त कारिका भ्रम उत्पन्न करनेवाली सिद्ध हुई है। अर्थ-प्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ यथारूप सम्बन्ध ठीक नहीं पड़ता। पताका तथा प्रकरी अर्थ-प्रकृतियों में पताका के बाद प्रकरी को गिनाया गया है। पताका का उदाहरण रामायण में सुग्रीव की कथा है और प्रकरी का उदाहरण उसी काव्य में शबरी की कथा है। इस प्रकार, रामायण में प्रकरी पहले है और पताका पीछे आती है। इसमें वह क्रम तो नहीं रहा। उसी प्रकार, बिन्दु अर्थ-प्रकृति की स्थिति नाटक में सर्वत्र रहती है। उसे किसी एक अवस्था में बाँधना सम्भव नहीं है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में ऐसा कुछ नहीं कहा। हाँ, सन्धियों को अवस्था का अनुगामी अवश्य कहा गया है। अर्थ-प्रकृतियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है। वस्तुतः पताका में भी सन्धियाँ होती हैं और नाट्यदर्पण में उन्हें अनुसन्धि नाम दिया गया है, और धनंजय ने भी दूसरे स्थल पर उन्हें अनुसन्धि ही बताया है। इसलिए, धनंजय की उपर्युक्त कारिका, जिसमें अर्थ-प्रकृतियों और अवस्थाओं—दोनों से सन्धियों का सम्बन्ध जोड़ा गया है, भ्रम उत्पन्न करनेवाली है। भरत के मत को दृष्टि में रखकर उस कारिका की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'अर्थ-प्रकृतियाँ पाँच हैं और अवस्थाएँ भी पाँच हैं। इनके समन्वित रूप से इतिवृत्त बनता है। उसके पाँच विभाग होते हैं, जो सन्धि कहे जाते हैं। ये सन्धियाँ अवस्थाओं के क्रम से होती हैं।' परन्तु ऐसा अर्थ कष्ट-कल्पित है।

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० २२
२. भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, पृ० २०७

परिभाषा तथा भेद—जब किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथांश को किसी दूसरे प्रयोजन से अन्वित किया जाय, तो उस सम्बन्ध को सन्धि कहते हैं। कथांश का सम्बन्ध एक ओर, अर्थ-प्रकृति के रूप में कार्य से है; दूसरी ओर, अवस्था के रूप में फलागम से। दोनों को सम्बद्ध कर देने से सन्धि का निर्माण होता है।

सन्धियाँ पाँच होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श या विमर्श तथा उपसंहृति या उपसंहार या निर्वहण। पाँचों अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों में परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्ध होता है। बीज तथा आरम्भ मिलकर मुख, बिन्दु तथा प्रयत्न मिलकर प्रतिमुख, पताका तथा प्राप्त्याशा मिलकर गर्भ, प्रकरी तथा नियताप्ति मिलकर विमर्श एवं कार्य तथा फलागम मिलकर उपसंहृति या निर्वहण उत्पन्न होते हैं।

शकुन्तला नाटक के इतिवृत्त में पाँचों सन्धियों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। प्रथम अंक से द्वितीय अंक के उस स्थल तक मुख-सन्धि है, जब सेनापति का प्रस्थान हो जाता है और राजा दुष्यन्त कहता है : '**विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः**'। तृतीय अंक के अन्त तक प्रतिमुख-सन्धि है। चतुर्थ अंक से पंचम अंक के उस स्थल तक गर्भ-सन्धि है, जब गौतमी शकुन्तला के मुख पर से अवगुंठन हटा देती है। पंचम अंक का अवशिष्टांश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अंक विमर्श-सन्धि है। अन्त में, सप्तम अंक में निर्वहण-सन्धि मिलती है।

मुख : जहाँ अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक बीज की प्रारम्भक नामक दशा के साथ संयोग से उत्पत्ति हो, उसे मुख-सन्धि कहते हैं। मुख-सन्धि में विविध रसों को उत्पन्न करनेवाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है। मुख-सन्धि में ही रूपक के बीज की सूचना मिल जाती है और इसी बीज से नाटक के विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है। दूसरे रूपकों में धर्म, अर्थ, काम में से कोई हेतु के रूप में होता है, परन्तु प्रहसन या भाण में से कोई पुरुषार्थ स्पष्ट रूप से हेतु नहीं जान पड़ता। किन्तु, वहाँ भी हास्य आदि रस तो उत्पन्न होते ही हैं, अतः रसोत्पत्ति का हेतु ही बीज माना जायगा। मुख-सन्धि का उदाहरण रत्नावली नाटिका में प्रथम अंक सम्पूर्ण और द्वितीय अंक में उस स्थल तक है, जब सागरिका वत्सराज उदयन का चित्र बनाने का उपक्रम करती है।

प्रतिमुख : जहाँ मुख-सन्धि में निर्देशित फल-प्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य विकास हो, वहाँ प्रतिमुख-सन्धि होती है। इस सन्धि में बिन्दु नाम की अर्थ-प्रकृति और प्रयत्न नाम की अवस्था का मिश्रण होता है। मुख-सन्धि में बीज बोया जाता है और अनुकूल अवसर पाकर वही बीज अंकुरित होता है। जिस प्रकार बीजांकुर पहले कुछ अस्पष्ट या अलक्ष्य रहता है, उसी प्रकार बीज का अंकुर कुछ अस्पष्ट रूप में प्रतिमुख-सन्धि में दिखाई देता है। रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक में उदयन तथा सागरिका के मिलन के लिए जो अनुराग-बीज बोया गया है, द्वितीय अंक में उसे सुसंगता तथा विदूषक ने जान लिया, इसलिए वह कुछ-कुछ प्रकट हो गया। चित्र-फलक-वृत्तान्त से वासवदत्ता ने भी कुछ

अनुमान लगा लिया, अतः यह अलक्ष्य भी रहा। इस प्रकार, यह प्रतिमुख-सन्धि है। वेणी-संहार में भी भीष्मादि की मृत्यु से युधिष्ठिर का क्रोध लक्ष्य हो गया है, परन्तु अभी कर्णादि का वध नहीं होने के कारण अलक्ष्य भी है। यहाँ भी प्रतिमुख-सन्धि है।

गर्भ : जब बीज दिखाई देकर फिर नष्ट हो जाता है और उसका बार-बार अन्वेषण किया जाता है तब वहाँ गर्भ-सन्धि होती है। साहित्यदर्पणकार का मत है कि पूर्वसन्धियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फल-प्रधान उपाय का जहाँ ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो, उसे गर्भ-सन्धि कहते हैं। इसमें पताका नाम की अर्थ-प्रकृति तथा प्राप्त्याशा नाम की अवस्था का सम्मिश्रण रहता है। इसमें पताका का होना अनिवार्य नहीं है, परन्तु प्राप्त्याशा का होना अनिवार्य है। जिस बीज को प्रतिमुख-सन्धि में लक्ष्यालक्ष्य-रूप में देखा गया है, वही बीज गर्भ-सन्धि में विशेष रूप से विकसित हो जाता है। किन्तु, फल-लाभ विघ्न-रहित नहीं है, इसमें कभी तो विघ्न उपस्थित होता है, फिर उसका लाभ होता है, फिर विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार, बार-बार अन्वेषण किया जाता है। इस गर्भ में प्राप्ति की सम्भावना-मात्र होती है; पूर्ण निश्चय नहीं। यह गर्भ-सन्धि की विशेष बात है। रत्नावली नाटिका के तृतीय अंक में उदयन की फल-प्राप्ति में वासवदत्ता से विघ्न उपस्थित होता है। परन्तु, सागरिका के अभिसरण के उपाय से नायक को फिर आशा हो जाती है। इसमें बार-बार विच्छेद होता है और बार-बार प्राप्ति की आशा होती है। फिर विघ्न के निवारण और फल-प्राप्ति के हेतु का अन्वेषण किया जाता है। इस अन्वेषण की अभिव्यक्ति नायक के इस कथन से होती है : **'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः'**—अब वासवदत्ता को मनाने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है।

अवमर्श या विमर्श : अवमर्श की परिभाषा के विषय में आचार्यों में थोड़ा मदभेद है। भरत की ही परिभाषा, कुछ शब्द बदलकर, धनंजय ने ले ली है। धनंजय ने अवमर्श का निम्नलिखित लक्षण दिया है :

क्रोधेनावमृशेद् यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥[1]

—अर्थात् जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन से धन-प्राप्ति के सम्बन्ध में विचार किया जाय, तथा जहाँ गर्भ-सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ अवमर्श-सन्धि होती है। शारदातनय ने धनंजय के ही शब्दों को दुहराया है, अपनी ओर से भी दो पंक्तियाँ जोड़ दी हैं। किन्तु, विश्वनाथ ने जो परिभाषा दी, उसमें पर्याप्त अन्तर है। उन्होंने लिखा है :

यत्र मुख्यफलोपाय उद्‌भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ॥[2]

१. **दशरूपक, प्रथम प्रकाश, का० ४३**

२. **साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० ७९**

—अर्थात् जहाँ मुख्य फल का उपाय गर्भ-सन्धि की अपेक्षा अधिक उद्भिन्न अथवा प्रकट हो, किन्तु शापादि के कारण अन्तराय-युक्त (विघ्नयुक्त) हो, उसे विमर्श-सन्धि कहते हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने एक छोटा-सा लक्षण दिया है, जिसमें दोनों का सामंजस्य हो जाता है :

उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभिः ।[1]

अवमर्श या विमर्श शब्द का अर्थ विवेचन, विचार या पर्यालोचन है। अवमर्श शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से धनंजयवाला लक्षण अधिक युक्तिसंगत है। फल-प्राप्ति का विमर्श या विवेचन क्रोध, व्यसन या विलोभन के द्वारा सम्भव है। फल-प्राप्ति के निश्चय का विवेचन जहाँ पाया जाय और जहाँ गर्भ-सन्धि से प्रकटित बीज से सम्बन्ध पाया जाय, वह पर्यालोचन विमर्श या अवमर्श कहा जाता है। उदाहरणार्थ, रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में यह सूचना कि रत्नावली की प्राप्ति देवी वासवदत्ता की प्रसन्नता से सम्भव है, अवमर्श है। यह अवमर्श अग्निदाह तथा उससे डरकर लोगों के भागने के वर्णन तक है। वेणीसंहार नाटक में भीमसेन दुर्योधन के रक्त से आप्लावित होकर आता है, उस वर्णन तक विमर्श या अवमर्श है।

निर्वहण : निर्वहण की जो परिभाषा भरत मुनि ने दी, उससे मिलती-जुलती, किन्तु दूसरे शब्दों में धनंजय ने परिभाषा दी। धनंजय की ही कारिका विश्वनाथ और शारदातनय ने अपनी पुस्तकों में अक्षरशः रख दी। नाट्यदर्पण में वही लक्षण दूसरे शब्दों में दिया गया है। रूपक के इतिवृत्त के बीज से युक्त मुखादि सन्धियों में इधर-उधर बिखरे हुए अर्थ जब एक प्रयोजन के लिए एक साथ समन्वित किये जाते हैं या समेटे जाते हैं, तो वहाँ निर्वहण-सन्धि होती है; जैसे—रत्नावली नाटिका में सागरिका, वसुमती आदि के कार्य मुख-सन्धि आदि में बिखरे पड़े थे। उन कार्यों का समाहार वत्सराज के ही कार्य के लिए होता है। वसुभूति की इस उक्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

वसुभूति (सागरिका को देखकर एक ओर) : 'बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री जैसी दिखाई पड़ती है।' अथवा अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तम अंक में शकुन्तला के परिज्ञान के बादवाली सम्पूर्ण कथा निर्वहण-सन्धि का उदाहरण है।

तीनों में पारस्परिक सम्बन्ध : कथानक की घटनाओं का विकास घात-प्रतिघात के सहारे आगे बढ़ता है। उसी का भारतीय रूप हमें नाटकीय सन्धियों में प्राप्त होता है। फिर भी मानना होगा कि नाटक-रचना के समन्वय को ध्यान में रखा जायगा, तो सन्धियों में घात-प्रतिघात से अधिक व्यापकता दिखाई देगी। परन्तु, समानता को ध्यान में रखकर देखें तो मुख-सन्धि में उत्सुकता, प्रतिमुख में कौतूहल, गर्भ में आशा-निराशावाली स्थिति, विमर्श में सन्देहात्मक स्थिति और निर्वहण में शमन मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१. नाट्यदर्पण, नाट्य-निर्णय, का० ३९

संस्कृत-नाटकों में वस्तु-तत्त्व की अर्थ-प्रकृतियाँ, कार्य की अवस्थाएँ तथा सन्धियाँ नाटक-रचना के तीन आयामों को ध्यान में रखकर बाँटी गई हैं, ऐसा प्रतीत होता है। अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु की विविध वस्तुस्थितियों की, अवस्थाएँ अभिनयात्मक व्यापार की तथा सन्धियाँ रचनात्मक प्रभाव की अवतारणा करने में सहायता करती हैं। वस्तु-विभाग का दृष्टिकोण रचनात्मक, व्यापार की अवस्थाएँ अभिनयात्मक घटना-विकास सम्बन्धी और सन्धियाँ प्रभावात्मक धरातल को स्पर्श करती हैं।

'वास्तव में, अर्थ-प्रकृति कथा के उचित संघटन का उपाय है; अवस्थाएँ नाटक के नायक की फल-प्राप्तिजन्य क्रियाओं की अवस्थाएँ हैं और सन्धियाँ इन अवस्थाओं को अनुकूल दिशा में ले जानेवाले उस घटनाचक्र के, जो अर्थ-प्रकृतियों से मिलकर पूरा इतिवृत्त या कथानक बन जाता है, विभिन्न अंग हैं।'[1]

सन्धियों के अंग : पाँचों सन्धियों में से प्रत्येक के अनेक अंग माने गये हैं, जिनका सम्पूर्ण योग ६४ है। मुख-सन्धि के बारह अंग हैं--उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भव, करण तथा भेद। मुख-सन्धि के बारह भेद बीज नामक अर्थ-प्रकृति तथा आरम्भ नामक अवस्था को व्यक्त करते हैं। आचार्यों का मत है कि इनका समावेश नाटक या रूपक में करना चाहिए। इनमें भी उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान नामक अंग का समावेश मुख-सन्धि में अत्यावश्यक माना गया है। प्रतिमुख-सन्धि के तेरह अंग माने गये हैं; यथा—विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्णसंहार। प्रतिमुख-सन्धि के तेरह अंगों का सम्पादन मुख-सन्धि के द्वारा डाले गये महाबीज तथा प्रयत्न नामक अवस्था के साथ किया जाना चाहिए। इन अंगों में भी परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास तथा पुष्प अधिक आवश्यक हैं। शेष अंगों का भी यथासम्भव प्रयोग करना चाहिए। गर्भ-सन्धि के बारह अंग माने जाते हैं; यथा—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुदान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, सम्भ्रम तथा आक्षेप। गर्भ-सन्धि के इन बारह अंगों का संयोजन प्राप्त्याशा नामक अवस्था के पोषक के रूप में करना चाहिए। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल तथा आक्षेप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। शेष का यथासम्भव प्रयोग करना चाहिए। अवमर्श-सन्धि के तेरह अंग माने गये हैं; यथा—अपवाद, संकट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, प्ररोचना, विरोधन, विचलन और आदान। इन तेरह अंगों में अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान प्रमुख हैं। शेष का भी यथासम्भव प्रयोग होना चाहिए। निर्वहण-सन्धि के चौदह अंग माने जाते हैं; यथा—सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, भूमिका, पृ० ४३

सन्धियों और सन्ध्यंगों के प्रयोजन : किसी रूपक में इन सभी सन्ध्यंगों का प्रयोग आवश्यक नहीं होता। भरत मुनि ने बताया है कि शायद ही सभी अंग एक ही रूपक में मिलें। कभी-कभी दो-चार से भी काम चल जाता है। कार्य और अवस्था को देखकर ही इन अंगों का प्रयोग किया जाता है। धनंजय ने यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं कही है, फिर भी उन्होंने इन अंगों के प्रयोग के कुछ विशेष प्रयोजनों का निर्देश किया है। ये प्रयोजन छह हैं, जो इस प्रकार हैं : १. इष्ट अर्थ की चर्चा, २ गोपनीय अर्थ को छिपाना, ३. प्रकाश्य अर्थ को प्रकाशित करना, ४. अभिनेय में राग की वृद्धि, ५. उसमें चमत्कार का समावेश और ६. काव्य के इतिवृत्त का विस्तार। इन ६४ अंगों से ये ६ प्रयोजन सम्पादित होते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि जहाँ आवश्यकता हो, वहीं इनका प्रयोग करना चाहिए।

वास्तव में रस तथा नायक के स्वभाव के अनुकूल ही किसी रूपक के कथानक की योजना की जाती है। उदाहरण के लिए व्यायोग को लिया जाय। इसका नायक उद्धत स्वभाव का होता है। इसका लक्ष्य शृंगार रस नहीं होता प्रत्युत दीप्त रस इसमें होते हैं। उद्धत स्वभाव का होने के कारण यह नायक प्रारम्भ के बाद यत्न करता है और शीघ्र ही फल-प्राप्ति के लिए अधीर हो जाता है। बीच की अवस्थाओं—प्राप्त्याशा तथा नियताप्ति—की उलझनों में पड़ने के लिए उसे धैर्य नहीं होता। उसे अविलम्ब फलागम ही चाहिए। अतः इसके कथानक की योजना उसके इसी हड़बड़ीवाले स्वभाव को ध्यान में रखकर करनी चाहिए, नहीं तो रस में बाधा पड़ने की सम्भावना रहती है। इसीलिए, व्यायोग के कथानक में गर्भ और विमर्श सन्धियों का समावेश नहीं हो पाता।

निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार के रूपक में किन अवस्थाओं और सन्धियों की आवश्यकता समझी जाती है और किन अवस्थाओं में नहीं।

रूपकों के नाम	**कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं**	**कौन-कौन सन्धियाँ होती हैं**	**कौन-कौन सन्धियाँ नहीं होतीं**
१. नाटक	सभी पाँचों	सभी पाँचों	—
२. प्रकरण	,,	,,	—
३. नाटिका	,,	,,	—
४. व्यायोग	प्रारम्भ, यत्न, फलागम,	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	गर्भ, विमर्श
५. ईहामृग	प्रारम्भ, यत्न, फलागम	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	गर्भ, विमर्श
६. समवकार	प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, फलागम	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, निर्वहण	विमर्श
७. डिम	,,	,,	,,
८. भाण	प्रारम्भ, फलागम	मुख, निर्वहण	प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श
९. प्रहसन	,,	,,	,,
१०. उत्सृष्टिकांक	,,	,,	,,
११. वीथी	,,	,,	,,

इन ६४ सन्ध्यंगों का विस्तृत विवेचन धनंजय-धनिक, विश्वनाथ तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में किया है। उन आचार्यों ने प्रत्येक सन्ध्यंग के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने तो अनेक सन्ध्यंगों के एक से अधिक उदाहरण दिये हैं। किन्तु, यहाँ इनके विवेचन में अधिक समय लगाना अनावश्यक प्रतीत होता है।

सन्धियों और सन्ध्यंगों की आवश्यकता या नहीं : नाटकीय इतिवृत्त के इस प्रकार के विभाजन के विषय में डॉ० कीथ सन्धियों के विभाजन को उचित मानते हैं; क्योंकि इनमें नाटकीय संघर्ष पर बल दिया जाता है और इनका लक्ष्य यह दिखाना है कि किस प्रकार नायक अनेक विघ्नों तथा विपत्तियों पर विजय प्राप्त कर फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। किन्तु, वे सन्धियों का विभाजन कर लेने के बाद अर्थ-प्रकृतियों की कल्पना व्यर्थ समझते हैं; साथ ही पाँच सन्धियों का पाँच अर्थ-प्रकृतियों तथा पाँच अवस्थाओं से मेल मिलाने की योजना दोषपूर्ण मानते हैं। डॉ० कीथ के ही शब्दों में—
"So far there is obviously force and reason in the analysis, which, if in needless elaboration, recognizes the essential need of a dramatic conflict, of obstacles to be overcome by the hero and heroine in their efforts to secure abiding union. The classification of elements of the plot is perhaps superfluous beside the junctures; its parallelism to the other two divisions is faulty, for it is admitted that the episode is not confined to the development, as it should be, but may extend into the pause and even into the conclusion."[१]

रूपक की कथावस्तु में सन्धियाँ आवश्यक हैं, विशेषतः नाटक की कथावस्तु में तो ये अत्यावश्यक हैं; क्योंकि उसे पंचसन्धि-समन्वित होना अनिवार्य है। नाटक के अतिरिक्त अन्य कई रूपकों में पाँच सन्धियों के स्थान पर कहीं-कहीं चार या तीन ही सन्धियाँ हो सकती हैं, यह दूसरी बात है।

सन्धियों से अधिक विवादास्पद विषय उनके अंग हैं। कुछ विद्वान् सन्धियों के इस विशाल विभागीकरण का समर्थन करते हैं, तो दूसरे कुछ विद्वान् इसका विरोध करते हैं और इसे जटिल तथा अनावश्यक बताते हैं। डॉ० कीथ की मान्यता है कि नाटक की कथावस्तु में इस जटिल विभागीकरण का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। उनका कथन है :

"But far more complex is the insistance on the subdivision of the five junctures into 64 members. The distinction, however, has no real value."[२]

---

१. The Sanskrit Drama, p. 299.
२. वही

प्रो० विल्सन ने इस विभागीकरण को धैर्य समाप्त करनेवाला बताया है :

"Each of these divisions in the Hindu System comprehends a number of subdivisions, Angas or members, to follow the description of which would be to exhaust any patience except Hindu."[१]

भरत मुनि अंगों का प्रयोग आवश्यक बताते हैं :

अङ्गहीनो नरो यद्वद् युद्धारम्भेऽक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत् ॥[२]

उनके अनुसार अंगहीन काव्य अंगहीन मनुष्य के समान असमर्थ है। रुद्रट का मत है कि प्रत्येक सन्ध्यंग का प्रयोग अपनी ही सन्धि में उचित है। परन्तु, अन्य विद्वान् सन्ध्यंगों के विषय में ऐसा नियम आवश्यक नहीं समझते। यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी नाटकादि में इन सभी ६४ सन्ध्यंगों का प्रयोग किया ही जाय। फिर भी, भट्टनारायण ने अपने नाटक वेणी-संहार में इन सभी सन्ध्यंगों का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है। परन्तु, परिणाम सर्वथा उत्तम नहीं हो सका है। वेणी-संहार के द्वितीय अंक में भानुमती और दुर्योधन का प्रेमालाप कृत्रिम तथा परम्परा के लिए ही जान पड़ता है। इस प्रेमालाप से काव्य के रस में बाधा ही पड़ी है, साथ ही दुर्योधन का चरित्र भी सम्यक् रूप से उपस्थित नहीं हो सका है। दुर्योधन का चरित्र उपस्थित करने में इससे बाधा ही पड़ी है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि पाँच सन्धियों का विभाजन तो नाटक-रचना में आवश्यक और उपयोगी है। इनसे नाटक के इतिवृत्त के आवश्यक मोड़ों का पता चलता है और कवि की कथानक-गठन की कुशलता प्रकट होती है। परन्तु, सन्धियों का ६४ अंगों में विभाजन अनावश्यक है। इससे जटिलता बढ़ाने के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं। सभी अंग जो तत्तत् सन्धियों में कहे गये हैं, व्यावहारिक दृष्टि से अनावश्यक हैं। धनंजय ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि अमुक-अमुक सन्धियों में अमुक-अमुक अंग आवश्यक हैं और शेष आवश्यक नहीं हैं। परन्तु, बहुधा देखा जाता है कि नाटक में आवश्यक बताते हुए भी अंगों का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है। जब हम धनिक द्वारा दिये हुए उदाहरणों पर दृष्टि डालते हैं, तो पाते हैं कि अनेक स्थलों पर सन्ध्यंगों का व्युत्क्रम हुआ है। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ द्वारा दिये गये उदाहरणों में भी ऐसी त्रुटि मिलती है। इस प्रकार, नाटक के व्यावहारिक रूप में प्रयोगवाली योजना उपयुक्त नहीं जान पड़ती। यदि कोई कवि सभी सन्ध्यंगों का समावेश अपने नाटक में करने पर तुल जाय, तो उसका नाटक उदाहरणों का संग्रहालय बनकर रह जायगा, नाटक तो नहीं ही होगा। उसमें स्वाभाविकता तथा नाटकीयता का सर्वथा अभाव ही रहेगा।

१. Dramas : H. N. Wilson, p. 47.
२. नाट्यशास्त्र, अध्याय १९, का० ५१

अतः, सन्ध्यंगों के जटिल विधान से बचना ही श्रेयस्कर है। इससे पाठक के धैर्य की ही परीक्षा होगी, नाटककार की प्रतिभा की नहीं।

हिन्दी-नाटक और सन्धि तथा अर्थ-प्रकृति : आजकल हिन्दी-नाटकों में कोई नाटककार सन्धियों और अर्थ-प्रकृतियों की योजना करने का प्रयत्न नहीं करता। हिन्दी-नाटकों में इसका निर्वाह कठिन तो समझा ही जाता है, साथ ही अनावश्यक भी समझा जाता है। अवस्थाओं का निर्वाह किया जा रहा है। परन्तु, आज के समस्या-नाटककार पश्चिम के प्रभाव के कारण पाश्चात्य नाटकों की ही पाँच अवस्थाओं की योजना करते हैं, भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अवस्थाओं की नहीं। आज का नाटककार चरम सीमा (Climax) को महत्त्व दे रहा है।

अंक : श्रव्य काव्य में कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सुविधा रहती है कि वह घटनाओं को जैसा चाहे विस्तार दे दे; उसे वस्तु की सीमा का बन्धन नहीं। परन्तु, दृश्य काव्य में ऐसा नहीं हो सकता। नाटककार को देश-काल की सीमा का बन्धन रहता है। नाटक की कथावस्तु को रंगमंच पर दिखाना होता है। इसीलिए, नायक के जीवन से सम्बद्ध सारी घटनाएँ सांगोपांग रूप से उसी तरह रंगमंच पर नहीं दिखाई जा सकतीं, जिस तरह श्रव्य काव्य में वर्णित हो सकती हैं। बहुत बड़ी कथा रंगमंच पर थोड़े ही समय में दिखानी होती है। सभी प्रसंग मार्मिक नहीं होते, परन्तु यदि दर्शक को सभी बातें नहीं बताई जाएँ तो कथानक उसकी समझ में नहीं आयगा।

फलस्वरूप नाटककार कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं का प्रदर्शन रंगमंच पर करा देता है, शेष गौण घटनाओं को पात्रों के वार्त्तालाप, नेपथ्य या किसी अन्य उपाय से सूचित करता है। इस प्रकार, रूपक की समस्त कथावस्तु के दो विभाग किये जाते हैं—दृश्य और सूच्य। कथावस्तु का वह अंश दृश्य कहलाता है, जो रंगमंच पर दिखाया जाता है और सुना भी जा सकता है। मधुर, उदात्त, रस तथा भाव से पूर्ण वस्तु का वह अंश, जो रंगमंच पर दिखाकर नाटक में नाटककार प्रभावोत्पादकता तथा रसमयता लाना चाहता है, दृश्य कहा जाता है। दृश्य का विधान अंक कहा जाता है। 'अंक' शब्द के प्रयोग का कारण केवल अनुमान का विषय है। संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग संख्या, चिह्न, गोद आदि अनेक अर्थों में होता है। परन्तु, नाटक में इन भावों से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। भरत के अनुसार यह रूढ शब्द है। भाव और अर्थों के द्वारा नाना विधानयुक्त होकर अर्थों का आरोप कराता है, इसलिए इसे अंक कहते हैं। इसका एक पुराना अर्थ उतार-चढ़ाव प्रकट करनेवाला घुमाव भी है। सम्भवतः, नाटकीय घटनाओं के आरोह-अवरोह प्रकट करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता रहा होगा।

भारतीय नाटक अंकों में विभाजित रहते हैं, जो ५ से १० तक रह सकते हैं। रूपक के अन्य भेदों में भी अंकों की संख्या निर्धारित है। ये अंक आजकल के नाटकों के समान दृश्य के समूह-मात्र नहीं हैं। भारतीय नाटक का अंक कई न्यूनाधिक विशृंखल दृश्यों से युक्त होता है। इसकी आगे दी गई कतिपय विशेषताएँ हैं :

(क) रूपक के नाटक नामक भेद में केवल राजा (नायक), उसकी रानी, उसका मन्त्री या ऐसे ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को महत्त्व मिलता है, किसी सामान्य पात्र को नहीं। इस तथ्य का तात्पर्य प्रभाव की अन्विति लाना जान पड़ता है।

(ख) इसमें वे ही घटनाएँ आती हैं, जो एक ही दिन में सम्पन्न हो जायँ। यदि ऐसा हो कि एक दिन की सभी घटनाओं का समावेश नहीं हो सके तो इन अतिरिक्त घटनाओं का संकेत प्रवेशक में किया जाता है। दो अंकों के बीच की घटनाओं की भी सूचना देने के लिए इसी विधि का व्यवहार किया जाता है। स्पष्टतः, प्रवेशक आदि का उतना महत्त्व नहीं हो सकता। किन्तु, नाट्यशास्त्र के अनुसार ये घटनाएँ एक वर्ष से अधिक की नहीं होनी चाहिए।

(ग) अंक में कुछ विशेष प्रकार की घटनाओं और दृश्यों का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। भरत मुनि ने रंगमंच पर कुछ प्रकार के दृश्य नहीं दिखाने का आदेश दिया है :

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरावरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि॥[1]

—अर्थात् युद्ध, राज्य-विप्लव, मृत्यु, नगर का घेरा आदि को अंक में प्रत्यक्ष नहीं दिखाकर प्रवेशक आदि से सूचित करना चाहिए।

विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निम्नलिखित कई प्रकार के विषय हैं, जिन्हें रंगमंच पर नहीं दिखाया जाना चाहिए :

१. युद्ध, राज्य-विप्लव, राज्य-भ्रंश, नगर का घेरा आदि दृश्य, जो राजनीतिक दृष्टि से गोपनीय या क्षोभपूर्ण हैं।

२. दूर से पुकारना, दूर की यात्रा आदि के दृश्य अव्यावहारिक तथा अस्वाभाविक होने के कारण रंगमंच के उपयुक्त नहीं हैं।

३. मृत्यु, वध, आत्महत्या आदि के दृश्य, जिनसे भय उत्पन्न होता है और हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु, यदि मृत व्यक्ति पुनः जीवित हो जाता है, तो यह दृश्य दिखाने में नाटककार को संकोच नहीं करना चाहिए; जैसे नागानन्द नाटक में।

४. चुम्बन, परिरम्भन, रतिक्रीड़ा, नखच्छद, दन्तच्छद आदि के दृश्य, जिनका रंगमंच पर दिखाना भारतीय नैतिकता के विरुद्ध है।

५. शयन, भोजन, विवाह, स्नान, अनुलेपन, वस्त्र पहनने का व्यापार आदि के दृश्य, जो व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखते हैं।

६. मलोत्सर्ग जैसे व्रीड़ाजनक दृश्य।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, का० २१

इनमें से कुछ दृश्य रंगमंच की सीमा के कारण नहीं दिखाये जा सकते। कुछ के मार्ग में भारतीय नैतिकता है और कुछ अन्य दृश्य दिखाने से प्रेक्षक का ध्यान मुख्य रस से हट जाने का भय रहता है, जिसका फल यह होगा कि नाटक जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, वह नहीं उत्पन्न हो सकता; उसमें बाधा पड़ जायगी।

इस विषय के बहुत थोड़े अपवाद संस्कृत-नाट्य-साहित्य में पाये जाते हैं। राजशेखर के नाटक 'विद्धशालभंजिका' के तीसरे अंक में विवाह-संस्कार दिखाया गया है। दूसरा उदाहरण 'पार्वती-परिणय' नाटक का है, जिसका विषय ही शिव-पार्वती का विवाह है। भास के 'उरुभंग' में दुर्योधन की मृत्यु का दृश्य दिखाया गया है।

वस्तुतः भारतीय नाटक आनन्द या रस की पवित्र साधना है। यहाँ केवल नग्न यथार्थ का चित्रण अभीष्ट नहीं। जिन व्यापारों में हृदयग्राही कला का स्थान है, उन्हीं का प्रदर्शन उचित माना गया है। स्नान-भोजनादि के प्रदर्शन में कला का स्थान कहाँ? पाश्चात्य प्रदर्शनों का अनुकरण करके हमारे यहाँ फिल्मों में जो अर्धनग्न दृश्य दिखाये जाते हैं, उनमें कामोत्तेजना के द्वारा भ्रष्टाचार के प्रचार के अतिरिक्त क्या लाभ है?

अर्थोपक्षेपक : वस्तु के वे अंश, जो नीरस हैं तथा रंगमंच पर जिनका दिखाया जाना रस-प्रवणता तथा नैतिकता के विरुद्ध है, सूच्य कहलाते हैं। इस स्थल पर धनंजय ने लिखा है :

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।[1]

—वे वस्तुएँ जो नीरस हैं, जिनमें रस-प्रवणता नहीं—जिनका मंच पर दिखाया जाना नैतिकता आदि के योग्य नहीं, वे संसूच्य या सूच्य कही जाती हैं। राष्ट्रीय विपत्ति, नगरावरोध, राजा का पतन, युद्ध, मृत्यु, हत्या आदि सामाजिक के मन को खिन्न कर देते हैं, इसलिए रंगमंच पर इनका दिखाना वर्जित है। उसी तरह अनेक प्रकार के दृश्य वर्जित हैं। लम्बी यात्रा या दूर से पुकारने के दृश्य अस्वाभाविकता के कारण वर्जित हैं। इन घटनाओं तथा वस्तु के अंशों की सूचना अर्थोपक्षेपकों से दी जाती है।

जो कथा दो दिनों से लेकर एक वर्ष तक की हो अथवा और भी विस्तृत हो, उसे भी अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सूचित करना चाहिए। जो कथा एक वर्ष से अधिक की हो, उसे एक वर्ष से कम की बना लेना चाहिए। भरत मुनि का प्रमाण है कि जो कथा मास-भर की है या वर्ष-भर की है, उसे अंकच्छेद के द्वारा सूचित करना चाहिए। कथा को एक वर्ष से अधिक की कभी न करें :

अङ्कच्छेदे कार्यं मासवृत्तं वर्षसञ्चितं वापि।
तत्सर्वं कर्त्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ५७

इसीलिए, श्रीरामचन्द्रजी ने यद्यपि १५ वर्ष के वनवास में अनेक राक्षसों का वध किया था, किन्तु भवभूति ने महावीरचरित में तथा राजशेखर ने बालरामायण में ये घटनाएँ थोड़े समय में ही दिखा दीं।

जो घटनाएँ सूच्य हैं—रंगमंच पर दिखाई नहीं जा सकतीं—उनकी सूचना पात्रों के संवाद के द्वारा दी जाती है। सूचना देनेवाले पात्र प्रायः अप्रधान होते हैं। कभी-कभी कथा-सूत्रों की सूचना यवनिका के पीछे से भी दी जाती है। इन कथा-सूत्रों के सूचना-प्रकार अर्थोपक्षेपक कहे जाते हैं। अर्थोपक्षेपक के पाँच भेद होते हैं।

विष्कम्भक : भूत तथा भविष्य की कथाओं की सूचना देनेवाला, कथा का संक्षेप करनेवाला अंक विष्कम्भक कहा जाता है। यह अंक के आरम्भ में रहता है तथा एक या दो मध्यम पात्रों के वार्त्तालाप के द्वारा कथांशों की सूचना देता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है— शुद्ध और संकीर्ण। एक अथवा दो मध्यम श्रेणी के पात्रोंवाला विष्कम्भक शुद्ध कहा जाता है। मध्यम श्रेणी के तथा अधम श्रेणी के पात्रोंवाला विष्कम्भक संकीर्ण या मिश्र कहा जाता है। ध्यान देने की बात है कि विष्कम्भक में कम-से-कम एक पात्र मध्यम श्रेणी का होना आवश्यक है। यदि दोनों पात्र अधम श्रेणी के ही रहेंगे, तो वह विष्कम्भक नहीं रहकर प्रवेशक हो जायगा।

नाटक के पात्र तीन प्रकार के माने गये हैं— उत्तम, मध्यम तथा अधम। राजा, मन्त्री, पुरोहित आदि उत्तम पात्र हैं; चोर, सेवक, सेविका, सिपाही आदि अधम पात्र हैं। शेष पात्र मध्यम श्रेणी के हैं। मध्यम श्रेणी के शिक्षित पुरुष संस्कृत बोलते हैं और अशिक्षित पात्र प्राकृत का कोई भेद बोलते हैं। विष्कम्भक का उदाहरण शकुन्तला नाटक के तृतीय अंक के आरम्भ में है, जहाँ कण्व ऋषि का एक शिष्य संस्कृत में बोलकर आश्रम में राजा के ठहरने के विषय में सूचना देता है। चतुर्थ अंक के भी आरम्भ में शकुन्तला की दो सखियों के द्वारा दुर्वासा के शाप की सूचना दी जाती है।

प्रवेशक : विष्कम्भक के समान प्रवेशक भी भूत तथा भविष्य के कथांशों की सूचना देता है। इसमें अधम पात्रों का प्रयोग किया जाता है, जो प्राकृत भाषाएँ बोलते हैं। इनकी प्राकृत भी विशिष्ट— शौरसेनी आदि— न होकर मागधी, शकारी आदि होती है। प्रवेशक की योजना अंक के आरम्भ में नहीं, प्रत्युत दो अंकों के बीच में की जाती है।

नीचे विष्कम्भक तथा प्रवेशक का अन्तर दिखाया जा रहा है।

विष्कम्भक	**प्रवेशक**
१. यह भूत तथा भविष्य के कथांशों की सूचना देता है।	१. यह भी भूत तथा भविष्य के कथांशों की सूचना देता है।
२. इसमें एक या दो मध्यम पात्र, एक मध्यम तथा दूसरा अधम पात्र का प्रयोग किया जाता है।	२. इसमें एक या दो अधम पात्रों का प्रयोग किया जाता है।

३. इसमें संस्कृत तथा शिष्ट (शौरसेनी आदि) प्राकृत भाषाएँ प्रयोग में लाई जाती हैं।	३. इसमें संस्कृत का प्रयोग कभी नहीं होता। प्राकृत भी शिष्ट नहीं, वरन् मागधी, शकारी आदि व्यवहार में आती हैं।
४. इसका प्रयोग रूपक के प्रथम अंक के भी पहले हो सकता है और दो अंकों के बीच में भी। विष्कम्भक का अच्छा उदाहरण शकुन्तला नाटक के चतुर्थ अंक का है।	४. इसका प्रयोग कभी भी रूपक के आरम्भ में नहीं होता, सदा दो अंकों के बीच में होता है। प्रवेशक का अच्छा उदाहरण शकुन्तला नाटक के षष्ठ अंक में है।

चूलिका : जहाँ कथांश की सूचना यवनिका के उस ओर स्थित पात्रों के द्वारा दी जाय, वहाँ चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक होता है। चूलिका में नेपथ्य-स्थित पात्र के ही द्वारा सूचना दी जाती है। उदाहरणार्थ, उत्तररामचरित के द्वितीय अंक के आरम्भ में आत्रेयी के आगमन पर वनदेवी नेपथ्य से उसका स्वागत करती है—**(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (तत्र प्रविशति तपोधना)।** महावीरचरित में भी चतुर्थ अंक के आरम्भ में नेपथ्य-स्थित पात्र के द्वारा सूचना दे दी गई है कि राम ने परशुराम को जीत लिया है।

अंकावतार : जहाँ पूर्व अंक के अन्त में उसकी कथा का विच्छेद किये बिना उसी के पात्रों के द्वारा अगले अंक की वस्तु चले, वहाँ अंकावतार होता है। ऐसे स्थलों पर विष्कम्भक अथवा प्रवेशक नहीं होता, अंकावतार ही होता है। उदाहरणार्थ, मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक के अन्त में विदूषक अगले अंक के कथांश की सूचना इस वाक्य से देता है—"तो तुम दोनों देवी के नाट्यगृह में जाकर संगीत की साज-सज्जा ठीक कर पूज्य मित्र के पास दूत भेज देना, अथवा मृदंग का शब्द ही इन्हें यहाँ से उठा देगा।" तत्पश्चात् मृदंग का शब्द सुनने पर दूसरे अंक के आरम्भ में सभी पात्र, प्रथम अंक में वर्णित पात्रों के शिष्य-शिक्षा-क्रम देखते हैं। इस प्रकार, पूर्व अंक की कथावस्तु अगले अंक में भी अविच्छिन्न रूप में अवतरित हुई है। इसलिए यह अंकावतार है।

अंकमुख : अंकमुख अथवा अंकास्य के विषय में विभिन्न आचार्यों में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है। भरत मुनि का मत है कि जहाँ किसी स्त्री या पुरुष के द्वारा किसी अंक की कथा का संक्षेप आरम्भ में ही कर दिया जाय, वहाँ अंकमुख होता है। इस सम्बन्ध में उनकी कारिका है :

विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
यत्र संक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमीष्यते ॥[1]

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १९, का० ११६

परन्तु धनंजय ने अंकास्य का दूसरा लक्षण लिखा। उनका मत है कि जहाँ एक अंक की समाप्ति के समय उस अंक के किसी पात्र के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाय, वहाँ अंकास्य होता है। अर्थात् अंकान्तपात्र के द्वारा अगले अंक में आनेवाली कथावस्तु की सूचना जहाँ दी जाय, उसे अंकास्य कहते हैं। इसका उदाहरण धनिक ने महावीरचरित के द्वितीय अंक के अन्त से दिया है, जहाँ सुमन्त्र आकर जनक तथा शतानन्द की कथा का विच्छेद करते हैं, और वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा परशुराम के आगमन की सूचना देते हैं। इस प्रकार, अगले अंक के आरम्भ की सूचना हो जाती है। तदनन्तर अगले अंक में वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा परशुराम बैठे हुए प्रवेश करते हैं और अंक आरम्भ होता है। धनंजय ने अंकास्य का लक्षण लिखा है :

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।[1]

—अर्थात् जहाँ एक अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाय, वहाँ अंकास्य कहलाता है।

साहित्यदर्पणकार ने जो मत उपस्थित किया है, वह भरत मुनि के मत पर आधृत है। उनका कथन है कि जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की सूचना दी जाय और वह बीजभूत अर्थ का सूचक हो, उसे अंकमुख कहते हैं :

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नाङ्कानां सूचनाखिला ।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत् ॥[2]

—अर्थात् जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की अविकल सूचना की जाय और जो बीजभूत अर्थ का सूचक हो, उसे अंकमुख कहते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने मालतीमाधव का प्रथम अंक लिया है, जहाँ अंक के आरम्भ में कामन्दकी और अवलोकिता ने आगे होनेवाली सभी बातों की सूचना दे दी है। विश्वनाथ ने अंकमुख के लक्षण में धनंजय का मत भी उद्धृत किया है। धनिक का दिया हुआ उदाहरण भी महावीरचरित के द्वितीय अंक का दिया है। शारदातनय ने भी भावप्रकाशन में वही कारिका रख दी है : **अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।**[3]

शारदातनय ने अंकास्य का वही लक्षण दिया, जो धनंजय ने दिया और उदाहरण भी धनिक का दिया हुआ महावीरचरित के द्वितीय अंक से है। उन्होंने अंकमुख का दूसरा भी लक्षण दिया है, जो विश्वनाथ ने भी दिया है। उदाहरण भी विश्वनाथ ने वही दिया है, जो मालतीमाधव से लिया गया है।

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाशन, का० ६२

२. साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६, का० ५९

३. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, का० ६०

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी नाट्यदर्पण में वही लक्षण दिया है, जो धनंजय ने दशरूपक में दिया। लक्षण के शब्द भी मिलते-जुलते हैं :

अङ्कास्यमन्तपात्रेण छिन्नाङ्कमुखयोजनम्।[1]

उन्होंने भी धनंजय के समान अंकास्य कहा, अंकमुख नहीं। उन्होंने उदाहरण भी वही महावीरचरित के द्वितीय अंक के अन्तवाला दिया है, जो धनिक ने दशरूपक की टीका में दिया है। डॉ० कीथ ने भी धनंजय के ही मत का समर्थन किया है और विश्वनाथ का मत दोषपूर्ण बताया है।

विश्वनाथ का दिया हुआ अंकमुख का लक्षण भरत मुनि की कारिका पर आधृत है और उससे भी अधिक स्पष्ट है। भरत के ही समान विश्वनाथ ने भी अंकमुख कहा है, अंकास्य नहीं। भरत ने अंकमुख का वर्णन अंकावतार के बाद किया है; यही क्रम विश्वनाथ ने भी रखा। विश्वनाथ ने धनंजय के अनुकरण पर अंकास्य का वर्णन किया और वे ही लक्षण और उदाहरण भी रख दिये। परन्तु, वे धनंजय के मत से पूर्ण सहमत नहीं दिखाई देते और इसीलिए धनंजय की कारिका उद्धृत करके वृत्ति भी लिख देते हैं : **'एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु अङ्कावतारेणैवेदं गतार्थम् इत्याहुः।'** जान पड़ता है कि विश्वनाथ को धनंजय-धनिक का मत पसन्द नहीं था; धनिक-विरोधी मत ही उन्हें पसन्द था, परन्तु वे 'अन्ये' शब्द लिखकर अपने ऊपर यह विरोध का श्रेय नहीं रखना चाहते। वस्तुतः, धनंजय-धनिक की अपेक्षा विश्वनाथ का मत अधिक पुष्ट जान पड़ता है।

संवाद या कथोपकथन : हमारे प्राचीन नाट्याचार्यों ने संवाद या कथोपकथन को भी वस्तु के ही अन्तर्गत रखा है। उन्होंने इसे कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना। परन्तु, इससे संवाद के महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। संवाद नाटक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है।

संवाद से नाटक की अनेक सूक्ष्म बातें समझने में दर्शक को सहायता मिलती है। इससे कथानक में विकास तो होता ही है, पात्रों के विचारों, भावों, प्रवृत्तियों आदि के विकास का भी पता चलता है। नाटकों में कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अभिनय से नहीं होता, वहाँ संवाद के ही द्वारा वे बातें सूचित की जाती हैं। उस दशा में संवाद अभिनय का एक अंग बन जाता है। इस प्रकार, संवाद का महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है; क्योंकि कथावस्तु के विकास के साथ उसकी व्याख्या भी इसी पर अवलम्बित हो जाती है।

संवाद या कथोपकथन से चरित्र-चित्रण में भी बहुत सहायता ली जाती है। जब कई पात्र आपस में वार्त्तालाप करते हैं तो उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और फिर जब वे किसी अन्य पात्र के विषय में कुछ कहते हैं तब भी उस अन्य पात्र के चरित्र के

---

१. **नाट्यदर्पण, नाटक-निर्णय, का० २६**

विषय में अनेक तत्त्व ज्ञात होते हैं। जो नाटककार अपने नाटक की रचना या पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर करते हैं, वे कथोपकथन को ही अपना प्रधान आधार बनाते हैं। नाटककारों को इस बात का ध्यान रखना होता है कि संवाद अत्यधिक विस्तृत होकर ऊब पैदा करनेवाला न बन जाय, साथ ही अस्वाभाविकता से बचा रहे। यदि किसी पात्र से स्वयं उसी के विषय में कुछ कहलाने की आवश्यकता पड़े, तो इस प्रकार कहलाने की व्यवस्था की जानी चाहिए कि उसमें कहीं भी कोई अस्वाभाविकता नहीं आने पावे। कुशल नाटककार ऐसा प्रयत्न करते हैं कि प्रधान पात्रों के विशेष गुणों का स्पष्ट ज्ञान उनके कथोपकथन के द्वारा दर्शक को शीघ्र ही हो जाय। यदि कोई नाटककार अपने किसी पात्र का कोई विशेष गुण पहले छिपाकर और पीछे प्रकट करके दर्शक के मन में आश्चर्य उत्पन्न करना चाहता है तो वह आरम्भ में ऐसा प्रबन्ध करता है कि पात्र का यथार्थ रूप प्रकट होने पर दर्शक को आश्चर्य के साथ असीम आनन्द की भी प्राप्ति हो। कथोपकथन के द्वारा किसी पात्र का चरित्र-चित्रण करते समय नाटककार को ध्यान रखना होता है कि उस पात्र के विषय में अन्य पात्रों के द्वारा कहे गये वाक्य परस्पर विरोधी नहीं हों और सभी कथनों का लगभग एक साथ ही अभिप्राय हो। यह दूसरी बात है कि किसी पात्र के विरोधी या शत्रु के द्वारा दूसरे प्रकार की भी बातें कहलाई जायँ।

नाटककार अभिव्यक्ति के लिए कथोपकथन का सहारा लेता है और भावात्मक प्रभाव के कारण दर्शकों में रस की निष्पत्ति होती है। भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने जिन तीन तत्त्वों को नाटक के लिए आवश्यक माना है, उनमें कथोपकथन का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु भारती वृत्ति और वाचिक अभिनय का विवेचन करते समय कथोपकथन की चर्चा विस्तार से की है। यदि विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि कथोपकथन का समावेश रचनागत शैली और अभिनय में होता है।

नाटक में भाषा की अभिव्यक्ति कथोपकथन के अनेक रूपों में ही दिखाई देती है। नाटक का विकास घटना और चरित्र के सहारे होता है और उसका अधिकतर रूप दर्शक के सम्मुख कथोपकथन में ही आता है, जो अभिनय के समय प्रकट होता है। कथोपकथन में जीवन की वास्तविकता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है और कलात्मक समन्वय की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। प्राचीन नाटकों में पद्यात्मक सवाद मिलता है। आज के युग में वह अनुपयुक्त है, परन्तु प्राचीन काल की परिस्थिति में उसका उपयोग अवांछनीय नहीं माना जा सकता। वैसे पद्यात्मक संवाद के द्वारा नाटककार एक ओर तो नाटकीय वातावरण उपस्थित करता था और दूसरी ओर उसे भावों में अनुरूपता लाने में सुविधा होती थी। परन्तु, आज गद्य का ही उपयोग अधिक उचित है; क्योंकि इससे तर्क के द्वारा विचारात्मक भाव का उद्रेक करके प्रेक्षक में अनुभूति के लिए आधार का निर्माण किया जाता है।

गद्य की इस समन्वयशील शैली के प्रयोग से आधुनिक नाटककार की प्रतिभा की जाँच होती है। उसे एक-एक शब्द को तौलकर प्रयोग में लाना होता है, उसे देखना होता है कि प्रत्येक शब्द अपने प्रयोग से कार्य और चरित्र की किस विशेषता को अभिव्यक्त करता है। 'आधुनिक कथोपकथनों में भावना और मनोवेगों के उद्रेक के साथ शब्दों का प्रयोग नहीं होता, वरन् उनके प्रयोग से भावना और विचारों के गम्भीर-से-गम्भीर और अव्यक्त-से-अव्यक्त सत्य का संकेत मिलता है।'[1]

प्राचीन नाटकों में पूर्वीय तथा पश्चिमीय देशों में कथोपकथन के सम्बन्ध में लगभग एक ही स्थिति है। उनमें नाटककार भावात्मक पद्य-शैली से चरित्र के विकास तथा कार्य की घटनाओं के स्वरूप का संकेत देता है।

संवाद-योजना के कुछ सिद्धान्त : नाटक में संवाद-योजना के लिए नाटककार को कुछ सिद्धान्तों को ध्यान में रखना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

१. संवाद स्वाभाविक होना चाहिए, अर्थात् पात्र की प्रकृति के अनुरूप ही संवाद की योजना करनी चाहिए।

२. संवाद की परिमिति पर भी ध्यान देना चाहिए। यह उतना ही होना चाहिए, जिससे कथा के विस्तार और नाटकीय चरित्र के विकास में सहायता मिले।

३. संवाद की भाषा दर्शकों की समझ में आने के योग्य होनी चाहिए। इसमें दार्शनिक तथा पारिभाषिक पदावली का प्रयोग नहीं होना चाहिए और न ऐसे विषयों का विवेचन ही होना चाहिए।

४. संवादों में एक स्तर से उत्तर-प्रत्युत्तर की योजना होनी चाहिए, जिससे वे संवाद सजीव हो जायँ। ऐसा नहीं होना चाहिए कि एक ही व्यक्ति या अनेक व्यक्ति लम्बे भाषण देते रहें।

५. संवाद लम्बा नहीं होना चाहिए, केवल उतना ही लम्बा होना चाहिए जितना लम्बा उस परिस्थिति में आवश्यक और स्वाभाविक हो।

६. छोटे-छोटे और चुभते वाक्यों का संवाद बहुत प्रभावशाली होता है, इसके विपरीत लम्बे-लम्बे और पेचीदे वाक्योंवाला नीरस और प्रभावहीन होता है।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त नाटककार को कुछ नाट्य-परिस्थितियों का भी पालन करना आवश्यक होता है। वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित शब्दों में रखी जा सकती हैं :

१. दो या तीन व्यक्तियों के ही बीच में संवाद लगातार नहीं चलना चाहिए। थोड़े-थोड़े समय पर उनमें कुछ नये पात्रों का आगमन और कुछ पुराने पात्रों का निष्क्रमण होते

---

१. नाट्यकला, डॉ० रघुवंश, पृ० ८६

रहना चाहिए। फिर नीरसता दूर करने के विचार से पात्रों को कुछ आंगिक व्यापार भी करते रहना चाहिए; जैसे उठना-बैठना, फल-फूल चुनना, घूमना, कुछ उठाना और रखना आदि।

२. संवाद केवल वाचिक नहीं होना चाहिए प्रत्युत उसमें सात्त्विक और आंगिक अभिनय के लिए भी पूर्ण अवकाश होना चाहिए।

संवाद के भेद : भारतीय प्राचीन नाट्याचार्यों ने वस्तु के तीन विभाग किये हैं—सर्वश्राव्य, जो सभी के सुनने के योग्य हो; नियतश्राव्य, जो कुछ ही लोगों के सुनने के योग्य हो और अश्राव्य, जो किसी के सुनने के योग्य नहीं हो। सर्वश्राव्य को प्रकाश कहते हैं; क्योंकि यह रंगमंच पर उपस्थित सभी पात्रों के सुनने के लिए कहा जाता है।

स्वगत : अश्राव्य को स्वगत या आत्मगत कहते हैं; क्योंकि यह रंगमंच पर उपस्थित किसी भी पात्र के सुनने के लिए नहीं कहा जाता है। वक्ता अपने ही मन में कहता है या इस ढंग से कहता है कि जान पड़ता है कि वह अपने मन में कुछ कह रहा है; उसे रंगमंच पर के किसी पात्र को सुनाना अभीष्ट नहीं है। जहाँ उपन्यास-लेखक अपनी ओर से प्रत्यक्ष रूप में टीका-टिप्पणी करता है, वहाँ नाटककार स्वगत भाषण का उपयोग करता है। नाटककार स्वगत भाषण से पात्र के उन विचारों आदि की ओर संकेत करता है, जिन्हें वह प्रत्यक्ष संवाद में नहीं प्रकट कर सकता। किसी व्यक्ति का इस प्रकार अपने-आप बोलना अस्वाभाविक लगता है, परन्तु नाटक की कुछ विशेष परिस्थितियों में पात्र को स्वयं अपने से बात करने की आवश्यता पड़ती है।

यदि कोई पात्र किसी अन्य पात्र का कोई अनिष्ट करने जा रहा है और किसी अन्य पात्र को अपना विचार जानने नहीं देना चाहता, तो दर्शकों को इस बात की जानकारी देने के लिए नाटककार को स्वगतकथन के अतिरिक्त और कोई अन्य साधन नहीं रह जाता। स्वगतकथन में पात्र मानों कुछ सोचता रहता है और शब्द अनायास ही उसके मुख से निकलते जाते हैं। यदि कोई दूसरा पात्र वे शब्द सुन लें, तो बोलकर सोचने-वाले पात्र के सभी उद्देश्य निष्फल हो जायँ। स्वगतों का स्वरूप मनोभावों के स्वरूप को दर्शकों के सामने लाने के लिए किया जाता था। कुछ स्वगत भाषण संसार की सुन्दरतम कविता के उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं।

परन्तु, जो कुछ हो, नाटककार को स्वगत कथन का कम-से-कम उपयोग करना चाहिए; क्योंकि इसके उपयोग से नाटक में अस्वाभाविकता आ जाती है। पाश्चात्त्य देशों के नाट्यशास्त्री और आलोचक इसे पुरानी और अनुचित पद्धति मानने लगे हैं। कुछ नाटककार इससे बचने के लिए आवश्यकतानुसार एक नये उपाय का आश्रय लेने लगे हैं। जहाँ किसी पात्र को ऐसी आवश्यकता आ पड़ती है, वहाँ नाटककार रंगमंच पर एक ऐसे पात्र का प्रवेश करा देता है, जो उस पात्र का विश्वसनीय होता है। इस दशा में

वह पात्र अपनी सारी बातें उस विश्वसनीय व्यक्ति से कह देता है। कुछ आधुनिक नाटककार ऐसे अवसरों पर टेलीफोन आदि का भी उपयोग करते हैं।

नियतश्राव्य : नियतश्राव्य को रंगमंच-स्थित सभी पात्र नहीं सुन सकते। यह स्वगत के समान भी नहीं होता; क्योंकि स्वगत को रंगमंच-स्थित कोई भी पात्र नहीं सुन सकता। नियतश्राव्य रंगमंच पर उपस्थित कुछ ही पात्रों के सुनने के योग्य होता है। इसके दो भेद होते हैं : १. जनान्त या जनान्तिक और २. अपवारित।

जनान्तिक : रंगमंच पर अन्य पात्रों के रहते भी, जहाँ दो पात्र आपस में इस प्रकार मन्त्रणा करें कि उन्हें अपनी बात दूसरों को सुनाना अभीष्ट नहीं हो, वहाँ जनान्तिक होता है। ऐसे वार्त्तालाप के समय अन्य पात्रों की ओर त्रिपताकाकर से हाथ से संकेत करके इस बात की सूचना दी जाती है कि उन पात्रों को सुनने से मना किया जा रहा है। दर्शक भी समझ जाता है कि दो ही पात्र आपस में बातें कर रहे हैं और अन्य पात्र नहीं सुन रहे हैं। त्रिपताकाकर का लक्षण बताया गया है। रंगमंच पर जिस पात्र को कोई विशेष बात सुनाना अभीष्ट नहीं हो, उसकी ओर हाथ की सभी अंगुलियाँ ऊँची करके अनामिका अंगुली टेढ़ी रखना त्रिपताका कहा जाता है और इस ढंग से हाथ करना त्रिपताकाकर कहा जाता है। इस ढंग से अन्य पात्रों का वारण करके दो पात्रों का वार्त्तालाप करना जनान्तिक कहा जाता है।

अपवारित : जहाँ मुँह दूसरी ओर करके कोई पात्र रंगमंच पर किसी दूसरे पात्र से गुप्त बात कहता है, उसे अपवारित कहते हैं। अपवारित में कोई पात्र किसी अन्य एक ही पात्र को अपनी बात सुनाना चाहता है। सामाजिक के लिए तो ये सारे प्रकाश, नियतश्राव्य और अश्राव्य संवाद श्राव्य ही होते हैं।

अपवारित और जनान्तिक कथोपकथनों में अभिनय का तत्त्व सम्मिलित है। इससे घटनाओं के गुप्त रूप का भी संकेत मिलता है। पाश्चात्य नाटकों में नियतश्राव्य के प्रयोग से सामाजिक को विचारों और कार्यों में अन्तर की सूचना मिलती है। कभी-कभी पात्र के विचार सुनकर दर्शक के मन में हँसी का संचार होता है।

आकाशभाषित : रंगमंच पर कभी-कभी आकाशभाषित का भी सहारा लिया जाता है। कोई पात्र 'क्या कहते हो?' आदि कहता हुआ किसी अन्य पात्र के बिना ही वार्त्तालाप करता है, जैसे वह सचमुच किसी से वार्त्तालाप करता हो, और दूसरे के बिना कहे भी वार्त्तालाप करता जाता है। इस एकाकी वार्त्तालाप को आकाशभाषित कहते हैं। यह श्राव्य कथोपकथन की एक विशेष प्रणाली है। इसमें रंगमंच पर स्थित पात्र अदृश्य व्यक्ति से वार्त्तालाप करता है। एक ही व्यक्ति प्रश्न उपस्थित करके उसका उत्तर देता है। इसमें पात्र ऐसा अभिनय करता है कि दर्शक को जान पड़ता है कि कोई व्यक्ति उससे पूछ रहा है और वह उसका उत्तर दे रहा है। कभी-कभी इस प्रकार का कथन बहुत मनोरंजक तथा लाभप्रद सिद्ध होता है और इससे दृश्य की सुन्दरता में वृद्धि हो जाती है।

एक पात्रवाले भाण आदि रूपकों में आकाशभाषित का बहुत प्रयोग होता है। आधुनिक युग के एकाभिनय में इस आकाशभाषित का अस्तित्व देख सकते हैं। आकाश-भाषित का अच्छा उदाहरण 'सत्यहरिश्चन्द्र नाटक' के उस दृश्य में मिलता है, जब राजा हरिश्चन्द्र बिकने के लिए काशी की गलियों में घूम रहे हैं। वे उस समय 'क्या कहा ?' कहकर कई प्रश्नों के उत्तर देते जाते हैं। मुद्राराक्षस के द्वितीय अंक के आरम्भ में सँपेरा आकर कहने लगता है—'महाराज, क्या कहा ? तू कौन है ?' आदि। भारतेन्दुजी का भाण '**विषस्य विषमौषधम्**' में आकाशभाषित का बहुत प्रयोग किया गया है।

स्वगत, नियतश्राव्य, आकाशभाषित, नेपथ्य से भाषण आदि को आधुनिक नाटककार और आलोचक अस्वाभाविक मानते हैं। जनान्तिक, अपवारित और आकाश-भाषित तो प्रत्यक्ष रूप से अस्वाभाविक हैं ही। यह सर्वथा असम्भव तथा असंगत है कि रंगमंच पर उपस्थित व्यक्तियों के सामने वार्त्तालाप हो, जिसे सभी दर्शक सुन लें, परन्तु रंगमंच पर स्थित पात्रों में से कुछ लोग सुनें, किन्तु शेष कोई न सुन सके। स्वगत के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। एक युग था जब यूरोपीय रंगशालाओं में स्वगत का बहुत महत्त्व था और बहुत-से स्वगत भाषण विश्व-साहित्य की अमर विभूति बन गये हैं। परन्तु, आज के नाटककार स्वगत भाषण का यथासम्भव बहिष्कार कर रहे हैं। भारतीय तथा विदेशी नाटकों में सर्वश्राव्य संवाद को ही मान्यता दी जा रही है।

इसलिए, नाटक में अश्राव्य और नियतश्रव्य संवादों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। ऐसे संवाद सर्वथा अस्वाभाविक हैं।

स्वगत, नियतश्राव्य, आकाशभाषित, नेपथ्य से भाषण—सबका उद्देश्य घटना और पात्र की अनावश्यक उपस्थिति से वस्तु-प्रवाह की रक्षा ही है। कुछ अंश में आधुनिक रंगमंच पर भी इनका उपयोग आवश्यक होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारे मनोवेगों का उद्वेग वाणी से स्वगत निकल पड़ता है। परन्तु, नाटक में ऐसा प्रयोग बहुत ही संक्षिप्त तथा व्यजंक होना चाहिए।

अरस्तू और कथावस्तु : ग्रीक काव्यशास्त्री अरस्तू ने त्रासदी को और वस्तुतः समस्त नाट्य को, अनुकरणात्मक माना है। उन्होंने कथावस्तु को कार्य का अनुकरण माना है—"Hence the plot is the imitation of action; by the plot I here mean the arrangement of action."[१]

अरस्तू ने कथावस्तु के निर्माण को सर्वाधिक महत्त्व दिया है :

"For tragedy is an imitation, not of men, but of an action and of life, and life consists in action, and its end is a mode of action, not of a quality."[२]

---

१. Aristotle's *Poetics*, translated by S. H. Butcher, p. 25

२. वही, पृ० २७

चरित्र से मनुष्य के गुणों का पता चलता है, परन्तु अपने कार्यों के ही फलस्वरूप मनुष्य सुखी या दुःखी होता है; अतः नाटकीय कार्य चरित्र के प्रस्तुतीकरण के लिए नहीं होता, प्रत्युत कार्य के प्रस्तुतीकरण में चरित्र गौण रूप से आ जाता है। अतः, अरस्तू का विचार है कि घटनाएँ तथा कथावस्तु ही किसी त्रासदी का मुख्य उद्देश्य है और उद्देश्य की ही प्रधानता होती है। फिर कार्य के बिना त्रासदी का अस्तित्व ही नहीं होता, भले ही उसमें चरित्र का अभाव हो जाय। यदि चरित्र को द्योतित करनेवाले और विचारपूर्ण कुछ भाषण या वक्तव्य एकत्र कर लिये जायँ तो उससे अभीष्ट त्रासद प्रभाव उस मात्रा में उत्पन्न नहीं हो सकता, जिस मात्रा में उस नाटक से हो सकता है, जिसमें इन गुणों में अपूर्ण रहने पर भी घटनाओं से कलात्मक रूप से सुसज्जित कथावस्तु हो। इसका प्रमाण यह है कि नवीन तथा अपरिपक्व नाटककार शैली तथा चरित्रांकन में पहले सफलता प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु कथावस्तु के निर्माण में उन्हें विलम्ब से सफलता मिलती है। प्रायः सभी नाटककारों की प्रारम्भिक रचनाओं में यह बात देखी जा सकती है। अतः, त्रासदी में कथावस्तु को प्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और यही किसी त्रासदी की, एक प्रकार से, आत्मा है।

कथावस्तु के विषय में अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में अनेक सारभूत वस्तुओं का उल्लेख किया है। त्रासदी की कथावस्तु का विस्तार विशद होना चाहिए। यदि विस्तार अत्यल्प हो जाय तो उचित गौरव का अनुभव नहीं हो सकता और यदि विस्तार अत्यधिक हो जाय तो पूरे कथानक को एक साथ ग्रहण करना कठिन हो जायगा। अतः, आवश्यकता को ध्यान में रखकर कथानक का विस्तार अधिक-से-अधिक होना चाहिए। विस्तार के अभाव में नायक के भाग्य-परिवर्त्तन का उचित चित्रण होना कठिन है और उससे रोचकता की कमी हो जाती है; क्योंकि त्रासदी वास्तव में नायक के जीवन में उसी की भूल के कारण सफलता से असफलता या सौभाग्य से दुर्भाग्य के परिवर्त्तन की अभिव्यक्ति है। क्रियान्विति के विषय में निर्दिष्ट नियमों के पालन से, त्रासदी की कथावस्तु में एकाग्रता तथा सुडौलपन का आविर्भाव होता है। अरस्तू ने इस बात पर विशेष आग्रह किया है कि आख्यानों को केवल एक साथ रख देने से ही त्रासदी की कथावस्तु का उचित निर्माण नहीं हो जाता, वरन् उपयुक्त रीति से उनकी व्यवस्था करनी होती है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध घटनाओं एवं तथ्यों को एक साथ रख देने से ही प्रभावान्विति की सृष्टि नहीं हो जाती।

अरस्तू ने कथावस्तु के ही सन्दर्भ में त्रासदी के प्रभाव अथवा उद्देश्य का भी विवेचन किया है। त्रासदी का उद्देश्य है—दया और भय के भावों को प्रभावित करके उनका शोधन करना। यही कथरसिस या रेचन का प्रसिद्ध सिद्धान्त है, जिसके विषय में १६वीं शती से अबतक निरन्तर वाद-विवाद होते रहे हैं। वस्तुतः, अरस्तू ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो के उत्तर में किया था। प्लेटो ने कविता पर यह आरोप लगाया था कि इससे भावों का संतुलन नष्ट हो जाता है और मानसिक दुर्बलता बढ़ती है। इसके विपरीत अरस्तू ने

स्पष्टतः कहा है कि त्रासदी की प्रेरणा द्वारा मानसिक तथा रागात्मक विकार नष्ट होते हैं और मन में शान्ति तथा स्थिरता का उदय होता है। रेचन की प्रक्रिया के विषय में समय-समय पर अनेक शंकाएँ उठाई गई हैं। उत्तर के रूप में कहा गया है कि कथारसिस की कल्पना चिकित्सात्मक है और इसका सम्बन्ध उस सिद्धान्त से है, जिसके अनुसार आधुनिक होमियोपैथ रोगों के उग्र रूप के शमन के लिए औषधियों द्वारा उन्हीं रोगों के अनुग्र लक्षण उत्पन्न करते हैं।

अरस्तू द्वारा दी गई परिभाषा के अनुसार त्रासदी ऐसे कार्य का अनुकरण है, जो पूर्ण तथा एक विशेष आयाम से युक्त होता है। पूर्ण वह है, जिसमें आदि, मध्य तथा अन्त होते हैं। अरस्तू ने आदि, मध्य तथा अन्त की परिभाषा दी है :

'A beginning is that which does not itself follow anything by casual necessity, but after which something naturally is or comes to be. An end on the contrary, is that which itself naturally follows something, either by necessity, or as a rule, but has nothing following it. A middle is that which follows something as something follows it.'[1]

अतः, एक सुगठित कथावस्तु का न तो आरम्भ ही और न अन्त ही अव्यवस्थित रूप से होता है, प्रत्युत इन सिद्धान्तों के अनुकूल होता है। नाटककार की अधिक सफलता कथावस्तु को संयत करने में है। उसे कथावस्तु को काफी काट-छाँटकर थोड़े समय में खेलने-योग्य बनाना पड़ता है। इसलिए, नाटककार को आवश्यक हो जाता है कि वह एक पंक्ति को क्या, एक शब्द को भी अधिक नहीं लिखे। चुस्ती नाटक की कथावस्तु का सर्वश्रेष्ठ गुण है। नाटककार की कथावस्तु-सम्बन्धी इन्हीं समस्याओं के कारण बर्नार्ड शॉ ने लिखा है :

"Plot has always been the curse of serious drama and indeed of serious literature of any kind.'

अरस्तू ने नाटक की दीर्घता या परिमाण के विषय में कोई निश्चित नियम देने का प्रयास नहीं किया। उनके अनुसार नाटक को एक निश्चित परिमाण की आवश्यकता होती है—ऐसा परिमाण जो स्मरण-शक्ति के लिए सहज ग्राह्य हो। परिमाण की सीमा कला-सिद्धान्त का कोई अंग नहीं है। किन्तु, नाटक की प्रकृति द्वारा ही निश्चित सीमा निम्नलिखित है :

परिमाण जितना बड़ा होगा, नाट्य-कृति उतनी ही सुन्दर होगी, बशर्त्ते कि सम्पूर्ण सुबोध तथा स्पष्ट हो। यदि मोटे तौर पर इसकी परिभाषा की जाय तो हम कह सकते हैं कि ऐसी सीमाओं का क्रम, सम्भाषण या आवश्यकता के सिद्धान्त के अनुसार दुर्भाग्य से सौभाग्य और सौभाग्य से दुर्भाग्य में परिवर्त्तन भी स्वीकार कर सकता है।

---

१. Aristotle : *Poetics*, translated by S. H. Butcher, p. 31.

यह बताना कवि का काम नहीं है कि क्या घटनाएँ हो चुकी हैं, प्रत्युत यह बताना कि क्या होने की सम्भावना है—सम्भावना या आवश्यकता के नियम के अनुसार क्या सम्भव है। कवि और इतिहासकार में अन्तर यह नहीं है कि एक पद्य में लिखता है और दूसरा गद्य में। किसी इतिहासकार की रचना यदि पद्य में भी हो, तो भी वह इतिहास ही है। वास्तविक अन्तर यह है कि इतिहास बताता है कि क्या घटना हुई है और कवि बताता है कि क्या घटना होने की सम्भावना है। अतः, कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक तथा उच्चतर वस्तु है।

अन्वितियाँ या संकलन-त्रय

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक और काव्यशास्त्री अरस्तू ने त्रासदी में अन्वितियों पर बल दिया है। अन्वितियाँ तीन मानी गई हैं—कार्यान्विति (Unity of action), कालान्विति (Unity of time) और स्थानान्विति (Unity of place)। त्रासदियों में कथानक का ऐसा निर्माण होना चाहिए कि कार्यों में कोई विशृंखलता नहीं, वरन् एकता तथा गठन रहे। इसी प्रकार काल तथा स्थान में भी एकता रहे। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कथानक की घटना घटित होने में वर्षों का समय लग जाय तथा घटना-स्थलों में सैकड़ों-हजारों मील का अन्तर पड़ जाय।

प्राचीन ग्रीक नाटकों में इन अन्वितियों का प्रधान स्थान होता था। परन्तु आधुनिक युग में फ्रांसीसी नाटकों के अतिरिक्त ये अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देतीं, फिर भी इनका विवेचन करना आवश्यक है। भारतीय नाटकों पर बहुधा आक्षेप किया जाता है कि इनमें अन्वितियों या संकलन-त्रय पर ध्यान नहीं दिया जाता। भारतीय नाटकों में इनका स्थान दिखलाने का यहाँ प्रयत्न किया जायगा। ग्रीकों ने यह सिद्धान्त बनाया था कि आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण नाटक किसी एक ही कृत्य के विषय में हो, किसी एक ही स्थान का हो और एक ही दिन का हो। दूसरे शब्दों में कहा जाय कि एक दिन में और एक स्थान पर जो कुछ कार्य हुआ हो, उसी का अभिनय एक बार में होने का नियम बनाया गया।

अरस्तू ने अपनी पुस्तक Poetics के आठवें परिच्छेद के आरम्भ में लिख दिया है कि वस्तु की अन्विति का अर्थ नायक की अन्विति नहीं है; क्योंकि एक ही मनुष्य के जीवन में असंख्य घटनाएँ घटित होती रहती हैं, जिन्हें एक घटना में परिणत नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एक मनुष्य के अनेक कार्य होते हैं, जिन्हें एक कार्य बना देना सम्भव नहीं है। इस स्थल पर अरस्तू ने लिखा है :

'Unity of plot does not, as some persons think, consist in the unity of the hero, for infinitely various are the incidents in the man's life which cannot be reduced to unity; and so, too, there are many actions of one man out of which we cannot make one action.'[1]

१. Aristotle's *Poetics*, translated by S. H. Butcher, p. 33.

कार्यान्विति : त्रासदी में प्रथम आवश्यक वस्तु कार्यान्विति है । अरस्तू के मतानुसार अन्विति एक प्रकार की सीमा है, जिसके बिना कथानक अनिश्चित और आकस्मिक बन जाता है । अन्विति के कारण कथावस्तु विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न तथा बोगम्य हो जाती है । अन्विति जितनी ही अधिक होगी, कथावस्तु में उतनी ही पूर्णता एवं व्यक्तित्व का समावेश होगा ।

अरस्तू ने ऐसा कोई नियम बनाने का प्रयास नहीं किया कि नाटक का विस्तार कितना किया जा सकता है । इस विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है, बहुत संयम और विचार से कहा है । उन्होंने रंगमंचीय प्रस्तुति के किसी बाह्य प्रसंग को अकलात्मक बताकर अस्वीकृत कर दिया है । इस सम्बन्ध में अरस्तू ने लिखा है :

'The limit of length in relation to dramatic competition and sensuous presentment, is no part of artistic theory. For had it been the rule for a hundred tragedies to compete together, the performance would have been regulated by the water-clock,—as indeed we are told was formerly done.'[१]

उनका कथन है कि सम्पूर्ण नाटक का विस्तार इतना ही होना चाहिए जितना स्मृति या मानस-नेत्र धारण कर सके । नाटक का विस्तार इस परिमाण में होना चाहिए कि कथानक के स्वाभाविक विकास के लिए पर्याप्त स्थान मिल सके । कार्य का स्वतः पूर्ण विकास होना चाहिए और भाग्य का निर्णयात्मक परिवर्तन घटनाओं का स्वाभाविक तथा हेतुक परिणाम हो ।

अन्वितियों में केवल कार्यान्विति को अरस्तू ने आवश्यक माना है । यह विचित्र बात है कि एक बार अन्विति-त्रय की परम्परा स्थापित हो गई, तो हम अभी भी सामान्यतः लेखों में पाते हैं कि अरस्तू के ग्रन्थ में ही इसका विधान है ।

प्राचीन ग्रीक-नाटक बहुत सादे होते थे और उनमें तीन या पाँच पात्रों की आवश्यकता होती थी, अतः उनमें अन्विति-विषयक इन नियमों का सुविधापूर्वक पालन हो जाता था । किन्तु, आधुनिक युग के नाटकों तथा रंगमंचों की अवस्था उस युग से सर्वथा भिन्न है । फलस्वरूप इनमें उन नियमों का पालन करने की आवश्यकता नहीं है और आज के जटिल नाटकों में उनका पालन सम्भव भी नहीं है । यदि आज का लेखक उन नियमों के पालन का प्रयास करे, तो अपनी पूर्ण सामग्री का उपयोग भी नहीं कर सकेगा और उसके नाटक में अस्वाभाविकता आदि दोषों के आने की सम्भावना बढ़ जायगी ।

कार्यान्विति के विषय में इसी बात का ध्यान रखना चाहिए कि आरम्भ से अन्त तक कथा का निर्वाह समान भाव से हो । नाटक में आदि से अन्त तक एक ही कथावस्तु और एक ही प्रधान सिद्धान्त रखा जाय । यदि कुछ गौण कथावस्तुओं तथा सिद्धान्तों का

१. Aristotle's *Poetics*, translated by S. H. Butcher, p. 33.

समावेश किया जाय, तो इस प्रकार से कि वे मुख्य कथावस्तु तथा सिद्धान्त में पूर्णतः एकात्म हो जायँ और किसी भी तरह जोड़े हुए-से नहीं प्रतीत हों। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार की प्रासंगिक कथावस्तु का विधान किया है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि प्रासंगिक कथावस्तु के कारण आधिकारिक कथावस्तु में किसी प्रकार की बाधा पड़े; क्योंकि आधिकारिक कथावस्तु के सौन्दर्य में वृद्धि करने के लिए ही गौण या प्रासंगिक कथावस्तु की उद्भावना की जाती है। प्रासंगिक कथावस्तु का विस्तार आनुपातिक सीमा में रहना चाहिए; ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसके कारण आधिकारिक कथावस्तु की तुलना में प्रासंगिक कथावस्तु की ही प्रधानता प्रतीत होने लगे।

कालान्विति : कालान्विति का सिद्धान्त पोएतिका के केवल एक अनुच्छेद पर आधारित है। त्रासदी और महाकाव्य में अन्तर बताते समय अरस्तू ने लिखा :

'They (Epic poetry and tragedy) differ, again, in their length; for tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit; whereas the epic has no limits of time.'[१]

यहाँ यूनानी रंगमंच की सामान्य परम्परा का आभास दिया गया है। नाटकीय कार्य का काल्पनिक समय एक दिन या २४ घण्टे में सीमित किया गया है। किन्तु, यह सिद्धान्त सदा काम में नहीं लाया जाता था। त्रासदी के आरम्भिक दिनों में, महाकाव्य और त्रासदी, दोनों में काल-सीमा की प्रायः अवहेलना की जाती थी।

अरस्तू ने २४ घण्टे के वृत्त का समावेश नाटक में करने की व्यवस्था दी है, किन्तु पीछे यह अर्थ लगाया गया कि जो कृत्य करने में जितना समय लगा हो, उसका अभिनय उतने ही समय में होना उचित है। इस नियम का सच्चे अर्थ में पालन भले ही प्राचीन यूनानी नाटकों में सम्भव हुआ हो, परन्तु अन्यत्र किसी समय में ऐसा सम्भव नहीं हो सका है। अरस्तू ने तो २४ घण्टे के कृत्य के समावेश का नियम बनाया, परन्तु पीछे एक फ्रांसीसी विद्वान् ने ३० घण्टे के कृत्य का समावेश करने की बात कही। किसी नाटक का अभिनय प्रायः तीन-चार घण्टे में समाप्त हो जाता है, तो फिर इन तीन-चार घण्टों में चौबीस घण्टों के कृत्यों का अभिनय किया जाय या एक वर्ष अथवा ६ महीनों का, उसमें कुछ विशेष अन्तर नहीं होता। स्पष्टतः, यूनान में यह नियम उस समय बना था, जब नाटक की आरम्भिक अवस्था थी और इसका पूर्ण विकास नहीं हुआ था।

प्रश्न उपस्थित होता है कि काल की अन्विति का कहाँ तक ध्यान रखा जाय? उचित तो यह जान पड़ता है कि नाटक की घटनाएँ चाहे जितने समय की हों, परन्तु कालान्विति को उसमें किसी रूप में बाधा नहीं डालनी चाहिए। यदि कालान्विति का वही यूनानी अथवा फ्रांसीसी ढंग रखा जाय, तो शायद किसी भी सुन्दर तथा सफल

१. Arislotles' *Poetics*, translated by S. H. Butcher, p. 22-23.

नाटक की रचना असम्भव ही हो जायगी। किन्तु, इस विषय में निम्नलिखित कतिपय बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है :

१. घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध पर ध्यान दिया जाना चाहिए, अर्थात् ऐसा नहीं हो कि पहले होनेवाली घटनाओं का उल्लेख पीछे होनेवाली घटनाओं के बाद में किया जाय।

२. ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि नाटककार को ऐसा उपाय करना चाहिए कि दो घटनाओं के बीच में जो समय व्यतीत हुआ है, उसपर दर्शकों का ध्यान नहीं जा सके। एक दृश्य में जो घटना दिखाई गई हो, उसके तीन-चार महीने बाद की घटना यदि दिखानी हो, तो तुरन्त बाद के दृश्य में उसे नहीं दिखना चाहिए। ऐसे अवसर पर नाटककार को उचित है कि दोनों दृश्यों के बीच में कई छोटे-छोटे दृश्य दिखा दें या किसी प्रासंगिक कथावस्तु का समावेश कर दें। यदि ऐसा कोई उपाय काम में नहीं लाया गया, तो इतने व्यवधान की घटनाएँ देखकर सामान्यतः दर्शकों के मन में समस्या उठ खड़ी होगी कि इतना समय कैसे व्यतीत हो गया या इस अवधि की अन्य घटनाएँ क्या हो गईं। परन्तु, यदि दोनों घटनाओं के बीच में कुछ अन्य दृश्य रख दिये जायँ, तो अस्वाभाविकता दूर हो जायगी और मध्यवर्त्ती काल की ओर दर्शकों का ध्यान कभी नहीं जायगा। दर्शकों के मन में यह काल-भ्रान्ति (Time illusion) होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, शेक्सपियर के The Merchant of Venice में प्रथम और द्वितीय अंकों के बीच में तीन महीने का समय बिताने के उद्देश्य से बीच में कुछ छोटे दृश्यों का आयोजन किया गया है, जिससे दर्शकों को Time illusion हो जाता है।

३. सामान्य रूप से नाटकों में दो-चार वर्षों की घटनाएँ किसी विशेष प्रयास के विना ही खप जाती हैं, किन्तु एक ही नाटक में इससे अधिक समय की घटनाएँ दिखाने के लिए नाटककार को विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। नाटककार की निपुणता इस बात में है कि मध्यवर्त्ती समय पर दर्शक का ध्यान नहीं जा सके और यह भी बताने की आवश्यकता नहीं पड़े कि दोनों दृश्यों के बीच में इतना समय बीत गया है। घटनाओं का क्रम ऐसा होना चाहिए कि दर्शक दो दृश्यों के बीच का अन्तर स्वयं समझ ले और उसे यह नहीं कहना पड़े कि कालान्विति के नियम का व्यतिक्रम हुआ है। तात्पर्य यह कि नाटककार को कालान्विति का यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए, जो सामान्य दर्शक ग्रहण करते हैं।

शकुन्तला नाटक में प्रथम अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला की भेंट होती है, फिर तृतीय अंक के आरम्भ में दोनों का मिलाप होने के बाद दोनों वियुक्त हो जाते हैं। तृतीय अंक के अन्त और सप्तम अंक के आरम्भ की अवधि में दर्शक का ध्यान विशेष रूप से नहीं जाता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त अपने पुत्र को सिंह के बच्चे के साथ क्रीड़ा करते हुए देखता है। इसमें कहीं कोई बेढंगापन नहीं है; क्योंकि दर्शक नाटक देखते समय रस में

पूर्णतः मग्न हो जाता है। एक अंक की समाप्ति पर दूसरे अंक का आरम्भ होता है और दर्शक समझ जाता है कि नाटक की कथावस्तु के नये काल का आरम्भ हुआ। अतः, दर्शक को इसमें कोई आश्चर्य नहीं होता, वरन् केवल आनन्द ही मिलता है।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय नाटककार कालान्विति का महत्त्व समझते थे और यथासम्भव उसका ध्यान भी रखते थे। रूपकों के अनेक भेदों को देखने से ज्ञात होता है कि कालान्विति का कई दृष्टियों से ध्यान रखना होता था। रूपक के एक भेद व्यायोग के विषय में नियम है कि इसमें एक ही अंक रहना चाहिए और एक ही दिन का कृत्य भी कथावस्तु के रूप में रहना चाहिए। एक अन्य भेद समवकार में तीन अंक होते हैं। इसके प्रथम अंक में बारह घड़ियों का वृत्तान्त, द्वितीय अंक में चार घड़ियों का, किन्तु मतान्तर से तीन घड़ियों का वृत्तान्त और तृतीय अंक में दो घड़ियों का वृत्तान्त होना चाहिए। इस प्रकार, समवकार में १७ या १८ घड़ियों का वृत्तान्त रहता है। यह बात उपरूपक के एक भेद दुर्मल्लिका में भी देखी जा सकती है। इसके चार अंकों में से प्रथम अंक में विट की क्रीड़ा तीन घड़ी की, द्वितीय अंक में विदूषक का विलास पाँच घड़ी का, तृतीय अंक में पीठमर्द का विलास छह घड़ी का और चतुर्थ अंक में नायक की क्रीड़ा दस घड़ी की होती है। इस प्रकार, सब मिलकर दुर्मल्लिका में २४ घड़ियों का वृत्तान्त रहना चाहिए। इन नियमों से प्रमाणित हो जाता है कि प्राचीन भारतीय नाटककारों ने कालान्विति पर ध्यान दिया।

स्थानान्विति : स्थानान्विति का भी सिद्धान्त रंगमंच से ही सम्बन्ध रखता था। यूनानी नाटकों में सामान्यतः इसका पालन किया जाता था, परन्तु कभी-कभी, और विशेषतः सुखान्त नाटकों में, इसकी अवहेलना भी की जाती थी। अरस्तू ने पोएतिका में कहीं इसकी ओर संकेत भी नहीं किया है और कला के नियम के रूप में आलोचकों ने कालान्विति से ही सम्बन्ध जोड़कर इसका विधान किया। वस्तुतः, स्थानान्विति कालान्विति के ही उपनियम या अनुमान (corollary) के रूप में निकली।

यूनानी नाट्याचार्यों की स्थानान्विति का अभिप्राय है कि रंगशाला का दृश्य आदि से अन्त तक एक ही रहना चाहिए, उसमें कोई परिवर्त्तन वांछनीय नहीं, अर्थात् नाटक इस प्रकार रचा जाय कि इसका अभिनय एक ही स्थान पर तथा एक ही दृश्य में किया जा सके। अभिनय करते समय रंगमंच पर किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। यह नियम बनाने का कारण यह था कि यूनानी नाटक के गानेवाले रंगभूमि पर सदा विद्यमान रहते थे और आवश्यकता आ जाने पर बीच-बीच में गाना आरम्भ कर देते थे। नाटकों में अंक तथा गर्भांक नहीं रहने के कारण बीच में विश्राम भी नहीं होता था। रंगमंच पर गीत होते समय थोड़ी देर के लिए दर्शकों को विश्राम मिल जाता था। परन्तु, रंगशाला में कोई परिवर्त्तन नहीं होता था। दूसरी बात यह थी कि उनके नाटकों की रचना भी बहुत ही सीधी-सादी होती थी, जिससे उनके स्थान में परिवर्त्तन करने की

आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। यदि उत्तम नाटककार अपने नाटक में सौन्दर्य की वृद्धि के लिए दृश्य बदलने की आवश्यकता अनुभव भी करता था, तो स्थानान्विति के इस नियम के कारण अपना लोभ संवरण कर लेता था।

यूनानी त्रासदियों में स्थानान्विति तथा कालान्विति को मानने के कई स्पष्ट कारण हैं। यूनानी त्रासदियों की गति में स्थान-परिवर्त्तन या दृश्यों के बीच में व्यवधान करना कठिन था। इस प्रकार के व्यवधान से नाटक के पूर्ण प्रभाव में बाधा पड़ने की सम्भावना थी। इस विषय में यूरोप के विद्वानों में शतियों तक वाद-विवाद होता रहा है। वस्तुतः, कार्यान्विति की ही प्रमुखता है। यदि कार्यान्विति की रक्षा कर ली जाती है, तो अन्य अन्वितियाँ स्वयं अपनी रक्षा कर लेंगी। काल और स्थान के व्यवधान से कार्यान्विति में भी बाधा पड़ने की आशंका है। एस्० एच्० बुचर ने कुछ स्पेनिश नाटकों का हवाला दिया है, जिनमें प्रथम अंक में नायक का जन्म होता है और नाटक का अन्त होते-होते वह वृद्ध रूप में दिखाया जाता है। बीच के समय में इस बात का विवरण देने का अनाटकीय उपाय किया जाता है कि इस व्यवधान में क्या-क्या घटनाएँ हुईं।

आधुनिक रंगमंच की सफलताओं और विफलताओं ने समान रूप से अरस्तू के इस सिद्धान्त को प्रमाणित कर दिया है कि कार्यान्विति का नियम उच्चतर और अधिक आवश्यक है। श्री बूचर का कथन है कि कालान्विति और स्थानान्विति कलात्मक महत्त्व की दृष्टि से निम्नतर हैं।

निष्कर्ष : कुछ विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि संकलन-त्रय का यह नियम बहुत भद्दा तथा दूषित है। दो हजार वर्ष पहले यूनानी नाटकों तथा रंगमंच के लिए इसकी जो कुछ उपादेयता रही हो, परन्तु आधुनिक युग तथा आज की रंगशालाओं में ऐसे नाटकों का प्रदर्शन कोई भी पसन्द नहीं करेगा। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इन अन्वितियों की सर्वथा अवहेलना की जाय। यथासम्भव इनका पालन होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए कि अन्वितियों का निर्वाह करने के लिए कला का गला घोंट दिया जाय। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में संकलन-त्रय का इच्छानुसार उल्लंघन किया है। उसके प्रायः सभी नाटकों में अनेक स्थानों और अनेक वर्षों की घटनाओं का समावेश किया गया है। प्राचीन काल के सीधे-सादे यूनानी नाटकों में इनका पालन भले ही हो जाता हो, परन्तु आधुनिक युग के जटिल नाटकों तथा रंगशालाओं में इन नियमों का पालन होना बहुत कठिन है।

संस्कृत-नाटकों में अन्वितियाँ : यूनानी नाट्यशास्त्र की अन्वितियों से भारतीय नाट्यशास्त्र या नाटकों का कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। वैसे नाटक तथा रंगमंच की दृष्टि से भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने अपने लिए कुछ नियम बना लिये थे। संस्कृत-नाटकों में तीनों अन्वितियों—कार्यान्विति, स्थानान्विति तथा कालान्विति—का कड़ाई से पालन नहीं होता। इस नियम का पालन नहीं होता कि नाटक के प्रस्तुतीकरण में उतना ही समय लगना

चाहिए, जितना समय नाटक के दृश्यों में दिखाई गई घटनाओं के घटने में वास्तविक जीवन में लगता है। यह भी नियम है कि नाटक के दो अंकों के बीच में कम-से-कम एक रात का समय बीतना चाहिए। किन्तु, इसका भी पालन नहीं होता। कभी-कभी यह भी पाया जाता है कि अगला अंक पहले अंक का ही विस्तार है और बीच में समय का व्यवधान नहीं किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, उत्तररामचरित आदि कई नाटकों की घटनाओं में कई वर्ष लग जाते हैं। उत्तररामचरित के प्रथम तथा द्वितीय अंकों के बीच में १२ वर्ष का व्यवधान है।

भरत मुनि ने नियम बनाया कि एक अंक में एक ही दिन की कथा होनी चाहिए :

एकदिवसप्रवृत्तः कार्यस्त्वङ्कोऽथ बीजमाश्रित्य।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु॥
एकाङ्केन कदाचिद्बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्।
आवश्यकाविरोधेन तत्र कार्व्यानि कार्याणि॥[1]

उधर अरस्तू ने भी नाटक या त्रासदी की काल-सीमा एक ही दिन तक मानी है। परन्तु, भरत ने सम्पूर्ण नाटक की नहीं, केवल एक अंक की सीमा एक दिन मानी। इस दृष्टि से कुछ अंशों में दोनों में साम्य है, परन्तु न भारतीय और न यूनानी नाटककारों ने इस नियम का पूर्णतः पालन किया। कुछ ही अंश में दोनों देशों के नाटककारों ने इस नियम का पालन किया।

स्थानान्विति का भी पालन संस्कृत-नाटकों में नहीं पाया जाता। संस्कृत-नाटकों में प्रायः जो कथानक चुने गये हैं, उनमें मानव के कार्यों में देवता, गन्धर्व आदि अतिमानव प्राणियों का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। इस विश्वास से कार्यों के स्थानों में परिवर्त्तन करना पड़ता था, जिसके विना दर्शकों को दृश्यों का यथार्थ चित्र नहीं दिया जा सकता था। अभिज्ञानशाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय के दृश्य कुछ अंश में पृथ्वी पर और कुछ अंश में स्वर्ग में होते हैं। कभी-कभी एक ही अंक में स्थान बदल जाता है।

ग्रीक-नाटकों में दृश्य बहुत विस्तार से सजाया जाता था, जिसे स्थान के परिवर्त्तन के कारण परिवर्त्तित करना कठिन था। फलस्वरूप आदि से अन्त तक दृश्य एक ही रह जाता था। परन्तु, भारतीय नाटकों में दृश्य की सजावट पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था और अधिकतर बातें कल्पना पर ही छोड़ दी जाती थीं। जितनी सुविधा से एक दृश्य की कल्पना की जाती, उतनी ही सुविधा से दूसरे दृश्य की भी कल्पना की जा सकती थी, चाहे वह राजमहल का दृश्य हो या उपवन का। अतः संस्कृत-नाटकों में स्थानान्विति-जैसी कोई वस्तु नहीं है।

परन्तु, संस्कृत-नाटकों में कार्यान्विति को पूर्ण महत्त्व दिया गया है। भरत मुनि ने भी इसे मान्यता दी है। परन्तु, इस नियम का पूर्ण पालन कुछ ही नाटककार—जैसे

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, का० २४-२५

कालिदास, शूद्रक आदि—कर सके हैं। वस्तुत:, संस्कृत-नाटकों में अन्विति का कोई नियम नहीं था; रंगमंच पर प्रस्तुत करने के विचार से नाटक लिखे जाते थे। उसी प्रसंग में सुविधा की दृष्टि से कुछ बातें रख दी गईं, जो अन्विति से साम्य रखती हैं।

उद्देश्य और कथानक

पाश्चात्त्य विद्वानों ने नाटक में उद्देश्य का विशेष महत्त्व देने के लिए उसे एक स्वतन्त्र तत्त्व माना। परन्तु, भारतीय आचार्य इसे वस्तु या रस के ही अन्तर्गत रखना अधिक पसन्द करते हैं। वस्तु ऐसा भेदक तत्त्व है, जिसमें उद्देश्य पर भी विचार किया जाना चाहिए; क्योंकि कथानक या कथावस्तु के ही सहारे नाटककार अपने नाटक का उद्देश्य व्यक्त करता है।

नाटककार अपने नाटक के संकुचित क्षेत्र में जीवन की व्याख्या करने का प्रयास करता है। वह अपना उद्देश्य स्वयं नहीं कह सकता, अतः किसी पात्र के माध्यम से कहता है। तब दर्शक का काम रह जाता है कि वह सभी पात्रों की बातें सुनकर निर्णय करे कि नाटककार का उद्देश्य क्या है। यदि दर्शक किसी विशेष पात्र से सहानुभूति रखता है और दूसरे से नहीं रखता, तो उसे चाहिए कि वह दोनों पात्रों के उद्गारों की तुलना करे। तभी वह नाटककार का वास्तविक उद्देश्य समझने में सफल हो सकता है, अन्यथा भ्रम में पड़ने की सम्भावना है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस पात्र से दर्शक की सहानुभूति नहीं हो, उसके उद्गार से भी नाटक का उद्देश्य और जीवन की व्याख्या समझने में सहायता मिलती है। नाटककार की रचना से ही हम समझ सकते हैं कि वह जीवन को किस दृष्टि से देखता है या जीवन के प्रति उसकी क्या धारणाएँ हैं।

प्राचीन भारतीय नाटकों ने जीवन की व्याख्या पर बहुत बल दिया है, इसलिए उनका इतना अधिक महत्त्व है। हमारे नाटक सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श उपस्थित करते रहे हैं। भारतीय आचार्यों ने बताया है कि कथावस्तु का फल अथवा कार्य, धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि है। नाटक के माध्यम से इन तीनों में से कम-से-कम दो या एक की भी सिद्धि करना आवश्यक है। जिस नाटक के माध्यम से इनमें से एक की भी सिद्धि नहीं हो सके, वह व्यर्थ है।

एक अन्य बात भी है, जिससे भारतीय तथा यूरोपीय नाटकों में विभिन्नता हो जाती है। भारतीय नाटकों का उद्देश्य आदर्श चरित्र उपस्थित करना है। परन्तु, पाश्चात्त्य नाटककारों का उद्देश्य वास्तविक स्थिति का परिचय देना होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय कि भारतीय नाटककार यह दिखाना चाहता है कि जीवन कैसा होना चाहिए, परन्तु पाश्चात्त्य नाटककार यह प्रदर्शित करना चाहता है कि जीवन कैसा है।

इसी बात को लेकर कई वादों का जन्म हुआ है। उनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

आदर्शवाद : आदर्शवाद और यथार्थवाद की धारणाएँ भी प्रायः साथ ही उपस्थित होती हैं। ये दोनों वाद भी आरम्भ में एक-दूसरे के विरोधी के रूप में, बाद में पूरक के रूप में आये। आदर्शवाद के अनुसार काव्य या कला अनिवार्य रूप में आत्मपरक होती है। कतिपय कलाकार जीवन में यथार्थ चित्रण का दम भरते हैं, किन्तु वास्तव में कला में जीवन का यथार्थ चित्रण सम्भव ही नहीं हो सकता। अरस्तू ने लिखा है कि कवि इतिहासकार से भिन्न होता है; क्योंकि वह वस्तुओं का उसी रूप में चित्रण नहीं करता जैसी वे रहती हैं; अपितु उस रूप में चित्रण करता है जैसी वे हो सकती हैं या जैसी उन्हें होना चाहिए। अरस्तू के इन शब्दों में आदर्शवाद की कल्पना का बीज छिपा है। एक ओर उन्होंने कला को अनुकरण कहकर उसे जीवन की ठोस पृष्ठभूमि पर रखा है, तो दूसरी ओर जैसी वे हो सकती हैं और जैसी उन्हें होना चाहिए, जैसे वाक्यांशों के द्वारा कला का आत्म-तत्त्व स्वीकार करके उसपर आधृत आदर्शवादी कला-दर्शन को भी प्रकाश में ला दिया है।

आत्मपरक चित्रण कई प्रकार से सम्भव है—पदार्थों का वैसा चित्रण १. जैसे वे कलाकार को प्रतीत होते हैं, इसमें कलाकार के स्वभाव की स्वीकृति है; २. जैसे वे हो सकते हैं, इसमें कलाकार की कल्पना की स्वीकृति है; ३. जैसे उन्हें कलाकार के विचार या दृष्टिकोण के अनुसार होना चाहिए; इसमें कलाकार की इच्छा या भावना और नैतिक मान्यता की स्वीकृति है। तात्पर्य यह कि आदर्शवाद के मूल में केवल नैतिकता ही नहीं, भावना तथा कल्पना की प्रचुरता भी है, परन्तु धीरे-धीरे उसमें नैतिक तत्त्व की ही प्रधानता होती गई।

दर्शन के क्षेत्र में काण्ट और हीगेल ने आदर्शवाद का दार्शनिक निरूपण किया है। इस प्रकार आदर्श में राग और कल्पना के तत्त्व नीति के पोषक बन गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवाद कल्याणकारी मूल्यों पर आधारित भावपरक कला-दर्शन है।

प्राचीन काल के नाटकों की प्रवृत्ति आदर्शवादी रही है। विशेष रूप से भारतीय नाटकों के नायकों का रूप आदर्शवादी चित्रित किया गया है। नायक की निश्चित विजय में यह आदर्शवाद विशेष रूप से शिक्षात्मक था। यूरोपीय नाटकों में इस रूप का आदर्शवाद तो नहीं मिलता, परन्तु नायक के चरित्र आदि की महत्ता-विषयक दृष्टि और कथावस्तु की योजना आदर्शवादी रही है। भारतीय नाटक आदर्श के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सके, यद्यपि रूपकों के कुछ भेदों में सामाजिक कुरीतियों का भी वर्णन हुआ है। जयशंकर प्रसाद के नाटक चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि; भारतेन्दुजी का सत्यहरिश्चन्द्र आदि नाटक आदर्शवादी हैं। संस्कृत में तो आदर्शवादी ही नाटक लिखे गये।

यथार्थवाद : यथार्थवाद की कल्पना आदर्शवाद से बहुत भिन्न है। वास्तव में, अथार्थवाद वस्तुपरक दृष्टिकोण है—कला के क्षेत्र में यह जगत् तथा जीवन के उसी रूप के चित्रण पर बल देता है। यथार्थवादी अपने को तटस्थ द्रष्टा मानकर चलता है

और अपने निजी विचारों तथा कल्पनाओं को अलग रखकर वस्तु पर ही ध्यान रखता है। उसका विश्वास है कि तथ्य को उसी रूप में ग्रहण करना ही कला तथा चिन्तन की वास्तविक सिद्धि है। यथार्थवाद जीवन को उसके यथार्थ रूप में स्वीकार करके चलता है और उसे उसी रूप में प्रस्तुत करना उसका उद्देश्य रहता है। यथार्थवाद पर विज्ञान का बहुत प्रभाव है—यहाँ तक कि आलोचकों ने इसे विज्ञान का कलात्मक प्रतिरूप नाम दिया है। यद्यपि यथार्थवाद अनुकरण-सिद्धान्त के ही बराबर पुराना है, तथापि उन्नीसवीं शती में यह यूरोप-भर में एक आन्दोलन के रूप फैल गया था। शती के उत्तरार्द्ध में यथार्थवाद से प्रकृतवाद का जन्म हुआ, जो वस्तुतः यथार्थवाद का ही अतिरंजित रूप था। यथार्थवाद जीवन के भौतिक—विशेषतः सामाजिक—रूपों पर ध्यान देता था, किन्तु प्रकृतवाद मानव की सहज वृत्तियों—वासनाओं—के चित्रण को ही यथार्थ मानने लगा। इन सहज वृत्तियों में काम की ही प्रमुखता रही और इस प्रकार प्रकृतवाद ने नग्न यथार्थवाद का रूप धारण कर लिया।

यूरोप के साहित्य में नायक की भूल तथा जीवन के दुःखद पक्ष के आधार पर नाटक यथार्थवादी प्रवृत्ति की ओर विकसित हुआ। आज के युग में कला का रूप परिवर्तित हो चुका है। आधुनिक नाटककार अपने चारों ओर के वातावरण से, समाज की परिस्थितियों से और समस्याओं से अनुभूति ग्रहण करता है। नाटक का सम्पूर्ण ढाँचा सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ। भारतेन्दुजी का नाटक प्रेमयोगिनी, लक्ष्मी नारायण मिश्र के संन्यासी, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली; अश्क का छठा बेटा, स्वर्ग की झलक यथार्थवादी नाटक हैं।

प्रगतिवाद : कुछ समय बाद मार्क्स-दर्शन के बढ़ते प्रभाव के कारण यथार्थवाद में सामाजिक तत्त्व की विशेष प्रधानता हुई, जिसकी परिणति सामाजिक यथार्थवाद या प्रगतिवाद में हुई। प्रगतिवाद वस्तुतः कला तथा साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मार्क्स के दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, जिसके अनुसार संसार में केवल पदार्थ का ही अस्तित्व है; दूसरी ज्ञानेन्द्रियों के समान मस्तिष्क-चेतना आदि का भी स्वरूप भौतिक ही है। परन्तु, यह पदार्थ जड़ तथा निष्क्रिय नहीं, वरन् स्वभावतः गतिशील है और इस गति की प्रेरणा पदार्थ में छिपे दो परस्पर विरोधी अन्तस्तत्त्व से मिलती है, जिनमें एक विकास की ओर तथा दूसरा विनाश की ओर उन्मुख है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन जीवन में एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता देखता है, जिसके मूल में दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष चलता रहता है—एक शक्ति विकास के मार्ग पर चलती है, तो दूसरी विनाश के मार्ग पर। चेतन मस्तिष्क प्रगतिशील शक्तियों को प्रोत्साहन देता है और विनाश की ओर बढ़नेवाली शक्तियों का नाश करता है। इस तरह संसार का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन ही है, जिसका प्रतिनिधि है समाज और समाज का आधार अर्थ तथा उसके उत्पादन की प्रणाली है।

कला तथा साहित्य समाज से ही उत्पन्न होते हैं। सामाजिक परिस्थितियाँ एवं उनकी आधारभूत आर्थिक प्रणालियाँ जिस प्रकार जीवन के अन्य रूपों की उत्पत्ति तथा विकास का नियन्त्रण करती हैं, उसी प्रकार साहित्य तथा कला की भी उत्पत्ति तथा विकास का नियन्त्रण करती हैं। कला तथा साहित्य की भी सार्थकता इसी में है कि ये समाज और उसको गति देनेवाले वर्ग-संघर्षयुक्त जन-जीवन के विकास में सहायता करें। सारांश रूप में मार्क्सवादी दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

१. यह साहित्य जनता के लिए है।
२. यह मार्क्सवाद का समर्थन करता है।
३. प्रगतिशील साहित्य विश्व के शोषित वर्ग की एकता का समर्थक है।
४. यह संघर्षशील सहित्य है। इस संघर्ष का लक्ष्य है—राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा जनतन्त्र की स्थापना। यह साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद की संस्कृति का उन्मूलन करके शान्ति स्थापित करना चाहता है। शान्ति की स्थापना के लिए उपर्युक्त परिस्थितियाँ अनिवार्य हैं।
५. प्रगतिवाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है।
६. इस प्रकार, प्रगतिशील साहित्य 'जनता की सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास है।'

निष्कर्ष : प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्रियों का वस्तु-विवेचन अत्यन्त विस्तृत तथा जटिल है। भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित वस्तु के आधिकारिक तथा प्रासंगिक नामक दो विभाग तो युक्तिसंगत हैं और प्राचीन तथा अर्वाचीन, पूर्वीय तथा पश्चिमीय नाटकों में इनकी योजना की जाती रही है। परन्तु, आद्य नाट्याचार्य भरत ने ही पाँच अर्थ-प्रकृतियों, पाँच कायावस्थाओं, पाँच सन्धियों तथा उनके ६४ अंगों की कल्पना की। नाट्यवस्तु का यह विधान स्वयं अपने में अत्यन्त जटिल है। परवर्त्ती नाट्याचार्यों—धनंजय आदि ने इन्हें यथावत् स्वीकार करके अपने ग्रन्थों में स्थान दिया और अनेक नाटकों से ढूँढ़कर इनके उदाहरण उपस्थित किये।

इन परवर्त्ती नाट्यशास्त्रियों ने भरत का ही पिष्टपेषण किया और अपनी ओर से कोई नवीन उद्भावना नहीं की। जब इन नाट्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया, उस समय तक संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त ह्रास हो चुका था। कालिदास, भवभूति तथा शूद्रक की प्रतिभा का कोई नाटककार परवर्त्ती संस्कृत-साहित्य में उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु धनंजय, शारदातनय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र और विश्वनाथ कविराज जैसे नाट्यशास्त्रियों का उद्भव हुआ। इनपर सामन्तयुगीन प्रभाव पूर्णरूप से पड़ा था, अतः ये वस्तु-विधान में नवीन उद्भावना करने में असमर्थ ही सिद्ध हुए। वस्तु के सम्बन्ध में भरत मुनि ने जो कुछ लिख दिया, उसे ही सभी नाट्याचार्य सहस्रों वर्षों तक एक के बाद दूसरे दुहराते रहे।

हिन्दी के आदिकाल तथा मध्यकाल नाटक के लिए लगभग शून्य ही रहे। कविता के कारण नायक-नायिका-भेद तथा रस-सिद्धान्त में रीतिकालीन कवि-आचार्यों ने कार्य तो किया, परन्तु नाटक के अभाव के कारण कथावस्तु के क्षेत्र में कोई विकास नहीं हो सका। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों के द्वारा कथावस्तु में विकास दिखाया, परन्तु वे भी प्राचीन परम्परा से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सके। परन्तु, बीसवीं शती में हिन्दी में नाटक का काफी विकास हुआ है और तदनुसार कथावस्तु के विधान में भी आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन हुए हैं। अब आधुनिक नाटककार अर्थ-प्रकृतियों तथा पंच-सन्धियों की कोई चिन्ता नहीं करता। सन्ध्यंग तो बहुत पहले ही छोड़े जा चुके थे। कार्यावस्थाओं का समावेश अवश्य किया जाता है, परन्तु ये अवस्थाएँ प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित अवस्थाएँ नहीं हैं, अपितु पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित हैं, जिनमें चरम सीमा (climax) को बहुत महत्त्व दिया जाता है। आधुनिक हिन्दी-नाटकों में से अर्थोपक्षेपकों का भी बहिष्कार किया जा चुका है; स्वगत कथन तथा जनान्तिक आदि भी निकाले जा चुके हैं।

पाश्चात्त्य प्रभाव, राष्ट्रीयता का विकास, स्वतन्त्रता की भावना आदि के कारण नाटक की विषयवस्तु में प्राचीन नाटकों से बहुत परिवर्त्तन आ गये हैं। कई नये वादों का विकास हुआ है, जिसके कारण आधुनिक हिन्दी-नाटकों के उद्देश्य में अन्तर आ गया है। जहाँ प्राचीन नाटकों का उद्देश्य रस-निष्पत्ति था, वहाँ आधुनिक नाटकों का उद्देश्य मुख्यतः आज के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं का समाधान हो गया है। आजकल नाटक की वस्तु का सर्वांगीण विकास हुआ है।

षष्ठ अध्याय

नेता

नायक का अर्थ : पात्र के अन्तर्गत भारत के प्राचीन आचार्यों ने नायक और नायिका का विशेष विवेचन किया है। उनके मतानुसार नाटक या रूपक के प्रधान पात्र को नायक या नेता कहते हैं। इसका कारण यह है कि नायक ही नाटकीय कथा की शृंखला को अग्रसर करके अन्त तक ले जाता है। नेता अथवा नायक 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'ले चलना' होता है। नेता कथानक को फलागम तक ले जाता है। वही वह केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चारों ओर सभी घटनाएँ चक्कर काटती रहती हैं। जब संस्कृत-नाटक में रूपक के दूसरे भेदक के रूप में नेता का विवरण होता है, उस समय नेता में उसका सारा परिकर अन्तर्भूत हो जाता है। नेता के साथ नायिका, नायक के सभी साथी, नायिका की सहेलियाँ, प्रतिनायक और उसके साथी आदि सभी नेता के अंगभूत माने गये हैं। इस प्रकार रूपक में नेता के दो अर्थ होते हैं : १. नाटक या रूपक का मुख्य पात्र, २. सामान्य रूप से रूपक के सभी पात्र।

प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् तथा दार्शनिक अरस्तू ने त्रासदी में चरित्र से अधिक महत्त्व कार्य या कथावस्तु को दिया है। उनका प्रधान तर्क यह है कि चरित्र के विना भी त्रासदी का निर्माण हो सकता है, किन्तु कार्य या कथावस्तु के विना नहीं। इस आधार पर कथावस्तु को अधिक महत्त्व दिया जाता है, जो उचित भी जँचता है। परन्तु, इस महत्त्व की एक सीमा है और चरित्र का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। कथावस्तु की घटनाओं में चरित्र का तो संकेत रहता ही है, उसके विना घटनाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह सकता। मानव-जीवन के लिए शरीर का तो बहुत ही महत्त्व है, परन्तु प्राण के विना शरीर का क्या महत्त्व हो सकता है? अरस्तू का कथन उन नाटकों के विषय में उचित हो सकता है, जो घटना-प्रधान हैं और मनोवेग के भावातिरेक-स्वरूप को उपस्थित करते हैं। इस विषय में मि० डब्ल्यू० आर्चर का मत द्रष्टव्य है—'कार्यरूप घटनाओं की स्थिति चरित्र के लिए होनी चाहिए। जब यह सम्बन्ध उलटा हो जाता है, नाटक विचित्रतापूर्ण खिलौना कहा जा सकता है, सजीव कला की वस्तु नहीं।'[1] भारत के संस्कृत-नाटकों में घटना और चरित्र को एक समान महत्त्व प्रदान किया गया है।

नायक के गुण या योग्यता : भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार किसी नाटक का नायक सर्वगुण-सम्पन्न होना चाहिए। धनंजय ने नायक के गुणों की जो सूची दी है, उसमें शायद ही कोई गुण छूटा हो। भरत मुनि के अनुसार जो बहुत-से पुरुषों का अग्रणी हो,

---

१. 'नाट्यकला' में डॉ० रघुवंश द्वारा उद्धृत, पृ० ३९

उसे नायक कहते हैं; उनमें भी जो नायक विपत्ति और अभ्युदय में सुख का अनुभव करता हो और दोनों अवस्थाओं में अपनी श्रेष्टता बनाये रखता हो, वही नायक कहा जा सकता है ।

धनंजय तथा अन्य आचार्यों ने नायक में पाये जानेवाले गुणों की गणना कराई है । नाटक के नायक को : १. विनीत, २. मधुर, ३. त्यागी, ४. दक्ष, ५. प्रियंवद, ६. शुचि, ७. रक्तलोक, ८. वाग्मी, ९ रूढवंश, १०. स्थिर, ११. युवा, १२. बुद्धिमान, १३. प्रज्ञावान्, १४. स्मृति-सम्पन्न, १५. उत्साही, १६. कलावान्, १७. शास्त्र-चक्षु, १८. आत्म-सम्मानी, १९. शूर, २०. दृढ़, २१. तेजस्वी और २२. धार्मिक होना चाहिए । इस प्रकार भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार उसे सर्वगुण-सम्पन्न, सभी गुणों का आधार होना चाहिए । किन्तु, साथ ही, यह भी आवश्यक है कि सभी गुण उचित सीमा के भीतर हों ।

नायक के भेद : भरत मुनि ने नायकों के चार भेद बताये हैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त । परवर्त्ती आचार्यों ने भरत का ही अनुसरण किया है और केवल नामों के क्रम में परिवर्त्तन कर दिया है ।

धीर की व्याख्या : स्मरणीय है कि भारतीय नाटकों के नायकों में धैर्य होना परमावश्यक है । प्रत्येक नायक में धैर्य होना ही चाहिए । इसीलिए, नायक के सभी भेदों के साथ 'धीर' शब्द जुड़ा हुआ है । धैर्य के अतिरिक्त इन नायकों में अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता पाई जाती है । वस्तुतः, नायकों का भेद नायक की प्रकृति के आधार पर किया गया है ।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि कुछ विद्वानों ने धीरोदात्त आदि में 'धीर' शब्द का दूसरा ही अर्थ लिया है । उनका तर्क है कि जो उद्धत है, वह धीर कैसे हो सकता है ? उद्धत तो स्वभावतः चपल तथा चण्ड होता है । फिर कोई धीरोद्धत कैसे हो सकता है ? यहाँ 'धीर' शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाला है । एक पुराना शब्द 'धीर' था, जो 'धी' (सहजबुद्धि या मनोभाव) से निकला है । इस धी से बने शब्द का अर्थ होता है सहजबुद्धि या मनोभाव-सम्पन्न । नाट्य-परम्परा में यह शब्द अभी तक बच रहा है । 'धीर' शब्द का अर्थ है, स्वाभाविक बोध-सम्पन्न । अतः धीरोद्धत का अर्थ हुआ स्वभावतः उद्धत ।

भरत मुनि ने बताया कि देवता धीरोद्धत, राजे धीरललित, सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त और ब्राह्मण तथा वणिक् धीरप्रशान्त नायक होते हैं :

देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः ।
सेनापतिरमात्याश्च धीरोदात्ताः प्रकीर्त्तिताः ।।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव प्रोक्ता धीरप्रशान्तकाः ।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि आचार्यों ने यही बात अपने शब्दों में कही है । अब चारों प्रकार के नायकों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय २४, कारिका ४-५**

धीरोदात्त : धीरोदात्त नायक प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। वह अभिमान-रहित, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर, अविकल्पन, क्षमायुक्त, महासत्त्व, गम्भीर और दृढव्रत होता है। वस्तुतः धीरोदात्त नायक, नायक के सभी गुणों एवं आदर्शों से युक्त होता है। नाटक का नायक प्रायः धीरोदात्त ही चुना जाता है। उत्तररामचरित और महावीरचरित के नायक श्रीरामचन्द्र, अभिज्ञानशाकुन्तल के दुष्यन्त तथा नागानन्द के जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक हैं।

जीमूतवाहन के धीरोदात्तत्व में कुछ विज्ञानों ने शंका उठाई है। उनका तर्क है कि धीरोदात्त नायक में उदात्तता की विद्यमानता आवश्यक है और दूसरों से उत्कृष्ट हो जाने की वृत्ति को उदात्तता कहते हैं। जब नायक में दूसरों को जीतने की इच्छा वर्त्तमान हो, तभी उसमें उदात्तता समझनी चाहिए। किन्तु जीमूतवाहन में यह दूसरों को जीतने की इच्छा नहीं पाई जाती। इसके विपरीत उसमें विरक्तता तथा शान्ति की प्रधानता दिखाई देती है। साथ ही इस प्रकार के विकारहीन तथा शान्त प्रकृति के नायक में आगे चलकर मलयवती के प्रति अनुराग का वर्णन करना अनुचित प्रतीत होता है। अतः, उन विद्वानों की सम्मति में जीमूतवाहन को धीरप्रशान्त कोटि में मानना उचित है।

धनिक ने इस तर्क का उत्तर दिया है। उनका कथन है कि दूसरों को जीतने की इच्छा—विजिगीषुता—कई प्रकार की हो सकती है। विजिगीषु उसे कहते हैं, जो शौर्य, त्यागादि गुणों के कारण दूसरों से बढ़ जाता है। जो व्यक्ति दूसरों का धन छीन ले या उन्हें कष्ट पहुँचावे, उसे वस्तुतः विजिगीषु नहीं कह सकते। राम आदि धीरोदात्त नायकों में जन-कल्याण और संसार के पालन का गुण पाया जाता है; क्योंकि वे दुष्टों को दण्ड देते हैं। जब रामादि दुष्टों को दण्ड देने और संसार का पालन करने के कारण उदात्त हैं तो जीमूतवाहन क्यों नहीं उदात्त है, जो अपने प्राणों को भी न्योछावर करके परोपकार में दत्तचित्त रहता है? अतः, वह उदात्त ही नहीं, उदात्ततम है। मलयवती के प्रति अनुराग के निबन्धन के विषय में धनिक ने कहा कि मलयवती के अनुराग का वर्णन, जो शान्त रस के उपयुक्त नहीं है, इस बात का द्योतक है कि नायक शान्त नहीं है। यह वर्णन जीमूतवाहन की धीरप्रशान्तता का निषेध करता है। जहाँ बुद्ध की करुणा निष्काम है, वहाँ जीमूतवाहन की करुणा सकाम है। अतः, जीमूतवाहन धीरोदात्तनायक है। जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त' नाटकों में क्रमशः चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त धीरोदात्त नायक हैं।

धीरोद्धत : धीरोद्धत नायक दर्प और ईर्ष्या से पूर्ण, मायावी, प्रचण्ड, घमण्डी, चंचल, क्रोधी, शूर और आत्म-श्लाघी होता है। मायावी उस व्यक्ति को कहते हैं, जो मन्त्र-बल से झूठी वस्तुएँ प्रकट कर देता है। महावीरचरित के परशुराम धीरोद्धत नायक हैं, जो अपने-आपको कैलास के उठाने तथा तीनों लोकों को जीतने में समर्थ मानते हैं। रावण अपने को 'जिसकी भुजाएँ तीनों लोकों के ऐश्वर्य की लक्ष्मी को हठ से अपहृत करने में समर्थ' कहता है। 'वेणीसंहार' का भीमसेन भी धीरोद्धत नायक है। उद्धत

नायक बहुत कम देखे जाते हैं। रावण को सम्भवतः किसी नाटककार ने अपने नाटक का नायक बनाने का प्रयास नहीं किया। किन्तु, 'मेघनादवध' काव्य में मेघनाद को नायक बनाया गया है। 'साहित्यसार' में तो उद्धत नामक नायक माना ही नहीं गया। हाँ, गौण पात्रों में उद्धतता के लक्षण मिलते हैं। जिन रूपकों में नायक धीरोद्धत होते हैं, वे पूर्णांग नहीं बन सकते। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग ऐसे ही रूपक हैं। भारतेन्दु के सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में विश्वामित्र धीरोद्धत हैं।

धीरललित : धीरललित नायक सर्वथा निश्चिन्त रहता है; अति कोमल स्वभाववाला, सदा गीत, नृत्यादि ललित कलाओं में आसक्त रहता है। धीरललित नायक के राजकार्य की चिन्ता उसके मन्त्री करते रहते हैं; अतः वह उन कार्यों से निश्चिन्त रहता है। फलस्वरूप वह अपना सारा समय नृत्य, गीतादि कलाओं तथा भोग-विलास में व्यय करता है। शृंगार रस की प्रधानता के कारण वह अत्यन्त कोमल स्वभाव का होता है। जान पड़ता है कि धीरललित नायक का एकमात्र कार्य किसी नवीन सुन्दरी का संयोग प्राप्त करना है। उसकी पहली रानी स्वाभाविक ईर्ष्यावश जो बाधाएँ उपस्थित करती है, उन्हें किसी प्रकार पार कर नायक नई प्रेमिका से संयोग प्राप्त कर ही लेता है। धीर-ललित नायक का अच्छा उदाहरण भास और हर्ष के नाटकों का नायक वत्सराज उदयन है। नाटिका के प्रायः सभी नायक धीरललित ही होते हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'वत्सराज' नाटक का नायक वत्सराज उदयन धीरललित नायक माना जा सकता है।

धीरप्रशान्त : धीरप्रशान्त नायक में त्याग, कृतीत्व आदि वे सभी गुण सामान्यतः रहते हैं, जो नायक के लिए कहे गये हैं। यह ब्राह्मण, मन्त्रिपुत्र, वैश्य आदि होता है। प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ही होता है। यह ध्यातव्य है कि यद्यपि प्रकरण के नायक में निश्चिन्तता, कला-प्रेम आदि गुण धीरललित नायक के भी होते हैं, फिर भी उसे धीरप्रशान्त ही मानना होगा; क्योंकि ब्राह्मणादि की प्रकृति ही शान्त होती है। 'मालतीमाधव' प्रकरण का नायक माधव, 'मृच्छकटिक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' का नायक चारुदत्त धीरप्रशान्त नायक हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'जगद्गुरु' के नायक शंकराचार्य धीरप्रशान्त कोटि के हैं।

आचार्यों ने नायक के चार भेद बताये। उसके सम्बन्ध में एक भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि नायक का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त इन चार में से सदा किसी एक कोटि का होगा। इस प्रकार दुष्यन्त यदि धीरोदात्त नायक है, तो उसमें कला-प्रेम और रागमयता आदि गुण उचित नहीं प्रतीत होंगे; क्योंकि उक्त गुण धीरललित नायक में होते हैं। वस्तुतः, यथार्थ यह है कि एक ही नायक में कभी धीरललित की, कभी धीरप्रशान्त की, कभी धीरोदात्त की तथा कभी धीरोद्धत की अवस्था यथावसर दिखाई देती है। किन्तु, जिसकी प्रधानता रहती है, नायक उसी अवस्था अथवा गुण से अभिहित होता है। अनेक महाकवियों ने अपने नाटकों और काव्यों के एक ही नायक को अनेक रूपों में चित्रित किया है, जो देखने से परस्पर विरोधी प्रतीत होता है। परन्तु, यह विरोध वास्तविक नहीं है; क्योंकि एक

ही व्यक्ति में विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न गुणों की स्थिति सम्भव है। अतः, एक ही नायक में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परस्पर विरोधी गुणों का पाया जाना किसी प्रकार असंगत नहीं कहा जा सकता।

उदाहरणार्थ भवभूति के 'महवीरचरित' नाटक के परशुराम को देखा जा सकता है। उस नाटक के परशुराम के चरित्र में कई गुण विभिन्न अवसरों पर दिखाये गये हैं। रावण को सन्देश भेजने में उनका धीरोदात्तत्व परिलक्षित होता है। राम के प्रति कुछ उक्तियों में उनका धीरोद्धत रूप दिखाई देता है और कुछ स्थलों पर धीरप्रशान्त रूप प्रकट होता है। इस प्रकार, विभिन्न रूपों में परशुराम का चित्रण अनुचित अथवा असंगत नहीं कहा जा सकता। महावीरचरित में प्रधान नायक राम हैं और परशुराम उनके अंगभूत नायक हैं। अंगभूत नायक में प्रधान नायक की अपेक्षा महासत्त्वादि गुण कुछ कम और अव्यवस्थित होते ही हैं। अतः, परशुराम जैसे अंगभूत नायक में विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न गुणों से युक्त चरित्र-चित्रण उचित ही है। किन्तु, प्रधान नायक में इस प्रकार का चित्रण उचित नहीं होगा। उदाहरणार्थ राम जैसे धीरोदात्त नायक के लिए छिपकर कपट से बालि का वध करना उनके धीरोदात्तत्व के प्रतिकूल पड़ता है। इससे उनके महासत्त्वादि में दोष आ जाता है। ऐसे-ऐसे स्थलों पर कुशल नाटककार कुछ परिवर्त्तन करके कथावस्तु को प्रस्तुत करता है, जिससे नायक के धीरोदात्तत्व में किसी प्रकार की त्रुटि न आने पावे। नाटक का प्रधान नायक धीरोद्धत को नहीं बनाया जाता, सदा धीरोदात्त को ही बनाया जाता है। महावीरचरित में राम प्रधान नायक तथा परशुराम अंगभूत नायक के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि से नायक के भेद : संस्कृत-नाटकों का विषय सामान्यतः प्रेम रहता है। अतः नायिका के प्रति नायक के व्यवहार या दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर आचार्यों ने नायक के अन्य चार विभाग किये हैं। जब नायक किसी नवीन नायिका के प्रेम के वशीभूत हो जाता है, तो वह पहली नायिका के प्रति जो व्यवहार करता है, उसके आधार पर नायक के तीन भेद किये गये हैं—दक्षिण, शठ और धृष्ट। कुछ नायक पहली नायिका में ही सदा अनुरक्त रहते हैं, और फलस्वरूप किसी नवीन नायिका के प्रेम में पड़ते ही नहीं। वे अनुकूल कहे जाते हैं। इस प्रकार, नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि से नायक के चार भेद होते हैं। पहले नायक के चार भेद धीरोदात्त आदि बताये गये और अब उपर्युक्त चारों के चार-चार भेद हुए। अर्थात् उपर्युक्त चार भेदों में से प्रत्येक नायक दक्षिण, शठ, धृष्ट या अनुकूल हो सकता है। इस प्रकार नायक के १६ भेद हुए।

दक्षिण : दक्षिण नायक नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्व नायिका के प्रति अपने व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आने देता। वह पूर्व नायिका को अपने प्रति उदासीनता का अनुभव नहीं होने देता। दक्षिण नायक ज्येष्ठा नायिका के प्रति भी सहृदयता का व्यवहार करता है। नाटिकाओं के नायक प्रायः दक्षिण होते हैं, जैसे वत्सराज उदयन।

शठ : शठ नायक ज्येष्ठा का अनिष्ट तो करता ही है, परन्तु छिप-छिपकर प्रकाश्य रूप से वह ज्येष्ठा से प्रेम ही दिखाता है। नवीन नायिका के प्रेम-पाश में पड़कर शठ नायक उससे छिपकर प्रेम-चेष्टाएँ करता है। दक्षिण नायक और शठ नायक में इस अर्थ में समानता है कि दोनों ज्येष्ठा से छिपाकर नवीन नायिका से प्रेम करते हैं, दोनों ही ज्येष्ठा का अनिष्ट करते हैं; क्योंकि ज्येष्ठा नायिका कदापि नहीं पसन्द करेगी कि नायक किसी दूसरी नायिका से प्रेम-व्यापार करे, भले ही उसका व्यवहार बहुत सहृदयतापूर्ण हो। दोनों प्रकार के नायकों में ज्येष्ठा नायिका के प्रति विप्रकारित्व समान रूप से पाया जाता है। फिर भी दोनों में स्पष्ट अन्तर है। दक्षिण नायक में ज्येष्ठा के प्रति सहृदयता पाई जाती है, वह कभी भी उसके हृदय को चोट पहुँचना नहीं चाहता। इसके विपरीत शठ नायक भले ही बाहर से मीठी-मीठी बातें करे, परन्तु उसका हृदय साफ नहीं रहता, उसमें ज्येष्ठा के प्रति सहृदयता नहीं रहती।

धृष्ट : नायक कभी-कभी छिपकर नवीन नायिका के साथ शृंगार-चेष्टाएँ या प्रेम-व्यापार करता है और इन चेष्टाओं के चिह्न प्रायः उसके शरीर पर लग जाते हैं। इसी रूप में नायक ज्येष्ठा नायिका के सामने जाता है और उसके ये सारे अंग-विकार ज्येष्ठा नायिका के सामने प्रकट हो जाते हैं। उसे यह भान हो जाता है कि नायक ने छिपकर नवीन नायिका के साथ शृंगार-चेष्टाएँ की हैं। ऐसा नायक धृष्ट कहा जाता है। धृष्ट नायक इतना ढीठ होता है कि उन अंग-विकारों से युक्त होकर भी ज्येष्ठा नायिका के सामने जाने में उसे कोई हिचक नहीं होती। शठ नायक जहाँ कनिष्ठा नायिका से छिप-छिपकर शृंगार-चेष्टाएँ करता है, परन्तु ज्येष्ठा से भी मीठी-मीठी बातें करता है, वहाँ धृष्ट नायक कनिष्ठा नायिका के प्रति अपना प्रेम छिपाने की भी चेष्टा नहीं करता और अंग-विकारों से युक्त होकर भी ज्येष्ठा के सामने जाने में नहीं हिचकता। धृष्ट नायक ज्येष्ठा के प्रति अपराध करके भी निःशंक रहता है, झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित नहीं होता और दोष दीख जाने पर भी झूठ बोलता जाता है। वह धोखेबाज होता है और ज्येष्ठा नायिका की परवाह नहीं करता। कभी-कभी वह प्रकाश्य रूप से कनिष्ठा के साथ प्रेम-व्यापार करता है। धनंजय ने धृष्ट नायक का लक्षण अन्य नायकों की तरह, छोटा दिया है : **व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टः।**[1] परन्तु, विश्वनाथ ने कुछ लम्बा लक्षण दिया :

कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः॥[2]

अनुकूल : जो नायक एक ही नायिका में सदा आसक्त रहता है, वह अनुकूल कहा जाता है। वह किसी भी दशा में दूसरी नायिका से प्रेम करने की बात नहीं सोचता।

---

१. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, का० ७

२. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक ३६

अनुकूल नायक के उत्कृष्ट उदाहरण रामचन्द्र हैं। भवभूति ने उत्तररामचरित में रामचन्द्र का जो चरित्र प्रस्तुत किया है, वह अनुकूल नायक का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

उपर्युक्त सोलह प्रकार के नायकों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इस प्रकार नायक के अड़तालीस (१६ × ३ = ४८) भेद होते हैं। इन अड़तालीस के भी दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य– तीन-तीन भेद और भी माने जाते हैं। दिव्य देवता, अदिव्य मनुष्य और मनुष्य का रूप धारण किये देवता दिव्यादिव्य कहलाते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर नायक के एक सौ चौवालीस (४८ × ३ = १४४) भेद होते हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रधान नायक में विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न गुण—उदात्तत्व, उद्धत्व, ललितत्व और प्रशान्तत्व—नहीं दिखाये जा सकते, किन्तु किसी अंगभूत नायक में ये चारों गुण अवस्था-भेद से दिखाये जा सकते हैं। किन्तु इन चारों गुणों—अनुकूलत्व, दक्षिणत्व, शठत्व तथा धृष्टत्व का चित्रण किसी एक ही नायक में भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अनुचित या असंगत नहीं है। नायक प्रधान हो या अंगभूत, विभिन्न अवस्थाओं में उसका चित्रण अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट रूप में हो सकता है। एक अवस्था के पश्चात् दूसरी अवस्था में इन गुणों का आश्रय लिया जा सकता है; क्योंकि ये अवस्थाएँ परस्पर सापेक्ष हैं। जैसे एक ही नायक पहले ज्येष्ठा नायिका के प्रति सहृदय रहता है, अतः दक्षिण नायक रहता है। फिर वही छिप-छिपकर कनिष्ठा से प्रेम-व्यापार करता है, फलस्वरूप शठ नायक हो जाता है। कुछ कालोपरान्त उसकी ऐसी चेष्टा स्पष्ट रूप से ज्येष्ठा को विदित हो जाती है और वह नायक को भला-बुरा कहती है, अतः वह धृष्ट नायक की श्रेणी में आ जाता है। इस प्रकार अवस्था-भेद के अनुसार प्रधान नायक में भी दाक्षिण्य आदि भेदों का समावेश कराना असंगत या अनुचित नहीं है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि रत्नावली आदि नाटिका के नायक वत्सराज उदयन आदि को किस श्रेणी में रखें; क्योंकि वत्सराज में कभी दक्षिणत्व, कभी शठत्व और कभी धृष्टत्व का समावेश पाया जाता है। एक ही नायक में विभिन्न अवस्थाएँ देखने से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। दशरूपक के वृत्तिकार धनिक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। रत्नावली नाटिका का नायक वत्सराज उदयन जबतक दूसरी नायिका से प्रेम नहीं करता, तबतक उसे अनुकूल नायक मानना चाहिए। इस प्रकार कामदेव-पूजा तक वत्सराज अनुकूल नायक हैं। नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर वह दक्षिण नायक की कोटि में आ जाता है। यद्यपि वत्सराज सागरिका से छिप-छिपकर प्रेम करके ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता के प्रति अपराध करता है तथापि वह सदा वासवदत्ता के प्रति सहृदय बना रहता है, अतः उसे दक्षिण-कोटि का ही नायक माना जायगा, शठ अथवा धृष्ट कोटि का नहीं। दोनों नायिकाओं से समान रूप से प्रेम करने में धनिक ने कोई अस्वाभाविकता नहीं देखी; क्योंकि कई महाकवियों ने अपने काव्यों में दक्षिण नायक का समान और पक्षपात-शून्य प्रेम कई नायिकाओं के साथ चित्रित किया है।

प्रतिनायक : नायक की फल-प्राप्ति में विघ्न उपस्थित करनेवाला, नायक का शत्रु प्रतिनायक कहा जाता है। प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, घमण्डी, पापी तथा व्यसनी होता है। जैसे महावीरचरित में रावण तथा वेणीसंहार में दुर्योधन प्रतिनायक हैं। रावण राम की फल-प्राप्ति में तथा दुर्योधन युधिष्ठिर की फल-प्राप्ति में बाधक है। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'विशाख' में राजा नरदेव प्रतिनायक के रूप में चित्रित किया गया है।

नायक के सहायक

काव्य और नाटक में नायक के कुछ साथी और सहायक संयोजित किये जाते हैं। ये सहायक कथावस्तु को आगे बढ़ाते हैं और नायक को सहायता करते हैं। नायक के सहायक कई श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। सबसे प्रमुख शृंगार-सहायक हैं, जिनमें निम्नलिखित हैं :

१. विट, २. चेट, ३. विदूषक, ४. मालाकार, ५. रजक, ६. तमोली, ७. गन्धी।

पीठमर्द : नायक के सहायकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पताका नायक होता है, जिसे पीठमर्द भी कहते हैं। पताका नायक प्रधान नायक का भक्त तथा अनुचर होता है और इसमें प्रधान नायक की अपेक्षा कुछ कम गुण होते हैं। प्रधान कथावस्तु का नायक प्रधान नायक होता है और प्रासंगिक कथावस्तु के भेद पताका का नायक पीठमर्द होता है। 'मालतीमाधव' में मकरन्द पीठमर्द है और प्रधान नायक माधव का सहायक है। रामायण में सुग्रीव प्रधान नायक रामचन्द्र का सहायक है, जो पताका नायक तथा पीठमर्द है। मकरन्द और सुग्रीव दोनों रामचन्द्र और माधव से गुणों में न्यून हैं और उनके सुदूरवर्त्ती चरित में सहायक हैं।

विट : धनंजय ने विट का लक्षण लिखा है : **'एकविद्यो विटः'**[1] अर्थात् विट वह है, जो एक विद्या में निपुण होता है। नाटक के लिए उपयोगी नृत्य, गीत आदि विद्याओं में से किसी एक विद्या का ज्ञाता विट कहा जाता है। शारदातनय ने इस लक्षण में थोड़ा विस्तार किया है। उनके अनुसार विट एक विद्या का ज्ञाता होने के साथ कामतन्त्र में कुशल होता है :

एकविद्यो विटस्तस्य कामतन्त्रेषु कौशलम्।[2]

विश्वनाथ ने विट का लक्षण अधिक विस्तार से लिखा है। भोग-विलास में अपनी सम्पत्ति खो चुकनेवाला, धूर्त्त, नृत्य-गीतादि कलाओं के एक अंश का ज्ञाता, वेश्याओं का आदर-सत्कार करने में कुशल, बातचीत में चतुर, मधुरभाषी तथा गोष्ठी में आदर पानेवाला व्यक्ति विट कहा जाता है :

---

१. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, का० ९

२. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, पृ० ९४

सम्भोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्त्तः कलैकदेशज्ञः ।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥[1]

यह धूर्त्त होता है और सम्भोग-विषयों में अनजान समझा जाता है, पर वेशोपचार में निपुण और वाचाल होता है। विट का चरित्र बहुत सरलता से नहीं समझा जा सकता। वह किसी पुरुष या स्त्री के सहचर के रूप में प्रस्तुत होता है। यदि वह किसी स्त्री का सहायक होता है, तो वह स्त्री वेश्या ही रहती है। वह प्रायः अपने साथी से घनिष्ठ दिखाया जाता है, परन्तु उसका आश्रित रहता है। वह प्रायः किसी धनी व्यक्ति के पास किसी कला के शिक्षक और सहचर के रूपों में रखा जाता है, परन्तु उस कला की शिक्षा देता हुआ प्रायः नहीं दिखाया जाता।

भाण में विट आवश्यक पात्र होता है, जो अपने धूर्त्ततापूर्ण अनुभवों का वर्णन करता है। किन्तु, दूसरे प्रकार के रूपकों में उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता। कालिदास और भवभूति ने अपने नाटकों में उसका अवतारण नहीं किया। मृच्छकटिक में ही वह पूर्णता को प्राप्त हुआ है। धनिक ने विट के उदाहरण के रूप में नागानन्द नाटक के शेखरक को रखा है।

विदूषक : नाटक में विदूषक हास्यकारी पात्र होता है। विदूषक के विचित्र और बेढंगे वेश, विकृत अंग और वचन से हास्य उत्पन्न होता है। वह दूसरों को लड़ाने में प्रसन्न रहता है और अपने मतलब का पूरा होता है, अपने खाने-पीने की बात कभी नहीं भूलता। विश्वनाथ ने विदूषक का लक्षण देते समय बताया है कि उसका नाम किसी फूल अथवा वसन्तादिक ऋतु पर होता है।

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः ॥[2]

संस्कृत-नाटक में विदूषक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटक में वह हास्य-व्यंग्य उत्पन्न करके मनोरंजन का साधन तो बनता ही है, परन्तु उसका कार्य इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वह राजा या नायक का अन्तरंग सखा होता है, साथ ही राजा के अन्तःपुर का आलोचक भी। वैसे वह मूर्ख दिखाई देता है, परन्तु कभी-कभी ऐसी बातें करता है, जिससे उसकी बुद्धिमत्ता का पर्याप्त परिचय मिलता है। वह जाति का ब्राह्मण होता है। संस्कृत-नाटकों में वह अपने पेटूपन और मोदक-प्रेम के लिए ख्यात या कुख्यात है। उसकी प्रत्येक क्रिया, चाल-ढाल, बातचीत, वेश-भूषा हास्यजनक होती है। वह नाटा, कुबड़ा, खल्वाट् और दन्तुल होता है। उसके केश और नेत्र पिंगल होते हैं। वह जाति का ब्राह्मण होकर भी प्राकृत भाषा का ही व्यवहार करता है। भरत मुनि ने विदूषक की बाह्याकृति का वर्णन दिया है :

---

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० ४१
२. वही, का० ४५

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विज्ञेयो विदूषकः ॥[1]

नाटक के सभी पात्र विदूषक से दिल्लगी करते हैं । परन्तु, वह सदा राजा का समर्थन करता है । वह राजा या नायक का विश्वासपात्र होता है और राजा उससे अपनी गुप्त प्रेम-मन्त्रणा भी खोल देता है । वह प्रायः राजा के गुप्त प्रेम-व्यापार में सहायता भी प्रदान करता है । अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का विदूषक और मृच्छकटिक का मैत्रेय उदाहरण के रूप में रखे जा सकते हैं । मृच्छकटिक में विदूषक अपनी नैतिकता तथा मित्र के प्रति निष्ठा के कारण विशेष स्थान प्राप्त कर लेता है । यह पात्र सदा चंचल या कार्यव्यस्त रहता है और इसमें कभी-कभी वाग्विदधता भी रहती है ।

आचार्यों ने इसका कोई कारण नहीं बताया कि क्यों वह ब्राह्मण होकर भी इस प्रकार हास्यास्पद तथा बेढंगा पात्र बनाया गया है । अश्वघोष और भास ने भी अपने नाटकों में विदूषक का अवतरण किया है और प्रायः सभी परवर्त्ती नाटकों में यह पात्र रखा गया है । रामायण आदि के कथानक पर जो नाटक लिखे गये, केवल उन्हीं में विदूषक नहीं रखा गया । मालतीमाधव में विदूषक अलग से कोई पात्र नहीं है, परन्तु नायक माधव का मित्र ही विदूषक का कार्य सम्पन्न करता है । वास्तव में यह बुद्धिमान् ब्राह्मण होता है और मनोरंजन के लिए नियुक्त होने के कारण इसे ऐसा आचरण करना पड़ता है ।

भरत मुनि ने बताया है कि देवताओं के विदूषक लिंगी (संन्यासी), राजाओं के विदूषक ब्राह्मण, सेनापति और अमात्य के विदूषक राजपुरुष और ब्राह्मण, नायकों के विदूषक उनके शिष्य होते हैं ।

विदूषक के विषय में श्री एच्० एच्० विल्सन ने लिखा है :

"He bears more affinity to sancho Panza, perhaps than any other character in Western fiction, imitating him in his combination of shrewdness and sincerity, his fondness for good living and his love of ease. In the dramas of intrigue, he exhibits some of the talents of mercury, but with less activity and ingenuity, and occasionally suffers by his interference."[2]

शकार : मदान्ध, नीच कुलोत्पन्न, घमंडी, मूर्ख, सम्पत्तिशाली, राजा की अविवाहिता स्त्री का भाई शकार कहा जाता है । वह शीघ्र ही क्रुद्ध और शीघ्र ही प्रसन्न होता है । उसे अपने पद का अभिमान रहता है, परन्तु अयोग्यता तथा भ्रष्टाचार के कारण वह अपने पद का निर्वाह नहीं कर पाता । मृच्छकटिक और चारुदत्त प्रकरणों में शकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है । अभिज्ञानशाकुन्तल में भी शकार को स्थान दिया गया है, परन्तु धीरे-धीरे संस्कृत-नाटकों से इसका लोप हो गया । इससे स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भिक

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २४, का० १०३
२. दि थियेटर ऑव दि हिन्दूज, पृ० ३१

नाटकों में ही शकार का प्रयोग होता था। शकार 'श' अक्षर का प्रयोग अधिक करता था; क्योंकि शकारी भाषा में 'श' का प्रयोग अधिक है। सम्भवतः इसीलिए उसे 'शकार' कहा जाता था।

चेट : भरत मुनि ने चेट में कुछ विशेष गुणों का संकेत किया है। उसे कलाप्रिय तथा मान्यामान्य विशेषज्ञ भी बताया गया है। नाट्यशास्त्र में चेट के विषय में लिखा है :

कलाप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटो ह्येवंविधः स्मृतः ॥[1]

परन्तु, विश्वनाथ ने चेट का केवल नाम गिनाकर छोड़ दिया है; वृत्ति में इतना ही लिखा है : **'चेटः प्रसिद्ध एव।'**

नायक के अन्य सहायक

ऊपर नायक के श्रृंगार-सहायकों का विवरण दिया गया। इनके अतिरिक्त नायक के निम्नलिखित अन्य सहायक भी होते हैं : १. अर्थचिन्ता-सहायक, २. धर्म-सहायक, ३. दण्ड-सहायक, ४. अन्तःपुर-सहायक और ५. संवाद-सहायक।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के चौबीसवें अध्याय में नायक के सहायकों का विस्तार से वर्णन किया है। परवर्ती आचार्यों ने उसी को थोड़ा-बहुत संक्षेप करके अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। कई व्यक्ति अन्तःपुर के सहायक होते हैं। अनेक वर्षधर या वर्षवर (हिजड़े), निर्मुण्ड तथा उपस्थामिक अन्तःपुर में नियुक्त किये जाते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इनके कार्यों का बँटवारा भी कर दिया है :

शुद्धान्ते कारुको द्वाःस्थः कञ्चुकी शुभकर्मणि।
वर्षवरस्तु रक्षायां निर्मुण्डिः प्रेषणे स्त्रियाः ॥[2]

भरत मुनि ने विस्तार से सबके लक्षण दिये हैं। इनके अतिरिक्त विश्वनाथ ने अन्तःपुर के अन्य सहायक बताये हैं : कुबड़े, गूँगे, बौने, म्लेच्छ, चेट, किरात, अहिर, माली, तमोली, गन्धी आदि। प्रेमिकाओं के पास भेजने के लिए या अन्तःपुर में रखने के लिए ऐसे ही व्यक्तियों को चुना जाता है, जिन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया है या जो ऐसी शक्ति से वंचित हों कि उन्हें अन्तःपुर में रखा जा सके। स्थानक वह ब्राह्मण होता है, जिसने धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त कर लिया है और जो धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों का ज्ञाता है। वह राजप्रासाद में ही निवास करता है।

कंचुकी : कंचुकी वृद्ध ब्राह्मण होता है। उसका पूरा जीवन राजा की सेवा में ही बीता रहता है, परन्तु शरीर से वृद्ध होने पर भी मन और बुद्धि से कार्य-तत्पर रहता है।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २४, कारिका १०३

२. नाट्यदर्पण, खण्ड ४, का० १७

वह राजाज्ञा अन्त:पुर में पहुँचाने में चतुर होता है। विद्या-सत्य-सम्पन्न तथा काम-दोषविवर्जित होना कंचुकी के विशेष गुण हैं।

दूत : दूत किसी कार्य की सिद्धि के लिए या सन्देश लेकर भेजे जाते हैं। राजा को अपने प्रेम-व्यापार में तथा अन्य गम्भीर कार्य में भी दूत की सहायता की आवश्यकता होती है। दूत को कई गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक है : जैसे वफादारी, साहस, शक्ति, अच्छी स्मरण-शक्ति आदि। साहित्यदर्पण में दूत के तीन भेद बताये गये हैं। कभी-कभी दूत को किसी विशेष अवसर पर कार्य करने का पूर्ण अधिकार रहता है। ऐसे दूत को नि:सृष्टार्थ कहते हैं। ऐसा दूत भेजनेवाले के और जिसके पास भेजा जाय उसके मनोभावों को जानता है और स्वयं ही उसका उत्तर-प्रत्युत्तर देकर उत्तम प्रकार के कार्य की सिद्धि करता है। कभी-कभी दूत को परिमित कार्य का अधिकार रहता है, उसे मितार्थ दूत कहते हैं। ऐसा दूत थोड़ा ही बोलता है और कार्य की सिद्धि कर देता है। कभी-कभी दूत केवल सन्देशवाहक ही रहता है, जिसे सन्देशहारक कहते हैं। वह उतनी ही बात कहता है जितनी उससे कही जाती है।

राजकार्य या दण्ड-सहायक : भरत मुनि ने नायक या राजा के राजकार्य के सहायकों का वर्णन किया है। मन्त्री या अमात्य उच्च कुलोत्पन्न, बुद्धि-सम्पन्न कर्मचारी होता है। वह श्रुतिनीति-विशारद, पराक्रमी, प्रियभाषी, अर्थशास्त्र में कुशल, राजा का हितैषी, स्वदेशानुरागी, पवित्र तथा धार्मिक होता है। सेनापति भी कुलीन, दोष-रहित, शीलवान्, युद्ध के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों का ज्ञाता और प्रियभाषी होता है। वह शत्रु की दुर्बलता पूर्ण रूप से जानता है और उचित अवसर पर शत्रु पर आक्रमण करता है। प्राड्-विवाक, बुद्धिमान्, विद्वान्, धार्मिक, समदर्शी, शान्त तथा निष्पक्ष होता है। लोकाचार तथा अर्थशास्त्र के सब तत्त्वों को जाननेवाला, क्षमाशील, जितेन्द्रिय, कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य समझनेवाला और क्रोध पर विजय पानेवाला होता है। दण्ड-सहायक दुष्टों का दमन करने में सहायता प्रदान करते हैं। वे सुहृद् (मित्र), कुमार, आटविक (सीमा-रक्षक), सामन्त और सैनिक आदि होते हैं।

अर्थचिन्ता-सहायक : नाटकों में नायक विशेष रूप से राजा ही होते हैं, जिन्हें अपनी अर्थ-व्यवस्था के लिए मन्त्री और कोषाध्यक्ष पर निर्भर रहना आवश्यक होता है। धीर-ललित नायक को अपनी अर्थसिद्धि के लिए मन्त्री आदि पर विशेष रूप से निर्भर रहना पड़ता है और धीरप्रशान्त नायक को धन की कोई विशेष चिन्ता रहती ही नहीं। दण्ड-सहायक और अर्थचिन्ता-सहायक राज्य-व्यवस्था के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

धर्म-सहायक : विश्वनाथ ने धर्मकार्य में भी सहायकों का वर्णन किया है। धर्म-कार्य में नायक के सहायक हैं : ऋत्विक् (यज्ञ करानेवाले), पुरोहित (कुलगुरु), तपस्वी, ब्रह्मवादी (आत्मज्ञानी), वेदवेत्ता आदि।

इनमें पीठमर्द, मन्त्री, पुरोहित आदि उत्तम कोटि के, विट तथा विदूषक मध्यम कोटि के और चेट, शकार, तमोली, गन्धी आदि अधम कोटि के सहायक माने जाते हैं।

नायक के सात्त्विक गुण : पहले नायक के गुणों का वर्णन किया जा चुका है। उनमें शायद ही कोई गुण छूटा हो, परन्तु आचार्यों को जैसे उतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने नायक में आठ सात्त्विक गुणों का फिर समावेश किया। धनंजय के अनुसार वे सात्त्विक गुण हैं :

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः ॥[1]

विश्वनाथ ने धनंजय का ही श्लोक अपने साहित्यदर्पण में रख लिया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में वे ही गुण दूसरे ढंग से गिनाये हैं :

तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गभीरता।
औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥[2]

रस-प्रकरण में स्वेदादि सात्त्विक गुणों का उल्लेख होगा, परन्तु वे स्त्री-पुरुष में साधारण हैं। किन्तु, प्रस्तुत गुण केवल पुरुषों में ही पाये जाते हैं, स्त्रियों में नहीं। ऊपर गिनाये गये सात्त्विक गुणों का परिचय दिया जा रहा है।

शोभा : शोभा नामक सात्त्विक गुण वहाँ देखा जाता है, जहाँ शूरता तथा दक्षता पाई जाती हो। शोभा में दो बातों का समावेश होता है : (क) नीचता के प्रति घृणा, और (ख) अधिक के प्रति स्पर्द्धा।

नीचता के प्रति घृणा : शोभा का यह उपादान प्राचीन सदर्प उच्चकुल में उत्पन्न होने के भाव का अवशेष है। इस घृणा का कार्य केवल दूसरों से जुगुप्सा ही नहीं कराता है, वरन् दया भी दिखाता है। दया के आधार पर ही यह घृणा स्थित है। धनिक ने दशरूपक की टीका में इसका उदाहरण महावीरचरित से उपस्थित किया है :

उत्ताल-ताडकोत्पात-दर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥

—अर्थात् भयंकर ताडका का रूप देखकर जो डरा नहीं, वह उसे स्त्री समझकर मारने में संकोच कर रहा है। किन्तु, यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि इस विचिकित्सा के मूल में नीच कर्म है, नीच व्यक्ति नहीं। राम के मन में ताडका के लिए घृणा नहीं है, वरन् वे उसे मारने से घृणा करते हैं। इसका कारण यह है कि ताडका स्त्री है और स्त्री पर अस्त्र-प्रहार करना वीरों के लिए उचित नहीं। स्त्री अबला समझी जाती है और अपने उत्पातों के बावजूद वह स्त्री ही है। परन्तु, उच्चकुल में उत्पन्न होने की भावना दुर्बलता

१. दशरूपक, द्वितीय प्रकाशन, का० १०
२. नाट्यदर्पण, भाषा ४, का० ८

की भी गणना नीचता में करती है । पर, सामान्य अर्थ में घृणा कभी भी शोभा का कारण नहीं बन सकती ।

अधिक के प्रति स्पर्द्धा : जो बढ़ा हुआ है, उससे भी बढ़ जाने की इच्छा स्पर्द्धा है । इसी स्पर्द्धा की भावना के कारण महान् व्यक्ति बहुत बड़े-बड़े कार्य कर देते हैं ।

शोभा दो प्रकार की मानी गई है : शौर्यशोभा और दक्षशोभा । शौर्यशोभा में वीरता की प्रमुखता रहती है और दक्षशोभा में क्षिप्रकारिता तथा कौशल की ।

विलास : नायक में विलास नामक सात्त्विक गुण वहाँ पाया जाता है, जहाँ उसमें धैर्ययुक्त दृष्टि तथा धैर्ययुक्त गति पाई जाय और उसकी वाणी स्मृतियुक्त हो ।

माधुर्य : बहुत बड़े क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी यदि नायक में घबराहट नहीं हो या अल्प हो, तो माधुर्य नाम का सात्त्विक गुण होता है ।

गाम्भीर्य : जब विकार के बहुत बड़ा हेतु होने पर भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, कुछ भी विकार नहीं दिखाई पड़ता, तो गाम्भीर्य नामक सात्त्विक गुण होता है

स्थैर्य : स्थैर्य वह सात्त्विक गुण है, जब नायक अनेक विघ्नों के उपस्थित होने पर भी उनसे विचलित नहीं होता, अपने मार्ग पर डटा रहता है ।

तेज : किसी के द्वारा किये हुए आक्षेप और अपमानादि का प्राण जाने पर भी सहन नहीं करना, तेज नामक सात्त्विक गुण कहा जाता है ।

ललित : स्वाभाविक कोमलता से पूर्ण शृंगारपरक चेष्टाओं का पाया जाना ललित कहा जाता है ।

औदार्य : जहाँ प्रिय वचनों के द्वारा नायक प्राण तक न्यौछावर करने को तैयार हो तथा सज्जनों को अपने आचरण के बल पर अनुकूल बना ले, वहाँ उसमें औदार्य नामक सात्त्विक गुण समझा जाना चाहिए । धनिक तथा विश्वनाथ ने इन सभी गुणों के उपयुक्त उदाहरण दिये हैं ।

यूनानी त्रासदियों के नायकों के गुणों से तुलना : यहाँ यूनानी त्रासदियों के नायकों के गुणों से तुलना की जा सकती है । अरस्तू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पोएतिका' में त्रासदी के नायक के गुणों का वर्णन किया है । पहले उन्होंने बताया है कि किन-किन गुणों-वाला व्यक्ति त्रासदी का नायक नहीं हो सकता । फिर अन्त में उन्होंने नायक के गुणों का निर्देश किया है :

"There remains, then, the character between these two extremes—that of a man who is not eminently good and just, yet whose misfortune is brought about not by vice and depravity, but by some error or frailty. He must be one who is highly renowned and prosperous."[१]

अरस्तू के मतानुसार त्रासदी का नायक नैतिक दृष्टि से दोनों छोरों के मध्य में स्थित होता है । वह सर्वथा उत्तम ही नहीं होता, यद्यपि उत्तमता की ओर झुका रहता है ।

१. Aristotle's *Poetics*, translated by S. H. Butcher, p. 47.

वह विपद्ग्रस्त हो जाता है, इसलिए नहीं कि वह पापी या अनैतिक है, प्रत्युत इसलिए कि उसके चरित्र में कहीं कोई त्रुटि है या अपने आचरण में भयंकर भूल कर देता है। वह धन या पद की दृष्टि से महान् होता है। इसकी आवश्यकता इसलिए समझी गई है कि विपद् (catastrophe) स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जाय। पूर्णतः दोष-रहित चरित्र त्रासदी के नायक के लिए अयोग्य समझा गया है। क्योंकि, सर्वथा अकारण कष्टों से करुणा तथा भय के स्थान पर विकर्षण की भावना उत्पन्न होगी। त्रासदी में करुणा तथा भय की भावनाओं का संचार आवश्यक है।

सुखान्त नाटकों में दिखाया जाता है कि सज्जन व्यक्ति दुःख की अवस्था से निकलकर सुख प्राप्त करता है। ग्रीक तथा अन्य नाट्य-साहित्य में सुखान्त नाटकों की भी योजना की गई है, जिनमें सज्जनों को सुख-प्राप्ति तथा दुर्जनों को दुःख-प्राप्ति दिखाई जाती है। ऐसे नाटकों में सभी झगड़े समाप्त हो जाते हैं, शत्रु विदा होते समय मित्र हो गये रहते हैं, कोई न मरता है और न मारा जाता है।

संस्कृत के नाट्याचार्यों ने नायक के चुनाव में भी कतिपय प्रतिबन्धों का विधान किया है। नायक सर्वगुण-सम्पन्न होता था और उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहती थी। वह वीरता तथा साहस का प्रतीक हुआ करता था तथा सामान्य जनता के लिए आदर्श होता था। परन्तु, यूनानी और अँगरेजी-नाटककारों ने ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। उनका विचार था कि सर्वगुण-सम्पन्न कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता, अतः नायक ढूँढ़ना या बनाना असम्भव ही है। यदि संयोग से ऐसा व्यक्ति मिल भी जाय तो वह आदमी नहीं, देवता भले ही होगा। इसके साथ ही उनका विश्वास था कि मनुष्य की महत्ता के लिए उसमें कुछ त्रुटियों या अवगुणों का रहना आवश्यक है, नहीं तो अवगुण-विहीन मनुष्य सांसारिक जीवन में किसी काम का नहीं रहता। मनुष्य में मनुष्यता रहने के लिए अवगुण का रहना नितान्त आवश्यक है। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर यूनानी और अँगरेज नाटककारों ने संस्कृत-नाटककारों के समान श्रेष्ठ वीरों, राजाओं को नायक बनाकर भी उनमें किसी-न-किसी त्रुटि का समावेश कर दिया है और इस प्रकार उन्हें मनुष्य बनाये रखने का प्रयास किया है। उन सभी श्रेष्ठ नायकों में एकांगी दोष रहता है। एकांगी दोष से तात्पर्य ऐसे दोष से है, जो उन्हें किसी विशेष प्रकार से सोचने या कार्य करने या कल्पना करने को विवश करता है। इसी एकांगी दोष के कारण वह अपना कार्य करते-करते रह जाता है और वह या तो आत्महत्या कर लेता है या कोई अन्य पात्र उसकी हत्या कर देता है।

नायिका

अभी नायकों का विवेचन हुआ। नायक की प्रिया या पत्नी नायिका कही जाती है। परन्तु, आधुनिक पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्त में यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि नायिका नायक की प्रिया या पत्नी ही हो। पाश्चात्त्य विद्वान् मानते हैं कि कथा-प्रवाह में

जिस स्त्री का मुख्य भाग रहता है, वही नायिका होती है, भले ही वह नायक की प्रिया या पत्नी नहीं हो। किन्तु, भारतीय नाट्याचार्य नायक की प्रिया को ही नायिका मानते हैं। संस्कृत-नाटकों या अन्य रूपकों में नायक के ही समान नायिका का भी महत्त्व है, विशेषत: शृंगार-प्रधान रूपकों में। नाटिका में तो नायिका का महत्त्व नायक से भी अधिक होता है। अत:, नायिका का विवेचन तथा वर्गीकरण नाट्याचार्यों का प्रिय विषय रहा है। नायिका नायक के समान गुणों से युक्त मानी जाती है।

वर्गीकरण : भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के चार भेद बताये हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका। परन्तु, परवर्त्ती आचार्यों ने इस वर्गीकरण को मान्यता नहीं दी। उन लोगों ने इस विषय का विवेचन दूसरे ही प्रकार से किया है। नायिका का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया गया है। पहले प्रकार के वर्गीकरण का आधार नायक और नायिका का परस्पर सम्बन्ध है। वर्गीकरण का दूसरा आधार एक ओर नायिका की अवस्था है और दूसरी ओर, नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर उसके प्रति नायिका की प्रतिक्रिया है। तीसरे प्रकार के वर्गीकरण का आधार नायिका की प्रेमगत दशा का वर्णन है।

नायक-नायिका-सम्बन्ध के आधार पर वर्गीकरण : नायक-नायिका के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर नायिका के मुख्य विभाग तीन हैं—स्वकीया या स्वीया, अन्या या परकीया तथा साधारण स्त्री। स्वकीया नायक की विवाहिता पत्नी होती है। इसका उदाहरण उत्तररामचरित की सीता है। अन्या या परकीया नायक की विवाहिता पत्नी नहीं होती है। वह या तो किसी दूसरे की पत्नी रहती है या अनूढा कन्या। साधारण स्त्री या गणिका का उदाहरण मृच्छकटिक की वसन्तसेना है। परकीया नायिका का वर्णन काव्य या नाटक में मुख्य रस के आलम्बन में नहीं किया जाता, परन्तु संस्कृत के बहुत-से मुक्तकों में इसका वर्णन किया गया है।

स्वकीया : स्वकीया नायिका प्रतिव्रता, सच्चरित्र, सरल स्वभाव की तथा लज्जायुक्त और पति के साथ व्यवहार में कुशल होती है। अवस्था के अनुसार स्वीया या स्वकीया नायिका के तीन विभाग किये गये हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा नायिका प्राप्त-यौवना होती है, वह अवस्था तथा काम-वासना दोनों में नई रहती है, बड़ी भोली-भाली तथा प्रेम-कलाओं से अनभिज्ञ; प्रेम-क्रीड़ा से डरी रहती है। वह नायक के समीप जाने पर अकेली रहने से डरती है और नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर उससे क्रोध नहीं करती, केवल अश्रु-विसर्जन करती रहती है। वह मान करने पर भी कोमल ही रहती है और सरलतापूर्वक प्रसन्न की जा सकती है।

कविराज विश्वनाथ ने मुग्धा नायिका के पाँच भेद किये हैं : १. प्रथमावतीर्ण यौवना (जिसमें नवीन यौवन की छटा पहले-पहल विकसित हुई हो); २. प्रथमावतीर्ण मदन-विकारा (जिसमें काम-कलाओं के विलास पहले-पहल आविर्भूत हुए हों); ३ रतिवामा

(जो रति में झिझके और संकोच करे); ४. मानमृदु (जिसका मान चिरस्थायी नहीं हो सके); ५. समधिक लज्जावती (जो अत्यन्त लज्जा करे)। परन्तु, मेरे विचार से ये विभाग अनावश्यक हैं। यदि ऐसे विभाग किये जायँ तो उनका अन्त नहीं होगा। अन्य आचार्यों ने ऐसा कोई विभाग नहीं किया। धनिक ने मुग्धा के अनेक उदाहरण अवश्य दिये, जिनसे मुग्धा नायिका की कई दशाएँ स्पष्ट होती हैं।

स्वकीया नायिका का दूसरा भेद मध्या है। मध्या में यौवन पूर्ण रूप से आ गया रहता है तथा वह काम-वासना प्राप्त कर चुकी होती है। यौवन तथा काम-वासना दोनों की दृष्टि से उसमें पूर्णता आ गई रहती है। विश्वनाथ ने मध्या नायिका के पाँच भेद गिनाये हैं: १. विचित्रसुरता, २. प्ररूढसमरा, ३. प्ररूढयौवना, ४. ईषत् प्रगल्भवचना, ५. मध्यमव्रीडिता। नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर मध्या नायिका क्रुद्ध होती है। ऐसी अवस्था में उसके तीन रूप होते हैं: १. धीरा, २. अधीरा और ३. धीराधीरा। नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर, अर्थात् अन्य नायिका से प्रेम करने पर, धीरा मध्या ताने सुनाकर या उपालम्भ देकर नायक का दिल दुःखाती है। अधीरा मध्या नायक को कटु शब्द भी सुनाती है और रोती भी है। धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है और दूसरी ओर नायक को ताने भी देती है।

प्रगल्भा को कुछ नाट्याचार्य प्रौढा भी कहते हैं। प्रगल्भा नायिका में यौवन का इतना तीव्र प्रवाह रहता है कि वह उस प्रवाह में बह-सी जाती है। काम-सम्बन्धी भावों के आधिक्य के कारण वह पागल-सी हो जाती है। वह बड़ी ढीठ तथा लज्जा-रहित होती है। प्रेम-क्रीड़ा में वह कई प्रकार के अनुभव करती है। विश्वनाथ ने प्रगल्भा के छह भेद बताये हैं: १. स्मरान्धा, २. गाढतारुण्या, ३. समस्तरतकोविदा, ४. भावोन्नता, ५. दरव्रीडा, ६. आक्रान्तनायका। परन्तु, ये सब भेद बताकर व्यर्थ विस्तार किया गया है। नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर मध्या की तरह प्रगल्भा का भी आचरण तीन प्रकार का होता है, अतः उसके भी तीन भेद होते हैं: १. धीरा, २. अधीरा और ३. धीराधीरा। धीरा प्रगल्भा अपराध करनेवाले नायक के प्रति अपना क्रोध दो तरह से प्रकट करती है, या तो नायक का आवश्यकता से अधिक आदर करके उसे लज्जित करती है या उसके प्रति उदासीनता दिखाती है। अधीरा प्रौढा क्रोध में आकर नायक को डराती-धमकाती और यहाँ तक कि उसे मारती-पीटती भी है। धीराधीरा प्रौढा धीराधीरा मध्या की भाँति ही नायक के प्रति व्यंग्योक्ति और ताने का प्रयोग करती है।

इसके साथ ही मध्या तथा प्रगल्भा के तीन भेदों—धीरा, अधीरा और धीराधीरा—के फिर दो-दो भेद किये गये हैं: ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा। नायक की पहली पत्नी को ज्येष्ठा तथा उसकी नई प्रेमिका को कनिष्ठा कहते हैं। उदाहरणार्थ रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता ज्येष्ठा नायिका है और सागरिका है कनिष्ठा। इस तरह मध्या नायिका के छह भेद और प्रगल्भा के छह भेद हुए। मुग्धा एक ही प्रकार की मानी गई है। मुग्धा को भी मिला दिया जाय तो इस वर्गीकरण के अनुसार स्वकीया के १३ भेद हुए।

अन्या या परकीया : नायिका का दूसरा भेद अन्या या परकीया होता है। परकीया नायिका दो प्रकार के की हो सकती है : (१) वह किसी की अनूढा (अविवाहिता) कन्या हो सकती है या (२) किसी अन्य व्यक्ति की परिणीता पत्नी—अन्योढा। नाटकादि रूपकों में अंगी या प्रधान रस के आलम्बन के रूप में अन्योढा—दूसरे की परिणीता पत्नी—का वर्णन कभी नहीं करना चाहिए; क्योंकि दूसरे की विवाहिता पत्नी के प्रति प्रेम करना नीति-विरुद्ध तथा शास्त्रवर्जित है। किन्तु, संस्कृत के अनेक मुक्तक पद्यों में एसी नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन मिलता है। अनूढा कन्या के प्रति प्रेम का वर्णन बहुत अधिक मिलता है; क्योंकि ऐसा प्रेम शास्त्र या नीति के विरुद्ध नहीं है। अनूढा कन्या का रूप हमें शकुन्तला, मालती, सागरिका आदि में देखने को मिलता है। कन्या के प्रति अनुराग अंगी रस तथा अंगरस का भी अंग हो सकता है। इसलिए कन्या के प्रति अनुराग का वर्णन करने में कोई दोष नहीं है।

सामान्या या गणिका : नायिका का तीसरा भेद साधारणा, सामान्या या गणिका है। गणिका कलाचतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त्त होती है। वह दूसरे के धन की ही इच्छा रखती है, उसे प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं। वह गुण-रहित व्यक्ति से भी द्वेष नहीं करती और गुणी से भी प्रेम नहीं करती। कई रूपकों में—विशेषत: प्रकरण, प्रकरणिका तथा भाण में गणिका का भी नायिका के रूप में चित्रण होता है। मृच्छकटिक तथा चारुदत्त प्रकरणों की नायिका वसन्तसेना गणिका ही है। प्रहसन के अतिरिक्त अन्य रूपकों में गणिका को नायक के प्रति अनुरक्त रूप में चित्रित किया जाता है। यदि नायक दिव्य कोटि का हो या राजा हो, तो रूपक में गणिका का अवतरण नहीं करना चाहिए। शारदातनय ने रुद्रट का मत उद्धृत किया है कि गणिका के प्रेम में शृंगार नहीं, वरन् शृंगाराभास होता है :

शृङ्गाराभास एव स्यान्न शृङ्गारः कदाचन।
इति द्विषन्तमुद्दिश्य प्राह श्रीरुद्रटः कविः॥[1]

दशा के आधार पर वर्गीकरण : नायिका का तीसरा वर्गीकरण उसकी दशा के अनुसार किया गया है। इसके अनुसार उपर्युक्त १६ प्रकार [स्वकीया १३+परकीया २ (अन्योढा और अनूढा)+साधारणा १] की नायिकाओं में से प्रत्येक आठ प्रकार की होती है। ये आठ भेद निम्नलिखित हैं :

स्वाधीनपतिका : जिस नायिका का नायक उसके समीप रहकर उसके अधीन होता है, उसे स्वाधीनपतिका अथवा स्वाधीनभर्त्तृका कहते हैं। ऐसी नायिका नायक की समीपता के कारण सदा प्रसन्न रहती है, उसके रतिगुण से आकर्षित होकर प्रिय उसका संग कभी नहीं छोड़ता है।

वासकसज्जा : जो नायिका प्रिय के आने के समय हर्ष से अपने-आपको सजाती है, उसे वासकसज्जा कहते हैं। वासकसज्जा को प्रिय के आगम का निश्चय रहता है और

१. **भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, पृ० ९५**

सजाये हुए महल में सखियाँ उसे आभूषित करती हैं। ऐसी नायिका अपने-आपको सजाती ही है, अपने घर को भी सजाती है।

विरहोत्कण्ठिता : जिस नायिका का प्रिय आने का निश्चय करके भी दैववश नहीं आ सके और इससे जो खिन्न रहती है, उसे विरहोत्कण्ठित कहते हैं। नायिका जानती रहती है कि उसका प्रिय अपराधी नहीं है, केवल विलम्ब करने के कारण वह उत्कण्ठित होकर नायक की प्रतीक्षा करती है। उसके हृदय में आशा और निराशा का संघर्ष होता रहता है।

खण्डिता : जब नायक अन्य स्त्री के संसर्ग को प्रकट करनेवाले चिह्नों के साथ नायिका के पास जाय और नायिका को नायक के अपराध का पता लग जाय एवं नायिका इस अपराध के कारण ईर्ष्या से कलुषित हो जाय, तो वह खण्डिता कहलाती है। खण्डिता नायिका का नायक धृष्ट कहलाता है या यों कहा जा सकता है कि नायक के धृष्ट होने से ही नायिका खण्डिता होती है।

कलहान्तरिता : कलहान्तरिता नायिका नायक के अपराध करने पर पहले उसका तिरस्कार कर देती है, नायक के प्रार्थना करने पर भी क्रोध के कारण उसका अनादर कर देती है, और फिर वियुक्त हो जाने के बाद अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करने लगती है।

विप्रलब्धा : संकेत देकर भी प्रिय जिसके पास संकेत-स्थल तथा समय पर नहीं उपस्थित हो, अतः जो नायिका अपने-आपको अत्यन्त अपमानित समझती है, वह विप्रलब्धा कहलाती है। विप्रलब्धा नायिका संकेत-स्थल पर नायक से मिलने जाती है, परन्तु वहाँ नायक को नहीं पाकर क्षुब्ध होती है; क्योंकि वह नायक के द्वारा ठगी जाती है।

प्रोषितप्रिया : जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य में फँसकर दूर देश में चला जाता है, वह प्रोषितप्रिया या प्रोषितभर्त्तृका कहलाती है। आगे चलकर भूत, वर्त्तमान और भावी—तीन प्रकार की प्रोषितप्रिया नायिका मानी गई।

भूत प्रोषितप्रिया को प्रोषितपतिका, वर्त्तमान प्रोषितप्रिया को प्रवत्सत्पतिका और भावी प्रोषितप्रिया को प्रवत्स्यत्पतिका कहते हैं।

अभिसारिका : जो नायिका काम के वशीभूत होकर किसी संकेत-स्थल पर नायक को बुलावे या स्वयं जाय, वह अभिसारिका कहलाती है। कविराज विश्वनाथ ने कुलीन कामिनी, वेश्या तथा दासी के अभिसरण की अलग-अलग रीतियों पर प्रकाश डाला है। यदि कुलकामिनी अभिसरण करेगी तो भूषणों को निःशब्द करके दबे पाँव, घूँघट निकालकर जायगी। वेश्या सुन्दर वेश धारण करके नूपुर और कंकण झनकारती जायगी। दासी नशे में चूर उल्टी-सीधी बातें करती, विलास में प्रफुल्ल-नयन और बहकी चाल में अभिसरण करेगी। अभिसरण-स्थान खेत, बगीचा, टूटा मन्दिर, दूती का घर, निर्जन स्थान, जंगल, श्मशान या नदी-तट हुआ करते हैं। आगे चलकर आचार्यों ने

अभिसारिका के दो भेद किये –दिवा-अभिसारिका और निशा-अभिसारिका। फिर, निशा-अभिसारिका के भी शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका दो भेद किये गये।

नायिका की इन आठ अवस्थाओं में से किसी एक में दूसरी अवस्था का अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि वे आपस में सर्वथा भिन्न होती हैं। समयानुसार एक ही नायिका की सभी अवस्थाएँ हो सकती हैं, परन्तु कोई भी दो अवस्थाएँ एक साथ वर्त्तमान नहीं रहती हैं। उदाहरणार्थ, स्वाधीनपतिका वासकसज्जा नहीं हो सकती; क्योंकि वासकसज्जा का पति आनेवाला होता है, उसके पास नहीं रहता। इसी प्रकार, वासकसज्जा को स्वाधीनपतिका या प्रोषितपतिका नहीं मान सकते। स्वाधीनपतिका का पति उसके पास रहता है, इसलिए वह विरहोत्कण्ठिता, कलहान्तरिता या विप्रलब्धा नहीं हो सकती। वह खण्डिता भी नहीं है; क्योंकि अपने पति का कोई अपराध नहीं जानती। वह अभिसारिका भी नहीं है; क्योंकि न पति को अपने पास बुलाने की आवश्यकता होती है और न स्वयं उसके समीप जाने की। इसी प्रकार, विरहोत्कण्ठिता वासकसज्जा से भिन्न है; क्योंकि उसके पति के आने की अवधि बीत गई रहती है। विप्रलब्धा का पति आने का वचन देकर भी उसे धोखा देने के उद्देश्य से नहीं जाता, अतः वह वासकसज्जा या विरहोत्कण्ठिता से भिन्न है। कलहान्तरिता में खण्डिता का अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि उसका प्रिय अनुनय-विनय करता है, जिसे वह अस्वीकार करके पीछे पछताती है।

परकीया नायिका की ये आठ अवस्थाएँ नहीं होतीं। उनकी तीन ही अवस्थाएँ होती हैं, चाहे वह ऊढा हो या अनूढा। संकेत-स्थल पर जाने से पहले परकीया विरहोत्कण्ठिता होती है। जब वह विदूषक, दूती या किसी अन्य व्यक्ति के साथ प्रिय के पास जाती है, तो अभिसारिका हो जाती है। किन्तु, यदि उसका प्रिय संकेत-स्थल पर नहीं आया, तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। परकीया की ये ही तीन अवस्थाएँ होती हैं, शेष पाँच नहीं होतीं।

स्वकीया के प्रति नायक के प्रेम को परकीया खण्डित करती है। वस्तुतः, परकीया से सम्बन्ध हो जाने पर स्वकीया ही खण्डिता होती है; स्वकीया के सम्बन्ध से परकीया नहीं। इसी प्रकार, जब प्रिय विदेश चला जाता है, तो परकीया प्रोषितपतिका नहीं होती। मिलने के पहले नायिका और नायक के बीच देश का सदा व्यवधान बना रहता है। इसीलिए, वह मिलन के लिए उत्सुक केवल विरहोत्कण्ठिता ही हो सकती है। परकीया का प्रिय उसके अधीन नहीं होने के कारण उसकी तीन ही अवस्थाएँ होती हैं, अन्य अवस्थाएँ नहीं होतीं। धनिक का यह मत विश्वनाथ ने भी उद्धृत किया है, परन्तु नाम नहीं देकर 'इतिकश्चित्' लिख दिया है। विश्वनाथ ने कहीं-कहीं इन भेदों का सांकर्य भी माना है। उदाहरण के लिए उन्होंने माघ के चार श्लोक उद्धृत किये हैं।

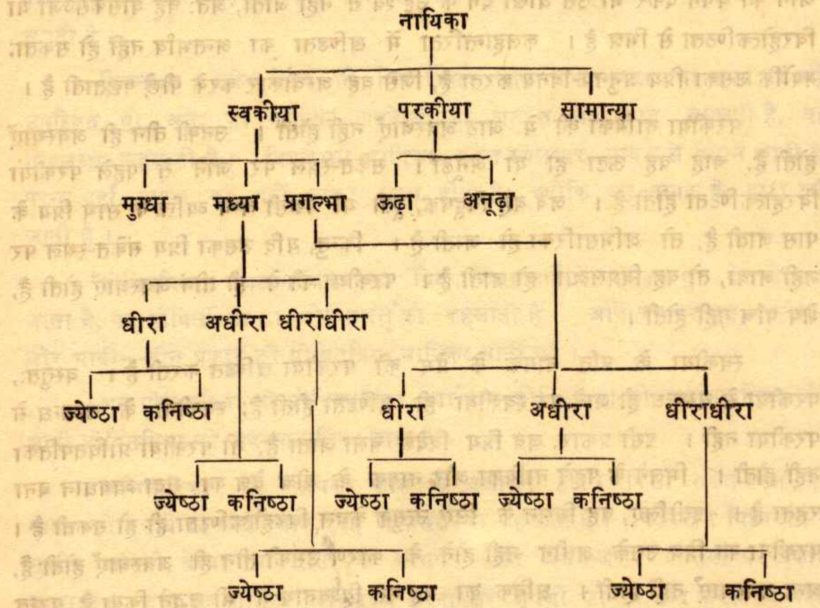
इस प्रकार, नायिकाओं के पूर्वोक्त सोलह भेदों को इन आठ भेदों से गुणा करने पर एक सौ अट्ठाईस (१×६८=१२८) भेद होते हैं। इन सभी नायिकाओं के उत्तम,

मध्यम तथा अधम तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार नायिकाओं के १२८ × ३ = ३८४ भेद हुए। पुराने आचार्यों ने भी ये ३८४ भेद माने हैं। धनंजय, विश्वनाथ आदि ने तो ये भेद माने ही, शारदातनय ने रुद्रटाचार्य का मत भावप्रकाशन में उद्धृत किया है। रुद्रट ने भी नायिकाओं के ये ३८४ भेद माने हैं। विश्वनाथ ने मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के अनेक भेद गिनाये हैं। यदि उन्हें लें तो यह संख्या बहुत अधिक हो जायगी।

इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा।
संख्येयं रुद्रटाचार्येरुपभोगाय दर्शिता॥[1]

उपर्युक्त आठ नायिकाओं के सामान्य भूषणों का भी उल्लेख किया गया है। इनमें से आरम्भिक दो—स्वाधीनपतिका तथा वासकसज्जा—में क्रीड़ा, उज्ज्वलता एवं हर्ष विद्यमान रहते हैं। शेष छह विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका तथा अभिसारिका नायिकाओं में चिन्ता, निःश्वास, स्वेद, अश्रु, वैवर्ण्य तथा ग्लानि—ये आभूषण पाये जाते हैं।

निम्नलिखित कोष्ठक में नायिका के १६ भेद स्पष्ट किये गये हैं :



नायिका-भेद की परम्परा : आचार्यों ने सभी लक्षण-ग्रन्थों में प्रायः विभाव की व्याख्या करते समय नायक-नायिका-भेद का विवेचन किया है। उन्होंने नायक और नायिका के अनेक भेद करके उनके गुणों का विस्तृत वर्णन किया है। धनंजय ने दशरूपक में जिस प्रकार पात्रों की योजना की है, उत्तरवर्त्ती आचार्यों में प्रायः सभी ने उसे स्वीकार किया। धनंजय ने

यह सब विवेचन नाटकीय पात्रों के विषय में किया है। किन्तु, विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में विभाव के आलम्बन-पक्ष के विवरण में दिया है। फिर भी, विश्वनाथ ने धनंजय की ही बातें स्वीकार की हैं। व्रजभाषा के आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद का विश्लेषण और विवेचन काव्य के पात्रों के विषय में किया है, नाटकीय पात्रों के विषय में नहीं।

नायिका-भेद परवर्त्ती आचार्यों का प्रिय विषय रहा है। इसके विवेचन तथा विश्लेषण में उन्होंने अपना बहुत समय तथा मस्तिष्क लगाया। व्रजभाषा के कवि-आचार्यों ने इस विषय में अपना अत्यधिक समय व्यय किया।

काव्यशास्त्र-परम्परा के साथ ही नायिका-भेद की भी परम्परा का आरम्भ होता है। अतः इस विषय का सबसे पहले वर्णन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में इस विषय का विस्तृत विवेचन मिलता है, इससे इस विषय की महत्ता प्रमाणित होती है। परन्तु, जिस रूप में परवर्त्ती आचार्यों ने विशेषतः व्रजभाषा के आचार्यों ने नायिका-भेद का वर्णन किया है, उसी रूप में भरत मुनि ने नहीं किया। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। प्रथमतः नाट्यशास्त्र इस विषय में प्रथम ग्रन्थ है, जिसके फलस्वरूप इस विषय का आदिम रूप ही इस ग्रन्थ में पाया जाता है। परवर्त्ती आचार्यों ने इस विषय का मनचाहा विकास किया। दूसरा कारण यह है कि नाट्यशास्त्र अभिनय-सम्बन्धी ग्रन्थ है और उसी दृष्टि से नायक-भेद का विवेचन हुआ, परन्तु संस्कृत के परवर्त्ती आचार्यों और व्रजभाषा के आचार्यों ने अभिनय की दृष्टि से वर्णन नहीं किया। इतना होने पर भी भरत मुनि द्वारा वर्णित नायिकाओं में व्रजभाषा-कवियों की प्रायः सभी नायिकाओं का किसी-न-किसी रूप में समावेश हो जाता है। अतः इस विषय के प्रवर्त्तक भरत मुनि ही हैं और इस विषय का सर्वप्रथम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ही है।

नाट्यशास्त्र के पश्चात् इस विषय का विवेचन व्यासदेव-रचित अग्निपुराण में मिलता है। इस ग्रन्थ में शृंगार रस का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अतः प्रसंगवश नायिका-भेद का भी थोड़ा विवेचन हुआ है।

इन दो प्राचीन मुनियों के ग्रन्थों के अतिरिक्त कई शताब्दियों तक नायिका-भेद विषयक कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। फिर दसवीं शताब्दी के बाद में होनेवाले आचार्यों के ग्रन्थों में इस विषय का थोड़ा-बहुत वर्णन मिलता है। इस समय के आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों का विवेचन आरम्भ कर दिया था, परन्तु नायिका-भेद पर उन्होंने अधिक नहीं लिखा। उन्होंने रस-प्रकरण में ही नायिका-भेद का उल्लेख कर दिया, परन्तु व्रजभाषा के कवियों ने तो इस विषय को स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

संस्कृत-साहित्य के अनेक आचार्यों ने नायिका-भेद का थोड़ा-बहुत वर्णन किया है, जिनमें रुद्रट, धनंजय, भोज, रुय्यक, भानुदत्त, विश्वनाथ आदि मुख्य हैं। इन आचार्यों के भी ग्रन्थों में धनंजय का दशरूपक, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण तथा भानुदत्त की रसमंजरी मुख्य हैं। इन तीन ग्रन्थों में नायिका-भेद का कुछ विस्तृत वर्णन किया गया है। इनमें भी

साहित्यदर्पण और रसमंजरी में ही इस विषय की विशेष सामग्री प्राप्त होती है। इस प्रसंग में दशरूपक का महत्त्व इसलिए है कि भरत मुनि के शताब्दियों बाद इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम इस विषय का विस्तृत विवेचन मिलता है। धनंजय ने भी भरत मुनि के ही सदृश अभिनय को ही ध्यान में रखकर नायिका-भेद का वर्णन किया है। वस्तुतः, नायिका-भेद अभिनय के ही कारण उत्पन्न हुआ, काव्य में तो पीछे चलकर इसका समावेश हुआ।

धनंजय ने भरत मुनि द्वारा उल्लिखित स्वाधीनपतिका आदि आठ नायिकाओं के अतिरिक्त मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा—ये तीन भेद किये हैं। फिर मुग्धा के वयोमुग्धा, काममुग्धा, रतिवामा और कोपमृदु—ये चार भेद; मध्या के यौवनवती और कामवती—ये दो भेद, और प्रगल्भा के गाढ़ यौवना, भाव-प्रगल्भा और रति-प्रगल्भा—ये तीन भेद किये हैं। बाद में व्रजभाषा-कवियों ने नायिका के जिन भेदों का वर्गीकरण किया है, वह धनंजय-कृत उपभेदों के अनुकूल नहीं है।

संस्कृत-साहित्य में नायिका-भेद का विस्तृत विवेचन करनेवालों में भानुदत्त सबसे प्रधान हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों—रसतरंगिणी तथा रसमंजरी—में बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस विषय में रसमंजरी का विशेष महत्त्व है।

कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में काव्य के अन्य अंगों का तो विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया ही है, नायिका-भेद की भी विस्तृत चर्चा की है। व्रजभाषा के आचार्यों ने नायिका-भेद के विवेचन में साहित्यदर्पण और रसमंजरी—दोनों ग्रन्थों से भरपूर सहायता ली है। फिर भी, उन्होंने साहित्यदर्पण से अधिक रसमंजरी को अपने विवेचन का आधार बनाया और उसी के आधार पर व्रजभाषा-काव्य के नायिका-भेद की परम्परा निश्चित की गई है। इन आचार्यों ने साहित्यदर्पण का भी पूर्ण उपयोग किया है; क्योंकि उक्त ग्रन्थ में एक ही स्थान पर सभी काव्यांगों का वर्णन किया गया है। रस-प्रकरण में साहित्यदर्पण का विशेष उपयोग किया गया, परन्तु नायिका-भेद में साहित्यदर्पण से भी अधिक रसमंजरी का आधार ग्रहण किया गया है। व्रजभाषा के आचार्यों ने रसमंजरी में वर्णित नायिकाओं का क्रम तो ग्रहण किया ही, साथ ही उसके रस-कथन का ढंग भी अपना लिया। इन आचार्यों ने साहित्यदर्पण में वर्णित नायिकाओं के उपभेद नहीं स्वीकार किये और रसमंजरी में वर्णित उपभेद तथा अन्य नायिकाओं को उसी रूप में ग्रहण कर लिया। अतः, नायिका-भेद के विवेचन में साहित्यदर्पण की अपेक्षा रसमंजरी को ही आधार मानना युक्तिसंगत होगा। यदि साहित्यदर्पण तथा रसमंजरी की पारस्परिक तुलना की जाय, तो इस कथन की सत्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी।

व्रजभाषा के आचार्य : व्रजभाषा के आचार्यों में केशवदास, मतिराम, देव, पद्माकर और भिखारीदास बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके नायिका-भेद-वर्णन में कोई विशेष नवीनता नहीं है। सभी ने साहित्यदर्पण और रसमंजरी की ही बातों को थोड़ा घटा-बढ़ाकर

कहा है। देव का विवेचन सबसे अधिक विस्तृत है; क्योंकि उन्होंने देशानुसार २६ प्रकार की अन्य नायिकओं का भी उल्लेख किया है। अन्य आचार्यों की अपेक्षा देव के विवेचन में कुछ नवीनता भी है।

हरिऔध : इस बीसवीं शताब्दी में नायिका-भेद के विवेचन की परिपाटी को हरिऔधजी ने फिर से जीवित किया। उन्होंने अपने 'रसकलश' में जाति के अनुसार नायिकाओं के चार भेद किये—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। इस वर्गीकरण में कोई नवीनता नहीं; क्योंकि यह कामशास्त्र के अनुसार है। प्रकृति-सम्बन्धी भेद करते हुए उन्होंने उत्तमा के आठ भेद किये हैं : पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जन्मभूमि-प्रेमिका, निजतानुराग-प्रेमिका, लोक-सेविका और धर्म-प्रेमिका। मध्यमा के भी उन्होंने दो भेद किये हैं—व्यंग्यविदग्धा और मर्मपीडिता। उन्होंने शेष धर्म-सम्बन्धी और स्वभाव-सम्बन्धी वे ही भेद किये हैं, जो भेद अन्य आचार्यों के अनुसार हैं। इस बीसवीं शती में भी वे नायक के सखा के भेदों में पीठमर्द, विट और चेट को नहीं भूल सके हैं।

अभिनव भरत : अभिनव नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य सीताराम चतुर्वेदी 'अभिनव भरत' ने मनुष्यों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया है। रंग की दृष्टि से, शरीर की दृष्टि से, आकृति की दृष्टि से, गुण की दृष्टि से, अनेक तरह से वर्गीकरण किया गया है। फिर तरुण पुरुष तीन प्रकार के बताये गये हैं। उन्होंने वय के अनुसार स्त्रियों के सात भेद बताये—शिशु, बाला, कुमारी, किशोरी, युवती, प्रौढ़ा और वृद्धा। फिर युवती स्त्रियों के चार भेद बताये। अभिनव भरत प्रौढ़ा स्त्रियों के प्रति विशेष कटु हैं। फिर उन्होंने सौत, विधवा, अपुत्रा, पुंश्चली, अपमानिता, ताडिता, पीडिता एवं कामार्त्ता स्त्रियों के स्वाभावों का विश्लेषण किया है। आगे चलकर उन्होंने वर्गगत स्वभाव का भी विश्लेषण किया है। उन्होंने वर्ण, देश, सामाजिक वर्ग, जाति, पेशा आदि के आधार पर वर्ग-स्वभाव का विवरण दिया है।

इस वर्गीकरण की आलोचना : १. अभिनव भरत ने मनुष्यों का जो वर्गीकरण किया, उसमें नवीनता है। अभी तक सभी नाट्याचार्य धनंजय और विश्वनाथ द्वारा बताई लीक पर ही चलते रहे और प्राय: सभी द्वारा दिया वर्गीकरण लगभग समान ही है। परन्तु, अभिनव भरत ने सर्वथा नवीन दृष्टिकोण अपनाया है।

२. यह वर्गीकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत है और कहीं-कहीं अनावश्यक भी लगता है। इतनी दृष्टियों से वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

३. प्रस्तुत नाट्याचार्य स्त्रियों के प्रति कुछ कटु हैं।

४. इनका वर्गीकरण शृंगार के सीमित क्षेत्र से निकलकर बहुत व्यापक क्षेत्र में हुआ है।

यहाँ इस बात की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है कि व्रजभाषा के सभी आचार्यों और हरिऔधजी की दृष्टि, नायिका-भेद के विवेचन में, काव्य पर रही है, नाटक पर बिल्कुल नहीं।

अन्तःपुर : नायक अथवा राजा के अन्तःपुर में अनेक नायिकाएँ रहती हैं। भरत मुनि ने कई नायिकाओं का उल्लेख किया है। नायिकाओं में नायक की पट्टरानी को महादेवी कहते हैं। वह अवस्था तथा प्रतिष्ठा में अपने पति के समकक्ष होती है। अन्य नायिका के प्रति पति के प्रेम से उसे क्लेश होता है। महादेवी उच्चकुलोत्पन्न, क्रोध-रहित, ईर्ष्या-रहित, राजा का स्वभाव समझनेवाली, पति की मंगल-कामना करनेवाली, पतिव्रता, समृद्धि में शान्त रहनेवाली, शान्त, पति के साथ रहनेवाली और क्षमायुक्त होती है। देवी वह नायिका है, जो लगभग इन गुणों से युक्त होती है, साथ ही वह राजपुत्री, गर्वित, सम्भोग-तत्पर, अल्पवयस्क, उज्ज्वल गुणों से युक्त, अपने गुणों पर इतरानेवाली, नित्य बनी-ठनी रहनेवाली, अपनी सौतों से जलनेवाली और यौवन के गुणों से उन्मत्त होती है। महादेवी मूर्धाभिषिक्त होती है और अन्तःपुर के हित में लीन रहती है, परन्तु देवी नायक के प्रेम का ही अधिक आनन्द उठाती है। उसे अन्तःपुर के कार्यों से कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता। स्वामिनी वह नायिका है, जो किसी अमात्य या सेनापति की पुत्री होती है। वह शील-रूप-गुण से युक्त और नायक की प्रेम-पात्री होती है। वह सुन्दर होती है तथा अपनी बुद्धि से आकर्षक बनती है और सभी उसका सम्मान करते हैं। सेनापति, अमात्य या अन्य राजसेवकों की जो कन्या बड़े प्रेम तथा सम्मान से पालित होती है, जो अपने शील, स्वभाव, रूप और गुण के कारण राजा की प्रिया बन जाती है और अपने गुणों के कारण उच्च पद प्राप्त कर लेती है, वह स्वामिनी कहलाती है।

इनके अतिरिक्त नायक की कई अन्य उपपत्नियाँ होती हैं, जो प्रायः निम्न-कुलोत्पन्न होती हैं। स्थायिनी नायिका रूप-यौवन से सम्पन्न तथा कर्कश स्वभाव की होती है। वह रति-सम्भोग में कुशल, व्यावहारिक कार्यों में दक्ष और उदात्त होती है। वह ईर्ष्या-रहित तथा कोमल हृदय की नायिका रहती है। भोगिनी नायिका सुशील, अल्प सम्मानवाली, कोमल तथा मध्यस्थ होती है। अन्तःपुर में कई परिचारिकाएँ भी होती हैं, जिनके हाथ में किसी-न-किसी विभाग का कार्य रहता है। छत्रधारिणी तथा चामरधारिणी परिचारिकाएँ रहती हैं। अंग-रक्षा के लिए यवनी रखी जाती है। महत्तरा कई कार्यों के अतिरिक्त धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन कराती है। प्रतिहारी द्वार पर रहती है और सन्धि तथा विग्रह-जैसी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं की सूचना राजा को देती है।

भरत ने अन्तःपुर की कई अन्य प्रकार की स्त्रियों का विवरण दिया है। रूप-यौवन से युक्त, झगड़ालू, ऐंठ में रहनेवाली, सम्भोग में अत्यन्त चतुर, सौतिया डाह रखनेवाली, पत्र लिखने और चित्र बनाने में चतुर, मधुर, सरल स्वभाव की, चिकनी-

चुँपड़ी बात करनेवाली, शिल्पकारिका होती है। स्वर, ताल और यति जाननेवाली, संगीताचार्य की सेवा करनेवाली, नाट्य में कुशल, भले-बुरे पर ठीक विचार करनेवाली और रूप-यौवन से सम्पन्न नर्त्तकियाँ नाटकीया कहलाती हैं। हाव-भाव में निपुण, सात्त्विक अभिनय से सम्पन्न, वाद्य बजाने में कुशल, संगीत-विद्या जाननेवाली, कलाओं में निष्णात, सबसे आदर का व्यवहार करनेवाली, चटपटी बात करनेवाली, आलस्यहीन, अनेक शिल्पों का प्रयोग जाननेवाली, नृत्त तथा नृत्य में चतुर; रूप, गुण, उदारता, सौभाग्य, एवं धैर्य धारण करनेवाली; कोमल, शान्त, चित्रकारी में निपुण नर्त्तकी कही जाती है। जो सभी अवस्थाओं में राजा की सेवा करती हो, सदा सबको प्रसन्न करनेवाली हो, भोजन आदि की वस्तुएँ लाकर रखती हो, पैर दबाती हो, सुगन्धित पदार्थ शरीर में मलती हो, आभूषण पहनाती हो तथा इसी प्रकार की अन्य सेवा करती हो, उसे परिचारिका कहते हैं। राजभवन के अनेक कक्षों तथा उपवन में इधर-उधर जानेवाली, मन्दिर, भवन और खेल में सेवा करनेवाली, भोग के अधिकार से हीन स्त्रियाँ संचारिका कहलाती हैं। जो सारे अन्तःपुर की रक्षा करती है, स्तुति तथा मंगल के कार्य में योग देती है, सदा रनिवास की वृद्धि की मंगल-कामना करती है, वह महत्तरी कही जाती है। जो स्त्री पहले से सभा की नीति जानती है, सबसे पहले राजा जिसकी पूजा करता है, जो सबकी कथा जानती है, वह वृद्धा कही जाती है। भाण्डार को सँभाल रखनेवाली, शस्त्र लेकर चलनेवाली, विकलांग, गन्ध-आभरण, माला, वस्त्र इत्यादि को सँभालनेवाली और ऐसे ही अन्य बहुत-से काम करनेवाली आयुक्तिका कहलाती है।

कारका, कंचुकी, नपुंसक, औपस्थापिका, निर्मुण्डा आदि मिलाकर भरत ने अन्तःपुर की अट्ठारह प्रकार की स्त्रियों का विवरण दिया है।

नायिका की सहायिकाएँ : नायक के साथ नायिकाओं का समागम करानेवाली कई सहायिकाएँ होती हैं। दूती, दासी, सखी, निम्नकुल की स्त्रियाँ, दाई की बेटी, पड़ोसिन तथा संन्यासिनी, धोबिन, रँगरेजिन, तमोलिन तथा चित्र बनानेवाली नायक-नायिका के समागम में सहायता करती हैं। संन्यासिनी प्रायः बौद्ध-मतावलम्बिनी होती है। डॉ० कीथ ने कहा है :

"......or strangely enough a nun, usually of Buddhist connexions, a curious and interesting sidelight on Indian views of the devotees of that faith".[1]

इनके अतिरिक्त नायिका भी स्वयं दूती के रूप में नायक से समागम करती है। ये सभी सहायिकाएँ नायक के मित्र, विट, पीठमर्द, विदूषकादि के गुणों से मिलते-जुलते गुणोंवाली होती हैं।

१. The Sanskrit Drama, p. 313.

नायिका के अलंकार

नायक के समान नायिका में भी यौवन में कुछ सात्त्विक या स्वाभाविक गुण माने गये हैं। नायिका के ये गुण भूषण या अलंकार कहे जाते हैं। गुण या अलंकार देने में नाट्याचार्यों ने नायिका के प्रति नायक से भी अधिक उदारता दिखाई है। इनमें तीन—भाव, हाव और हेला—शरीरज या शारीरिक गुण हैं; सात अयत्नज गुण हैं। सत्त्वज भाव वे अलंकार हैं, जो नायिकाओं में अयत्न रूप से ही प्राप्य हैं, अर्थात् इन्हें प्रकट करने में नायिका को कोई यत्न करने की आवश्यकता नहीं। दस स्वभावज गुण हैं। ये भाव या गुण स्वभाव से ही स्त्रियों में वर्त्तमान रहते हैं।

शरीरज अलंकार : इनमें तीन शरीरज अलंकार—भाव, हाव और हेला—विशेष प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण हैं। इस शास्त्रीय विषय से अनभिज्ञ व्यक्ति भी 'हाव-भाव' का प्रयोग करते हैं, भले ही इस पारिभाषिक अर्थ में नहीं।

भाव : धनंजय ने भाव का लक्षण दिया है कि निर्विकारात्मक सत्त्व से जब विकार का सबसे पहले स्फुरण होता है, तो इसी प्रथम स्फुरण को भाव कहते हैं।

निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद् भावस्तत्राद्यविक्रिया ।[1]

मानव-प्रकृति में तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रजस् तथा तमस्। इन तीन गुणों में से सत्त्व का विशेष महत्त्व इसलिए है कि विकार उत्पन्न होने के कारणों के वर्त्तमान रहने पर भी सत्त्व के कारण मानव-हृदय में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। नायक के गुणों में गाम्भीर्य की गिनती की गई है, जो सत्त्व गुण की ही स्थिति के कारण होता है। सत्त्व की ही वर्त्तमानता के कारण व्यक्ति सर्वथा विकार-रहित रहता है। इस स्थिति के बाद जब व्यक्ति में थोड़ा विकार उत्पन्न होने लगता है, तो भाव की स्थिति आती है। भाव की स्थिति में विकार अस्पष्ट रूप में रहता है। यह विकार शरीर के अन्तस् में ही छिपा रहता है। इस प्रकार के अन्तस् में प्रकट होनेवाला विकार भाव कहा जाता है।

धनंजय द्वारा दिये लक्षण से मिलता-जुलता लक्षण विश्वनाथ ने भी दिया है :

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ।[2]

फिर उन्होंने इसकी वृत्ति दी है : **जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः ।** अर्थात्, जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्ध मात्र काम-विकार को भाव कहते हैं।

हाव : भृकुटी तथा नेत्रादि की चेष्टाओं से सम्भोग की अभिलाषा की सूचना देनेवाला और मनोविकारों को थोड़ा व्यक्त करनेवाला भाव ही हाव कहा जाता है। धनंजय का मत है कि नायिका में बातचीत कम करने की अवस्था का तथा शृंगार का होना हाव कहलाता है। इस हाव से नेत्र, भृकुटी आदि कई निश्चित अंगों में विकार

---

१. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, का० ३३

२. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० ९३

उत्पन्न होता है। यह हाव भी स्वाभाविक तथा शरीरज अलंकार है। विश्वनाथ ने हाव का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में दिया है :

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु सम्भोगेच्छाप्रकाशकः ।
भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥[1]

हेला : यही हाव जब श्रृंगार रस को सुस्पष्ट रूप से प्रकट करने लगता है, तो हेला नामक अलंकार बन जाता है। हेला में नायिका के मनोविकार अति स्पष्टता से परिलक्षित होते हैं।

अयत्नज अलंकार : धनंजय आदि आचार्यों ने अयत्नज अलंकार सात माने हैं। प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

शोभा : रूप, विलास एवं यौवन के कारण जब नायिका के अंग अलंकृत हो जाते हैं, तो उस अलकार को शोभा नामक अयत्नज अलंकार कहा जाता है। शोभा अलंकार के समय नायिका में काम-विकार नहीं होता।

कान्ति : जब काम के आविर्भाव के बाद नायिका की कान्ति में और भी वृद्धि हो जाती है, तो वही शोभा काम के उत्पन्न होने से सघन होने के कारण कान्ति नामक अलंकार कही जाती है।

माधुर्य : नायिका में रमणीयता का होना माधुर्य नामक भाव कहा जाता है। भरत के अनुसार, प्रत्येक अवस्था में विशेषतः—दीप्ति और ललित में—नायिकाओं की चेष्टाएँ माधुर्य हैं। विश्वनाथ के अनुसार सभी दशाओं में रमणीय होना ही माधुर्य है।

दीप्ति : जब कान्ति नामक भाव का विस्तार होता है, नायिका में कान्ति विशेष रूप से पाई जाती है, तो उसे दीप्ति नामक भाव कहा जाता है।

प्रगल्भता : निर्भयता का नाम प्रगल्भता है। मन में क्षोभ आदि का नहीं पाया जाना प्रगल्भता या प्रागल्भ्य नामक भाव कहा जाता है।

औदार्य : नायिका का सदा प्रेम से युक्त रहना, नायक के प्रति उसका सदा अनुकूल रहना औदार्य नामक भाव होता है। सदा विनय रखना ही औदार्य है।

धैर्य : आत्म-श्लाघा तथा चंचलता से रहित मनोवृत्ति को धैर्य नाम दिया जाता है। दूसरे शब्दों में चंचलता से हीन तथा अहंकार-शून्य सहज मानसिक स्थिति धैर्य कही जाती है।

स्वाभाविक अलंकार : सात अयत्नज अलंकारों का विवेचन करने के पश्चात् नाट्याचार्यों ने दस स्वाभाविक भावों का उल्लेख किया है। नायिकाओं के मुग्धकारी प्रभाव को बढ़ानेवाले अलंकार, जिनसे विशेषतः संयोग की विभिन्न अवस्थाओं में आन्तरिक भावों

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० ९४

का प्रकाशन होता है, स्वभावज अलंकार कहे जाते हैं। ये स्वभावसिद्ध हैं, परन्तु कृति-साध्य होते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

लीला : अनुरागातिशय के कारण जब नायिका मधुर अंगों की चेष्टाओं के द्वारा प्रिय (नायक) के अंग, वेश, अलंकार, चेष्टा, वाणी आदि का शृंगारिक अनुकरण करती है, तो इसे लीला नामक भाव कहते हैं।

विलास : प्रिय के दर्शन आदि के समय नायिका की गति, स्थिति, आसन आदि तथा मुख, नेत्रादि के व्यापारों की विशेषता को विलास नामक भाव कहा जाता है।

विच्छित्ति : थोड़ी-सी भी वेषभूषा और साज-सज्जा जहाँ कान्ति को अधिक पुष्ट करती है, वहाँ विच्छित्ति नामक भाव होता है। माला, वस्त्राभूषण आदि को अस्त-व्यस्त रूप में धारण करने से सौन्दर्य-वृद्धि को विच्छित्ति ही कहा जाता है।

विभ्रम : प्रियतम के आगमन आदि के समय हर्ष और प्रेम के कारण भूषण आदि को उलट-पलट पहन लेना विभ्रम कहलाता है। शब्द, चेष्टा आदि का विपर्यय तथा मद, काम और हर्ष से सत्त्व का उदय होना भी विभ्रम है।

किलकिंचित : अतिप्रिय वस्तु की प्राप्ति के कारण उत्पन्न हुए हर्ष से कुछ मुस्कराहट, कुछ शुष्करुदित अर्थात् अकारण रोदनाभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ क्रोध, कुछ श्रम आदि के विचित्र मिश्रण को किलकिंचित कहा जाता है।

मोट्टायित : प्रिय के कथा आदि के श्रवण-मनन आदि करते समय अनुराग से व्याप्तचित्त हो जाना और लीला, विलास आदि के माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति करना, मोट्टायित कहा जाता है।

कुट्टमित : रति-क्रीड़ा में नायक के द्वारा केश तथा अधर को ग्रहण करने पर हृदय से प्रसन्न होने पर भी जब नायिका कृत्रिम क्रोध प्रकट करे, तो वह कुट्टमित भाव कहलाता है।

बिब्बोक : जब नायिका अतिगर्व तथा अभिमान के कारण अभिलषित वस्तु के प्रति भी अनादर दिखाती है, तो उसे बिब्बोक नामक भाव कहा जाता है।

ललित : नायिका के कोमल तथा स्निग्ध प्रकार से अंगों का विन्यास ललित नामक भाव कहलाता है।

विहृत : नायिका जहाँ प्रिय वचन सुनकर भी, और समय आने पर भी तदनुकूल वाक्य का प्रयोग लज्जावश, व्याज से अथवा सहज ही, नहीं कर पाती, वहाँ विहृत नाम का भाव माना जाता है।

स्वाभाविक या स्वभावज अलंकार के इन दस भेदों के अतिरिक्त कविराज विश्वनाथ ने आठ नये अलंकारों का उल्लेख किया है।

मद : सौभाग्य, यौवन आदि के घमण्ड से उत्पन्न विकार को मद कहा जाता है।

तपन : प्रियतम के विरह में कामोद्वेग की चेष्टाओं को तपन नाम दिया गया है।

मौग्ध्य : जानी हुई वस्तु को भी प्रियतम के आगे अनजानेपन से पूछना मौग्ध्य कहा जाता है।

विक्षेप : प्रियतम के निकट भूषणों की आधी रचना और बिना कारण के ही इधर-उधर देखना तथा धीरे से कुछ रहस्य कहना विक्षेप कहलाता है।

कुतूहल : रमणीय वस्तु को देखने के लिए चंचल होना कुतूहल कहलाता है।

हसित : यौवन के उद्गम से उत्पन्न अकारण हँसी को हास या हसित नाम दिया गया है।

चकित : प्रियतम के सामने बिना कारण के ही डरना और घबराना चकित कहा जाता है।

केलि : कान्त के साथ विहार में कामिनी की क्रीड़ा को केलि नाम दिया गया है।

दशरूपक तथा साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में इस विषय का काफी विस्तार किया गया है। सभी के उपयुक्त उदाहरण दिये गये हैं। किसी-किसी के उदाहरण एक से अधिक हैं।

विश्वनाथ ने बहुत विस्तार से विभिन्न प्रकार की नायिकाओं की अनुराग-चेष्टाओं का वर्णन किया है। कुछ नायिकाएँ बहुत सलज्जता से अपने अनुराग का प्रदर्शन करती हैं और अन्य नायिकाएँ अत्यन्त प्रगल्भता तथा निर्लज्जता से। इस विश्लेषण से भारतीय राजाओं के अन्तःपुर में प्रेम की बाह्य अभिव्यक्ति में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। लेखक ने तीन कारिकाओं में मुग्धा और कन्या नायिकाओं की अनुराग-चेष्टाओं का वर्णन किया है। फिर १४ कारिकाओं में उन्होंने सभी नायिकाओं की अनुराग-चेष्टाओं का विश्लेषण किया। अन्त में, निष्कर्ष-रूप में विश्वनाथ ने उपसंहार किया कि इनमें नवोढा की चेष्टाएँ अधिक लज्जायुक्त होती हैं, मध्या की थोड़ी लज्जा से युक्त होती हैं और परकीया, प्रगल्भा तथा वेश्या की चेष्टाएँ निर्लज्जतापूर्ण होती हैं। कुछ चेष्टाओं के उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने अपने ही लिखे श्लोक दिये हैं। साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद के १११ से ११७ तक की संख्या के श्लोकों में इसी का विवेचन है।

पात्र की व्याख्या : नाट्यकार अपने नाटक की रचना इस प्रकार करता है कि उसके आधार पर नाट्य-प्रयोक्ता अपने अभिनेताओं को वैसे ही रूप धारण कराकर उनसे चारों प्रकार के अभिनय कराते हैं। नाटक में वर्णित जिन चरित्रों की भूमिका ग्रहण करके या उनके रूप धारण करके अभिनेता अभिनय करते हैं, उन्हें पात्र कहा जाता है। अतः, पात्र कहने से केवल मनुष्य का ही बोध नहीं होता, प्रत्युत पशु-पक्षी, मानवीकृत भाव तथा जड पदाथ का भी बोध होता है, जो नाटक का कार्य करते हैं।

भरत ने नाट्यशास्त्र के चौबीसवें अध्याय में पुरुषों और स्त्रियों के स्वभाव का विवेचन किया है, परन्तु उन्होंने अपने पात्रों को देवों और मनुष्यों तक ही सीमित कर दिया है। परन्तु, वस्तुतः जो नाटकीय अर्थ को दर्शकों तक पहुँचाने में सहायता करते हैं, वे

सभी अभिनेता ही हैं। नाट्य-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि बहुत-से नाटककारों ने अन्य जीवों, भावों और जड पदार्थों को भी पात्र के रूप में प्रदर्शित किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास ने प्रदर्शित किया है कि मृग, भ्रमर, लता, वृक्ष, वन-देवता और कोकिल मानव के समान नाटकीय व्यापार में सहायता देते हैं। रत्नावली में सारिका और बालरामायण में पुत्तलिकाएँ भी अन्य पात्रों के ही सदृश नाटकीय व्यापार में योगदान करती हैं। आजकल भी नाटकों में वनमानुष, कुत्ता, सुग्गा आदि जानवरों को प्रशिक्षित करके उनसे नाटकीय व्यापार में काम लिया जाता है। प्रबोधचन्द्रोदय में मति, विवेक, सन्तोष, श्रद्धा, करुणा आदि भाव मानवीय रूप धारण करके रंगमंच पर उतरते हैं। प्रसादजी के नाटक 'कामना' में भी कामना, विलास आदि मानव-रूप धारण करते हैं। आजकल यन्त्र-चालित कटे हाथ, मानव की खोपड़ी और ठठरी आदि से भी कार्य कराया जाता है। इतना अन्तर अवश्य होता है कि मानव सात्त्विक अभिनय भी कर सकता है। परन्तु, ये जड पदार्थ तथा पशु-पक्षी ऐसा नहीं कर सकते।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि मनुष्य, पशु-पक्षी, जड पदार्थ—सभी अभिनय-कार्य में पात्र हो सकते हैं। कभी-कभी देवता, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, भूत-प्रेत आदि दिव्य या अलौकिक शक्तियों का भी प्रयोग पात्र के रूप में होता है। इस दृष्टि से पात्रों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया गया है : १. अलौकिक, २. मानव, ३. पशु-पक्षी, ४. जड पदार्थ, ५. भाव। इनमें से पशु-पक्षियों को उचित और आवश्यक प्रशिक्षण देकर तथा जड पदार्थों को यन्त्रों की सहायता से अभिनय के योग्य बनाया जा सकता है। अलौकिक चरित्रों तथा भावों को मानव के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, इसलिए मानव के विवेचन के साथ ही उनका विवेचन हो जायगा। अतः, प्रधान रूप से मनुष्य की ही प्रकृति का विवेचन करना प्रधान कार्य है।

मूल पात्र और नाटकीय पात्र : नाट्य के पात्रों के विषय में विचार करते समय मूल पात्र और नाटकीय पात्र के विषय में भी विचार कर लेना आवश्यक है। कवि या नाटककार अपने नाटक के लिए कुछ पात्रों की सृष्टि करता है, जो नाट्य के कार्यों का सम्पादन करते हैं। इनमें कुछ तो ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र होते हैं, जिनका विवरण इतिहासों तथा पुराणों में मिलता है, इन्हीं को मूल पात्र कहा जाता है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों में भी नाटककार उनका सर्वांशतः वही रूप नहीं देता है, जो हम इतिहास में पाते हैं। नाटककार को इतनी स्वतन्त्रता रहती है कि वह उन पात्रों के चरित्रों में यथावसर स्वच्छन्दतापूर्वक परिवर्तन कर दे। बहुधा ऐसा होता है कि कवि-निबद्ध पात्र और ऐतिहासिक पात्र के चरित्र में बहुत अन्तर हो जाता है। नाटक में हमें इसी कवि-निबद्ध पात्र से मतलब रहता है, ऐतिहासिक पात्र से नहीं।

उदाहरण के लिए दुष्यन्त को लिया जाय। महाभारत और पद्मपुराण में दुष्यन्त का चित्रण जिस किसी भी रूप में हुआ हो, परन्तु शकुन्तला नाटक पढ़ते या उसका अभिनय देखते समय हमें कालिदास द्वारा चित्रित दुष्यन्त से ही मतलब रहता है। महाभारत तथा

पद्मपुराण में दुष्यन्त का जैसा भी चित्रण हुआ हो, परन्तु कालिदास ने अपने चरितनायक के चरित्र में स्वच्छन्दतापूर्वक परिवर्त्तन किया है। परिवर्त्तन का कारण मुख्यतः दुष्यन्त के चरित्र को उदात्त बनाना है। शकुन्तला नाटक के लिए नाटकीय पात्र कालिदास द्वारा चित्रित दुष्यन्त है, महाभारत या पद्मपुराण का दुष्यन्त मूल पात्र है।

दूसरा उदाहरण चाणक्य का लिया जाय। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री चाणक्य वस्तुतः जैसे भी रहे हों, परन्तु कई नाटककारों ने भारत की अनेक भाषाओं में उनका चित्रण अपने-अपने ढंग से किया है। तुलना के लिए हम चार नाटकों को अभी ले लें। सबसे पहले विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में चाणक्य का चित्रण किया। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने नाटक 'चन्द्रगुप्त' में, हिन्दी के यशस्वी नाटककार जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक 'चन्द्रगुप्त मौर्य' में और रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपने नाटक 'विजेता' में चाणक्य के चरित्र का चित्रण अपने-अपने ढंग से किया है। विशाखदत्त का चाणक्य कुटिल राजनीतिज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ है, जो चन्द्रगुप्त को सबल बनाने के लिए अनेक प्रकार के षड्यन्त्र करता है। जान पड़ता है कि उसके पास हृदय नाम की कोई चीज नहीं है। द्विजेन्द्रलाल राय का चाणक्य चन्द्रगुप्त के लिए प्रेरक शक्ति का काम करता है और उसकी स्थिति सुदृढ बनाता है। प्रसादजी के चाणक्य में राजनीति तथा कूटनीति के साथ कोमल भावनाएँ भी हैं। पाटलिपुत्र के अपने पुराने घर के खम्भों के साथ उसकी बचपन की सुखद स्मृतियाँ लिपटी हैं। बेनीपुरीजी के राजनीतिज्ञ चाणक्य की आँखें छलछला जाती हैं, जब वह संगीत सुनता है और विरह के ही कारण काला हो गया है। ऐतिहासिक चाणक्य तो कोई एक ही था, जिसके चरित्र के विषय में हम कम ही जानते हैं, परन्तु इन चारों नाटककारों ने चार चाणक्यों की सृष्टि की, जो मूलतः एक होते हुए भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। जब हम चाणक्य के मूल पात्र की चर्चा करते हैं, तो हमारा तात्पर्य ऐतिहासिक चाणक्य से होता है और इन नाटकों में चित्रित कवि-निबद्ध चाणक्य नाटकीय पात्र है। जिस नाटक की चर्चा हम करते हैं, उसी के सन्दर्भ में चाणक्य नाटकीय पात्र होगा।

नाटक में मूल पात्र के अतिरिक्त नाटकीय पात्र होता है। नाटकीय पात्र वह पात्र है, जो कवि के द्वारा नाटक में निबद्ध तथा चित्रित होता है। नाट्य में अनुकार्य कवि-निबद्ध या नाटकीय पात्र ही होता है, मूल पात्र नहीं। मूल पात्र जैसा भी हो, हमें नाटक में उससे तात्पर्य नहीं। हमें तो कवि-निबद्ध पात्र से ही मतलब है।

भरत के अनुसार मानव-प्रकृति के भेद : भरत ने पुरुष और स्त्री को स्वभाव या प्रकृति के अनुसार तीन श्रेणियों में रखा है—उत्तम, मध्यम और अधम। जो उत्तम प्रकृति के पुरुष होते हैं, वे सदाचारी, ज्ञानवान्, अनेक शास्त्रों में कुशल, सबको प्रसन्न करनेवाले, ऐश्वर्यशील, दीनों को ढाढ़स बँधानेवाले, गम्भीर, उदार, धीर और त्यागी होते हैं। मध्यम प्रकृति के पुरुष लोक-व्यवहार में निपुण, शिल्पशास्त्र में प्रवीण, मनुष्य को

पहचानकर व्यवहार करनेवाले और मधुर आचरण करनेवाले होते हैं। अधम प्रकृति के पुरुष वे होते हैं, जो रूखा बोलते हैं और दूसरों से बुरा व्यवहार करते हैं। वे दुष्ट, मन्द-बुद्धि, क्रोधी, हिंसक, मित्रघाती होते हैं और अनेक उपायों से प्राण लेते हैं। अधम पुरुष चुगली खानेवाले, घमण्डी, कृतघ्न, उद्दण्ड, आलसी, झगड़ालू और मान्य का अपमान करनेवाले होते हैं। वे स्त्रियों के पीछे घूमते हैं, पापी होते हैं और दूसरों का धन हरते हैं।

आचरण की दृष्टि से स्त्रियाँ भी पुरुषों के ही समान तीन प्रकार की होती हैं। मृदु व्यवहार करनेवाली, शान्त, सदा प्रसन्न रहनेवाली, कोमल स्वभाव की, लज्जाशील, नम्र, सबको प्रिय लगनेवाले रूप तथा माधुर्यवाली, गम्भीर और धैर्य से युक्त स्त्री उत्तम प्रकृति की कही जाती है। जिस स्त्री में बहुत अच्छे गुण न हों, परन्तु अवगुण भी न हों, और कोई-कोई साधारण दोष भी हो, वह मध्यम प्रकृति की कही जाती है। वह स्त्री अधम प्रकृति की है, जिसमें अधम पुरुषों के लक्षण देखे जायँ। जो मिश्र और अधम हो, उसे नपुंसक समझा जाता है। चेटी आदि को भी मिश्र स्वभाव की समझा जाता है, अर्थात् जो कभी स्थिर हो और कभी अस्थिर हो। इसके अतिरिक्त द्विज, विदूषक और शकार को मिश्र प्रकृति का समझा जाता है।

वियोग में राजा या नायक के साथ ऐसी प्रिय दासी रखनी चाहिए, जो सुन्दर तथा बातचीत करने में निपुण हो। भरत मुनि ने बताया है कि राजा के साथ ऐसी दासी रखनी चाहिए, जो स्वयं विपत्ति पड़ने पर दुःख भोग चुकी हो, इस प्रकार वह ढाढ़स बँधा सकती हो। दिव्यों की जातियाँ धीरललित, उदात्त तथा निभृत होती हैं। उदात्त तथा निभृत जातिवाली स्त्रियाँ कुलांगना होती हैं और ललित तथा उदात्त प्रकृतिवाली गणिका तथा शिल्पकारिका होती हैं।

शारदातनय के अनुसार कुछ पात्रों का परिचय

भरत : जो व्यक्ति अनेक स्वभाववाले संसार के भावों को वैसे-वैसे रूप धारण करके प्रकाशित करते हैं, जो व्यक्ति भाषा, वर्ण आदि सामग्रियों से विभिन्न प्रकृतिवालों के वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टा करके प्रदर्शित करते हैं, उन्हें भरत कहा जाता है।

नट : जो लोग रस तथा भाव से युक्त भूतकाल की कथा का स्वाभाविक रूप से अभिनय करते हैं, उन्हें नट कहा जाता है। जो तेजस्वी, रूपवान्, मेधावी, रंगशाला के सभी विधानों के ज्ञाता, अपने कामों में कुशल, सूत्रधार की सहायता करनेवाले होते हैं, वे नट बन सकते हैं।

शैलूष : जो वर्त्तमान काल के लोगों के समान रूपक बनाकर भाव का प्रदर्शन करते हैं, उन्हें शैलूष कहा जाता है।

भरत, शैलूष और नट में पारस्परिक अन्तर यह है कि शैलूष बिना किसी प्रकार का वेश आदि धारण किये ही केवल दूसरों के भावों का अनुकरण करता है; भरत केवल

दूसरों के वेश, कर्म, अवस्था तथा चेष्टा का अनुकरण भाषा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियों के साथ करता है और नट किसी प्राचीन कथा वा रस तथा भाव के साथ अभिनय करता है।

सूत्रधार : सूत्रधार नान्दी-पाठ के उपरान्त काव्य में प्रस्तुत वस्तु, नेताओं के चरित और रसों को एकत्र करके एक सूत्र में पिरो देता है, अर्थात् संक्षेप में कह देता है। शारदातनय ने सूत्रधार उसी को कहा है, जो रंगपीठ की समस्त कलाओं में चतुर हो और नेता, वस्तु तथा कवि का परिचय संक्षेप में दे सके। सूत्रधार चारों वाद्य (तत, अवनद्ध, घन तथा सुषिर) बजाने में निपुण होता है; वक्ता, मधुरभाषी, गीत-ताल-लय का ज्ञाता, और समझ-बूझकर सबका प्रयोग करनेवाला होता है।

पारिपार्श्विक : जो व्यक्ति भरत द्वारा अभिनय किये हुए अनेक रसों पर आधारित भावों का परिष्कार करता चलता है और सदा भरत के निकट विद्यमान रहता है, उसे पारिपार्श्विक कहा जाता है।

कुशीलव : कुशीलव वे लोग कहलाते हैं, जो अनेक प्रकार की भूमिकाओं में क्रिया, वाणी तथा आंगिक चेष्टाओं से नाट्य के पात्र की ठीक-ठीक प्रकृति का अभिनय करने में कुशल होते हैं।

नटी : चारों प्रकार के वाद्यों का भेद जाननेवाली और वाद्यकला में निपुण, अभिनय करने में कुशल, सब भाषाओं की विदुषी, समस्त कार्यों में नट की आज्ञा माननेवाली नट की पत्नी को नटी कहते हैं।

राजाओं की प्रकृति तीन प्रकार की समझी जाती है। एक में तो महिषी (पटरानी), महादेवी, देवी, सहभोगिनी, आश्रिता, नाटकीया, कामुका, शिल्पकारिका, अन्तःपुरिका, परिचारिका, शय्यापाली, छत्रपाली, चामरधारिणी, संवाहिका (पैर दबानेवाली), गन्ध-योक्त्री (सुगन्धित पदार्थ देनेवाली), माला और आभूषण सजानेवाली, अनुचारिका, अनेक विभागों की रक्षिका, उपवन की रक्षिका, मन्दिर, यज्ञ, क्रीड़ागार, रनिवास और भवन की रक्षा करनेवाली सेविकाएँ होती हैं। दूसरी में ताम्बूल-वाहिनी, चोबदारिन, असिधारिणी, आह्वायिका (लोगों को बुलाकर लानेवाली), प्रेक्षणिका (देख-भाल करनेवाली), यामिनिकी (रात की पहरेदारिन)—ये सब राजा की संचारिकाएँ और परिचारिकाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी में महत्तरी, प्रतिहारी, वृद्धा, आयुक्तिका, कांचुकीया, वर्षवरा, किराता, कुब्जा, वामना, औपस्थापिकी, निर्मुण्डा, अभ्यागारा और मूकी हैं, जो अन्तःपुर में रहती हैं।

शारदातनय ने सबके लक्षण विस्तार से दिये हैं। उनमें कुछ तो भरत द्वारा दिये गये विवरण के समान ही हैं, शेष के लक्षण निम्नलिखित प्रकार से हैं :

कामुका : राजा के बैठने पर बैठनेवाली, चलने पर पीछे चलनेवाली, भोजन करने पर भोजन करनेवाली, सोने पर सोनेवाली, और देश तथा काल पर ध्यान देनेवाली को कामुका कहते हैं।

प्रतिहारी : जो पाँच वर्ष से बड़ी और दस वर्ष से कम अवस्थावाली कुमारियाँ राजकुमारियों की रक्षा के लिए नियुक्त की जाती हैं, वे प्रतिहारी कही जाती हैं।

कुलजा : जो कुमारियाँ लगातार अन्तःपुर में रहनेवाली और अन्तःपुर के सुख-दुःख में समान रूप से भाग लेनेवाली होती हैं, कुमारियों को सब बातों बतानेवाली, कुमारियों के साथ रहनेवाली होती हैं, रति और सम्भोग के अनुभव से हीन होती हैं, एकान्त में रहनेवाली और अन्तःपुर में रहती हैं, वे कुलजा कहलाती हैं।

पुरुष-पात्र : शारदातनय ने कई प्रकार के पुरुष-पात्रों का भी परिचय दिया है। इनमें से कुछ का परिचय भरत मुनि ने भी दिया है, जो पहले लिखा जा चुका है। शेष का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

कंचुकी : कंचुकी का परिचय पहले दिया जा चुका है। शारदातनय ने कुछ दूसरे ढंग से कंचुकी के विषय में लिखा है। जो ब्राह्मण कामना-हीन हो, ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न हो, कंचुक (अँगरखा), उष्णीष (पगड़ी) तथा बेंत धारण करता हो, वह कचुकी कहलाता है। कंचुकीय लोग अन्तःपुर में राजा के पास रहते हैं और किसी को भेजने-बुलाने के काम में तथा राजभवन के भीतरी कामों में लगाये जाते हैं।

वर्षवर : अल्प शक्तिवाला, स्त्री-स्वभाववाला, नपुंसक, इच्छाहीन और जन्म तथा स्वभाव से वासनाहीन व्यक्ति वर्षवर कहा जाता है। यह गुप्त प्रेम करनेवाले राजाओं की प्रमलीला में सहायता करता है और रनिवास की स्त्रियों की नित्य कथा बताता है।

किरात : जंगली फल-मूल खानेवाले, गाँव-पहाड़ों में रहनेवाले, विचित्र स्त्रियों-वाले, अच्छी तरह भाषा जाननेवाले और लम्बी ठुड्डीवाले किरात कहलाते हैं और इन्हें राजा लोग बलपूर्वक बार-बार नियुक्त करते हैं। रानियों के उपयोग में आनेवाले पात्र, आभूषण तथा वस्त्रों की रखवाली और अन्तःपुर के लोगों को दण्ड देने के निमित्त किरात नियुक्त किये जाते थे।

औपस्थापिक : बहरा, नपुंसक, बौना, बड़े-बड़े दाँतोंवाला, मोटा व्यक्ति, जो अन्तःपुर में काम करता हो, औपस्थापिक कहा जाता था।

निर्मुण्ड : जिन्हें कामक्रीड़ा का ज्ञान न हो, लिंगहीन हों, उन्हें निर्मुण्ड कहा जाता था। राजा के पास रानियों को लाने का काम औपस्थापिक का था और उन्हें वापस पहुँचाने का काम निर्मुण्ड का।

अभ्यागार : अभ्यागार वह व्यक्ति कहलाता है, जिसके पुरुष या स्त्री-चिह्न विलुप्त हों, छोटी-सी दाढ़ी और छोटे-छोटे स्तन हों। वे भीतरी भवन की देखभाल करते थे। इन्हें राजा लोग सदा काम में ला सकते थे।

मूक : मूकों का काम था अनेक प्रकार के कौतुक दिखाकर लोगों का मनोरंजन करना। स्त्रियों को हँसाने तथा उनका मनोरंजन करने के लिए काने और कुबड़े रखे जाते थे।

सभासद : राजा, सेनापति, युवराज, पुरोहित, प्राश्निक, प्राड्विवाक, आयुक्त और सचिव—इतने सभासद होने चाहिए। शारदातनय ने सभासद होने के लिए कुछ विशेषताएँ आवश्यक मानी हैं। सभासद वे ही हो सकते हैं, जो अनेक कलाओं के ज्ञाता हों, अनेक भावों को जानते हों, शय्या, आसन, चित्र तथा अलंकार सजाने की कला से परिचित हों, परिहास के मर्मज्ञ हों, वाद्य बजाने में निपुण, गीत तथा वृत्त में कुशल, मनस्वी तथा मानी हों। सभासद के लिए यह भी आवश्यक माना गया कि वे रुपये-पैसे तथा स्त्रियों के विषय में सच्चे तथा पवित्र हों। यदा-कदा वैतालिक, मागध, सूत, वन्दी और नान्दी मंगल-पाठक भी सभासद होते थे।

वैतालिक : समयानुकूल रागों में तथा उस समय के वर्णन को श्लोकों में उच्च स्वर में ठीक ताल में गानेवाला वैतालिक कहा जाता है। यह नेपथ्य में ही स्वयं भी गाता है और अन्य लोगों से भी गवाता है।

वन्दी : जो तत्कालीन वन्दनीय स्वामी और राजा के वंश, पराक्रम, गुण आदि की स्तुतियों के साथ प्राचीन वन्दनीय राजाओं का गुणगान करता है, वह वन्दी कहा जाता है।

नान्दी मंगल-पाठक : जो आशीर्वाद से युक्त तथा मांगलिक भावों को व्यक्त करनेवाले वाक्यों से सभी मंगलकारक देवों या वस्तुओं की प्रशंसा करता है, वह नान्दी मंगल-पाठक कहा जाता है। वह राजाओं को प्रसन्नतादायक और मंगलपूर्ण आनन्ददायक वाक्य भी पढ़ता है।

सूत : राजाओं की सुखद निद्रा का ज्ञान रखनेवाले, सुप्रभात की प्रशंसा करनेवाले और स्नानादि दैनिक कृत्यों की सूचना देनेवाले लोग सूत कहे जाते हैं।

मागध : सुन्दर मागधी गीतों में राजा तथा पुरजन का मंगल-गान करनेवाले मागध कहलाते हैं।

पात्रों के नाम : नाट्यशास्त्र के कतिपय ग्रन्थों में पात्रों के नामादि के सम्बन्ध में संकेत किया गया है। आचार्यों ने कुछ अंशों में नियम बनाकर नामों में एकरूपता लाने की चेष्टा की है। धनंजय ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा, परन्तु विश्वनाथ ने इस विषय का विवेचन किया है। भरत ने तो विवेचन किया ही है। नाटकों में वेश्याओं के नामों के अन्त में दत्ता, सिद्धा अथवा सेना रखना चाहिए, जैसे चारुदत्त तथा मृच्छकटिक प्रकरणों में गणिका वसन्तसेना। वैश्यों का नाम अधिकांशतः 'दत्त' शब्दान्त होना चाहिए, जैसे चारुदत्त, विष्णुदत्त। वसन्त आदि ऋतुओं में वर्णनीय वस्तुओं के नाम से चेट तथा चेटियों का नाम सम्बद्ध होना चाहिए, जैसे मालतीमाधव में चेट कलहंस तथा चेटी मन्दारिका के नाम। विदूषक का नाम वसन्त ऋतु अथवा फूलों के नाम पर रखना चाहिए, जैसे वसन्तक। किन्तु, अवमारक नाटक में विदूषक का नाम 'सन्तुष्ट' रखा गया है। कापालिक के नाम के अन्त में 'घण्ट' शब्द रखना चाहिए, जैसे मालतीमाधव में 'अघोरघण्ट'। परन्तु, हिन्दी आदि भाषाओं के नाटकों के लिए नामकरण का यह नियम सर्वथा व्यर्थ है। नाटक में

जिस बात का निर्देश प्रधानता से करना है, उसकी सूचना देनेवाला नाटक का नाम होना चाहिए, जैसे 'रामाभ्युदय'। इस नाटक में रामचन्द्रजी के अभ्युदय का प्रतिपादन किया गया है। नाटिका और सट्टक के नाम विशेषतः उनकी नायिकाओं के नाम पर रखने चाहिए, जैसे 'रत्नावली' नाटिका या 'कर्पूरमंजरी' सट्टक।

पात्रों के सम्बोधन : नाटक के भिन्न-भिन्न पात्र आपस में एक-दूसरे को किस प्रकार सम्बोधित करें, इस शिष्टता का भी विवेचन नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में किया गया है। राजा को ऋषि-मुनि राजन् कहकर या अपत्यवाचक प्रत्यय लगाकर जैसे 'पौरव', 'दाशरथे' आदि कहकर पुकारते हैं; ब्राह्मण और सारथी उसे 'आयुष्मन्' कहते हैं; सामन्तादि 'देव' या 'स्वामिन्' कहते हैं तथा निम्नकोटि के पात्र उसे 'भट्ट' कहकर सम्बोधित करते हैं। युवराज को राजा के ही समान 'स्वामिन्' कहा जाता है और अन्य राजकुमारों को 'भद्रमुख' अथवा 'सौम्य'। देवता तथा ऋषि-मुनि 'भगवन्' नाम से सम्बोधित होते हैं और ब्राह्मण तथा अग्रज 'आर्य' नाम से पुकारे जाते हैं। विदूषक राजा या नायक को 'वयस्य' कहता है और नायक भी विदूषक को 'वयस्य' ही कहता है। पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करती है।

छोटे लोग अपने बड़ों को 'तात' कहते हैं और बड़े भी छोटों को 'तात' या 'वत्स' कहते हैं। राजकुमारियाँ 'भर्तृदारिका' कही जाती हैं। विदूषक महादेवी तथा उसकी सखियों को 'भवती' कहता है। सेविकाएँ तथा चेटियाँ महादेवी और रानियों को 'भट्टिनी' या 'स्वामिनी' कहकर सम्बोधित करती हैं। पति पत्नी को 'आर्या' कहकर पुकारता है। मध्यम वर्ग के पुरुष आपस में 'हंहो' कहकर सम्बोधित करते हैं और निम्न वर्ग के लोग 'हंडे' कहकर। ब्राह्मण लोग परस्पर अपत्य प्रत्ययान्त शब्द से नाम लेकर पुकारते हैं, जैसे 'कौशिक', 'विश्वामित्र'। मन्त्री को ब्राह्मण लोग 'अमात्य' या 'सचिव' कहकर और अधम श्रेणी के लोग उसे 'आर्य' कहकर पुकारते हैं। शिष्य गुरु को, पुत्र पिता को, या अनुज अग्रज को 'सुगृहीत नामधेय' या 'सुगृहीतनामा' शब्द से सम्बोधित करता है। शिष्य गुरु को 'भगवन्' शब्द से भी पुकारता है।

बौद्ध भिक्षु को 'भदन्त' और शक को 'भद्रमुख' कहा जाता है। गणिका को 'अंजुका', कुट्टनी या वृद्धा को 'अम्बा' कहा जाता है। इसी प्रकार माननीय वृद्धा स्त्रियों को भी 'अम्बा' कहकर पुकारते हैं। सखियाँ आपस में 'हला' शब्द से एक-दूसरी को सम्बोधित करती हैं और दासियों को 'हंजा' कहकर पुकारा जाता है। उत्तम श्रेणी के लोग तपोनिष्ठ तथा शान्तिनिष्ठ पुरुषों को 'साधो' कहकर सम्बोधित करते हैं। ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम पुरुष स्त्रियों को उसी प्रकार सम्बोधित करते हैं, जिस प्रकार उनके पतियों को करते हैं, जैसे ऋषियों को भगवन् कहते हैं, तो उनकी स्त्रियों को भगवती कहते हैं। पाषण्डी लोगों को उनके आचार के अनुसार सम्बोधित किया जाता है, जैसे 'कापालिक', 'क्षपणक' आदि। (पा धातु का अर्थ है पालन करना—वेदों की रक्षा करना; उसका जो खण्डन करे,

उसे पाषण्ड या पाषण्डी कहते हैं। अतः बौद्ध, जैन, कापालिक आदि वेद-विरोधी मतों को पाषण्ड कहते हैं और उनके अनुयायियों को पाषण्डी।) सूत्रधार और नटी परस्पर 'आर्य' तथा 'आर्या' शब्द का व्यवहार करते हैं। पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहकर और सूत्रधार उसे 'मारिष' कहकर पुकारते हैं।

इस प्रकार नाट्याचार्यों ने नाटक के पात्रों के पारस्परिक सम्बोधन का विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु, आजकल हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भाषाओं के नाटकों में ऐसा कोई नियम नहीं है। ये सब नियम बहुत पहले ही समाप्त हो गये। आज के नाटकों में पात्र परस्पर में स्वाभाविक रीति से सम्बोधन करते हैं।

नाटक में पात्रों की संख्या : किसी प्राचीन नाट्याचार्य ने यह निर्देश नहीं दिया है कि नाटक में पात्रों की संख्या कितनी होनी चाहिए। वस्तुतः, अभिज्ञानशाकुन्तल, मृच्छकटिक आदि नाटकों में पात्रों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ नाटकों में थोड़े पात्र भी रखे गये हैं। नाटक में थोड़े ही पात्रों की योजना करनी चाहिए। उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति, संस्कार आदि को ध्यान में रखकर उनकी सृष्टि करनी चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन परिस्थितियों में पले हुए पात्र नाटकीय परिस्थितियों में पड़कर, अपने वातावरण से प्रभावित होकर स्वाभाविक रूप में कार्य करते हुए, नाटकीय व्यापार में उचित भाग लें और इस प्रकार नाटककार के उद्दिष्ट फलागम को सफल बनावें। यदि इस दृष्टिकोण से पात्रों की योजना की जाय, तो वे पात्र अधिक सरस और स्वाभाविक लगेंगे।

संस्कृत-नाटकों में चरित्र-चित्रण

संस्कृत-नाटकों की यह विशेषता रही है कि वे रस तथा कविता के वातावरण से सर्वथा पुष्ट रहते हैं, जिससे नाटककार वस्तु के विन्यास और चरित्र के विकास की ओर अधिक ध्यान न देकर आदर्शवादी वातावरण प्रस्तुत करने की ओर ध्यान देता है। ललित कला—विशेषतः चित्रकला—का उद्देश्य चित्रित वस्तुओं की आकृति को यथार्थ रूप से अंकित करना नहीं रहता, अपितु दर्शकों के चित्त पर उदात्त चरित्र की सुन्दर छाप छोड़ना ही उसका अभीष्ट रहता है। यही बात बहुलांश में नाटक के साथ भी है। फलस्वरूप संस्कृत-नाटकों के भावाभिव्यंजक गीत्यात्मक पद्य ही उनके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश होते हैं। इन गीतों के ही सहारे नाटककार पात्रों की मानसिक वृत्तियों का पूर्ण चित्र उपस्थित करता है।

भारतीय नाटकों में पाश्चात्य नाटकों के समान संवाद को सजाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इसका परिणाम यह होता है कि संस्कृत-नाटकों में चित्रित पात्र परम्परा-युक्त होते हैं और स्वभावतः अपने समाज के आदर्श प्रतिनिधि का काम करते हैं। संस्कृत का नाटककार यह प्रयत्न नहीं करता कि अपने पात्रों में वैयक्तिक विशिष्टता दिखाकर उन्हें

आधुनिक श्रेणी के पात्रों की कोटि में ला दे। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं होता कि संस्कृत-नाटकों में चरित्र वास्तविकता तथा यथार्थता से बहुत दूर केवल कल्पना से उत्पन्न होता है। परम्पराबद्ध होने के कारण उन पात्रों के चरित्र के विकास में कोई दोष नहीं आने पाता। नाटककार अपने पात्रों को संसार का सजीव प्राणी एवं विशिष्ट व्यक्ति बनाने से कभी विमुख नहीं होता।

संस्कृत-नाटकों के कतिपय विशिष्ट चरित्रों पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मृच्छकटिक का चारुदत्त परम्परायुक्त होने पर भी दीन-दुखियों का सहायक तथा रक्षक है। उसमें कुछ ऐसे उदात्त गुण दृष्टिगत होते हैं, जिससे वह कल्पना-जगत् का कोई वायव्य प्राणी नहीं होकर इस धरातल पर चलने-फिरनेवाला जीवन्त प्राणी है। अभिज्ञानशाकुन्तल का नायक दुष्यन्त भारत का सम्राट् है, फिर भी कालिदास ने उसके जीवन में उत्थान-पतन की मार्मिक अभिव्यंजना की है, जिससे उसका चरित्र अविस्मरणीय बन जाता है; वह ठोस पृथ्वी पर चलनेवाला वास्तविक व्यक्ति बना रहता है।

वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृत-नाटकों में चित्रित पात्रों में उच्च व्यक्तित्व एवं जीवनी शक्ति का अपूर्व समावेश किया गया है और उनके अनुरूप व्यक्ति हमें संसार में आये दिन मिलते रहते हैं। संस्कृत-नाटकों के कुछ पात्र तो ऐसे हैं, जो अपनी मानवता की अभिव्यक्ति के कारण केवल भारतवर्ष में ही नहीं, विश्व के सभी कोनों में पाये जा सकते हैं, जिन्हें सर्वदेशीय या सार्वभौम कह सकते हैं। मृच्छकटिक प्रकरण में ऐसे कई पात्र हैं, जैसे सभिक, शकार तथा शर्विलक।

चरित्र-चित्रण : चरित्र-चित्रण किसी भी नाटक की महत्ता का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। संसार के श्रेष्ठ नाटककार अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण के ही कारण विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सके हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपन्यास और नाटक में बहुत अन्तर है। कुछ लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि नाटक में तो नाट्य या अभिनय की ही प्रधानता है, इसलिए उसमें चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि नाटकों में उपन्यास के ही समान चरित्र-चित्रण का महत्त्व है। यदि किसी नाटक में केवल घटनाएँ ही सजा दी जायँ और चरित्र-चित्रण पर ध्यान नहीं दिया जाय, तो उस नाटक का कोई विशेष महत्त्व नहीं हो सकता। वस्तुतः, नाटक में चरित्र-चित्रण का अपना विशिष्ट स्थान है। चरित्र-चित्रण को ही लेकर शेक्सपियर, द्विजेन्द्रलाल राय प्रभृति नाटककारों का इतना उच्च तथा सम्मानित स्थान है। नाटक के दर्शकों पर चरित्र-चित्रण का अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ता है। साहित्यिक दृष्टि से भले ही ऐसे नाटक का आदर हो जाय, जिसमें वस्तु-विन्यास सुगठित हो और चरित्र-चित्रण की अवहेलना की गई हो, परन्तु रंगशाला में तो वही नाटक लोकप्रियता तथा आदर पा सकता है, जिसमें सुन्दर रीति से चरित्र-चित्रण किया गया हो।

नाटक में चरित्र-चित्रण विस्तृत नहीं हो सकता, कथानक या वस्तु के सदृश इसे भी संक्षिप्त ही होना चाहिए। नाटककार को बहुत ही परिमित सीमा में कार्य करना पड़ता है; क्योंकि उसे थोड़े ही दृश्यों में चरित्र-चित्रण भी कर देना होता है और कथावस्तु को भी पूरा करना होता है। कथावस्तु के विकास में तो कथोपकथन का उपयोग किया ही जाता है, चरित्र-चित्रण में भी इसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथोपकथन का एक-एक शब्द विशेष महत्त्व का होता है। नाटक के प्रत्येक पात्र का स्वरूप इस प्रकार का प्रस्तुत किया जाता है कि सम्पूर्ण कथावस्तु के परिवेश में वह सर्वथा उपयुक्त प्रतीत हो। नाटककार नायक तथा अन्य प्रधान पात्रों के चरित्र की उन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों का उद्घाटन करता है, जो सम्पूर्ण नाटक को प्रभावित करती हैं। चरित्र-चित्रण में नाटककार को उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उपन्यासकार तो स्थान-स्थान पर किसी चरित्र के विषय में अपनी ओर से कुछ टिप्पणी कर सकता है, परन्तु नाटककार अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह सकता। नाटककार की यह कठिनाई उस स्थल पर और भी बढ़ जाती है, जब उसे अपने किसी पात्र-विशेष के किसी सूक्ष्म भाव का प्रदर्शन करना होता है।

जिन स्थलों पर उपन्यासकार किसी पात्र के चरित्र के विषय में अपनी ओर से बहुत-कुछ कह देता है, उन स्थलों पर नाटककार अपनी कथावस्तु और कथोपकथन के द्वारा ही यह काम बहुलांश में कर लेता है और अपने पात्रों का रंग-ढंग दिखला देता है। उपन्यासकार को आवश्यकतानुसार टिप्पणी देकर स्पष्टीकरण की स्वतन्त्रता रहती है। वह विश्लेषात्मक या साक्षात् तथा अभिनयात्मक या परोक्ष—इन दोनों उपायों का अवलम्बन कर सकता है। परन्तु, नाटककार पहली प्रणाली—विश्लेषात्मक प्रणाली—का सहारा बिलकुल नहीं ले सकता, उसके लिए तो चरित्र-चित्रण का सहारा एकमात्र अभिनयात्मक या परोक्ष प्रणाली है। यही कारण है कि नाटक के चरित्र-चित्रण में उपन्यास के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अधिक योग्यता तथा निपुणता अपेक्षित है। चरित्र-चित्रण का मुख्य तत्त्व है कार्य। हम नाटक के पात्रों को उनके कार्यों के ही द्वारा जानते हैं।

नाटक में अनेक अवसरों पर कथावस्तु के ही द्वारा पात्रों के नैतिक तथा मानसिक गुणों का परिचय पाठक तथा दर्शक को मिलता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि कथावस्तु या उसकी घटनाएँ चरित्र के विकास का एक अन्य रूप ही है। अतः, चरित्र-चित्रण तथा घटना-क्रम का बिन्यास कुछ इस प्रकार का होना चाहिए, जिससे दर्शकों को स्वयमेव सभी बातों का ज्ञान प्राप्त हो जाय और उन्हें कथोपकथन तथा अभिनय आदि का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं जान पड़े। दूसरे शब्दों में कहा जाय कि वस्तु और चरित्र-चित्रण ऐसा होना चाहिए कि यदि दर्शक पात्रों के कथोपकथन आदि पर पूर्ण ध्यान नहीं भी दे, तो भी उसे नाटक की सभी बातों का पता लग जाय और वह जान जाय कि किस पात्र की क्या-क्या विशेषताएँ हैं।

चरित्रारोपण के विषय में कुछ पाश्चात्त्य सिद्धान्त : कतिपय पाश्चात्त्य नाट्याचार्यों ने नाटक में पात्रों का चरित्रारोपण करने के विषय में कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस विषय में कई बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है। चरित्रारोपण के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार मत हैं :

१. दुष्ट को भयानक रूप में और सज्जन को देवता के रूप में चित्रित करना चाहिए।

२. रंगशाला फोटो-कैमरे का लेन्स है। जो पदार्थ सामने पड़ें, उन सबको ग्रहण करके दिखाता है।

३. नाटककार को सुन्दर का चित्रण करना चाहिए; इससे असुन्दर अनायास ही स्वयं नष्ट हो जायगा।

४. नाटककार को दोषों का प्रदर्शन करना चाहिए। इसका सत्परिणाम यह होगा कि इन दोषों को देखकर मनुष्य स्वयमेव अपना सुधार कर लेगा।

इनमें से पहले और तीसरे सिद्धान्तों को सुविधापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है। दुष्ट के भयानक रूप में और सज्जन के देवता-रूप में चित्रण से किसी का मतवैभिन्न्य नहीं हो सकता, किसी को आपत्ति करने का अवकाश नहीं है। यदि दुष्ट में श्रेष्ठता का आरोप और सज्जन में दुष्टता का आरोप किया जाय तो यह नीति और समाज दोनों के विरुद्ध होगा। तीसरे सिद्धान्त के विषय में यही कहा जा सकता है। यदि नाटककार सुन्दर का अत्यन्त सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से चित्रण करता है, तो इसका एक बहुत अच्छा परिणाम यह होगा कि उसके प्रभाव से असुन्दर का अपने-आप तिरोभाव हो जायगा। यह सामान्य ज्ञान है कि सुन्दर और उदात्त की ओर मानव का स्वाभाविक खिंचाव तथा झुकाव होता है और इससे ऊपर उठने की प्रेरणा होती है। दूसरा और चौथा सिद्धान्त यथार्थवाद से सम्बद्ध रखनेवाले हैं।

पाश्चात्त्य नाट्याचार्यों ने पात्र चुनने और उनका चित्रण करने के विषय में तीन अन्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये तीनों सिद्धान्त—'है', 'होना चाहिए' और 'हो सकता है' के नाम से पुकारे जाते हैं। 'है' यथार्थवाद है; इसमें नाटककार उस सारे विषय का चित्रण करता है, जो उस समय में वर्त्तमान है। 'होना चाहिए' आदर्शवाद है; क्योंकि नाटककार का ध्यान उन विषयों का चित्रण करने की ओर रहता है, जो समाज में होने चाहिए। 'हो सकता है' देववाद कहलाता है; क्योंकि इसमें उस विषय का चित्रण रहता है, जो प्रायः होता नहीं है, परन्तु हो सकता है; उसके होने की सम्भावना (Probability) है। उदाहरण के लिए सुहराब और रुस्तम के युद्ध को लिया जाय। सुहराब रुस्तम से बार-बार पूछता है कि क्या तुम्हीं रुस्तम हो, परन्तु रुस्तम कोई उत्तर नहीं देता है। अन्त में, रुस्तम अपने ही पुत्र सुहराब की हत्या कर देता है। यही नाटकीय मोड़ है, जो हो सकता है, परन्तु प्रायः होता नहीं। यूरोपीय नाट्याचार्यों ने इसे ही सर्वोत्तम माना है।

परन्तु नाटककारों को वादों के झमेले में नहीं पड़कर इस प्रकार पात्रों में चरित्रारोपण करना चाहिए कि उनसे दर्शकों का मनोरंजन हो और उन्हें शान्ति मिले। पहले यह लिखा जा चुका है कि नाटक में कम ही पात्रों की योजना हो और उनके चरित्रों का विकास बहुलांश में उनके कार्यों के ही द्वारा प्रकट किया जाय। कुछ अंश में पात्रों के संवाद द्वारा तथा कुछ विभिन्न पात्रों के सम्बन्ध से भी उनका चरित्र प्रकट किया जा सकता है। यदि इस प्रकार पात्रों की योजना की जाय तो नाटक में रस का संचार हो सकता है।

स्त्री-पुरुष पात्रों की भूमिका में विपर्यय

यह तो स्वाभाविक ही है कि पुरुष-पात्र पुरुष की भूमिका निभाये और स्त्री-पात्र स्त्री की भूमिका अदा करे, परन्तु पुरुष-पात्र स्त्री की और स्त्री-पात्र पुरुष की भूमिका करे; यह विचित्र प्रयोग है, जो नाटकों में प्रायः होता रहा है। भरत मुनि ने बहुत संक्षेप में इस विषय की ओर संकेत किया है, फिर भी उसमें नाट्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार-दर्शन निहित है। इस भूमिका-विपर्यय में दो बातें होती हैं—१. पर-प्रभाव-ग्रहण और २. आत्म-स्वभाव का परित्याग। पुरुष स्त्री की भूमिका में अपने स्वभाव का त्याग कर स्त्री का स्वभाव ग्रहण करता है, उसी प्रकार स्त्री पुरुष की भूमिका में अपने स्वभाव का परित्याग करके पुरुष का स्वभाव ग्रहण करती है। इस प्रकार, दोनों को अपनी भूमिका में सफलता प्राप्त होती है। पुरुष अपनी स्वाभाविक परुषता का त्याग करके स्त्री के स्वाभाविक सुकुमार भाव से सम्पन्न होता है और स्त्री भी अपनी जातिगत सुकुमारता का परित्याग करके पुरुष के पुरुष-भावों से युक्त होकर अपनी भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह करती है। भरत ने इस विषय में लिखा है :

स्त्री पुंसः प्रकृतिं कुर्यात् स्त्रीभावं पुरुषोऽपि च।
धैर्यौदार्येण सत्त्वेन बुद्ध्या तद्वच्च कर्मणा॥
स्त्रीपुमांस त्वभिनयेद्वेषवाक्यविचेष्टितैः।
स्त्रीवेषभाषितैर्युक्तः प्रेक्षिताप्रेक्षितैस्तथा॥[1]

विपर्यय के दो प्रकार : यह भूमिका-विपर्यय दो प्रकार से सम्भव है :

१. विपर्यय का एक रूप वह होता है जब नाटक में आया पुरुष-पात्र घटनाक्रम के कारण स्त्री की भूमिका ग्रहण करता है। देवीचन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी नाटकों में चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी की भूमिका में आया है। भरत ने इस विपर्यय के तीन कारणों का उल्लेख किया है :

व्याजेन क्रीडया वापि तथा भूयश्च वञ्चनात्।[2]

व्याज (कार्य-साधन), क्रीड़ा (अनुरंजन) और वंचना—ये ही तीन कारण हैं, जिन्हें लेकर यह विपर्यय होता है। कथावस्तु के आग्रह से या कार्य साधन के लिए विदूषक चेटी के वेश में

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १२, का० १९७-१९८
२. वही

संकेत-स्थान पर जाता है। क्रीडावश या अनुरंजन के लिए नायिका अपने प्रियतम का वेश धारण करती है और विदूषक की वंचना के लिए चेट स्त्री-वेश धारण कर उपस्थित होता है। संस्कृत और हिन्दी के अनेक नाटकों में ऐसे विपर्यय-प्रयोग के अनेक अवसर देखे जाते हैं। अँगरेजी-नाटककार शेक्सपियर के कई नाटकों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ लड़कियाँ प्रयोजन-विशेष से पुरुषों के वेश में रहती हैं।

२. विपर्यय का दूसरा रूप वह होता है जब नाटक का अभिनय करते समय स्त्री-पुरुष अभिनेताओं में ही विपर्यय हो जाय। यह भी दो प्रकार से सम्भव है।

(क) पुरुष-अभिनेता स्त्री की भूमिका ग्रहण करे, जैसे आजकल के सामान्य नाटकों में देखा जाता है। स्कूल-कॉलेज या छोटे नगरों में जब नाटक खेला जाता है तो स्त्री-अभिनेत्रियों के अभाव में पुरुष ही स्त्री की भूमिका निभाते हैं। मालतीमाधव प्रकरण में सूत्रधार और पारिपार्श्वक कामन्दकी और अवलोकिता की भूमिका में आते हैं।

(ख) स्त्री-अभिनेत्री पुरुष की भूमिका का निर्वाह करती है। बालिका-विद्यालयों या महिला-महाविद्यालयों में जब नाटक खेला जाता है तो लड़कियाँ ही पुरुषों की भूमिका में उतरती हैं। यदि एक लड़की शकुन्तला की भूमिका करती है, तो दूसरी लड़की पुरुष-वेश में दुष्यन्त की भूमिका करती है।

भूमिका-विपर्यय का प्रयोग स्वयं अपने में ही नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से चमत्कारपूर्ण है; परन्तु इससे भी अधिक इसका महत्त्व भारत के नाट्य-प्रयोग के उत्कर्ष की दृष्टि से है। भरत के ही युग में भारतीय नाट्य-प्रयोग का इतना विकास हो गया था कि नाट्य-प्रयोग में मनोविनोद तथा चमत्कार के लिए भूमिका-विपर्यय का प्रयोग किया जाता था। काफी प्राचीन साहित्य में भी इसका प्रयोग मिलता है। पातञ्जल महाभाष्य में इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि स्त्री की भूमिका में अभिनय करनेवाला पुरुष भ्रूकुंस के नाम से प्रसिद्ध था। इससे सिद्ध होता है कि भूमिका-विपर्यय की यह प्रथा बहुत प्राचीन है।

निष्कर्ष : भरत द्वारा प्रतिपादित तथा धनंजय, विश्वनाथ आदि द्वारा समर्थित नायक-नायिका के विवेचन पर सामन्त-युग की स्पष्ट छाप है। उस युग में नाटक राजाओं तथा सामन्तों के लिए लिखे जाते थे और उन्हीं की रंगशालाओं में अभिनीत भी होते थे। दर्शक भी राजे, सामन्त, मन्त्री, सेनापति आदि होते थे। स्पष्टतः नाटककार अपने नाटक के रूप में ऐसे ही सामन्तों को रखता था और वैसे ही सभासदों, विदूषक, चेट आदि की अवतारणा करता था। फलस्वरूप, नाटकों में सामन्ती वातावरण का पूर्ण प्रतिबिम्ब आ जाता था, परन्तु सामान्य जीवन का प्रतिबिम्ब इसमें शायद ही कभी आया हो।

सामन्त-युग का सबसे अधिक प्रभाव नायक-नायिक-भेद पर पड़ा। भरत ने नायक-नायिका-भेद का जितना विवेचन किया, उससे बहुत बढ़कर धनंजय, शारदातनय, विश्वनाथ, भानुदत्त आदि ने किया। संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी परवर्त्ती नाटक श्रृंगार रस के हैं और इन आचार्यों ने नायक तथा नायिका के अनेक भेद श्रृंगार रस के ही आधार

पर किये। प्रत्येक परवर्त्ती आचार्य अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य से नायिका के कुछ भेद बढ़ा देने में होड़ करने लगा। वय के अनुसार, नायक के व्यवहार के अनुसार, नायक से सम्बन्ध के अनुसार आदि कई दृष्टियों से नायिका के असंख्य नवीन भेदों की उद्‌भावना हुई। हिन्दी के रीतिकालीन कवि केशव, देव, पद्माकर आदि भी एक-दूसरे से बढ़ जाने में होड़ करने लगे।

नाट्यकार तथा नाट्यशास्त्री अपने नायकों को अधिक-से-अधिक गुण देने में प्रयत्नशील रहे। धनंजय, विश्वनाथ आदि ने नायक के गुणों की जो सूची दी है, उसमें शायद ही कोई गुण छूटा हो। उनके विचार से सामान्य श्रेणी का कोई भी व्यक्ति नाटक का नायक नहीं हो सकता था। प्रहसन आदि रूपकों में साधारण श्रेणी के व्यक्ति नायक होते थे, परन्तु नाटक के नायक के लिए सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता समझी गई।

इन आचार्यों ने नायक-नायिका के वर्णन में बहुत अधिक पिष्टपेषण किया है। किसी नवीन विषय के अभाव में पिष्टपेषण अनिवार्य ही हो जाता है। भरत ने जो बात कह दी, उसी को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर, प्रायः उन्हीं शब्दों में और कहीं-कहीं कुछ परिवर्त्तन करके धनंजय ने कहा और धनंजय के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पिष्टपेषण शारदातनय, विश्वनाथ आदि ने किया। ये परवर्त्ती आचार्य कोई नवीन वस्तु या नवीन दृष्टि देने में असमर्थ ही रहे।

किन्तु, बीसवीं शती के हिन्दी-नाटकों में नायक-नायिका की कल्पना में आमूल परिवर्त्तन हो गया है। कुछ दिन पहले ही सामन्त-युग समाप्त हो गया। अब नाटक सामन्तों के लिए नहीं लिखे जाते और न उन्हीं की रंगशालाओं में अभिनीत ही होते हैं। आजकल नायक-नायिका के वे सब भेद व्यर्थ हो गये हैं। नायिका के खण्डिता, कलहान्तरिता आदि भेद स्वयमेव समाप्त हो गये हैं और उनकी समस्या अनायास ही सुलझ गई है। आधुनिक युग में खण्डिता नायिका नहीं मिल सकती; क्योंकि ऐसा कोई नायक नहीं मिलता, जो रात को देर से घर लौटा हो और उसके होठों पर अन्य नायिका की आँखों का काजल लगा हो और उसके गले पर हार की साट पड़ी दिखाई देती हो। इसी प्रकार, बिजली के इस युग में कृष्णाभिसारिका नायिकाएँ भी व्यर्थ हो गई हैं। बड़े परिजनवाले वे राजे भी नहीं रहे, जिनके कई रानियाँ और विदूषक, चेट आदि हों।

आज के युग में नायक उच्चकुल-सम्भूत तथा सर्वगुणसम्पन्न कोई सामन्त नहीं होता। वह किसान, मजदूर की तरह सामान्य व्यक्ति भी होता है और उसमें गुण तथा अवगुण का समन्वय होता है। आज का नायक चोर और शराबी भी हो सकता है। अतः, स्पष्ट है कि आधुनिक युग के नाटकों में नायक-नायिका की कल्पना में मौलिक परिवर्त्तन हो गया है।

सप्तम अध्याय

रस

परिभाषा

भारतीय नाट्यशास्त्र में रस-विवेचन का बहुत ही महत्त्व है। दृश्यकाव्य में रस की स्थिति भरतमुनि से भी पहले मानी जा चुकी थी। दृश्यकाव्य के भेदकों में वस्तु तथा नेता के साथ रस को भी माना गया है। सामाजिकों या दर्शकों में रसोद्रेक करना दृश्य-काव्य का प्रधान उद्देश्य है। नटों तथा अभिनेताओं का यही प्रयत्न रहता है कि वे अपने अभिनय द्वारा दर्शकों में रस का उद्‌बोध या उद्रेक कर दें।

रस क्या है ? रस शब्द की व्युत्पत्ति है **'रस्यते इति रसः'**। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रस आस्वादन की वस्तु है। रस का पारिभाषिक रूप सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में देखने को मिलता है। उन्होंने रस की परिभाषा का प्रश्न उठाया है और स्वयं उत्तर दिया है :

'अत्राह—रस इति कः पदार्थः। उच्यते—आस्वाद्यत्वात्।'[1]

भरतमुनि ने बताया है कि आस्वादनीय होने से रस कहा जाता है। स्वभावतः, फिर प्रश्न उठता है कि किसका आस्वादन होता है ? भरतमुनि ने उसी स्थान पर इस प्रश्न का भी उत्तर दिया है : **यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावाना-स्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।**[2] अर्थात्, जैसे नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाकर रसास्वादन करते हुए सुमना पुरुष हर्ष प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अनेक तरह के भावों और अभिनयों द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सहृदय दर्शक आस्वाद करते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं।

अभी जो भरतमुनि का उद्धरण दिया गया, उसमें एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। सामाजिक या दर्शक की दृष्टि से व्यंजनों या भावों का भोग रस नहीं है, अपितु भोग से उत्पन्न होनेवाला आनन्द ही रस है। भक्तविद् व्यक्ति के विषय में भोजन की क्रिया से पृथक् भोजनोपरान्त का आनन्द है, उसी प्रकार नाटक के दर्शक के विषय में नाटक-दर्शन की क्रिया से उसके भावों के आस्वादन-विषयक कार्य से रसानुभूति भिन्न है।

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ० ३१५ (श्रीरघुवंश का अनुवाद)

२. वही

दूसरे शब्दों में, सामाजिक की भावानुभूति के आस्वादन से उत्पन्न आनन्द ही रस कहा जा सकता है। रस केवल मनोवेग नहीं है और न केवल उसका आस्वादन ही है, अपितु उसके आस्वादन से उत्पन्न आनन्द रस है। फिर, प्रश्न उठता है कि इस आनन्द का भोक्ता कौन है ? भरत ने उसी स्थल पर इसका उत्तर दे दिया है : **आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः।** अर्थात्, सुमना—सहृदय दर्शक या सामाजिक ही भावों का आस्वादन करते हैं।

भरत ने रस की यह परिभाषा दृश्यकाव्य को ध्यान में रखकर दी है। रस दृश्य-काव्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में होता है। दोनों को ध्यान में रखकर रस की सीधी परिभाषा यह दी जा सकती है—काव्य के पठन, श्रवण अथवा दर्शन से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी आनन्द को रस कहते हैं।

स्थायी भाव प्रसुप्तावस्था में रहते हैं। आस्वादनार्थ उनको जगाना होता है। उन्हें जगानेवाले विभावादि हैं, उनके जगने का प्रमाण अनुभावादि की उत्पत्ति है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सहृदय के हृदय में स्थित स्थायी भाव ही उचित वातावरण पाकर रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। भरतमुनि की दृष्टि में रसिक के हृदय में संवाद से सम्बद्ध अर्थों का मूल भाव ही रस है। रस उत्पन्न करने के लिए उचित वातावरण की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से होती है। भरत ने अपने प्रसिद्ध रससूत्र में यही तथ्य रखा है :

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः।[1]

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव रस को प्राप्त होते हैं। भरत ने एक उदाहरण देकर इसे समझाया है। **यथाहि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।**[2] अर्थात्, जैसे गुड़ आदि द्रव्यों और व्यंजनों एवं ओषधि आदि से षाडव—प्रपानक—आदि रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अनेक भावों के उपगत होने से स्थायी भाव रसत्व प्राप्त करते हैं।

अपने मत के समर्थन में भरतमुनि ने प्राचीन आचार्यों की सम्मति का उद्धरण दिया है :

> **अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—**
> **यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।**
> **आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥**
> **भावाभिनयसम्बद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।**
> **आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥**[3]

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ० २७४ (श्रीरघुवंश द्वारा अनुवाद)
२. वही, पृ० ३१५ (श्रीरघुवंश द्वारा अनुवाद)
३. वही, का० ३२-३३

ये दोनों श्लोक भरत के वंशानुक्रम से चले आनेवाले हैं। इनमें बताया गया है कि जिस प्रकार विशेषज्ञ अनेक द्रव्यों तथा व्यंजनों से युक्त भात खाते हुए उसका स्वाद ग्रहण करता है, उसी प्रकार अनेक भावों तथा अभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों को सहृदय व्यक्ति मन से आस्वादन करता है। इसलिए, इनको नाट्यरस जाना जाता है।

सहृदय व्यक्तियों या सामाजिकों के हृदय में पहले से भाव छिपे रहते हैं। ये भाव अनुभव, शिक्षा, निरीक्षण आदि के कारण या भारतीय पण्डितों के अनुसार, पूर्वजन्म के संस्कार के कारण वासना-रूप में स्थित रहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहेंगे कि ये सब भाव मानव-मन के अर्द्धचेतन या अवचेतन भाग में छिपे रहते हैं। सामान्यत: ये भाव हमारे लौकिक या व्यावहारिक जीवन से उद्भूत होते हैं। हम अपने व्यावहारिक जीवन में किसी से प्रेम करते हैं; अत्याचार और अनाचार देखकर क्रोध करते हैं; साँप, बाघ आदि देखकर डरते हैं; कभी उत्साह प्रदर्शित करते हैं और किसी कोढ़ी के विकृत तथा गलित शरीर को देखकर जुगुप्सा का भाव प्रकट करते हैं। लौकिक या व्यावहारिक जीवन में जब हम बार-बार ये ही दृश्य देखते हैं, तब इसी प्रकार का अनुभव हमें अनेक बार होता है। तब हमारे चेतन मन पर इनका प्रभाव पड़ता है और धीरे-धीरे हमारे अचेतन मन के भीतर इसकी छाप अंकित हो जाती है। यह स्थायी भाव के रूप में हमारे मन के भीतर छिपा रहता है। जब कभी हम काव्य पढ़ते हैं या रंगमंच पर नाटक का अभिनय देखते हैं और उन भावों का चित्रण पाते हैं, तब हमारे अन्तर्मन का छिपा भाव हमारे चेतन मन पर लहराने लगता है। ये ही भाव काव्य में वर्णित या रंगमंच पर कुशल अभिनेताओं के अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किये गये उपयुक्त वातावरण पाकर उद्बुद्ध हो जाते हैं। इन्हीं उद्बुद्ध स्थायी भावों के आस्वादन से उत्पन्न आनन्द रस कहलाता है। चेतन और अचेतन मन कुछ समय के लिए एक हो जाते हैं; दोनों के बीच का परदा हट जाता है और हम मनोराज्य में विचरण करने लगते हैं, जहाँ केवल आनन्द है। भारतीय रसशास्त्री इसे रस कहते हैं। यह लौकिक होते हुए अलौकिक तथा दिव्य है। इसे ब्रह्मानन्दसहोदर भी कहा गया है।

'अग्निपुराण' में काव्य द्वारा उत्पन्न चैतन्य-चमत्कार को रस कहा गया है :

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुं।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥[1]

अर्थात्, वेदान्त आदि में जिस ब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य, ज्योति और ईश्वर कहा गया है, उसका सहज स्वरूप आनन्द है। उस आनन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य-चमत्कार के रूप में होती है। इसी को रस की संज्ञा दी जाती है। दूसरे शब्दों में, काव्य

१. अग्निपुराण, अध्याय ३३८, श्लोक १-२

द्वारा चेतना का विस्तार ही रस का यथार्थ रूप है। रस के द्वारा चेतना का असीम विस्तार होता है, जिससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। इसी से रस का स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप के सादृश्य के योग्य बनता है। इसीलिए, रस की अनुभूति ब्रह्मानन्द की अनुभूति के समान हो जाती है।

इस तथ्य को अभिनवगुप्त ने और विस्तार दिया है। उनके मतानुसार, वासनात्मक रूप में स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण के कारण निर्वैयक्तिक तथा भेद-रहित हो जाने पर आनन्दस्वरूप हो जाती हैं। उस समय इनका आनन्द ब्रह्मानन्द के समकक्ष हो जाता है। उस समय दुःख की कोई आशंका नहीं रह जाती। अभिनवगुप्त ने लिखा है :

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का ?[1]

अर्थात्, हमारे मत में तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप (आत्मा) का ही आस्वादन रस-रूप में होता है। उसमें दुःख की आशंका ही कैसे हो सकती है ?

भट्टनायक ने भी रस को परब्रह्म के सदृश माना है : **सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिज-संविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति।**[2] अर्थात्, सत्त्व गुण की प्रधानता से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्ति-रूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोग-भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभव या भोग किया जाता है।

महिमभट्ट ने रस की परिभाषा देते समय दार्शनिक स्वरूप पर अधिक बल दिया है। ये नैयायिक थे और रस को ज्ञानस्वरूप मानते थे।

मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में रस के स्वरूप की व्याख्या करते समय इसी मत की पुष्टि की है : **'ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्'**। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को रसस्वरूप कहा गया है। सम्भवतः, इसी कथन को आधार मानकर परवर्त्ती आचार्यों ने रसास्वाद की तुलना ब्रह्मानन्द से की।

डॉ० नगेन्द्र ने उपर्युक्त विवेचन का सारांश निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है।[3]

"१. रस आस्वाद नहीं, आस्वाद्य है, अर्थात् अनुभूति नहीं, अनुभूति का विषय है; नवीन शब्दावली में रस विषयिगत नहीं, विषयगत है।

२. विविध भावों, अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संयुक्त एवं विविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव रस (या नाट्यरस) में परिणत हो जाता है।

---

१. **हिन्दी अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ५०७**

२. **वही, पृ० ४६५**

३. **रस-सिद्धान्त, पृ० ७९-८०**

जिस प्रकार व्यंजन आदि से संस्कृत अन्न ही भोज्य रस (षाडवादि) का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार नाट्य-सामग्री (विविध भाव—विविध अभिनय) द्वारा प्रस्तुत स्थायी भाव ही नाट्यरस बन जाता है। यहाँ स्थायी भाव अन्न के समकक्ष है और नाट्य सामग्री —व्यंजन, ओषधि (मसाले) आदि के। अभिनवगुप्त ने इस दृष्टान्त के अवयवों में ही संगति स्थापित करने का प्रयत्न किया है; किन्तु वह न अधिक समीचीन है और न आवश्यक ही; उससे मूल तथ्य उलझ जाता है, स्पष्ट नहीं होता।

३. स्थायी भाव रस नहीं है, परन्तु रस का आधार है; क्योंकि नाट्य-सामग्री में संयुक्त होकर वही तो 'रस' बन जाता है—जैसे कि अन्न रस नहीं है, किन्तु रस का आधार है; क्योंकि व्यंजन आदि से संस्कृत होकर वही रस बन जाता है। उदाहरण के लिए, रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में शृंगार रस नहीं है, परन्तु नायक-नायिका, स्मिति-कटाक्ष, हर्ष-वितर्क आदि के प्रसंग में परिबद्ध होकर विविध अभिनयों के द्वारा जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है, तब शृंगार रस का रूप धारण कर लेता है।

४. यहाँ स्थायी भाव से अभिप्राय सहृदय कवि के स्थायी भाव का न होकर नायक के स्थायी भाव का है और नायक चूँकि लोक का प्रतिनिधि है, इसलिए, नायक के स्थायी भाव का अर्थ है, लोकसामान्य स्थायी भाव।

५. इस प्रकार, रस कला का आस्वाद नहीं है, स्वयं कला अथवा कलात्मक स्थिति है, जो आस्वाद का विषय है।

६. सहृदय इनका आस्वादन करता है, परन्तु उसका यह आस्वाद रस-रूप नहीं होता, हर्षादि रूप ही होता है।

७. हर्षादि के दो अर्थ किये जाते हैं—एक तो यह कि रसास्वाद केवल आनन्दमय ही नहीं होता, विविध स्थायी भावों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है, दूसरा यह कि भरत ने 'आदि' शब्द के द्वारा हर्षविरोधी, अर्थात्, कटु अनुभूतियों की व्यंजना नहीं की, वरन् कुतूहल आदि आनन्दमयी अनुभूतियों की ओर ही इंगित किया है। प्राचीनों में रामचन्द्र-गुणचन्द्र पहले मत के प्रवर्त्तक हैं और अभिनवगुप्त दूसरे मत के। आधुनिक विद्वानों का बहुमत धीरे-धीरे पहले अर्थ के ही पक्ष में होता जा रहा है, यद्यपि आनन्दवादी मत के समर्थकों की संख्या कम नहीं है, हम स्वयं इसी मत के समर्थक हैं।"

विषयगत परिभाषा : इस प्रकार, भरत के मतानुसार, विभिन्न भावोपगत स्थायी भाव ही रस है। दूसरे शब्दों में—विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से युक्त और वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से व्यंजित स्थायी भाव ही रस है। तात्पर्य यह कि 'रस एक प्रकार की भावमूलक कलात्मक स्थिति है, जो कविनिबद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के प्रसंग से नाट्य-सामग्री के द्वारा रंगमंच पर उपस्थित हो जाती है।'[1] उदाहरणार्थ,

---

१. रस-सिद्धान्त, पृ० ८०

सुन्दर तपोवन के दृश्यों से युक्त रंगमंच पर जब दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करनेवाले नट-नटी, वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के सहारे अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि की अभिव्यक्ति करते हुए रति स्थायी भाव को अभिव्यक्त करते हैं, तब एक रम्य भावात्मक स्थिति प्रस्तुत हो जाती है, जिससे दर्शक के मन में हर्ष, कुतूहल आदि भावों की जागृति होती है। भरत ने इसी रम्यभावात्मक स्थिति को रस संज्ञा दी है। परन्तु, सहृदय की अनुभूति दूसरे ढंग की होती है—वह (रस) तो इसका आस्वाद है, जिसका अनुभव हर्ष, कुतूहल आदि के रूप में होता है। दूसरे शब्दों में—'नाट्यसौन्दर्य और काव्यसौन्दर्य के माध्यम से स्थायी भाव की उपस्थिति ही रस है।'[1]

रस की यह परिभाषा विषयगत है और भरत के विवेचन पर आधृत है। इसे काव्यक्षेत्र में भी ग्रहण कर इसमें थोड़ा परिवर्त्तन किया गया—शब्द और अर्थ के सौन्दर्य के माध्यम से विभाव, अनुभाव और संचारियों से युक्त स्थायी भाव ही रस हो जाता है। काव्यादर्शकार ने कहा है :

प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥[2]

अर्थात्, विभावादि से अपुष्ट रति केवल प्रीति नामक भाव ही होती है, किन्तु अनुभाव और संचारी भाव से पुष्ट होकर शृंगार रस में परिणत हो जाती है। यहाँ भी रस का स्वरूप विषयगत ही है, अर्थात् आस्वाद्य रूप है, आस्वाद नहीं।

विषयिगत परिभाषा : भरत के रससूत्र के व्याख्याताओं ने जो विवेचन किया, उसका एक फल यह भी हुआ कि रस का स्वरूप धीरे-धीरे विषयिगत होता गया, अर्थात् जो रस पहले 'आस्वाद्य' था वह 'आस्वाद' बन गया। रस के इस अर्थ-परिवर्त्तन का मुख्य कारण अभिनवगुप्त का विवेचन था। उनके शैवाद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार रस का अर्थ आनन्द है और आनन्द विषयगत न होकर विषयिगत होता है। अतएव, रस नाट्यगत नहीं हो सकता। इस व्याख्या से रस के आनन्देतर रूप की कल्पना स्वयमेव समाप्त हो गई। अभिनवगुप्त से पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी ने रस का यही रूप स्वीकार किया। व्याख्या के आधार में जहाँ-तहाँ कुछ परिवर्त्तन होता रहा, परन्तु सबका प्रतिपाद्य एक ही रहा। अभिनवगुप्त ने इस विषय का पूरा विवेचन किया है। उनके मत का सारांश है कि नाट्यादि के मनन से, भाव की पृष्ठभूमि में आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना को ही रस कहना चाहिए। अभिनवगुप्त के बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के इसी लक्षण की व्याख्या की और उन तक यह लक्षण स्वीकार किया जाता रहा। अन्तर यही हुआ कि पण्डितराज ने शैवदर्शन के स्थान पर न्याय और वेदान्त का सहारा लिया।

---

१. रस-सिद्धान्त, पृ० ८१

२. काव्यादर्श, २।१८१

जगन्नाथ पण्डितराज : पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी रस-परिभाषा में अभिनवगुप्त की रस-परिभाषा का दार्शनिक दृष्टि से थोड़ा परिष्कार किया है। अपने 'रसगंगाधर' में उन्होंने रस के विषय में लिखा है : **भग्नावरणा चिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रसः।** हमारी चेतना पर स्वार्थ आदि के आवरण पड़ जाते हैं, जिन्हें विभावादि भग्न कर देते हैं। इस प्रकार, जब चेतना मुक्तावस्था में हो जाती है, तब रत्यादि स्थायी भाव अत्यन्त पवित्र रूप में प्रतिष्ठित होकर परमानन्द की सृष्टि करते हैं। यह रसानन्द सामान्य लौकिक आनन्द से भिन्न प्रकार का होता है; क्योंकि सामान्य लौकिक आनन्द में वैयक्तिक वृत्तियाँ सन्निहित रहती हैं, किन्तु रसानन्द सर्वथा शुद्ध चैतन्य-रूप होता है, साथ ही इसमें वैयक्तिक वृत्तियों का अभाव रहता है।

रसानुभूति किसी विशेष प्रकार की वैयक्तिक अनुभूति से रहित रहती है। रसदशा में आत्मा अपने आनन्दस्वरूप को अधिकतम मात्रा में विकसित करती है। इसीलिए, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा को रसदशा कहा है। रस स्थायी भाव से भिन्न होता है। इसीलिए, रस और स्थायी भाव अलग-अलग रखे गये हैं। स्थायी भाव में वैयक्तिकता का समावेश रहता है, परन्तु रस में नहीं। रस में भाव परिष्कृत होकर सात्त्विक रूप में आते हैं। रस में भावों का पूर्ण परिष्कार हो जाता है।

साहित्य से रसानुभूति की उपलब्धि के लिए निम्नलिखित बातें अत्यन्त आवश्यक हैं :

(क) काव्य-व्यापार तथा प्रक्रिया से साहित्यकार की रचना उत्पन्न हो।

(ख) लौकिक जीवन का ही प्रतिबिम्ब आलम्बन में प्रतिफलित हो।

(ग) पाठक तथा दर्शक में वास्तविक सहृदयता वर्त्तमान हो।

मनोवैज्ञानिक आधार

रस के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसके विभिन्न तत्त्वों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझना चाहिए। विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि रस की निष्पत्ति में चार तत्त्वों की आवश्यकता है—स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। सर्वप्रथम स्थायी भाव पर विचार किया जाय।

भारतीय आचार्यों ने स्थायी भाव में नैसर्गिक प्रवृत्तियों की विद्यमानता स्वीकार की है। वस्तुतः, स्थायी भाव में तीन तत्त्व होते हैं : १. नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ, जो जन्मजात होती हैं; २. सहचर भावनाएँ, ये भी जन्मजात होती हैं और ३. स्थायी भाव के साथ गौण रूप से निबद्ध होनेवाली साधित भावनाएँ; जो उपार्जित होती हैं। स्थायी भाव ऐसा भावचक्र है, जिसमें नैसर्गिक प्रवृत्तियों में से कोई अपनी सहचर भावना के साथ रहती है और उसके साथ कोई निबद्ध भावना जुड़ी रहती है। स्थायी भावों में केवल नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही नहीं, विचार भी आते हैं, यद्यपि उन प्रवृत्तियों का प्रमुख स्थान है।

नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ : नैसर्गिक प्रवृत्ति मनुष्य, पशु, पक्षी सभी प्राणियों की मस्तिष्क-निर्मिति का मुख्य तत्त्व है, जिसकी उपलब्धि उन्हें पूर्वपरम्परा या वंश-परम्परा से होती है। इस प्रवृत्ति के सहारे किसी भी प्राणी में किसी पूर्व अनुभव या आभास के बिना ही अपने वातावरण की किसी वस्तु के साथ व्यवहार करने का सामर्थ्य या प्रयास स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है। उन्हीं जन्मजात प्रवृत्तियों के कारण कोई भी प्राणी अपने निकटस्थ पदार्थों पर अपना लक्ष्य स्थिर करता है, उनसे एक विशेष प्रकार का प्रभाव ग्रहण करता है और उनके प्रति एक विशिष्ट प्रकार का हार्दिक भाव प्रकट करता है। इन प्रवृत्तियों का बहुत बड़ा महत्त्व यह है कि इन्हीं के कारण सभी प्राणियों को अपने सभी कार्यों में प्रेरणा प्राप्त होती है और उचित दिशा भी मिलती है। मनुष्य जो भी कार्य करता है, उसका उद्‌गम किसी-न-किसी प्रवृत्ति में अवश्य ढूँढ़ा जा सकता है। बच्चा पैदा होते-होते रोने लगता है, भूख लगने पर रोने लगता है, अपने हाथ पैर इधर-उधर फेंकता है। इसका कारण है कि प्राणी में आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति रहती है। बच्चा एक वर्ष का होते-होते अपने सामाजिक वातावरण में व्यवहार करने लगता है। इसका कारण सामाजिक प्रवृत्ति है। एक नवयुवक नवयुवती को देखकर काम-प्रवृत्ति के कारण आकृष्ट होता है। वात्सल्य-प्रवृत्ति के कारण किसी व्यक्ति के स्वस्थ तथा सुन्दर शिशु को देखकर प्यार करने की इच्छा होती है। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को सताता है, तब क्रोध-प्रवृत्ति के कारण हमारी त्योरी चढ़ जाती है। पुनः करुण प्रवृत्ति के कारण किसी प्राणी की वेदना देखकर हमारे नेत्रों में आँसू भर जाते हैं, आयु बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य की प्रवृत्तियों में भी परिवर्त्तन होता रहता है। सभी प्रवृत्तियाँ एक ही साथ, एक ही अवस्था में प्रकट नहीं होतीं। जीवन में विकास के साथ, अवस्था के बढ़ने पर किसी विशेष प्रवृत्ति का वेग अधिक या कम होता है। कुछ ऐसी भी प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका आविर्भाव मनुष्य की अवस्था गिरने पर ही होता है।

हम प्रायः देखते हैं कि कुछ व्यक्ति शृंगार रस की कविता अधिक पसन्द करते हैं, तो किसी की रुचि करुण रस की कविता में विशेष है, तो किसी को वीर रस की कविता रुचिकर प्रतीत होती है, कोई अन्य व्यक्ति हास्य रस की कविता से ही खिल उठता है। इसका कारण यह है कि किसी विशेष नैसर्गिक प्रवृत्ति की प्रेरणा की तीव्रता तथा भावात्मकता रसिक व्यक्ति में वृत्ति की विशिष्टता की उत्पत्ति करती है। इसी रुचि या वृत्ति की विशिष्टता के फलस्वरूप किसी व्यक्ति में शृंगारी रुचि उत्पन्न होती है, किसी में वीर रस के प्रति अनुराग होता है, कोई व्यक्ति हास्यप्रिय हो जाता है और कोई करुण रस में रुचि दिखाता है। साधारणतः, किसी कालविशेष में, किसी व्यक्ति में कोई-न-कोई विशेष नैसर्गिक प्रवृत्ति प्रधान रहती है और अन्य प्रवृत्तियाँ भी उस काल में काम करती हैं, परन्तु गौण रूप में ही। इसीलिए, वह उस काल में विशेष वृत्ति की कविताओं में रुचि दिखाता है।

जब कोई व्यक्ति कोई वस्तु या विषय देखता है, तब उसके अन्तर्मन में कोई नैसर्गिक प्रवृत्ति प्राथमिक भावना के रूप में जग पड़ती है, फिर इसमें साधित भावनाएँ मिल जाती हैं

और उसे स्थायी भाव का रूप प्रदान करती हैं। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक भावनाएँ ही प्रसुप्तावस्था में नैसर्गिक प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान रहती हैं। किसी एक सहज या नैसर्गिक प्रवृत्ति के साथ एक या अनेक सहचर भावनाओं की उत्पत्ति हो सकती है। जब वे सहचर भावनाएँ अनेक तथा विरोधी होती है, तब उस अवस्था को भावशबलता कहते हैं। जब सहज प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं, तब हमारे शरीर पर प्रकट हुए चिह्न देखकर द्रष्टा प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जब नट और नटी किसी नाटक में नायक-नायिका का अभिनय करते हैं, तब उनके शरीर पर अभिव्यक्त सहज प्रवृत्तियों के चिह्नों को देखकर सामाजिक तदनुकूल उचित प्रत्युत्तर अवश्य देते हैं। यह सहज प्रवृत्ति केवल शारीरिक अथवा केवल मानसिक कोटि की ही नहीं होती, अपितु मानस-शरीरी कोटि की होती है, इसीलिए जब इसकी तृप्ति नहीं होती, तब शरीर और मन दोनों ही प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। जब सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़ती है, तब भावनाओं का झंझावात उपस्थित हो जाता है; अनेक मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं और शरीर तथा मन अस्वस्थ हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि उनकी तृप्ति होती रहती है, तो जीवन सभी ढंग से स्वस्थ बना रहता है। रस-निष्पत्ति की दशा में सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना का प्रभाव शरीर और मन दोनों पर परिलक्षित होता है।

मानव-मन के तीन पक्ष होते हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा इच्छात्मक। और फिर, सहज प्रवृत्तियों के रसात्मक व्यापार में तीनों पक्षों के व्यापार समाविष्ट रहते हैं। मन के ज्ञानात्मक पक्ष की प्रक्रिया से आलम्बन और उद्दीपन का ज्ञान होता है। आलम्बन और उद्दीपन के ज्ञान के पश्चात् भावना उत्पन्न होती है और यह मन के भावात्मक पक्ष का कार्य हुआ। मन के इच्छात्मक पक्ष की प्रक्रिया तब होती है, जब नैसर्गिक प्रवृत्तियों के जागरित होने पर आश्रय इच्छाशक्ति की सहायता से एक विशेष प्रकार से कार्य करता है। इससे नैसर्गिक प्रवृत्ति का कार्य रसावस्था में परिष्कृत अथवा उदात्त रूप धारण करके आविर्भूत होता है। रस-प्रक्रिया में सहज प्रवृत्तियाँ उदात्त हो जाती हैं, इसका प्रमाण रस-विषयक कार्य हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे सामाजिक विकास की प्रगति होती जाती है, वैसे-वैसे नैसर्गिक प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना के कार्य में परिमार्जन होता रहता है।

भारतीय रसवाद के सिद्धान्त से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि आदर्श प्राप्त करने के लिए मनुष्य सदा से सचेष्ट रहता है। रस-सिद्धान्त यह भी प्रमाणित करता है कि मनुष्य इस चेष्टा में प्रर्याप्त प्रगति कर चुका है। रसानुभूति के समय वह विश्वात्मा से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। उस अनन्त सत्ता या विश्वात्मा के तीन पक्ष होते हैं—सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्। रस में तीनों पक्षों का समावेश है। रसानुभूति की दशा में किसी भी सहृदय में ये तीनों पक्ष अन्तर्भूत हो जाते हैं। यदि नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रयोग नहीं किया जाय, तो वे सुषुप्त ही रह जायँ या अत्यन्त दुर्बल हो जायँ या कभी-कभी उनका आत्यन्तिक ह्रास हो जाता है। कुछ उदाहरण देखे जायँ। करुणा, काम, शम

आदि सहज वृत्तियाँ सभी में वर्त्तमान रहती हैं। परन्तु, जल्लाद करुणा का प्रयोग कभी नहीं करता, फलस्वरूप उसमें करुणा की वृत्ति नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार, प्रयोग नहीं करने के कारण संन्यासियों में कामवृत्ति समाप्त हो जाती है और नास्तिकों में शम या शान्त रस की सहज वृत्ति का ह्रास हो जाता है।

मनुष्य और पशु की नैसर्गिक प्रवृत्तियों में महान् अन्तर यह है कि मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ गत्यात्मक कोटि की होती हैं, परन्तु पशुओं की स्थिर कोटि की होती हैं। फलस्वरूप, मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों में शिक्षा तथा संस्कृति के विकास के साथ उनकी अभिव्यक्ति के ढंग में विकास होता जाता है। आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों की सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का ढंग बहुत ही संयत तथा परिष्कृत होता है, जिससे उन्हें पहचान पाना बहुत कठिन हो जाता है। राजनीतिज्ञों तथा कूटनीतिज्ञों के हास, मुस्कराहट तथा बाह्य रूप से हार्दिक स्वागत के भीतर भी क्रोध छिपा रहता है, जिससे बहुत लोगों को भ्रम तथा धोखा हो जाता है। कई बार कामी जनों की कामभावना अनेक छद्मवेशों में छिपी रहती है, जिसे पहचान पाना सामान्य जनों के लिए असम्भव हो जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य मुख्यतः अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के ही कारण किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। इन्हीं नैसर्गिक प्रवृत्तियों के कारण मानव या समाज की सभी घटनाओं, विशेषताओं या गुणों का उद्भव होता है। इन्हीं के रचनात्मक या विध्वंसात्मक कार्य पर समाज और व्यक्ति के निर्माण तथा विध्वंस आश्रित होते हैं। वस्तुतः, इन्हीं नैसर्गिक प्रवृत्तियों में मानव-जीवन के सभी रहस्य अन्तर्हित हैं।

भारतीय पूर्वाचार्यों ने रसों की जो संख्या दी है, उससे जान पड़ता है कि उन्होंने मुख्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों के ही आधार पर निरूपण किया है। कुछ मनोविज्ञानवेत्ताओं ने नैसर्गिक प्रवृत्तियों के चार ही प्रमुख भेद माने हैं: १. आत्मसंरक्षण, २. आत्मप्रतिष्ठा, ३. आत्मभिव्यक्ति तथा ४. आत्मनिर्माण। भारतीय रसशास्त्री सहज प्रवृत्तियों के नौ ही भेद मानते हैं, जिनके आधार पर नौ रसों की कल्पना की गई। जिस प्रकार इन सहज प्रवृत्तियों की संख्या में मतभेद है, उसी प्रकार रसों की संख्या में भी काफी मतभेद है। तो भी मानव-जीवन की प्रतिनिधि प्रवृत्तियों के आधार पर अधिकांश आचार्यों ने रसों की नौ ही संख्या निर्धारित की है। वस्तुतः, मानव-जीवन की सम्पूर्णता नौ रसों में सम्पन्न हो जाती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत के रसवादी आचार्यों को मानव-मस्तिष्क के तत्त्वों का पर्याप्त ज्ञान था।

भाव : भाव शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इसका लक्षण साधारणतः यह किया जा सकता है कि जो चेतना को व्याप्त करे, वह भाव है। इस दृष्टि से भाव की परिभाषा निम्नलिखित रूप में की जा सकती है :

"भाव किसी बाह्य परिस्थिति या बाह्य प्रतिक्रिया से उत्पन्न मन की वह क्षुब्ध दशा है, जिसमें विषय-बोध की धारणा निहित रहती है, जिससे सुखात्मक या दुःखात्मक

अनुभूति का बोध होता है, जिसमें प्रवृत्ति-उत्तेजन से चेष्टा के लिए तत्परता रहती है, जिसका साध्य किसी-न-किसी इच्छा या संकल्प की पूर्ति रहती है, जिसमें मन की ही नहीं, शरीर की भी एक विशिष्ट दशा हो जाती है।"[1] उदाहरणार्थ, क्रोध एक भाव है, जिसकी उत्पत्ति अनिष्टकारी व्यक्ति अथवा दुःखदायी वस्तु के ज्ञान से होती है। क्रोध में दुःखात्मक कोटि की अनुभूति होती है। इसके उत्पन्न होने पर कई बाह्य चेष्टाएँ होती हैं। जैसे : दाँत पीसना, कठोर शब्द कहना, शस्त्र या हाथ तानना आदि। क्रोध का लक्ष्य रहता है, अपने विरोधी या आलम्बन का नाश या दमन कर देना। क्रोध उत्पन्न होने पर शरीर की दशा में भी विशेष प्रकार का परिवर्त्तन हो जाता है। जैसे : आँखें लाल हो जाना, नथुने फड़कना, भौंहे चढ़ जाना आदि।

पाश्चात्त्य विद्वानों में भाव के विषय में बड़ा मतवैभिन्न्य पाया जाता है और आजकल ऐसे भी मनोवैज्ञानिक वर्त्तमान हैं, जो भाव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानना चाहते। फिर भी, सामान्य जीवन में भाव की सत्ता सभी स्वाकीर करते हैं और मनोवैज्ञानिकों में भी कुछ अतिव्यवहारवादी वैज्ञानिकों को छोड़कर सभी ने इसे निश्चित रूप से स्वीकार किया है। भाव के स्वरूप के विषय में अब भी पर्याप्त मतभेद है। इतना होने पर भी ऐसे अनेक मनोविज्ञानी हैं, जो भाव के विशिष्ट रूप और भेद-प्रभेदों को स्वीकार करते हैं; शैण्ड, सॉल, स्टाउट और मैक्डूगल इसी कोटि के मनोविज्ञानी हैं।

भाव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर लेने पर भी उसका उचित लक्षण बताना कठिन है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार से इसका लक्षण बताया है। डॉ० मैक्डूगल ने जो लक्षण दिया है, उसका सारांश दिया जाता है—जब हमारी कोई स्वाभाविक वृत्ति जग पड़ती है, तब उस वृत्ति के अनुकूल मांसपेशियों और स्नायुओं में ओज संचरित होने लगता है। ओज-संचरण की इस अवस्था में उत्तेजना होती है और उस उत्तेजना की प्रत्येक परिस्थिति में एक ऐसी विशिष्टता की स्थिति रहती है, जिसके कारण उसे भय, क्रोध, घृणा आदि के अलग-अलग नाम दिये जा सकते हैं। यहाँ स्वाभाविक वृत्ति की जागृति और उत्तेजना में निहित विशिष्टता दोनों भावों के मानसिक रूप का वर्णन करते हैं और स्नायु तथा पेशियों में ओज का संचरण शारीरिक रूप प्रकट करते हैं। इन शारीरिक तथा मानसिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी आवश्यक हैं।

ये भाव ही मानव-जीवन के सभी कार्यों का प्रवर्त्तन करते हैं—भले ही ये कार्य लोक की रक्षा के लिए हों या लोक के संहार के लिए, किन्तु सबकी प्रेरणा इन भावों से ही होती है। इन्हीं के सहारे मनुष्य भयंकर और विकट परिस्थितियों का भी सामना सफलतापूर्वक कर सकता है और यदि इन भावों पर सम्यक् नियन्त्रण नहीं रहा, तो वह घोर एवं जटिल विपत्तियों तथा कष्टों में उलझ जाता है। यदि मनुष्य चाहे, तो अपनी विशेष वृत्तियों के सहारे इनका सदुपयोग कर सकता है या दुरुपयोग भी कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति

१. समीक्षा-दर्शन, द्वितीय भाग (श्रीरामलाल सिंह), पृ० १५५

इनका समुचित संयमन करे और इनपर नियन्त्रण रखे, तो वह शीलवान् माना जाता है और इसके प्रतिकूल इनपर से नियन्त्रण हटा ले, इन्हें निरंकुश छोड़ दे, तो वह शीलरहित माना जाता है। जीवन के स्थायी मूल्यों से सम्बन्ध रखनेवाला अनुशासन-भाव शील की दशा में होता है, जिससे मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। इस प्रकार का व्यक्ति सर्वत्र एक-सा ही व्यवहार करता है।

सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का ही नाम भाव है। इसीलिए, नैसर्गिक प्रवृत्तियों के ही आधार पर भावों का नामकरण और वर्गीकरण किया गया है। नीचे मुख्य भावों, उनकी आधारभूत नैसर्गिक प्रवृत्तियों तथा उनपर आधृत रसों की तालिका दी जा रही है :

सहज प्रवृत्ति	भाव	उनपर आधृत रस
१. काम-प्रवृत्ति	राग का प्रेम	शृंगार
२. हास्य-प्रवृत्ति	हास	हास्य
३. युद्ध-प्रवृत्ति	उत्साह	वीर
४. जिज्ञासा	आश्चर्य	अद्‌भुत
५. सहानुभूति	शोक	करुण
६. कलहेच्छा	क्रोध	रौद्र
७. पलायन-वृत्ति	भय	भयानक
८. घृणा-वृत्ति	जुगुप्सा	बीभत्स
९. पालन-वृत्ति	वात्सल्य	वात्सल्य
१०. दैन्य-वृत्ति	अनाथता, अगतिकत्व	शान्त

मनोविज्ञान के पण्डितों ने आठ प्रधान भाव माने हैं—क्रोध, भय, आश्चर्य, प्रेम, घृणा, शोक और उत्साह। इन्हें ही मूल भाव भी कहते हैं। इनसे उत्पन्न अनेक गौण भाव हैं। जैसे : प्रतिशोध, वैर, दया, लज्जा, सहानुभूति, विश्वास, ग्लानि, श्रद्धा, आशा, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि। दूसरे भावों की अनुभूति के आधार पर इन गौण भावों की उत्पत्ति होती है। इसीलिए, इन्हें तद्‌भव भाव की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणार्थ, प्रेम मूल भाव के तद्‌भव भाव श्रद्धा, विश्वास, कृतज्ञता आदि हैं, जो प्रेमभाव पर ही आश्रित हैं। वैसे ही दूसरे के शोक का पहले अनुभव होने पर ही इसके आश्रित भाव दया, सहानुभूति, कृपा आदि तद्‌भव भावों की अनुभूति होती है। यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत स्मरणीय है : "मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग भाव कहला सकता है, जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यक्ष रूप से प्रतिष्ठित हों।"[1] इच्छा भी एक मनोवेग ही है, परन्तु उसका कोई अपना उद्देश्य नहीं रहता, इसलिए वह मनोवेग भाव की स्थिति को कभी प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार चरपराहट, घबराहट ऐसे मनोवेग हैं, जो

१. 'रस-सिद्धान्त' में उद्धृत, पृ० १६८

भाव की स्थिति को कभी प्राप्त नहीं होते। ये भाव भी, सहज प्रवृत्तियों के ही समान एक साथ या एक समय में आविर्भूत नहीं होते।

भावों की विशेषताएँ स्पष्ट करने के लिए सहज प्रवृत्ति से उनकी तुलना करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सहज प्रवृत्ति	भाव
१. सहज प्रवृत्ति की प्रेरणा से होनेवाला कोई कार्य एक निश्चित प्रणाली में होता है।	१. भाव के अनुसार होनेवाला कार्य अनेक रूपों में होता है।
२. सहज प्रवृत्ति या संस्कार, किसी प्राणी में, कार्यकाल में ही नहीं, अन्य काल में भी वर्त्तमान रहता है।	२. भाव कार्य-काल में ही लक्षित होता है, उसके पश्चात् प्रसुप्त काल में सहज प्रवृत्ति का ही रूप ले लेता है।
३. सहज प्रवृत्तियों की सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों की प्रतीति रस के रूप में नहीं होती।	३. काव्य में वर्णित पात्रों के अधिकतर भावों की प्रतीति रस-रूप में होती है।
४. जीवन प्रयत्न से सहज प्रवृत्तियों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है।	४ जीवन-प्रयत्न से भावों का प्रयत्न सीधा तथा प्रत्यक्ष नहीं होता।
५. सहज प्रवृत्तियों की क्रिया विषय-सन्निकर्ष के समय में होती है।	५. भाव की क्रिया उसके स्थिर रहने पर भी उसके पहले या पीछे होती रहती है।

प्राचीन आचार्यों के मतानुसार भाव

भरत : भरतमुनि ने प्रश्न उठाया है कि भाव क्यों कहा जाता है? 'भवन्तीति भावाः किं वा भावयन्तीति भावाः।' पहले प्रश्न किया गया है कि स्थिति होने के कारण ये भाव कहलाते हैं या भावना कराने के कारण? भाव चित्तवृत्ति के रूप में होते है, अतः दो प्रकार की व्युत्पत्ति की सम्भावना है। रति भाव के प्रकट होने की स्थिति को एक रूप में माना जा सकता है। उसमें भाव उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है। भाव का अर्थ ही है कि वे अनुभव-ज्ञान की सहायता से चित्त-वृत्तियों को भावित करते हैं। इस प्रकार, हृदय में व्याप्त होकर ये भाव आस्वादनीय हो जाते हैं। इन दो सम्भावनाओं के ही कारण दो व्युत्पत्तियों के विषय में कहा गया है—'भवन्ति' तथा 'भावयन्ति'।

भरत ने स्वयं इसका उत्तर दिया है—वाक्, अंग तथा सत्त्व से युक्त काव्यांगों को भावित करते हैं, अतः भाव कहे जाते हैं। वे कहते हैं : **वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भाव-**

यन्तीति भावाः।[1] अभिनवगुप्त ने काव्यार्थ को रसरूप में ग्रहण किया है। काव्य के पद तथा वाक्यों में असाधारणता की प्रधानता के कारण अर्थ रसरूप ही होता है। इस प्रकार, वाक्य के अर्थरूप रस की भावना कराने का ही यहाँ तात्पर्य है। यह रसास्वाद सहृदय में पूर्वपरिचित भाव का प्रत्यक्ष होना है। वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनय के द्वारा ही यह काव्यार्थ या रसानुभाव अभिव्यक्त किया जाता है।

भू धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय लगने से भाव शब्द बना है। इसी से भावित शब्द बना है। अभिनवगुप्त का मत है कि वाचिक आदि अभिनय से सम्पादित अलौकिक चित्तवृत्तियाँ अपने मन में रहनेवाली केवल लौकिक दशा का आस्वादन नहीं करातीं, प्रत्युत रस रूप में भावित होती हैं, इसीलिए उन्हें भाव कहा जाता है। ये भाव अनुभावों के वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य-प्रदर्शन द्वारा नाट्य अथवा काव्य का अर्थ व्यंजित करते हैं। रंगमंच पर वाचिक आदि अभिनय के द्वारा देशकाल की विशेष स्थितियों को प्रस्तुत किया जाता है। पात्रों की भूमिका में नट अपनी चित्तवृत्तियों का प्रदर्शन करते हैं और सहृदय सामाजिक साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा उन भावों का अनुभावन करते हैं। इनसे सामाजिक अपने ही भावों को भावित करते हैं। भाव के भावित होने का मुख्य अर्थ यही मानना चाहिए।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भाव शब्द का प्रयोग शास्त्रीय अर्थ में किया है। नाटक में लोकवार्त्ता का अनुकरण किया जाता है। कवि लोक के चरित की सृष्टि करता है और नट या अभिनेता अपनी शिक्षा के बल पर उस चरित के भाव को रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। कवि उन भावों को अपने कौशल से अभिव्यक्त करता है और इन्हें देशकाल की सीमा से मुक्त करके साधारणीकृत रूप में आस्वादन के उपयुक्त बना देता है। अभिनेता इन्हें वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय एवं मुखराग के द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत कर दर्शकों या सामाजिकों के मन को परिव्याप्त कर देता है। यह क्रिया भावन या भावित करना है, इसीलिए ये भाव कहे गये हैं :

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते॥[2]

—अर्थात् वचन, अंग, मुखराग और सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तर्हित भाव को भावित करने के कारण भाव कहा जाता है। फिर, अगली कारिका में भरत ने कहा है :

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।[3]

वस्तुतः, भाव का सम्बन्ध प्रकृत मनोभाव से है, परन्तु लौकिक अर्थ में यह मनोभाव न होकर प्रतिमा से सम्भव होता है।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, गद्य की आरम्भिक पंक्तियाँ

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, का० २

३. वही, का० ३

भरत के अनुसार भाव के तीन अर्थ हमारे सामने उपस्थित होते हैं :

१. भाव वह अर्थ है, जिसकी निष्पत्ति विभावों के द्वारा होती है। यह वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय रूप अनुभावों के द्वारा प्रतीति-योग्य होता है। यहाँ भाव का तात्पर्य काव्यार्थ है।

२. भाव वह है, जो चारों प्रकार के—वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनव द्वारा कवि के अन्तर्गत भावों को भावित करता है; दूसरे शब्दों में सहृदय व्यक्तियों के चित्त को व्याप्त करता है। यहाँ भाव का अर्थ है—कवि के भाव को सहृदय के मन में व्याप्त करनेवाला तत्त्व।

३. ये भाव अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बन्ध रखनेवाले रसों या काव्यार्थों को भावित करते हैं—सहृदयों के चित्त में व्याप्त करते हैं। इसलिए, नाट्यकर्त्ता इन्हें भाव नाम देते हैं। यहाँ भाव का तात्पर्य उन तत्त्वों से है, जो काव्यार्थ को सहृदय के मन में व्याप्त करते हैं।

भरत के भाव-विवेचन से स्पष्टः ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने तीसरा ही अर्थ लिया है। भाव वे हैं, जो रस का भावन करें। अर्थात्, वे रसव्यंजक सम्पूर्ण सामग्री को भाव मानते हैं। इसके अन्तर्गत स्थायी भाव के साथ ही वे विभाव और अनुभाव को लेते हैं। किन्तु, आगे बढ़ने पर उन्होंने विभाव तथा अनुभाव को अलग कर दिया है और सम्पूर्ण भावों की संख्या ४९ (उनचास) मानी है—आठ स्थायी भाव, आठ सात्त्विक भाव और तैंतीस संचारी भाव।

एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।[1]

इस स्थल पर आकर भाव का अर्थ मनोवेगों या शारीरिक अनुभूतियों के काव्यगत रूप तक ही सीमित हो जाता है। उनके कारण और कार्य भाव के क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं। परवर्त्ती आचार्यों ने बहुलांश में इसी मत का अनुसरण किया है। भरत से प्रेरणा लेकर एक अन्य रूप भी विकसित हुआ है। इस रूप में भाव अनुपचित स्थायी भाव या उपचित संचारी भाव ग्रहण किया जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में भाव का प्रयोग साधारणतः तीन अर्थों में होता रहा है : १. व्यापक रूप से रस की व्यंजना करनेवाली सम्पूर्ण सामग्री के अर्थ में, जिसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव सभी का समावेश हो जाता है। २. काव्यगत स्थायी भाव, संचारी भाव तथा सात्त्विक भाव, ४९ भावों के अर्थ में—अर्थात्, मानसिक तथा शारीरिक अनुभूतियों के अर्थ में। ३. अनुपचित स्थायी भाव तथा

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय, का० ६ के बाद गद्य

उपचित संचारी भाव के अर्थ में। इनके अतिरिक्त, दो अन्य प्रयोग भी पाये जाते हैं : ४. सामान्य मनोवेग के अर्थ में और ५. कवि की रचनात्मक अनुभूति—भरत के शब्दों में 'कवेरन्तर्गतभावम्' के अर्थ में। परन्तु, इन दोनों में पहला सर्वथा लौकिक प्रयोग है, जो पारिभाषिक अर्थ में नहीं लिया जाता। दूसरा अर्थ व्यापक रूप से प्रचलित हो सका है और इनमें भी सात्त्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है।

धनंजय : इस विषय में धनंजय ने कहा है :

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।[1]

—अर्थात् यद्यपि सात्त्विक भावों में अनुभावत्व है, अनुभावों के ही समान वे आश्रय के विकार हैं, फिर भी सात्त्विक भाव अलग से ही भाव माने जाते हैं।

धनंजय ने भाव का लक्षण लिखा है :

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।[2]

—अर्थात् काव्य या नाटक में निबद्ध आश्रय के सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय का उसी भाव से भावित होना भाव कहा जाता है। नाटक में जिन व्यक्तियों का अनुकरण किया जाता है, वे राम, दुष्यन्त आदि वास्तविक व्यक्ति होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर इनमें सुख-दुःख आदि का उपनिबन्धन करता है और नट उनको रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं। इन अनुकार्य व्यक्तियों—राम, दुष्यन्त आदि— के सुख-दुःखादि भाव की भावना जब सहृदय व्यक्तियों के द्वारा होती है, तब इस भावना या वासना को 'भाव' कहते हैं।

धनिक ने इस कारिका पर वृत्ति लिखते समय ऊपर उद्धृत की गई भरत की कारिका 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव' और 'रसान्भावयन्भावः' की भी चर्चा की है, यद्यपि उनका नामोल्लेख नहीं किया। इनका उत्तर देते हुए धनिक ने लिखा है कि ये व्युत्पत्तियाँ उस भाव की की गई हैं, जो अभिनय और काव्य का प्रवर्त्तक या बोधक है और इसका प्रयोग उन्हीं दोनों काव्यों से सम्बद्ध भाव के लिए है। धनिक ने जिस अर्थ में भाव की व्युत्पत्ति की है, वह रसिक के हृदय के भावित भाव की दृष्टि से की है। अतः, दोनों के विषय भिन्न होने के कारण प्राचीनों की व्युत्पत्ति से इस व्युत्पत्ति का विरोध नहीं होता।

इस प्रकार, सामान्य रूप से भाव का प्रयोग स्थायी भाव तथा संचारी भाव के ही अर्थ में होता रहा है और आजकल भी होता है। धनिक ने भी लिखा है— **ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः।**[3]

निष्कर्ष : कवि जैसा अर्थ चाहता है, वैसा विभाव के द्वारा प्रकट करता है। पात्र जैसा भाव प्रकट करता है, अभिनेता उसे ही प्रतीति के योग्य बना देता है और अभिनेता,

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ४

२. वही, ४-४

३. वही, का० ३ की वृत्ति

जो अर्थ प्रतीति के योग्य बनाता है, सहृदय उसे ही भावना का विषय बनाता है। इस प्रकार कविनिबद्ध-पात्र-अनुकार्य के भाव अभिनेता (अनुकर्त्ता) के द्वारा प्रतीति-योग्य होकर सामाजिक के द्वारा भावित होते हैं।

लौकिक मनोविकार में तीन बातें होती हैं—ज्ञान (सत्त्वगुण), इच्छा (रजोगुण) और क्रिया (तमोगुण)। मानव कुछ जानता है, कुछ चाहता है और कुछ करता है। सहृदय के मन में आते-आते इच्छा और क्रिया का अन्त हो जाता है और केवल ज्ञान शेष रह जाता है। इसे ही सत्त्वोद्रेक कहा गया है। यह सत्त्वोद्रेक भावों को प्रायः जानकारी के रूप में ला देता है और सहृदय रसानुभूति के योग्य बनता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रेक्षक के अन्तरतर में व्याप्त उसके शुद्ध चैतन्य रूप को प्रकट करने में समर्थ होती है। शुद्ध चैतन्य का प्रकट होना ही आनन्द है। इसमें, नानात्व में सामान्य एक की प्राप्ति होती है। ऐसा भी होता है कि भाव रसानुभूति के स्तर पर नहीं पहुँचते और जानकारी के स्तर पर रहकर सहृदय के चित्त में केवल आंशिक आनन्द उत्पन्न करते हैं। कई रूपकों में रस की स्थिति मानी गई है, पर वस्तुतः वे भाव की ही स्थिति तक रह जाते हैं। पूर्णांग रूपकों में वीर और शृंगार रस ही हो सकते हैं।

स्थायी भाव

मनोवैज्ञानिक आधार : एक भाव-विधान के अन्तर्गत मूल रूप में एक या अनेक सहज प्रवृत्तियाँ रहती हैं, वैसे ही भाव-प्रणाली के अन्तर्गत आधार-रूप में किसी-न-किसी मूल भाव की स्थिति आवश्यक है, साथ ही कुछ गौण भाव तथा तद्भूत भाव भी उससे सन्नद्ध रहते हैं। प्राचीन रसाचार्यों में अभिनवगुप्त ने स्थायी भावों का उल्लेख कई नामों से किया है। कहीं उन्होंने इसे 'वासना' कहा, कहीं 'संविद्' और कहीं 'चित्तवृत्ति' नाम से अभिहित किया है। उनका मत है कि स्थायी भाव सभी प्राणियों में स्वयंसिद्ध रूप में वर्त्तमान रहते हैं, अतः प्राणियों के जीवन में जन्म से ही ये उनके मानसिक अंग बनकर अवतीर्ण होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि जब अभिनवगुप्त ने स्थायी भाव का निरूपण किया, उस समय उनके मस्तिष्क में सहज प्रवृत्तियों की धारणा विद्यमान थी। अन्य भारतीय शास्त्रकारों ने भी स्थायी भाव को सहज जात के ही समान माना है।

मैक्डूगल ने स्थायी वृत्तियों या स्थायी भावों को उपार्जित माना है। व्यवहारवादी मानसशास्त्री तथा मार्क्सवादी भी स्थायी भावों को सर्वथा उपार्जित ही मानते हैं। स्थायी भावों का अस्तित्व सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक है, इस तथ्य को ध्यान में रखकर विचार करने पर प्रतीत होता है कि इनका मूल तत्त्व प्रकृति-प्रदत्त तथा जन्मजात है। साधित तथा गौण भावनाओं और उनकी अभिव्यंजना की प्रणाली को उपार्जित माना जा सकता है; क्योंकि देश, काल तथा पात्र के अनुसार इनके स्वरूप में परिवर्त्तन होता रहता है। स्थायी भावों में प्राथमिक भाव और साधित भावों का सम्मिश्रण रहता है। साधित भाव तो अपने को प्राथमिक भावों में विलीन कर देते हैं, परन्तु प्राथमिक भाव अन्त तक विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि स्थायी भाव में प्राथमिक भाव ही प्रधान रूप में वर्त्तमान रहते हैं। रसानुभूति के समय मुख्यतः, इसी प्राथमिक भाव का आस्वादन होता है। रसास्वादन में साधित भावनाओं का भी गौण रूप से आस्वादन होता है।

स्मरणीय है कि स्थायी भाव ही रस-स्थिति को प्राप्त होते हैं, केवल भाव नहीं। स्थायी भाव में कुछ विशेषताएँ रहती हैं, जो अन्य प्रकार के भावों में नहीं पाई जातीं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

(क) स्थायी भाव में उदात्तीकरण की प्रवृत्ति का रहना आवश्यक है।

(ख) इसमें अनुकूल तथा प्रतिकूल—दोनों प्रकार की भावनाओं को अपने में ढक लेने की क्षमता रहती है, अर्थात् यह प्रतिकूल भावना से नष्ट नहीं होता।

(ग) यह सहृदय के चित्त में बहुत देर तक टिकने की शक्ति रखता है।

(घ) इसके आसपास साधित भावनाएँ इकट्ठी हो सकती हैं। इसमें व्यभिचारियों को अपने पास खींच लाने की क्षमता रहती है। 'स्थायी भाव में स्थायित्व का अर्थ किसी एक भाव का एक अवसर पर इस आधिपत्य के साथ रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव या मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हों।'[1]

(ङ) 'स्थायी दशा में भाव का अधिकार बुद्धि पर भी हो जाता है। अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति भी भाव के आदेश पर चलने लगती है।'[2]

भावों के भेद : परन्तु, कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भावों के सामान्यतः तीन भेद किये हैं :

१. मौलिक मनोविकार या प्राथमिक भाव—जो स्वतन्त्र, अखण्ड तथा अमिश्र होता है; जैसे भय।

२. व्युत्पन्न मनोविकार या साधित भावनाएँ— जो स्वतन्त्र नहीं होता, वरन् किसी अन्य मनोविकार का आश्रित रहता है; जैसे आशंका।

३. मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा है, जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश से बनती है; जैसे क्लैब्य।

यदि हम विचार करें, तो पता चलेगा कि स्थायी भावों को सर्वथा शुद्ध तथा मौलिक मनोविकार नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, निर्वेद या राग को लिया जाय। ये दोनों शुद्ध मनोविकार नहीं हैं, अपितु इनमें एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण है और इनमें बौद्धिक तत्त्वों की प्रधानता है, अतः ये व्यवस्थित मनोदशाएँ हैं। अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय भी स्पष्ट रूप से एक मिश्रित भाव है। व्युत्पन्न मनोविकारों में भी सभी

---

१. रसमीमांसा (आचार्य शुक्लजी), पृ० १७२

२. वही, पृ० १८८

व्युत्पन्न नहीं हैं, भय तथा क्रोध स्पष्ट रूप से मौलिक मनोविकार हैं। उपर्युक्त तीन मनोविकारों में अब मनोवृत्ति बच रही। कुछ बातों में मनोवृत्ति और स्थायी भावों में साम्य है, किन्तु अन्ततः दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

स्थायी भाव का स्वरूप : परम्परागत रूप में स्थायी भाव का स्वरूप आधुनिक मनोवैज्ञानिक परिभाषाओं में पूर्णतः खरा नहीं उतरता, फिर भी उसे अमनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि प्रारम्भिक अवस्था में प्राप्त साहित्य के आधार पर आचार्यों ने स्थायी भाव और संचारी भाव का वर्गीकरण किया हो, परन्तु परवर्त्ती आचार्यों ने योग, मीमांसा आदि के बल पर अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोषों को बचाकर अपने वर्गीकरण को दोष-रहित बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। उनकी स्थापनाओं का सारांश निम्नलिखित है :

१. मनुष्य के हृदय में उठनेवाली तरंगों के संयोग से अनेक मनोविकारों का निर्माण होता है, जिनकी संख्या बयालीस निर्धारित की गई है। ये मनोविकार सभी प्रकार के होते हैं। इनमें केवल रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, बिस्मय और निर्वेद ऐसे नौ मनोविकार हैं, जो अनेक मनोविकारों की अपेक्षा अधिक स्थायी, अधिक प्रभावशाली और पुष्ट होते हैं। इसलिए, ये रस-परिपाक के योग्य हैं, अतः इन्हें अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है और पारिभाषिक पदावली में इन्हें स्थायी भाव कहा गया है।

२. रस-रूप में परिणत होने के योग्य भाव साधारणतः नौ ही हैं। अन्य अनेक भाव इन्हीं के अन्तर्भूत हो जाते हैं। उदाहरण के लिए दानशीलता, धर्मप्रेम आदि भाव उत्साह में अन्तर्भूत हो जाते हैं। वर्त्तमान युग में देशभक्ति, राष्ट्रभावना आदि भाव भी उत्साह के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। कई अन्य भाव रसदशा तक पहुँचने में असमर्थ रहने के कारण स्थायी भाव नहीं बन पाते। उदाहरणार्थ, वात्सल्य या देव-विषयक रति शास्त्रानुसार भाव ही हैं, स्थायी भाव के पद तक नहीं पहुँच पाते।

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या स्थायी भाव और संचारी भाव का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है? वस्तुतः, मनोविज्ञान में इस प्रकार का वर्ग-विभाजन नहीं मिलता। वहाँ दो ही प्रकार का वर्ग-विभाजन माना गया है – एक मौलिक तथा व्युत्पन्न मनोविकार का और दूसरा मनोविकार तथा मनोवृत्ति का। स्थायित्व, तीव्रता और प्रभाव के आधार पर मनोविज्ञान कोई वर्गीकरण स्वीकार नहीं करता। विज्ञान कई प्रकार के भेद-विभाजन नहीं मानता। फिर भी, जीवन में इस प्रकार का भेद और विभाजन तो है ही। भाव-क्षेत्र में भी एक भाव दूसरे की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और कोमल है, या तीव्र तथा स्थायी है या अधिक प्रभावशाली है, यह सहज रूप में माना जा सकता है। भले ही मनोविज्ञान इसका विवेचन नहीं करे, परन्तु साहित्य के लिए इस प्रकार का वर्गीकरण बहुलांश में स्वाभाविक कहा जा सकता है; क्योंकि इसका सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक मूल्य के आधार पर

स्थायी भावों के औचित्य का निरूपण किया है, किन्तु अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान सम्भव है। उदाहरणार्थ, चिन्ता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र होता है— चिन्ता का अधिक-से-अधिक तीव्र चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण से क्षीण ही रहेगा। इसी प्रकार, चिन्ता की अपेक्षा शोक में स्थायित्व भी अधिक है। शोक में चिन्ता विलीन हो जाती है, परन्तु चिन्ता में शोक कभी विलीन नहीं हो सकता। इसी प्रकार, अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार का विभाजन नहीं रहने पर भी इसे मिथ्या या अमनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। कुछ मनोविकार नैसर्गिक, तीव्र एवं व्यापक हैं और वे जीवन के आधारभूत अंग हैं, वस्तुतः वे ही स्थायी भाव हैं। इन मनोविकारों का सम्बन्ध राग-द्वेष से है, जो मानव-आत्मा के मूलभूत गुण हैं। उत्तम, सम और अधम के आधार पर राग, प्रेम और करुणा के रूप में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार, द्वेष भी भय, क्रोध तथा घृणा में परिणत हो जाता है। डॉ० भगवानदास ने मौलिक ढंग से दिखाया है कि इन्हीं राग और द्वेष के अन्दर संस्कृत-साहित्य के सभी स्थायी भावों का समावेश हो जाता है। रति, हास, उत्साह तथा विस्मय राग के अन्तर्गत आ जाते हैं; क्योंकि ये सामान्यतः अस्मिता के उपकारक हैं। शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा द्वेष के अन्तर्गत आ जाते हैं; क्योंकि ये साधारणतः अस्मिता के अपकारक हैं। शम में दोनों का सामंजस्य हो जाता है; क्योंकि इसमें राग और द्वेष दोनों की समरसता है। पहले चार मधुर भाव हैं और इनमें सुख की अभिव्यक्ति होती है। शम में दोनों का समन्वय है। यह विभाजन निर्दोष नहीं रहने पर भी बहुत-कुछ सन्तोषप्रद है।

प्राचीन आचार्यों के मत : प्राचीन भारतीय रसाचार्यों ने स्थायी भाव तथा अन्य भावों का सम्यक् विवेचन किया है। सभी भावों में यही स्थायी भाव ही प्रमुख है और यही रसत्व प्राप्त करता है। धनंजय ने स्थायी भाव का लक्षण निम्नलिखित कारिका में दिया है :

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यात् स स्थायी लवणाकरः॥[1]

स्थायी भाव को स्पष्ट करने के लिए धनंजय ने इसकी उपमा लवणाकर (समुद्र) से दी है। समुद्र में खारा या मीठा पानी मिलकर तद्रूप हो जाता है। समुद्र उसे आत्मसात् कर लेता है, फिर किसी पानी में अन्तर नहीं रह जाता। उसी प्रकार, स्थायी भाव भी सभी भावों को आत्मरूप बना लेता है। जो भाव (रति आदि) अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी भी प्रकार के भाव से विच्छिन्न नहीं होता तथा दूसरे किसी भी विरुद्ध अथवा अविरुद्ध—प्रतिकूल या अनुकूल— भाव को अपने समान बना लेता है, उसे ही स्थायी भाव कहते हैं। वह रत्यादि भाव, जो सजातीय या विजातीय अन्य भावों से तिरस्कृत नहीं होता,

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ३४

स्थायी भाव कहलाता है। धनिक ने इस कारिका की वृत्ति में बहुत विचार-विमर्श किया है।

भरत मुनि ने स्थायी भाव की प्रधानता बताते समय इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि क्यों स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त करते हैं। जैसे समान लक्षणवाले, समान हाथ, पैर, पेट तथा शरीरवाले, एक-से अंग-प्रत्यंगवाले पुरुष कुल-शील, विद्या, कर्म और शिल्प में विचक्षण होने के कारण राजा हो जाते हैं, और वहीं थोड़ी बुद्धिवाले उनके अनुचर हो जाते हैं, इसी प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के आश्रित होते हैं। स्थायी भाव स्वामी के रूप में है, अन्य भाव, विभाव, अनुभाव आदि स्थानीय अधिकारियों के समान हैं, व्यभिचारी भाव परिजनों के समान हैं। इस विषय में भरत मुनि ने एक परम्परागत श्लोक उद्धृत किया है :

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥[1]

—अर्थात् जिस प्रकार मनुष्यों में राजा, शिष्यों में गुरु, उसी प्रकार सभी भावों में स्थायी भाव महान् होता है।

कविराज विश्वनाथ ने स्थायी भाव का लक्षण निम्नलिखित श्लोक में दिया है :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावो स्थायीति सम्मतः॥[2]

—अर्थात् जिसे विरुद्ध या अविरुद्ध (प्रतिकूल या अनुकूल) भाव छिपा न सके, उस आस्वाद के मूलभूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं। ग्रन्थकार ने किसी आचार्य का श्लोक प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य है कि जैसे माला के अनेक दानों में एक ही सूत्र या धागा अनुगत होता है, वैसे ही अन्य भावों में अनुगत होनेवाला स्थायी भाव किसी से तिरोहित नहीं होता, अपितु पुष्ट होता है।

शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' में स्थायी भाव का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में दिया है :

अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः।
वर्द्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः॥[3]

शारदातनय ने स्थायीभाव को चित्त में सदा अवस्थित रहनेवाला कहा है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में स्थायी भाव को चित्त में वासना-रूप में चिरस्थित माना है।

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, कारिका ८
२. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक १७४
३. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार, पृ० ४

यह '**प्रतिक्षणमुदयव्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिषु-उपयाचितयाऽवश्यं तिष्ठतीति स्थायी**';[1] **वासनात्मतया स्थिते हि स्थायिनं**'[2] आदि वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है।

इन आचार्यों के द्वारा दिये गये लक्षणों से स्थायी भाव के विषय में निम्नलिखित तथ्य निश्चित होते हैं :

१. स्थायी भाव मानव के मन में वासनात्मक रूप में स्थित रहता है।

२. यह सदा रहनेवाला होता है। अन्य भावों का उदय और विलय होता रहता है, परन्तु स्थायी भाव सदा स्थिर रहता है।

३. यह भावों में प्रधान होता है, जैसे मनुष्यों में राजा।

४. स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है। अन्य भाव सहायक-मात्र होते हैं।

५. इसे अनुकूल या प्रतिकूल भाव तिरोहित नहीं कर सकते, बल्कि पुष्ट करते हैं।

६. यह अनुकूल या प्रतिकूल भाव को आत्मसात् एवं आत्मरूप कर लेता है।

७. यह आस्वाद का मूलभूत भाव है।

स्थायी भावों की संख्या : प्रश्न उठता है कि स्थायी भावों की संख्या नौ ही हो सकती है या अधिक या कम भी हो सकती है? स्थायी भावों की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगों की स्थिति से भिन्न नहीं है और इस प्रकार के विभाजन का आधार मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। यह सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर प्रश्न उठता है कि क्या जीवन के मूल मनोवेगों की संख्या नौ ही है? यह प्रश्न संस्कृत-साहित्य के प्राचीन आचार्यों के मन में अनेक बार उठा है और फलस्वरूप कई बार स्थायी भावों को घटाने-बढ़ाने के प्रयत्न हुए और उनकी प्रधानता-अप्रधानता का भी कई बार विवेचन हुआ। परन्तु, अन्ततः परिणाम यही हुआ कि स्थायी भावों की संख्या नौ ही मानी गई।

भरत : भरत मुनि ने स्थायी भावों की संख्या आठ मानी है। निम्नलिखित कारिका में उन्होंने उनके नाम गिनाये हैं :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥[3]

इस कारिका में भरत मुनि ने रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय ये आठ स्थायी भाव माने हैं। उन्होंने न शान्त को रस माना और न उनके स्थायी भाव का ही उल्लेख किया।

अभिनवगुप्त : अभिनवगुप्त ने अपनी 'अभिनवभारती' में शान्त रस को भी स्थान दिया और उपर्युक्त कारिका की टीका करते समय यथानिर्दिष्ट पंक्तियाँ लिखीं—"**तत्र शान्तस्य**

---

१. नाट्यदर्पण, अध्याय ३, पृ० १४१

२. वही, पृ० १४४

३. वही, अध्याय ६, कारिका १७

स्थायी 'विस्मयशमा' इति कैश्चित् पठितः। उत्साह इवास्य स्थायीत्यन्ये। जुगुप्सेति केचित्। सर्व इत्येके। तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी। एतदर्थमेवोभयधर्मोपजीवित्वख्यापनाय मङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टः व्यभिचारिषु।"[1]

—अर्थात् उन स्थायी भावों में कुछ लोग ('विस्मश्चेति' के स्थान पर) 'विस्मयशमा' ऐसा पाठ मानकर शम को शान्त रस का स्थायी भाव मानते हैं। दूसरे लोग उत्साह को ही शान्त रस का स्थायी भाव मानते हैं। कोई जुगुप्सा को बतलाते हैं और कुछ लोग सबको शान्त रस का स्थायी भाव मानते हैं। किन्तु, वस्तुतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य-निर्वेद ही रस का स्थायी भाव है। इसीलिए, निर्वेद में स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव दोनों के धर्म रहते हैं। इस बात का द्योतन करने के लिए ही अमंगल-रूप होने पर भी व्यभिचारी भावों में इसका सबसे पहले पाठ किया गया है। परन्तु, आगे चलकर अभिनवगुप्त ने इस मत का भी खण्डन किया है और आत्मा या आत्मज्ञान को शान्त रस का स्थायी भाव माना है। इस प्रकार, अभिनवगुप्त ने स्थायी भावों की संख्या नौ मानी और शान्त रस का स्थायी भाव आत्मा या आत्मज्ञान को माना।

धनंजय : धनंजय आठ ही स्थायी भाव मानते हैं। उन्होंने यह भी लिख दिया है कि कुछ आचार्य शम नामक नवाँ स्थायी भाव मानते हैं, किन्तु इस भाव की पुष्टि नाट्य में नहीं होती। हमारे मतानुसार, यह भाव नाट्यानुकूल नहीं है। अतः, धनंजय के मतानुसार स्थायी भाव आठ ही हैं। शम जैसे नवें स्थायी भाव तथा उसके रस शान्त को अलग से मानना उन्हें स्वीकार नहीं।

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।[2]

विश्वनाथ : कविराज विश्वनाथ ने आठ स्थायी भावों की गिनती कराकर फिर से नवें शम का भी उल्लेख कर दिया है और अन्त में नौ ही स्थायी भाव माने हैं :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च॥[3]

शारदातनय : शारदातनय ने भी इस विषय में पर्याप्त विवेचन किया है। इस विषय में उन्होंने धनंजय का अनुसरण किया है और शम को शान्त रस का स्थायी भाव नहीं माना, केवल आठ ही स्थायी भाव माने। किन्तु, उन्होंने इस मत का समर्थन किया है कि केवल उन दशाओं में, जब एक भाव दूसरे भाव की सहायता से रस को उत्पन्न करता है, तब वह भाव उस उत्पन्न रस का स्थायी भाव कहा जा सकता है। इस दशा में निर्वेदादि

१. अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० ४३३ (आचार्य विश्वेश्वर का अनुवाद)
२. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ३५
३. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक १७५

कोई भाव यदि रस उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तो वह स्थायी भावों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। इस स्थल पर शारदातनय ने भरत का भी मत उद्धृत किया है :

अतो नाट्यविदामष्टावेवात्र स्थायिनो मताः।
प्रकृष्यमाणो यो भावो रसतां प्रतिपद्यते॥
स एव भावः स्थायीति भरतादिभिरुच्यते।[1]

शारदातनय ने शम को स्थायी भाव रखने के विरुद्ध तर्क दिया है। शम में सभी व्यापार विलीन हो जाते हैं और उसे जहाँ स्थायी भाव रखा जायगा, वहाँ नाट्य में अनुभाव के अभाव में अभिनय नहीं हो सकता।

विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः।
अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्येऽभिनयो भवेत्॥
तस्माद्वृद्धप्रयोगेण रसपोषो न जायते।[2]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र : रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शम को भी स्थायी भाव मानकर स्थायी भावों की संख्या नौ रखी है।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयशमाः रसानां स्थायिनः क्रमात्॥[3]

यह भरत मुनि की ही कारिका है, केवल 'विस्मयश्चेति' के स्थान पर 'विस्मयशमाः' कर दिया गया है, जो प्रस्तुत ग्रन्थकारों—रामचन्द्र-गुणचन्द्र—के बहुत पहले ही अभिनवगुप्त के द्वारा कर दिया गया था। वस्तुतः, नाट्यशास्त्र की इस कारिका का (विस्मयशमाः) पाठ अभिनवगुप्त के पहले ही प्रचलित हो चुका था, जिसका उद्धरण 'नाट्यदर्पण' में दिया गया।

मम्मट : मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में पहले आठ रस तथा उनके आठ स्थायी भाव स्वीकार किये और भरत की ही कारिका अक्षरशः उद्धृत कर दी। परन्तु आगे चलकर उन्होंने निर्वेद स्थायी भाववाले शान्त रस को मान्यता दी :

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[4]

जगन्नाथ : पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट रूप में नौ रसों और नौ स्थायी भावों को स्वीकार किया है। उन्होंने शान्त रस और निर्वेद स्थायी भाव के पक्ष में प्रबल तर्क दिये हैं। उनके अनुसार यथानिर्दिष्ट स्थायी भाव हैं :

---

१. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार, पृ० २६

२. वही

३. नाट्यदर्पण, अध्याय ३, कारिका २४

४. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र ४४

रतिः शोकश्च निर्वेदक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः ।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी ॥[1]

भरत ने आठ ही रस तथा आठ ही स्थायी भाव स्वीकार किये। इनमें भी चार स्थायी भावों—रति, उत्साह, क्रोध तथा जुगुप्सा—को प्रधान एवं मौलिक और हास, शोक, भय तथा विस्मय को गौण एवं व्युत्पन्न माना है। भरत का विचार है कि रति से हास, उत्साह से विस्मय, क्रोध से शोक और जुगुप्सा से भय उत्पन्न होते हैं। परन्तु, आगे चलकर आचार्यों ने यह मत ग्रहण नहीं किया। बाद में शम को स्वीकार किया गया और स्थायी भाव की संख्या नौ मानी गई। किन्तु, इस विषय में विचार-विमर्श चलता रहा और नवीन स्थायी भावों की उद्भावना होती रही।

रुद्रट ने स्नेह की उद्भावना की, भोज ने उदात्त रस के स्थायी मति, उद्धत रस के स्थायी गर्व और आनन्द रस के स्थायी हर्ष की उद्भावना की। विश्वनाथ ने वात्सल्य रस के स्थायी वत्सल भाव की, भानुदत्त ने माया रस के स्थायी मिथ्याज्ञान की और कार्पण्य रस के स्थायी स्पृहा की कल्पना की। इसी प्रकार, रूपगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों ने भक्ति या भगवद्विषयक रति को भक्ति रस का स्थायी माना। इनके अतिरिक्त, संस्कृत-काव्यशास्त्र में कई अन्य स्थायी भावों का भी उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणार्थ, अभिनवगुप्त ने किसी पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा स्वीकृत लौल्य रस के स्थायी भाव के रूप में गर्ध, अर्थात् अयुक्त-विषयतृष्णा का उल्लेख किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने व्यसन रस के स्थायी आसक्ति, दुःख रस के स्थायी अरति और सुख रस के स्थायी सन्तोष का उल्लेख किया है। वस्तुतः, स्थायी भावों की संख्या के विषय में संस्कृत-साहित्य में आरम्भ से ही मतभेद चला आ रहा था। अभिनवगुप्त के संकेतों से स्पष्ट हो जाता है कि भट्टलोल्लट आदि कुछ विद्वान् स्थायी भावों की नौ की सीमा को नहीं मानते थे। यह अभिनवभारती के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :

एतावन्त एव रसा इत्युक्तं पूर्वं तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्धया एतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपेनापरामृश्य इत्यलम् ।[2]

—अर्थात् इतने ही (आठ या शान्त को मिलाकर नौ) रस हैं, यह पहले कह चुके हैं। इसलिए, भट्टलोल्लट ने जो यह कहा है कि (रसों के) अनन्त होने पर भी नटों में प्रसिद्ध होने के कारण (नाटकों में) इतने का (आठ रसों का) प्रयोग करना चाहिए, सो (उन्होंने) अभिमानवश विना विचारे कह दिया है (इसलिए उचित नहीं है), अतएव उसका अधिक खण्डन करने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त में, अधिकतर आचार्यों ने भरत मुनि का ही समर्थन किया और इन नवीन उद्भावनाओं को कोई अधिक महत्त्व नहीं मिल सका। अन्य प्रसंगों की ही तरह इस

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ३७ (मथुरानाथ शास्त्री की टीका)
२ अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ५२९ (आचार्य विश्वेश्वर का अनुवाद)

विषय में भी अभिनवगुप्त का ही मत मान्य रहा और स्थायी भावों की संख्या नौ ही मानी गई। इनके अतिरिक्त, दो भाव और थे, जो अंशतः स्थायीभावत्व के अधिकारी बन सके—वत्सल भाव और भगवद्विषयक रति। शेष भाव इनमें अन्तर्भूत हो गये या संचारी भाव बनकर रह गये।

उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य संस्कृत-साहित्य के नौ रसों की सार्वभौमिकता प्रतिपादित करना नहीं, प्रत्युत यह दिखाना है कि आचार्यों द्वारा किया गया यह वर्गीकरण व्यर्थ और कपोल-कल्पित नहीं है। स्थायी भावों की स्थिति पूर्वीय या पश्चिमीय मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है और नौ की संख्या निश्चित करना भी बहुलांश में युक्तिसंगत ही है, यद्यपि इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह सर्वथा दोष-रहित भी नहीं है। परन्तु, किसी भी वर्गीकरण तथा संख्या-निर्धारण में दोष या त्रुटि की सम्भावना का निवारण नहीं हो सकता।

विभाव

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि चित्तवृत्तियों को उद्‌बुद्ध करने के कारण-रूप विषय को विभाव कहा जाता है। काव्य, नाटक या साधारण जीवन में जो सहृदय के मन में स्थायी भाव को जगाते हैं या जगे हुए भावों को उत्कर्ष की अवस्था में लाते हैं, उन्हें विभाव संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस विषय में विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है :

रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।[1]

'साहित्यरत्नाकर' में लिखा है—'उद्दीपनं उत्कर्षहेतुः।' इन्हीं विभावों से स्थायी भाव आस्वाद्यमान बनता है।

भरत मुनि ने विभाव का अर्थ विज्ञान माना है। उनके अनुसार कारण, निमित्त, हेतु आदि का पर्याय विभाव है। जिससे स्थायी भाव तथा संचारी भाव वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा विभावित, अर्थात् विशेष रूप से जाने जायँ, उसे विभाव कहते हैं। इस प्रकार, विभाव कारण या हेतु ही हुआ; क्योंकि इसी के द्वारा रस-प्रतीति सम्भव होती है। ध्यातव्य है कि रस-प्रसंग में कारण आदि के लिए विशिष्ट पद का प्रयोग किया गया है और नाटक में प्रयोग के अन्तर्गत विशेष दृष्टि से विभाव का उल्लेख हुआ है।

भरत के पूर्व नाट्य की सुनिश्चित परम्परा रही है और उन्होंने अपने मत के समर्थन में, और कहीं-कहीं विरोध दिखाने के लिए, परम्परागत श्लोक उद्धृत किये हैं। विभाव के सम्बन्ध में भी अपने मत का समर्थन करने के लिए उन्होंने एक श्लोक उद्धृत किया है :

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, वर्ग ४-४, का० २५

बह्वोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥[1]

—अर्थात् इसके द्वारा वाचिक तथा आंगिक अभिनय पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते हैं, इसलिए इन्हें विभाव नाम दिया जाता है । इस प्रकार, आलम्बन के रूप में नायिका तथा उद्दीपन के रूप में प्रकृति केवल रस-प्रतीति के कारण न होकर अभिनय की सहायता से स्थायी भावों को प्रतीति के योग्य बनाते हैं; इसलिए विभाव कहे जाते हैं ।

यदि विभाव शब्द की व्युत्पत्ति '**विभाव्यते इति विभावः**' करें, तो इसका अर्थ होगा कि विभाव वह है, जिसका ज्ञान हो सके । विभाव उसे कहते हैं, जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद करता है । यह विभाव भाव या स्थायी भाव को पुष्ट करनेवाला या उसे रसरूप में परिणत करनेवाला है । धनंजय ने लिखा है :

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।[2]

श्रव्यकाव्य में वर्णित अथवा दृश्यकाव्य में मंच पर प्रदर्शित राम-सीता आदि नायक-नायिका की भूमिका अदा करनेवाले नटों को दर्शक वैसा ही मान लेता है । काव्य में उपनिबद्ध राम-सीता आदि का व्यापार अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी दर्शक या सामाजिक समझ लेता है कि राम-सीता आदि इसी रूप में हैं । इस तरह के विशिष्ट रूप में दर्शक के ज्ञान का विषय बनानेवाले, उनसे विभावित होनेवाले विभाव कहे जाते हैं । दर्शक या सामाजिक के द्वारा ज्ञायमान अर्थ ही विभाव का अर्थ है । जो बात लौकिक ज्ञान-रूप विषय में विभावों के सम्बन्ध में लागू होती है, वही काव्य में वर्णित विभावों के सम्बन्ध में लागू नहीं होती । लौकिक ज्ञान में उनके भौतिक तत्त्व या स्थूल रूप की आवश्यकता होती है; किन्तु काव्यगत विभावों का ज्ञान तो काव्य में प्रयुक्त शब्दों के द्वारा हो जाता है । दूसरी बात यह है कि लौकिक ज्ञान के विषय विशिष्ट होते हैं, किन्तु काव्यगत विभाव सामान्य रूप होते हैं ।

ये विभाव अपने-अपने रस की अनुकूलता में विभावित होते हैं और सहृदय व्यक्ति के मन में इस प्रकार घूमते हैं, जैसे उसे इनका प्रत्यक्ष ज्ञान मिल रहा हो । किन्तु, यह ठीक है कि सहृदय व्यक्ति के मन में इन विभावों के सामान्य रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । जब हमें शब्दों के द्वारा किसी वस्तु का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह प्रत्यक्ष के समान ही हो जाता है । इस तथ्य की पुष्टि में धनिक और विश्वनाथ दोनों ने भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' की यह कारिका उद्धृत की है :

शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, का० ४

२. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० २

काव्यानुशीलन के समय वाक्यादि में जब कंस आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब शब्द कहने के साथ ही कंसादि को सहृदय पुरुष प्रत्यक्ष रूप के समान कर्म, नाटक आदि साधन के रूप में अथवा अपने दान के ज्ञापक के रूप में ग्रहण करते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से विवेचन करने पर विभाव के विषय में कहा जा सकता है कि कोई भी चेतन प्राणी किसी विशेष परिस्थिति, वातावरण या व्यक्ति के सम्पर्क में किसी विशेष प्रकार का प्रत्युत्तर देता है। साहित्य में भी यह सिद्धान्त लागू होता है। जब कोई सहृदय व्यक्ति कोई काव्य पढ़ता या सुनता है अथवा कोई नाटक देखता है, तब उन परिस्थितियों तथा पात्रों के प्रति विशेष प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है। रसिकगत रसनिष्पत्ति के कारण इसे विभाव ही कहेंगे। इसीलिए, अनेक आचार्यों ने विभाव को रस का कारण या हेतु भी कहा है। ऊपर भरत मुनि का उद्धरण देकर इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है।

विभाव के भेद : भरत मुनि ने विभाव के भेद नहीं किये, परन्तु अन्य आचार्यों ने इसके दो भेद किये—आलम्बन तथा उद्दीपन। अग्निपुराण में लिखा है :

विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः।[1]

धनंजय ने ये ही दो भेद किये :

आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा।[2]

कविराज विश्वनाथ ने यह भेद स्वीकार किया :

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।[3]

इन आचार्यों ने अलग कारिकाओं में स्पष्ट रूप से भेद किये। इनके अतिरिक्त, रसगंगाधर, सरस्वतीकण्ठाभरण, भावप्रकाशन तथा नाट्यदर्पण आदि सभी ग्रन्थों में अलग कारिकाओं में भेद नहीं दिखाकर भी आलम्बन तथा उद्दीपन के कारण लिखे गये हैं।

आलम्बन : भावों का प्रकृत आधार या विषय आलम्बन नाम से अभिहित होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने आलम्बन का लक्षण दिया :

एवं यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः स तस्या आलम्बनम्।[4]

ये आलम्बन ज्ञान के प्रमुख कारण माने जाते हैं; क्योंकि इन्हीं को ध्यान में रखकर रति आदि भाव प्रवर्तित होते हैं। इस विषय में राजा भोज की उक्ति है :

आलम्बनविभावः स कारणमुच्यते।[5]

---

१. **अग्निपुराण, अध्याय ३३८, श्लोक ३६**
२. **दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० २**
३. **साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० २९**
४. **रसगंगाधर, प्रथमानन, पृ० ४० (पं० मथुरानाथ की टीका)**
५. **सरस्वतीकण्ठाभरण, परिच्छेद ५, का० ३६**

नाटक के दर्शक के लिए आलम्बन विभाव नायक और नायिका दोनों ही हैं। नायक के लिए नायिका आलम्बन है, नायिका के लिए नायक। किन्तु, सामान्यतः आलम्बन का विवेचन करते समय नायक को ही रस का आश्रय माना जाता है। अतः, उसके लिए आलम्बन नायिका होती है।

उद्दीपन : सहृदय के हृदय में जागरित भावों में उत्कर्ष लानेवाले हेतु या कारण को उद्दीपन कहा जाता है। इस विषय में राजा भोज का कथन है :

तत्प्रबोधाय मालर्तुश्चन्दनेन्दूदयादयः।
उद्दीपना विभावास्ते स तैः स्मरति वाञ्छति ॥[1]

—अर्थात् जगे भावों को उद्दीप्त करने के हेतु माला, ऋतु, चन्दन, चन्द्रोदय आदि हैं। अतः, ये उद्दीपन विभाव हैं। पण्डितराज ने भी उद्दीपनों को भावों के उत्कर्ष का निमित्त माना है :

निमित्तानि चोद्दीपकानीति बोध्यम्।[2]

'साहित्यरत्नाकर' के अनुसार उद्दीपन चार प्रकार का होता है—आलम्बन का गुण, आलम्बन की चेष्टा, आलम्बन का अलंकार तथा आलम्बन-तटस्थ उद्दीपन :

उद्दीपनं तदुत्कर्षहेतुस्तत्तु चतुर्विधम्।
आलम्बनगुणाश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृतिः ॥
तटस्थश्चेति विज्ञेयाश्चतुर्थोद्दीपनक्रमाः।

आलम्बन-तटस्थ उद्दीपन के अन्तर्गत वन, पर्वत, ऋतु आदि प्रकृति के विभिन्न अवयवों का समावेश होता है।

शारदातनय ने आठ प्रकार के उद्दीपन की चर्चा की है। ये आठ उद्दीपन आठ रसों से सम्बद्ध हैं। ललित शृंगार रस का उद्दीपन है। इसी प्रकार, ललिताभास हास्य रस का, स्थिर वीर रस का, चित्र अद्भुत रस का, स्वर रौद्र रस का, रूक्ष करुण रस का, विकृत भयानक रस का और निन्दित बीभत्स का उद्दीपन है। शारदातनय ने सब उद्दीपनों के लक्षण विस्तार से दिये हैं।[3]

उद्दीपन अधिकांश स्थलों पर रस या भाव को जागरित नहीं करता, अपितु उन्हें प्रदीप्त या उद्दीप्त ही करता है। वातावरण या परिवेश का समावेश विभाव में ही हो जाता है। इस प्रकार, इस सिद्धान्त में मनोविज्ञान के दो तत्त्व आ जाते हैं। सहृदय में आनुवंशिक रूप में वासनात्मक भाव मिले रहते हैं और वातावरण के तत्त्व आलम्बन और उद्दीपन उन्हें जगाकर तथा उत्कर्ष की स्थिति तक लाकर रसरूप में परिवर्त्तित कर देते हैं।

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, वही, का० ३७-३८
२. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ४०
३. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार, पृ० ४-५

कविकर्म में विभाव का बहुत महत्त्व होता है। कवि ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो सहृदय के मन में भावों को उत्पन्न कर देती हैं या उत्पन्न भावों को संवर्द्धित कर देती हैं। इसे विभाव पक्ष कहते हैं। दूसरी ओर, कवि उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक रूपों की अभिव्यंजना करता है। इसे भावपक्ष कहते हैं। दोनों पक्षों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के साथ दूसरा किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहेगा। किन्तु, काव्य में विभाव-पक्ष का चित्रण अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। विभाव के चित्रण में ही कवि की कल्पना का पूर्ण उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। केवल विभाव का ही चित्रण काव्य बनने का सामर्थ्य रखता है, इससे काव्य में विभाव का महत्त्व देखा जा सकता है। यदि कवि अपने काव्य में विभाव का सम्यक् वर्णन कर सकता है, तो स्वयमेव भाव की भी व्यंजना हो जा सकती है।

अनुभाव

भरत ने रस के प्रयोग में विभावादि के साथ अनुभाव का भी उल्लेख किया है। इन्हें आलम्बन, उद्दीपन-रूप कारणों से उत्पन्न भावों को प्रकाशित करनेवाला कार्यरूप माना गया है। भाव-प्रदर्शन में अनुभावों का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। इसके अन्तर्गत आंगिक तथा वाचिक अभिनय तो आते ही हैं, मानसिक हर्ष-विषाद, आहार्य-सम्बन्धी वेश-रचना तथा सात्त्विक अनुभाव सभी आ जाते हैं।

मन या शरीर पर उत्पन्न होनेवाले रत्यादि स्थायी भाव की सूचना करनेवाले विकार को अनुभाव कहते हैं। धनंजय ने अनुभाव का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में दिया है :

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।[1]

अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है। वे सामाजिकों को रत्यादि स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। ये अनुभाव भ्रूक्षेप, कटाक्षादि आश्रय के शारीरिक विकार हैं, जिनसे रस परिपुष्ट होता है। इन्हें देखकर सामाजिक को यह अनुभव हो जाता है कि पात्र में अमुक भाव का उद्रेक हो गया। नाटक या काव्य में इन अनुभावों का साक्षात् अनुभव करनेवाले सामाजिकों के अनुभाव के विषय होते हैं, इसलिए इन्हें अनुभाव कहते हैं।

इस सम्बन्ध में भरतमुनि की मान्यता है कि आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति-सूचक वाणी, शरीर एवं मन-सम्बन्धी क्रियाएँ अनुभाव कहलाती हैं :

अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति।
वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥[2]

अनुभाव पद से ऐसी वाचिक एवं आंगिक चेष्टाओं का संकेत मिलता है, जिनसे आश्रय के हृदय में उद्बुद्ध भावों को व्यक्त रूप मिलता है और जिससे सामाजिक को भावविशेष

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ३

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, का० ५

की प्रतीति होती है। विभाव के प्रति आश्रय में जो भी भाव व्यक्त किये जाते हैं, उनका प्रत्यक्षीकरण अनुभावों के द्वारा होता है। इस प्रकार, अभिनय में अनेक चेष्टाएँ और व्यापार हैं। भरत का दृष्टिकोण यही रहा है, परन्तु परवर्त्ती नाट्याचार्यों तथा काव्याचार्यों ने अनुभाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी ग्रहण किया है। जो रत्यादि स्थायी भाव के पीछे उत्पन्न होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं : 'अनु पश्चात् भवन्तीति अनुभावाः।' इस रूप में ये स्थायी भावों के जागरित होने के पश्चात् कार्यरूप माने जायेंगे। इस विषय में कविराज विश्वनाथ का मत द्रष्टव्य है :

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैबहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥[1]

सीता आदि आलम्बन और चन्द्रादि उद्दीपन-कारणों से रामादि आश्रय के हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि स्थायी भावों को बाहर प्रकाशित करनेवाला, लोक में जो रति का कार्य कहा जाता है, वही काव्य और नाट्य में अनुभाव कहा जाता है। इस प्रकार, अनुभाव स्थायी भाव का कार्य हो जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ भी अनुभाव को स्थायी भाव का कार्य ही मानते हैं :

यानि च कार्यतया तान्यनुभावशब्देन।[2]

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव को स्थायी भाव का क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी कारण माना जाता है। परन्तु, यह संगत दृष्टि नहीं है। अनुभावों की स्थिति भावों के बाद या भावों के कार्यरूप में नहीं मान सकते। वे भावों के साथ व्यक्त होते हैं और उन्हीं के साथ तिरोहित भी हो जाते हैं। भले ही भाव तथा अनुभाव में कार्य-कारण की स्थिति प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हो, परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। वास्तव में, सभी काव्य के कारण ही हैं; क्योंकि ये सभी रसपोष के सहायक होते हैं। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र के मतानुसार अनुभाव सामाजिकों को रस का अनुभव कराते हैं :

स्थायित्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनः अनुभवन् अनुभाव्यते साक्षात्कार्यते यैः ते अनुभावाः।[3]

कुछ आचार्य अनुभाव के चार भेद मानते हैं और कुछ दो ही मानते हैं। अनुभाव के चार भेद माननेवाले ग्रन्थों में रसतरंगिणी, रसार्णवसुधा, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा भावप्रकाशन हैं। इनके भीतर शरीर, वाणी, बुद्धि तथा मन के व्यापार आते हैं। शारदातनय ने भावप्रकाशन में राजा भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण का अनुकरण किया है। यह इसलिए किया गया कि नायिका के भाव, हाव, लीला, विलास आदि बीस अलंकारों

---

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० १३२-३३
२. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ३९ (श्रीमथुरानाथ की टीका)
३. काव्यानुशासन, पृ० २६

और नायक के शोभा, विलास आदि आठ गुणों को मन-आरम्भ और गात्रारम्भ अनुभावों में अन्तर्भूत किया जा सके। भरत ने इन्हें सामान्य अभिनय कहा है और धनंजय ने नायक-नायिका के अलंकार कहा है।

सात्त्विक भाव : 'साहित्यकौस्तुभ' के टीकाकार ने अनुभाव के दो ही भेद माने हैं— अनुभाव तथा सात्त्विक भाव। रस को प्रकाशित करनेवाला अन्तःकरण का विशेष धर्म सत्त्व कहा जाता है। ये भाव सत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए सात्त्विक कहे जाते हैं।

अन्य व्यक्तियों के दुःख, हर्ष आदि की भावना में जब भावक का अन्तःकरण अत्यधिक अनुकूल तथा एकरूप हो जाय, तब इसे सत्त्व कहते हैं। सत्त्व का अर्थ है मन से उत्पन्न; इस सत्त्व की उत्पत्ति मन की एकाग्रता से होती है। मन का सत्त्व इसी में है कि जब उसे हर्ष या विषाद होता है, तब अश्रु-रोमांच आदि स्वयं निकल पड़ते हैं। ये अश्रु, रोमांच आदि सत्त्व से निकलते हैं, इसलिए सात्त्विक भाव कहलाते हैं। दूसरी ओर, ये विकार-रूप भी हैं, अतः अनुभाव भी हैं। इस प्रकार, अश्रु आदि एक ओर सात्त्विक भाव हैं, तो दूसरी ओर विकार-रूप अनुभाव भी हैं। सात्त्विक भावों में अनुभावत्व है, वे अनुभावों के ही समान आश्रय के विकार हैं, फिर भी सात्त्विक भाव अलग से भाव माने जाते हैं। इन सात्त्विकों को भाव इसलिए कहा जाता है कि ये सत्त्व (मानसिक स्थिति) से उत्पन्न होते हैं। सत्त्व का अर्थ है—अनुकार्य राम आदि के दुःखादि भाव से भावक के चित्त का भावित होना।

सात्त्विक भावों का सम्बन्ध सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति से है। इन अनुभावों की स्थिति न मात्र अन्तरावयव है और न विशुद्ध रूप से मानसिक ही है। यही कारण है कि इनका विवेचन सदा अलग ही होता रहा है। इनकी अभिव्यक्ति का सम्बन्ध विशेष मनोवेग से है और चित्तविक्षेप के साथ इनका प्रदर्शन नहीं किया जा सकता।

सात्त्विक भावों की संख्या प्रमुखतः आठ मानी गई है—स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु (कम्प), अश्रु और स्वरभंग। भानुदत्त ने 'रसतरंगिणी' में जृम्भा को भी सम्मिलित कर लिया है। चूँकि इन अनुभावों की स्थिति का आन्तरिक प्रक्रिया के साथ अधिक जटिल सम्बन्ध है, इसलिए इनका अभिनय शरीर और मन की अत्यधिक अनुरूपता पर निर्भर करता है। यह ठीक है कि इनके सहारे मानसिक संवेगों की स्थिति का प्रदर्शन अधिक व्यक्त होता है।

अनुभाव तथा सात्त्विक भाव में अन्तर : नीचे की तालिका से अनुभाव तथा सात्त्विक भाव का अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

अनुभाव	सात्त्विक भाव
१. अनुभावों का सम्बन्ध शरीर से होता है। ये सहेतुक होते हैं और इनमें बुद्धिपूर्वक प्रयत्न होता है।	१. सात्त्विक भावों का सम्बन्ध मन से होता है। अतः, ये बाह्य नहीं, आन्तर धर्म हैं। भाव उत्पन्न होने पर ये स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। इनके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

२. जब अनुभाव उत्पन्न होता है, तब शारीरिक आन्दोलन होता है; जैसे लीला, विलास, केलि, कुट्टमित आदि में देख सकते हैं।	२. जब सात्त्विक भाव उत्पन्न होता है, तब शरीर की मूल प्रकृति में परिवर्त्तन हुआ करता है; अर्थात् उस समय शरीर में कुछ विकृति आ गई रहती है।
३. अनुभाव में मन की तन्मयता की वैसी कोई आवश्यकता नहीं रहती।	३. सात्त्विक भाव में मन की तन्मयता की बहुत आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, प्रलय नामक सात्त्विक भाव में मन इतना तन्मय हो जाता है कि शरीर जड़ के समान हो जाता है।
४. जब सामान्य भाव प्रकट होते हैं, उसी अवस्था में अनुभाव प्रकट होते हैं।	४. सात्त्विक भाव की उत्पत्ति तभी होती है, जब बहुत शक्तिशाली भाव उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, स्तम्भ, स्वेद, स्वरभंग, रोमांच, अश्रु, वेपथु, प्रलय आदि सात्त्विक भाव तभी प्रकट होते हैं, जब बहुत शक्तिशाली भाव प्रकट हो गये रहते हैं।

संचारी भाव

संचारी भाव या व्यभिचारी भाव एक अल्पकालिक मानसिक स्थिति है। यह विभाव से जागरित होता है और अनुभावों से व्यक्त होकर स्थायी भावों का पोषण करता है और फिर उन्हीं में विलीन हो जाता है। यह एक अस्थायी मनोवृत्ति है। कुछ आचार्य इन्हें संचारी भाव कहते हैं; क्योंकि ये कई भावों में संचरण करते हैं। आचार्य मम्मट ने इन्हें सहकारी कहा है; क्योंकि ये स्थायी भाव की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ, शत्रु पर विजय प्राप्त करने का जो उत्साह है, वह वीर रस का स्थायी भाव है। लेकिन, विजय की उत्सुकता, उद्देश्य-प्राप्ति पर हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं।

संचारी भाव के विषय में आचार्यों के मत द्रष्टव्य हैं। भरत का मत है :

विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेतप्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः॥[1]

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, का० २७ के बाद गद्य।

—अर्थात् विविध प्रकार से रसों में जो उनकी ओर उन्मुख होकर संचरणशील होते हैं, उनको व्यभिचारी भाव कहते हैं। वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अनुभावों से युक्त स्थायी रसों को व्यभिचारी प्रतीति-योग्य बनाते हैं।

धनंजय ने संचारी भाव का लक्षण कुछ दूसरे ही ढंग से दिया है। वे समुद्र की लहर से इसकी तुलना करके कहते हैं :

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥[1]

—अर्थात् जो भाव विशेष रूप से—आभिमुख्य से—स्थायी भाव में कभी उठते और कभी गिरते रहते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है। ये भाव स्थायी भाव में उसी प्रकार उन्मग्न एवं निमग्न होते हैं, जैसे समुद्र में लहरें उठती और विलीन होती हैं। समुद्र में लहरों के समान रत्यादि स्थायी भाव में निर्वेदादि संचारी भाव आविर्भूत तथा तिरोहित होते रहते हैं।

शारदातनय ने धनंजय की ही कारिका उद्धृत की है और इसकी व्याख्या में कुछ अन्य श्लोक भी लिखे हैं। विश्वनाथ की भी कारिका लगभग ऐसी ही है :

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशत्तु तद्भिदाः ॥[2]

—अर्थात् स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव में उन्मग्न, निमग्न, अर्थात् आविर्भूत, तिरोभूत होकर भाव अनुकूलता में व्याप्त होते हैं। अतएव, विशेष रीति से आभिमुख्य आचरण के कारण इन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं।

इस विषय में प्रायः सभी आचार्यों का मत मिलता-जुलता है।

नीचे की तालिका में स्थायी भाव से संचारी भाव की तुलना की जा रही है, जिससे संचारी भाव स्पष्ट हो जाय।

स्थायी भाव	**संचारी भाव**
१. स्थायी भाव जन्मतः स्थिर प्रकार की मनोदशा है। यह वासना के रूप में चित्त में वर्त्तमान रहता है। कारण के अभाव में भी इसकी सत्ता वर्त्तमान रहती है।	१. संचारी भाव जन्मतः अस्थिर मनोदशा है। यह कारण के अभाव में निःशेष हो जाता है।
२. स्थायी भाव में स्वामी की प्रकृति दिखाई देती है।	२. संचारी भाव में सेवक की प्रकृति दिखाई देती है।

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ७

२. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० १४०

३. स्थायी भाव की उपमा सागर से दे सकते हैं, जो स्वतन्त्र, विशाल तथा गम्भीर होता है।	३. संचारी भाव की तुलना तरंग से कर सकते हैं, जो चंचल तथा क्षणिक होती है। जैसे तरंग सागर से उठकर सागर में ही विलीन हो जाती है, वैसे ही संचारी भाव स्थायी भाव से प्रवर्त्तित होकर फिर उसी में विलीन हो जाते हैं।
४. स्थायी भाव का आधार स्वतन्त्र होता है और इसका आलम्बन सदा सामान्य कोटि का होता है।	४. अधिकांश संचारियों का अपना कोई आधार नहीं होता। प्रायः इनका आधार स्थायी का आलम्बन होता है। इसीलिए, इनका व्यापार सदा स्थायी के अनुकूल होता है। यदि कभी संचारी का आलम्बन स्वतन्त्र हुआ, तो उससे सहृदय का साधारणीकरण होना कठिन है; क्योंकि वह विशेष कोटि का होता है। 'गर्व, लज्जा और असूया को छोड़कर अन्य संचारियों के आलम्बन या तो प्रधान भाव के ही आलम्बन होते हैं, अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ।'[1]
५. स्थायी भावों को व्यक्त होते देखकर या सुनकर श्रोता या दर्शक उन्हीं भावों का अनुकरण कर सकते हैं। केवल ये ही रसरूप में परिणत हो सकते हैं; क्योंकि सहृदय के चित्त में वासना-रूप में विद्यमान रहने के कारण इन्हीं का साधारणीकरण होता है।	५. संचारी भावों को व्यक्त होते देखकर या सुनकर श्रोता या दर्शक उसी रूप में अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् संचारी भाव रसरूप में परिणत नहीं हो सकते।
६. स्थायी भाव स्वतन्त्र रूप से आस्वाद्यमान होते हैं।	६. संचारी भाव स्वतन्त्र रूप से आस्वाद्यमान नहीं होते, स्थायी के आस्वादन में केवल सहायता देते हैं। जब कभी ये स्वतन्त्र रूप से आते हैं, तब केवल भावस्थिति तक रह जाते हैं।

१. रसमीमांसा, पृ० २३२

७. स्थायी भावों का कोई स्वतन्त्र लक्ष्य रहता है, अतः वे इच्छा, संकल्प तथा प्रयत्न की ओर प्रवृत्त होते हैं।	७. संचारी भावों का कोई स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं रहता, अतः वे स्थायी भाव के लक्ष्य की ओर ही प्रवृत्त करते हैं।
८. स्थायी भाव के अन्तर्गत नैसर्गिक प्रवृत्तियों, प्राथमिक भावों तथा साधित भावनाओं का संघटन रहता है।	८. संचारी भावों के अन्तर्गत साधित तथा सम्मिश्र भावनाओं के अतिरिक्त कुछ प्राथमिक भावनाएँ भी आती हैं।
९. स्थायी भाव जीवन की मूल प्रवृत्तियों से सम्बद्ध हैं, अतः इनका सम्बन्ध पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—से सहज ही स्थापित हो जाता है। अर्थात् जीवन में इनका अधिक महत्त्व होता है।	९. संचारी भावों का सम्बन्ध जीवन की मूल वृत्तियों से प्रत्यक्ष नहीं है। अतः, इनका सम्बन्ध पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—से प्रत्यक्ष नहीं है।
१०. स्थायी भाव अधिक प्रबल होता है। अविरुद्ध और विरुद्ध भाव उसका नाश नहीं कर सकते।	१०. संचारी भाव क्षण-क्षण में आविर्भूत एवं तिरोहित होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं।

ध्यातव्य है कि एक भाव कभी स्थायी भाव हो सकता है, तो दूसरे स्थान पर व्यभिचारी भी हो सकता है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण है विभाव की निर्बलता और दूसरा कारण है उस भाव की शक्तिहीनता। यदि विभाव निर्बल होगा या वह भाव शक्तिहीन होगा, तो वह स्थायी न होकर संचारी भाव होकर रह जायगा। वास्तव में, स्थायी और संचारी में नित्य भेद नहीं, वरन् नैमित्तिक भेद है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्थायी भाव तो संचारी भाव हो सकते हैं, परन्तु सभी संचारी भाव स्थायी भाव की स्थिति तक नहीं पहुँच सकते। 'अन्य स्थायी भाव किसी एक स्थायी भाव के या अपने विभाव के निर्बल पड़ने पर या प्रमुख हो जाने पर व्यभिचारी भाव हो सकते हैं; परन्तु स्थायी व्यभिचारी भाव के अतिरिक्त अन्य व्यभिचारी भाव स्थायी भाव नहीं हो सकते।'[1] शारदातनय ने तैंतीस व्यभिचारी भावों की विवेचना करने के पश्चात् 'काव्यालंकार' और 'श्रृंगारतिलक' में रुद्रट या रुद्र द्वारा प्रतिपादित इस मत की कटु आलोचना की है कि प्रत्येक व्यभिचारी भाव रस में परिणत हो सकता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि किसी स्थायी भाव के भीतर उसके विरोधी भाव संचारी भाव के रूप में नहीं आ सकते। उदाहरणार्थ, श्रृंगार के भीतर बीभत्स, वीर के भीतर भयानक, रौद्र के भीतर करुण तथा अन्य सभी रसों के भीतर तितिक्षा व्यभिचारी भाव के रूप में नहीं आ सकते; क्योंकि ये विरोधी भाव हैं। जिसके प्रति श्रृंगार की भावना होगी, उसी के प्रति घृणा की भावना, विरोधी होने के कारण, नहीं हो सकती। उसी प्रकार,

१. समीक्षादर्शन (द्वितीय भाव), पृ० १६९

सच्चा वीर अपने आलम्बन से भय नहीं कर सकता, इसलिए वीर रस के भीतर भयानक व्यभिचारी बनकर नहीं रह सकता। उत्साह के साथ भय का संचार सम्भव नहीं। क्रोधी व्यक्ति क्रोध के क्षणों में अपने आलम्बन के प्रति करुणा नहीं कर सकता, अतः रौद्र रस के भीतर करुण व्यभिचारी भाव सम्भव नहीं।

संचारियों की संख्या : प्राचीन रसाचार्यों ने संचारी भावों की संख्या ३३ निर्धारित की है। प्रायः सभी परवर्त्ती आचार्यों ने भी यही संख्या स्वीकार की है। परन्तु, यह संख्या बढ़ सकती है। प्राचीन काल से वर्त्तमान काल तक बहुत-से कवियों, नाटककारों, उपन्यासकारों तथा कहानीकारों ने ऐसी अनेक अल्पकालिक मानसिक स्थितियों का चित्रण किया है, जिनको अभी तक नाम नहीं दिये जा सके हैं। अभी उनका सम्यक् विश्लेषण भी नहीं किया जा सका है। इसके अतिरिक्त, ऐसे बहुत-से मनोवेग या मानसिक तथा शारीरिक स्थितियाँ प्रायः घटित होती रहती हैं, जिनका अनुभव कवियों तथा साहित्यकारों को भी सम्भवतः नहीं होता होगा। भरत आदि आचार्यों तथा कालिदास आदि कवियों को यह अनुभव कैसे हो सकता था कि ट्रेन छूट जाने पर कैसा क्षोभ होता है या किसी दिन समाचार-पत्र नहीं आने पर कैसी बेचैनी होती है। उस युग में ट्रेन या समाचार-पत्र नहीं होने से ऐसा अनुभव सम्भव नहीं था। ऐसी बहुत-सी मानसिक स्थितियों का अनुभव हमें आये दिन होता है, जिनका अनुभव उस युग में सर्वथा अज्ञात था।

इन बातों पर विचार करने से हिन्दी के कुछ आचार्यों ने संचारी भावों की संख्या तैंतीस तक ही सीमित नहीं रखकर अधिक बढ़ा दी है। जैसे-जैसे इस विषय पर मनन एवं चिन्तन होता जाता है, वैसे-वैसे नवीन भाव-स्थितियाँ प्रकट होती जाती हैं। तात्पर्य यह कि संचारियों की संख्या ३३ से काफी अधिक हो सकती है। 'रसमीमांसा' में आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। उनके अनुसार संचारियों के अन्तर्गत स्वतन्त्र विषययुक्त मनोविकार, मन के वेग, शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाएँ और मन की वृत्तियाँ समाहित हैं। नीचे संचारियों की एक तालिका प्रस्तुत की जा रही है, जो उपर्युक्त विभाजन के आधार पर है और जिससे संचारियों के स्वरूप का ज्ञान हो जायगा। यह तालिका 'रसमीमांसा' तथा 'समीक्षादर्शन' के आधार पर है।

संचारी भाव

स्वतन्त्र आलम्बन-वाले भाव	**मन के वेग**	**अन्तःकरण की वृत्तियाँ**	**मानसिक अवस्थाएँ**	**शारीरिक अवस्थाएँ**
गर्व, लज्जा,	आवेग, अमर्ष,	शंका, स्मृति,	दैन्य, मद, जडता,	श्रम, अपस्मार,
ईर्ष्या	अवहित्था,	मति, चिन्ता,	उग्रता, मोह, स्वप्न,	मरण, निद्रा,
	औत्सुक्य, त्रास,	वितर्क, आशा,	अलसता, उन्माद,	विबोध, व्याधि
	हर्ष, विषाद	नैराश्य, विस्मृति	सन्तोष, चपलता,	
			निर्वेद, मृदुलता, धैर्य,	
			क्षमा, असन्तोष, ग्लानि	

विश्लेषण तथा विवेचन : भरत ने संचारियों का जो विवरण दिया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका ध्यान अभिनयात्मक पक्ष की ओर अधिक रहा है, मनोवैज्ञानिक पक्ष की ओर कम। फलस्वरूप, उन्होंने संचारी भावों में उन सभी शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं का समावेश कर लिया है, जो सभी रसों में साधारणतः संचारित होती रहती हैं। मनोविज्ञान के विद्वानों में संचारियों के विषय में पर्याप्त मतवैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित तथ्य सिद्ध किये हैं :

(क) इन तैंतीस संचारियों में चौदह भाव या मनोविकार हैं— निर्वेद, शंका, हर्ष, दैन्य, चिन्ता, उग्रता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, व्रीडा, आवेग, विषाद, औत्सुक्य।

(ख) इनमें चार मनोवेग नहीं हैं, प्रत्युत ज्ञानात्मक अनुभाव-मात्र हैं— धृति, मति, अवहिथा और वितर्क।

(ग) इनमें पाँच शारीरिक संवेदन-मात्र हैं—ग्लानि, श्रम, आलस्य, मद और मोह।

(घ) इनमें दस मानसिक अनुभाव की श्रेणी में ही नहीं आते—स्मृति, स्वप्न, निद्रा, विबोध, जडता, चपलता, अपस्मार, व्याधि, उन्माद और मरण।

डॉ० गुलाब राय[1] ने इस विषय में कुछ शंकाएँ उपस्थित की हैं और फिर उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। शंकाएँ और उनके समाधान का सारांश निम्नलिखित हैं :

(क) श्रम, स्वप्न, निद्रा, विबोध, अपस्मार, उन्माद और व्याधि का सम्बन्ध मन से नहीं है। इस शंका का समाधान उन्होंने यह दिया है कि इन सबकी भौतिक स्थिति तो अवश्य ही है, परन्तु साथ ही उसके अनुकूल मानसिक स्थिति भी वर्त्तमान है।

(ख) त्रास, शंका, विषाद, अमर्ष आदि कुछ भावों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भय, शोक और क्रोध जैसे स्थायी भावों में ही वे अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस शंका का उन्होंने समाधान प्रस्तुत किया है कि यद्यपि शंका और त्रास का भय से, अमर्ष का क्रोध से और विषाद का शोक से साम्य दृष्टिगत होता है, तथापि इनमें स्पष्ट रूप से अन्तर है।

(ग) तीसरी शंका यह है कि धृति, मति और अवहित्था जैसे संचारी भाव वस्तुतः ज्ञानमूलक हैं। इस शंका का समाधान किया गया है कि यद्यपि ये ज्ञानमूलक हैं, तथापि इससे उनके भाव होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि प्रायः सभी भाव ज्ञानाश्रित होते हैं।

दूसरी ओर, परम्पराभक्त अन्य विद्वानों ने[2] यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सभी तैंतीसों संचारी भाव चित्तवृत्ति-रूप हैं। जिन संचारियों में भौतिक स्थिति दिखाई

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, पृ० १३२–१३४

२. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त), पृ० २३९-२४०

देती है, उनमें भी चित्तवृत्ति-रूप भाव की स्थिति अवश्य ही वर्त्तमान रहती है। उदाहरण-स्वरूप, निद्रा में चित्त की, सम्मीलन की स्थिति, व्याधि में मनस्ताप की स्थिति तथा स्वप्न में ज्ञान की स्थिति वर्त्तमान रहती है। इसी प्रकार, जिन संचारियों में ज्ञानात्मक अनुभव रहता है, वे भी चित्तवृत्ति-रूप ही हैं; क्योंकि भारतीय दर्शन ज्ञान को चित्तवृत्ति से अलग स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संचारियों के औचित्य या अनौचित्य को लेकर तीन मत हो जाते हैं।

(क) संचारी भाव होते हुए भी उस अर्थ में भाव नहीं है, जिस अर्थ में स्थायी हैं। भरत ने 'भाव' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में नहीं, वरन् व्यापक अर्थ में लिया है। अतः, उन्होंने संचारियों में केवल मनोविकारों को ही ग्रहण नहीं किया, अपितु उन सारी शारीरिक तथा मानसिक स्थितियों को भी सम्मिलित कर लिया, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध आठ रसों के साथ है। इसमें भी भरत ने अभिनय-पक्ष पर अधिक बल दिया है। अतः, भरत द्वारा वर्णित संचारियों में सभी चित्तवृत्ति-रूप या शुद्ध भाव-रूप नहीं हैं। भरत तथा धनंजय द्वारा वर्णित शारीरिक अवस्थावाले संचारियों—व्याधि, उन्माद, अपस्मार, विबोध, निद्रा आदि के शारीरिक रूपों को ही अधिक प्रमुखता दी गई है।

(ख) सबल मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक आधार पर संचारियों का विवेचन नहीं किया गया है। फलस्वरूप, उसमें पूर्ण व्यवस्था नहीं दिखाई देती। आधे से भी कम संचारियों को भाव कह सकते हैं और उनमें अनेक ऐसे भी हैं, जिन्हें कुछ स्थायी भावों में सम्मिलित कर सकते हैं। अनेक ऐसे हैं, जिन्हें ज्ञानात्मक अनुभव या शारीरिक संवेदन-मात्र कह सकते हैं और कुछ को तो मानसिक अनुभव की भी श्रेणी में नहीं रख सकते।

(ग) तीसरा मत पण्डितराज जगन्नाथ के सिद्धान्त पर आधृत है। यह निर्विवाद है कि सभी संचारी भाव वैसे शुद्ध भाव नहीं हैं; जैसे स्थायी भाव हैं, फिर भी उनमें किसी को भी चित्तवृत्ति मानने में सन्देह करना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ, मरण संचारी भाव का अर्थ वास्तविक मृत्यु नहीं, अपितु उसके पहलेवाली मूर्च्छा ही है। जिन संचारियों में शारीरिक अथवा बौद्धिक चेतना की प्रधानता है, वे भी चित्तवृत्ति-रूप ही हैं। अतएव, यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं कि कई संचारी केवल बौद्धिक प्रक्रियाएँ या शारीरिक संवेदन-मात्र हैं; क्योंकि इनका भी रूप अनुभूतिमूलक होता है।

उपर्युक्त तीन मतों में से प्रत्येक में कुछ-न-कुछ सत्य का अंश अवश्य वर्त्तमान है। भरत ने अपने रस-विवेचन में भाव शब्द का प्रयोग चित्तवृत्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं विस्तृत अर्थ में किया है। उनके मतानुसार, सभी संचारी विशुद्ध चित्तवृत्ति नहीं हैं। भरत का मत है कि नाट्य लोक की अनुकृति है, अतः विभिन्न रसों से सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्रमुख शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों को—जो रसों के प्रसंग में अस्थायी रूप में संचरण

करती हैं - संचारियों में सम्मिलित कर लेना चहिए। दूसरी ओर, पण्डितराज जगन्नाथ की भी यह स्थापना स्वीकार्य है कि प्रत्येक संचारी का अपना अनुभूतिमूलक रूप होता है—व्याधि, मरण आदि का भी, जिनमें शारीरिक विकार प्रधान हैं और धृति, मति आदि का भी, जिनमें बुद्धि-तत्त्व प्रमुख है।

परन्तु, इन तर्कों को स्वीकार कर लेने पर भी कुछ शंकाएँ रह जाती हैं, जिनका निराकरण नहीं होता। वे शंकाएँ निम्नलिखित हैं :

१. यह मान भी लिया जाय कि भरत ने संचारियों के अन्तर्गत केवल शुद्ध भावों को ही नहीं गिनकर अनेक शारीरिक तथा बौद्धिक स्थितियों को भी माना, तो प्रश्न उठता है कि ऐसी तो और भी अनेक क्रियाएँ हैं। शारीरिक क्रियाएँ, व्याधि, अपस्मार, मद, मोह आदि तक ही क्यों सीमित रखें और बौद्धिक क्रियाएँ धृति, मति, वितर्क आदि तक ही क्यों रखें, जिनकी गणना भरत ने कराई है? अपस्मार के अतिरिक्त अनेक व्याधियाँ हैं और धृति, मति के अतिरिक्त अनेक बौद्धिक स्थितियाँ हैं, फिर सबका उल्लेख नहीं करके कुछ का स्वतन्त्र रूप से क्यों उल्लेख किया गया है? तात्पर्य यह कि इस वर्गीकरण का कोई निश्चित तथा तर्कयुक्त आधार नहीं है।

२. यह तर्क भी पूर्णतः युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि व्याधि, जड़ता आदि शारीरिक तथा वितर्क, मति आदि मानसिक स्थितियों का अपना-अपना अनुभूतिमूलक रूप होता है और इसलिए इन्हें भी चित्तवृत्तियों में रख लेना चाहिए। इस प्रकार, तो जीवन के सभी व्यापार चित्तवृत्ति मान लिये जा सकते हैं; क्योंकि जीवन के सभी व्यापारों का अनुभव अन्ततः मन से ही किया जाता है। ऐसी दशा में घटना और भाव, विषय और अनुभूति का अन्तर ही समाप्त हो जायगा।

३. फिर संख्या का भी प्रश्न है। किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, संचारियों की संख्या तैंतीस मात्र निर्धारित करना असम्भव है। यदि शुद्ध चित्तवृत्ति या मनोविकार को ही संचारी मानें, तो भी उनकी गणना कठिन है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें या दर्शन, काव्यशास्त्र, आचारशास्त्र में आये भावों का संकलन करें, उनकी संख्या कई गुनी हो जायगी और यदि बौद्धिक अनुभूतियों को भी सम्मिलित कर लें, तो फिर कहने की बात ही नहीं। संस्कृत के आचार्यों के सामने यह प्रश्न विकट रूप में आया है। भानुदत्त ने दस कामदशाओं को भी व्यभिचारी भावों में गिनाने का प्रयास किया है, और भोज आदि आचार्यों ने सात्त्विकों को भी इन्हीं में समेट लेने का प्रत्यन किया है। डॉ० भगवानदास ने ६४ मनोविकार गिनाये हैं, जिनमें कई मनोविकार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के तैंतीस या बयालीस संचारियों की सीमा के बाहर पड़ जाते हैं। वस्तुतः, मनोविकारों की गिनती करना असम्भव कार्य है; क्योंकि मनोविकार तो किसी वस्तु के प्रति मन की प्रतिक्रिया-मात्र है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ परिवर्त्तित होती रहती है। मानव-मन में अनगिनत तरंगें उठती रहती हैं, जो एक-दूसरी से मिली रहती हैं और फलस्वरूप असंख्य मनोविकारों को जन्म देती रहती हैं।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि संचारी भावों की स्थिति उतनी पुष्ट नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ जैसे परम्परा-पालक आचार्य ने भी इसका अनुभव किया है और कहा है—**अथ कथमस्य सङ्ख्यानियमः ?**[1] अर्थात् संचारियों की संख्या का नियम कैसे बनाया जा सकता है ? किन्तु, अन्त में उन्होंने मुनि-वचन के पालन का तर्क देकर परम्परा-पालन करना उचित समझा—'**मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात् ।**'[2] भरतादि प्राचीन आचार्यों की परम्परा के प्रति आदर-भाव दिखाते हुए भी आज का आलोचक इतना तो कह ही सकता है कि संचारियों का विवेचन, जैसा किया गया है, शत-प्रतिशत माना नहीं जा सकता है।

नवीन संचारी भाव : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का मत है कि भरत द्वारा गिनाये गये सचारियों में श्रम, जड़ता, उग्रता, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, अपस्मार, मोह, मति, आवेश, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद और चपलता—भावानुगत शारीरिक अथवा बौद्धिक अवस्थाएँ या क्रियाएँ हैं। अतः, इन्हें संचारी भाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिए शेष पन्द्रह ही वास्तविक संचारी भाव हैं; यथा—निर्वेद, ग्लानि, शंका, धृति, हर्ष, दैन्य, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, व्रीडा, आलस्य, विषाद और औत्सुक्य। चतुर्वेदीजी ने अपनी ओर से १७ संचारी भावों या पोषक भावों का सुझाव दिया है, जो निम्नलिखित हैं : लोक, ईर्ष्या, लालसा, कामना, आसक्ति, कुतूहल, श्रद्धा, विश्वास, विनोद, प्रतिकार, प्रवंचना, आशा, निराशा, मान, उपेक्षा, स्पर्द्धा और विषय। इस प्रकार, उनके मत से १५ प्राचीन और १७ नवीन संचारी भाव मिलकर कुल ३२ संचारी भाव हो जाते हैं।

रस का स्वरूप

रस की परिभाषा के क्रम में बताया जा चुका है कि रस का स्वरूप दो प्रकार का है—१. विषयगत अर्थात् भाव की कलापूर्ण अभिव्यक्ति; दूसरे शब्दों में, भावमूलक काव्य-सौन्दर्य और २. विषयगत अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का आस्वाद। इनमें से पहला रूप लुप्तप्राय हो गया है और केवल अनुभूतिमूलक रूप ही अवशिष्ट है। भरत ने रस का जो कुछ रूप रखा हो, परन्तु तथ्य यह है कि भारतीय साहित्य तथा साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त ने जिस रूप का प्रतिपादन किया था, वही रूप सबने स्वीकार किया। अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित वह रूप काव्य का आस्वादपरक रूप है। भरत ने जिसे रस कहा, वह काव्य कहा जाने लगा, अर्थात् यह माना जाने लगा कि भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति रस नहीं, वस्तुतः काव्य है और वास्तव में काव्य का आस्वाद ही रस है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस का यही अर्थ सर्वमान्य हुआ—रस का परिनिष्ठित अर्थ यही हुआ।

अभिनवगुप्त ने यह स्थापना की है कि रस स्थायी भाव से विलक्षण होता है। दोनों में अन्तर यह है कि स्थायी भाव व्यक्त या अव्यक्त रूप में सदा वर्त्तमान रहता है,

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ११८ (मथुरानाथ शास्त्री की टीका)

२. वही

किन्तु रस तभीतक विद्यमान रहता है, जबतक उसकी प्रतीति होती रहती है। न तो प्रतीति के पूर्व उसकी स्थिति रहती है और न रसानुभूति समाप्त होने पर ही। इसी अर्थ में रस स्थायी भाव से विलक्षण होता है।[1] अगले अनुच्छेदों में अभिनवगुप्त ने भट्टलोल्लट तथा श्रीशंकुक के मतों के खण्डन का उपसंहार किया है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार अलौकिक चमत्कार-स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है : **'तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृति-अनुमान-लौकिक-स्वसंवेदनविलक्षण एव।'**[2]

हेतु दो प्रकार के माने गये हैं—एक कारक हेतु और दूसरा ज्ञापक हेतु। कारक हेतु की स्थिति ही कार्योत्पत्ति में उपयोगी होती है, उसका ज्ञान आवश्यक नहीं होता। जैसे अंकुर का कारक हेतु बीज है, तो यदि किसी को उसका ज्ञान हो या न हो, बीज से अंकुर उत्पन्न हो ही जाता है। इसी प्रकार यदि विभावादि को रस का कारक हेतु मानें, तो उनके ज्ञान के विना भी रस की उत्पत्ति हो सकती थी, परन्तु विभावादि के ज्ञान के विना रस की उत्पत्ति नहीं होती है। अतएव, विभावादि को रस का कारक हेतु कहना उचित नहीं है। इसी बात को अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है।

'इसीलिए विभावादि रस की उत्पत्ति के कारण (अर्थात् कारक हेतु) नहीं है। क्योंकि (यदि विभावादि को रस का कारक हेतु माना जाय तो) उसके ज्ञान के समाप्त हो जाने पर भी रस की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है।'[3]

अभी दिखलाया गया कि विभावादि रस के कारक हेतु नहीं हो सकते। तब यह पक्ष रह जाता है कि वे रस के ज्ञापक हेतु हो सकते हैं। परन्तु, अभिनवगुप्त को यह पक्ष भी अभीष्ट नहीं है। घटादि पदार्थ पहले से विद्यमान होने पर भी अन्धकार के कारण दिखाई नहीं देते, उनके लिए दीपक ज्ञापक हेतु होता है। परन्तु, रस तो केवल चर्वणा है, आस्वादन से पूर्व या पश्चात् उसकी सत्ता ही नहीं मानी जा सकती। अतः, विभावादि को रस का ज्ञापक हेतु भी नहीं मान सकते। इस बात को अभिनवगुप्त ने आगे स्पष्ट किया है।

'और न (विभावादि रस के) ज्ञापक हेतु हैं कि जिससे वे प्रमाणों में गिने जायँ; क्योंकि (पूर्वसिद्ध घटादि के समान) प्रमेयभूत किसी पूर्व से विद्यमान आदि की सत्ता नहीं है।'[4]

---

१. हिन्दी-अभिनव भारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४८३

२. वही, पृ० ४८५

३. वही, पृ० ४८६

४. वही, पृ० ४८७

फिर प्रश्न उठता है कि विभावादि क्या है? इसका उत्तर अभिनवगुप्त ने दिया है कि चर्वणा में उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है; अर्थात् लोकभाषा में उनकी ठीक स्थिति नहीं बतलाई जा सकती।[1]

अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विवेचन का सारांश डॉ० नगेन्द्र ने निम्नलिखित शब्दों में उपस्थित किया है :

१. लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, द्योतक तथा पोषक होते हैं, वे काव्य, नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से अभिहित किये जाते हैं। काव्य-निबद्ध हो जाने पर कारण-कार्यादि सम्बन्धों से मुक्त होकर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं।

२. सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के समवेत रूप का प्रत्यक्ष अथवा मनसा साक्षात्कार या चर्वण ही रस है।

३. यह रस चर्वण या आस्वादन से अभिन्न होता है—अर्थात् रस आस्वाद-रूप होता है; आस्वाद्य रूप या आस्वाद का विषय नहीं। इस प्रकार, स्थायी भाव रस नहीं है।

४. अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष, अनुभव आदि से भिन्न होता है। यह न कार्य है, न प्राप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है और न निर्विकल्पक।

५. और, जैसाकि रस की परिभाषा के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, चर्वणा की इस स्थिति में प्रमाता का चित्त देश, काल, स्व, पर, तटस्थ आदि की सीमाओं से मुक्त एकतान, आत्मविश्रान्ति-रूप हो जाता है; अर्थात् रस अनिवार्यतः आत्म-विश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना है।[2]

कतिपय परवर्त्ती आचार्यों ने रस की इन्हीं विशेषताओं का वर्णन दूसरे ढंग से किया है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रस-स्वरूप का विश्लेषण निम्नलिखित शब्दों में किया है :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥[3]

अन्तःकरण में रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण का सुन्दर स्वच्छ प्रकाश होने से रस का साक्षात्कार होता है। अखण्ड, अद्वितीय, स्वयंप्रकाश-स्वरूप आनन्दमय और

१. हिन्दी-अभिनव भारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४८७
२. रससिद्धान्त, पृ० ८७
३. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० २-३

चिन्मय रस का स्वरूप है। रस के साक्षात्कार के समय अन्य वेद्य विषय का स्पर्श तक नहीं होता। यह ब्रह्मास्वाद-सहोदर है। विशिष्ट संस्कारवान् सहृदय जन लोकोत्तर चमत्कार प्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ द्वारा दी गई इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर रस-विषयक निम्नलिखित तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं : १. रस आस्वादन का विषय है, किन्तु यह आस्वाद से अभिन्न है, अर्थात् रस आस्वाद-रूप है। २. रस का आविर्भाव तब होता है जब रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और सतोगुण का उद्रेक होता है। ३. रस अखण्ड है। ४. रस के साक्षात्कार के समय कोई अन्य ज्ञान नहीं रहता। ५. रस स्वप्रकाशानन्द है। ६. यह चिन्मय है। ७. यह लोकोत्तर चमत्कारमय है और ८. रस ब्रह्मानन्द-सहोदर है; अर्थात् ब्रह्मास्वाद के अत्यन्त निकट है।

रस ब्रह्मानन्द का सहोदर है, फिर भी शुद्ध आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द नहीं है। इसका कारण यह है कि १. ब्रह्मानन्द स्थायी होता है, परन्तु रस अस्थायी होता है; २. रस में लौकिक विषय पूर्णरूपेण तिरोहित नहीं होते।

वस्तुतः, काव्य का आस्वाद ही रस है। यह काव्यास्वाद आनन्दमय है। दूसरे शब्दों में, रस एक तरह की आनन्द-चेतना है। आनन्द-चेतना का अर्थ आत्मसाक्षात्कार है, जिसे अभिनव ने आत्मपरामर्श तथा भट्टनायक ने संविद् विश्रान्ति कहा है।

फिर भी, यह आनन्द शुद्ध आत्मानन्द नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आत्मानन्द के समान यह न तो स्थायी होता है और न इसमें लौकिक विषय सर्वथा तिरोहित ही हो पाते।

इस प्रकार, संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रधान आचार्यों के अनुसार रस की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी जा सकती है—शब्दार्थ के माध्यम से, विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्मचैतन्य के (आनन्दमय) आस्वाद का नाम रस है।[1]

परन्तु, आधुनिक युग में ये स्थापनाएँ विवादपूर्ण हैं। रस का जो स्वरूप ऊपर कहा जा चुका है, उसके विषय में तीन प्रश्न सामने आते हैं :

१. भावानुभूति तथा रसानुभूति में क्या पारस्परिक सम्बन्ध है ?

२. क्या रसानुभूति में अनिवार्य रूप से आनन्दमयी चेतना की स्थिति होती है ?

३. यदि आनन्दमयी चेतना होती है, तो इस आनन्द का रूप क्या है ? आधुनिक आलोचनाशास्त्र की दृष्टि से इनका विवेचन करने पर ही आधुनिक काव्य-जिज्ञासु को सन्तोष प्राप्त हो सकता है। अब इनका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

भावानुभूति तथा रसानुभूति का पारस्परिक सम्बन्ध : संस्कृत-काव्यशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि रस निश्चित रूप से भाव पर आश्रित है। इस विषय में काव्यशास्त्र में सभी वादों का मतैक्य है। अलंकारवादी रस को काव्य की आत्मा नहीं

---

१. रससिद्धान्त (डॉ० नगेन्द्र), पृ० ९०

मानते, प्रत्युत शब्दार्थ के चमत्कार का ही अंग मानते हैं। परन्तु, वे भी मानते हैं कि रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से होती है। अर्थात् उनके भी मत से रस भाव पर ही आश्रित रहता है। अतः, सिद्ध हो जाता है कि रस और भाव का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि का भी मत है कि रस भावहीन नहीं हो सकता और भाव भी रसवर्जित नहीं होता।

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।[1]

किन्तु, रसानुभूति और भावानुभूति दोनों एक नहीं हो सकतीं। रस स्थायी भाव पर निर्भर करते हैं और आस्वाद की दृष्टि से स्थायी भाव दो प्रकार के होते हैं। लोक-जीवन में रति, उत्साह, विस्मय, हास तथा शम सुखद आस्वादवाले और शोक, क्रोध, जुगुप्सा तथा भय दुःखद आस्वादवाले स्थायी भाव हैं। यह स्वीकार किया गया है कि सभी रस आनन्दमय होते हैं, परन्तु स्थायी भावों में कुछ सुखात्मक तथा कुछ दुःखात्मक होते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि रसानुभूति तथा भावानुभूति दोनों भिन्न हैं। करुण, बीभत्स, रौद्र तथा भयानक रसों की चेतना अन्ततः सुखद होती है, परन्तु इनके स्थायी भाव—शोक, क्रोध, जुगुप्सा तथा भय—की चेतना दुःखद होती है। इस प्रसंग में शृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत तथा शान्त रसों के विषय में सन्देह नहीं हो सकता है; क्योंकि इनकी तथा स्थायी भावों की चेतना सुखद होती है।

प्रश्न उठता है कि तब क्या रस भाव का परोक्ष अनुभव है? शास्त्रकारों का स्पष्ट मत है कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। रस स्वगत भावानुभूति भी नहीं है—न प्रत्यक्ष ही और न परोक्ष ही। तो क्या इसे परगत अनुभूति मान सकते हैं? इसका भी उत्तर निषेधात्मक ही है। वस्तुतः, स्वगत अनुभूति के समान ही परगत अनुभूति भी व्यक्ति की सीमाओं में आबद्ध है और वह राग-द्वेष से परे नहीं हो सकता। अतः रस को परगत अनुभूति भी नहीं कह सकते।

निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि भाव पर आश्रित होते हुए भी रस भावानुभूति से भिन्न है। भावानुभूति प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, स्वगत हो या परगत, सुखद हो या दुःखद, रसानुभूति नहीं होकर उससे भिन्न ही है। इनमें से किसी भी रूप में भावानुभूति व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकती; फलस्वरूप चित्त की मुक्तावस्था नहीं होती। चित्त की मुक्तावस्था के अभाव में आनन्द की अनुभूति में बाधा पड़ती है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि रस भाव पर आश्रित होते हुए भी भावानुभूति से भिन्न कैसे हो सकता है? परन्तु, शास्त्र ने इस शंका का समाधान कर दिया है। वस्तुतः रस व्यक्तिगत भाव का आस्वाद नहीं होकर साधारणीकृत भाव का आस्वाद है। साधारणीकृत भाव राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है; अतः आनन्दमय ही होता है।

क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?: यह काव्यशास्त्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण, किन्तु साथ ही विवादास्पद प्रश्न है। इस विषय में कोई विवाद नहीं कि रस

---

1. **नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ३७**

आनन्दमय ही होता है, किन्तु इस विषय में मतैक्य नहीं कि रस अनिवार्य रूप से आनन्दमय ही होता है। हम स्पष्ट ही देखते हैं कि श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत एवं शान्त रसों का आस्वाद आनन्दमय है, परन्तु करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक का भी आस्वाद आनन्दमय होता है कि नहीं, इस विषय में विवाद है। अधिकतर विद्वानों ने इन्हें भी आनन्दमय बताया है, परन्तु विरोधियों की भी संख्या पर्याप्त है। कुछ विद्वानों के मतों का विवेचन किया जाय।

भरत : ऐतिहासिक क्रम से भरत मुनि के मत की सबसे पहले समीक्षा की जाय। इस सम्बन्ध में भरत का मत है :

यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावाना-स्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।[1]

—अर्थात् जिस प्रकार नाना व्यंजनों से संस्कृत अन्न खाकर आस्वादन करते हुए सुमना पुरुष हर्षादि प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों और अभिनयों द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त, स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और हर्षादि प्राप्त करते हैं। अतः, नाट्य से अनुभूत होनेवाले इसे नाट्य रस कहते हैं।

यहाँ भरत द्वारा प्रयुक्त 'हर्षादि' में 'आदि' शब्द के आधार पर कुछ विद्वान् यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि रस का आस्वाद केवल आनन्दमय ही नहीं होता, प्रत्युत स्थायी भाव के अनुरूप वह विपरीत भी हो सकता है। किन्तु, भरत का अभिप्राय यह नहीं जान पड़ता। दिये गये दृष्टान्त का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कोई स्वस्थ पुरुष व्यंजनों से संस्कृत अन्न का आस्वादन करता है, उसी प्रकार सहृदय प्रेक्षक अभिनययुक्त स्थायी भाव का आस्वादन करता है, और जिस प्रकार अन्न के भोक्ता व्यक्ति को हर्षादि का अनुभव प्राप्त होता है, उसी प्रकार रस के भोक्ता प्रेक्षक को भी हर्षादि की प्राप्ति होती है। अर्थात् आस्वाद का अनुभूतिमूलक रूप दोनों को समान रूप से प्राप्त होता है। इस प्रकार, 'हर्षादि' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'हर्षादि' का अर्थ हर्ष या हर्ष की कोटि के अन्य विकार है, हर्ष के विपरीत दुःख, क्षोभ आदि अप्रीतिकर विकार नहीं। इस प्रकार, रसास्वाद का अर्थ अनुभूतिमूलक आस्वाद आनन्दमय ही हो सकता है, दुःख-क्षोभादि रूप न होता है और न हो सकता है। अतः, भरत के इस उद्धरण से सुख-दुःखात्मकता की न सिद्धि होती है और न आनन्दरूपता का निषेध ही होता है। उनके सम्पूर्ण रस-विवेचन में रस की आह्लादकता ही लक्षित होती है।

अभिनवगुप्त : भरत के नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने इसी मत का समर्थन किया है।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ३१ के बाद गद्य।

"दूसरे (व्याख्याता) तो (हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति) इसमें आये हुए 'आदि' शब्द से शोकादि का यहाँ संग्रह होता है (यह कहते हैं)। परन्तु, वह (शोकादि का संग्रह) उचित नहीं है। क्योंकि, नाटक सामाजिकों को केवल आनन्द देनेवाला ही होना चाहिए, शोकादि उसके फल नहीं होने चाहिए। उस (नाटक के दुःखजनकत्व) में कोई प्रमाण (निमित्त) न होने से और (यदि नाटक से दुःख होता है—यह मान लिया जाय तो सामाजिक को) इस प्रकार का अनुभव प्राप्त होने लगेगा (जो कि अभीष्ट नहीं है, सभी आचार्य तथा सहृदय पुरुष करुणादि रसों में भी आनन्द का ही अनुभव करते हैं, दुःख का नहीं), ऐसा मानकर **'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति'** ऐसा पाठ मानते हैं।"[१]

अभिनवगुप्त स्थायी भावों में ही सुख-दुःखरूपता मानते हैं, रसों में नहीं मानते। रस की आनन्दरूपता के विषय में अपना मूल सिद्धान्त उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :

'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघन आस्वाद्यते। तत्र का दुःखशङ्का ?'

'हमारे मत में तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप (आत्मा) का ही आस्वादन (रसरूप में) होता है। उसमें दुःख की शंका ही कैसे हो सकती है ?'[२]

भट्टनायक : भरत के नाट्यशास्त्र के टीकाकारों में भट्टनायक ने अभिनवगुप्त से भी पूर्व रस के इसी आनन्दमय स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के उत्पत्ति और प्रतीति आदि सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए जो तर्क दिये हैं, उनमें से एक प्रधान तर्क यह भी है कि यदि रस की उत्पत्ति मान ली जाय, तो परिणाम यह होगा कि शोक से शोक उत्पन्न होगा, अर्थात् शोक का अभिनय देखकर प्रेक्षक को अभिनय के समय दुःख ही होगा। दूसरे शब्दों में, करुण रस का आस्वाद दुःखमय ही मानना होगा। अभिनवगुप्त ने अपनी भारती में भट्टनायक का मत उद्धृत किया है :

'रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्।'

'रस की न प्रतीति होती है, न उत्पत्ति और न अभिव्यक्ति। स्वगत अर्थात् सामाजिक में रस की प्रतीति मानने पर करुण में दुःख की प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु, यह प्रतीति ठीक नहीं है। (दुःख के मूल कारण वास्तविक) १. सीता आदि के विभाव (-रूप में उपस्थित) न होने से। २. अपनी स्त्री आदि की स्मृति (अभिनय-काल में) न होने से।'[३]

इस प्रकार, भट्टनायक की स्थापना है कि करुण रस में भी दुःखरूपता नहीं है। उन्होंने रस की सुखरूपता या आनन्दमयता निर्विवाद रूप से प्रतिपादित की है।

१. हिन्दी-अभिनव भारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ५००

२. वही, पृ० ५०७

३. वही, पृ० ४६२

मम्मट : प्रसिद्ध विद्वान् मम्मट ने रस को सकल-प्रयोजन-मौलिभूत कहा है और रसास्वाद को आनन्दरूप माना है : **'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् ।'**[1]

धनिक : दशरूपक के वृत्तिकार धनिक ने भी रसों की सुखरूपता का समर्थन किया है । उनका कथन है कि लौकिक करुणादि से काव्यगत करुणादि भिन्न होते हैं । काव्यगत करुणादि दु:खपरक होने पर भी आनन्दात्मक हैं । इसका उदाहरण धनिक ने सुरत-प्रसंग का दिया है । साथ ही लौकिक करुण से काव्य का करुण रस भिन्न होता है, इसलिए रसिक लोग करुण काव्य के प्रति अत्यधिक प्रवृत्त होते हैं । अतः, करुण रस के काव्य भी आनन्दोत्पत्ति अवश्य करते हैं, यह सिद्ध है ।[2]

विश्वनाथ : रसवादी कविराज विश्वनाथ का मत और भी स्पष्ट है । उन्होंने करुण रस में सुखात्मकता के प्रतिपादन के विषय में लिखा :

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
यथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ।[3]

करुण आदि रसों में भी जो परम आनन्द होता है, उसमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है । यदि करुणादि रसों में दुःख होता, तो करुणादि रस-प्रधान काव्य, नाटकादि के श्रवण, दर्शन आदि में कोई भी प्रवृत्त नहीं हुआ करे । यदि करुण रस को दुःख का कारण माना जाय, तो करुण रस-प्रधान रामायणादि ग्रन्थ को भी दुःख का हेतु ही मानना पड़ेगा ।

जगन्नाथ : पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रस को सर्वथा सुखात्मक ही माना है । उनका मत है : १. **'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इति श्रुतिः, सकलसहृदय-प्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम् ।**[4]

रस सुखात्मक या आनन्दरूप होता है, इस तथ्य के दो प्रमाण हैं : पहला प्रमाण वेद के ये प्रमाण-वाक्य हैं : 'आत्मा रसरूप है', 'रस को प्राप्त कर ही यह आनन्दरूप होता है ।' दूसरा प्रमाण है सम्पूर्ण सहृदय-समाज का प्रत्यक्ष अनुभव ।

२. जिस प्रकार शृंगार-प्रधान काव्यों से सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार करुण रस-प्रधान काव्यों से भी सुख का अनुभव होता है । यह तथ्य यदि सहृदय व्यक्तियों के हृदयों से प्रमाणित हो चुका है, तब 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी

---

१. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, श्लोक २ (वृत्ति)
२. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ४४ की वृत्ति
३. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० ४५
४. रसगंगाधर (मथुरानाथ शास्त्री की टीका), प्रथम आनन, पृ० २७

चाहिए'—इस नियम के अनुसार काव्य के लोकोत्तर व्यापार के भीतर ही आह्लादजनकता के साथ दुःख-प्रतिबन्धकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।[1]

इसके कुछ ही आगे पण्डितराज ने फिर लिखा है कि यदि करुण आदि रस-प्रधान काव्यों से दुःख-प्राप्ति की कल्पना करें, तो ऐसे काव्यों की रचना में कवि की और श्रवण में श्रोता की प्रवृत्ति क्यों हो? क्योंकि, जब ऐसे काव्य अनिष्ट के साधन हैं, तब तो उनसे विमुख होना ही उचित है।[2]

मम्मट ने इसको '**ब्रह्मानन्दास्वादमिवानुभावयन्**'[3]; हेमचन्द्र ने '**परब्रह्मास्वादसोदर**'[4] और विश्वनाथ ने '**ब्रह्मास्वादसहोदर**'[5] कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के प्रायः सभी प्रसिद्ध तथा प्रतिनिधि काव्याचार्यों ने रस को अनिवार्य रूप से आनन्दमय माना है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र : विरोधी पक्ष में जैन आचार्यद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बहुत स्पष्ट रूप से रस की आनन्दरूपता का विरोध किया। इस विषय में इन्होंने अपने गुरु हेमचन्द्राचार्य से भी असहमति प्रकट की—'**सुखदुःखात्मको रसः**'।[6] अर्थात् रस सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।

इसी कारिका की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि उनमें से इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप-सम्पत्ति को प्रकाशित करनेवाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुख-प्रधान रस हैं, और अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप प्राप्त करनेवाले करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक—ये चार दुःखात्मक रस हैं।[7]

ये दोनों आचार्य यह स्वीकार नहीं करते कि सभी रस सुखात्मक ही होते हैं।[8]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं :

१. भयानक आदि रस सहृदयों को कष्ट-दशा में पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिकों को उद्वेग ही मिलता है। सुखास्वाद से तो कोई व्यक्ति उद्विग्न नहीं होता। सीता के हरण, रोहिताश्व की मृत्यु आदि घटनाओं के अभिनय को देखकर किस सहृदय को सुखास्वाद का अनुभव होता है?

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ३१
२. वही
३. काव्यप्रकाश, उल्लास ४
४. काव्यानुशासन, अध्याय २
५. साहित्यदर्पण, परिच्छेद ३
६. नाट्यदर्पण, अध्याय २, का० ७
७. वही, का० ७ की व्याख्या (अध्याय २)
८. हिन्दी-नाट्यदर्पण, पृ० २९१

२. काव्य-नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही होता है। नाटककार सांसारिक सुख का वर्णन सुखरूप में करता है और दुःख का वर्णन दुःख-रूप में ही। विरही रामादि अनुकार्यों की करुण दशाएँ निश्चित रूप से दुःखात्मक होती हैं, अतः यदि नाटकगत अनुकरण को सुखात्मक माना जाय, तो वह अनुकरण यथार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि वह लौकिक वस्तु-स्थिति से भिन्न होगा।

३. जो लोग सभी रसों को सुखात्मक मानते हैं, वे कह सकते हैं कि जैसे लोक में विरही तथा शोकग्रस्त व्यक्तियों के सामने कारुणिक प्रसंगों का वर्णन अथवा अभिनय उन्हें सान्त्वना देता है, वैसे ही काव्य तथा नाटक में वर्णित करुण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही हैं, दुःखात्मक नहीं। किन्तु, नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि ऐसे अवसर पर दुःखी व्यक्तियों को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, वह वास्तव में दुःखास्वाद ही है। अतः, विपक्षियों का यह सहानुभूतिमूलक तर्क मान्य नहीं है। वास्तव में, करुण आदि रस दुःखात्मक हैं।

४. करुण, भयानक आदि रस दुःखात्मक ही हैं, फिर भी यदि सहृदय सामाजिक उनसे परम आनन्द प्राप्त करते हैं, तो केवल कवि तथा नट की कुशलता से चमत्कृत होकर ही।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के तर्कों की समीक्षा : उपर्युक्त चार तर्कों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि पहला तर्क मन के उद्वेग को ध्यान में रखकर उपस्थित किया गया है, और दूसरा तर्क लौकिक व्यवहार तथा काव्य-रचना की पारस्परिक अन्विति को ध्यान में रखकर। तीसरे तर्क का सम्बन्ध लौकिक सान्त्वना तथा सहानुभूति से है और चौथे तर्क का सम्बन्ध काव्यत्व तथा अभिनयजन्य बाह्य चमत्कार से। किन्तु, यदि थोड़ा ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि इन चारों तर्कों के मूल में एक ही भ्रान्त धारणा काम करती है कि लौकिक व्यवहार और काव्यकृति में कोई अन्तर नहीं है और दोनों एक ही धरातल पर स्थित हैं। इसीलिए, पहले तर्क में सहृदय सामाजिक को भी करुण, भयानक आदि रसों द्वारा वैसा ही उद्विग्न समझ लिया गया है जैसा सामान्य व्यवहार में भयभीत या करुणाग्रस्त व्यक्तियों को समझा जाता है। परन्तु, तथ्य यह है कि लौकिक रति, शोक आदि भावों में तथा काव्यगत इन भावों में अन्तर विद्यमान रहता है। काव्यगत भाव लौकिक भावों के समान सीमित नहीं रहते। दूसरे तर्क में भी उपर्युक्त धारणा के ही आधार पर लौकिक घटनाओं तथा काव्यगत घटनाओं को भी समान मान लिया गया है। किन्तु, यह भ्रान्त धारणा है और इसे माना नहीं जा सकता। दोनों में अनेक प्रकार से अन्तर है। वस्तुतः, अनुकार्य रामादि के ही अनुरूप सहृदय के भी सुख-दुःख का निर्णय नहीं किया जा सकता।

तीसरे तर्क की परीक्षा करने पर उसकी भी असत्यता सिद्ध हो जाती है। सामान्य जीवन में पुत्र-शोक में विह्वल माता के शोक में और ऐसी शोकमग्न माता को रंगमंच पर देखकर या काव्य में उसका वर्णन पढ़कर शोक-विह्वल सहृदय या पाठक के शोक में

स्पष्ट रूप से अन्तर है। सामान्य जीवन में इस शोक में कई स्थितियाँ हो सकती हैं, जैसे सान्त्वना से शोक घट सकता है या लुप्त हो सकता है या किसी अन्य कारण से शोक बढ़ भी सकता है। किन्तु, शोक स्थायी भाव से व्यग्र सहृदय सामाजिक के लिए सान्त्वना आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। चतुर्थ तर्क में आंशिक या एकांगी सत्यता है। कवि के रचना-कौशल तथा नट के अभिनय-कौशल से उत्पन्न चमत्कार से सहृदय अवश्य प्रभावित होता है। कवि तथा नट के कौशल से उत्पन्न चमत्कार के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु, यह चमत्कार पूर्ववर्त्ती प्रभाव को केवल उद्दीप्त करता है, उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में यह कौशल सहृदय के हृदय में स्थित रति-भाव को उद्दीप्त करता है और करुण रस में उसके शोक को उद्दीप्त करता है।

रुद्रभट्ट : लोल्लट : रस की आनन्दरूपता का जितना स्पष्ट तथा जोरदार विरोध इन दो जैनाचार्यों ने किया, उतना अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया। रुद्रभट्ट ने अपनी रस-कलिका में एक स्थल पर रस की उभयात्मक प्रकृति—सुख-दुःखरूपता का निरूपण किया है। इस सम्बन्ध में कुछ अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया जा सकता है। भट्ट लोल्लट रस को सुख-दुःखात्मक रूप में स्वीकार करते थे; क्योंकि उनकी मान्यता है कि रस स्थायी भाव का उपचित रूप है। परन्तु, इससे रस-विषयक शास्त्रीय चिन्तन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

आधुनिक आचार्य : संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा आधुनिक भारतीय भाषाओं में आई और विशेष रूप से हिन्दी में रस के विषय में बहुत-कुछ चिन्तन हुआ। रीति-काल में अनेक विद्वानों ने रस-सिद्धान्त का व्यापक विवेचन किया और एक विशाल वाङ्मय तैयार हो गया। परन्तु, यह सब-कुछ संस्कृत-काव्यशास्त्र पर ही आधारित है। रस के विषय में रीतिकाल के सभी आचार्यों ने इसे अलौकिक, आनन्दस्वरूप और ब्रह्मानन्द-सहोदर बताया है। आधुनिक आलोचकों में भी अधिकतर ने यही मत अपनाया। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० भगवान दास, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० गुलाब राय, डॉ० नगेन्द्र आदि सभी विद्वान् रस को आनन्दरूप ही मानते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ही इस विषय में अपवाद हैं। इन्होंने भारतीय शास्त्र-परम्परा और विशेषतः रसवाद का विशिष्ट समर्थक होते हुए भी रस की आनन्दरूपता का खुले शब्दों में विरोध किया है।

"यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—उस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्दरूप अनुभव हुआ, तो 'साधारणीकरण' कैसा? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें, तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि ने विना इन भावों का स्वयं अनुभव किये उनका रूप प्रदर्शित किया है।"[1]

---

१. रस-मीमांसा, पृ० ९९

"मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रयश्चित्त। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप—सुख का—दे देता है? क्या दुःख के भेद सुख के भेद-से प्रतीत होने लगते हैं? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख-सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं?"[१]

रस के आनन्द-सिद्धान्त पर आचार्य शुक्लजी का यह बहुत कठोर प्रहार है। परन्तु, डॉ० नगेन्द्र ने इसका निराकरण निम्नलिखित शब्दों में किया है :

"माना कि 'सत्यहरिश्चन्द्र' का प्रेक्षण सहृदय 'दाँत निकालने के लिए' नहीं करता, पर क्या 'आँसू बहाने के लिए' वह समय और धन का व्यय कर रहा है? शुक्लजी की दृष्टि एकांगी नहीं थी—यह शंका उनके मन में थी, अतः अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए उन्होंने रस के स्वरूप की, अपनी मान्यता के अनुकूल, नवीन व्याख्या प्रस्तुत की।"[२]

आगे डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी का मत स्पष्ट करने के लिए चिन्तामणि से उद्धरण दिया है :

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।"[3]

"तात्पर्य यह है कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्त्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निस्संगता (Impersonality and detachment) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभाव-व्यापार का अलौकिकत्व।"[४]

आचार्य शुक्ल के मत का निष्कर्ष डॉ० नगेन्द्र ने इन शब्दों में दिया है : १. रस आनन्दरूप नहीं है, २. उसमें अस्मिता का भोग न होकर उसका विसर्जन है, ३. वह प्रकृत भाव से मूलतः भिन्न न होते हुए भी परिणामतः भिन्न है, अर्थात् प्रकृत भाव का सामान्य

१. रस-मीमांसा, पृ० १०१
२ रस-सिद्धान्त, पृ० १००
३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४१
४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४७

अनुभव जहाँ सुख दुःखमय होता है, वहाँ रस का अनुभव—शृंगार तथा करुण दोनों रूपों में—सुख और दुःख दोनों रूपों से 'अधिक उदात्त और अवदात' होता है।[1]

निष्कर्ष : निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि रस की आनन्दरूपता के विरोध में जितने विकल्प उपस्थित किये गये हैं, सभी असिद्ध हो जाते हैं या किसी दूसरे प्रकार से आनन्द का ही समर्थन करते हैं।

रस-प्रक्रिया में सहृदय के मन में अनेक स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। स्थायी भाव के स्वरूप के अनुसार सहृदय का मन सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है। कला-तत्त्वों की अनुभूति से परितोष, आह्लाद, विस्मय आदि का जन्म होता है और अन्त में उन सबकी परिणति एक परितोषकारी मनोदशा में होती है। करुण रस के आस्वादन में सहृदय की चित्तवृत्ति शोक, त्रास की अनुभूति से थोड़े समय के लिए विक्षुब्ध होने पर भी अन्त में समंजित हो जाती है, जिससे एक सुखद स्थिति उत्पन्न होती है। इस प्रकार सहृदय को जो करुण रस का आस्वाद होता है, वह शोक, त्रास आदि का आस्वाद नहीं होता, प्रत्युत उनकी कलात्मक परिणति का आस्वाद होता है। इस प्रक्रिया में उसे कटु अनुभव होने पर भी अन्तिम परिणति आत्म-परितोष में ही होती है, जिससे सुख ही प्राप्त होता है।

इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित शब्दों में दिया जा सकता है :

१. कोई भी स्थायी भाव जब अपरिपक्व अवस्था में रहता है, तो लौकिक सुख या दुःख को उत्पन्न करता है, किन्तु वही परिपक्व अवस्था में अलौकिक सुख का ही कारण बनता है।

२. करुण, भयानक आदि रसों में सामाजिक शोक, भय आदि से उत्पन्न दुःख का अनुभव करता है, किन्तु यह दुःख लौकिक ही होता है। वैसे ही वह शृंगार, हास्य आदि रसों में रति, हास आदि से उत्पन्न लौकिक सुख का ही अनुभव करता है। परन्तु, इस लौकिक सुख या दुःख की अवस्था के बाद ही रस-दशा आती है।

३. परन्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख तथा दुःख की अनुभूति अनिवार्य रूप से होती है; कुछ सहृदयों को ऐसी अनुभूति नहीं भी होती, यद्यपि ऐसों की संख्या बहुत कम होती है। किन्तु, यह निश्चित है कि दोनों प्रकार के रसों से सहृदयों को सुख की अनुभूति अनिवार्यतः होती है।

४. इसलिए, करुण आदि रसों को नित्यरूप से दुःखात्मक नहीं माना जा सकता और अधिकांशतः ऐसा मान भी लिया जाय, तो वह दुःख लौकिक कोटि में ही आता है। वह दुःख अत्यन्त भावुक सहृदयों के अलौकिक सुख की अनुभूति के लिए उद्दीपक ही माना जा सकता है, अनिवार्य या सहायक साधक कभी भी नहीं माना जा सकता।

अन्त में निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि करुण, भयानक आदि रस दुःखात्मक नहीं हैं, वरन् वे भी शृंगार, हास्य आदि के समान सुखात्मक ही हैं।

---

१. रस-सिद्धान्त, पृ० १००

इस आनन्द का रूप क्या है ? : किन्तु रस के आनन्द का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट करने पर ही रस के स्वरूप का विवेचन पूर्ण कहा जायगा।

विभिन्न भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने काव्यानन्द के विषय में जो विवेचन किया है, उससे काव्यानन्द के स्वरूप के विषय में निम्नलिखित सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं :

(क) काव्यानन्द प्रत्यक्ष रूप से ऐन्द्रिय आनन्द है। प्राचीन काव्यशास्त्रियों में प्लेटो तथा नवीन विचारकों में मार्क्स एवं फ्रायड ने अपनी-अपनी रीति से इस बात का प्रतिपादन किया है।

(ख) काव्यानन्द एक प्रकार से आत्मिक आनन्द है। संस्कृत के प्रमुख तथा प्रतिनिधि आचार्यों—जैसे अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि का यही मत है। पश्चिम के अध्यात्मवादी विद्वानों एवं विचारकों का भी यही मत है।

(ग) काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है। अरस्तू के विचारों से प्रेरणा प्राप्त कर १८वीं शती में एडिसन ने इस मत का प्रतिपादन किया। इस बीसवीं शती में क्रोचे ने इसी को सहजानुभूति माना है।

(घ) काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक तथा आध्यात्मिक अनुभावों से अलग एक तरह का विलक्षण आनन्द है। यह आनन्द सब प्रकार से निरपेक्ष होता है। यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन है, परन्तु १९वीं शती के अन्त तथा बीसवीं शती के आरम्भ में ब्रैडले, क्लाइव आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों और कलावादियों ने समुचित रीति से इसे प्रतिष्ठित किया है। रिचर्ड्स ने इसपर काण्ट और हेगेल का अप्रत्यक्ष प्रभाव माना है।

काव्यानन्द या रस के स्वरूप का निर्णय करने के लिए इन चारों मन्तव्यों का परीक्षण आवश्यक और लाभदायक है। चौथा सिद्धान्त काव्यानन्द की विलक्षणता का है, जो बहुत सहज ही असिद्ध हो जाता है। तीसरा सिद्धान्त है कि काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है। यह सिद्धान्त केवल अंशतः ठीक है। काव्यानन्द में भाव की भूमिका भी निश्चित रहती है, इस मत में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में नहीं रखा गया है। इस प्रकार, यह मत भी समीचीन नहीं जान पड़ता।

दूसरा मत काव्यानन्द को आत्मानन्द का ही एक दूसरा रूप मानता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों में अधिकतर ने यही मत माना है। वस्तुतः, ऐन्द्रिय आनन्द और आत्मिक आनन्द का भेद प्रकृति का नहीं, प्रत्युत गुण का है और विषयानन्द, काव्यानन्द तथा आत्मानन्द में शुद्धता की मात्रा का ही अन्तर बच जाता है। आत्मानन्द शुद्ध आत्मतत्त्व का भोग है, परन्तु काव्यानन्द में भौतिक जीवन का अंश अवश्य ही विद्यमान रहता है। काव्य का आनन्द प्रत्यक्ष स्थायी भाव का आस्वाद कदापि नहीं माना जा सकता, वरन् यह काव्य-निबद्ध स्थायी भाव का आस्वाद है। काव्य-निबद्ध स्थायी भाव के आस्वाद को आध्यात्मिक आनन्द कहना ठीक नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, काव्यानन्द प्रचलित सामान्य अर्थ में

आत्मानन्द नहीं कहा जा सकता। यदि यह माना जाय कि प्रत्येक अनुभूति आत्मा की ही अनुभूति है और आनन्द के सभी भेद आत्मानन्द के ही विभिन्न रूप हैं, तब तो कोई भेद नहीं रह जाता। परन्तु, यदि आनन्द के भिन्न-भिन्न रूपों में भेद किया जाय, तो काव्यानन्द को अत्यन्त उच्च और उदात्त मानने पर भी उसे आत्मानन्द के रूप में नहीं मान सकते।

अब पहला मत बच जाता है कि काव्यानन्द ऐन्द्रिय आनन्द है। प्लेटो ने इसे प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय आनन्द माना। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि काव्यानन्द प्रत्यक्ष लौकिक अनुभव नहीं होने पर भी लौकिक जीवन की अनुभूति है। भक्ति आदि कुछ विषय छोड़कर काव्य के प्रायः सभी विषय लौकिक ही होते हैं। उनके विभिन्न उपकरण भाव, कल्पना, बुद्धि आदि भी लौकिक ही हैं। उसके आस्वाद के माध्यम आँख, कान, मन, बुद्धि आदि भी लौकिक ही हैं। उसका आस्वादन करनेवाला भी योगी नहीं होता, बल्कि सामाजिक प्राणी ही होता है। ऐसी स्थिति में यह मानना ठीक होगा कि काव्यानन्द अतीन्द्रिय नहीं है। दूसरे शब्दों में, काव्यानन्द लौकिक अर्थात् ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति ही है और इसका आधार भाव है।

रस-निष्पत्ति

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-निष्पत्ति का अत्यन्त अधिक महत्त्व है। रस के सम्पूर्ण विवेचन में रस-निष्पत्ति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत मुनि ने भी मूल रूप से रस-निष्पत्ति का ही विवेचन किया है। रस-निष्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाला भरत का प्रसिद्ध सूत्र है : **तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**[1] अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

भरत द्वारा व्याख्या : इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों का अर्थ उतना स्पष्ट नहीं है और इन्हीं शब्दों की व्याख्या को लेकर परवर्त्ती आचार्यों के बीच हजारों वर्षों तक वाद-विवाद होता रहा है। स्वयं भरत ने इन शब्दों की व्याख्या की है। 'निष्पत्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए भरत ने पूर्वोद्धृत पंक्तियाँ लिखी हैं—जिस प्रकार अनेक व्यंजनों तथा औषधि आदि के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुड़ आदि द्रव्यों और व्यंजनों तथा औषधि आदि से षाडव (पानक) आदि रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अनेकानेक भावों के उपगत होने से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है।[2]

यहाँ निष्पत्ति का अर्थ है 'बनना' या 'होना', स्वरूप को प्राप्त होना। यह सामान्य कोशार्थ है।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ३१ के बाद गद्य।
२. वही, पृ० ३१४-३१५ (श्रीरघुवंश का अनुवाद)

आगे के वाक्य में भरत ने 'संयोग' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है—जिस प्रकार नाना भाँति के व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाकर रसास्वादन करते हुए सुमना पुरुष हर्ष को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों और अभिनयों द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं।[1]

इस उद्धरण के आधार पर संयोग का अर्थ है स्थायी भावों के साथ सम्यक् योग अर्थात् संगम।

इस प्रकार, स्वयं भरत के अनुसार इस सूत्र का अर्थ हुआ— विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग या संसर्ग से रस की सिद्धि होती है। मूल या आधारभूत तत्त्व स्थायी भाव ही है और जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से उसका संयोग हो जाता है, तभी रस की सिद्धि होती है। इस प्रसंग में सिद्धि का अर्थ निर्मिति होना चाहिए। जब विद्यमान उपकरणों के संयोग से नवीन रचना होती है, जो आधारभूत उपकरणों से उत्पन्न होने पर भी उससे भिन्न होती है, तो इस क्रिया को निर्मिति कहते हैं। भरत ने रस की निष्पत्ति का यही अर्थ लिया है। रस कोई ऐसा नवीन पदार्थ नहीं है, जिसका पहले सर्वथा अभाव रहा हो; विभाव आदि से उपगत होकर स्थायी भाव ही रस में परिणत हो जाता है। रस और स्थायी भाव एक ही नहीं हैं, वैसे ही जैसे अन्न और षाडवादि एक ही नहीं हैं। परन्तु, रस का आधार स्थायी ही है और यही स्थायी रस-रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रस के रूप में किसी नवीन पदार्थ की सृष्टि नहीं होती; विद्यमान स्थायी भाव ही कई अन्य उपकरणों के संयोग से एक नया रूप ग्रहण कर लेता है। भरत ने जो दृष्टान्त दिया है, उसके प्रसंग में निष्पत्ति का यही अर्थ बैठता है।

भरत का नाट्यपरक दृष्टिकोण : रस-निष्पत्ति का प्रतिपादन करते समय भरत का सम्पूर्ण दृष्टिकोण नाट्यपरक रहा है, अर्थात् उन्होंने रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि को प्रधानता दी है। इस प्रकरण का आरम्भ करते समय उन्होंने यही प्रश्न उठाया है कि नाट्यशास्त्रियों द्वारा गिनाये गये रस अपनी विशिष्टता कैसे प्राप्त करते हैं। इसकी काव्यगत व्याख्या का विकास आगे चलकर चाहे जिस ढंग से हुआ हो, परन्तु भरत ने उसे अभिनय के अनुरूप आस्वाद्य माना है। यह आस्वादन उसी रूप में बताया गया है, जिस रूप में नाना व्यंजनों से तैयार भोजन का रसास्वादन सुमनस पुरुष करते हैं। कुछ आगे चलकर भरत ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि संस्कृत जन नाना भावों के वाचिक तथा आंगिक अभिनय और सात्त्विक अनुभावों के प्रदर्शन के सहारे स्थायी भावों का आस्वादन कर आनन्द प्राप्त करते हैं। काव्य के सन्दर्भ में रस की व्याख्या काव्य-सौन्दर्य के अर्थ में होने लगी है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि नाट्य में रस का सम्बन्ध

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, पृ० ३१५ (श्रीरघुवंश का अनुवाद)

सौन्दर्य से नहीं है। परन्तु, नाट्य में रस का सम्बन्ध रंगमंच पर स्थायी भावों के ऐसे प्रदर्शन से है, जिसमें कारणरूप विभाव और कार्यरूप अनुभाव का अभिनयात्मक संयोग नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हो। आगे भावों से रस की स्थिति सिद्ध मानी गई है :

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।[१]

—अर्थात् अनेक प्रकार के नाटकीय अभिनय के प्रयोगों से भाव ही रसों को भावित करते हैं। नाट्य-प्रदर्शन से अनेक भावों से रसों की उत्पत्ति होती है, परन्तु वस्तुतः न कोई भाव रस से हीन हो सकता है और न रस से रहित कोई भाव ही हो सकता है। इसीलिए, नाट्य-प्रदर्शन में दोनों पारस्परिक सम्बन्ध से सिद्ध होते हैं।

यहाँ इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि भरत ने जब रस की नाट्यपरक व्याख्या की, उस समय उन्होंने दर्शक-वर्ग के केवल आस्वाद्य पक्ष पर बल दिया है। उनका अभिप्राय यह नहीं है कि दर्शक इन भावों को अपने मन में इसी रूप में लेता है। इसी प्रकार भरत ने विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव की व्याख्या इसी दृष्टि से प्रस्तुत की है कि रंगमंच पर स्थायी भाव का प्रदर्शन किस प्रकार होता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विचार करना असंगत लगता है कि ये वास्तव में संचारी भाव हैं या केवल शारीरिक अवस्थाएँ हैं? ये मानसिक स्थितियाँ हैं या केवल आंगिक परिस्थितियाँ? जैसे परवर्त्ती आचार्यों ने सम्पूर्ण रस-सामग्री को काव्य-सौन्दर्य के अनुरूप सिद्ध करने की चेष्टा की है, वैसे ही आधुनिक विचारक रस-सामग्री की मनोवैज्ञानिक स्तर पर विवेचना करने पर तुले जान पड़ते हैं। परन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि भरत ने जो कुछ विवेचन किया है, वह गतिशील तथा सक्रिय नाट्य की कल्पना लेकर ही किया है और उसमें अभिनय की दृष्टि की प्रधानता है।

रस-सूत्र के व्याख्याकार : प्रस्तुत रस-सूत्र की व्याख्या परवर्त्ती काव्यशास्त्र में अनेक आचार्यों ने की। अभिनवगुप्त ने भी बहुत विस्तार से उसकी व्याख्या की है। उन्होंने इस विषय में अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मत प्रस्तुत करके उसकी समुचित समीक्षा की है। रस-मीमांसा में इन पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों का बहुत अधिक महत्त्व है। इन पूर्ववर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं; अभिनवभारती से ही उनका ज्ञान प्राप्त होता है। अब इन आचार्यों के मतों की समीक्षा का प्रयत्न किया जा रहा है।

(क) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद : भरत के रस-सूत्र के व्याख्याकारों में इससे पहले भट्टलोल्लट और उनकी रस-विषयक व्याख्या का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनवभारती में किया।[२] फिर उन्होंने ही अपने ध्वन्यालोक-लोचन में उल्लेख किया।[३]

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ३५
२. अभिनवभारती (अनुवाद, आचार्य विश्वेश्वर), अध्याय ६, पृ० ४४२–४४३
३. ध्वन्यालोकलोचन (चौखम्बा), पृ० १८४

ये उद्धरण अत्यन्त संक्षिप्त हैं और सम्भव है, अभिनवगुप्त ने अपने दृष्टिकोण से ही कुछ उद्धरण दिया हो। अतः, उद्धरण अत्यन्त अपर्याप्त होने के साथ सम्भवतः, उतने प्रामाणिक भी शायद ही हों। इतना होने पर भी भट्टलोल्लट के मत का सबसे पहले आधार ये ही उद्धरण हैं। लोल्लट के मत का दूसरा आधार मम्मट के द्वारा काव्यप्रकाश में उद्धृत उनका मत है,[1] जो और भी संक्षिप्त है और अभिनव के द्वारा उद्धृत मत से कुछ भिन्न भी है। इसके विषय में दो सम्भावनाएँ हैं—१. मम्मट ने स्वयं लोल्लट का ग्रन्थ देखा हो और उसी के आधार पर वह मत उद्धृत किया हो और २. मम्मट का भी आधार अभिनवगुप्त के वे ही उद्धरण हों, परन्तु उनके समय तक रस-सिद्धान्त में जो कुछ विकास हुआ हो, उसके आधार पर अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत व्याख्या में यथास्थान संशोधन कर दिया हो। सब बातों पर विचार करने पर दूसरी सम्भावना ही अधिक समीचीन जान पड़ती है। सभी परवर्त्ती आचर्यों ने मम्मट द्वारा ही प्रस्तुत मन्तव्य की आवृत्ति की है।

अभिनवगुप्त (अभिनवभारती और ध्वन्यालोकलोचन में) और मम्मट (काव्य-प्रकाश में) द्वारा दिये गये भट्टलोल्लट के उद्धरणों का विश्लेषण करने पर उनके रस-विषयक सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं :

१. संयोग का अर्थ भरत द्वारा दिये गये अर्थ से भिन्न नहीं है अर्थात् स्थायी भाव का संयोग।

२. स्थायी भाव का आश्रय अनुकार्य है; जैसे—राम, दुष्यन्त आदि।

३. सीता, शकुन्तला आदि आलम्बन उसे अनुकार्य आदि के चित्त में ही उत्पन्न करते हैं। इस सम्बन्ध में लोल्लट ने 'उत्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। इस 'उत्पत्ति' शब्द का यहाँ क्या अर्थ है? 'अभाव में भाव की कल्पना' या 'उद्बुद्धि' मात्र? यदि **'कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्'** लोल्लट के ही मत का अंश है, तब तो 'उत्पत्ति' का अर्थ 'उद्बुद्धि' ही ठीक है और तब उद्बुद्धि और अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं रह जाता; क्योंकि जब स्थायी भाव वासना-रूप में विद्यमान है, विभाव उसे उद्बुद्ध ही करता है। परन्तु, यदि यह अभिनवगुप्त की अपनी टिप्पणी है, तो उत्पत्ति का अर्थ 'अभाव में भाव' मानना ठीक होगा।

४. अनुभाव का अर्थ भावों के अनुवर्त्ती विकार है। अनुभाव केवल उपचित स्थायी भावों के ही नहीं, वरन् अनुपचित स्थायी भावों के तथा व्यभिचारी भावों के भी अनुवर्त्ती विकार हैं। लोल्लट के मत से अनुभाव शृंगार रस में विभोर राम आदि की चेष्टाएँ नहीं हैं। लोल्लट ने रस को उपचित स्थायी भाव माना, अतः उसके अनुवर्त्ती विकार तो कार्य ही हो सकते हैं, कारण नहीं। किन्तु अनुपचित स्थायी भाव के और व्यभिचारी भावों के अनुवर्त्ती विकार स्थायी भाव के उपचय के कारण होते हैं।

---

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४३ के बाद गद्य।

५. संचारी भाव स्थायी भाव के सहभावी माने गये हैं। किन्तु, नियम है कि मन में दो चेतनाएँ एक साथ नहीं रह सकतीं, इससे एक साथ स्थायी भाव और संचारी भाव की स्थिति में शंका की जा सकती है। इस शंका का समाधान इस तरह किया जाता है कि संचारी भाव स्थायी भाव के साथ संस्कार-रूप में रहते हैं, युगपत् स्थिति में नहीं रहते। यदि स्थायी के विषय में वासनात्मकता सम्बन्धी धारणा स्वीकृत हो जाय तो भी दोनों का सहभाव सिद्ध हो जाता है। इस दशा में स्थायी भाव की स्थिति वासना-रूप में और संचारी भाव की स्थिति उद्बुद्ध रूप में मानी जायगी।

६. लोल्लट ने रस को मूलतः तथा मुख्यतः अनुकार्य – रामादि—में और गौण रूप से अनुसन्धान के बल से, नट में माना है। अभिनवगुप्त ने जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उनके अनुसार अनुसन्धानकर्त्ता नट ही है। अतः, अनुसन्धान के बल से नट में भी रस उत्पन्न हो जाता है।

एक उदाहरण से लोल्लट द्वारा प्रतिपादित रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया समझी जाय। कण्व ऋषि के आश्रम के रमणीक वातावरण में दुष्यन्त अत्यन्त रूपवती शकुन्तला को देखता है और उसके मन में रतिभाव उत्पन्न होता है। यह रतिभाव दुष्यन्त के चित्त में पूर्व से ही वासना के रूप स्थित था, परन्तु इस समय कारणभूत शकुन्तला को देखने से और उसके सम्पर्क में आने से ही उदित हुआ, इसलिए रतिभाव की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए। दुष्यन्त के चित्त में स्थित यह रति नामक स्थायी भाव आलम्बन-रूप शकुन्तला के अपूर्व सौन्दर्य से उस आश्रम की रमणीक पृष्ठभूमि में (उद्दीपन विभाव के द्वारा) और भी उद्दीप्त हो उठा। दुष्यन्त का शरीर रोमांचित हो गया (अनुभाव)। शकुन्तला के सौन्दर्य से एक ओर उसके मन में हर्ष का संचार हुआ, तो दूसरी ओर वरण आदि विषयों को लेकर उसके मन में चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव आने लगे। इन अनुकूल तथा प्रतिकूल भावों से रतिभाव का क्षय नहीं होकर पोषण ही हुआ। इस तरह दुष्यन्त (आश्रय) के चित्त में शकुन्तला (आलम्बन) के द्वारा जो रतिभाव (स्थायी भाव) उत्पन्न हुआ और शकुन्तला की चेष्टाओं एवं वातावरण से उद्दीप्त हुआ था, वह दुष्यन्त के पुलक, रोमांच आदि (सात्त्विक) के द्वारा पुष्ट हुआ। इस प्रक्रिया से उस रति स्थायी भाव का पूर्ण परिपाक होकर वह रस रूप में परिणत हो गया।

नाट्य में इसी प्रसंग का अनुकरण किया गया। नट तथा नटी ने दुष्यन्त-शकुन्तला आदि की भूमिका अदा की और अपनी शिक्षा तथा अभ्यास के द्वारा उन्होंने ठीक-ठीक दुष्यन्त-शकुन्तला के चरित्र का अभिनय किया। नट के चित्त में रतिभाव का उदय हो गया और शरीर में रोमांच आदि और चित्त में हर्ष, चिन्ता आदि भावों का संचार हुआ। इस प्रकार, सम्पूर्ण सामग्री यहाँ प्रस्तुत है—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव हैं। यहाँ भी स्थायी भाव विभाव से उद्बुद्ध होकर अनुभावों द्वारा व्यक्त होकर तथा व्यभिचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर रस में परिणत हो जाता है। अन्तर यही है कि

पहले वास्तविक प्रसंग तथा दूसरा उसका काव्यगत अनुकरण-मात्र है। अतः, वास्तविक प्रसंग में दुष्यन्त के चित्त में जिस रस की निष्पत्ति हुई, वह मुख्य है और नाट्यवाले नट के चित्त में जिस रस की निष्पत्ति हुई, वह गौण है। यही भट्टलोल्लट की रस-निष्पत्ति है।

भट्टलोल्लट के मत की विशेषताएँ : संस्कृत-काव्यशास्त्र में लोल्लट के मत की विस्तृत विवेचना हुई है, जिसमें उसकी सीमाओं या त्रुटियों का ही विश्लेषण किया गया है। किन्तु, उसकी विशेषताओं अथवा शक्तियों का उल्लेख किसी ने नहीं किया। डॉ० नगेन्द्र ने लोल्लट के मत की शक्तियों का भी विश्लेषण किया है। उनके अनुसार इस मत की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

१. भरतसूत्र की जितनी भी व्याख्याएँ हुईं, उनमें यही मत मूल के सबसे अधिक निकट है।

२. रस को अनुकार्यगत मानने का अर्थ यह हुआ कि नाट्य-सौन्दर्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूल पात्र के भाव से है। मूल पात्र के भावों तथा कार्यों से ही नाटक की विषय-वस्तु की रचना होती है, अतः यह सिद्ध होता है कि नाटक की विषयवस्तु में ही उसका मूल सौन्दर्य निहित रहता है। इस प्रकार, दूसरे ढंग से लोल्लट कला में वस्तु के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। अनेक मत-मतान्तरों के रहने पर भी यह सिद्धान्त उपेक्षा के योग्य नहीं है। अनेक प्राचीन तथा नवीन आचार्यों ने इस सिद्धान्त को मान्यता दी है।

३. यहीं से रस की व्यक्तिपरक व्याख्या का आरम्भ होता है, रस कलात्मक स्थिति से आगे बढ़कर मनःस्थिति तक पहुँच जाता है। यह मनःस्थिति सहृदय की नहीं रहने पर भी इसमें व्यक्ति की सत्ता पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है।

४. अभिनेता द्वारा रसानुभूति होने के तथ्य का प्रतिपादन करके भट्टलोल्लट ने नाट्यकला के विकास में एक नया मोड़ ला दिया।

लोल्लट के मत में त्रुटियाँ : संस्कृत-काव्यशास्त्र में भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में जो त्रुटिया बताई गई हैं, वे सभी जानते हैं। श्रीशंकुक ने इस सिद्धन्त में आठ त्रुटियों का निर्देश किया है, जिनका उल्लेख अभिनवभारती में किया गया है। वे निम्नलिखित हैं :

१. विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग होने पर ही रति आदि स्थायी भावों का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। जबतक विभाव नहीं उपस्थित हो तबतक स्थायी भावों का साक्षात्कारात्मक ज्ञान सम्भव नहीं। किन्तु, विभाव आदि का संयोग होने पर रति आदि का जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है, वह स्थायी भाव नहीं, प्रत्युत रस ही है। स्थायी भाव को ही रस नहीं कह सकते। रस तथा स्थायी भाव सर्वथा भिन्न होते हैं।

२. विभाव आदि के संयोग से पहले जो रति आदि स्थायी भावों का ज्ञान होता है, उसे रस नहीं कहा जा सकता, वह तो शब्द द्वारा उनका केवल परोक्षात्मक ज्ञान होता है।

अतः, विभाव आदि के योग से पहले स्थायी भावों की जो स्थिति रहती है, उसे रस मानना ठीक नहीं; क्योंकि उसका ज्ञान शब्दों के द्वारा परोक्ष रूप से ही सम्भव है। उसका रसनात्मक और साक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं होता। फिर विभाव आदि के संयोग के पश्चात् रति आदि की साक्षात्कारात्मक स्थिति होती है, उसे स्थायी भाव नहीं कह सकते। इसलिए, यह कहना भी संगत नहीं कि स्थायी भाव ही रस है।

३. रति आदि को ही रस मानने में भी श्रीशंकुक ने एक दोष यह भी बताया है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग के पहले ही यदि रस की स्थिति मान ली जाय, तो फिर रस के अन्य लक्षण करने की क्या आवश्यकता रह जाती है। इसका कारण यह है कि विभाव आदि के संयोग के पहले ही रस की स्थिति विद्यमान मान ली गई है।

४. यदि रति आदि को ही रस मान लिया जाय, तो एक अन्य दोष उपस्थित हो जायगा। कभी रति आदि सामान्य या मन्द रूप में रहते हैं, तो कभी तीव्र और कभी मध्यम रूप में। उसी के अनुरूप रस में भी अनेक भेद होने लगेंगे। किन्तु, ऐसा कभी नहीं होता। रस में न्यूनाधिक्य का भेद नहीं होता। स्थायी भावों में न्यूनाधिक्य का मात्रा-भेद देखा जाता है। अतः, स्थायी भाव को ही रस नहीं माना जा सकता।

५. आगे चलकर भरत मुनि ने हास्य रस के ६ भेद किये हैं। स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अवहसित और अतिहसित। ये भेद स्थायी भाव के सम्भव हैं; क्योंकि स्थायी भाव में मात्रा का न्यूनाधिक्य हो सकता है। किन्तु, रस में न्यूनाधिक्य नहीं होने के कारण इसमें भेद सम्भव नहीं है। मुख्य रूप से स्थायी भाव की ही दृष्टि से भरत मुनि ने ये भेद किये हैं।

६. यदि मात्रा-भेद से ही रस के भेद माने जायँ, तो काम-दशा में जो दस अवस्थाएँ बताई गई हैं, उनमें मात्रा के भेद से असंख्य रस-भाव माने जाने लगेंगे। उस दशा में अकेले शृंगार के ही असंख्य भेद हो जायेंगे।

७. भट्टलोल्लट ने स्थायी भाव के उपचय को रस कहा है। किन्तु, शोक आदि स्थायी भावों का उपचय नहीं होता, प्रत्युत काल-क्रम से उसका अपचय या ह्रास ही होता जाता है। सर्वप्रथम जब शोक उपस्थित होता है तो वह तीव्र होता है, परन्तु धीरे-धीरे उसका ह्रास ही होता जाता है। इस प्रकार, उसके उपचय का अवसर आने की सम्भावना ही नहीं होती। फिर शोक के उपचय के विना करुण रस की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

८. इसी प्रकार शृंगार रस के स्थायी भाव रति, रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध और वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का भी यदि परिपोषण नहीं किया जाय, तो उनका उपचय नहीं, प्रत्युत ह्रास ही होता जायगा। किन्तु, रसानुभूति में न वृद्धि होती है और न ह्रास। अतः, उपचित स्थायी भाव को रस मानना ठीक नहीं है।

इस प्रकार श्रीशंकुक ने भट्टलोल्लट तथा दण्डी के मत का तीव्र खण्डन किया है। इन आठ तर्कों में पहले छह तो इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि स्थायी ही रस है—

स्थाय्येव रसः। अन्तिम दो तर्क इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि स्थायी भाव ही उपचित होकर रस बन जाता है—**स्थाय्येव उपचितो रसः।**

श्रीशंकुक के ये आक्षेप कभी पूर्ण रूप से मान्य नहीं रहे। यह सिद्धान्त तो आरम्भ से अन्त तक मान्य रहा कि स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है। भरत का भी यही मत है और परवर्त्ती रसवादियों ने भी इसी मत को स्वीकार किया। विश्वनाथ ने भी यही मत माना :

रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।[1]

इन आचार्यों में स्थायी भाव के केवल अर्थ को लेकर अन्तर था। भरत ने अव्यक्तिगत स्थायी भाव को ग्रहण किया, परन्तु अभिनवगुप्त आदि आचार्यों को सहृदय का स्थायी भाव अभिप्रेत था। किन्तु, भट्टलोल्लट ने स्थायी भाव का एक तीसरा ही अर्थ ग्रहण किया। उनका अभिप्रेत अनुकार्य का स्थायी भाव था, किन्तु वे अनुकार्य के विषय में मूल ऐतिहासिक पात्र तथा कवि-निबद्ध पात्र में अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके। इसी बात में उनके मत की दुर्बलता निहित है और यहीं से उनके सिद्धान्त का खण्डन होने लगता है।

इसी एक दोष से उनके मत में एक दूसरा दोष उत्पन्न हो जाता है। वह दूसरा दोष यह है कि रस की स्थिति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय मानसिक भाव से भिन्न नहीं रह जाती और इसलिए सुख-दुःखात्मक हो जाती है। किन्तु, यह स्थिति मान्य नहीं है। लोल्लट के मत में ये ही दो प्रधान दोष हैं।

निष्कर्ष : भट्टलोल्लट के सिद्धान्तानुसार विभावादि कारण हैं और रस कार्य। रस का वास्तविक आनन्द नायक तथा नायिका को ही मिलता है और प्रेक्षक में रस की प्रतीति-मात्र होती है। उत्पत्तिवाद में रस वाच्य होता है, व्यंग्य नहीं होता। इसीलिए, उत्पत्तिवादी तात्पर्यवादी माने जाते हैं।

ऊपर के विवेचन से निष्कर्ष-रूप में निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं—लोल्लट के सिद्धान्त के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ उपचिति है; क्योंकि स्थायी भाव की उपचित अवस्था को ही रस कहते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के योग से उपचिति नामक मिश्र क्रिया उत्पन्न होती है। (क) विभाव से स्थायी भाव की उद्‌बुद्धि होती है। इसी उद्‌बुद्धि को उत्पत्ति भी कहा गया है, किन्तु इस उत्पत्ति का अर्थ है अरूप को रूप देना। स्थायी भाव चित्त में वासना-रूप में स्थित था, उसकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति नहीं थी और विभावों के ही कारण उसने रसनात्मक रूप प्राप्त किया। अतः, स्थायी भाव और विभाव में उत्पाद्य-उत्पादक भाव होता है। (ख) अनुभावों से उस स्थायी भाव की प्रतीति होती है। अतः, दोनों में संयोग का अर्थ है अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध। (ग) व्यभिचारी भावों से स्थायी भावों की पुष्टि होती है। अतः, स्थायी भावों और संचारी भावों में पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। इस प्रकार उपचिति की प्रक्रिया में आरम्भ में

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० १

तीन क्रियाओं का योग रहता है। वे क्रियाएँ हैं—उद्बुद्धि या उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि। अन्त में ये तीनों क्रियाएँ मिलकर उपचिति की प्रक्रिया पूर्ण करती हैं।

वस्तुतः, भरत मुनि के समक्ष षाडवादि रस बनाने की प्रक्रिया रही है और भरत के अत्यन्त निकट रहने कारण लोल्लट के समक्ष यही क्रिया रही है। जिस प्रकार निमित्त कारण से निकला पदार्थ-विशेष कुछ अन्य द्रव्य तथा औषधियों के योग से षाडवादि रस के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विभावों से निकला स्थायी भाव, अनुभावों और संचारी भावों के संयोग से नाट्य रस में परिणत हो जाता है। यहाँ निष्पत्ति शब्द का अर्थ हुआ—बनना या निर्मिति। स्थायी भाव विभावादि के द्वारा उपचित होकर नवीन रूप धारण कर लेता है, इसीलिए 'उत्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ रस के रूप में किसी अभूत पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती।

संयोग शब्द का अर्थ निश्चित करने में अधिक कठिनाई नहीं है। संयोग का सरल अर्थ है विभावादि के साथ स्थायी भाव का संयोग। ये विभावादि स्थायी भाव का उपचय करके रस रूप में परिणत कर देते हैं, इसलिए विभावादि उपचायक हैं और स्थायी भाव उपचेय। अर्थात् स्थायी भाव और विभावादि में उपचेय-उपचायक सम्बन्ध है। इस दृष्टि से संयोग का अर्थ हुआ उपचेय-उपचायक सम्बन्ध। ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि उपचय एक संयुक्त प्रक्रिया है, जिसमें उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि—तीन विभिन्न क्रियाओं का मेल रहता है। ऊपर यह भी लिखा जा चुका है कि विभावों से स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है, अतः दोनों में उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है; अनुभावों से उसकी प्रतीति होती है, अतः अनुभावों से उसका सम्बन्ध अनुमाप्य-अनुमापक या गम्य-गमक सम्बन्ध है; संचारी भावों से उसकी पुष्टि होती है, अतः संचारी भावों से उसका पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उत्पाद्य-उत्पादक, अनुमाप्य-अनुमापक (गम्य-गमक) और पोष्य-पोषक सम्बन्धों का समन्वय है उपचेय-उपचायक सम्बन्ध।

अतः, डॉ० नगेन्द्र ने सूत्र बनाया—"संयोग = उपचेय-उपचायक सम्बन्ध = उत्पाद्य-उत्पादक + गम्य-गमक + पोष्य-पोषक सम्बन्ध।

(ख) श्रीशंकुक का अनुमितिवाद : भरत मुनि के रससूत्र के दूसरे महत्त्वपूर्ण व्याख्याता श्रीशंकुक हैं। इनका भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में इनके मत का उल्लेख किया है और इनका उद्धरण भी दिया है।[1] उन्होंने ध्वन्यालोक-लोचन में भी श्रीशंकुक के मत का उल्लेख उनका नाम दिये विना ही किया है।[2] मम्मट ने काव्यप्रकाश में एक उद्धरण दिया है।[3] हेमचन्द्र और प्रदीपकार ने अपने रस-विवेचन में शंकुक का जो मत उद्धृत किया, वह भी इन्हीं पर आधृत है।

---

१. हिन्दी-अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४४६—४५०
२. ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीय उद्योत, पृ० १९६ (टीका : आचार्य जगन्नाथ पाठक)
३. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४३ के बाद गद्य।

शंकुक के मत का स्पष्टीकरण : इन उद्धरणों के आधार पर शंकुक के सिद्धान्त के विषय में निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :

१. अनुकार्य में स्थित स्थायी भाव का नट द्वारा अनुकृत रूप रस कहा जाता है। शंकुक के मत से स्थायी भाव वस्तुतः अनुकार्य रामादि में स्थित रहता है। नट अपने कौशल से उसका अनुकरण करता है और ऐसा जान पड़ता है कि वह भी स्थायी भाव का अनुभव कर रहा है। स्थायी भाव का यह अभिनयात्मक अनुकरण ही रस है।

२. नाट्य में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव विद्यमान रहते हैं, परन्तु स्थायी भाव नाट्य में उपस्थित नहीं रहता। शब्द आदि के द्वारा स्थायी भाव का केवल बोध हो सकता है, प्रतीति नहीं हो सकती। उसका उपस्थापन तो अभिनय के ही द्वारा सम्भव है। इसलिए, प्रेक्षक विभावादि से नट द्वारा अनुक्रियमाण रामादि के स्थायी भाव का अनुमान करता है।

३. नट द्वारा अनुकरण की प्रक्रिया निम्नलिखित है :

(क) अनुकर्त्ता विभाव का अनुकरण काव्य के आधार पर करता है—अर्थात् कवि ने नाटक में विभाव का जैसा चित्रण किया है, अनुकर्त्ता उसी के अनुरूप आचरण करता है।

(ख) अनुकर्त्ता अनुभावों का अनुकरण अभिनय-कला की शिक्षा और अभ्यास से करता है।

(ग) अनुकर्त्ता संचारी भावों का अनुकरण अपने कृत्रिम अनुभावों के आधार पर करता है। वह लौकिक व्यवहार में चिन्ता, हर्ष आदि भावों में मनुष्य की जैसी मुद्राएँ देखता है, वैसी ही मुद्राएँ वह कृत्रिम रूप में बनाकर हर्ष, चिन्ता आदि भावों को अभिनय के द्वारा प्रकट करता है, यद्यपि उसे इन भावों का वास्तविक अनुभव नहीं होता।

इस प्रकार, अनुकर्त्ता विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का अभिनय ऐसी निपुणता से करता है कि वे वास्तविक लगते हैं, यद्यपि वे सर्वथा कृत्रिम होते हैं।

इस विवेचन का महत्त्व अभिनय-कला की दृष्टि से तो है ही, परन्तु इससे भी बड़ा महत्त्व यह है कि अनुकार्य के वास्तविक स्वरूप का सम्भवतः सर्वप्रथम निर्धारण इसी में हुआ। यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकार्य वस्तुतः ऐतिहासिक राम आदि नहीं, प्रत्युत कवि-कल्पित राम आदि हैं। मूलरूप से अनुकार्य तो ऐतिहासिक रामादि ही हैं, परन्तु वे केवल कवि के ही अनुकार्य हैं, नट के अनुकार्य तो कवि-निबद्ध रामादि ही हो सकते हैं।

४. इस स्थल पर प्रश्न हो सकता है कि जब नटगत स्थायी भाव अवास्तविक है, तो सामाजिक जो उनका अनुमान करता है, वह भी तो मिथ्याज्ञान ही हुआ और इस

मिथ्याज्ञान पर सामाजिक का रसास्वादन वास्तविक कैसे माना जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है :

(क) नट में राम की जो प्रतीति होती है, वह केवल भ्रान्ति नहीं है; क्योंकि रंगमंच पर जब प्रेक्षक नट को राम की भूमिका में देखता है, तब वह न सन्देह का अनुभव करता है, न यथार्थता का और न भ्रान्ति का ही। ऐसा ही भान होता है कि वह नट राम है और ऐसा भी लगता है कि वह राम नहीं है। ऐसी परिस्थिति में नट में राम की प्रतीति एक विलक्षण प्रतीति है, जो सन्देह, यथार्थ ज्ञान, भ्रान्ति किसी भी वास्तविक ज्ञान के अनुकूल नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य की प्रतीति एक विशेष कला-जन्य प्रतीति है, जिसे न तो शुद्ध भ्रान्ति ही मान सकते हैं और न मिथ्या ज्ञान ही।

(ख) कला की इसी विलक्षण प्रतीति को श्रीशंकुक ने चित्रतुरगन्याय के सहारे प्रकट किया है। नट में राम की जो प्रतीति होती है, उसे सम्यक् अथवा यथार्थ नहीं कह सकते; क्योंकि नट यथार्थ में राम नहीं है, इसे मिथ्या ज्ञान भी नहीं कह सकते; क्योंकि नट पर राम का जो आरोप किया गया है, वह उसी प्रकार मिथ्या नहीं है, जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम होता है। यह संशय ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता, अर्थात् नाटक का अभिनय देखते समय प्रेक्षक के मन में यह संशय कभी नहीं उठता कि सामने रंगमंच पर नट है या राम; क्योंकि संशय-ग्रस्त मन कला का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। फिर यह ज्ञान सादृश्य-ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता, अर्थात् सामाजिक के मन में यह भाव नहीं उठता कि सामने रंगमंच पर है तो नट ही, परन्तु वह राम के सदृश है। अतः यह प्रतीति सामान्य नहीं, विलक्षण है। यह उसी प्रकार की प्रतीति है जैसी प्रतीति चित्र में बनाये घोड़े की होती है। यह कला की प्रतीति है, जो सभी साधारण प्रतीति-भेदों से भिन्न प्रकार की होती है।

इस प्रकार श्रीशंकुक ने भी अपनी रीति से कलानुभूति की विलक्षणता का ही प्रतिपादन किया है। यद्यपि यह सर्वसम्मत नहीं है, फिर भी संसार के अनेक प्राचीन तथा नवीन काव्यशास्त्रियों ने इसे सौन्दर्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त माना है।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि काव्य, रंग, कौशल, अभिनय-कला आदि के सहारे नट-नटी जब राम-सीता आदि के रूप, व्यवहार आदि—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव—का अभिनय करते हुए उनके प्रेम या रति स्थायी भाव का अभिनय करने में सफलीभूत हो जाते हैं, तो रस की निष्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार, रस-निष्पत्ति का तात्पर्य हुआ—काव्य, रंग, कौशल आदि के सहारे अनुकर्त्ता या नट द्वारा स्थायी भाव की अनुकृति। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नट द्वारा स्थायी भाव का अभिनय ही रस-निष्पत्ति है। स्पष्ट है कि शंकुक के मत से रस का आधार नट या अनुकर्त्ता है। रस भाव पर आधृत एक कलात्मक स्थिति है, जिसमें अभिनय-तत्त्व की प्रधानता है। इस विचार से यह मत भी भरत-सम्मत अर्थ के निकट है; क्योंकि इसमें भी रस को अनुभूति-

रूप नहीं, स्थिति-रूप ही माना गया है। भरत-सम्मत अर्थ और शंकुक के मत में अन्तर इतना ही है कि भरत ने काव्य और नाट्य—दोनों पर समान रूप से बल दिया है, परन्तु शंकुक की दृष्टि में अभिनय-तत्त्व प्रधान है। भट्टलोल्लट से शंकुक के मत में भेद यह है कि शंकुक जहाँ रस को स्थिति-रूप मानते हैं, वहाँ लोल्लट अनुभूति-रूप मानते हैं, यद्यपि यह अनुभूति सहृदय प्रेक्षक की नहीं, अनुकार्य अर्थात् मूल पात्र की ही है।

सामाजिक से रस का क्या सम्बन्ध है? श्रीशंकुक के मतानुसार रंगमंच पर प्रदर्शित विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के द्वारा प्रेक्षक या सामाजिक, इस रस का अनुमान करता है। 'अभिनवभारती' में उद्धृत श्रीशंकुक के मन्तव्य में इतना ही कहा गया है, परन्तु इससे यह अर्थ निकल ही जाता है कि इस प्रकार के अनुमान से प्रेक्षक को एक चमत्कार मिलता है, नहीं तो वह नाट्याभिनय देखने क्यों जायगा? मम्मट ने प्रेक्षक की स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है कि प्रेक्षक एक ओर वस्तु-सौन्दर्य और दूसरी ओर अपने हृदय में स्थित वासना के बल से इस रस का चर्वण करता है। मम्मट ने परवर्त्ती मान्यताओं के बल पर वासना को कारण-रूप में अन्तर्हित कर लिया है।

प्रेक्षक विभावादि के द्वारा रस का अनुमान करता है, अतः उसकी दृष्टि में रस की अनुमिति होती है। इस प्रकार, 'निष्पत्ति' का अर्थ हो जाता है, 'अनुमिति' और 'संयोग' का अर्थ हो जाता है, गम्य-गमक भाव। निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि श्रीशंकुक की रस-व्याख्या में नट की स्थिति प्रमुख होने के कारण निष्पत्ति का प्रधान अर्थ अनुकृति ही है। अनुमिति प्रधान अर्थ नहीं, वरन् गौण एवं आक्षिप्त अर्थ है।

शंकुक के सिद्धान्त की विशेषताएँ: श्रीशंकुक के सिद्धान्त अनुकृतिवाद या अनुमितिवाद की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में प्रकट कर सकते हैं:

१. भट्टलोल्लट ने रस को अनुकार्य रामादि की प्रत्यक्ष अनुभूति माना, फलतः नाट्यगत भाव और प्रत्यक्ष भाव में भ्रान्ति पैदा हो गई। शंकुक ने अपने सिद्धान्त के द्वारा इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से बता दिया कि रस नाट्यगत भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं है, प्रत्युत उसका अनुकरण अथवा कल्पनात्मक अनुभूति है। रस के स्वरूप-विश्लेषण में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

२. शंकुक ने ही अनुकार्य के वास्तविक रूप का स्पष्टीकरण किया। भट्टलोल्लट ने अनुकार्य के विषय में मूल ऐतिहासिक पात्र और कवि-निबद्ध पात्र में एक प्रकार का भ्रम उत्पन्न कर दिया था। इस भ्रम का निराकरण करके शंकुक ने स्पष्ट कर दिया कि नाट्य में अनुकार्य का अर्थ कवि-निबद्ध पात्र ही है, मूल पात्र नहीं।

३. शंकुक ने इस सिद्धान्त की भी स्थापना की कि सामान्य प्रतीति से कला-प्रतीति विलक्षण होती है। इससे उनकी सूक्ष्म चिन्तन-शक्ति का परिचय मिलता है। कलाशास्त्र का यह सिद्धान्त विवादास्पद है, फिर भी बहुत प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण है और इस युग में भी इस सिद्धान्त के समर्थकों की संख्या पर्याप्त है।

४. रस की घटना का जहाँतक सम्बन्ध है, शंकुक का प्रेक्षक लोल्लट के प्रेक्षक की तुलना में अधिक क्रियाशील है। शंकुक का प्रेक्षक नाट्य में उपस्थित विभावादि की सहायता से नट द्वारा अनुक्रियमाण स्थायी भाव-रस का अनुमान करता है। लोल्लट ने प्रेक्षक के विषय में कुछ नहीं कहा। लोल्लट द्वारा प्रक्षक की यह उपेक्षा खटकती है; क्योंकि नाट्य का सम्पूर्ण विधान प्रेक्षक के ही निमित्त होता है। शंकुक ने यह तथ्य समझा है और प्रेक्षक का पक्ष ग्रहण करके रस के प्रसंग में उसे उचित मान्यता दी है। इस प्रकार, रस की व्यक्तिपरक धारणा के विकास में शंकुक का विशेष योगदान है।

५. शंकुक ने ही सबसे पहले रस-विवेचन को एक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनके बाद रस के स्वरूप-विश्लेषण में दार्शनिक चिन्तन का निश्चित प्रवेश हो गया। इससे विचार का स्तर ऊँचा हुआ।

इस सिद्धान्त की त्रुटियाँ : श्रीशंकुक के सिद्धान्त का विवेचन करने पर हमें स्पष्टतया विदित हो जाता है कि उसकी विशेषताओं की अपेक्षा त्रुटियाँ ही अधिक प्रबल हैं। अभिनवगुप्त ने उनके अनुकरणवाद की त्रुटियों का विवेचन पाण्डित्यपूर्ण रीति से किया है। शंकुक के अनुकरणवाद के दोष नीचे दिखाये जा रहे हैं :

१. अनुकरणवाद पर किये गये आक्षेपों के मूल में 'अनुकरण' शब्द की असमर्थता है। शंकुक का अभीष्ट अर्थ यह है कि नट रामादि के कृत्यों का अनुकरण करता हुआ कल्पना के सहारे उनसे तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करता है, फिर उनके रति आदि स्थायी भाव की भी कल्पनात्मक अनुभूति कर लेता है। यह कल्पनात्मक अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती, एक प्रकार की कृत्रिम अनुभूति है। 'अनुकरण' तथा 'कृत्रिम' शब्दों के असमर्थ रहने के कारण बात और भी उलझ गई है।

२. इस सिद्धान्त का दूसरा दोष है—रस के अनुमान की कल्पना। अनुमान वस्तुतः बुद्धि की क्रिया है, जिसका परोक्ष होना अवश्यम्भावी है—प्रत्यक्ष तथा अस्वादात्मक होना सम्भव नहीं। शंकुक अपने सिद्धान्त की इस दुर्बलता से सम्भवतः अभिज्ञ थे, इसीलिए उन्होंने इसे सामान्य अनुमान से विलक्षण माना है। रस के अनुमान की कल्पना वस्तुतः भ्रान्त है और इसके कारण अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं। भाव का अनुमान हो सकता है, परन्तु वह परोक्ष-रूप ही रहता है, अनुभूति-रूप नहीं। इसके प्रतिकूल रस का आस्वाद साक्षात् और अनुभूति-रूप होता है। इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि रस के अनुमान की कल्पना अनुभव से असिद्ध है।

३. शंकुक के सिद्धान्त का तीसरा दोष यह है कि रस में अभिनय-तत्त्व की प्रधानता हो जाती है और काव्य-तत्त्व गौण हो जाता है। यह भारतीय चिन्तनधारा के प्रतिकूल पड़ जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अभिनय की अपेक्षा काव्य अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। शंकुक ने रस को नट के द्वारा अनुकरण और काव्य को नट-कौशल का सहायक माना, जिससे परम्परागत क्रम उलट गया है।

(ग) सांख्यवादी व्याख्याकार : श्रीशंकुक के मत का खण्डन करने के पश्चात् अभिनवगुप्त ने किसी सांख्यवादी के मत का खण्डन किया है, परन्तु उस सांख्यवादी के नाम का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने अभिनवभारती में उस व्याख्याकार के सिद्धान्त का उद्धरण दिया है।

समीक्षा : सांख्यवादी व्याख्याकार के इस मत में दोष इस स्पष्टता से प्रकट है कि अभिनवगुप्त ने उनका खण्डन करना भी आवश्यक नहीं समझा। रस के वस्तुपरक विवेचन का स्थूलतम रूप यहाँ दिखाई देता है। इस सिद्धान्त में रस रंगमंच पर उपस्थित बाह्य अभिनय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भाव-तत्त्व का नितान्त अभाव ही है और संचारी भाव भी अभिनय के द्वारा दृश्यरूप हो जाते हैं। भरत ने भी वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाया है, परन्तु उन्होंने रस को अनिवार्य रूप से स्थायी भाव पर आधृत किया है। व्याख्याकार का यह मत भरत के मत के प्रतिकूल होने के अतिरिक्त विवेक-बल से भी रहित है। इस मत के अनुसार प्रेक्षक सुन्दर नाट्याभिनय देखकर अपनी प्रकृति के अनुरूप सुख, दुःख अथवा मोह का अनुभव करता है। स्पष्टतः, प्रत्यक्ष जीवन के अनुभव और कला की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं रह जाता। कलात्मक अनुभूति विशुद्ध रूप से ऐन्द्रिय अनुभूति बनकर रह जाती है।

(घ) भट्टनायक का भुक्तिवाद : भरत मुनि के प्रसिद्ध रससूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याता भट्टनायक हैं। यद्यपि अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भुक्तिवाद का खण्डन ही किया है, फिर भी उन्होंने इनके मत का विवेचन अभिनवभारती[1] और ध्वन्यालोक-लोचन[2] में अधिक विस्तार और साथ ही सम्मान से किया है।

इससे अधिक उपयोगी मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में दिया गया उद्धरण है। वह अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी भट्टनायक का मत स्पष्ट करने में बहुत सहायक है।[3] अभिनवभारती और काव्यप्रकाश के उद्धरणों में दो स्थलों पर अन्तर है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

भट्टनायक के सिद्धान्त का सारांश : भट्टनायक के रस-सिद्धान्त के दो पक्ष हैं : निषेध-पक्ष और विधि-पक्ष।

निषेध-पक्ष : निषेध-पक्ष में भट्टनायक ने रस की प्रतीति, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति का खण्डन किया है। प्रतीति तथा उत्पत्ति का सम्बन्ध भट्टलोल्लट के मत से है और दोनों का तात्पर्य प्रायः एक ही है। अभिव्यक्तिवाद का सम्बन्ध आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त तथा व्यंजना-सिद्धान्त से है। भट्टनायक इन दोनों सिद्धान्तों को बिल्कुल नहीं मानते।

---

१. हिन्दी-अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), अध्याय ६, पृ० ४६२–४६५

२. ध्वन्यालोकलोचन (टीका०—आचार्य जगन्नाथ पाठक), उद्योत, पृ० २९०–२९३

३. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४३ के बाद गद्य

१. पहले भट्टनायक ने प्रतीति पर विचार किया और फिर उसकी प्रक्रिया का निरूपण अपने अनुसार किया। प्रतीति के विषय में पहला प्रश्न यह है कि वह परगत होती है या स्वगत, अर्थात् सहृदय को रस का बोध अनुकार्य राम या अनुकर्त्ता नट में होता है या स्वयं अपने में। भट्टनायक के मत में दोनों में से किसी को भी स्वीकार करना उचित नहीं। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

(क) यदि रस को परगत अर्थात् अनुकार्य राम या अनुकर्त्ता नट में मानते हैं तो सहृदय एक तटस्थ व्यक्ति बन जाता है, उसे रस से क्या वास्ता? उसे क्या पड़ी है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति के रस में आनन्द का अनुभव करे?

(ख) यदि रस स्वगत है अर्थात् यह माना जाय कि सहृदय को स्वयं ही रस की प्रतीति होती है, तो इसमें कई बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। प्रतीति या तो प्रत्यक्ष हो सकती है या परोक्ष। यदि रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मानी जाय, तो करुण रस में नायक-नायिका के शोक से सामाजिक को भी शोक का अनुभव होने लगेगा। दूसरी ओर, शृंगार रस में अन्य व्यक्तियों की प्रेम-क्रीड़ा देखकर सहृदय के चित्त में लज्जा, जुगुप्सा आदि का उदय होगा; जिससे चित्त की तन्मयता समाप्त हो जायगी; फलस्वरूप रसानुभूति में बाधा पड़ेगी। किन्तु, वास्तव में प्रेक्षक के हृदय में न शोक उत्पन्न होता है और न लज्जा, जुगुप्सा आदि। इसका कारण यह है कि प्रेक्षक ने वास्तविक राम-सीता को कभी देखा नहीं है, जिन्होंने दुःख या सम्भोग-सुख का अनुभव किया था। राम-सीता के कलात्मक रूप ही रस के विभाव हो सकते हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता, जिसमें दुःख से दुःख तथा रतिक्रीड़ा से लज्जा, जुगुप्सा आदि की उत्पत्ति होती है। राम और सीता तो रस के विभाव नहीं हैं, और रस जब उत्पन्न होगा तो विभाव से ही। जब कारण ही वास्तविक नहीं है तो फिर कार्य वास्तविक कैसे हो सकता है?

कोई यह उत्तर दे सकता है कि ऐसी अवस्था में प्रेक्षक को अपनी प्रिया की स्मृति हो सकती है और इस दशा में स्वगत रस की उत्पत्ति सम्भव है। परन्तु, यह उत्तर भी संगत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसी स्थिति में भी चित्त की तन्मयता समाप्त हो जायगी, जो रसोत्पत्ति के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त काव्य के विभाव सीता, पार्वती आदि में सहृदय की पूज्य बुद्धि है। उनमें सामान्य कान्तात्व का आरोप नहीं किया जा सकता, जिससे सहज ही रतिभाव का उद्बोध हो जाय। दूसरे, यह भी नहीं होता कि प्रेक्षक तत्काल अपनी पत्नी का स्मरण करने लग जाय। फिर राम द्वारा समुद्र-बन्धन और हनुमान द्वारा समुद्र-लंघन जैसे अलौकिक कार्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है? इन असाधारण कार्यों की प्रतीति सहृदय प्रेक्षक को कैसे हो सकती है; क्योंकि अलौकिक पात्रों का तो साधारणीकरण ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार, साधारणीकरण के सम्भव नहीं होने के कारण स्वगत रूप से भी रस की प्रतीति सिद्ध नहीं होती।

(ग) परोक्ष प्रतीति के भी दो रूप होते हैं : १. शब्दार्थ ज्ञान और २. स्मृति। इनमें शब्दार्थ ज्ञान से तो साक्षात्कारात्मक अनुभूति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है,

क्योंकि अर्थ के ज्ञान-मात्र में आस्वाद कभी नहीं हो सकता। यदि काव्य-रूप शब्द से ही प्रतीति मानें, तब तो लोक में प्रत्यक्ष नायक-नायिका को देखकर ही द्रष्टा को रस उत्पन्न हो जाना चाहिए। स्मृति की कल्पना भी अर्थयुक्त नहीं है; क्योंकि हमें उसी का स्मरण होता है, जिसे हमने प्रत्यक्ष रूप से देखा है या जिसका अनुभव किया है। यदि राम के उत्साह के स्मरण को साधारणीकरण में सहायक मानते हैं तब भी पूर्व अनुभव नहीं रहने के कारण स्मरण भी नहीं बनता है। रावण के बन्दी-गृह में शोकमग्न सीता को या सीता के विरह में दु:खी राम को हमने नहीं देखा है, इसलिए उनका स्मरण करना हमारे लिए असम्भव है। इस प्रकार, रस की परोक्ष प्रतीति भी सिद्ध नहीं होती।

२. सामाजिकों में रस की उत्पत्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध भी उपर्युक्त सभी तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं। उत्पत्ति मानने में एक और कठिनाई यह है कि करुण रस के उत्पन्न होने पर दु:खी हो जाने के कारण सामाजिक किसी प्रकार पुन: करुण रस की प्रेक्षा में प्रवृत्त नहीं होंगे। इन कारणों से सहृदय में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

३. रस की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त के विरोध में भी पहले तो परगतत्व और स्वगतत्व का ही प्रश्न उठ खड़ा होता है। यदि पूर्व स्थित रस की अभिव्यक्ति परगत अर्थात् अनुकार्य रामादि या अनुकर्त्ता नट में मानी जाय, तो फिर वही प्रश्न होगा कि इससे सहृदय प्रेक्षक को क्या? यदि रस की अभिव्यक्ति स्वगत अर्थात् प्रेक्षक के चित्त में मानी जाय, तो विभावादि अभिव्यंजक कारणों के न्यूनाधिक्य से रसों की अभिव्यक्ति में भी न्यूनाधिक्य की कल्पना करनी होगी। जो शृंगार वासना के रूप में सहृदय के चित्त में विद्यमान रहता है, उसकी अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर कान्ता आदि विभावों के तारतम्य की स्थिति में अभिव्यक्ति में भी तारतम्य होगा। जिस प्रकार, अभिव्यंजक दीपक अन्धकार में पड़ी वस्तु की अभिव्यक्ति अधिक-से-अधिक तभी कर सकता है, जब उससे अधिक-से-अधिक प्रखर आलोक विकीर्ण होगा, उसी प्रकार काव्य में भी अभिव्यंजक विभावादि की शक्ति के न्यूनाधिक्य से रस की अभिव्यक्ति में भी न्यूनाधिक्य सिद्ध हो जायगा। किन्तु, यह बात रस की अखण्डता में बाधक होने के कारण अमान्य है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार, भट्टनायक काव्य से रस के प्रतीत, उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होने के सिद्धान्तों का खण्डन करके अपने मत की स्थापना करते हैं।

विधिपक्ष : भट्टनायक के मतानुसार रस की भुक्ति होती है। चूँकि काव्यात्मक शब्द अन्य शब्दों से विलक्षण होते हैं, इसलिए उन्होंने शब्द के तीन व्यापार—अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व—माने हैं। इनमें प्रथम अर्थ-विषयक व्यापार है, द्वितीय रस-विषयक तथा तृतीय सहृदय-विषयक व्यापार हैं। इसी को दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सहृदय को रस-अवस्था तक पहुँचने के लिए तीन मानसिक अवस्थाओं को पार करना पड़ता है।

१. 'अभिधा' शब्द का सामान्य एवं प्रथम व्यापार है, जिससे काव्य के शब्द का अर्थ जाना जाता है। यह काव्य, शास्त्रादि सभी में एक ही रीति से व्याप्त रहता है। इस व्यापार की क्रिया से प्रेक्षक या पाठक शब्दों का साहित्यिक अभिप्राय और महत्त्व समझता है। अभिधा-शक्ति विभावादि के साधारणीकरण-रूप में कार्य करती है। अभिधा का यह रूप अत्यन्त प्रसिद्ध है, अतः भट्टनायक ने इसका कोई विस्तृत विवेचन नहीं किया। स्मरणीय है कि भट्टनायक ने अपनी अभिधा-शक्ति के अन्तर्गत लक्षणा को भी सम्मिलित कर लिया है : '**अभिधाधामता याते शब्दार्थालङ्कृतो ततः।**'[1]

२. दूसरा व्यापार भावकत्व है। केवल काव्य तथा नाटक में ही इसकी सत्ता मिलती है। काव्य में दोषाभाव तथा गुण एवं अलंकार की स्थिति और नाटक में चार प्रकार के अभिनय के कारण शास्त्रादि से भिन्न रीति के समार्थ्य उत्पन्न हो जाते हैं। शास्त्रादि में शब्द में अभिधा-शक्ति से केवल अर्थ का ज्ञान होता है, परन्तु काव्य में भावकत्व-व्यापार के कारण अनेक अन्य प्रकार की विशेषताएँ समाविष्ट हो जाती हैं; उदाहरणार्थ—

(क) सहृदय के चित्त से व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावना तिरोहित हो जाती है। उस समय उसके चित्त में अपने-पराये की भावना नहीं रहती। यही अपने-पराये की भावना आनन्दानुभूति में प्रमुख बाधा है। किन्तु, काव्य में भावकत्व के कारण सामाजिक अथवा पाठक कुछ समय के लिए अपनी भौतिकता तथा वैयक्तिकता को भूलकर निर्वैयक्तिक अवस्था में पहुँच जाता है। इसलिए, वह अपने सम्बन्ध से परे काव्यगत पात्रों, अवस्थाओं, परिस्थितियों तथा वर्णनों को देखकर या पढ़कर तन्मय हो जाता है। इसी तन्मयता की अवस्था में आत्मविस्तार होता है, जिससे अन्त में साधारणीकरण हो जाता है।

(ख) विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। यह साधारणीकरण भावकत्व-व्यापार का मूल गुण है।

(ग) इस व्यापार की तीसरी विशेषता है कि रस भावित हो जाता है अर्थात् स्थायी भाव भावित होकर रस में परिवर्त्तित हो जाता है। यही रस की निष्पत्ति है। इस स्थल पर निष्पत्ति का अर्थ है स्थायी भाव का भावित हो जाना। यहाँ 'भावित' शब्द के अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश की कई टीकाओं के आधार पर 'भावित' का अर्थ किया है 'साधारणीकृत'। परन्तु, डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त के अनुसार भट्टनायक का अभिप्राय साधारणीकरण नहीं, अपितु 'भावन' है। डॉ० नगेन्द्र ने 'भावन' शब्द की व्याख्या करके बताया है कि इसका अर्थ है 'कल्पनात्मक प्रतीति' और स्थायी भाव की कल्पनात्मक प्रतीति तथा साधारणीकरण में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि भावकत्व-व्यापार का कारण है—शब्दार्थ के दोष का अभाव तथा गुणालंकार की स्थिति या विद्यमानता, जिसे आधुनिक शब्दावली में कल्पना-

---

१. **हृदयदर्पण (समीक्षा-दर्शन में श्रीरामलाल सिंह द्वारा उद्धृत)**

तत्त्व का समावेश कह सकते हैं। भावकत्व-व्यापार का कार्य है काव्य-सामग्री का साधारणीकरण, जिसके परिणाम-स्वरूप सहृदय के चित्त की व्यक्तिगत संसर्गों से मुक्ति हो जाती है; दूसरे शब्दों में कहा जाय कि चित्त का विस्तार हो जाता है। अन्त में, इन दोनों क्रियाओं से सहृदय का स्थायी भाव, भावित होकर रस में परिणत हो जाता है।

३. तीसरा व्यापार भोजकत्व है। भावकत्व द्वारा सिद्ध रस का भोग सहृदय इसी भोजकत्व-व्यापार द्वारा करता है। यह भोग प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—अनुभव तथा स्मृति से विलक्षण प्रकार का अनुभव है। भोग-व्यापार की प्रक्रिया में सहृदय के रजस् तथा तमस् गुण दब जाते हैं और सत्त्व गुण का प्राधान्य हो जाता है। मम्मट ने कहा है : **येन रजस्तमसोस्तिरस्कार: आनन्दाकारावृत्ति: विषयान्तरतिरस्कारश्च स व्यापारो भोजकत्वमिति बोध्यम्।**[1] इस समय सहृदय का चित्त सत्त्व का उद्रेक होने के कारण चैतन्य के प्रकाश से परिपूर्ण और आनन्दमग्न रहता है, तो भी रजस् तथा तमस् के सम्मिश्रण की विचित्रता के प्रभाव से चित्त में द्रुति, विस्तार एवं विकास की भी स्थिति वर्त्तमान रहती है। इस स्थिति में संविद् (संकल्प) की विश्रान्ति के कारण आत्म-साक्षात्कार की अवस्था रहती है। यह भोग परब्रह्म के आस्वाद के समान विलक्षण होता है। ब्रह्मास्वाद के समान ही होता है, तद्रूप नहीं होता; क्योंकि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का भी थोड़ा मिश्रण रहता है। रसानन्द अपनी निर्वैयक्तिकता, सत्त्वोद्रेकता, चिन्मयता, वेद्यान्तर स्पर्श-शून्यता तथा संविद् विश्रान्ति नाम की विशेषताओं के कारण ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है।

रस आस्वाद-रूप नहीं होता, प्रत्युत भोज्य अथवा आस्वाद्य होता है। सहृदय के चित्त में स्थित स्थायी भाव ही कल्पना का विषय बनकर—भावित बनकर—रसरूप में परिणत हो जाता है। तब सहृदय उसका भोग अथवा आनन्दमय आस्वादन करता है। रस सहृदय के स्थायी भाव की ही कल्पनात्मक प्रतीति है, फिर भी वह आनन्दमयी चेतना का रूप नहीं होकर केवल उसका विषय है। इस प्रकार, भट्टनायक की रस-कल्पना में भी वस्तु-तत्त्व या विषय-तत्त्व असन्दिग्ध रूप से वर्त्तमान है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायक का दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों—भरत, लोल्लट तथा शंकुक—की अपेक्षा अधिक आत्मपरक या व्यक्तिपरक है, फिर भी अभिनवगुप्त की अपेक्षा वस्तुपरक है।

इस विवेचन के आधार पर निष्पत्ति का अर्थ हुआ भावित होना। रस की निष्पत्ति का अर्थ हुआ विभावादि के साथ संयोग होने से स्थायी भाव भावित होकर रसरूप में परिवर्त्तित हो जाता है। विभावादि भावक हैं, अर्थात् भावन-क्रिया के कारण-स्वरूप हैं। स्थायी भाव भाव्य हैं। इस प्रकार, संयोग का अर्थ हुआ भावक-भाव्य-सम्बन्ध। परम्परा से संयोग का अर्थ भोजक-भोज्य-सम्बन्ध माना जाता रहा है, परन्तु इस विवेचन से भोजक-

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास

भोज्य-सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार रस की निष्पत्ति स्थायी भाव के भावित होने में ही है। रस के सिद्ध या निष्पन्न हो जाने के बाद ही सहृदय के द्वारा इसकी भुक्ति होती है।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रस का स्थान सहृदय का चित्त ही है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि भट्टनायक शब्दार्थ में ही रस की स्थिति मानते हैं, परन्तु अभिनवभारती में उद्धृत भट्टनायक के सिद्धान्त के विश्लेषण तथा अभिनवगुप्त द्वारा उसके खण्डन से इस धारणा की निस्सारता सिद्ध हो जाती है। अभिनवभारती में भट्टनायक का जो मन्तव्य उद्धृत किया गया है, उसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भावकत्व और भोजकत्व शब्दार्थ के व्यापार हैं। भावकत्व से दो कार्य होते हैं : १. विभावादि का साधारणीकरण, २. सहृदय के चित्त का व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होकर विशद होना। इन दोनों कार्यों के फलस्वरूप स्थायी भाव भावित होकर रसरूप धारण करता है। इस विश्लेषण से हमें दो परिणाम प्राप्त होते हैं : १. शब्दार्थ भोग का विषय नहीं है वरन् वह केवल हेतु ही हो सकता है; क्योंकि शब्दार्थ के भावकत्व तथा भोजकत्व-व्यापार रस का भावन तथा भोग करनेवाले हैं। २. भोग का विषय रस है और रस भावित स्थायी भाव ही है; क्योंकि भट्टनायक के मतानुसार स्थायी भाव ही भावित होकर रसरूप में परिणत हो जाता है। इसलिए, अन्त में स्थायी भाव ही भोग का विषय है। स्थायी भाव की सत्ता शब्दार्थ में मानना भ्रम है; क्योंकि शब्दार्थ तो आधार नहीं हो सकता, केवल माध्यम या प्रतीक हो सकता है। स्थायी भाव की सत्ता व्यक्ति में ही सम्भव है। ऐसी अवस्था में रस का आधार शब्दार्थ या काव्य को नहीं माना जा सकता। काव्य में रस की स्थिति केवल उपचार के लिए है।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि भट्टनायक स्थायी भाव का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं? आखिर यह किसका स्थायी भाव है? हम पहले देख चुके हैं कि भरत का अभिप्रेत स्थायी भाव लोक का स्थायी भाव है, भट्टलोल्लट का अभिप्राय अनुकार्य के स्थायी भाव से है और श्रीशंकुक का स्थायी भाव मूलतः अनुकार्यगत तथा प्रत्यक्ष रूप से नटगत स्थायी भाव है। इन तीन पूर्ववर्त्ती नाट्याचार्यों ने स्थायी भाव को तीन विभिन्न अर्थों में ग्रहण किया है। परन्तु, ये तीनों रूप सहृदय की दृष्टि से विषयगत ही हैं। भट्टनायक ने भी स्थायी भाव के भोग की चर्चा की है, परन्तु उनका स्थायी भाव विषयगत नहीं है। उनके अनुसार सहृदय का चित्त व्यक्तिगत राग-द्वेष से युक्त होकर स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में भोग करता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि भट्टनायक का आशय सहृदय के स्थायी भाव से है। सहृदय भावकत्व-व्यापार के द्वारा अपने स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में अनुभव करता है और इस प्रकार जो रस सिद्ध होता है, उसका भोजकत्व-व्यापार द्वारा भोग करता है। स्पष्टतः भट्टनायक के मतानुसार रस का स्थान शब्दार्थ नहीं, प्रत्युत सहृदय का चित्त ही है।

भुक्तिवाद की विशेषताएँ : रस-सिद्धान्त के विकास के इतिहास में भट्टनायक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दिशा में उनकी देन मौलिक तथा बहुमूल्य है। उनपर जो आक्षेप लगाये जाते हैं, उनमें अधिकतर तर्कशास्त्र की केवल युक्तियाँ हैं, परन्तु उनकी मौलिक उद्भावनाओं का महत्त्व भारतीय काव्यशास्त्र में, और विशेषतः रस-सिद्धान्त में, निराला है। भट्टनायक के सिद्धान्त भुक्तिवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

१. भट्टनायक ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने रसास्वाद के स्वरूप की तात्त्विक व्याख्या उपस्थित की। यह श्रेय सर्वांशतः उन्हें ही मिला। उनसे पहले काव्यास्वाद के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता था, परन्तु अभीतक किसी भी आचार्य ने रसास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया था। पहली बार भट्टनायक ने ही इस विषय में प्रयत्न किया और उन्हें अच्छी सफलता भी मिली। उन्होंने बताया कि रसास्वाद या काव्यानन्द चित्त में विश्रान्ति को कहते हैं। यह विश्रान्ति सत्त्व गुण के उद्रेक की दशा में होती है, जब रजस् और तमस् का शमन तो हो गया रहता है, परन्तु उनका पूर्णतया अभाव नहीं होता। अतः, रसास्वाद शुद्ध आत्म-विश्रान्ति से निम्नतर कोटि का होता है, अर्थात् ब्रह्मास्वादविध होता है, ब्रह्मास्वाद नहीं। इस प्रकार, सबसे पहले भट्टनायक ने ही आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द से काव्यास्वाद या रसास्वाद की समता और अन्तर बताते हुए उसका स्वरूप-निर्णय किया। भट्टनायक का यह मत अन्त तक उसी रूप में माना जाता रहा।

२. भट्टनायक ने ही सबसे पहले रस की आनन्दरूपता का स्पष्ट तथा असन्दिग्ध विवेचन किया। आत्म-विश्रान्ति तथा साधारणीकरण के सिद्धान्तों से उन्होंने अत्यन्त प्रामाणिक ढंग से सिद्ध किया कि करुण आदि रस भी आनन्ददायक या आनन्दरूप होते हैं।

३. किन्तु, भट्टनायक की सबसे बड़ी उपलब्धि साधारणीकरणवाला उनका सिद्धान्त है। काव्यास्वादन के प्रसंग में एक बहुत मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रहा है कि काव्य में कवि के या कवि-निबद्ध पात्र के भाव सहृदय के लिए आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं? ये भाव एक ही सहृदय के नहीं, प्रत्युत समस्त सहृदय-समाज के कैसे बन जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक ने अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त की उद्भावना करके दिया। वस्तुतः, यह प्रश्न आलोचनाशास्त्र का एक मूल और महत्त्वपूर्ण आधार है और भट्टनायक ने इस प्रश्न का उत्तर देकर आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अद्वितीय सफलता प्राप्त की। इस साधारणीकरण की उद्भावना के कारण भट्टनायक भारतीय आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अमर हैं।

इस सिद्धान्त के दोष : अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप किये हैं, जो निम्नलिखित हैं :

१. अभिनवगुप्त रस तथा रस-भोग का अन्तर मानने को तैयार नहीं हैं। वे इस बात में आपत्ति नहीं करते कि भावित स्थायी भाव ही रस है। किन्तु, यह भाव अन्त में आस्वाद-रूप ही हो जाता है, इसलिए आस्वाद और आस्वाद्य अथवा रस और रस-भोग के जिस अन्तर की कल्पना भट्टनायक ने की है, वह अभिनवगुप्त के मत से असंगत है।

२. प्रतीति और भुक्ति का जो भेद भट्टनायक ने किया है, वह ठीक नहीं है। वस्तुतः, मुक्ति की प्रतीति ही है; क्योंकि प्रतीति के विना किसी प्रकार का व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिए, रस-प्रतीति का खण्डन करके रस-भुक्ति की जो स्थापना की गई है, वह संगत नहीं है।

३. भट्टनायक ने भोग के स्वरूप की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह तात्त्विक नहीं कही जा सकती। उनके अनुसार भोग का तात्पर्य है सत्त्वोद्रेक की अवस्था में चित्त की विश्रान्ति, जो प्रकाशानन्दमयी तो होती ही है, परन्तु साथ ही जिसमें रजस् तथा तमस् का भी सम्मिश्रण रहता है, जिसके कारण उस दशा में भी चित्त में द्रुति-विस्तार तथा विकास की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। अभिनवगुप्त रस-भोग में चित्त की इन तीन अवस्थाओं की स्थिति स्वीकार नहीं करते। इस प्रसंग में उनका तर्क है कि जितने भी रस होते हैं, उतनी रस-प्रवृत्तियाँ सम्भव हैं। केवल इतना ही नहीं, सत्त्व आदि गुणों के मात्रा-भेद से प्रत्येक भाव की अनुभूति में चित्त की भिन्न दशा सम्भव है। इसलिए, रसास्वादन में चित्त की तीन ही दशाएँ—द्रुति, विस्तार तथा विकास क्यों मानें ?

४. यदि रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों नहीं मानते हैं तो उसे या तो नित्य मान सकते हैं या असत्; क्योंकि जो नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो असत् है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में यह तर्क इस रूप में भी रखा जा सकता है : ऐसी कोई भी सत्ता नहीं हो सकती, जिसकी न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति ही होती है। यदि वह सत्ता सत् है, तो उसकी अभिव्यक्ति होना आवश्यक है और यदि वह असत् है, तो उसकी उत्पत्ति होना आवश्यक है। विश्व में जितने भी तत्त्व हैं, उनकी सत्ता की कल्पना इन दोनों पद्धतियों में से किसी एक के माध्यम से अवश्य होती है। अतएव, रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों को नहीं मानने का अर्थ रस की सत्ता को ही नहीं मानना है।

५. भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व नाम के दो व्यापारों की जो कल्पना की है, उसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। इन दोनों का ही काम व्यंजना से चल जाता है। भट्टनायक को भी इस व्यंजना-व्यापार का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा है। यदि एक बार व्यंजना की सत्ता स्वीकार कर ली गई, तो फिर भावकत्व और भोजकत्व दो अतिरिक्त व्यापारों के मानने की कोई आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है ?

६. उपर्युक्त आक्षेपों के अतिरिक्त भट्टनायक के इस सिद्धान्त पर एक अन्य आक्षेप यह किया जाता है कि उन्होंने रस-प्रक्रिया के विवेचन में रसानन्द की तुलना ब्रह्मानन्द से करके काव्यानन्द के वैज्ञानिक विवेचन में गूढ़ता ला दी है। दर्शन जैसे विषय में अलौकिक

तथा अनिर्वचनीय जैसे शब्दों का प्रयोग भले ही उपयुक्त हो, किन्तु सौन्दर्यशास्त्र के समान वैज्ञानिक विषय में ऐसे शब्दों का प्रयोग व्याख्या को और गूढ़ बना देता है। इससे उसका मौलिक तथा वस्तुगत स्वरूप उपस्थित नहीं हो पाता।

भट्टनायक का अन्य ग्रन्थ **हृदय-दर्पण**, जिसमें रस का विवेचन है, ध्वनि-ध्वंस कहा जाता है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके उपलब्ध उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना ध्वनिवाद के खण्डन के लिए ही की गई थी। इससे परोक्ष रूप से यह भी ज्ञात होता है कि भट्टनायक अपने समय में ध्वनि-विरोधी विद्वानों के नेता थे। इसीलिए उनका सिद्धान्त ध्वनिवाद के खण्डन की ओर ही सदा रहा, फलस्वरूप रस की प्रक्रिया तथा स्वरूप को प्रस्तुत करने में उनकी दृष्टि एकांगी रही।

निष्कर्ष : उपर्युक्त कई दोषों के रहने पर भी भट्टनायक के विषय में कहना होगा कि उन्होंने रस-सिद्धान्त को एक निश्चित दिशा दी और रस-प्रक्रिया के अन्तिम आचार्य अभिनवगुप्त भी उनके बहुत आभारी हैं। अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद के बहुत-से विचार भट्टनायक के भुक्तिवाद के विचारों पर आधारित हैं। कई स्थानों पर दोनों के विचार एक ही हैं, शब्दों में अन्तर जो हो। भट्टनायक का अभिधा-व्यापार तथा अभिनव-गुप्त की वाक्यार्थ-प्रतिपत्ति एक ही हैं। दोनों के साधारणीकरण का सिद्धान्त लगभग एक ही है। 'संविद्विश्रान्ति' को दोनों ही मानते हैं। भट्टनायक का रस-भोग अभिनव की रस-चर्वणा ही है।

(ङ) **अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद** : अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण करने के पश्चात् अभिनवगुप्त ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की आलोचना करते समय 'खण्डन' शब्द नहीं, प्रत्युत 'संशोधन' शब्द का ही प्रयोग किया है। उनका कहना है कि मैंने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के विचारों का परीक्षण करने के उपरान्त संशोधन-मात्र किया है, खण्डन नहीं; क्योंकि पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की ठीक से संगति लगा देने में भी मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना का-सा ही फल मिलता है। अभिनवगुप्त का यह वक्तव्य काव्यशास्त्र के आचार्यों का मूल्य-निर्धारण करने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जिन आचार्यों ने काव्यशास्त्र के नवीन सिद्धान्तों का आविष्कार किया है, केवल वे ही उद्भावक आचार्य नहीं हैं, प्रत्युत पुनराख्यान करनेवाले विचारक भी उसी कोटि में आते हैं। अभिनवगुप्त के विषय में भी यही बात लागू होती है। उनके रस-विषयक विचार अभिनवभारती और ध्वन्यालोकलोचन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उन्होंने अपने सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन अभिनवभारती में किया है, परन्तु अपने सिद्धान्त का विवेचन ध्वन्यालोकलोचन में और भी स्पष्ट रीति से किया; क्योंकि ध्वनि के सन्दर्भ में उसे स्पष्ट करने का उन्हें अधिक अवसर मिला है।

अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का सारांश : १. जब रत्यादि भाव नाटक या काव्य के उपकरणों से साधारणीकृत हो जाते हैं और देश-काल, स्व-पर, व्यक्तिगत राग-द्वेष आदि

की चेतना से मुक्त हो जाते हैं, आस्वाद्य या सुखमय प्रतीति के योग्य बन जाते हैं। यह आस्वाद्य होने का भाव और उसकी सुखमय प्रतीति ही रस है। अभिनवगुप्त का सिद्धान्त शुद्ध अद्वैत-भावना से प्रेरित है। अतः उनके सिद्धान्त से वास्तव में सुखमय प्रतीति ही रस है। इस सुखमय प्रतीति का विषय साधारणीकृत भाव है और उसे ही रस कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'सर्वथा आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।'[1]

२. रसास्वादन की अवस्था में सहृदय तटस्थ द्रष्टा के रूप में माना गया है; वह नाट्यवस्तु में संलग्न है भी, और नहीं भी है। वह उस विभावादि के ऐसा उपेक्षाशील नहीं है कि ध्यान ही न दे और ऐसा संसक्त भी नहीं कि उसमें बह जाय। तात्पर्य यह कि रस की प्रतीति तो सहृदय की आत्मा के ही द्वारा होती है, परन्तु यह प्रतीति व्यक्तिगत नहीं हुआ करती।

३. यह साधारणीकरण व्यष्टि और समष्टि दोनों के धरातल पर होता है। आत्म-तत्त्व की अद्वैतता के कारण सभी सामाजिक भाव की प्रतीति समान रूप से करते हैं। इससे साधारणीकरण-व्यापार बहुत पुष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि व्यक्तिगत राग-द्वेष से पूर्ण मुक्ति हो जाने से आस्वादन पूर्ण रूप से आनन्दमय हो जाता है।

४. स्थायी भाव वासना या संस्कार-रूप में प्रत्येक सहृदय के चित्त में स्वयंसिद्ध रूप में विद्यमान रहते हैं। संस्कार-रूप होने के कारण वे समान भी होते हैं।

५. सहृदय व्यक्ति को काव्यात्मक वाक्य से सामान्य अर्थ-ज्ञान के अतिरिक्त एक विशेष प्रतीति भी होती है। सामान्य अर्थज्ञान और इस विशेष प्रतीति में अन्तर यह है कि यह प्रतीति वाक्य में लिये गये काल आदि के विभाग से सर्वथा मुक्त या साधारणीकृत होती है और इससे कल्पना में एक चित्र-सा खिंच जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अर्थज्ञान धारणा-रूप होता है और यह प्रतीति बिम्ब-रूप होती है।

६. शब्दार्थ में गुणालंकार के समुचित समावेश के ही आधार पर यह विशिष्टता उत्पन्न होती है। भट्टनायक ने इसे भावकत्व-व्यापार के ही अन्तर्गत माना है। प्रत्येक व्यापार के तीन अंग माने गये हैं—करण, फल और इतिकर्त्तव्यता। अभिनवगुप्त के मतानुसार इस भावकत्व-व्यापार में फल है साधारणीकरण, इतिकर्त्तव्यता है उचित गुणालंकार का समावेश और करण है ध्वनन अर्थात् व्यंजना-शक्ति। इस प्रकार, अभिनवगुप्त का तर्क है कि जब भावकत्व-व्यापार का भी मूल तत्त्व व्यंजना-शक्ति ही है, तो इस भावकत्व-व्यापार की नवीन कल्पना की आवश्यकता ही क्या है?

७. भोजकत्व तो चित्त की क्रिया है, अतः उसे शब्दार्थ में मानना उचित नहीं। वस्तुतः रसास्वादन और भोग दोनों एक ही हैं। शब्दार्थ इस क्रिया को मात्र प्रेरणा

---

१. रस-सिद्धान्त (डॉ० नगेन्द्र), पृ० १७३

देता है और यह शक्ति भी उसे व्यंजना-शक्ति से ही मिलती है। इसी के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाने से सहृदय का चित्त भाव का भोग करने में समर्थ होता है। स्पष्टतः इस अलौकिक कार्य में भी व्यंजना-शक्ति ही मुख्य कारण है। इस प्रकार, भोजकत्व-व्यापार को कोई अलग व्यापार मानना ठीक नहीं है। रस को ध्वननीय मान लेने पर भोजकत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

८. यह तथ्य अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया कि रस ब्रह्मानन्द के समान है।

९. यह निश्चित मत है कि रस की अभिव्यक्ति ही होती है : आस्वादात्मक तथा विघ्न-रहित प्रतीति से ग्राह्य स्थायी भाव ही रस है। प्रत्येक सहृदय के चित्त में स्थायी भाव अनादि वासना के रूप में वर्त्तमान रहता है। नाट्य तथा काव्य में प्रस्तुत विभावादि के संसर्ग में आने से वही स्थायी भाव अभिव्यक्त होकर रस में परिणत हो जाता है। इस प्रकार, विभावादि व्यंजक हैं, स्थायी भाव व्यंग्य है; अर्थात् रस भी व्यंग्य है। अतः निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ हुआ व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध।

१०. अभिनवगुप्त का दर्शन शैवाद्वैत था। इस विषय को लेकर कोई विवाद नहीं है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रतिष्ठापकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

विवेचन : अभिनवगुप्त भरत के रससूत्र के अन्तिम प्रसिद्ध व्याख्याता थे। पहले हम देख चुके हैं कि रससूत्र के प्रत्येक व्याख्याता ने अपने पूर्ववर्त्ती व्याख्याता की त्रुटियों का निराकरण करने के प्रयत्न में रस-प्रक्रिया की व्याख्या में स्पष्टता लाने का उत्तरोत्तर प्रयास किया। अभिनवगुप्त की व्याख्या सत्य के निकटतम है। भारतीय काव्यशास्त्र में अन्तिम रूप से उन्हीं का सिद्धान्त मान्य हुआ। उन्होंने भरत-सूत्र का अर्थ प्रायः उन्हीं के शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया और इसी प्रसंग में उनके विचारों के साथ सामंजस्य रखते हुए अपने निजी विचार भी व्यक्त करने में समर्थ हुए। अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद की सुदृढ़ आधारशिला पर अपने आत्मानन्द रूप-रस की भव्य अट्टालिका का निर्माण किया। उनके सिद्धान्त ने रस-सिद्धान्त को पूर्णरूपेण आवेष्टित कर लिया। अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों का खण्डन करके व्यंजना-प्रक्रिया को रस-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप बताकर अपने अभिव्यक्तिवाद को उपस्थित किया। उनके सिद्धान्त से भरत का मूल सिद्धान्त भी आच्छन्न हो गया और परवर्त्ती आचार्य भरत को भूलकर या भरत के ही नाम से, अभिनवगुप्त का ही मत उद्धृत करने लगे। अभिनव का विवेचन असन्दिग्ध रूप से पुष्ट तथा प्रौढ़ है, परन्तु उसमें भी विशेषताओं के साथ त्रुटियाँ या दोष भी हैं।

अभिव्यक्तिवाद की विशेषताएँ : १. अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि उसका दार्शनिक आधार सभी पूर्ववर्त्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की तुलना में बहुत ही गम्भीर तथा प्रामाणिक है। दार्शनिक सिद्धान्तों के इतिहास

की आवृत्ति रस-सिद्धान्त में भी हुई। अधिकांश दार्शनिक मतवादों की परिणति अद्वैतवाद में हुई, उसी प्रकार रस-सिद्धान्त की सभी मान्यताएँ भी आत्मास्वाद की कल्पना में अन्तर्हित हो गईं।

२. सबसे पहले अभिनवगुप्त ने ही इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि रस सर्वथा सहृदयनिष्ठ होता है। भट्टनायक ने भी रस को भोज्य ही माना, अर्थात् उनके मत में भी रस की वस्तुपरक सत्ता किसी रूप में बनी रही। परन्तु, अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम उसकी आस्वादरूपता का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया।

३. रसास्वाद की आनन्दरूपता के प्रतिपादन का श्रेय तो भट्टनायक को ही प्राप्त है, परन्तु अभिनवगुप्त ने शैव आनन्दवाद का पुष्ट आधार देकर उसे पूर्णरूपेण प्रामाणिक सिद्ध कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि निरानन्दवादी जैन आदि आचार्यों ने जितने भी तर्क या विकल्प उपस्थित किये, सभी व्यर्थ प्रमाणित हुए।

४. अभिनवगुप्त ने अद्वैतवाद के आत्मानन्द के साथ आनन्दवर्द्धन के व्यंजनावाद का समन्वय कर दिया। इस समन्वय के फलस्वरूप, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के संश्लिष्ट सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः, अद्वैत तथा व्यंजना का पारस्परिक सम्बन्ध अविच्छिन्न है। अद्वैत में एक ही तत्त्व (ब्रह्म) की सत्ता स्वीकार की गई है। उस दशा में यह समस्त विश्व-प्रपंच उसकी सृष्टि नहीं, अपितु अभिव्यक्ति ही है। अभिनवगुप्त ने इस तथ्य को हृदयंगम किया और दोनों का समन्वय कर दिया। इस क्रिया से उन्होंने रस-सिद्धान्त के अन्तरंग और बहिरंग—दोनों पक्षों को दृढ़ एवं पुष्ट आधार प्रदान किया।

५. अभिनवगुप्त के विवेचन का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है समष्टिगत रस की कल्पना। उनका दर्शन वस्तुतः और मूलतः व्यक्तिवादी है। परन्तु, उन्होंने अन्त में सामूहिक रस-चेतना में ही रस-चक्र को पूर्ण माना है। आज के युग में साम्यवाद एवं समाजवाद के प्रभाव के कारण जिस सामाजिक कलानुभूति का प्रतिपादन हुआ है, उसकी आश्चर्यजनक व्याख्या अभिनवगुप्त ने अपनी विशेष रीति से की है। डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने **तन्त्रालोक** से उद्धरण देकर इस तथ्य को प्रमाणित कर दिया है।

अभिव्यक्तिवाद की त्रुटियाँ : भारतीय काव्यशास्त्र पर अभिनवगुप्तपादाचार्य का एकच्छत्र राज्य रहा है। अतः, इस विषय में उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही है और उनका महत्त्व सर्वमान्य रहा है। फिर भी, उनका रस-सिद्धान्त सर्वथा दोष-रहित नहीं है। उनके अभिव्यक्तिवाद का सम्यक् विवेचन करने पर कुछ दोष निकल ही आते हैं, जिनका उल्लेख किया जा रहा है।

१. एक बहुत बड़ा और स्पष्ट दोष तो यह है कि अभिनवगुप्त ने भरत के सिद्धान्त को अपने रंग में इस प्रकार रँग दिया है कि परवर्त्ती काव्यशास्त्र में उसके वास्तविक रूप का जल्दी पता ही नहीं चलता। इस प्रसंग में दो बातें सम्भव हैं—(क) अभिनव ने अपने

सिद्धान्त के पूर्वग्रह के कारण भरत के विचार उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत नहीं किये; (ख) अभिनव ने अपनी मनोनुकूल रीति से भरत के सिद्धान्त का पुनराख्यान उपस्थित किया। इनमें दूसरी सम्भावना ही अधिक विश्वसनीय जान पड़ती है। फिर भी, मूल में अधिक परिवर्त्तन करके उसका रूप ही बदल देना वांछनीय विवेचन-शैली नहीं है।

भरत के सूत्र के विभिन्न व्याख्याताओं के साथ भी लगभग ऐसा ही किया गया है; और यदि ठीक से देखा जाय, तो वे और भी दयनीय दशा में रख दिये गये हैं। भट्ट-लोल्लट का ही उदाहरण लिया जाय। अभिनव ने उनके बहुत थोड़े, और सम्भवतः अपने मनोनुकूल, उद्धरण दिये। उन थोड़े उद्धरणों के ही आधार पर यह सहज ही माना जा सकता है कि लोल्लट का मत भरत-मत के अत्यन्त निकट था। परन्तु, अभिनव ने उसे इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह पूर्णतः अग्राह्य बनकर रह गया है। श्रीशंकुक के साथ भी वे न्याय नहीं कर सके हैं। अभिनव ने शंकुक का जो उद्धरण दिया है, उससे संकेत मिलता है कि शंकुक ने कला का बहुमूल्य विवेचन किया होगा। किन्तु, अभिनव ने अपने गुरु भट्टतोत की सहायता से दर्शन के क्षेत्र में उनकी धज्जियाँ उड़ा दी हैं और उनके सभी गुण भस्मसात् हो गये हैं। भट्टनायक के साथ भी वे कोई अच्छा व्यवहार नहीं कर सके। भट्टनायक के सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन करने से पता चलता है कि वे सिद्धान्त अत्यन्त पुष्ट एवं गम्भीर हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में उनका योगदान अत्यन्त मूल्यवान् है। स्वयं अभिनवगुप्त ने उनके कई सिद्धान्तों को उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। इतना होने पर भी अभिनवगुप्त ने उनकी ऐसी आलोचना की कि भट्टनायक का महत्त्व प्रायः हजार वर्षों तक अत्यल्प रहा।

२. अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त में एक दूसरा दोष यह है कि इसमें काव्यास्वाद और आत्मास्वाद प्रायः एक ही हो जाते हैं। काव्यास्वाद और आत्मास्वाद की यह अभिन्नता कम-से-कम बुद्धि के गले नहीं उतरती। इसीलिए, रस पर अलौकिकता का इतना घना कुहासा छा गया कि अधुनिक युग के विचारकों की दृष्टि को रस तक पहुँचने में काफी समय लग गया। फलस्वरूप वे बहुत दिनों तक रस-सिद्धान्त की अवहेलना करते रहे।

३. अभिनवगुप्त के सिद्धान्त में रस का स्वरूप सर्वथा आत्मपरक माना गया, जिसके फलस्वरूप पूरा बल सहृदयता पर पड़ा और काव्य की सत्ता गौण हो गई। आत्यन्तिक रूप में यह तो मानना ही होगा कि रस की सत्ता व्यक्तिनिष्ठ है, किन्तु व्यक्ति के अन्तर्गत कवि को भी मानना होगा। केवल सहृदय को ही यदि प्रमाण माना जायगा तो काव्य के मूल्यांकन का ढंग ही छिन्न-भिन्न हो जायगा।

४. अभिनवगुप्त की प्रतिभा अत्यन्त प्रखर तथा स्वच्छ है, किन्तु उसकी तुलना में उनकी शैली अत्यन्त जटिल तथा आडम्बरपूर्ण। आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों से तुलना करने पर शैली की यह विषमता और भी स्पष्ट रूप से सामने आती है। ध्वन्यालोक की वृत्तियों पर भाष्य लिखते समय स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ एक ओर वे दार्शनिक गुत्थियों को

अपनी प्रतिभा के बल पर सहज ही सुलझा देते हैं, वहाँ दूसरी ओर, अपनी शैली की जटिलता के कारण कभी-कभी सामान्य तथ्यों को भी बुरी तरह उलझा देते हैं।

५. अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त के निरूपण में मनोव्यापार के साथ आध्यात्मिक व्यापार का भी सहारा लिया है। उन्होंने अपने दार्शनिक मत—शैवाद्वैत-सिद्धान्त—के आधार पर कहीं-कहीं अपने रस-सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

६. काव्य-वस्तुओं के ग्रहण या रसानुभूति की दशा में सहृदय के हृदय में वेद्यान्तर स्पर्श-शून्यता का समावेश हो जाता है। अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त भी सर्वत्र उपयोगी नहीं है। तन्मयता की अवस्था में सहृदय काव्यगत पात्रों, घटनाओं, दृश्यों एवं परिस्थितियों के सदृश अपने अनुभव में विगत समय में आये पात्रों, घटनाओं, दृश्यों एवं परिस्थितियों को अपनी स्मरण-शक्ति की सहायता से मन में लाता है। ऐसी दशा में वेद्यान्तर स्पर्श-शून्यता नहीं रह सकती है।

७. अभिनवगुप्त के सिद्धान्त के अनुसार साधारणीकरण की क्रिया के उपरान्त सहृदय के चित्त में विस्तार होता है। किन्तु, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस कथन में कुछ त्रुटि है। वस्तुतः, सहृदय के चित्त के ही कारण साधारणीकरण की स्थिति आती है और विभावादि का साधारणीकृत रूप उपस्थित होता है। जबतक सहृदय के चित्त में विस्तार नहीं होगा, तबतक विभावादि का साधारणीकृत रूप नहीं हो सकता। जबतक चित्त में वैशद्य नहीं आयगा, तबतक काव्यगत वस्तुओं का विश्वजनीन रूप उसमें प्रवेश नहीं कर सकता।

८. अभिनवगुप्त ने सभी रसों की परिणति शान्त रस में सिद्ध की है और इसे ही सब रसों में प्रमुख सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु, यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। प्रवृत्तिमार्गी लौकिक जीवन में यदि शान्त रस को प्रधान माना जाता है, तो इसका अर्थ जीवन में निर्वेद को प्रधानता देना होगा। और, निर्वेद में सभी स्थायी भावों की परिणति करने का अर्थ है—सभी भावों के अन्दर निर्वेद की सत्ता स्वीकार करना। परन्तु, लोक के व्यावहारिक जीवन में ऐसा नहीं होता। प्रवृत्तिमार्गी लौकिक जीवन में रति और उत्साह की प्रधानता सम्भव है, निर्वेद की कदापि नहीं। अतः, सभी रसों में शान्त रस को प्रधान मानना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं जान पड़ता।

९. अभिनवगुप्त ने यह नहीं बताया कि किसी नाटक अथवा महाकाव्य में प्रतिनायक या उसके पक्ष के पात्रों के साथ तादात्म्य कैसे हो सकता है।

निष्कर्ष : अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त, अभिव्यक्तिवाद, में उपर्युक्त कुछ दोषों के रहते भी यह मानना होगा कि उनके द्वारा निरूपित रस-प्रक्रिया अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के सभी परवर्ती आचार्यों—धनंजय, महिमभट्ट, मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ—ने इन्हीं के सिद्धान्त को आधार मानकर रस-विवेचन किया है।

इनमें से कुछ आचार्यों ने बहुत ही विस्तार से रस का विवेचन किया है, परन्तु रस-प्रक्रिया का जहाँ तक सम्बन्ध है, वे कोई नवीनता लाने में सफल नहीं हो सके हैं। संस्कृत के काव्यशास्त्र में—विशेषतः रस-सिद्धान्त में—अभिनवगुप्त देदीप्यमान सूर्य के समान हैं।

परवर्त्ती आचार्य

आगे चलकर रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने अभिनवगुप्त के ही सिद्धान्त का मूल तत्त्व स्वीकार कर लिया और उन्हीं का मत सर्वमान्य हो गया। किसी-किसी ने कुछ स्थलों पर थोड़ा शास्त्रीय विभेद कर दिया है, परन्तु मूल रूप से अभिनव के सिद्धान्त से कोई मतभेद नहीं है।

धनंजय तथा धनिक : दशरूपककार धनंजय तथा वृत्तिकार धनिक ने रस की स्थिति सहृदय में ही मानी है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सहृदय के चित्त में स्थित स्थायी भाव ही रसरूप में परिणत होता है :

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥[१]

—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारियों के द्वारा जब रत्यादि स्थायी भाव आस्वाद्य—चर्वणा के योग्य—बना दिया जाता है, तो वही रस कहलाता है।

२. क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ॥[२]

—छोटे बच्चे मिट्टी के बने हुए हाथी, घोड़े आदि से खेलते हैं। वे उन्हें सच्चे हाथी, सच्चे घोड़े ही समझकर खेलते हैं तथा उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। ठीक इसी तरह काव्य के श्रोता सामाजिक भी अर्जुन आदि पात्रों के द्वारा उन पात्रों में उत्साह देखकर स्वयं उत्साह का आस्वाद करते हैं। यद्यपि अर्जुन आदि मृण्मय हाथी आदि की तरह अवास्तविक हैं, केवल प्रतिकृति-मात्र हैं, तथापि सामाजिकों को उनसे आनन्द की प्राप्ति होती है।

धनंजय ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि रस सामाजिक में ही होता है; अनुकार्य रामादि में नहीं।[3]

"रत्यादि स्थायी भाव स्वाद्य होता है, सहृदय उसका आस्वाद करते हैं, इसलिए लौकिक स्वाद के विषय में 'रस' की भाँति यह भी रस कहलाता है। यह रस रसिक हृदय में ही पाया जाता है, अनुकार्य राम, दुष्यन्त, सीता या शकुन्तला में नहीं पाया जाता। रस का स्वाद, रस की चर्वणा, रसिकों को, दर्शक सामाजिकों को ही

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० १
२. वही, का० ४१-४२
३. वही, का० ३८-३९

होती है, अनुकार्य पात्रों को नहीं। अनुकार्य पात्रों की तो केवल कथा-भर ली जाती है, काव्य का प्रयोजन सामाजिक को रसास्वाद कराना ही है। काव्य के अनुकार्य रामादि तो भूतकाल के हैं, उन्हें रस-चर्वणा हो ही कैसे सकती है ? वस्तुतः, रस-चर्वणा नाटकादि काव्य के द्रष्टा सामाजिक में ही मानी जा सकती है। यदि अनुकार्य रामादि में मानी जायगी, तो वे भी ठीक उसी तरह होंगे, जैसे हम आमतौर पर व्यावहारिक संसार-क्षेत्र में अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखते हैं। किन्हीं दो प्रेमी-प्रेमिका को शृंगारी चेष्टा करते देख हमें रस-प्रतीति नहीं होती, हमें या तो लज्जा होगी, या ईर्ष्या, राग या द्वेष। यदि अनुकार्य दुष्यन्तादि में रस मान लें, तो सामाजिकों को रसास्वाद नहीं हो सकेगा, प्रत्युत उनके हृदय में लज्जा, ईर्ष्या, राग या द्वेष की उत्पत्ति होगी। शृंगारी चेष्टा देखकर बड़े लोगों को लज्जा होगी, दूसरे का ईर्ष्यादि। अतः, अनुकार्य नायकादि में रस मानने पर दोष आने के कारण सामाजिकों में ही रस-स्थिति माननी चाहिए।"[1]

परन्तु, धनंजय और धनिक ने व्यंजना-वृत्ति को स्वीकार नहीं किया, वरन् उन्होंने तात्पर्य-वृत्ति को स्वीकार किया। उन्हें रस का व्यंग्यत्व भी स्वीकार्य नहीं था। इसलिए, उन्होंने काव्य या उसमें वर्णित विभाव आदि के साथ रस का व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध नहीं माना। इस प्रसंग में उन्होंने अभिनवगुप्त का नहीं, प्रत्युत भट्टनायक का अनुसरण किया। भट्टनायक के समान उन्होंने विभावादि के साथ रस का भाव्य-भावक-सम्बन्ध ही माना। धनिक ने बहुत तर्क-वितर्क करने के उपरान्त निष्कर्ष-रूप में लिखा : **अतो न रसादीनां हि भावकं, भाव्या रसादयः।**[2] अतः यह सिद्ध हो गया है कि काव्य का रस के साथ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध नहीं है, न तो काव्य व्यंजक ही है और न रसादि व्यंग्य ही। तो फिर इन दोनों में क्या सम्बन्ध है ? काव्य तथा रस में परस्पर भाव्य-भावक भाव या भाव्य-भावक सम्बन्ध है। काव्य भावक है और रसादि भाव।

इसका परिणाम यह है कि धनंजय और धनिक के मतानुसार संयोग का अर्थ है : भाव्य-भावक सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ है भावित होना या भाविति। भट्टनायक के मतानुसार भी संयोग और निष्पत्ति के ये ही अर्थ हैं।

इस प्रकार धनंजय तथा धनिक के रस-सिद्धान्त में तीन बातें द्रष्टव्य हैं : १. रस व्यंग्य नहीं, काव्य का तात्पर्यार्थ है; २. रस की भावना होती है, विभावादि में तथा उसमें भाव्य-भावक भाव है; ३. नट आदि सामाजिक के लिए वैसे ही राम आदि बन जाते हैं, जैसे बच्चे के लिए मिट्टी के हाथी-घोड़े सच्चे हाथी-घोड़े बन जाते हैं।

महिमभट्ट : महिमभट्ट भी रसवादी आचार्य थे और इन्होंने भी रस को ही काव्य की आत्मा माना : '**काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।**'[3] अभिनवगुप्त के

१. दशरूपक (चतुर्थ प्रकाश) : (टीका० डॉ० भोलाशंकर व्यास), पृ० २५३-२५४

२. वही, पृ० २५१-२५२

३. व्यक्तिविवेक (चौखम्बा संस्कृत-सीरीज), पृ० १०५

समान इन्होंने भी रस की स्थिति सहृदय में ही मानी है। स्थायी भावों का आस्वादन सहृदय ही रसरूप में करता है। परन्तु, अभिनवगुप्त से इनका मतभेद इस अर्थ में है कि ये मानते हैं कि स्थायी भाव न तो वास्तविक होते हैं और न वासना-रूप से चित्त में विद्यमान रहते हैं, वरन् रंगमंच पर नट द्वारा प्रदर्शित स्थायी भावों के प्रतिबिम्ब-रूप होते हैं : **तैरेव करुणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधाने रसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभाव-व्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते ।**[1]

तात्पर्य यह कि रत्यादि स्थायी भावों की स्थिति प्रमाता में नहीं होती। वे केवल रंगमंच पर प्रदर्शित अथवा काव्य में वर्णित स्थायी भावों के प्रतिबिम्ब-मात्र होते हैं। कवि कृत्रिम कारण के रूप में विभावादि के द्वारा इन्हें प्रमाता की प्रतीति का विषय बनाता है। तब उस प्रमाता को सहृदयता के कारण आस्वाद्य होकर ये स्थायी भाव ही रस नाम प्राप्त करते हैं।

किन्तु, महिमभट्ट इस रस-प्रक्रिया में व्यंजना को आधार नहीं मानते, उन्होंने काव्यानुभूति का सिद्धान्त चलाया। उनके मतानुसार अनुमान से ही रस सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार विभावादि गमक हैं और रत्यादि स्थायी भाव गम्य हैं। ये ही स्थायी भाव अन्त में रसरूप में परिणत हो जाते हैं।

त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमकाः। त एव रत्यादयो-ऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः।[2]

इस प्रकार, महिमभट्ट के रस-सिद्धान्त के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है और संयोग का अर्थ है अनुभाव्य-अनुभावक सम्बन्ध। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रस के स्वरूप के विषय में महिमभट्ट का मत अभिनवगुप्त के ही मत के अनुकूल है, परन्तु रस की प्रक्रिया के विषय में शंकुक के मत के अनुकूल ही उनका मत है।

राजा भोज : राजा भोज ने शृंगारप्रकाश में इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के द्वारा पुष्ट होकर रसरूप में परिणत हो जाते हैं। उनका तर्क है कि यदि स्थायी भाव रस में परिणत हो जाते हैं, तो अन्य भाव भी क्यों नहीं रस में परिणत हो जाते? उस दशा में रसों की संख्या आठ या नौ तक ही सीमित क्यों करेंगे, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने किया है? भरत ने **नाट्यशास्त्र** और **रससूत्र** में भाव में विभिन्न भेद—स्थायी, सात्त्विक तथा व्यभिचारी—किये हैं; भोज ने इसकी भी आलोचना की है। उनकी दृष्टि में इन सब भावों को केवल भाव कहना चाहिए,

---

१. व्यक्तिविवेक (चौखम्बा संस्कृत-सीरीज), पृ० ७९

२. वही, पृ० ६६

भिन्न-भिन्न नाम देना अच्छा नहीं। भोज के मतानुसार रस (शृंगार) से ही रत्यादि भाव की उत्पत्ति होती है :

स शृङ्गारः सोऽभिमानः स रसः तत एते रत्यादयो जायन्ते ।[1]

मम्मट : मम्मट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **काव्यप्रकाश** में व्यंजना-विरोधी महिमभट्ट आदि आचार्यों को यथोचित उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त के ही सिद्धान्त का समर्थन किया है। मम्मट मूलतः काव्यशास्त्री थे, दर्शनशास्त्री नहीं; अतः उन्होंने अपनी दृष्टि काव्यशास्त्र के ही विवेचन पर रखी, दर्शनशास्त्र की उलझनों में फँसना उचित नहीं समझा। उन्होंने यथास्थान आवश्यकतानुसार दार्शनिक विवेचन भी किया है, परन्तु दर्शनशास्त्र की सूक्ष्म विशेषताओं तथा गुत्थियों के चक्कर में वे नहीं पड़े। परिणाम-स्वरूप उनके ग्रन्थ में कोई विशेष मौलिक स्थापना नहीं की गई है। उन्होंने बहुत स्वच्छ रीति तथा स्पष्ट रूप से अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त को ध्यान में रखकर रस-निष्पत्ति का विवेचन कर दिया है। अभिनव के ही समान मम्मट ने भी व्यंजना और ध्वनि पर बल दिया और संयोग का अर्थ वही व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध एवं निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति रखा। अभिनव से इनका अन्तर इस अर्थ में है कि भट्टलोल्लट आदि पूर्वाचार्यों के समान नटों को भी उन्होंने बहुत सहृदयतापूर्वक उपस्थित किया है।

मम्मट का काव्यप्रकाश बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ हुआ और इसका इतना प्रचार हुआ कि अभिनवगुप्त का मूल सिद्धान्त भी इसके सामने रुक-सा गया। फलस्वरूप जिस शैवाद्वैत के दर्शन के आधार पर अभिनवगुप्त ने अपना रस-सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया था, उससे रस-प्रसंग क्रमशः पृथक् होता गया। भारतवर्ष में शंकराचार्य के वेदान्त का प्रसार द्रुतगति से बढ़ रहा था, जिससे इस देश के साहित्य और साहित्यशास्त्र अधिक प्रभावित हो रहे थे। रस-सिद्धान्त भी शंकराचार्य के प्रभाव से बच नहीं सका। शीघ्र ही इस पर से शैवाद्वैत का प्रभाव कम होने लगा और शंकराद्वैत का प्रभाव बढ़ने लगा। काव्य-प्रकाश एक साधारण गुण-सम्पन्न कृति है और परवर्त्ती आचार्यों के लिए इसने आदर्श ग्रन्थ का काम किया।

विश्वनाथ : ऊपर बताया जा चुका है कि अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का प्रभाव लगभग सभी परवर्त्ती साहित्यशास्त्रियों पर पड़ा, परन्तु उनके दार्शनिक सिद्धान्त शैवाद्वैत का प्रभाव कम होकर शंकराद्वैत का प्रभाव क्रमशः बढ़ने लगा था। विश्वनाथ के **साहित्य-दर्पण** पर भी इस प्रभाव के संकेत दृष्टिगोचर होते हैं, यद्यपि वे दार्शनिक की अपेक्षा साहित्य-रसिक ही अधिक थे। रस-प्रक्रिया के विषय में विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त का ही मत दुहराया। इस प्रकरण के परिच्छेद की पहली कारिका है :

---

१. **शृंगारप्रकाश, प्रकाश ११**

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥[1]

—अर्थात् सहृदय पुरुषों के चित्त में स्थित वासना-रूप रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रसरूप प्राप्त करते हैं।

परन्तु, विश्वनाथ ने 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग दध्यादिन्याय से 'रूपान्तर' के अर्थ में किया है—**'व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः। न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।'**[2] अर्थात् व्यक्त पद का अर्थ है दूध से दही आदि के समान दूसरे रूप में परिणत होना; यह नहीं है कि जैसे दीपक से घट प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पहले से स्थित रस व्यक्त होता है। तात्पर्य यह है कि विश्वनाथ निष्पत्ति का वास्तविक अर्थ परिणति ही मानते हैं, यद्यपि सदा 'व्यक्ति' तथा 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं, और अभिनवगुप्त के ही उद्धरण से अपना मत पुष्ट करते हैं—**तदुक्तं लोचनकारैः—रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहार इति।**[3] अर्थात् वही बात लोचनकार (**ध्वन्यालोक** के टीकारकार अभिनवगुप्त) ने कही है और रस प्रतीत होते हैं, यह ब्यवहार तो इसी प्रकार का है जैसे कहा जाता है कि भात पकाते हैं।

अपनी कारिकाओं में विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से भट्टनायक की पदावली का ही प्रयोग किया है, जिसमें आवश्यकतानुसार अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर संशोधन कर दिये हैं। 'सत्त्वोद्रेक' की व्याख्या में यह संशोधन स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। भट्टनायक ने रस की स्थित में रजोगुण और तमोगुण की स्थिति भी कुछ अंश में स्वीकार की है, परन्तु विश्वनाथ ने इन्हें सर्वथा अस्वीकार किया है और मन को अनिवार्य रूप से रजोगुण तथा तमोगुण के स्पर्श के अलग ही रखा है—**रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः।** फिर, स्वाकार वत् और 'अभिन्नत्वेन' पदों के प्रयोग से उन्होंने बताया है कि रसास्वाद आत्मास्वाद का ही रूप है। इसमें सन्देह नहीं कि विश्वनाथ ने ये संशोधन अभिनवगुप्त के मत के अनुसार ही किये हैं, उन्होंने 'चमत्कार' का अर्थ विस्मय किया है – यह भी एक स्पष्ट अन्तर है। विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त की शैव-पदावली का त्याग करके सामान्य वेदान्ती पदावली का ही प्रयोग किया है।

शारदातनय : शारदातनय अभिनवगुप्त के समान ही रसवादी थे। यद्यपि उन्होंने सामान्यतः अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है, फिर भी सदा उनसे सहमत नहीं दिखाई देते, वरन कई स्थलों पर दोनों में तहुत मतभेद है। उदाहरणार्थ, वे अभिनव के समान यह नहीं मानते कि उत्तम काव्य में रस सदा व्यंग्य होना चाहिए, वाच्य नहीं। वे व्यंजना-वृत्ति को पृथक् अस्तित्व नहीं देना चाहते और ध्वनि को भी तात्पर्य-शक्ति के ही अन्तर्गत

---

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० १
२. वही, कारिका १ की वृत्ति
३. वही, कारिका १ की वृत्ति

मानते हैं। शारदातनय ने रस-प्रक्रिया के विषय में अभिनवगुप्त का अनुसरण नहीं करके धनिक द्वारा संशोधित तथा परिवर्द्धित भट्टनायक के मत का अनुसरण किया। उन्होंने विभावादि का रस से सम्बद्ध भाव्य-भावक भाव माना, व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं। प्रेक्षक वृत्तियों की सहायता से काव्यार्थ समझता है और भावना-वृत्ति के माध्यम से रस का भोग प्राप्त करता है। रस ब्रह्मानन्द के समान है। इसी प्रकार काव्य और रस परस्पर कारण-कार्य के रूप में सम्बद्ध हैं; क्योंकि जब काव्य प्रेक्षक या सहृदय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, तब विभाव आदि सामाजिक के मन में आनन्द की सृष्टि करते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ : संस्कृत के रस-सिद्धान्त के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **रसगंगाधर** के प्रथम आनन में रस-सम्बन्धी ग्यारह मतों का उल्लेख तथा विवेचन किया है। इस विवेचन से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त में उनकी पूरी आस्था है। अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिपादित शैवाद्वैत पर आधारित है। पण्डितराज ने अभिनव के अद्वैत तथा उसके परिणामी आनन्द-सिद्धान्त को तो उसी रूप में स्वीकार कर लिया, परन्तु उसे शंकर के वेदान्त का रंग दे दिया है। स्वयं पण्डितराज ने इस अन्तर को स्पष्ट कर दिया है :

इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणा चिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायिभावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।[1]

—अर्थात् इस प्रकार अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों के अनुसार अज्ञानरूप आवरण से युक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायी भाव रस हैं—यह स्थिर हुआ। वास्तव में रति आदि स्थायी भाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरण-मुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिए न कि चैतन्य विषयीभूत रत्यादि को।

रस के स्वरूप के विषय में दोनों मतों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों मतों ने रस की स्वप्रकाश्यता तथा नित्यता स्वीकार की है। दोनों में अन्तर केवल शैवाद्वैत तथा शंकराद्वैत के दार्शनिक सिद्धान्तों के कारण है। शैवाद्वैत प्रकृति के अंश रत्यादि स्थायी भावों में भी चैतन्य के प्रतिभास होने के कारण आनन्द की स्थिति मानता है, परन्तु शंकराद्वैत केवल चैतन्य में ही आनन्द की सत्ता स्वीकार करता है। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को तत्त्वतः स्वीकार किया है, परन्तु उसकी व्याख्या में वेदान्त के अनुसार थोड़ा परिवर्तन और संशोधन कर दिया है।

पण्डितराज ने दो अन्य नवीन मतों—'नव्यमत' में अपनी आस्था प्रकट की है। उन्होंने जिस आग्रह से इन मतों का मण्डन किया है, उससे उनके संकेत नहीं करने पर भी,

१. **रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० २७ (टीका० मथुरानाथ शास्त्री)**

विद्वानों का अनुमान है कि ये नवीन मत उनके अपने ही मत हैं। इनमें से पहले मत के विषय में विद्वानों को अधिक विश्वास है कि यह पण्डितराज का ही मत है।

इस मत के प्रमुख तथ्य निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किये जा सकते हैं :

१. स्थायी भाव ही रसरूप में आस्वादन के योग्य बनता है।

२. सहृदय को व्यंजना-व्यापार की ही सहायता से विभाव आदि के द्वारा स्थायी भाव की अवगति होती है।

उपर्युक्त दोनों तथ्य अभिनवगुप्त के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल हैं।

३. कारण के गुणों के कारण और सहृदय के अपने हृदय के गुणों के कारण भी उसके चित्त में एक विशेष भावना के रूप में एक दोष आविर्भूत हो जाता है। इस दोष के कारण सहृदय की आत्मा कल्पित रामत्व, दुष्यन्तत्व आदि से पूर्णतया आच्छन्न हो जाती है। दूसरे शब्दों में, आश्रय और उसमें तादात्म्य हो जाता है, दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता। यहाँ दो सर्वथा नवीन तथ्य प्रकट हुए— (क) भावना-रूप दोष-कल्पना, और (ख) आश्रय के साथ तादात्म्य या अभेद की कल्पना।

पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत विवेचन के आधार पर निष्पत्ति के दो अर्थ हमारे सामने आते हैं। पहला अर्थ है अभिव्यक्ति या व्यक्ति, जिसका प्रतिपादन अभिनवगुप्त और मम्मट ने किया। किन्तु, पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अभिव्यक्ति का अर्थ व्यंजना नहीं है, प्रत्युत व्यक्ति का अर्थ है आवरण से मुक्त चैतन्य का प्रकाशन—**व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।** जब स्थायी भाव इसी शुद्ध चैतन्य का विषय बन जाता है, तो रस की निष्पत्ति हो जाती है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि निष्पत्ति का अर्थ हुआ आवरण-मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय होना। यह अर्थ काव्यशास्त्र के साधारण अर्थ से भिन्न है और दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है।

नवीन मत के अनुसार रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के दो अवयव हैं—१. व्यंजना-व्यापार के द्वारा विभाव आदि से आलम्बन के प्रति आश्रय के स्थायी भाव का ज्ञान, जैसे दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता था; २. भावना-दोष के उदय से कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न सहृदय की आत्मा द्वारा शकुन्तला-विषयक रति का आस्वादन। इस तरह पहले तो आश्रय में स्थित स्थायी भाव व्यंजना द्वारा प्रकट होता है और फिर तदात्मभूत सहृदय की आत्मा जब उसका आस्वादन करती है, तब रसरूप में परिणत हो जाता है। यहाँ भी निष्पत्ति के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यहाँ भी उसका अर्थ अभिव्यक्ति या व्यक्ति ही है, जिसका तात्पर्य है चित्-शक्ति का विषय होना। केवल प्रक्रिया की दार्शनिक व्याख्या में थोड़ा भेद है।

पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यशास्त्र का मौलिक चिन्तन प्रायः समाप्त ही हो गया। उत्तर-भारत में रस-सिद्धान्त या काव्यशास्त्र का विवेचन हिन्दी के रीतिकालीन कवियों एवं आचार्यों के हिस्से में पड़ गया। वे रीति-आचार्य शतियों तक मूल छोड़कर शाखा-

प्रशाखाओं के वर्णन तथा विवेचन में लगे रहे। इससे काव्यशास्त्र के विवेचन में कोई प्रगति नहीं हो सकी, पिष्ट-पेषण-मात्र होता रहा। अन्य भारतीय भाषाओं में संस्कृत के प्रायः अनुवाद ही होते रहे और वे अनुवाद भी संख्या में बहुत कम हुए। परिणामस्वरूप रस-विवेचन में कोई प्रगति नहीं हो सकी। इस बीसवीं शती में--विशेषतः सन् १९२५ ई० के बाद--मुख्यतः हिन्दी और मराठी में शास्त्रीय परम्परा का पुनर्जागरण हुआ, फलतः प्राचीन सिद्धान्तों का विवेचन किया जाने लगा। रस-सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न पक्षों--रस-स्वरूप, रस-निष्पत्ति आदि पर आधुनिक ज्ञान के आलोक में गम्भीर तथा तात्त्विक विचार-विमर्श किया जा रहा है।

डॉ० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक **'रस-सिद्धान्त'** में रस-निष्पत्ति का निम्नलिखित सार-चित्र दिया है, जो उक्त विषय का स्मरण रखने में उपादेय सिद्ध होगा।

परम्परागत

आचार्य	आधारभूत दर्शन	निष्पत्ति का अर्थ	संयोग का अर्थ
भट्टलोल्लट	मीमांसा	उत्पत्ति	उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध
श्रीशंकुक	न्याय	अनुमिति	अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध
भट्टनायक	सांख्य	भुक्ति	भोज्य-भोजक सम्बन्ध
अभिनवगुप्त	वेदान्त	अभिव्यक्ति	व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध

संशोधित

भट्टलोल्लट	—	उपचिति	उपचेय-उपचायक सम्बन्ध
श्रीशंकुक	न्याय (बौद्ध)	अनुकृति, सहृदय की दृष्टि से अनुमिति	अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध
भट्टनायक	शैवाद्वैतवाद, मीमांसा	भाविति	भाव्य-भावक सम्बन्ध
अभिनवगुप्त	शैवाद्वैतवाद	अभिव्यक्ति	व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध

साधारणीकरण

रस-निष्पत्ति के साथ साधारणीकरण का भी सम्बन्ध है। काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि काव्य तथा नाटक में जिन रामादि विशिष्ट पात्रों का वर्णन रहता है, उनके भाव सर्वसाधारण या कम-से-कम सहृदय व्यक्तियों के आस्वाद के विषय कैसे हो जाते हैं? बहुत प्राचीन काल से काव्य लिखा और पढ़ा जाता रहा है और वह मानव की आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मास्वाद का उत्कृष्ट माध्यम रहा है। चिन्तनशील मानव ने जब काव्य के आस्वाद के विषय में विचार-विमर्श करना आरम्भ किया होगा, उसी समय उसके मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा होगा कि काव्य में वर्णित राम, दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बन्ध है? जब हमारे और उनके बीच देश और काल का इतना बड़ा अन्तर उपस्थित है, तो फिर उनके भाव हमारे आस्वाद के विषय कैसे बन

जाते हैं ? साधारणीकरण का सिद्धान्त इसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न का सर्वाधिक प्रामाणिक उत्तर है। साधारणीकरण बीजरूप में तो भरत के नाट्यशास्त्र में ही दृष्टिगत होता है : **एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।**[1] —अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है, तो रसों की निष्पत्ति होती है। परन्तु, इसका निश्चित उल्लेख प्रथम बार भट्टनायक के उद्धरणों में प्राप्त होता है।

भट्टनायक : भट्टनायक के उद्धरण में साधारणीकरण से सम्बन्ध रखनेवाला अंश यह है : **विभावादिसाधारणीकरणात्मना....भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः....भोगेन परं भुज्यत इति।**[2] —अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण-रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव-रूप रस....भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।

इसका विश्लेषण करने पर हमें नीचे लिखे तथ्य मिलते हैं :

१. साधारणीकरण विभाव आदि का होता है।

२. वास्तव में यह साधारणीकरण ही भावकत्व-व्यापार की आत्मा है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं।

३. भावकत्व-व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रसरूप में परिणत हो जाता है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भाव्यमान को साधारणीकृत का ही पर्याय माना है।

४. साधारणीकरण की प्रक्रिया रसास्वाद के पूर्व ही होती है। इस प्रक्रिया से रस के भिन्न-भिन्न अंग अपनी-अपनी विशिष्टताओं से मुक्त होकर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं।

अभिनवगुप्त : अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के साधारणीकरण-विषयक मत में कुछ संशोधन एवं परिवर्द्धन किया और उसे अपने ही विशेष ढंग से रखा। एतद्विषयक उनका उद्धरण निम्नलिखित है :

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्।[3]

—अर्थात् काव्य की उस प्रतीति में जो मृगशावक आदि विषय रूप से भासता है, उसके विशेष रूप न होने से यह भीत है, यह ज्ञान तथा त्रासक (दुष्यन्त आदि) के वास्तविक न होने से, भय ही देश, काल आदि से पूर्णतः असम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है।

---

१. नाट्यशास्त्र (सम्पादक : पं० केदारनाथ), अध्याय ७, पृ० १०६

२. हिन्दी-अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), अध्याय ६, पृ० ४६४-४६५

३. वही, पृ० १७१

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि जब आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाता है, तब स्थायी भाव भी निर्बन्ध हो जाता है, अर्थात् देश-काल के बन्धन में नहीं रहता। इसी तथ्य को अभिनवगुप्त ने आगे की पंक्तियों में और भी स्पष्ट किया है :

तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दु:खसुखादि-कृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं ....भयानको रस:।[1]

—अर्थात् इसीलिए 'मैं भीत हूँ', 'यह भीत है' या 'शत्रु, मित्र अथवा तटस्थ भीत हैं' इत्यादि सुख-दु:खकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमत: उत्पन्न करने के कारण विघ्न-बहुल प्रतीतियों से भिन्न, निर्विघ्न प्रतीति-रूप में ग्राह्य भय स्थायी भाव ही भयानक रस बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि काव्य में स्थायी भाव किसी प्रकार के व्यक्ति-संसर्ग से संदीप्त नहीं रहता, सर्वथा मुक्त रहता है। परिमिति के कारण इन व्यक्ति-संसर्गों से दु:खादि उत्पन्न होते हैं। इसलिए, जब इनसे मुक्ति हो जाती है, तब लौकिक सुख, दु:ख आदि की चेतना से भी मुक्ति मिल जाती है। आगे अभिनवगुप्त ने बताया है कि यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों से चित्रित चित्तवाले समस्त सामाजिकों की एक-जैसी वासना होने के कारण सभी को एक-जैसी ही प्रतीति होती है।

इन उद्धरणों के आधार पर साधारणीकरण के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के मत का सारांश निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है :

१. केवल विभावादि का ही नहीं, अपितु स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है। जिस प्रकार विभाव आदि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभाव आदि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।

२ स्थायी भाव के साधारणीकरण के द्वारा देश-काल के बन्धन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति हो जाती है। व्यक्ति-संसर्ग की चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुखात्मकता तथा दु:खात्मकता आविर्भूत होती है, उसी प्रकार व्यक्ति-चेतना रहने पर ऐन्द्रिय सुख-दु:ख की भावना का भी अन्त हो जाता है।

३. काव्य या नाटक के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक क्रिया नहीं है, प्रत्युत सामूहिक क्रिया है। एकमात्र सहृदय का ही भाव निर्विघ्न या मुक्त नहीं होता, अपितु सभी सामाजिक एकाग्रचित्त होकर सामूहिक रूप से मुक्त भाव का अनुभव करते हैं।

४. इस प्रकार स्थायी भाव का साधारणीकरण ही साधारणीकरण का मूल तत्त्व है।

---

१. अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), अध्याय ६, पृ० ४७१

अभिनवगुप्त द्वारा इस संशोधन को दृष्टि में रखकर काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण-सिद्धान्त को स्पष्ट किया है, जिसका अनुवाद निम्नलिखित है :

भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है, सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है, विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।[१]

इस व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि विभाव—आश्रय, आलम्बन तथा उद्दीपन—अनुभाव, स्थायी भाव तथा संचारी भाव—सभी का साधारणीकरण होता है। संचारी भाव का उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु स्थायी भाव कहने से संचारी भाव का ग्रहण होता है।

विश्वनाथ : परवर्ती रसशास्त्री इस मत को थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन करके दुहराते रहे। केवल कविराज विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत विवेचन में विचित्रता अथवा नवीनता के कुछ संकेत मिलते हैं। विश्वनाथ ने भी विभावादि और स्थायी भाव—सभी का साधारणीकरण माना है।[२] किन्तु अन्य आचार्यों से उनके विवेचन में अन्तर यह है कि उन्होंने आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य को अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका कथन है कि यही साधारणीकरण विभावादिकों का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्र में कूद जानेवाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है। यद्यपि समुद्र लाँघना मनुष्य से साध्य नहीं, तथापि हनुमान् आदि के साथ अभेद के बल से सामाजिकों के हृदय में भी वैसा उत्साह होने लगता है।[3]

इसका अभिप्राय यह है कि साधारणीकरण-व्यापार के कारण आश्रय के साथ प्रमाता का अभेद-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह अभेद केवल सामान्य आश्रय के ही साथ नहीं, अपितु अलौकिक शक्तिवाले देवादि के साथ भी स्थापित होता है। उदाहरणार्थ साधारणतः सामान्य व्यक्ति में समुद्र-लंघन का उत्साह सम्भव नहीं है, किन्तु काव्य और नाटक में साधारणीकरण के कारण हनुमान् के साथ उसका अभेद हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें समुद्र-लंघन जैसे अलौकिक उत्साह भी सहज रूप में सम्भव हो जाता है। यह प्रश्न भट्टनायक ने भी उठाया था, परन्तु अभावात्मक रूप में ही, किन्तु विश्वनाथ ने इसे भावात्मक रूप दिया और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

---

१. काव्यप्रकाश (निर्णयसागर प्रेस), चतुर्थ उल्लास, पृ० ६६

२. साहित्यदर्पण, परिच्छेद ३, का० १२-१३

३. वही, का० ९–११

पण्डितराज : पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अपने नव्यन्याय के प्रकाश में दूसरे ढंग से आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद का ही समर्थन किया है। परन्तु, इस प्रसंग में उन्होंने 'दोष' शब्द का प्रयोग अधिक शुद्ध तथा उपयुक्त माना है। इस विषय में उनका विचार द्रष्टव्य है :

"पहले तो हमें काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। फिर व्यंजना-व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् हम अपनी सहृदयता के कारण दुष्यन्तादि के विषय में पुनः-पुनः अनुसन्धान करने लग जाते हैं। यह भावना एक ऐसा दोष है, जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस समय हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती, अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तला-विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य-दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हममें शकुन्तला आदि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी आत्मा उनका भान करा देती है।"[1]

यहाँ पण्डितराज ने जो बात कही है, वही बात पहले विश्वनाथ भी कह चुके थे। उसी पर पण्डितराज ने दर्शन का रंग चढ़ा दिया है। उनके दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है, किन्तु दर्शन का पर्दा हटा देने पर स्पष्ट हो जायगा कि उन्होंने भी प्रमाता और आश्रय के तादात्म्य की ही बात कही है।

रामचन्द्र शुक्ल : पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् काव्यशास्त्र—विशेषतः रस-सिद्धान्त—के गम्भीर मनन और चिन्तन का क्रम समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने अपना प्रयत्न सरल प्रसंगों तक ही सीमित रखा और रस-सिद्धान्त तथा साधारणीकरण जैसे गम्भीर विषयों का विवेचन नहीं किया। अतः, काव्यशास्त्र का इतना गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण विषय उपेक्षित ही पड़ा रहा। लगभग तीन शतियों के उपरान्त आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध निबन्ध 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' में इस विषय का पुनरुद्धार किया। इस विषय में आचार्य शुक्लजी की दृष्टि अतीत पर न होकर वर्त्तमान पर ही केन्द्रित है; क्योंकि यह भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक अनुसन्धान का अंग नहीं, वरन् स्वतन्त्र चिन्तन का ही परिणाम है। इसलिए इस निबन्ध में

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन (अनुवाद)

साधारणीकरण-सिद्धान्त का विवेचन नहीं, अपितु पुनराख्यान ही प्रमुख है। अतः, उनकी स्थापनाओं के मूल्यांकन में यही दृष्टि अपेक्षित है।

साधारणीकरण से सम्बद्ध आचार्य शुक्ल के उद्धरण निम्नलिखित हैं :

१. जबतक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तबतक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।[१]

२. (क) काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं; वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ग) जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।[२]

३. कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष ही होगी, पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व-धर्म का होता है।[3]

४. व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा-बहुत होता है।........ 'विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं', इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मत में यह भेद-भाव नहीं रहता है कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।[४]

५. साधारणीकरण के आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।[५]

---

१. चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० २२७–२३०

२. वही

३. वही

४. वही

५. रसमीमांसा, पृ० ९९

इन उद्धरणों का विश्लेषण करने पर कुछ तथ्य हमारे सामने आते हैं। आचार्य शुक्लजी मूलतः आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। आलम्बन पहले कवि के भाव का विषय बनता है और तब सम्पूर्ण सहृदय-समाज के भाव का विषय बनता है। इसी प्रकार, आलम्बन का साधारणीकरण होता है।

आलम्बन के साधारणीकरण का अभिप्राय यह नहीं कि उसके व्यक्तित्व का ही लोप हो जाता है या वह व्यक्ति नहीं रहकर जाति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व तो पूर्ववत् स्थिर रहता है, केवल उसमें कतिपय ऐसे गुणों का सामावेश हो जाता है कि वह सभी सहृदयों के उसी भाव का विषय बन जाता है। आलम्बन के साधारणीकरण का यह अर्थ नहीं कि सीता अपना व्यक्तित्व खोकर केवल कामिनी रह जाती है, प्रत्युत उसमें शील-सौन्दर्य आदि के कारण कुछ ऐसे गुण आ जाते हैं कि वह सभी सहृदयों के प्रेम का विषय बन जाती है। आलम्बन का व्यक्तित्व भी लुप्त नहीं हो और उसका साधारणीकरण हो जाय—ये दोनों विरोधी बातें जान पड़ती हैं, परन्तु शुक्लजी ने इसका भी समाधान किया है। इसके लिए उन्होंने अपनी मूल स्थापना में भी कुछ संशोधन किया है। इस विषय में उनका कथन है कि साधारणीकरण, वास्तव में, आलम्बन-धर्म का होता है; दूसरे शब्दों में, उन सामान्य गुणों का साधारणीकरण होता है, जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती है। किन्तु, यहाँ कई उलझनें पैदा हो जाती हैं। सीता केवल कामिनी नहीं है, वे एक व्यक्ति हैं। वे राम की प्रिया हैं, किन्तु उनपर राम का प्रेम, शील, सौन्दर्य आदि कई गुणों के कारण है, जो गुण वस्तुतः सम्पूर्ण सहृदय-समाज में रति उत्पन्न कर सकते हैं। सीता राम की प्रिया है, परन्तु सीता के सामान्य गुण के ही आधार पर राम का प्रेम है, अतः वे उन सभी गुणों के आधार पर सहृदय-समाज को भी प्रिय हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सहृदयों के प्रेम का विषय सीता का व्यक्तित्व नहीं, बरन् उनके शील-सौन्दर्य आदि सामान्य गुण ही हैं।

वास्तव में, आचार्य शुक्लजी के सम्मुख यह समस्या है कि वे अपने दो सिद्धान्तों में कैसे सामंजस्य स्थापित करें। उनका पहला सिद्धान्त है कि काव्य का आलम्बन विशिष्ट होता है। दूसरा सिद्धान्त है कि काव्य का आस्वादन भाव की सामान्य पृष्ठभूमि पर होता है। इस समस्या का समाधान उन्होंने किया है कि कुशल कवि आलम्बन की विशिष्टता की रक्षा करते हुए सामान्य गुणों के आधार पर उसका साधारणीकरण कर लेते हैं। फलस्वरूप सीता के प्रति सहृदय का अनुराग हो जाता है, किन्तु उसके हृदय में यह भेद-भाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम के आलम्बन-स्वरूप हैं या उसके प्रेम के। ऐसी दशा में सहृदय का चित्त व्यक्ति-चेतना से सर्वथा मुक्त रहता है। शुक्लजी के मतानुसार पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, फिर वह आश्रय के माध्यम से उसे प्रकट करता है और अन्त में काव्य का आस्वादन करनेवाला सम्पूर्ण सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है। भट्टतौत का भी यही मत है। शुक्लजी के मत का सारांश सम्भवतः यही है।

डॉ० नगेन्द्र : इस प्रसंग में डॉ० नगेन्द्र का अभिमत द्रष्टव्य है—"साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्लजी के सामने नहीं थे—केवल विश्वनाथ का ही मत उनके सामने था। उसका भी उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतन्त्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोग-मात्र किया है। पहला तथ्य शुक्लजी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा, उनकी मौलिक प्रतिभा का।"[1]

केशवप्रसाद मिश्र : किन्तु आचार्य शुक्लजी का यह मत स्वीकृत भारतीय काव्य-सिद्धान्त से कुछ भिन्न है। अतः, कतिपय संस्कृतज्ञ काव्यशास्त्रियों ने इसपर कुछ आक्षेप किये हैं। पण्डित केशवप्रसाद मिश्र ने शुक्लजी के इस मत को भ्रम कहा है। वे अभिनवगुप्त के अनुसरण पर साधारणीकरण का अभिप्राय चित्तवृत्तियों का साधारणीकरण मानते हैं। विभाव का साधारणीकरण एकांगी है और भाव का ही साधारणीकरण वास्तविक तथा पूर्ण होता है। विभाव पर बल देने से विषय का महत्त्व प्रतिपादित होता है और इससे द्वैत की प्रतिष्ठा होती है। किन्तु द्वैतवादी रस-कल्पना मूल रूप से बौद्धिक तथा नैतिक आधार पर ही प्रतिष्ठित है। इस तर्क के आधार पर पं० केशवप्रसाद मिश्र आचार्य शुक्लजी की रस-दृष्टि को द्वैतवादी भट्टनायक के भुक्तिवाद के सिद्धान्त से सम्बन्ध जोड़कर उसे भी अपूर्ण ही मानते हैं। अभिनवगुप्त ने रस को आध्यात्मिक प्रक्रिया माना है और केशवजी भी इसी आध्यात्मिक प्रक्रिया में रस की पूर्णता मानते हैं। उनका विवेचन बहुत ही सूक्ष्म तथा मार्मिक है। उन्होंने आचार्य शुक्लजी की विभावनिष्ठ दृष्टि को अभिनव के अद्वैत की अपेक्षा भट्टनायक के द्वैत-सिद्धान्त के अधिक निकट माना है। फिर भी, उनके सभी निष्कर्ष सर्वथा ग्राह्य नहीं हैं। यह ठीक है कि विषय की सत्ता की स्वीकृति तथा नैतिक आधार ऐसे दो तत्त्व शुक्लजी के रस-विवेचन में विद्यमान हैं, जो भट्टनायक के सिद्धान्त में भी हैं, किन्तु भट्टनायक और शुक्लजी के मतों में कुछ स्पष्ट भेद है : १. भट्टनायक ने आलम्बन पर बल नहीं देकर सभी का साधारणीकरण माना है; २. निजकान्ता-स्मृति की सत्ता को उन्होंने रसास्वाद की प्रक्रिया में अस्वीकृत कर दिया है, परन्तु शुक्लजी ने इसे विकल्प रूप में मान भी लिया है; ३. भट्टनायक ने करुण आदि सभी रसों को आनन्दमय माना है, परन्तु शुक्लजी ने रस-कल्पना को हृदय की मुक्तावस्था का पर्याय माना है, अर्थात् वह भट्टनायक के 'भावकत्व'-व्यापार तक ही समाप्त हो जाती है, भोग तक नहीं पहुँचती।

पं० केशवप्रसाद मिश्र के बाद भी विवेचन का यह क्रम चलता रहा और डॉ० गुलाब राय तथा पं० रामदहिन मिश्र आदि ने रस का विवेचन किया, परन्तु उनके विवेचन में किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं होकर विषय की व्याख्या की ही प्रधानता है।

---

१. रस-सिद्धान्त, पृ० २०२

सारांश : ऊपर के विवेचन से ज्ञात होता है कि साधारणीकरण के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हमारे समक्ष हैं। सबका सारांश नीचे दिया जाता है :

१. **भट्टनायक का मत** : रस के सभी अंगों—विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारी भाव का साधारणीकरण होता है। विभाव आदि का साधारणीकरण पहले होता है और इसके फलस्वरूप स्थायी भाव का साधारणीकरण बाद में होता है। इस प्रकार, साधारणीकरण की प्रक्रिया में अत्यल्प मात्रा में क्रम रहता है। इस मत में विषय और विषयी दोनों पक्षों का सन्तुलन है।

२. **अभिनवगुप्त का मत** : रस के विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव तथा संचारी भाव सभी अंगों का साधारणीकरण होता है। विभावादि के साधारणीकरण के ही फलस्वरूप स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है, जिससे सहृदय की चेतना व्यक्ति-संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाती है। परन्तु, स्थायी भाव का साधारणीकरण ही अन्त में मुख्य हो जाता है और शेष ज्ञान उसमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस पक्ष में अन्ततः भाव तथा विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है।

३. **भट्टतौत का मत** : साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिन्दु हैं—कवि, नायक और श्रोता। जब इन तीनों के भाव का तादात्म्य हो जाता है तब साधारणीकरण पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। आचार्य शुक्ल ने भी यह मत मान लिया है।

४. **विश्वनाथ का मत** : इस मत के अनुसार भी विभावादि सभी अंगों का साधारणीकरण होता है, किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य अथवा अभेद पर बल दिया गया है। प्रमाता की चेतना विकसित होकर हनुमान् (विभाव) की चेतना के साथ तादात्म्य करके समुद्र-लंघन के समान अलौकिक कृत्यों में भी उत्साह का अनुभव करती है। इस रूप में विश्वनाथ का यह मत भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के मत से कुछ हटकर है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी दार्शनिक पदावली में इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनके मत से भी आश्रय के साथ अभेद ही मुख्य है।

५. **आचार्य शुक्ल का मत** : इस मत से आलम्बन या आलम्बन-धर्म का साधारणीकरण होता है। आलम्बन अपनी विशिष्टता की रक्षा करते हुए भी अपने सामान्य गुणों के कारण सहृदयों के चित्त में वैसा ही भाव जगाता है, जैसा काव्य-प्रसंग के अन्तर्गत आश्रय के चित्त में जगता है। इस प्रकार शुक्लजी भाव के साधारणीकरण को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु आलम्बन या आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण पर ही बल देते हैं।

विवेचन : मूल प्रश्न यह है कि उपरिलिखित में से कौन-सा विकल्प सत्य है, अर्थात् वास्तव में किसका साधारणीकरण होता है? इस प्रश्न का समाधान करने पर ही साधारणीकरण का वास्तविक महत्त्व स्पष्टतः बोधगम्य होगा।

कोई काव्य पढ़ते समय दो सत्ताएँ विद्यमान रहती हैं—पहली, वस्तु या विषय और दूसरी, प्रमाता या विषयी। विषय के अन्तर्गत विभाव-आलम्बन और उद्दीपन—

अनुभाव और संचारी भाव आते हैं; विषयी सहृदय या प्रमाता है। ऊपर देखा जा चुका है कि भट्टनायक के सिद्धान्त के अनुसार विषय के समस्त अवयवों—विषय (आलम्बन तथा उद्दीपन), अनुभाव और संचारी भाव का साधारणीकरण होता है और फलस्वरूप प्रमाता के स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है।

सर्वांग का साधारणीकरण : विश्लेषण करने पर देखा जा सकता है कि सभी संशोधनों का खण्डन हो जाता है। सभी विकल्पों के खण्डित हो जाने पर अन्त में हम भट्टनायक के इस मत पर आते हैं कि वास्तव में साधारणीकरण सभी अंगों का होता है। उदाहरण के लिए रामचरितमानस में वर्णित जनकपुर-वाटिका का प्रसंग लिया जाय। वहाँ आश्रय राम, आलम्बन सीता, राम की चेष्टाएँ अनुभाव, वाटिका का रम्य तथा हृदयग्राही वातावरण उद्दीपन, आश्रय राम के चित्त में संचरण करनेवाले हर्ष, मति आदि संचारी भाव—सभी का साधारणीकरण हो जाता है। इसका फल यह होता है कि सहृदय की चेतना भी व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाती है, अर्थात् उसका भी साधारणीकरण हो जाता है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति या भावना का होता है। जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस ढंग से व्यक्त करता है कि वह अनुभूति सभी व्यक्तियों के चित्त में समान अनुभूति जागरित करने में समर्थ हो जाय, तो कहा जाता है कि उस व्यक्ति में साधारणीकरण की शक्ति विद्यमान है। यों अनुभूति सभी व्यक्तियों में विद्यमान रहती है और सभी उसे थोड़ा बहुत अभिव्यक्त भी कर लेते हैं, किन्तु साधारणीकरण करने की क्षमता सभी में नहीं रहती। यही कारण है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति के विद्यमान रहने पर भी सभी कवि नहीं हो सकते। वही कवि होता है, जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करने का सामर्थ्य रखता हो।

विभिन्न रस

उत्पादक रस : भरत मुनि ने चार रसों को शेष रसों की उत्पत्ति का हेतु माना है। वे हैं—शृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। भरत ने इसका कोई पौराणिक कारण नहीं बताया है, परन्तु शारदातनय ने **भावप्रकाशन** में इस सम्बन्ध में दो मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत के अनुसार परमात्मा (ब्रह्मा) ने चार वेदों से चार रसों की रचना की। शृंगार सामवेद से, वीर ऋग्वेद से, रौद्र अथर्ववेद से और बीभत्स यजुर्वेद से निर्मित हुए। शारदातनय द्वारा उल्लिखित दूसरा मत व्यास का कहा गया है, जिन्होंने नारद को सिखाया और नारद से भरत को प्राप्त हुआ। भरत ने इसका प्रचार संसार में किया। इस मत के अनुसार विश्व के नाश के अनन्तर ब्रह्मा ने शिव के आदेशानुसार विश्व की सृष्टि की। फिर, ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह नामक रूपक रचा और भरतों ने उसका

अभिनय उनके समक्ष किया। जब ब्रह्मा अभिनय में शिव का प्रेम, त्रिपुर तथा दक्ष-यज्ञ का विनाश तथा विश्व का प्रलय देख रहे थे, तब वे अत्यन्त प्रभावित हुए। फलस्वरूप उनके चार मुखों से चार वृत्तियाँ—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती—अनायास निस्सृत हुईं। इन्हीं चार वृत्तियों से चार रस क्रमशः श्रृंगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स उत्पन्न हुए। इन चार रसों से हास्य, अद्भुत, करुण तथा भयानक भी कैसे निकल सकते हैं, इस तथ्य का विवेचन व्यास ने उसी त्रिपुरदाह रूपक के आधार पर तर्कपूर्ण ढंग से किया है।[1]

इस प्रकार, चार रस-युग्मों की स्थिति हो जाती है—श्रृंगार-हास्य, वीर-अद्भुत, बीभत्स-भयानक, रौद्र-करुण। इनका सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से जोड़ा जाता है। रसास्वाद के समय सामाजिक का मन या तो विकसित होता है या विस्तृत, या क्षुब्ध होता है या उसमें विक्षेप की क्रिया होती है। इस प्रकार, ये चार स्थितियाँ उपर्युक्त चार रस-युग्मों में देखी जाती हैं। श्रृंगार-हास्य में मानस में विकास होता है; वीर-अद्भुत में मानस में विस्तार होता है; बीभत्स-भयानक में उसमें क्षोभ होता है और रौद्र-करुण में उसमें विक्षेप की स्थिति रहती है। सामाजिक के चित्त में जब विकास तथा विस्तार होता है, तब उसे सुख मिलता है और जब क्षोभ तथा विक्षेप की स्थिति रहती है, तब दुःख का अनुभव होता है। इसलिए, कुछ आचार्य रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं, परन्तु अधिकतर आचार्य ऐसा नहीं मानते। उनका कथन है कि ये क्षोभ तथा विक्षेप लौकिक क्षोभ तथा विक्षेप से भिन्न होते हैं, अतः सर्वदा आनन्दजनक ही होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि श्रृंगार रस से चित्त में विकास तथा वीर रस से विस्तार होता है। इन दोनों रसों के नायक को सहज ही सामाजिक की सहानुभूति प्राप्त हो जाती है। इसलिए, पूर्णांग रूपकों में इन दो रसों की प्रधानता मिलती है। विकास और विस्तार को एक शब्द में विस्फार कहते हैं। विस्फार के कारण नाटक में श्रृंगार और वीर रसों की प्रधानता रहती है।

शान्त रस : ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में शान्त रस का विवेचन नाट्यशास्त्र में नहीं हुआ था। किन्तु, अभिनवगुप्त के समय तक यह रस स्थापित हो चुका था और इस विषय में पर्याप्त वाद-विवाद भी हो चुका था, जिसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने भी किया है।

शान्त रस शम स्थायिभावात्मक तथा मोक्ष में प्रवृत्त करनेवाला होता है। यह तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्त-शुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका आश्रय उत्तम पात्र होता है। अनित्यता, दुःखमयता आदि रूप से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप इस रस में आलम्बन होता है। ऋषि आदि का पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन तथा महात्माओं का सत्संग आदि शान्त रस के उद्दीपन हैं। यम, नियम, अध्यात्म-ज्ञान, ध्यान, धारणा, उपासना, प्राणिमात्र के प्रति दया, प्रव्रज्या-ग्रहण,

१. **भावप्रकाशन, तृतीय अधिकार, पृ० ५४—५८**

रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति, सर्वाश्रम, शौच, हर्ष, स्मरण, मति आदि इसके संचारी भाव हैं।

शान्त रस का स्थायी भाव : जो रसशास्त्री शान्त रस को नौवाँ रस मानते हैं, अभिनव ने पहले उनके मत का निरूपण किया है। इनमें से कुछ विद्वानों के मत से शान्त रस शम स्थायी भाव का स्वरूप है, जो तपस्या एवं योगियों के सम्पर्क आदि विभावों से उत्पन्न होता है। काम, क्रोध आदि के अभाव-रूप अनुभाव से इसका अभिनय होता है। दूसरी ओर, इसके विपक्षियों का तर्क है कि शम तथा शान्त समानार्थक शब्द हैं, इनमें से एक को स्थायी भाव और दूसरे को रस मानना कहाँ तक उचित माना जा सकता है? सब मिलाकर भावों की संख्या उनचास मानी गई है। शम के आ जाने से यह संख्या पचास हो जायगी, जिससे मान्य संख्या में अन्तर आ जायगा। काम आदि का अभाव इसका अनुभाव भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि इनका अभाव शान्त रस के विपक्षी वीर आदि रसों में भी होता है। अतः, इस अभाव की स्थिति से शान्त रस का द्योतन नहीं हो सकता। ऐसी दशा में वीर आदि रसों से शान्त की भिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देती। इस विषय में दूसरी बात यह है कि चेष्टाओं के अभाव का अभिनय सम्भव नहीं है, इसलिए नाट्य में इसका समावेश नहीं हो सकता। शम की निष्क्रिय स्थिति का अभिनय नहीं हो सकता। इन कारणों से शान्त रस को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अभिनव ने यह पक्ष उपस्थित करके समर्थन-पक्ष का प्रतिपादन किया है। संसार में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ माने गये हैं; इसी प्रकार शास्त्रों में मोक्ष भी चतुर्थ पुरुषार्थ माना गया है। काम आदि चित्तवृत्तियाँ रति आदि शब्दों के द्वारा निर्दिष्ट सहृदय सामाजिकों के लिए शृंगार आदि के रूप में आस्वाद्य बनाई जाकर रसत्व को प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार, मोक्ष नामक पुरुषार्थ-रूप चित्तवृत्ति शान्त रस का स्थायी भाव मानी जा सकती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि शान्त रस का स्थायी भाव क्या है? कुछ विद्वानों का मत है कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही इसका स्थायी भाव है। निर्धनता आदि से उत्पन्न निर्वेद शान्त रस के निर्वेद से भिन्न होता है। भरत ने इसे स्थायी भाव और संचारी भाव के बीच में रखा है। उन्होंने निर्वेद की गणना स्थायी भावों में नहीं की है, परन्तु संचारियों में इसे सर्वप्रथम रखा है। यदि भरत की दृष्टि में निर्वेद मोक्ष का साधन न होकर दरिद्रता आदि से सम्बद्ध होता तो वे इसे सर्वप्रथम स्थान नहीं देते; क्योंकि कहीं भी आरम्भ में मंगलमय शब्द का प्रयोग उचित है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि भरत ने स्वयं निर्वेद को संचारी भावों में गिनाया है, तो फिर इसे स्थायी भाव मानने का क्या आधार हो सकता है? अभिनव ने इस शंका का समाधान किया है कि भरत ने बीभत्स के स्थायी भाव जुगुप्सा का शृंगार के व्यभिचारी रूप में निषेध करते समय सभी स्थायी भावों का स्थायी भावत्व तथा व्यभिचारी भावत्व स्वीकार करने की अनुमति दी है। कोई व्यभिचारी भाव स्थायी भाव भी हो सकता है। इस प्रकार, यह माना जा सकता है कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव है।

तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को नहीं माननेवाले आचार्यों का कथन है कि तत्त्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति मान लेने पर भी शम का दूसरा नाम निर्वेद सिद्ध होता है। फिर, शम को ही शान्त रस का स्थायी भाव क्यों नहीं माना जाय? यदि आपत्ति उठाई जाय कि 'शम' और 'शान्त' का एक ही अर्थ है, तो फिर 'हास्य' और 'हास' की स्थिति भी तो समान ही है। इस प्रकार, इस दोष का समाधान हो जाता है। स्थायी भाव लौकिक और रस अलौकिक होता है, सिद्ध साधनता के दोष का निराकरण हो जाता है। दोनों में साधारण तथा असाधारण का अन्तर रहने के कारण शम और शान्त में विलक्षणता बनी रहती है। अतः, निर्वेद को शान्त का स्थायी भाव नहीं मानकर शम को ही माना जाना चाहिए।

कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार रति आदि आठ स्थायी भाव ही शृंगार आदि में प्रयुक्त विभावों से भिन्न आध्यात्मिक प्रसंग आदि अलौकिक विभावों के आश्रय से भिन्न रूप में प्रकट होते हैं। अभिप्राय यह है कि स्थायी भाव का अन्तर नहीं होकर शान्त रस-परक विभावों का अन्तर होता है। इन आठ स्थायी भावों में से कोई भी शान्त रस का स्थायी भाव हो सकता है। इस पक्ष के समर्थक अपना मत भरत के ही अनुकूल सिद्ध करते हैं। भरत ने विशिष्ट विभावों की गणना कराने के साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है और इस प्रकार अन्य विभावों का ही समाहार कर लिया है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि उन्होंने अलौकिक हेतुओं से रति आदि से भी मोक्ष की सिद्धि को स्वीकार किया है।

अभिनवगुप्त ने इस स्थापना का खण्डन किया है। सभी स्थायी भावों को शान्त के स्थायी भाव के रूप में स्वीकार करनेवालों में किसी एक की स्थायी भाव के रूप में स्थिति सिद्ध नहीं होती। अनेक विभावों के भेद से भिन्न-भिन्न स्थायी भावों को शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में मानना उपयुक्त भी नहीं है। यदि विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न स्थायी भावों की स्थिति मानी जाय, तो रस के अनन्त भेदों को स्वीकार करना पड़ेगा। यदि यह तर्क दिया जाय कि मोक्षरूप फल एक होने के कारण शान्त रस एक ही रूप होगा, तब इस दशा में वीर, रौद्र आदि सभी को एक ही रस मानना होगा; क्योंकि वे सभी आनन्दपरक हैं।

इस विषय में एक अन्य मत भी है। इस मत के अनुसार पानक रस के आस्वाद के समान शान्त रस में सभी स्थायी भाव मिलकर स्थायी भाव का रूप लेते हैं। परन्तु, यह सम्भव नहीं; क्योंकि एक साथ कई चित्तवृत्तियों की स्थिति नहीं हो सकती। फिर, विरोधी भावों के रहने से यह स्थिति कभी भी सम्भव नहीं। अन्त में, अभिनव ने स्वयं प्रश्न उठाया है कि तब शान्त रस का स्थायी भाव किसे स्वीकार किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने स्वीकार किया है कि पहली बात यह है कि तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन होता है, अतः उसे ही स्थायी भाव का साधन मानना उचित है। तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान का

ही नाम है और आत्मज्ञान ऐन्द्रिक ज्ञान से भिन्न होता है। इसलिए, अभिनव के अनुसार शान्त रस का स्थायी भाव आत्मा ही है।

फिर, इस स्थापना के विरुद्ध प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा को स्थायी भाव माना जाय, तो किसी दूसरे स्थायी भाव की क्या आवश्यकता रह जाती है? परन्तु, इससे दूसरे स्थायी भावों का अस्थायित्व नहीं सिद्ध होता। इसका कारण यह है कि रति आदि स्थायी भाव अलग-अलग कारणों से उत्पन्न और विलीन होकर भी आत्मारूपी स्थायी के आश्रित स्थायी भाव कहे जाते हैं; इनका स्थायित्व सापेक्ष होता है। परन्तु, तत्त्वज्ञान के साथ ऐसी बात नहीं है; वह अन्य भावों का आश्रय है और दूसरे भावों की अपेक्षा अधिक स्थायी है। इसके सन्दर्भ में अन्य स्थायी भाव व्यभिचारी भाव के सहायक हो जाते हैं। इसीलिए, भरत ने इसे अलग से स्थायी भावों में नहीं गिनाया है। अतः, भावों की संख्या उनचास युक्ति-संगत है।

भरत ने इस आत्म-स्वरूप अनुभव को 'शम' नाम नहीं दिया। किन्तु, कोई इस आत्म-स्वरूप को 'शम' अथवा 'निर्वेद' नाम से पुकारे, तो कोई अनुचित भी नहीं है। केवल इतना ही है कि 'शम' एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है। यह निर्वेद भी दीनता आदि से उत्पन्न निर्वेद के सदृश नहीं है। यह निर्वेद या शम आत्मा का स्वरूप नहीं होकर चित्तवृत्ति-मात्र है। इसलिए, शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में आत्मा को ही शमता या तत्त्वज्ञान कहा जायगा। इसके अलग-अलग विकारों से रति आदि भाव होते हैं। सभी लौकिक एवं अलौकिक चित्तवृत्तियाँ तत्त्वज्ञान-रूपी स्थायी भाव का व्यभिचारी रूप मानी जाती हैं। शान्त रस स्वभाव-रूप कहा जाता है, दूसरे रस तो विकार-रूप हैं।

मनुष्य परोपकार करने के प्रयत्न में स्वयं को कृतकार्य अनुभव करता है, अतः यह इच्छा या प्रयत्न-रूप उत्साह, जिसे दूसरे शब्द में दया कहते हैं, शान्त रस का अन्तरंग होता है। इसीलिए, कतिपय विद्वान् इसे दयावीर या धर्मवीर भी कहते हैं। इन विद्वानों के मतानुसार दयावीर तथा धर्मवीर शान्त रस के ही अन्तर्गत चले आते हैं। परन्तु, अभिनव ने इस मत का खण्डन किया है। उनका तर्क है कि उत्साह अहंकार से प्रेरित होता है, किन्तु शान्त रस में अहंकार शिथिल हो जाता है; इसीलिए शान्त रस के विरुद्ध प्रकृतिवाला उत्साह शान्त रस का अंग कैसे बन सकता है? इसके समाधान के रूप में कहा जा सकता है कि सर्वदा अनुकूल व्यभिचारियों का ही प्रयोग स्वीकार नहीं किया जा सकता; विरुद्ध भावों का व्यभिचारी के रूप में वर्णन अनुचित नहीं माना जा सकता। ऐसे प्रसंग में उत्साह शान्त रस के ही अन्तर्गत माना जायगा।

शान्त रस की स्थिति : शान्त रस की स्थिति सिद्ध करने के उपरान्त अभिनवगुप्त ने शास्त्रों का भी प्रमाण दिया है। इतिहास, पुराण तथा अभिधान-कोश आदि में नव रस का उल्लेख किया गया है। उन्होंने अपने गुरु के सिद्धान्तशास्त्र का प्रमाण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नव रस ही स्वीकार करना उचित है। शान्त रस के

विभाव हैं—लोक के प्रति वैराग्य और संसार की भीति। निर्वेद, मति, धृति आदि इसके संचारी भाव हैं। अतः स्मृति, धृति तथा उत्साहपरक ईश्वर-भावमूला भक्ति तथा श्रद्धा शान्त रस के अंग-रूप हैं। इस स्थल पर अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि भक्ति शान्त रस के अन्तर्भूत है। इसलिए इसे अलग रस नहीं माना गया है। इस बात के समर्थन में अभिनव ने **संग्रहकारिका** का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

शान्त रस को अस्वीकार करनेवाले आचार्य अपने मत का समर्थन डिम के लक्षण से करते हैं। डिम में छह रसों की स्थिति मानी गई है और उसमें हास्य तथा शृंगार का निषेध किया गया है :

शृङ्गारहास्यवर्जैः शेषैरन्यैः रसैः समायुक्तः।
दीप्तरसकाव्ययोनिर्नानाभावोपसम्पन्नः ॥[1]

परन्तु, शान्त रस के प्रबल समर्थक अभिनव ने इसका भी समाधान निकाल लिया है। उनका कथन है कि '**दीप्तरसकाव्ययोनि**' आदि कहलानेवाले डिम से शान्त रस का निषेध नहीं, समर्थन ही होता है। रौद्ररस-प्रधान डिम में शान्त रस की सम्भावना ही नहीं हो सकती, तो फिर उसका निषेध ही क्यों किया जाय ? इसीलिए, शृंगार और हास्य के साथ शान्त का उल्लेख नहीं किया गया है। अभिनव का तर्क है कि डिम में रौद्र की प्रधानता रहने से ही शान्त की पृथक्ता का निर्देश हो जाता है। डिम को सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियों से युक्त कहा गया है, अतः इन वृत्तियों से रहित करुण तथा अद्भुत का स्वतः ही निषेध हो जाता है। शान्त रस में सात्त्वती वृत्ति का प्रयोग माना गया है, इसलिए उसकी पृथक्ता के लिए ऐसा कहना संगत हो सकता है। इस प्रकार, तर्क-बल से अभिनव शान्त रस की स्थापना करते हैं, जो वास्तव में भरत द्वारा स्वीकृत नहीं माना जा सकता।

अभिनव ने आगे बताया है कि डिम में बलपूर्वक उपभोग किये जानेवाले शृंगार का प्रयोग हो सकता है और हास्य उसके अंगरूप में स्वीकृत किया जा सकता है। इसीलिए, उनके निषेध की आवश्यकता समझी गई। शान्त मूलभूत रस, अर्थात् आत्मापरक है, अतः इसके रंग और देवता की कल्पना उचित है, परन्तु अन्य रसों की समानता के कारण ऐसा किया गया है। इस प्रकार, शान्त रस की सत्ता सभी रसों में प्रधान तथा सम्पूर्ण इतिहास में व्याप्त मानना उचित है। फिर अभिनव ने शान्त रस के आस्वादन की विधि पर भी विचार किया है। उत्साह, रति आदि स्थायी भाव आत्मा को आच्छादित किये रहते हैं, परन्तु यह आत्मतत्त्व इन भावों के बीच चमकता रहता है। जब यह आत्मभाव रति आदि सभी भावों के उस रूप में वर्त्तमान रहने पर भी आभासित हो जाता है, तब विषयों से पराङ्मुख होकर दुःखों से छुटकारा मिलता है और परम आनन्द की उपलब्धि होती है।

शान्त रस के विषय में कुछ अन्य आचार्यों के मत द्रष्टव्य हैं :

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, का० १३७ (काव्यमाला)**

धनंजय : धनंजय ने 'शम' नामक स्थायी भाव का निषेध करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है :

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥[1]

कुछ लोग शम को भी स्थायी भाव मानते हैं, परन्तु नाट्य में इसकी पुष्टि नहीं होती। इस कारिका की वृत्ति लिखते समय धनिक ने शम स्थायी भाव तथा शान्त रस को अस्वीकार करने के कारणों का विवेचन किया है। उन्होंने शम-विरोधी तीन मत प्रस्तुत किये हैं :

१. कुछ लोग शान्त रस को स्वीकार ही नहीं करते; क्योंकि भरत मुनि ने उनके विभावादि का प्रतिपादन नहीं किया और उनके लक्षण भी नहीं लिखे।

२. कुछ लोग शान्त रस का निषेध इस कारण से करते हैं कि राग-द्वेष अनादिकाल से आ रहे हैं और इनका नाश होना सम्भव नहीं है।

३. कुछ अन्य लोग शान्त रस का अन्तर्भाव वीर, बीभत्स आदि रसों में कर लेते हैं।

धनंजय शम भाव या शान्त रस का निषेध केवल नाटकादि रूपकों में करते हैं। शम से सभी व्यापारों की समाप्ति हो जानी चाहिए, परन्तु व्यापारों की इस समाप्ति का अभिनय नहीं किया जा सकता। अतः अनभिनेय होने के कारण शान्त रस की स्थिति नाटकादि में अस्वीकृत ही करनी होगी। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि में शान्त रस की स्थिति लक्षित होती है। कुछ लोग इन्हें धीरप्रशान्त कोटि का नायक मान लेते हैं। नागानन्द नाटक में शान्त रस की स्थिति माननेवाले विद्वानों को धनिक ने उत्तर दिया है—नागानन्द का नायक जीमूतवाहन एक ओर मलयवती से प्रेम करता है और दूसरी ओर चक्रवर्त्ती-पद प्राप्त करता है। ये दोनों बातें शम भाव के विरुद्ध हैं। वास्तव में जीमूतवाहन दयावीर है तथा नागानन्द में वीररस ही प्रधान है। इस वीररस का मलयवती-प्रेम तथा विद्याधर-चक्रवर्त्तित्व-लाभ से कोई विरोध नहीं दिखाई देता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नागानन्द नाटक में शान्त रस की स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती।

शारदातनय : शारदातनय ने काव्यालंकार और श्रृंगारतिलक में व्यक्त रुद्रट के इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है कि प्रत्येक व्यभिचारी भाव रस का रूप धारण कर सकता है। इसी आधार पर उन्होंने इस स्थापना का विरोध किया है कि किसी व्यभिचारी भाव से शान्त रस उत्पन्न होता है। धनंजय का अनुसरण करते हुए शारदातनय ने 'शम' या 'निर्वेद' को शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में स्वीकार नहीं किया।

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ३५

विश्वनाथ : कविराज विश्वनाथ ने शान्त रस को स्वीकार किया और इसका स्थायी भाव शम माना। इसका वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान शुक्ल और देवता लक्ष्मीनारायण हैं। शान्त की पुष्टि महाभारत में देखी जा सकती है। दयावीर या किसी भी वीर में शान्त रस का अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि वीरता में देहाभिमान अवश्य रहता है, परन्तु शान्त रस में अहंकार की गन्ध भी नहीं रहती। नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन को विश्वनाथ ने भी दयावीर ही माना है, शान्त नहीं। प्रश्न उठता है :

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः॥

इसके अनुसार तो परमात्मस्वरूप मुक्ति-दशा में ही यथार्थ शान्त रस सम्भव है। परन्तु, उस समय तो इन संचारी आदिकों का होना सम्भव नहीं। फिर, काव्य आदि में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के द्वारा शान्त रस की निष्पत्ति कैसे मानी जाय? विश्वनाथ इसका उत्तर देते हैं कि युक्त, वियुक्त और युक्त-वियुक्त दशा में अवस्थित शम स्थायी ही शान्त रूप में परिणत होता है; मोक्ष-दशा का शम नहीं, अतः उक्त शम में संचारी आदि भावों की स्थिति विरुद्ध नहीं मानी जा सकती। शान्त दशा में जो सुख का अभाव कहा गया है, उसका अभिप्राय है कि उस समय विषयजन्य सुख नहीं होता। यह बात नहीं है कि उस समय किसी भी प्रकार का सुख होता ही नहीं।

मम्मट तथा शार्ङ्गदेव : मम्मट तथा संगीतरत्नाकर के लेखक शार्ङ्गदेव ने शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद माना है :

निर्वेदः स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[1]

क्योंकि, भरत ने व्यभिचारी भावों की गणना करते समय निर्वेद को प्रथम स्थान दिया है, यद्यपि यह अशुभ है। मम्मट का अनुमान है कि ऐसा करने में भरत का संकेत नवम रस शान्त का इसे स्थायी भाव बनाने की ओर ही है। नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र-गुणचन्द्र निर्वेद को स्थायी भाव स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं, और उनकी मान्यता है कि यह व्यभिचारी भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

अयं च (निर्वेदः) रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी, न स्थायी।[2]

संगीतरत्नाकर तथा शिंगभूपाल द्वारा लिखित उसकी वृत्ति में निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव ग्रहण करने के विषय को लेकर मनोरंजक विचार-विमर्श किया गया है।[3] वृत्तिकार शिंगभूपाल ने संगीतरत्नाकर के कुछ शब्दों की व्याख्या करने के पश्चात् अन्त में टिप्पणी लिखी है कि ये सब मिलकर शान्त रस का स्थायी भाव बनते हैं। मम्मट ने

---

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४७
२. नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, पृ० १५७
३. संगीतरत्नाकर, पृ० ८१६

निर्वेद को व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव दोनों स्वीकार किया, परन्तु दो अलग-अलग लक्षण नहीं दिये। 'प्रतापरुद्र-यशोभूषण' की टीका में कुमारस्वामी ने शम का लक्षण देते समय यहाँ तक कह दिया कि शम निर्वेद का पर्याय है :

शमं लक्षयति। शम इति। अत्रादिशब्देनेश्वरानुग्रहसत्सङ्गमादिकं गृह्यते। विकारा विषयाभिलाषादयः। तद्रहितचित्तत्वं वैराग्यादिजन्यतृष्णाक्षयाद्यपरपर्यायो निर्वेदाख्यो मनोविकारः शम इत्यर्थः।[1]

पण्डितराज : पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव का अन्तर बताया है। ये भाव मानस के परिवर्त्तन हैं, अतः क्षणिक हैं। दोनों वासना-रूप में स्थित रहते हैं, अतः उनमें स्थायित्व नहीं रहता। जो भाव अनेक बार आता है, स्थायी भाव कहा जाता है और जो भाव एक ही बार बिजली की चमक के समान आता है, व्यभिचारी कहा जाता है।[2]

पण्डितराज ने शान्त रस की स्थिति स्वीकार की है और इसका स्थायी भाव शम माना है।

मम्मट ने रस-दोषों का विवेचन करते समय एक उदाहरण देकर कहा है : **अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः।**[3] वहाँ शृंगार रस के विरोधी शान्त रस का विभाव अनित्यता और शान्त रस का व्यभिचारी निर्वेद से तात्पर्य है, जैसा विभाव द्वारा प्रकाशित है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस विषय में मम्मट की आलोचना की है कि उन्होंने एक स्थल पर निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव और दूसरे स्थल पर उसे शान्त रस का व्यभिचारी भाव कह-कर स्वयं अपना ही खण्डन किया है : **मम्मटस्तु 'व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां प्रतिकूलविभावादिग्रह इत्यत्र तमेव प्रति व्यभिचारितां च ब्रुवाणः स्ववचन विरोधेन प्रतिहत इति।'**[4]

निष्कर्ष : यदि हम देखें कि ये दो प्रकार के निर्वेद किस रीति से दो विभिन्न कार्य करते हैं, तो हमें पता चल जायगा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा यह आलोचना कहाँ तक संगत है। मम्मट चाहते तो शान्त रस के स्थायी भाव का नाम बदल सकते थे, परन्तु भरत के प्रति आदर-भाव के कारण उन्होंने नहीं बदला। भरत ने व्यभिचारियों की सूची में निर्वेद को प्रथम स्थान दिया और इसलिए मम्मट ने निर्वेद को स्थायी रूप में स्वीकार किया। निर्वेद अशुभ माना जाता है, अतः इसे सूची में प्रथम स्थान नहीं मिलता।

---

१. प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० २३६
२. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ३७ (टीका० मथुरानाथ शास्त्री)
३. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, श्लोक ३२७ के बाद
४. नाट्यदर्पण, विवेक ३, पृ० १५७

इससे मम्मट ने अनुमान किया कि इसे शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार करना चाहिए, जिसका उल्लेख भरत ने नहीं किया।

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताभिधानार्थम्।[1]

अतः, शान्त रस की स्थिति में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

शृंगार रस का स्थायी भाव, रति, अन्य रसों में व्यभिचारी का रूप धारण कर सकता है, इसी प्रकार प्रत्येक स्थायी विभिन्न रसों में व्यभिचारी बन सकता है। विभावों के अनुसार वे स्थायी या व्यभिचारी कहे जाते हैं। संगीतरत्नाकर में कहा गया है कि शम सभी रसों में होता है और स्थिरता आने पर इसके स्थायी हो जाने का भय रहता है। अन्य रसों की निष्पत्ति में आवश्यकता आने पर यह व्यभिचारी नहीं भी रह सकता है।

यथा हि हासः शृङ्गारे रतिः शान्ते च दृश्यते।
वीरे क्रोधो भयं शोके जुगुप्सा च भयानके॥
उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ।
शमः सर्वरसेष्वस्ति स्थैर्यत्वेऽव्यभिचार्यसौ॥[2]

रस-संख्या

एतिहासिक विकास-क्रम : भरत ने रसों की संख्या आठ ही मानी है :

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥[3]

इस आठवाली संख्या का निर्धारण भरत ने नहीं किया, प्रत्युत उनके पहले स्वयं ब्रह्मा ने (अथवा द्रुहिण नामक किसी ऋषि ने) किया था :

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना।[4]

स्पष्ट है कि भरत के समय में रसों की संख्या आठ ही थी और संख्या प्राचीन परम्परा के आधार पर निश्चित की गई थी। आगे चलकर अभिनवगुप्त ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भरत ने रसों की संख्या नौ मानी है और इसके प्रमाण में अभिनव ने नाट्यशास्त्र के किसी पाठ का हवाला दिया है। वे लिखते हैं : **ते च नव। शान्तापलापिनस्त्वष्टाविति तत्र पठन्ति**—अर्थात् वे रस नौ होते हैं। परन्तु, नाटक में शान्त रस को न

---

१. काव्यप्रकाश ५, चतुर्थ उल्लास, सू० ४६ के बाद
२. संगीतरत्नाकर, पृ० ८४०
३. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० १६
४. वही, अध्याय ६, का० १७

माननेवाले तो **'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः'** के स्थान पर **'बीभत्साद्भुत-संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः'**—ऐसा पाठ मानते हैं।[1]

किन्तु, अभिनव का कथन ठीक नहीं है। भरत ने रस की संख्या के वर्णन में दो बार आठ रसों के विषय में कहा है। आगे भी कई स्थलों पर आठ ही रसों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[2] भावों के प्रसंग में भी भरत ने ४९ भावों की गणना दी है (८ स्थायी + ८ सात्त्विक + ३३ संचारी = ४९)।[3] इन स्थलों पर भी अभिनव ने पाठ-भेद दिया है, फिर भी यही विश्वास होता है कि भरत ने रसों की संख्या आठ ही मानी है और यह संख्या परम्परा से पूर्णतया पुष्ट थी।

दण्डी तथा उद्भट : आगे चलकर दण्डी ने काव्यादर्श में आठ ही रस माने। किन्तु, कुछ समय के बाद उद्भट ने स्पष्ट रूप से नौ रसों का उल्लेख किया :

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥[4]

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शान्त रस की उद्भावना उद्भट ने ही की, परन्तु जिस तरह बेधड़क उन्होंने शान्त रस का उल्लेख किया है, उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने चलती आती परम्परा का पालन-मात्र किया है; अर्थात् उनके समय तक शान्त रस रस-शास्त्रियों में स्वीकृत हो चुका था। एक सम्भावना यह भी है कि उद्भट ने नाट्यशास्त्र का जो भाष्य लिखा था (जो अब उपलब्ध नहीं है), उसमें शान्त रस की युक्तिसंगत स्थापना की हो। जो हो, वर्त्तमान स्थिति में इतना ही कहा जा सकता है कि उद्भट ने ही शान्त रस-सहित नौ रसों का उल्लेख सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसंग्रह में किया। वामन ने सभी रसों के नाम भी नहीं दिये और संख्या भी नहीं दी। रुद्रट ने उस संख्या में प्रेयान् नामक रस बढ़ा दिया। परन्तु, यह प्रचलित नहीं हो सका; क्योंकि उनके प्रायः समसामयिक रुद्रभट्ट ने 'शृंगारतिलक' में नौ ही रसों का वर्णन किया है।

धनंजय : आनन्दवर्द्धन ने नौ ही रसों का उल्लेख किया है। इस काल में दो आचार्यों—धनंजय और अभिनवगुप्त—ने इस विषय का सम्यक् विवेचन किया है। यों तो महिमभट्ट, अग्निपुराणकार आदि ने भी रस को पर्याप्त महत्त्व दिया है, परन्तु रस-संख्या के विषय में उन्होंने कोई बात नहीं कही। धनंजय ने रस-संख्या की समस्या का समाधान नये ढंग से किया। उनका समाधान है कि नाट्य में तो आठ ही रसों की सम्भावना है। कुछ विद्वान् शम स्थायी भाव और उसके परिपाक शान्त रस को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु

---

१. हिन्दी-अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ४२९
२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ४०–४६
३. वही, अध्याय ७, का० ६ के बाद गद्य
४. काव्यालङ्कारसंग्रह, ४-४

रूपकों में उसकी पुष्टि नहीं होती : **शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।**[1] इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि काव्य में नौ रस की स्थिति धनंजय को स्वीकार है, परन्तु उनका विवेच्य विषय रूपक होने के कारण वे शान्त रस का वर्णन उपादेय नहीं समझते। उन्होंने प्रेयान् और भक्ति-रसों का भी खण्डन किया है। किसी-किसी विद्वान् ने उस समय मृगया रस तथा अक्ष (द्यूत) रस का उल्लेख किया था; धनंजय ने सबका खण्डन किया है :

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्त्तिताः॥[2]

—अर्थात् कुछ लोग प्रीति, भक्ति आदि को स्थायी भाव मानते हैं तथा मृगया, जुआ आदि को रस मानते हैं। इनका समावेश हर्ष, उत्साह आदि स्थायी भावों में ही हो जाता है। अतः, इनका पृथक् विवेचन करना ठीक नहीं समझा गया है।

अभिनवगुप्त : परन्तु, अभिनवगुप्त ने अत्यन्त बल देकर शान्त रस को काव्य और नाटक दोनों में प्रतिष्ठित किया है। वस्तुतः, उन्होंने इस प्रसंग में काव्य तथा नाटक में कोई अन्तर नहीं माना। इस प्रकार, उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि रस नौ ही होते हैं :

एवं ते नवैव रसाः। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। इस प्रकार, वे नौ ही रस होते हैं। क्योंकि, पुरुषार्थ में उपयोगी होने से अथवा रंजन की विशेषता (अधिकता) के कारण इतने ही रसों को मानने योग्य कहा जा सकता है।[3] परन्तु, उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कुछ विद्वान् इन नौ रसों के अतिरिक्त तीन अन्य रसों को भी मानते हैं—१. आर्द्रता-स्थायिक स्नेह-रस, २. गर्ध-स्थायिक लौल्य रस, ३. भक्ति-रस। परन्तु, इनका अलग अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता।[4]

राजा भोज : रसों की संख्या सबसे अधिक बढ़ानेवाले राजा भोज हुए। उन्होंने, अपने ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश में प्रायः सभी प्राप्त मतों का संकलन किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में उन्होंने प्रचलित नव रस के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त और उद्धत रसों का उल्लेख किया है :

शृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः॥[5]

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ३५
२. वही, का० ८३
३. हिन्दी-अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ६४०
४. हिन्दी-अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ६४१
५. सरस्वतीकण्ठाभरण, परिच्छेद ५, का० १६४ (काव्यमाला-संस्करण)

यह काव्यमाला-संस्करण का पाठ है। परन्तु, डॉ० राघवन का मत है कि शुद्ध पाठ **'शान्तोदात्तोद्धता रसाः'** होना चाहिए और इन नये रसों की उद्भावना नायक-भेद के आधार पर की गई है; यथा प्रेयान्, धीरललित, शान्त, धीरप्रशान्त, उदात्त, धीरोदात्त, उद्धत, धीरोद्धत। इनके अतिरिक्त भोज ने स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग, तथा संगम रसों की भी चर्चा की है। वास्तव में, उन्हें रसों की अनन्तता में विश्वास था।

जैन आचार्य : जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में स्नेह, लौल्य तथा भक्ति रसों का उल्लेख करके उनका खण्डन कर दिया है। वे अभिनवगुप्त से बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं। उनके शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने प्रायः वैसी ही चर्चा की है, परन्तु उन्होंने तीन नये रसों के विषय में भी लिखा है। वे नये रस हैं—व्यसन, दुःख तथा सुख।[1] परन्तु, उन्होंने यह भी लिख दिया है कि कुछ लोग इन्हें रस तो मानते हैं, किन्तु इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त नौ रसों में ही कर लेते हैं।

विश्वनाथ : कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में नव रस का विवेचन करके वत्सल रस को लगभग स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है :

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।[2]

प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई-कोई वत्सल रस भी मानते हैं। इसके बाद उन्होंने वात्सल्य रस के सभी अंगों—स्थायी भाव, विभाव आदि का विवेचन किया है।

भानुदत्त : भानुदत्त ने और भी नवीन उद्भावना की है। पहले उन्होंने रस के दो मौलिक वर्ग माने हैं—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक रस छह इन्द्रियों के अनुसार छह होते हैं और अलौकिक रस ज्ञान के तीनों रूपों के अनुसार तीन होते हैं—१. स्वाप्निक, २. मानोरथिक, तथा ३. औपनायिक। इन अलौकिक रसों में स्वप्न में प्राप्त रस स्वाप्नायिक कहा जाता है और मनोरथ-विषयक रस मानोरथिक होता है। ये दोनों ही रस सुख-दुःखात्मक होते हैं। अलौकिक रस का तीसरा भेद काव्य के शब्दार्थ एवं नाट्य से सिद्ध होता है—अर्थात् अलौकिक रस-वर्ग के तीसरे भेद का नाम काव्यरस या नाट्यरस है। भानुदत्त ने काव्यरस के अन्तर्गत परम्परागत नव रस को स्वीकार कर लेने पर भी वात्सल्य, लौल्य तथा भक्ति के अतिरिक्त दो नये रसों—कार्पण्य तथा माया—का भी उल्लेख किया है।[3] किन्तु, उन्होंने इनका उल्लेख-मात्र किया है। उन्हें वात्सल्य, लौल्य एवं भक्ति के साथ-साथ कार्पण्य को रस मानना स्वीकार नहीं है। इसका कारण यह है कि

१. नाट्यदर्पण, अध्याय ३, का० ९ की वृत्ति
२. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० २५१
३. रसतरंगिणी, पृ० १६१

इनके स्थायी भाव आर्द्रता, अभिलाषा, श्रद्धा के समान ही स्पृहा भी व्यभिचारी भाव ही हैं, स्वतन्त्र रूप से स्थायी भाव नहीं।

रूपगोस्वामी : इस विषय में वैष्णव-आचार्य रूपगोस्वामी का भी प्रयास द्रष्टव्य है। उन्होंने रसशास्त्रियों के इस निष्कर्ष का कलापूर्ण विरोध किया कि भक्ति केवल भाव है, रस नहीं। उन्होंने भक्ति को प्रधान एवं शास्त्रीय रसों को गौण निर्धारित किया। रूपगोस्वामी ने दो प्रकार के रस बताये :[1]

१. मुख्य रस

शान्त भक्तिरस	:	शान्ति स्थायी
प्रीत भक्तिरस	:	प्रीति स्थायी
प्रेयान् भक्तिरस	:	सख्य स्थायी
वत्सल भक्तिरस	:	वात्सल्य स्थायी
मधुर भक्तिरस	:	मधुरा रति स्थायी

२. गौण रस

हास्य भक्तिरस	:	हास-रति स्थायी
अद्भुत भक्तिरस	:	विस्मय-रति स्थायी
वीर भक्तिरस	:	उत्साह-रति स्थायी
करुण भक्तिरस	:	शोक-रति स्थायी
रौद्र भक्तिरस	:	क्रोध-रति स्थायी
भयानक भक्तिरस	:	भय-रति स्थायी
बीभत्स भक्तिरस	:	जुगुप्सा रति स्थायी

इनके अतिरिक्त एक नये रस व्रीडनक रस का उल्लेख डॉ० राघवन ने जैनों के अनुयोगद्वारसूत्र के आधार पर किया है।[2] व्रीडनक रस का स्थायी भाव व्रीडा या लज्जा है। भरत के काव्यशास्त्र में सूत्रकार तथा टीकाकार (मलधारी-हेमचन्द्र) दोनों में से किसी का भी कोई स्थान नहीं है। फिर भी, केवल नवीनता के कारण व्रीडनक रस का उल्लेख किया गया।

पण्डितराज जगन्नाथ : संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने इस विस्तार-प्रवृत्ति का प्रबल विरोध किया और परम्परागत रस-संख्या की फिर से प्रतिष्ठा करने पर बल दिया : **रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः।**[3] अर्थात् भक्ति आदि रसों का समावेश करने से मुनि द्वारा निर्धारित संख्या भंग हो जायगी, अतः शास्त्र का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है।

---

१. भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० ३०६ (डॉ० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत)
२. डॉ० राघवन : दि नम्बर ऑव रसास, पृ० १४१
३. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ५६ (टीका० मथुरानाथ शास्त्री)

मध्ययुगीन तथा आधुनिक आचार्यों के मत

केशव तथा देव : मध्ययुग में भारत की विभिन्न भाषाओं में काव्यशास्त्र का विकास नहीं हो सका; केवल हिन्दी में रीतिकालीन कवियों तथा आचार्यों के प्रयत्न से दो शतियों तक काव्यशास्त्र का व्यापक विकास होता रहा। परन्तु, हिन्दी में भी जो कुछ कार्य हुआ, वह वर्णनात्मक ही था, उसमें समीक्षा का अभाव था। अतएव, हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों का यही श्रेय है कि उन्होंने संस्कृत की अत्यन्त विकसित रस-परम्परा का हिन्दी में अवतरण और कुछ अंशों में पोषण भी किया। रस-संख्या के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि केशव ने (रसिक-प्रिया में) और देव ने (भाव-विलास में) शृंगार रस के 'प्रच्छन्न' तथा 'प्रकाश' भेदों को मान्यता दी। देव ने रस के लौकिक तथा अलौकिक भेद माने और महाराज रामसिंह ने अपने काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ 'रमा-निवास' में रस के लौकिक-अलौकिक भेद तो किये ही, प्रत्येक रस के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेदों का स्वतन्त्र वर्णन किया। परन्तु, इसमें नवीनता कुछ नहीं है। प्रच्छन्न और प्रकाश भेदों का उल्लेख रुद्रट एवं भोज बहुत पहले ही कर चुके थे। फिर लौकिक-अलौकिक तथा स्वनिष्ठ-परनिष्ठ भेदों की उद्भावना भानुदत्त ने की थी, जिसके आधार पर यहाँ भी किया गया। देव ने लौकिक-अलौकिक के भेद भानुदत्त से लिये, परन्तु व्याख्या में कुछ अन्तर कर दिया है। ऊपर लिखा जा चुका है कि भानुदत्त ने काव्य-रसों को अलौकिक रस के तीसरे भेद औपनायिक के उपभेद माना है, परन्तु देव ने इन्हें लौकिक रस के ही उपभेद माना है। फिर उन्होंने अलौकिक रस के तीनों भेदों—स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनायिक के क्रमशः स्वप्न, मनोरथ एवं लीला के आधार पर हरि-रस की कल्पना की है। इस अन्तर का कारण क्या हो सकता है? सम्भव है कि जब भक्ति-रस की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक प्रतिष्ठा हो गई हो, तो देव ने भानुदत्त के मत में थोड़ा संशोधन कर दिया हो।

भारतेन्दु : मध्यकालीन आचार्यों ने जहाँ रस के उपभेदों पर बल दिया, वहाँ आधुनिक विद्वानों ने मूल रस-भेदों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा है। हिन्दी के विद्वानों में सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी पुस्तक 'नाटक' में प्राचीन परम्परा के प्रति आदर-भाव प्रदर्शित करते हुए भी रसों के संख्या-निर्धारण अथवा परिसीमन का प्रबल विरोध किया है। उनका कथन है : 'इसके (रस के) मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आवे तो मानिए, न आवे तो न मानिए।'[१]

प्राचीन आचार्यों ने जिन रसों को मान्यता दी है, उनमें भारतेन्दुजी ने भक्ति, वात्सल्य तथा सख्य को तो जोड़ा ही, इनके अतिरिक्त प्रमोद या आनन्द रस को भी जोड़ दिया। इनमें से प्रथम तीन—भक्ति, वात्सल्य तथा सख्य—की तो संस्कृत के अनेक काव्याचार्यों ने मान्यता दी थी और प्रमोद या आनन्द रस भी भारतेन्दु की मौलिक

---

१. **कविवचन-सुधा, पृ० १७९**

उद्भावना न होकर मूलतः भोज की उद्भावना था। फिर भी भारतेन्दुजी ने बहुत विश्वास के साथ इन रसों को स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित किया।

आधुनिक युग में सभी भारतीय भाषाओं में हिन्दी, मराठी तथा बँगला का रसशास्त्र अधिक समृद्ध माना जाता है। इन भाषाओं के रसशास्त्र में उपर्युक्त बारह रसों (स्वीकृत नव रस के साथ वात्सल्य, भक्ति तथा सख्य) के ही खण्डन-मण्डन की विशेष चर्चा है। वैसे भक्ति-रस की प्रतिष्ठा हिन्दी में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार आदि विद्वानों ने बहुत आग्रह और प्रबल ढंग से की है। किन्तु, आज की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सम-सामयिक काव्य के आधार पर कुछ नवीन रसों की कल्पना की गई है। इनमें प्रधान रस हैं—प्रकृति-रस (उदात्त रस), देशभक्ति-रस, क्रान्ति-रस और प्रक्षोभ-रस।

आचार्य शुक्ल और प्रकृति-रस : हिन्दी में प्रकृति-रस की प्रतिष्ठा करनेवाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं। उन्होंने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इस रस की स्थापना की है। उनकी स्थापना है कि प्रकृति के प्रत्यक्ष तथा काव्य-निबद्ध दोनों रूपों के आस्वाद में रस निहित है। रस-मीमांसा में उन्होंने लिखा है : १. जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम-घूमकर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह रस-दशा नहीं, तो क्या है?

२. जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है?[1]

भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य में ऐसी प्रचुर सामग्री प्राप्य है, जिसके आधार पर प्रकृति-वर्णन के रसात्मक रूप की स्थापना की जा सकती है। किन्तु, प्रत्यक्ष प्रकृति-रस की स्थापना आचार्य शुक्लजी की अपनी मौलिक उद्भावना है। यह उद्भावना अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है; क्योंकि शास्त्र में प्रत्यक्ष अनुभव को रसानुभूति नहीं मानकर लौकिक भावानुभूति ही माना गया है, भले ही वह प्रत्यक्ष अनुभव अत्यन्त परिष्कृत अथवा उदात्त हो।

अब इस प्रकृति-रस के अंगों का विश्लेषण किया जाय। इसका स्थायी भाव माना गया है रति। आचार्य शुक्लजी ने इसे साहचर्यजन्य मानते हुए भी वासनागत माना है; क्योंकि अपनी आदिम तथा चिरन्तन सहचरी के प्रति मनुष्य का प्रेम अब एक संस्कार के रूप में हो गया है। प्रकृति-रस में प्रकृति आलम्बन के रूप में चित्रित होती है, उद्दीपन-रूप में नहीं। जो लोग प्रकृति को मात्र उद्दीपन-रूप में ग्रहण करते हैं, उनके प्रति आचार्य शुक्ल ने व्यंग्य किया है। उनका तर्क है कि काव्य में प्रकृति-वर्णन पढ़कर पाठक अवश्य ही भावमय आनन्द में विभोर हो जाता है—यह भावमय आनन्द ही रस है, अतः प्रकृति-काव्य निश्चय ही रसात्मक होता है। इसके विरुद्ध यह तर्क संगत नहीं है कि 'आश्रय, आलम्बन

---

१. **रस-मीमांसा, पृ० १४३**

आदि सम्पूर्ण रस-सामग्री प्रकृति-काव्य में नहीं मिलती; अथवा प्रकृति के प्रति रतिभाव एकांगी है, आलम्बन की प्रतिक्रिया से वह पुष्ट नहीं हो पाता ।' क्योंकि, केवल आलम्बन-वर्णन से भी रस-परिपाक हो सकता है ।

प्रकृति-रस को मराठी विद्वानों ने उदात्त रस कहा है ।

गुलाब राय और देशभक्ति-रस : आधुनिक भारतीय काव्य में देशभक्ति-रस भी विकसित हुआ है । यह भी उन नवीन रसों में है, जिनका स्थान संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा में नहीं है । इसका विकास हिन्दी से भी अधिक मराठी में हुआ है । हिन्दी में डॉ० गुलाब राय ने देशभक्ति-रस को स्वतन्त्र मान्यता प्रदान की है । उन्होंने इस रस का स्थायी भाव देश-प्रेम माना है । इनके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी देश-भक्ति का महत्त्व स्वीकार किया है । परन्तु, इन्होंने देशभक्ति को स्वतन्त्र रस नहीं स्वीकार किया, प्रत्युत प्रेम को व्यापक रूप देकर उसी के अन्तर्गत देशभक्ति को भी रख दिया है ।

अन्य नये रस : क्रान्ति, उद्वेग, प्रक्षोभ—मराठी के कतिपय विद्वानों ने आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर कुछ अन्य नवीन रसों की उद्भावना की है । इनमें क्रान्ति-रस, उद्वेग-रस तथा प्रक्षोभ-रस की प्रधानता है । उन विद्वानों ने इन रसों का विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य की विभिन्न नवीन प्रवृत्तियों से ही नवीन रसों की उद्भावना की प्रेरणा प्राप्त हुई है । आधुनिक भारतीय साहित्य में जिन चेतनाओं का उदय हुआ है, वे बहुलांश में पाश्चात्त्य साहित्य के प्रभाव-स्वरूप तथा भारत में नव जागृति के परिणाम-स्वरूप हैं । स्वभावतः, वे प्राचीन परम्परा से कई रूपों में भिन्न तथा नवीन हैं । अतः, उनकी समीक्षा तथा मूल्यांकन करने के लिए काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में संशोधन तथा परिवर्द्धन करने की आवश्यकता हो गई है । उपर्युक्त नवीन रस-कल्पनाएँ काव्यशास्त्र के इसी संशोधन तथा पुनर्विचार का फल हैं ।

उपभेद-विस्तार : रस के भेदों तक ही विस्तार की इस प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ । उपभेदों का भी बहुत विस्तार हुआ । भरत ने भी उपभेदों का बहुत विस्तार किया है ।

शृंगार रस के उपभेद : भरत ने अवस्थाओं के अनुसार शृंगार रस के दो भेद किये—१. सम्भोग और २. विप्रलम्भ । आगे चलकर भरत ने शृंगार के दो भिन्न दृष्टियों से तीन-तीन भेद किये हैं—१. अभिनय की दृष्टि से : (क) वाचनात्मक, (ख) वेशात्मक; (ग) क्रियात्मक[1] । २. पुरुषार्थों की दृष्टि से : (क) धर्म-शृंगार; (ख) अर्थ-शृंगार; (ग) काम-शृंगार । ये भेद बाद में लुप्त हो गये । इस प्रकार, दो ही भेद सम्भोग तथा विप्रलम्भ काव्य में प्रचलित हुए । भरत के बाद रुद्रट ने सम्भोग और विप्रलम्भ को उसी रूप में स्वीकार किया और विप्रलम्भ के चार भेदों—प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण—का सम्भवतः

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ७८ (काव्यमाला)

प्रथम बार स्पष्ट रूप से उल्लेख किया। उन्होंने शृंगार के दो अन्य भेद भी किये—प्रच्छन्न और प्रकाश, जिसका अनुकरण राजा भोज ने पीछे किया।

धनंजय ने भरत द्वारा निर्दिष्ट भेदों में थोड़ा परिवर्त्तन किया। उन्होंने दो भेदों के स्थान पर तीन भेदों—अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग—की उद्भावना की। इस प्रकार, उन्होंने पूर्वराग अथवा अयोग को विप्रलम्भ का उपभेद नहीं मानकर एक स्वतन्त्र भेद मान लिया और विप्रयोग के अन्तर्गत करुण को स्थान नहीं दिया। अतः विप्रयोग के दो ही उपभेद बच गये—मान और प्रवास। इनके भी अलग-अलग उपभेद हैं। मान के दो उपभेद हैं—१. ईर्ष्यमान और २. प्रणयमान। प्रवास के तीन उपभेद हैं—१. कार्यजन्य (भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान); २. सम्भ्रमजन्य—अर्थात् दैवी अथवा मानुषी विप्लव के कारण, और ३. शापजन्य।[1] मम्मट ने रस के न भेदों और न उपभेदों के विस्तार में अपनी रुचि दिखाई। शृंगार रस के विषय में उन्होंने केवल विप्रलम्भ के उपभेदों में थोड़ा अन्तर दिखाया। उन्होंने चार के स्थान पर पाँच उपभेद माने—१. अभिलाष-निमित्तिक (पूर्वराग), २. विरह-निमित्तिक, ३. ईर्ष्या-निमित्तिक (मान), ४. प्रवास-निमित्तिक और ५. शाप-निमित्तिक। इनमें विरह की नवीन उद्भावना है।[2] हेमचन्द्र ने करुण विप्रलम्भ को शृंगार का भेद नहीं मानकर करुण रस के ही अन्तर्गत माना।[3]

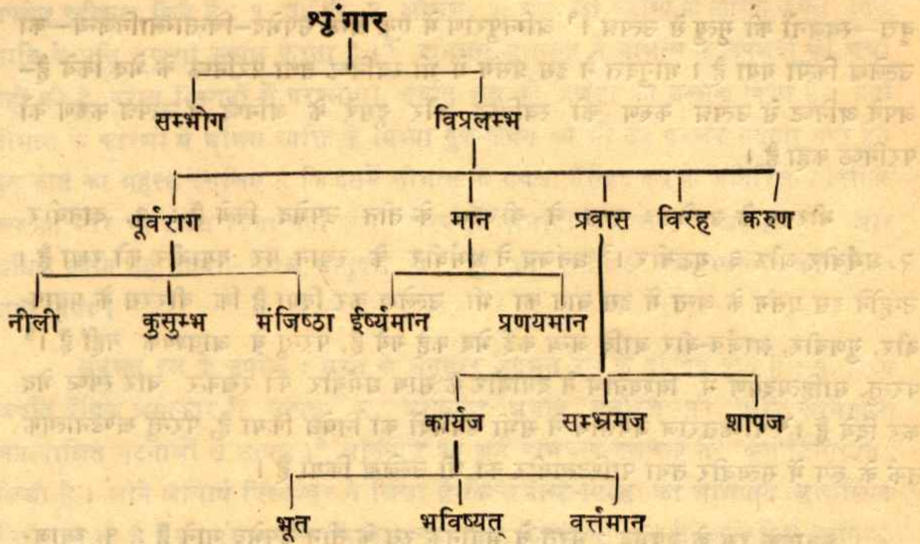
रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने मम्मट द्वारा निर्दिष्ट पाँचों उपभेदों को उसी रूप में स्वीकार कर लिया।[4]

कविराज विश्वनाथ ने विस्तार के प्रति अधिक अभिरुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने पूर्वराग के भी तीन भेद कर दिये हैं—१. नीली राग, २. कुसुम्भ राग और ३. मंजिष्ठा राग।[5] भानुदत्त ने नवीनता दिखाने का असफल प्रयास किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट विप्रलम्भ के वे ही पाँच भेद हैं, जिन्हें मम्मट ने बताया है—केवल नामों में थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त भी उन्होंने तीन अन्य उपभेदों की चर्चा की है—समय-हेतुक, दैव-हेतुक और विडवरादि (उपद्रवादि)-हेतुक। किन्तु, उनका उल्लेख केवल प्रसंग से हुआ है, नियम से नहीं।[6]

आगे के मानचित्र में शृंगार रस के भेदोपभेदों को स्पष्ट किया गया है। इनमें विभिन्न आचार्यों द्वारा दिये लगभग सभी उपभेद दिखाये गये हैं : धर्म-शृंगार, अर्थ-शृंगार, काम-शृंगार (वचनात्मक, वेशात्मक, क्रियात्मक); प्रच्छन्न और प्रकाश।

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ५७–६६
२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, का० २९ के बाद गद्य
३. काव्यानुशासन, अध्याय २, सू० ६
४. नाट्यदर्पण, अध्याय ३, का० १०
५. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० १९५
६. रसतरंगिणी, पृ० १४०-१४१



हास्य रस के उपभेद : भरत ने हास्य के मूल रूप से दो उपभेद माने हैं : १. आत्मस्थ और २. परस्थ।[1] अभिनवगुप्त ने आत्मस्थ का अर्थ लिया है ऐसा हास्य, जो स्वयं प्रमाता के चित्त में उत्पन्न होता है, अर्थात् स्वगत हास्य और परस्थ ऐसा हास्य माना है, जो दूसरों को हँसते देखकर उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् **अन्यत्र संक्रान्त हास्य**।[2] आगे चलकर भरत ने प्रकृति-भेद से छह भेद किये हैं—उत्तम प्रकृति में १. स्मित तथा २. हसित; मध्यम प्रकृति में ३. विहसित तथा ४. उपहसित; अधम प्रकृति में ५. अपहसित तथा ६. अतिहसित।[3] ये उपभेद हसन-क्रिया के मात्रा-भेद पर निर्भर करते हैं, फिर भी हास-भाव या रस के न्यूनाधिक्य से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, अभिनव ने यह बात स्पष्ट कर दी है। ये सभी भेद आत्मस्थ तथा परस्थ दोनों में होते हैं, अतः सब मिलाकर हास्य के बारह भेद हुए। अभिनय की दृष्टि से शृंगार की ही भाँति, तीन अतिरिक्त भेद होते हैं—वचनात्मक, वेशात्मक और क्रियात्मक। परवर्त्ती आचार्यों ने हास्य के अधिक भेद नहीं किये। आत्मस्थ तथा परस्थ का भी उल्लेख केवल धनंजय और भानुदत्त ने किया, अन्य आचार्यों ने नहीं। अग्निपुराण में तो अपहसित तथा अतिहसित को भी छोड़ दिया गया है।[4]

करुण रस के उपभेद : भरत ने करुण रस के तीन उपभेदों का उल्लेख किया है : १. धर्मोपघातज—धर्म-हानि से उत्पन्न, २. अर्थोपचयोद्भव-अर्थ-हानि से उत्पन्न और ३. शोक-

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, पृ० ९७ (काव्यमाला)
२. हिन्दी-अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ५७३
३. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ५४
४. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (ने० प० हाउस), पृ० ५६

वृत्त—स्वजनों की मृत्यु से उत्पन्न ।[1] अग्निपुराण में एक अन्य उपभेद—चिन्ताग्लानिजन्य—का उल्लेख किया गया है । भानुदत्त ने इस प्रसंग में भी स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ के भेद किये हैं—अपने अनिष्ट से उत्पन्न करुण को स्वनिष्ठ और दूसरे के अनिष्ट से उत्पन्न करुण को परनिष्ठ कहा है ।

वीररस के उपभेद : भरत ने वीररस के तीन उपभेद किये हैं : १. दानवीर, २. धर्मवीर और ३. युद्धवीर ।[2] धनंजय ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर को रखा है । उन्होंने इस प्रसंग के अन्त में इस बात का भी उल्लेख कर दिया है कि वीररस के प्रताप-वीर, गुणवीर, आर्जव-वीर आदि अन्य कई भेद कहे गये हैं, परन्तु वे आवश्यक नहीं हैं ।[3] परन्तु, साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने दयावीर के साथ धर्मवीर को रखकर चार स्पष्ट भेद कर दिये हैं ।[4] पण्डितराज जगन्नाथ ने सभी उपभेदों का निषेध किया है, परन्तु खण्डनात्मक तर्क के रूप में सत्यवीर तथा पाण्डित्यवीर का भी उल्लेख किया है ।

भयानक रस के उपभेद : भरत ने भयानक रस के तीन उपभेद माने हैं : १. व्याज-जन्य या कृत्रिम, २. अपराधजन्य और ३. वित्रासितक अर्थात् खतरे की शंका से उत्पन्न ।[5] परवर्त्ती आचार्यों में से किसी ने इस रस के अधिक भेद नहीं किये । केवल भानुदत्त ने अपने प्रिय स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ भेदों का आरोपण भयानक रस पर भी किया । उनके अनुसार जहाँ प्रत्यक्ष भय का स्वयं अनुभव हो, वहाँ स्वनिष्ठ भयानक और वहाँ दूसरे के भय से भय की संक्रामक प्रतीति हो, वहाँ परनिष्ठ भयानक रस होता है ।[6]

बीभत्स रस के उपभेद : भरत ने बीभत्स रस के दो भेद किये हैं : १. रुधिर आदि से उत्पन्न होनेवाला शुद्ध अथवा क्षोभण और २. विष्टा, कृमि आदि से उत्पन्न होनेवाला अशुद्ध अथवा उद्वेगी ।[7] अभिनवगुप्त ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए भट्टतोत के मतानुसार बताया है कि ये दोनों ही अशुद्ध बीभत्स के भेद हैं । शुद्ध बीभत्स तो वह होता है, जो संसार के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न करके मोक्षदायक सिद्ध होता है । अतः, वस्तुतः बीभत्स के दो भेद हुए : १. शुद्ध और २. अशुद्ध । फिर अशुद्ध के दो भेद हुए : (क) क्षोभण और (ख) उद्वेगी ।[8] अभिनवगुप्त के अनुसार ये ही तीन उपभेद हैं । धनंजय ने तीन

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ७९ (काव्यमाला)
२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ८०
३. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ७२
४. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० २३४
५. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ८१
६. रसतरंगिणी, पृ० १५४
७. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ८२
८. हिन्दी-अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ६०८

उपभेद स्वीकार किये हैं : १. उद्वेगी, २. क्षोभण, ३. शुद्ध, जो वैराग्य के कारण जघन, स्तन आदि के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न करता है।[2] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने बीभत्स के उपभेदों की चर्चा नहीं की है, परन्तु विभावों में परश्लाघा, अर्थात् शत्रु की प्रशंसा का उल्लेख किया है। यहाँ बीभत्स के कारणों में घृणित व्यक्ति के मिथ्या गुण-कथन को भी उद्वेगजनक बताया गया है। इस बात का महत्त्व इसलिए है कि इसमें बीभत्स के सर्वथा ऐन्द्रिय रूप के अतिरिक्त मानसिक रूप की ओर भी संकेत किया गया है। परवर्ती आचार्यों ने बीभत्स के उपभेद की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया—केवल भानुदत्त ने यहाँ भी स्वनिष्ठ और परनिष्ठ का झमेला लगा दिया।

अद्भुत रस के उपभेद : भरत के अनुसार अद्भुत रस के दो भेद होते हैं : १. दिव्य अर्थात् दैविक चमत्कार से उत्पन्न, २. आनन्दज अर्थात् मनोरथ की सिद्धि करनेवाली अप्रत्याशित घटनाओं से उत्पन्न।[3] आनन्दज का अर्थ रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'अभीष्टसिद्धितः' लिखा है। आगे आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है कि अभीष्ट-सिद्धि का अभिप्राय आकस्मिक सिद्धि का ही है। इस रस का भेद-विस्तार नहीं हुआ, केवल भानुदत्त ने अपने प्रिय स्वनिष्ठ-परनिष्ठ सिद्धान्त का आरोपण कर दिया है।

रौद्र रस के उपभेद : भरत ने श्रृंगार रस के उपभेदों का वर्णन करते समय रौद्र रस के तीन उपभेद बताये हैं।[4] श्रृंगार के समान रौद्र के भी तीन भेद होते हैं : १. आंगिक या क्रियात्मक, २. वेशात्मक तथा ३. वचनात्मक। इसके बाद रौद्र रस का भेद-विस्तार नहीं हुआ।

भरत ने इस प्रकार आठ रसों के उपभेदों का वर्णन किया और उन्हीं के अनुकरण पर परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने भी विवेचन किया। केवल शान्त रस के भेद नहीं किये गये, परन्तु इस रस की कल्पना भरत के बाद ही हुई थी। सभी आचार्यों ने इन उपभेदों का अधिकाधिक विस्तार किया। इस प्रकार, श्रृंगार के ५२ उपभेद, हास्य के ३६, करुण के ८, वीर के ९, भयानक के ६, बीभत्स के ६, अद्भुत के २, रौद्र के ३ = सबका योग १२२ उपभेद हुए।

उपभेदों की कल्पना का आधार : अनेक आधारों पर उपभेदों की कल्पना की गई है। स्वयं भरत ने जो उपभेद किये, उनमें भी अनेक आधार दृष्टिगत होते हैं। कुछ आधार ये हैं : (क) चित्तवृत्ति, (ख) अवस्था या परिस्थिति, (ग) विभाव या प्रेरक कारण, (घ) अभिनय, (ङ) कहीं-कहीं इनमें एक से अधिक का मिश्रण किया गया है, (च) वर्ण्य विषय से सम्बद्ध। काव्य-क्षेत्र के साथ आचार्य भिन्न-भिन्न रसों में वर्णित प्रसंगों के अनुसार

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ७३

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ८३

३. वही, अध्याय ६, का० ७८

उपभेदों का विस्तार करते गये। आगे चलकर अन्य रसों के उपभेद तो भुला दिये गये, परन्तु नायिका-भेद के विस्तार और प्रसार के साथ-साथ शृंगार रस के उपभेद बढ़ते ही गये।

विश्लेषण तथा निष्कर्ष : डॉ० नगेन्द्र ने रस-संख्या का सुन्दर विश्लेषण अपने ग्रन्थ रस-सिद्धान्त में किया है। मैं उनसे सहमत हूँ। इसका सारांश निम्नलिखित है :

१. सभी प्रकार की कल्पनाओं तथा उद्भावनाओं को यदि मिलाया जाय, तो रस-भेदों का पूर्ण योग ३२ होता है। उनका विश्लेषण इस प्रकार होगा :

(क) प्राय: सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत रस—शृंगार, हास्य, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त = ९

(ख) एक से अधिक आचार्यों द्वारा निश्चयपूर्वक स्वीकृत रस—प्रेयान् (सख्य), वात्सल्य, भक्ति, आनन्द (प्रमोद), प्रकृति तथा देशभक्ति = ६

(ग) किसी एक आचार्य द्वारा निश्चयपूर्वक स्वीकृत रस—उदात्त, उद्धत, माया, व्रीडनक (४ प्राचीन रस); क्रान्ति, उद्वेग, प्रक्षोभ (३ नवीन रस) = प्राचीन और नवीन मिलकर ७ (सात)।

(घ) ऐसे रस, जिनका उल्लेख केवल खण्डन के लिए किया गया है—लौल्य, अक्ष (द्यूत), मृगया, व्यसन, दु:ख, सुख, कार्पण्य = ७

(ङ) नाममात्र के लिए उल्लिखित रस—पारवश्य, साध्वस, विलास = ३

= पूर्ण योग ३२।

२. इन नवीन कल्पनाओं के मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन आधार हैं :

(क) व्यावहारिक : यहाँ व्यावहारिक का अभिप्राय है नाट्यगत तथा काव्यगत वर्ण्य विषयों पर आश्रित। उदात्त, उद्धत, मृगया, अक्ष, व्यसन, देशभक्ति, क्रान्ति, प्रकृति आदि रसों की कल्पना प्राय: काव्य या नाटक के वर्ण्य विषयों के आधार पर ही की गई है।

(ख) मनोवैज्ञानिक : आरम्भिक आठ रस—शृंगार आदि—के अतिरिक्त प्रेयान्, वात्सल्य, लौल्य, सुख, दु:ख, व्रीडनक आदि का आधार मनोवैज्ञानिक ही है।

(ग) दार्शनिक : आत्मा की प्रवृत्तियों पर आधारित—शान्त, भक्ति, माया आदि रसों की उद्भावना का आधार सामान्यत: दार्शनिक है।

३. मुख्य रूप से उन्हीं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तार की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जिनका विवेच्य विषय नाट्य है। इसका कारण यह है कि इसमें दृश्य ही प्रधान होता है, अत: इन ग्रन्थकारों का दृष्टिकोण स्वभावत: अधिक विषयपरक हो गया है।

४. अधिक आचार्यों ने रस-संख्या का अधिक विस्तार पसन्द नहीं किया। यह सत्य है कि बहुत-से आचार्यों को रस-संख्या के परिसीमन के विषय में स्पष्ट रूप से शंका हुई है। लोल्लट, रुद्रट आदि ने तो सभी संचारियों को रसत्व का अधिकारी मानकर

रसों की कोई सीमा निर्धारित करना पसन्द नहीं किया, परन्तु उन्होंने परम्परा का अनुसरण ही उचित माना; क्योंकि उन्हें भय था कि यदि कोई भी अन्य संख्या निर्धारित की जायगी, तो उसपर भी विवाद होगा ही।

५. प्राचीन आचार्यों में से किसी ने भी स्वीकृत रसों में से एक का भी निषेध नहीं किया और आठ से कम संख्या नहीं मानी। केवल अनुयोग-द्वारसूत्र में भयानक का अन्तर्भाव रौद्र रस में करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु काव्यशास्त्र में उस सूत्र का कोई स्थान नहीं है। हिन्दी में भी किसी स्वीकृत रस का विरोध नहीं किया गया और प्राचीन परम्परा का ही पालन करने का प्रयत्न किया गया।

एक मूल रस की कल्पना : भारतीय काव्यशास्त्र के चिन्तकों की यह विशिष्टता है कि जहाँ एक ओर रसों की अनन्तता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर एक मूल रस में सभी रसों का समाहार करने के भी प्रयास किये जा रहे थे। भारतीय चिन्तनधारा के अध्येता को इस प्रयत्न में बहुत आश्चर्य नहीं होना चाहिए; क्योंकि भारतीय दृष्टि विस्तार-प्रिय होने पर भी अद्वैत पर ही केन्द्रीभूत होती है, अनेकता में एकता के अनुसन्धान के प्रयत्न सदा होते रहे हैं। स्वभावतः रस-क्षेत्र में भी रसों के भेदोपभेदों के विस्तार के साथ ही एक रस में सभी का समाहार करने का उपक्रम भी परस्पर-विरोधी नहीं कहा जा सकता।

करुण रस : एको रसः करुण एव—इस दिशा में प्रथम प्रयास भवभूति का है। उन्होंने उत्तररामचरित में तमसा के मुख से कहलाया है :

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥[१]

एक ही करुण रस निमित्त भेद से विभिन्न रूप धारण करता है, जिस प्रकार आवर्त्त, बुद्बुद और तरंग का रूप धारण करने पर भी जल अन्ततः जल ही रहता है।

अधिकांश विद्वानों ने माना है कि यह भवभूति की सैद्धान्तिक मान्यता है, जिसे उन्होंने नाटकीय शैली में उपस्थित किया है। उत्तररामचरित के टीकाकार वीर राघव ने इसी मत का समर्थन किया है और भोज द्वारा प्रतिपादित शृंगार-सिद्धान्त के विरुद्ध करुण रस के पक्ष के समर्थन में दो तर्क दिये हैं :

१. जीवन में करुणा की प्रचुरता है और २. रागी और विरागी दोनों ही समान रूप से इसका अनुभव करते हैं (जबकि शृंगार का अनुभव केवल रागी ही करते हैं)।[२] किन्तु, इस व्याख्या से भी अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता; क्योंकि करुण रस का स्थायी भाव है शोक, जिसका आधार होता है इष्ट का नाश, इष्ट का वियोग नहीं। फिर, उत्तर-

१. उत्तररामचरित, अंक ३, श्लोक ४७
२. वही, (सं० एम० आर० काले), पृ० ९७

रामचरित का अंगी रस विप्रलम्भ श्रृंगार होना चाहिए, करुण नहीं। अर्थ-विस्तार करने पर यह अर्थ निकलता है कि भवभूति के करुण रस का स्थायी भाव शोक नहीं, करुणा है, जो व्यापक अर्थ में सहृदय की हृदय-द्रुति का बोध कराती है। इसी व्यापक या परिवर्तित अर्थ में सुखान्त होने पर भी उत्तररामचरित का अंगी रस करुण माना जा सकता है।

भवभूति के पहले, और बाद भी, किसी आचार्य ने करुण रस को मूल रस नहीं माना। भरत ने तो इसे मुख्य रस नहीं मानकर रौद्र से उत्पन्न गौण रस माना है और परवर्त्ती आचार्यों में अधिकांश ने इसे महाकाव्य का अंगी रस तक मानना स्वीकार नहीं किया। प्रश्न उठता है कि भवभूति ने इसे मूल रस क्यों माना? इसका कारण निम्नलिखित में से कोई हो सकता है : १. भवभूति का अपना गम्भीर स्वभाव जीवन की कुण्ठाओं के कारण बहुत संवेदनशील हो गया था और इसलिए करुण का पक्षपाती था; २. उनके काव्य का मूल आधार रामकथा है, जो वास्तव में करुण कथा है; ३. करुण का करुणा-स्थायिक अर्थ भी भवभूति के समय में प्रसिद्ध था। इसलिए, करुण रस के प्रति उनका पक्षपात स्वाभाविक था। किन्तु, करुणा-स्थायिक करुण के ही प्रति, शोक-स्थायिक करुण के प्रति नहीं।

शान्त रस—शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः। अभिनवगुप्त ने शान्त रस को मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है। शान्त रस के प्रति अभिनवगुप्त का अपना झुकाव तो है ही, इस प्रसंग में भी उन्होंने नाट्यशास्त्र के किसी पुराने संस्करण का हवाला देकर भरत को ही प्रमाण माना है। नाट्यशास्त्र के इस संस्करण में लिखा है :

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्त्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥[1]

रति आदि भाव विकार हैं और शान्त (शम) प्रकृति अर्थात् मूल है। विकार प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं। अपने-अपने अनुकूल (विभावादि) निमित्तों के प्राप्त होने पर शान्त से ही (रत्यादि) भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्त का अभाव हो जाने पर फिर शान्त में ही लीन हो जाते हैं।[2]

यह विवेचन सम्भवतः प्रक्षिप्त है, किन्तु अभिनवगुप्त से पहले का ही है; क्योंकि उन्होंने इसे अपने मत के समर्थन में दिया है। अभिनवगुप्त ने अपनी ओर से निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं : १. शान्त रस का स्थायी भाव आत्मज्ञान है, जो विषय-भोग की भावना से सर्वथा मुक्त तथा शुद्ध आनन्दमय है। वास्तव में, रस का स्वरूप यही है; रति,

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, का० ८४ के पहले**
२. **हिन्दी-अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ६१०**

शोक आदि भाव भी इसी आत्म-चैतन्य की अवस्था पाकर शृंगार, करुण आदि रसों में परिवर्त्तित होते हैं। अतः, जो आत्मास्वाद अन्य रसों के रसत्व का मूल आधार है, वही शान्त रस का स्थायी भाव है। २. शान्त रस का स्थायी भाव तत्त्वज्ञान अन्य सभी स्थायी भावों का आधार है, अतएव यही स्थायितम भाव है। यहाँ आकर अन्य सभी स्थायी भाव व्यभिचारित्व को प्राप्त कर लेते हैं।

वास्तव में, उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि शान्त रस के लिए अलग से स्थायी भाव की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं; आठ प्रसिद्ध भावों में से कोई भी अलौकिक विभाव के सन्दर्भ में उसका स्थायी हो सकता है।[1] और, इसी कारण अभिनवगुप्त ने इसका खण्डन भी किया है। परन्तु, इसका एक दूसरा निष्कर्ष भी सम्भव है कि सभी प्रसिद्ध स्थायी भाव शान्त रस के प्रति उन्मुख हैं, अर्थात् शृंगार आदि अन्य सभी रस शान्त के रूपान्तर-मात्र हैं।

शृंगार रस : इसी समय के आसपास राजा भोज ने घोषणा की कि प्राचीन आचार्य दस रसों की कल्पना करते आये हैं, परन्तु आस्वादनीयता तो केवल शृंगार में है, अतः हम उसे ही रस मानते हैं। उन्होंने अपने मत की स्थापना निम्नलिखित रूप में की है :

हमारा अहंकार ही प्रतिकूल परिस्थितियों के नहीं रहने पर विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के द्वारा आनन्द-रूप में संवेदना-योग्य बनकर रसत्व प्राप्त करता है। यह अहंकार आत्मा का विशिष्ट गुण है, यही अभिमान है, यही शृंगार है और यही रस है। रति, हास आदि भाव की उत्पत्ति इसी शृंगार से होती है। वे तो केवल भाव ही हैं, रसत्व को कभी प्राप्त नहीं होते और शृंगार की शोभा बढ़ाने के लिए ही हैं। शृंगार से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है और वही रस है।

अग्निपुराण का शृंगार-सिद्धान्त इसी का दूसरा रूप है। अग्निपुराण के रचना-काल के विषय में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं, फलतः यह निर्णय करना कठिन है कि भोज के सिद्धान्त और अग्निपुराण के सिद्धान्त में कौन किससे प्रभावित है। वस्तुतः, दोनों का सार प्रायः एक ही है।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने भी शृंगार के महत्त्व का विस्तार किया है। केशव, चिन्तामणि, देव आदि आचार्य-कवियों ने सबल शब्दों में शृंगार को रसराज घोषित किया है। केशव और देव ने शृंगार को प्रधान रस के ही रूप में नहीं, अपितु मूल तथा एकमात्र रस के रूप में ही प्रतिष्ठित किया है :

(क) सबको केशवदास हरि नायक है शृंगार।
(ख) भाव-सहित सिंगार में नवरस झलक अजस्र ॥[2]

---

१. हिन्दी-अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ६२१
२. केशव : रसिक-प्रिया (१–१६)

ज्यों कंकन मनि कनक को ताही में नवरत्न ॥[1]

इन कवियों ने अपने मत के समर्थन में सिद्धान्त के साथ व्यवहार से भी काम लिया है। व्यावहारिक पक्ष में इन्होंने सभी रसों को—हास्यादि मित्र रसों को ही नहीं, रौद्र आदि अभिन्न रसों को भी—शृंगार में ही समाविष्ट कर दिया है। अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में केशव ने पौराणिक आधार ग्रहण करके कृष्ण के व्यक्तित्व में नौ रसों का समावेश करके आधार-भूमि प्रस्तुत की है। कृष्ण जिस प्रकार शृंगारमय होते हुए भी नव रस-रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार शृंगार भी नव रस में परिणत हो सकता है।[2]

स्पष्ट है कि केशव और देव के प्रतिपादन का आधार शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक से अधिक काव्यमय है।

अद्भुत रस : सर्वत्र ह्यद्भुतो रसः। कविराज विश्वनाथ के वृद्धप्रपितामह नारायण पण्डित की स्थापना थी कि अद्भुत रस ही मूल और एकमात्र रस है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण के रस-प्रसंग में पूर्ववर्ती विद्वान् धर्मदत्त के आधार पर लिखा है कि सब रसों में चमत्कार साररूप से प्रतीत होता है और चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होने से सर्वत्र अद्भुत रस ही प्रतीत होता है, अतः पण्डित नारायण केवल एक अद्भुत रस ही मानते हैं।[3]

इस सिद्धान्त का आधार चमत्कार है। चमत्कार भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का अत्यन्त मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण शब्द है। शैव-दर्शन से रसशास्त्र के अनेक शब्द आये हैं, जिनमें यह शब्द भी है। अभिनवगुप्त के अनुसार चमत्कार का अर्थ है, निर्विघ्न आत्म-प्रतीति—आत्मास्वाद या आनन्द। इसके साथ 'अलौकिक' विशेषण का प्रयोग किया जाता है; क्योंकि काव्य अथवा रस का आनन्द विषयजन्य आनन्द से भिन्न प्रकार का होता है। काव्य-सौन्दर्य तथा उससे उत्पन्न आनन्द को व्यक्त करने के लिए रस के ही प्रसंग में नहीं, अपितु अलंकार तथा वक्रोक्ति के भी प्रसंग में 'लोकोत्तर' आदि विशेषणों का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से होता रहा है। इसलिए, काव्य के आनन्द में 'अलौकिक' या 'असाधारण' तत्त्व मूलतः अन्तर्हित हो गया है।

भक्ति-रस : स च रसो भगवद्भक्तिमय एव।[४] जब भारतीय साहित्य में भक्ति-काव्य का पर्याप्त विकास हो गया, तब वैष्णव आचार्यों ने भक्ति-रस को प्रतिष्ठित ही नहीं किया, अपितु उसे ही मूल रस भी घोषित किया। उनका कथन है कि वास्तविक रस भक्ति-रस ही है; क्योंकि वही पूर्ण आनन्द से युक्त है, शृंगार आदि अन्य रस उसके समक्ष सर्वथा

१. देव-भवानी-विलास
२. केशव : रसिक-प्रिया (१-२)
३. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० ३ की वृत्ति
४. भक्तिरसामृत-सिन्धु, पृ० ७४

नगण्य हैं। भक्ति-रस और शृंगारादि रसों में वही अन्तर है, जो सूर्य और खद्योतों में होता है :

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्भक्तिः।
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभेव बलवत्तरा ॥[1]

इन आचार्यों के अनुसार भक्ति-रस में काव्य-रसों की स्थिति संचारियों के समान है। इसी तर्क के आधार पर रूपगोस्वामी ने हास आदि को हास-रति, विस्मय-रति कहा है और उन्हें मूल रति या भगवद्रति के केवल गौण भेद माना है। इस प्रकार रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों के अनुसार भक्ति-रस ही मूल रस है। भक्ति-रस के भेदों में मधुराभक्ति रस या उज्ज्वल रस ही प्रधान है।

विश्लेषण : अब मूल रस बनने के लिए हमारे सम्मुख पाँच रस हैं—करुण, शान्त, शृंगार, अद्भुत और भक्ति। इनपर विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करने का प्रयास किया जाय।

सबसे पहले करुण रस है। भवभूति का करुण रसवाला सिद्धान्त इसी अर्थ में विचारणीय बनता है, जब हम करुण को शोक-स्थायिक नहीं मानकर करुणा-स्थायिक मानें और हृदय-द्रुति को उसके मूल धर्म के रूप में स्वीकार करें। इसमें भी कई प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, परन्तु भवभूति के अभिमत को सिद्ध करने का इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त वस्तुतः उनके रस-स्वरूप विवेचन का स्वाभाविक परिणाम है, फलतः वह अधिक पुष्ट पृष्ठभूमि पर आधृत है। उन्होंने रस का अर्थ किया है—निर्विघ्न आत्म-प्रतीति और वस्तुतः शम की यही परिभाषा है। अतएव शान्त रस में सभी रसों का पर्यवसान स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः, जब अभिनव द्वारा दी गई उसकी परिभाषा को स्वीकार कर लेते हैं, तो इस स्थापना में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं उठती कि—**भावाः विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः**। इस दशा में शान्त रस का भेद नहीं रह जाता, अपितु इसका पर्याय बन जाता है। परन्तु, वास्तविक समस्या तो अभिनवगुप्त की आत्मवादी रस-कल्पना को उसी रूप में ग्रहण करने की है।

भोज का शृंगार-सिद्धान्त भी लगभग ऐसे ही तर्क पर आधारित है। उनके सिद्धान्त के अनुसार आत्मा की प्रथम प्रतीति को अहंकार कहते हैं, अतः यही रस है और इसी का पारिभाषिक नाम शृंगार है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भोज के मत से भी रस का वास्तविक अर्थ आत्म-प्रतीति ही है और चूंकि शृंगार रस भी अहंकार या आत्म-प्रतीति का दूसरा नाम है, इसलिए शृंगार ही रस है। इस दृष्टि से भोज और अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है; क्योंकि आत्म-प्रतीति को ही अभिनव शान्त कहते हैं

१. मधुसूदन सरस्वती : भगवद्भक्ति-रसायन, २-७८

और भोज शृंगार। दोनों ने माना है कि भावों के माध्यम से आत्मा के आस्वाद को ही रस कहते हैं। दोनों में भेद केवल विवरण का है। अभिनव अन्य रसों को मूल रस के रूपान्तर मानते हैं, किन्तु भोज उन्हें रस नहीं मानकर मूल रस से उत्पन्न केवल भाव मानते हैं। अग्निपुराण का रति-सिद्धान्त और भोज का शृंगार-सिद्धान्त प्रायः एक ही है।

अद्भुत रस का पक्ष अन्य रसों की अपेक्षा बहुत दुर्बल है। धर्मदत्त के उपर्युक्त मत में चमत्कार का अर्थ निर्विघ्न आनन्द नहीं, विस्मय है। यही इसका सबसे बड़ा दोष है; क्योंकि रस का मुख्य तत्त्व विस्मय नहीं, अपितु आह्लाद है। यह आह्लाद कुछ अंशों में असाधारण होता है, तोभी यह अद्भुत रस के स्थायी भाव विस्मय का समानार्थक नहीं माना जा सकता। काव्यास्वाद में विस्मय स्थायी नहीं होता, केवल संचारी ही होता है। इसलिए, चमत्कार के गौण अर्थ को आधार मानकर अद्भुत को मूल रस मानना उचित नहीं है। आगे चलकर 'चमत्कार', 'लोकोत्तर' आदि का स्थूल अर्थ में आश्चर्यजनक तत्त्वों के लिए प्रयोग होने लगा। फिर, इन शब्दों के अर्थ में विकार आ जाने के कारण काव्य-मूल्यों में भी विकार आने लगा और 'चमत्कार' कुतूहल का पर्याय बन गया और अन्ततः काव्य-रसिकों के लिए लोभ का कारण बन गया।

भक्ति-रस की स्थापना वैष्णव आचार्यों के द्वारा आध्यात्मिक तथा साम्प्रदायिक स्तर पर हुई है, इसलिए काव्यशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक कसौटी पर उसकी परीक्षा करना उपयुक्त नहीं है। जो वैष्णव भक्त कृष्ण के मधुर रूप के उपासक हैं, उनके लिए मधुर रस अवश्य ही रसराज तथा मूल रस है। जीवन की भिन्न-भिन्न भाव-वृत्तियों पर आधारित हास्य आदि रस भक्ति-रस के अंग-मात्र हैं या संचारी हैं। किन्तु, यह स्थापना आध्यात्मिक क्षेत्र में ही उपयोगी हो सकती है; काव्य-क्षेत्र में आध्यात्मिक तर्कों से काम नहीं लिया जाय तो अच्छा होगा।

एक मूल रस की कल्पना का आरम्भ उस समय हुआ, जब रस-सिद्धान्त में दार्शनिक विवेचन का आरम्भ हुआ। भरत का दृष्टिकोण व्यावहारिक था, नाट्य उनके लिए लोक-जीवन की विविधता का अनुकरण था, अतः रस की विविधता वे स्वीकार करते थे। किन्तु, आगे चलकर अभिनवगुप्त के प्रभाव के कारण शैवाद्वैत के आधार पर रस-सिद्धान्त की व्याख्या की गई, तो रस की अद्वैतता भी अनिवार्य हो गई। प्रश्न उठा कि इस आत्मास्वाद-रूप को क्या नाम दिया जाय। वीतराग अभिनव ने अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप ही आत्मज्ञान को महत्त्व देते हुए इसे शान्त नाम दिया और रागी राजा भोज ने आत्म-रति की प्रधानता मानते हुए इसे शृंगार कहा। किन्तु, यह भेद मुख्यतः नाम का ही रहा, स्वरूप का नहीं। शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादियों ने शान्त और शृंगार का विवाद मिटाने के लिए आनन्द-रस कहा। श्रीजयशंकर प्रसाद के अनुसार 'अभिनवगुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी आनन्दमय आनन्द-रस को

पल्लवित किया है।"[1] वैष्णव आचार्यों ने भी आनन्दवादी अद्वैत-सिद्धान्त के कुछ तत्त्वों को स्वीकार करके द्वैत की पृष्ठभूमि पर भक्तिरस की प्रतिष्ठा की।

इनके अतिरिक्त एक मूल रस की स्थापना के दो अन्य प्रयत्न हुए; उनका आधार दार्शनिक से अधिक साहित्यिक था। भवभूति की दृष्टि में रस एक रागात्मक अनुभव है और राग का मूल रूप संवेदना है; इसलिए मूल रस वही हो सकता है, जो सबसे अधिक संवेदनात्मक हो अर्थात् करुण। नारायण पण्डित और उनके अनुयायी धर्मदत्त ने आलंकारिक दृष्टि से अद्भुत को मूल रस माना। उन्होंने चमत्कार का आनन्दवाचक अर्थ नहीं ग्रहण करके वैचित्र्यवाचक ही ग्रहण किया। इस मत के अनुसार चूंकि प्रत्येक रस का परिपाक कल्पना के द्वारा होता है, अतः कल्पना से उत्पन्न चमत्कार ही रस का प्राण है और चूंकि इस चमत्कार से प्रमाता के मन में विस्मय होता है, अतः रसास्वाद का आधार विस्मय ही है, जो अद्भुत रस का स्थायी भाव है। इसलिए, अद्भुत रस ही मूल रस है। इस प्रकार, भवभूति राग को और नारायण पण्डित कल्पना को काव्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार रस की आत्मा के निर्धारण के प्रयास चलते रहे। दार्शनिकों ने आनन्द को रस का प्राण मानकर आत्मज्ञान-रूप शम या आत्मभोग-रूप शृंगार को मूल रस स्वीकार किया। भावुकों ने राग या संवेदना को रस की आत्मा मानकर करुण रस को मूल रस में प्रतिष्ठित किया। आलंकारिकों ने कल्पना-तत्त्व को रस की आत्मा मानकर अद्भुत रस को मूल रस घोषित किया। रस में इन तीनों तत्त्वों का समन्वय रहता है। चूँकि, रस में तीनों—आनन्द, राग और कल्पना—का अंश बराबर नहीं होकर इसी क्रम से न्यूनाधिक रहता है—आनन्द का सर्वाधिक, राग का उससे कम और कल्पना का उससे भी कम—इसलिए उपर्युक्त स्थापनाओं में सत्य का अंश भी इसी क्रम से न्यूनाधिक मात्रा में मानना चाहिए—अर्थात् अभिनव और भोज का सिद्धान्त औरों की अपेक्षा अधिक मान्य हो सकता है, भवभूति का सिद्धान्त भी बहुत अंशों में ग्राह्य है, किन्तु नारायण पण्डित का सिद्धान्त कुछ ही अंशों में ग्राह्य माना जा सकता है।

विवेचन : रस-संख्या का निर्धारण करने के लिए रस के स्वरूप तथा उसके निष्पादक तत्त्वों को जान लेना आवश्यक है; क्योंकि इससे रस-निर्णय में सहायता मिलेगी। रस के स्वरूप के विषय में दो दृष्टिकोण हैं : १. वस्तुपरक, जिसके अनुसार रस भावमूलक कलात्मक स्थिति है, २. आत्मपरक, जिसके अनुसार रस भाव की पृष्ठभूमि में आत्मा का आस्वाद है। पहली परिभाषा के अनुसार रस की निष्पत्ति नाट्य में होती है। लोक-जीवन के अनुकरण का ही नाम नाट्य है। नाट्य में भावमूलक स्थितियों का कलात्मक प्रदर्शन किया जाता है। जीवन की इन भावमूलक स्थितियों की संख्या तो बहुत हो सकती है, परन्तु स्थायी भावों के आधार पर इनके साधारणतः आठ वर्ग किये जा

१. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध (चतुर्थ संस्करण), पृ० ७६

सकते हैं। शेष इन्हीं में अन्तर्भूत हो सकती हैं। दूसरी परिभाषा के अनुसार रस आत्मा का आस्वाद होने के कारण उसका मूलरूप तो एक ही है, परन्तु अनेक भावों की स्थिति होने के कारण रस के बाह्य रूप अनेक हो जाते हैं। इस दशा में भी रसों की संख्या स्थायी भावों की संख्या के अनुरूप होती है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रस की वस्तुपरक परिभाषा मानें या आत्मपरक परिभाषा, रस-संख्या का निर्धारण स्थायी भावों की ही संख्या के आधार पर किया जा सकता है।

इस तथ्य को ध्यान में रखने से शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत का रसत्व किसी प्रयास के विना ही सिद्ध हो जाता है। भरत ने जिन आठ रसों का प्रतिपादन किया है, उनके अतिरिक्त नवम रस शान्त को सभी ने स्वीकार कर लिया है और आधुनिक कसौटी पर इसका रसत्व भी सिद्ध हो जाता है। यह आक्षेप को भी अधिक मान्यता नहीं दी जा सकती कि शम का अनुभव केवल वीतराग व्यक्ति ही कर सकते हैं; क्योंकि चित्त की प्रकृतावस्था से कोई भी व्यक्ति वंचित नहीं हो सकता।

इनके अतिरिक्त जिन विभिन्न रसों का उल्लेख विभिन्न आचार्यों ने किया है, उनमें बीस-बाईस और बच जाते हैं। यदि निरसन-पद्धति से काम लिया जाय, तो बहुत आसानी से इनका खण्डन हो सकता है। साध्वस, पारवश्य और विलास का केवल नामोल्लेख भोज ने किया है, इनकी स्थापना का प्रयास नहीं किया है। लौल्य, कार्पण्य, सुख, दुःख, मृगया, धूत और व्यसन का उल्लेख मात्र खण्डन करने के लिए किया गया है। व्रीडनक का उल्लेख किसी प्रतिष्ठित मान्य आचार्य ने नहीं किया, केवल जैनसूत्र में यह उल्लिखित है और व्रीडा नामक भाव में इसका अन्तर्भाव हो जाता है। उदात्त तथा उद्धत की कल्पना नायक के चार प्रकार के नायक-भेदों के साथ केवल संगति बैठाने के लिए की गई है और ये स्वयं अपने में नवीन रस की कल्पना के लिए अपर्याप्त हैं; क्योंकि औदात्त्य और औद्धत्य मात्र चारित्रिक वृत्तियाँ हैं, चित्तवृत्तियाँ नहीं। भानुदत्त ने माया की उद्भावना अभिनवगुप्त के शान्त रस के ढंग पर, उन्हीं के तर्कों के आधार पर की, पर वस्तुतः यह कोई स्वतन्त्र चित्तवृत्ति नहीं होकर सभी वासनाओं और भाव-वृत्तियों की मूल प्रेरणा है, जिसका अलग से आस्वाद्य रूप नहीं होता। क्रान्ति चित्तवृत्ति तो है, परन्तु उसका मनोवेगात्मक रूप उत्साह, क्रोध आदि से अलग नहीं होता। उद्वेग तथा प्रक्षोभ का बाहुल्य वर्त्तमान साहित्य में अवश्य मिलता है, परन्तु वे स्वतन्त्र रसरूप के अधिकारी नहीं माने जा सकते; क्योंकि इनमें करुणा, क्रोध, जुगुप्सा मिले रहते हैं, अतः कहीं करुणा की प्रधानता होने से करुण में अन्तर्भूत हो जाते हैं और कहीं अमर्ष की प्रधानता के कारण क्रोध में और कहीं क्षोभ आदि की प्रधानता के कारण भाव-दशा तक ही रह जाते हैं।

अब कुछ ऐसे रस बच जाते हैं, जिनको एक से अधिक आचार्यों ने मान्यता दी है। प्रेयान् (सख्य), वात्सल्य तथा भक्ति को प्राचीन आचार्यों ने और प्रकृति तथा देशभक्ति को नवीन अचार्यों ने प्रतिष्ठित किया है। इनके विषय में एक विकल्प यह है कि शृंगार रस

के बदले में प्रेम-रस मान लिया जाय और ये सब उसी के भेद माने जायँ। इस स्थापना में तर्क यह है कि इन सभी के स्थायी भाव स्वतन्त्र रूप से नहीं होते, वरन् प्रेम ही आलम्बन-भेद से अनेक रूपों में प्रकट होता है। स्त्री-पुरुष का प्रेम शृंगार, मित्र के प्रति प्रेम सख्य या प्रेयान्, सन्तान या सन्तान के समान व्यक्तियों के प्रति प्रेम वात्सल्य, इष्ट या देवता के प्रति प्रेम भक्ति, प्रकृति के प्रति प्रेम प्रकृति-प्रेम और देश के प्रति प्रेम देश-भक्ति का रूप धारण कर लेता है। चूँकि स्थायी भाव के ही भेद से रस-भेद होता है, आलम्बन-भेद से नहीं, इसलिए ये सभी प्रेम रस के ही अनेक भेद हुए, इतने विभिन्न रस नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा मराठी के डाँ० वाटवे का मत यही है। इस स्थापना से यह लाभ तो हुआ कि रसों के वर्गीकरण की समस्या सुलझ गई, परन्तु इससे किसी सहृदय को सन्तोष नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी सहृदय का हृदय यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होगा कि काव्य-क्षेत्र में शृंगार तथा वात्सल्य, देश-भक्ति तथा प्रकृति-प्रेम की रसानुभूति सर्वप्रकारेण समान होती है। अतएव, इन रसों की स्वतन्त्र सत्ता के सम्बन्ध में विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

प्रेयान् या सख्य का स्थायी भाव सख्य-भाव या मित्र-प्रेम है। काव्य या नाटक में जिन मैत्री-प्रसंगों का वर्णन किया गया है, यदि उनका विश्लेषण किया जाय, तो उनमें प्रेम, उत्साह, शोक आदि अनेक भावों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। यह प्रेम काम-मूलक नहीं है, अतः शास्त्र-सम्मत शृंगार रस के अन्तर्गत नहीं आ सकता; क्योंकि स्पष्ट शब्दों में कहा गया है : **'शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः'**[1] (कामदेव के उद्भेद को शृंग कहते हैं)। फिर उत्साह, शोक आदि भाव भी यहाँ स्वतन्त्र नहीं, प्रेम से ही उत्पन्न हैं, इसलिए इसे वीर या करुण रस के भी अन्तर्गत नहीं रख सकते। फिर, प्रश्न है कि क्या इसमें इनकी प्रचण्ड आस्वाद्य मान्यता है कि इसे स्वतन्त्र रस माना जाय? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः मित्रता मनोवेग न होकर मनोवृत्ति है और अपने स्वाभाविक रूप में इसका आस्वाद उतना प्रचण्ड नहीं हो सकता कि इसे भाव से बढ़कर रस की कोटि का मान लिया जाय। जहाँ कहीं इसमें उत्कटता या प्रचण्डता आती है, वहाँ उसका कारण मैत्री से उत्पन्न अन्य कोई प्रबल भाव, जैसे उत्साह, शोक आदि अवश्य रहता है। अतः, सख्य रस की स्वतन्त्र सत्ता मानना कठिन है।

वात्सल्य का पक्ष सख्य की अपेक्षा अधिक ठोस आधार पर स्थित है। वत्सल भाव का मातृवृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुत्र-प्राप्ति की इच्छा जीवन की प्रबलतम इच्छा है और इसका सम्बन्ध जीवन के दो पुरुषार्थों—धर्म और काम—से है। इसलिए वात्सल्य का निषेध नहीं किया जा सकता; फिर इसका अन्तर्भाव शृंगार आदि में सम्भव नहीं है, न इसे केवल भाव-कोटि में ही रख सकते हैं। फिर, प्रश्न उठता है कि भरत आदि प्राचीन आचार्यों ने इसे रसों में स्थान क्यों नहीं दिया? इसके कई कारण दिये जा सकते हैं। एक कारण यह भी हो सकता है कि भरत के लिए रस सीधे नाट्य से ही सम्बद्ध था और नाट्य में वात्सल्य के आलम्बन बालक और उद्दीपन रूप में उसकी विविध क्रीड़ाओं का

प्रस्तुतीकरण बहुत कठिन होता है। इसलिए नाट्य में वात्सल्य का व्यावहारिक दृष्टि से वैसे ही बहिष्कार कर दिया गया जैसे नाट्य में रंगमंच पर युद्ध, अभियान आदि वर्जित कर दिये गये। इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि वात्सल्य को रस-कोटि में गिनना वांछनीय है, परन्तु इसे कविता में ही स्थान मिल सकता है, नाटक में नहीं।

अब रही भक्ति। प्राचीन आचार्यों ने भक्ति अर्थात् भगवद्विषयक रति को रस नहीं मानकर केवल भाव माना है; क्योंकि उसका रस-रूप में पूर्ण परिपाक नहीं होता। दूसरी ओर, वैष्णव आचार्यों ने इसे मूल रस मानकर शृंगार आदि रसों को केवल भाव घोषित किया है। भक्ति-रस के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि इसका आस्वादन करनेवाला कौन है—सहृदय या भक्त? दूसरे शब्दों में कहा जाय कि इसके रस-रूप का विचार, अन्य रसों के समान, सहृदय की दृष्टि से करना है या भक्त की दृष्टि से? स्पष्ट है कि सहृदय की दृष्टि से करना है। भक्ति-रस की परीक्षा काव्य-रस की ही कसौटी पर करनी है। प्रश्न है कि क्या भगवद्रति भी रति, शोक आदि के समान स्थायी भाव है? अर्थात् प्रत्येक सहृदय के चित्त में वासना-रूप में वर्त्तमान रहती है? भक्त इसका स्वीकारात्मक उत्तर देगा, परन्तु आज इसे इसी रूप में स्वीकार करना कठिन ही है। परोक्ष सत्ता के जो रागात्मक भाव होंगे, वे संसर्ग तथा अभ्यास के द्वारा अर्जित ही होंगे, मौलिक तथा स्थायी नहीं हो सकते। भक्त के लिए यह प्रकृत भाव हो सकता है, परन्तु साधारण सहृदय के लिए, जो रस का वास्तविक अधिकारी होता है, अर्जित ही है।

भक्ति का सीधा सम्बन्ध मोक्ष से है, जो चरम पुरुषार्थ है। इसलिए रस के अन्य तत्त्व—पुरुषार्थ के प्रतियोगित— के विषय में कोई शंका नहीं हो सकती। किन्तु, उत्कट आस्वाद्यमानता के विषय में शंका उठ खड़ी होती है। क्या सहृदय काव्यगत भक्ति का आस्वादन उसी उत्कट रूप में करता है, जिस रूप में वह रति, उत्साह आदि भावों का करता है? केवल भक्त ही नहीं, प्रत्येक सहृदय भक्ति से पगी कविता का पूर्णतः आस्वादन करता है। किन्तु, भक्त और सहृदय का आस्वादन समान नहीं होता। भक्त की सहृदयता विशेष संस्कारों से प्रभावित होने के कारण शुद्ध नहीं कही जा सकती। इसलिए उसके अनुभव का साधारणीकरण केवल भक्त-वर्ग में ही होता है, साधारण सहृदय-वर्ग में नहीं।

फिर सूर आदि भक्तकवियों के सरस प्रसंगों में जो आस्वाद्यता है, उसका क्या कारण है? विनय के पदों में पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण व्यक्त किया गया है। सहृदय के चित्त में भी उस अज्ञात शक्ति के प्रति समर्पण की यह भावना वासना-रूप में स्थित रहती है और विनय के पदों में विभावादि का जो सजीव चित्रण रहता है, उससे जगकर रसत्व प्राप्त करती है। यह समर्पण-भाव स्थायी भाव है, किन्तु शुद्ध नहीं। शम, विस्मय और रति के समान यह समर्पण-भाव भी मिश्र भाव है। इस दृष्टि से देखने पर भक्ति का यह रूप रसत्व प्राप्त कर लेता है। रूप-माधुरी एवं शृंगार के पदों की रसनीयता का आधार रति है, किन्तु चूंकि इसका आलम्बन अलौकिक है, इसलिए यह सामान्य, लौकिक

रति न होकर उदात्त रूप की रति है। अतः, इस रति की आस्वाद्यता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। साधारण रस-प्रक्रिया में विभावों की लौकिकता विघ्न-रूप में रहती है और कवि को अपनी कल्पना का उपयोग करके उसका निराकरण करना पड़ता है, परन्तु इस प्रसंग में विभावादि की अलौकिकता के कारण यह विघ्न नहीं रहता और रस की सिद्धि बहुत सहज हो जाती है। इसलिए, भक्ति का स्थायी भाव चाहे समर्पण-भाव हो या उदात्तीकृत रति, उसकी आस्वाद्यता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता और परिणाम-स्वरूप उसका रसत्व भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। भक्ति का अन्तर्भाव भी अन्य रसों में सम्भव नहीं है; क्योंकि भक्ति का स्थायी भाव न शुद्ध विस्मय है, न शुद्ध भय है, न शम है, और न शममूलक रति ही है। अतः, इसकी स्वतन्त्र सत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता। इस तरह व्यापक रूप में भक्ति-रस सिद्ध हो जाता है; क्योंकि इस रूप में वह सहृदय-गम्य है। किन्तु, यदि इसका सामुदायिक रूप लिया जाय, तो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उस दशा में वह केवल भक्त-गम्य है, अतः उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता है।

आधुनिक युग में प्रकृति के सम्बन्ध में प्रचुर परिमाण में काव्य की रचना हो रही है, परिणाम-स्वरूप प्रकृति-रस की कल्पना की गई है। काव्य में अनेक रूपों में प्रकृति का वर्णन पाया जाता है—मानव के विभिन्न कार्यों की पृष्ठभूमि के रूप में, विभिन्न भावों के उद्दीपन के रूप में, विभिन्न अनुभूतियों के माध्यम या प्रतीक के रूप में, अलंकार के रूप में और फिर आलम्बन के रूप में। आलम्बन-रूप में प्रकृति से कवि का और पीछे पाठक का रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है; क्योंकि इस रूप में वह भाव का विषय ही बन जाती है। प्रकृति-काव्य में अभिव्यक्त यह भाव निश्चित रूप से आस्वादन के योग्य होता है, किन्तु उतने उत्कट रूप में नहीं, जितने उत्कट रूप में रति, उत्साह आदि भाव होते हैं। इसलिए, उसकी रसनीयता सिद्ध हो जाती है और उसी आधार पर उसका रसत्व भी सिद्ध हो जाता है। किन्तु, प्रश्न उठता है कि क्या इस रस की स्वतन्त्र सत्ता है या किसी अन्य रस में इसका अन्तर्भाव हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले यह निश्चित करना अच्छा होगा कि प्रकृति के प्रति कवि के भाव का क्या रूप है? दूसरे शब्दों में—इस रस का स्थायी भाव क्या है?

काव्य में प्रकृति का चित्रण प्रायः तीन प्रकार का देखा जाता है—मधुर, विराट् और भयानक या रौद्र। यह स्वाभाविक ही है कि दोनों रूपों के प्रति पाठक या सहृदय की प्रतिक्रिया एक रूप में नहीं हो सकती। मधुर रूप के प्रति पाठक के चित्त में रति-भाव जगता है तो विराट् रूप के प्रति ओज तथा विस्मय के भाव का उद्रेक होता है, किन्तु रौद्र या भयानक के प्रति भय का उदय होता है। इन तीन अवस्थाओं में रस का स्वरूप एक नहीं हो सकता, वरन् स्थायी भावों के अनुसार बदलता रहता है। अतः, प्रकृति रस का कोई एक विशेष रूप नहीं माना जा सकता और इस दशा में स्वतन्त्र रस की कल्पना

भी नहीं की जा सकती। अभिप्राय यह है कि प्रकृति-काव्य की रसनीयता तो निर्विवाद है, परन्तु स्वतन्त्र प्रकृति-रस की उद्भावना अनावश्यक है।

देशभक्ति-रस की भी कल्पना इस युग के आलोचकों ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य के प्रकाश में की है। किन्तु, देश-भक्ति एक मिश्र भाव है, जिसमें राग और उत्साह के भाव मिले रहते हैं। देश-भक्ति की अभिव्यक्ति किसी एक विशिष्ट रूप में नहीं, प्रत्युत अनेक रूपों में देखी जाती है। कहीं वह मातृभूमि के प्रति विशुद्ध रति-रूप में मिलती है, तो कहीं देशवासियों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति के रूप में, कहीं उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त उत्साह-रूप में, तो कहीं विरोधी शक्तियों के प्रति अमर्ष-रूप में, कहीं प्राचीन गौरव के प्रति गर्वयुक्त अभिमान के रूप में, तो कहीं वर्त्तमान अधोगति के कारण तीव्र करुणा अथवा क्षोभ के रूप में मिलती है। आज के भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक कविता का प्रमुख स्थान है, जिसकी उत्कट रसनीयता में सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु, प्रश्न उठता है कि क्या उसे स्वतन्त्र रस कह सकते हैं? इसका उत्तर प्रकृति-रस के समान ही होगा। देश-भक्ति के मुख्य रूपों का अन्तर्भाव वीर, करुण आदि रसों में हो जाता है। शुद्ध रागात्मक रूप को या तो व्यापक प्रेम-रस में रख सकते हैं या उसे देश-विषयक रति-भाव मान सकते हैं। वस्तुतः, देशभक्ति-रस को स्वतन्त्र रस मानने के पर्याप्त और उचित कारण नहीं हैं।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने बहुत विचार-विमर्श करके यही निष्कर्ष निकाला है कि नवरस की कल्पना उपयुक्त तथा तर्क-संगत है। इसके दो अत्यन्त सबल कारण हैं: १. जीवन के मौलिक या आधारभूत मनोवेग आठ या (शम को लेकर) नौ हैं या वत्सल-भाव तथा भक्ति को मिलाकर दस या ग्यारह से अधिक नहीं हैं; २. यदि रसों की संख्या में वृद्धि करने का क्रम आरम्भ हो जाय, तो फिर यह निर्णय करना बहुत कठिन होगा कि कहाँ रुकना चाहिए। मौलिक या आधारभूत मनोवेगों को प्रमाण मान लेने से यह समस्या सुलझाने में बहुत सहायता मिलती है; क्योंकि वे ही मनोवेग उत्कट रूप से आस्वाद के योग्य होते हैं। इसके विपरीत जो मनोवेग आधारभूत नहीं है, अर्थात् जीवन की मूल वृत्तियों तथा पुरुषार्थों से जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, उनका आस्वाद समुचित रूप से उत्कट नहीं होता। दूसरी बात यह है कि संख्या सीमित हो जाने के कारण इस प्रकार के मनोवेगों के वर्गीकरण एवं संख्या-निर्धारण में विशेष कठिनाई नहीं होती।

उपसंहार : रस-संख्या के विषय में इतना विवेचन करने के बाद भी कहना चाहिए कि वस्तुतः यह प्रश्न रसशास्त्र का मौलिक प्रश्न नहीं है। अतः, यह महत्त्व भी नहीं रखता। इसका कारण यह है कि रस-सिद्धान्त का आधार केवल वे ही रस नहीं हैं, जो गिनाये गये हैं। वास्तव में, भाव ही आस्वाद का मूल है, इसीलिए 'रस' या 'रस-ध्वनि' में गिनाये गये रसों के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-शान्ति,

भाव-सन्धि और भाव-शबलता सभी का अन्तर्भाव स्वीकार किया गया है। विश्वनाथ ने स्पष्ट शब्दों में इसकी घोषणा कर दी है :

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥[1]

रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-प्रशम, भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शबलता---ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहलाते हैं। स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त भाव के ही आधार पर स्थित है। भावों की संख्या अत्यधिक होने के कारण उनकी गणना सम्भव भी नहीं है और आवश्यक भी नहीं। गम्भीर प्रकृति के काव्यशास्त्रियों ने रस-संख्या को अधिक महत्त्व भी नहीं प्रदान किया। इसलिए दो विरोधी-सी बातें एक साथ मिलती हैं—एक ओर सभी रसों का समाहार एक ही रस में करने के अनेक प्रयत्न किये गये और दूसरी ओर, भावों की अनन्तता को आधार मानकर रसों की भी अनन्तता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। इस स्थापना का एक प्रबल प्रमाण रस-संख्या के विषय में भोज का दृष्टिकोण है। उन्होंने दोनों विपरीत-सी दिशाओं में प्रयास किया है—रस एक (शृंगार) भी है और अनन्त भी है। अतः, रस-संख्या-विषयक उपर्युक्त विवेचन शास्त्रीय प्रतिपादन को पूर्णता प्रदान करने के उद्देश्य से ही किया गया है। साथ ही इससे रस-सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म तत्त्व प्रकाश में आ गये हैं, यह भी इसकी सार्थकता है।

परवर्त्ती काव्यशास्त्र में रस का स्थान

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त का स्थान बहुत उच्च तथा प्रतिष्ठित है। यह सबसे प्राचीन तथा प्रधान काव्य-सिद्धान्त है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य-सिद्धान्तों का विकास रस-सिद्धान्त के ही सन्दर्भ में और उसके पश्चात् हुआ है। यदि काव्य के अन्तरंग और बहिरंग—आत्मा और देह के अनुसार वर्गीकरण किया जाय, तो अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति को देहवादी सम्प्रदाय और ध्वनि और औचित्य को आत्मवादी सम्प्रदाय कहा जा सकता है। ध्वनि और औचित्य-सम्प्रदायों की कल्पना, एक प्रकार से, रस के ही आधार पर की गई है, अतः इन आत्मवादी सम्प्रदायों का रस-सिद्धान्त से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक क्षेमेन्द्र ने आरम्भ में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है :

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।[2]

वस्तुतः, आनन्दवर्द्धन के निम्नलिखित विख्यात वाक्य के ही आधार पर औचित्य-सिद्धान्त की परिकल्पना ही की गई :

---

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, का० २५९-२६०
२. औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र), १—५

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।[1]

अब एक-एक काव्य-सिद्धान्त में रस का स्थान देखने का प्रयत्न किया जा रहा है।

ध्वनि-सम्प्रदाय : यह ठीक है कि ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है, रस को नहीं; फिर भी ध्वनि-सिद्धान्त रस की भावना से पूर्णतः ओत-प्रोत है। आनन्दवर्द्धन तथा उनके सभी अनुयायी ध्वनिवादियों ने अनेक स्थलों पर रस के महत्त्व का वर्णन किया है और रसध्वनि को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हुए यह प्रमाणित कर दिया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि की भी आत्मा रस है। इस प्रकार, उन्होंने भी रस की महत्ता स्वीकार की है। वाच्य से चारुतर व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं और चारुता रसात्मकता पर ही निर्भर करती है, इसलिए ध्वनि का शुद्ध रूप रस-ध्वनि ही ठहरता है। यही कारण है कि रस-सिद्धान्त और ध्वनि-सिद्धान्त लगभग एक ही रूप में हो गये और सामान्य रूप से आचार्यों ने इन दोनों में भेद नहीं किया। आज भी दोनों में भेद करना कठिन ही है। केवल बल देने पर ही भेद है; क्योंकि ध्वनि-सिद्धान्त भाव की व्यंजना—काव्यात्मक अभिव्यक्ति—पर बल देता है और रस-सिद्धान्त भाव-तत्त्व पर। इस प्रकार, काव्य में रस और ध्वनि का सहयोग वस्तुतः भावना और कल्पना का सहयोग है। किन्तु, न ध्वनिवादी भाव का तिरस्कार करता है और न रसवादी व्यंजना की अवमानना करता है। इस प्रकार, काव्य में रस और ध्वनि के सहयोग पर बल दिया गया है। केवल भाव या केवल ध्वनि के आधार पर काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। दोनों के पूर्ण सहयोग से ही काव्य की सृष्टि सम्भव है। किन्तु, यदि दोनों का तुलनात्मक महत्त्व आँकना पड़े, तो हमें कल्पना और भावना के ही सापेक्षिक महत्त्व के आधार पर निर्णय करना होगा। आधुनिक आलोचनाशास्त्र में यह सिद्ध हो चुका है कि कल्पना और भावना में भावना का ही महत्त्व अधिक है; क्योंकि काव्य का सम्बन्ध तो भाव से ही है, कल्पना तो उसके सम्प्रेषण का माध्यम है। इस प्रकार, रस और ध्वनि में रस की श्रेष्ठता सिद्ध हो जाती है।

वस्तुवादी सम्प्रदाय : वस्तुवादी आचार्यों की दृष्टि में काव्य का बाह्य-सौन्दर्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि वे भी भाव की अपेक्षा नहीं करते, फिर भी उनके लिए वह गौण है। उनके मतानुसार कथन की चारुता का ही नाम कवित्व है। कथ्य, जिसमें भाव और विचार दोनों आ जाते हैं, कथन की चारुता का ही अवयव या उपकरण है। इन वस्तुवादी सिद्धान्तों के अनुसार रस या भाव-विभूति कविता का मुख्य तत्त्व नहीं, वरन् केवल उपकरण है। वस्तुवादी सम्प्रदायों में रस के स्थान का विवेचन नीचे किया जा रहा है।

अलंकार-सम्प्रदाय : अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार काव्य का सौन्दर्य अलंकार पर ही निर्भर करता है, कवित्व अलंकार में ही निहित है। अलंकार शब्दार्थ के विशेष

---

१. **ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० ३६६ (चौखम्बा)**

धर्म हैं, जो शब्दार्थ में सौन्दर्य की सृष्टि करके उसे काव्य का रूप देते हैं। अलंकार के दो भेद माने गये हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य के अन्तर्गत काव्य के वर्ण्य विषयों का विवेचन, उनकी वर्णन-शैली के विचार से, किया गया है। यहाँ भी वस्तु प्रधान नहीं है, अपितु उसकी वर्णन-शैली ही प्रधान है। इसलिए, दण्डी ने सामान्य अलंकारों में वर्ण्य विषयों के साथ कथा-शिल्प के अंगों को भी ग्रहण कर लिया है। वास्तव में, सामान्य अलंकारों का क्षेत्र प्रबन्ध-काव्य है। विशेष अलंकारों में अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों और उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों का समावेश किया गया है। इन अलंकारों के क्षेत्र की सीमा प्रायः उक्ति अथवा वाक्य तक ही है। यही कारण है कि कुन्तक ने अर्थालंकारों का वर्णन वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य अलंकार प्रबन्ध-काव्य या कथा-काव्य से तथा विशेष अलंकार मुक्तक या सूक्ति-काव्य से सम्बद्ध हैं। आगे चलकर इनमें से विशेष अलंकार ही माने गये और रस तथा अलंकार के प्रतियोग के प्रसंग में अलंकार का अर्थ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार लिया गया।

अलंकार-सम्प्रदाय का जन्म ही इस धारणा के आधार पर हुआ कि रस का सम्बन्ध नाट्य से है, जहाँ विभाव आदि के उपस्थापन से रस की सिद्धि हो जाती है। इसी तर्क से काव्यार्थ-रूप काव्य से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं माना गया। इस तर्क के अनुसार काव्य का सार तो शब्दार्थ का सौन्दर्य—अलंकार ही हो सकता है; प्रबन्ध-काव्य के विस्तृत क्षेत्र में अलंकार से तात्पर्य वर्णन-शैली का सौन्दर्य है और मुक्तक या सूक्ति में उसका अर्थ उक्ति-चमत्कार है। फिर भी, सामान्य अलंकारों की कल्पना रस से बहुत हटकर नहीं है; क्योंकि उनका सम्बन्ध रस के विभाव-अनुभाव से प्रत्यक्ष ही है। इसका कारण यह है कि काव्य के जो वर्ण्य विषय हैं, वे ही रस के विभाव, अनुभाव भी हैं। जान पड़ता है कि प्राचीन अलंकारवादी आचार्य यह सम्बन्ध नहीं समझ सके और यही कारण है कि उन्होंने रस की उपेक्षा कर दी। विशेष अलंकार में चमत्कार प्रायः वाक्य ही तक रहता है, अलंकारवादी इस शब्दार्थ के ही चमत्कार को काव्य का आधार मानता है, इसके द्वारा अभिव्यक्त किये हुए भाव तक वह नहीं जाता। उसकी मान्यता है कि काव्य का सौन्दर्य शब्दार्थ में निहित सादृश्य, विरोध, संगति आदि की चामत्कारिक कल्पना पर ही निर्भर है, इनके द्वारा व्यक्त भाव पर नहीं। अलंकारवादी यह नहीं मानता कि शब्दार्थ के चमत्कार से सहृदय के चित्त में किसी भाव-संस्कार का उदय होता है और उसके माध्यम से आनन्द की प्रतीति होती है। वह तो शब्दार्थ के चमत्कार से सीधे आनन्द की प्रतीति में विश्वास करता है। कवि की सर्जनात्मक कल्पना-शक्ति को तो वह स्वीकार करता है, परन्तु उसको प्रेरणा देनेवाले भाव-संस्कारों का कोई विशेष महत्त्व उसके लिए नहीं है। इसके विपरीत अलंकारवादी की धारणा है कि रस-सामग्री या भाव-सामग्री से अलंकार-सृष्टि में सहायता मिल सकती है। विभाव, अनुभाव आदि के वर्णन के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से—प्रत्यक्ष रूप से नहीं—काव्य की सृष्टि हो सकती है; ये भी शब्दार्थ का उपकार करते हुए उसमें चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। दूसरे शब्दों में, रस भी अलंकार का ही अंग है।

जिस युग में अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना हुई, उसके बहुत पहले ही रस-सिद्धान्त का अत्यन्त विस्तृत विवेचन हो चुका था और रसपूर्ण काव्य का विपुल मात्रा में निर्माण भी हो चुका था, इसलिए अलंकारवादी भी रस की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते थे। अतः, उन्होंने रस और भाव को अपने सिद्धान्त में सम्मिलित करने के उद्देश्य से रसावत् तथा ऊर्जवि अलंकार की परिकल्पना की। इस प्रकार, सम्राट रस भाव-विभाव की अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ अलंकार के दरबार में एक सामान्य सामन्त के रूप में सम्मिलित हुआ। इतना होने पर भी रस के प्रति सभी अलंकारवादियों की दृष्टि समान ही नहीं थी—भामह और उद्भट की दृष्टि उदासीन थी, परन्तु रुद्रट तथा दण्डी की दृष्टि पर्याप्त रूप से उदार थी। उग्र अलंकारवादी जयदेव के काव्य-सिद्धान्त पर रस और ध्वनि का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जबतक यह भ्रम फैला रहा कि रस का सम्बन्ध नाट्य से है, तबतक अलंकार-सम्प्रदाय में रस की उपेक्षा होती रही; परन्तु इस भ्रम का निराकरण हो जाने पर रस और अलंकार के सम्बन्ध में मधुरता आती गई और शुद्ध अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में भी रस का विवेचन होने लगा। इसका अर्थ यह नहीं कि अलंकार का महत्त्व कम हो गया, वरन् यह कहा जाय कि रस का महत्त्व बढ़ गया; यहाँ तक कि परवर्त्ती अलंकारवादी जयदेव आदि को अलंकारवादी नहीं कहकर अलंकार-प्रेमी ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

रस और अलंकार के सहयोग का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ तक विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सादृश्य-मूलक अलंकारों के द्वारा विभाव का स्वरूप वैशद्य प्राप्त करता है और ग्राह्य बनता है। कई अलंकार ऐसे हैं, जिनसे कल्पना उद्दीप्त होती है, जिससे भाव में तीव्रता आती है। रस के विषय में अलंकार इससे भी बढ़कर काम करता है—अलंकार रस के केवल उपकारक ही नहीं, प्रत्युत रस की अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं। काव्य की भाषा अर्थात् रस की अभिव्यक्ति का माध्यम, व्यापक अर्थ में, अलंकृत ही हो सकती है; क्योंकि कोई भी यशस्वी कवि चमत्कार-रहित भाषा के सहारे सुन्दर अर्थ अथवा भाव का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं हो सकता। परन्तु, इससे आगे बढ़कर यदि कोई आलंकारिक भाव सौन्दर्य से वंचित शब्दार्थ के जिस चमत्कार या चित्रकाव्य की सर्जना करेगा, उससे किसी सहृदय की मनःतृप्ति नहीं हो सकती। यहीं रस और अलंकार के महत्त्व के न्यूनाधिक्य का निर्णय हो जाता है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र में अलंकार या अप्रस्तुत-विधान या बिम्ब योजना-शरीर पर धारण किये जानेवाले सामान्य आभूषणों के समान नहीं है कि जब जी में आया उतारकर रख दिये गये, वरन् उनका महत्त्व शरीर के रूप-रंग से कम नहीं है, तथापि उन्हें प्राण-तत्त्व के रूप में कभी नहीं स्वीकार किया गया। अलंकार को काव्य का प्राण-तत्त्व कभी मानना भी नहीं चाहिए; क्योंकि इस दशा में यह भी मानना पड़ेगा कि कला चमत्कार की सृष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं है; वह अनुभूति की संप्रेषणा नहीं है। तब कला के उदात्त एवं भव्य उद्देश्यों के बदले केवल कुतूहल की जागृति ही काव्य का लक्ष्य बनकर रह जायगी।

रीति-सम्प्रदाय : अलंकार-सम्प्रदाय के ही समान रीति-सम्प्रदाय भी रस के बहुत अनुकूल नहीं है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है और रस को रीति के आधारभूत बीस गुणों में से एक अर्थगुण कान्ति का मूल तत्त्व स्वीकार किया। इस प्रकार, रीति-सम्प्रदाय में रस का स्थान रीति के पोषक तत्त्वों में आता है। रस की सार्थकता यही है कि इसकी दीप्ति रीति की शोभा का पोषण करती है। रीति-सम्प्रदाय में रस का सीधा सम्बन्ध गुण से माना गया है और गुण शब्दार्थ-रूप काव्य का नित्य धर्म स्वीकार किया गया है। इस प्रकार रस का भी सम्बन्ध काव्य के नित्यधर्म के साथ जुट जाता है, किन्तु उसकी स्थिति केवल एक गुण में होने के कारण उसका मूल्य सीमित ही रह जाता है। दूसरी ओर, रस-सिद्धान्त में रस काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है और पद-संघटना रीति के अंग-संस्थान के रूप में मानी गई है। वर्ण-विन्यास तथा शब्द-विन्यास से रीति का निर्माण होता है और रीति का आधार गुण है। परन्तु, गुण रस के धर्म हैं, अतः गुण के साथ सम्बन्ध होने के कारण रीति भी रस से सम्बद्ध है। जिस प्रकार उक्ति-चमत्कार से रस-व्यंजना में सहायता मिलती है, फलतः अलंकार रस का उपकारक होता है, उसी प्रकार सुन्दर पद-रचना से भी रस-व्यंजना में सहायता मिलती है, फलतः रीति भी रस का उपकार करती है। शब्द तथा अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार को रीति कहते हैं और यह माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त तथा विशद करती है, जिसके फलस्वरूप रस-दशा तक पहुँचने में सहायता मिलती है। इस प्रकार, रस-सिद्धान्त में रीति के लिए एक विशिष्ट स्थान निश्चित है, जिसका उपयोग समुचित रूप में वह करता है।

यदि रस और रीति के सापेक्षिक महत्त्व के प्रश्न पर विचार किया जाय, तो दोनों की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट है। रीति शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाता है कि वह तत्त्व नहीं, विधि-मात्र है। विधि का भी महत्त्व अपने स्थान पर बहुत होता है, फिर भी वह तत्त्व की बराबरी नहीं कर सकती, बढ़कर होने की तो बात ही नहीं। प्रश्न उठता है कि रमणीय शब्दावली के प्रयोग से अर्थ में रमणीयता आती है या रमणीय अर्थ के संसर्ग से शब्दावली चमत्कारपूर्ण हो जाती है? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है कि अर्थ की रमणीयता के ही कारण शब्दावली चमत्कृत या रमणीय बन जाती है। कभी-कभी ऐसा भी जान पड़ता है कि रमणीय शब्द के प्रयोग से अर्थ में चमत्कार आ जाता है—एक शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची दूसरे शब्द के प्रयोग से अथवा शब्दों के क्रम में थोड़ा परिवर्त्तन कर देने से अर्थ अत्यन्त रमणीय हो जाता है। परन्तु, वास्तव में ऐसा कभी होता नहीं, केवल प्रतीत होता है। ऐसी दशा में होता यह है कि पहले अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिए मूल शब्द या मूल क्रम अनुपयुक्त था, इसलिए अर्थ की रमणीयता में बाधा पड़ रही थी और पीछे जब उपयुक्त शब्द या क्रम की व्यवस्था हो गई, तो अत्यन्त सहज रूप में इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति हो गई। अभीष्ट अर्थ ही वास्तव में रमणीय अर्थ है। यह कहना भ्रामक है कि विशिष्ट शब्द या शब्दों का विशिष्ट क्रम अपने-आप में रमणीय

होता है। वस्तुतः, शब्द केवल प्रतीक हैं और जो रमणीयता उसपर आरोपित की जाती है, उसका आधार तो रमणीय अर्थ ही है। अर्थ की रमणीयता का आधार असन्दिग्ध रूप से भाव ही होता है। जो अर्थ हमारी बोधवृत्ति के साथ चित्तवृत्ति पर भी प्रभाव डाल सके, वही रमणीय कहा जा सकता है, इसके फलस्वरूप वह शब्द भी रमणीय माना जायगा, जो अर्थबोध के साथ भाव का भी उद्बोध करता हो। शब्द-विन्यास या शब्द-क्रम के साथ भी यही बात सत्य है। अतएव, यह निर्विवाद है कि शब्दार्थ तथा शब्द-विन्यास की चारुता, वास्तव में, भाव पर ही आधृत है। रीति-सिद्धान्त ने इस निमित्त-नैमित्तिक क्रम को उलट दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप उसका पतन हुआ।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय : रस के विषय में वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की दृष्टि अलंकार-सम्प्रदाय तथा रीति-सम्प्रदाय की अपेक्षा बहुत अधिक उदार थी। काव्य-लक्ष्य तथा प्रयोजन के अन्तर्गत कुन्तक ने रस के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने लक्षण में वक्र कवि-व्यापार के साथ तद्विदाह्लादकारिता को भी अनिवार्य माना और प्रयोजन के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कह दिया :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥[1]

—अर्थात् काव्यामृत का रस उसको समझनेवाले (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है। और, तद्विद् का अर्थ कुन्तक की दृष्टि में केवल काव्य-मर्मज्ञ ही नहीं, वरन् 'सरसात्मा', 'आर्द्रचेता' और 'रसमर्मज्ञ' है। इसी प्रकार, उन्होंने काव्य-भेद, काव्य-वस्तु और काव्य-मार्ग में भी रस का स्थान प्रमुख माना है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय मानता है कि काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रबन्ध है और प्रबन्ध का आधार-तत्त्व रस है कथा नहीं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति-सम्प्रदाय काव्य के परम तत्त्व रस पर कितना बल देता है। कुन्तक ने काव्य-वस्तु या वर्ण्य विषय-वस्तु के दो भेद किये : १. स्वभाव-प्रधान तथा २. रस-प्रधान; और इन दोनों को रस-स्वरूप माना। इस वर्ण्य विषय-वस्तु के दो अन्य भी भेद हैं—चेतन तथा जड़। इनमें चेतन ही प्रधान है और उसके लिए रस आदि का पोषण आवश्यक है। जड़ का वर्णन भी काव्य का अंग है, परन्तु जड़ अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों का यह वर्णन रस को उद्दीप्त करनेवाली अपनी शक्ति के कारण ही काव्य बनता है। तात्पर्य यह है कि वर्ण्य वस्तु को काव्य में केवल इसलिए ग्रहण किया जाता है कि उसमें रस-निर्भरता है। काव्य-मार्गों के विवेचन में भी रस का महत्त्व निश्चित रूप से सिद्ध होता है। सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों में रस का चमत्कार असन्दिग्ध रूप से वर्त्तमान है। तीसरा मार्ग—मध्यम मार्ग—भी इन दोनों का मिश्रित रूप रहने के कारण रस-पुष्ट होना चाहिए।

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, १-५

कुन्तक ने रसवत् अलंकार का निषेध किया और रस की अलंकार्यता की फिर से प्रतिष्ठा की, जिससे रस के प्रति उनका पक्षपात असन्दिग्ध रूप से प्रकट हो जाता है। जिस शस्त्र के सहारे अलंकारवादी रस-सिद्धान्त का निरन्तर विरोध करते रहे थे, उसे कुन्तक ने प्रभावहीन तथा व्यर्थ बना दिया। उनके मतानुसार रस को अलंकार कहना तो नितान्त अनुचित है, परन्तु 'रस-तत्त्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण, जो रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है।'[1] और इस प्रकार, अर्थात् रस के चमत्कार से यह अलंकार समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय सार-सर्वस्व हो जाता है। कुन्तक की इस उक्ति से रस का प्रबल समर्थन होता है। अलंकार का वास्तविक रूप वह हो सकता है, जो रस से चमत्कृत हो—भावना के रंग से रँगा हुआ हो, अर्थात् अलंकार में भी रस के ही सामंजस्य से कवित्व का प्रादुर्भाव होता है—केवल शब्दार्थ की क्रीड़ा को काव्य कभी नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार, कुन्तक ने प्रबल रूप में रस का जयघोष किया है।

अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि कुन्तक के परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले कथनों में सामंजस्य किस प्रकार स्थापित किया जाय? एक ओर उनका कथन है **'सालङ्कारस्य काव्यता'** और **'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'**, अर्थात् अलंकाररूपिणी वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है; फिर दूसरी ओर उनका मत है कि रस काव्य का परम तत्त्व है। इन दोनों परस्पर-विरोधी मान्यताओं में क्या सम्बन्ध है और दोनों के महत्त्व के न्यूनाधिक्य का निर्णय किस प्रकार किया जाय? परन्तु, इस शंका का समाधान सरल ही है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण-तत्त्व है, किन्तु वक्रोक्ति केवल उक्ति-चमत्कार नहीं है, अपितु काव्य-कला का दूसरा नाम है। **'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'** का वास्तविक अर्थ है कि काव्य स्वरूपतः अनुभूति नहीं, वरन् कला है। इस कला की रचना के निमित्त कवि शब्द तथा अर्थ की कई विभूतियाँ उपयोग में लाता है और अर्थ की इन विभूतियों में सर्वाधिक मूल्यवान् विभूति है रस। अतएव, वक्रोक्ति की परम निधि रस ही है। काव्य के प्राण तो वक्रता ही है, परन्तु वक्रता की समृद्धि मुख्यतः रस पर ही आधारित है। स्पष्ट है कि रस के साथ ध्वनि का जो सम्बन्ध है, लगभग वही सम्बन्ध रस के साथ वक्रोक्ति का भी है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा तो है वक्रता, परन्तु वक्रता का सर्वस्व रस ही है। फिर दोनों के महत्त्व के न्यूनाधिक्य या तारतम्य का प्रश्न—अर्थात्, काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष के सापेक्षिक महत्त्व का प्रश्न—उठता है। इस प्रश्न का उत्तर पहले दिया जा चुका है।

औचित्य-सिद्धान्त की कल्पना रस-सिद्धान्त के परिवेश में की गई है, अतः उसका अलग विवेचन करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

१, वक्रोक्तिजीवितम्, १–१४

निष्कर्ष : इस विवेचन से भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य मूल सिद्धान्तों के साथ रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। इस विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

१. रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन, व्यापक, प्रतिष्ठित तथा बहुमान्य सिद्धान्त है। प्रारम्भ में ऐसे भ्रम की उत्पत्ति हो गई थी कि रस के उपकरण विभाव, अनुभाव आदि की स्थिति नाट्य में ही हो सकती है, अतः रस का वास्तविक क्षेत्र नाट्य ही है। इस भ्रम का परिणाम यह हुआ कि काव्य के क्षेत्र में शब्द और अर्थ की परिधि में रस से भिन्न किसी तत्त्व की खोज आरम्भ हुई, जिसे काव्य की आत्मा माना जा सके। इसी खोज के फलस्वरूप शब्दार्थगत चमत्कार के दो प्रधान रूप—अलंकार और रीति—काव्य-क्षेत्र में आये। किन्तु, सौभाग्यवश यह भ्रम अधिक दिनों तक नहीं रहा और शब्द तथा अर्थ के क्षेत्र में ही विभाव, अनुभाव आदि के प्रस्तुत होने की सम्भावना प्रकट हुई। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की परिकल्पना के द्वारा शब्दार्थ में छिपी शक्तियों को प्रकट किया और विभावादि को उपस्थित करनेवाली नाट्य-सामग्री के अभाव की पूर्त्ति व्यंजना के द्वारा की। अभिनवगुप्त ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। काव्य के साथ रस के उचित सम्बन्ध की स्थापना हुई और शब्दार्थ के सन्दर्भ में ही रस-सिद्धान्त पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो गया।

२. ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना के पहले भी अलंकार-सम्प्रादय और रीति सम्प्रदाय में भी रस पूर्णतः उपेक्षित नहीं रहा। अलंकारवादियों ने रसवत् अलंकार की उद्भावना करके रस को अलंकार के एक भेद के रूप में स्वीकार किया और रीतिकार ने रीति के आधारभूत गुण के पोषक तत्त्व के रूप में काव्य का शोभावर्द्धक धर्म स्वीकार कर लिया था। ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने के बाद भी वक्रोक्ति-सिद्धान्त के रूप में इस चिन्ताधारा का अविर्भाव हुआ। यद्यपि कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार किया, तथापि उनके मन में रस के प्रति प्रबल आकर्षण था, इसलिए उन्होंने माना कि रस ही वक्रोक्ति की समृद्धि का आधार है।

३. इस भारतीय काव्यशास्त्र में कलावाद अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हुआ। वक्रोक्ति की उद्भावना में तो कलावाद का पूर्ण विकसित रूप हमारे सामने उपस्थित हुआ। इन सम्प्रदायों में काव्य को प्रमुखतः कला माना गया और अनुभूति को काव्य के पोषक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया।

४. दूसरी ओर, जब रस-सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया, तो उसने भी अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा कला के अन्य तत्त्वों का समुचित रीति से उपयोग किया। सामान्य रूप से अलंकार तथा रीति को क्रमशः आभूषण तथा अंग-संस्थान के सदृश माना गया, परन्तु यह स्थूल कल्पना मात्र थी। परन्तु, तत्त्व की दृष्टि से अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि कला के उपकरणों की आवश्यकता इसलिए हुई कि उनके द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाय और फिर उससे भाव को व्यक्ति-संसर्ग से सर्वथा मुक्त करके

आस्वाद के योग्य बनाया जाय। यदि शब्दार्थ का कलात्मक प्रयोग नहीं किया जाय, तो विभाव, अनुभाव आदि की उपस्थापना नहीं हो सकती और उनका साधारणीकरण भी सम्भव नहीं है। देश-काल की सीमा से मुक्त सर्वहृदय-गम्य रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा नहीं होने पर स्थायी भाव की विघ्न-रहित प्रतीति भी सम्भव नहीं हो सकती। अतएव अलंकार, रीति, बिम्ब-विधान, वक्रोक्ति आदि ऐसे उपकरण हैं, जिनसे रस-निष्पत्ति में सहायता मिलती है। रस की प्रतीति के लिए इन उपकरणों की आवश्यकता पड़ेगी ही।

५. आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में काव्य के अन्तर्गत अनुभूति-तत्त्व के साथ कला-तत्त्व का जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध रस के साथ अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति का है। दोनों का समन्वय होने पर ही काव्य बन सकता है। भाव-विभूति के साथ यदि कलात्मक अभिव्यक्ति का सहयोग नहीं हो, तो वह भाव-विभूति केवल अनुभव के विषय के अतिरिक्त और कुछ नहीं बन सकती और कला में भावना का संस्पर्श नहीं रहे, तो वह कला केवल क्रीड़ा बनकर रह जाती है। दोनों के अतिवाद से हानि ही होती रही है। कला-क्षेत्र में तो अतिवाद से महान् अनर्थ होते ही रहे हैं, रस-क्षेत्र में भी अतिवाद प्रशंस्य नहीं हो सकता। न तो भाव-रहित कला ही काव्य है और न केवल भावोद्गार ही काव्य है। भाव और कला दोनों में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

६. रस और ध्वनि का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ है; क्योंकि दोनों की उद्भावना सहृदय से ही सम्बन्ध रखती है। दोनों में केवल यही अन्तर है कि रस-सिद्धान्त काव्य का प्राण-तत्त्व कल्पनात्मक भावना को मानता है, परन्तु ध्वनि-सिद्धान्त भाव-रंजित कल्पना को काव्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार करता है। यह अन्तर इतना सूक्ष्म है कि धीरे-धीरे यह भेद लुप्त ही हो गया। परन्तु, दोनों की स्वतन्त्र स्थिति स्वीकार करने के लिए इस अन्तर को तो ध्यान में रखना ही होगा।

७. औचित्य-सिद्धान्त तो रस-सिद्धान्त का एक प्रकार से अंग ही है; क्योंकि उसका विकास रस-सिद्धान्त से ही हुआ है। औचित्य की सत्ता रस की ही परिधि में है और उसकी सार्थकता भी इसी में है।

८. इस प्रकार रस-सिद्धान्त बहुत ही व्यापक सिद्धान्त है और उसका दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण है। यह सिद्धान्त अलंकार, रीति, गुण, वक्रता और ध्वनि सब सिद्धान्तों के साथ पूरा सहयोग करता है और उनका सहयोग पाता भी है। किन्तु, जहाँ शब्दार्थ के साथ भावना का सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ रस काम नहीं करता। इस दृष्टि से ध्वनि-सिद्धान्त और भी उदार कहा जा सकता है।

काव्य में विद्यमान अनेक तत्त्वों के महत्त्व के न्यूनाधिक्य का निर्णय बहुत कठिन नहीं है। वस्तुतः, काव्य में सभी तत्त्वों का महत्त्व है, परन्तु कोई भी तत्त्व भाव का

समकक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि सम्पूर्ण जीवन को प्रेरणा देनेवाला तत्त्व भाव ही है। भाव से ही जीवन में रस का संचार होता है और चारित्र्य की समृद्धि होती है। भाव पर ही जीवन के मूल्य आधृत हैं और आनन्द का जो रूप भाव के द्वारा सिद्ध होता है, वही सबल और गम्भीर होता है। जो कल्पना का चमत्कार, उक्ति अथवा शैली भाव से अछूती रहती है, उसका मूल्य कुतूहल से अधिक कुछ नहीं हो सकता। तर्क की बात छोड़कर यदि हम अनुभव के क्षेत्र में देखें, तो स्पष्ट हो जायगा कि काव्य के उसी तत्त्व का स्थायी मूल्य होता है, जो सहृदय के चित्त में रम जाता है और उसके संस्कार का अंश बन जाता है। वह तत्त्व निश्चय ही भाव-तत्त्व है। इस प्रकार, काव्य के सभी तत्त्वों में भाव का महत्त्व अक्षुण्ण है। उसी अनुपात में काव्य के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों तथा सिद्धान्तों की अपेक्षा रस-सिद्धान्त का भी महत्त्व अक्षुण्ण है।

अष्टम अध्याय

रंगमंच

विधान

भारतीय नाट्यशास्त्र की स्वस्थ परम्परा के साथ नाट्य-गृहों की कल्पना भी जुड़ी हुई है। भरत के नाट्यशास्त्र में जिस स्तर पर नाट्यकला की प्रतिष्ठा हुई है, उसी के अनुरूप नाट्य-गृह का भी विवेचन किया गया है। इसके आधार पर यह बताना कठिन है कि लोक में प्रचलित परम्परा में नाट्य-गृहों की वास्तविक स्थिति किस रूप में थी। पर उसमें जिस लोकधर्मी परम्परा का उल्लेख किया गया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत में साधारण लोक-समाज के लिए खुली नाट्यशालाओं (open-air theatre) का प्रबन्ध रहा होगा। उन्हीं की परम्परा संस्कृत-नाटकों के ह्रास के बाद भी चलती आ रही है और लोक में प्रचलित रामलीला, रासलीला, यात्रा आदि का सम्बन्ध इनसे भी स्वीकार करना उचित ही होगा।

भारत के प्राचीन साहित्य में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि उस युग में रंगमंच बहुत विकसित था। अनेक पुस्तकों में रंगशाला के निर्माण की विधि बताई गई है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि रंगभूमि और नाट्यशाला का अर्थ सुनियोजित, सुनिर्मित, सुसज्जित तथा सुन्दर नाट्य-भवन होता था, केवल किसी प्रकार खड़ा किया हुआ आकार ही नहीं। संस्कृत-स्रोतों के परीक्षण से प्राचीन भारत में नाट्यशाला के निर्माण का विस्तृत विवरण मिल जाता है। यह भी पता चल जाता है कि नाट्यशाला कितने प्रकार की होती थी और कैसे बनाई जाती थी।

नृत्य तथा संगीत प्राचीन काल में अत्यन्त समुन्नत कला थे, जिनका विकास राजदरबारों में हुआ था। इनका विकास ग्राम्य-कला के रूप में नहीं हुआ था, जिसका प्रदर्शन सड़कों पर या ग्राम के मन्दिरों में होता हो। राजप्रासादों में नाट्य के लिए स्वतन्त्र रूप से भवन सुरक्षित रहता था। कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि राजा के प्रासाद में चित्रशाला तथा प्रेक्षागार थे। इसी प्रेक्षागार में मालविका का नृत्य प्रस्तुत किया गया था। यह समझना भूल होगी कि यह प्रेक्षागार केवल एक प्रकोष्ठ था या किसी प्रकार से खड़ा किया हुआ कोई आकार था। वास्तव में, यह पूर्ण रूप से नाट्यशाला थी, जिसमें नेपथ्य, यवनिका आदि का भी उल्लेख मिलता है। शकुन्तला नाटक के पंचम अंक में हम पाते हैं कि हंसपादिका संगीतशाला में गीत गा रही है। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाशन में राजप्रासाद में रहनेवाली तीन प्रकार की नाट्यशालाओं का वर्णन किया है। इनमें से प्रत्येक नाट्यशाला में एक भिन्न प्रकार का नृत्य प्रस्तुत किया जाता था। अपनी पुस्तक के आरम्भ में उन्होंने लिख दिया है कि मैंने

तीस प्रकार के नाट्य देखने के बाद यह पुस्तक लिखी है। ये नाट्य दिवाकर द्वारा प्रस्तुत किये गये थे, जिनसे उन्होंने नाट्यवेद का अध्ययन किया था। शारदातनय का काल सन् ११७५–१२५० ई० माना जाता है। 'संगीतमकरन्द' नारद का लिखा हुआ संगीतशास्त्र विषयक एक ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने एक प्रकार की नाट्यशाला का वर्णन किया है। उन्होंने इसकी लम्बाई-चौड़ाई आदि की नाप का भी उल्लेख किया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में दो प्रकार के नाट्य-गृहों का वर्णन मिलता है।

परन्तु, इन सबसे बढ़कर भरत का नाट्यशास्त्र है। उन्होंने नाटक के प्रयोगात्मक सिद्धान्तों का जितनी गम्भीरता तथा सूक्ष्मता से विवेचन किया है, वह उनकी एकान्त निष्ठा एवं सतत साधना का असन्दिग्ध परिचायक है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक की सभी सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। परन्तु, उन्होंने नाट्य की उत्पत्ति तथा रंगमंच की पूजा का इतना विस्तृत विधान दिया है कि उसकी विशालता में रंग-विधान की रूपरेखा कुछ-कुछ धुँधली हो गई है। फिर भी, उनके द्वारा वर्णित रंग-विधान अत्यन्त आश्चर्य का विषय है। भरत के नाट्यशास्त्र के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय में रंगमंच के विधान एवं निर्माण का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय की कुछ कारिकाएँ अस्पष्ट हैं, परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त की टीका की सहायता से उन्हें समझने में बहुत सहायता मिलती है। डॉ० कीथ ने अपनी पुस्तक 'दि संस्कृत ड्रामा' के अन्त में एक छोटा अध्याय भरत के मतानुसार नाट्यगृह-निर्माण पर भी लिखा है। परन्तु, यह अत्यन्त संक्षिप्त है और कई स्थलों पर भ्रान्त भी है। गोदावरी केतकर ने मराठी-नाट्यशास्त्र पर एक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसमें भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-गृहों के चित्र दिये गये हैं। इस विषय के जिज्ञासु के लिए यह पुस्तक अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

भरत मुनि ने रंगमंच-निर्माण की पृष्ठभूमि में एक महत्त्वपूर्ण कथा का उल्लेख किया है। दानवों पर इन्द्र की विजय के उपलक्ष्य में भरत ने 'महेन्द्रविजयोत्सव' नामक नाट्य का अभिनय किया, जिसमें असुरों की निन्दा थी। इसपर दानवों ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका भयंकर विध्वंस किया। इस पर ब्रह्मा ने दानवों को शान्त करने के निमित्त नाट्य के महत्त्व का उपदेश दिया। नाट्य में सभी लोकों के सुख-दुःखात्मक भावों का अनुकरण होगा, जिसे देखने से दुःखी तथा परिश्रान्त व्यक्तियों का विनोद होगा; साथ ही जीवन-हित धर्म, यश और बुद्धि का अभ्युदय होगा।

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥[1]

---

१. **नाट्यशास्त्र**, अध्याय १, कारिका ११४-११५

इतना ही नहीं, नाट्य में विश्व की समस्त विधा, कला तथा शिल्प का एकत्र समन्वय होगा :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥[1]

मुनियों ने भरत से नाट्यवेश्म के विषय में पूछा; क्योंकि नाट्य में सर्वप्रथम इसी की आवश्यकता होती है। भरत ने बताया कि ब्रह्मा की ही आज्ञा से विश्वकर्मा ने नाट्यवेश्म का निर्माण किया। भरत ने उसी नाट्यवेश्म या नाट्य-मण्डप के निर्माण का वर्णन नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में किया है।

प्रेक्षागृहों के भेदोपभेद : विश्वकर्मा ने तीन प्रकार के नाट्यवेश्म का निर्माण किया—विकृष्ट (आयत), चतुरस्र (वर्ग) तथा त्र्यस्र (त्रिकोण)। डॉ० कीथ ने यह नहीं बताया कि विकृष्ट किसे कहते हैं, परन्तु भूल से चतुरस्र को आयताकार समझ लिया है। विकृष्ट देवताओं के लिए, चतुरस्र भूलोक के लिए तथा त्र्यस्र निम्नकोटि के दर्शकों के लिए है। देवताओं के बड़े रंगमंच के विषय में भरत ने कहा है कि हमें देवताओं से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जहाँ हमें परिश्रम करके बनाना होगा, वहाँ देवता इच्छा-मात्र से बना सकते हैं। विकृष्ट नाट्यगृह १०८ हाथ लम्बा होता है और अपनी अत्यधिक लम्बाई के कारण मनुष्यों के लिए अनुपयोगी है। अतः, भरत ने चतुरस्र मध्यम रंगमंच या नाट्य-मण्डप को ही मनुष्यों के लिए उत्तम माना है :

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम् ।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ॥[2]

और इससे बड़ा रंगमंच बनाने का निषेध किया है :

अत ऊर्ध्वं न कर्त्तव्यं कर्त्तृभिः नाट्यमण्डपः ।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वात् व्रजेदव्यक्ततां परम् ॥[3]

इस विषय में अभिनवगुप्त ने एक नई बात कही है और यह निर्णय करना कठिन है कि भरत का भी यही विचार था या नहीं। अभिनवगुप्त का कथन है कि भरत ने सबसे बड़ा रंगमंच देवताओं को दिया है, इसका अर्थ यह है कि यदि डिम आदि रूपकों का अभिनय करना हो, जिसमें देवताओं और असुरों का संग्राम दिखाया जाता है, तो सबसे बड़े रंगमंच का उपयोग करना चाहिए, जिसमें संग्राम आदि के लिए पर्याप्त स्थान मिल सके। यदि राजाओं के प्रणय-व्यापार आदि का प्रदर्शन करना हो, तो मध्यम कोटि का रंगमंच हमारे उद्देश्य के लिए पर्याप्त हो जायगा। यदि साधारण लौकिक जीवन की विकृतियों को

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, कारिका ११६

२. वही, अध्याय २, कारिका १२ (काव्यमाला)

३. वही, का० २१ (काव्यमाला)

प्रदर्शित करनेवाले प्रहसन और भाण जैसे छोटे रूपकों का अभिनय करना हो, जिसमें सामान्य नर-नारी पात्र होते हैं, तो छोटे रंगमंच का उपयोग कर सकते हैं।

रंगमंच के उपर्युक्त तीन भेद : विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र—आकार के अनुसार होते हैं। इन तीनों के तीन-तीन भेद—ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ—परिमाण के अनुसार होते हैं। इस प्रकार रंगमंच के नौ भेद हुए। फिर इन मण्डपों का परिमाण हाथ या दण्ड के आधार पर निश्चित किया गया है। एक दण्ड चार हाथ का होता है। अतः रंगमंच अठारह प्रकार के हो सकते हैं। एक सौ आठ हाथ (या दण्ड) की एक भुजावाला ज्येष्ठ, चौंसठ हाथ (या दण्ड) की एक भुजावाला मध्यम और बत्तीस हाथ (या दण्ड) वाला मण्डप कनिष्ठ या अवर समझा जाता है।

उपर्युक्त भेद दो आधारों पर किये गये हैं—आकार और परिमाण। आकार की दृष्टि से नाट्य-मण्डप या प्रेक्षागृह तीन प्रकार से बनाये जा सकते हैं–विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) तथा त्र्यस्र (त्रिभुजाकार)। परिमाण की दृष्टि से १०८ हाथ लम्बा, ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ लम्बा—ये तीन प्रकार प्रेक्षागृह के माने गये हैं। इस प्रकार विकृष्ट आदि तीनों आकारवाले नाट्य-मण्डपों या प्रेक्षागृहों के परिमाण की दृष्टि से १०८ हाथ, ६४ हाथ और ३२ हाथ की लम्बाईवाले तीन-तीन भेद मिलकर कुल नौ भेद हुए। फिर मण्डपों की लम्बाई आदि का निश्चय हाथ या दण्ड—दो साधनों से कर सकते हैं। अतः, पूर्वोक्त नौ प्रकार के मण्डपों के हस्ताश्रित और दण्डाश्रित दो-दो भेद होकर मण्डप के अठारह भेद हो जाते हैं। अभिनवगुप्त ने 'एवं चाष्टावश भेदास्तावच्छास्त्रे' लिखकर इस बात का समर्थन किया है। हस्ताश्रित नौ भेदों को निम्नांकित सारणी में दिखाया जा रहा है :

आकार	प्रकार	परिमाण	उपयोग
१. विकृष्ट	१. ज्येष्ठ	१०८ गुणा ६४ हाथ	देवतार्थ
विकृष्ट	२. मध्यम	६४ गुणा ३२ हाथ	नृपार्थ
विकृष्ट	३. अवर	३२ गुणा १६ हाथ	लोकार्थ
२. चतुरस्र	४. ज्येष्ठ	१०८ गुणा १०८ हाथ	देवतार्थ
चतुरस्र	५. मध्यम	६४ गुणा ६४ हाथ	नृपार्थ
चतुरस्र	६. अवर	३२ गुणा ३२ हाथ	लोकार्थ
३. त्र्यस्र	७. ज्येष्ठ	१०८ हाथ समत्रिबाहु	देवतार्थ
त्र्यस्र	८. मध्यम	६४ हाथ समत्रिबाहु	नृपार्थ
त्र्यस्र	९. अधम	३२ हाथ समत्रिबाहु	लोकार्थ

अभिनव ने प्रेक्षागृहों के जो अठारह भेद कर दिये, उसके विषय में उन्होंने स्वयं माना है कि ये भेद अनुमानाश्रित हैं, व्यावहारिक नहीं। कदाचित् इनका उपयोग कभी किया जाता रहा हो। अभिनव का विश्वास है कि भरत ने अपने समय में प्रचलित प्रेक्षागृहों का वर्णन किया है। अभिनव ने हस्ताश्रित तथा दण्डाश्रित—दो नापों के आधार पर

जो दो भिन्न वर्ग माने, यह संगत नहीं जान पड़ता। भरत ने ६४ गुणा ३२ हाथ के बड़े आकार के मण्डपों का निषेध किया है और फिर इससे चौगुने आकार के मण्डपों की संगति कैसे बैठ सकती है? अभिनव ने अपनी व्याख्या में माना है कि जिन नाट्यों में देव तथा दानव नायक-प्रतिनायक के रूप में भाग लेते हों, और जिनमें आरभटी वृत्ति का प्रयोग होता हो, ऐसे डिम आदि रूपकों का अभिनय विस्तृत रंगमंच पर ही होता है। इनमें भाण्ड-वाद्यों की प्रधानता रहती है, परिभ्रमण आदि के लिए अधिक ऊँचे तथा लम्बे क्षेत्र की आवश्यकता होती है। इसलिए, उस अभिनय के भाव को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए १०८ हाथ का मण्डप आवश्यक होता है। डिम नामक रूपक में प्राकृतिक घटनाओं (बिजली गिरना, उल्कापात, ग्रहण आदि), युद्ध या सम्फेट आदि का प्रदर्शन होता है। इसमें देवता, राक्षस, नाग, यक्ष, पिशाच आदि से युक्त सोलह प्रकार के नायक होते हैं। ऐसे रूपक के अभिनय के लिए ज्येष्ठ मण्डप की आवश्यकता होती है।

अभिनवगुप्त ने कहा है कि मध्यम परिमाण के मण्डप के अतिरिक्त न्यून अथवा अधिक परिमाण के मण्डप का निर्माण नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसे मण्डपों में नाट्य की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उन्होंने अपनी व्याख्या में बड़े और छोटे परिमाण के प्रेक्षागृहों को नाट्याभिव्यक्ति के लिए निरन्तर अनुपयुक्त ही माना है। ज्येष्ठ परिमाणवाले प्रेक्षागृहों में ध्वनि का यथार्थ अनुमान लगाना कठिन है। इसमें निकटवर्त्तियों के लिए पाठ्य-अभिनय विस्वरत्व को प्राप्त होता है, अर्थात् स्वर के विभाग का उचित ज्ञान नहीं हो पाता। दूरवर्त्तियों के लिए पाठ्य-अभिनय विगत-स्वर हो जाता है और समुचित रूप से सुना नहीं जा सकता। इसके विपरीत अत्यन्त छोटे प्रेक्षागृह में उच्च स्वर में उच्चरित पाठ्य अपना माधुर्य खो देता है। साथ ही गीत-वाद्य के प्रयोग में भी स्वरहीनता आ जाती है। इसी प्रकार, अति विस्तीर्ण मण्डप में भावों की अभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं हो पाती और छोटे मण्डप में भी अति निकटता के कारण भावों की अभिव्यक्ति अस्पष्ट रह जाती है। इन दोनों को अस्वीकार करके अभिनव ने मध्यम प्रेक्षागृह को महत्त्व प्रदान किया है। इसी आधार पर उन्होंने दण्ड-प्रमाण को भी व्यर्थ माना है।

इस विवरण में एक असंगति : अभी प्रेक्षागृहों के भेदों का जो वर्णन दिया गया है, वह स्थूल दृष्टि से देखने पर ठीक है। परन्तु, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसमें एक असंगति दिखाई देती है। यह असंगति विशेषतः **'प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते'**[1] —इस मध्यम मण्डप के विधान के कारण सामने आती है। आगे भरत ने इसी अध्याय में ८६ से १०१ श्लोक-संख्या तक चतुरस्र मण्डप के निर्माण का वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने चतुरस्र मण्डप का परिमाण चारों ओर ३२ हाथ का बताया है। ऊपर की सारणी में ३२ गुणा ३२ हाथ का जो चतुरस्र मण्डप दिखाया गया है, वह चतुरस्र श्रेणी का अवर मण्डप है। इसके पहले विकृष्ट मण्डप के निर्माण का विस्तृत वर्णन दिया गया है। उसका

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय २, श्लोक २४**

परिमाण ६४ गुणा ३२ हाथ बताया गया है। ऊपर की सारणी में ६४ गुणा ३२ हाथ का विकृष्ट मण्डप उस श्रेणी का मध्यम मण्डप बनता है, जो मध्यम मण्डप के विधान के अनुकूल है। इसी तरह चतुरस्र वर्ग में भी मध्यम मण्डप का ही विवरण देना चाहिए था। परन्तु, ऊपर की सारणी के अनुसार ३२ गुणा ३२ हाथ का चतुरस्र मण्डप उस वर्ग का अवर मण्डप बनता है, मध्यम नहीं। इस विवरण में इस प्रकार यह असंगति दिखाई देती है।

इस असंगति का निराकरण करने के उद्देश्य से डॉ० मनकद और प्रो० सुब्बाराव ने अपने-अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उनके भी समाधान त्रुटि-रहित नहीं हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने इसका बहुत सूक्ष्म विश्लेषण करके अपना समाधान उपस्थित किया है, जो सन्तोषप्रद है।

समस्या का समाधान : इस समस्या की उत्पत्ति का प्रधान कारण यह है कि डॉ० मनकद और प्रो० सुब्बाराव ३२ गुणा ३२ हाथवाले चतुरस्र मण्डप को इस वर्ग का मध्यम मण्डप मानते रहे हैं। किन्तु, वस्तुतः यह चतुरस्र वर्ग का मध्यम नहीं, अवर मण्डप है। यदि यह बात समझ ली जाय, तो इन दोनों विद्वानों ने जो कुछ विवेचन किया है, उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

प्रश्न उठता है कि जब ३२ गुणा ३२ हाथवाला मण्डप चतुरस्र वर्ग का अवर मण्डप है, तो इन दोनों विद्वानों ने इसे मध्यम मण्डप सिद्ध करने का प्रयत्न ही क्यों किया? वस्तुतः, इन विद्वानों के सामने दो कारण हैं : १. सभी प्रकार के मण्डपों में मध्यम मण्डप की प्रशंसा की गई है, अतः यहाँ जिस चतुरस्र मण्डप का भरत मुनि ने इतना विस्तृत वर्णन किया है, वह प्रशंसित मध्यम मण्डप ही होना चाहिए, यही समझा गया। २. उनकी यह धारणा दूसरे इस कारण से पुष्ट होती है कि विकृष्ट आकारवाले मण्डप में ६४ गुणा ३२ हाथवाले जिस मण्डप का इस स्थान पर विस्तृत वर्णन किया गया है, वह उस वर्ग का मध्यम मण्डप ही है। यह समझ लिया गया कि उसी के उदाहरण से चतुरस्र वर्ग का यह ३२ गुणा ३२ हाथ का मण्डप भी मध्यम ही होना चाहिए। उस मध्यम मण्डप को छोड़कर अवर मण्डप का वर्णन क्यों किया गया, इस बात का कोई कारण वे नहीं समझ सके। इसीलिए, उन्होंने इसे ही मध्यम मण्डप सिद्ध करने का प्रयास किया है।

यहाँ भरत मुनि ने मध्यम मण्डप छोड़कर अवर मण्डप का वर्णन क्यों किया, इसका कारण है। विकृष्ट मण्डप का विशेष वर्णन करते समय भरत मुनि ने ६४ गुणा ३२ हाथ के मध्यम मण्डप का ही वर्णन प्रस्तुत किया है। जिस स्थल पर यह परिमाण बतलाया गया है, उसके अगले ही श्लोक में भरत ने इससे बड़े आकार का मण्डप बनाने का स्पष्ट निषेध कर दिया है। इस निर्देश के अनुसार ६४ गुणा ३२ हाथ से बड़े मण्डप का निर्माण नहीं किया जाना चाहिए। इसीलिए, चतुरस्र मध्यम आकार को छोड़कर अवर आकारवाले मण्डप के निर्माण पर इतना बल देना पड़ा। इससे सम्पूर्ण बात स्पष्ट हो जाती है।

अब '**प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते**' के द्वारा की गई मध्यम मण्डप की बात पर विचार करना शेष रह जाता है। परन्तु, इस प्रशंसा से इस अवर मण्डप के विषय में बाधा नहीं होती, अपितु सहायता ही मिलती है। ६४ गुणा ३२ हाथवाले मध्यम मण्डप की प्रशंसा करने का कारण यह है कि इससे बड़े आकार के मण्डप में नाट्य न ठीक से देखा ही जा सकता है और न सुना ही। अतः, इससे बड़ा प्रेक्षागृह नहीं बनाकर मध्यम परिमाण का ही प्रेक्षागृह बनाना उचित है, यह उस प्रसंग का तात्पर्य है। इसी तात्पर्य से यहाँ इस अवर मण्डप का समर्थन हो रहा है। यदि ३२ गुणा ३२ हाथ से बड़ा ६४ गुणा ६४ हाथ का मण्डप बनाया जाय, तो उसका क्षेत्रफल पूर्व-निर्धारित परिमाण से चौगुना हो जायगा, जिससे नाटक का अभिनय असफल हो जायगा। इसीलिए, इसका निषेध किया गया है। यही कारण है कि भरत मुनि ने ६४ गुणा ६४ हाथवाले मध्यम मण्डप को छोड़कर ३२ गुणा ३२ हाथवाले चतुरस्त्र मण्डप का विधान किया है। यह पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि चतुरस्त्र वर्ग का अवर मण्डप है, मध्यम नहीं। इसे मध्यम मण्डप समझने का प्रयत्न उचित नहीं है।

मण्डप-निर्माण की पूर्व-पीठिका : प्रयोजक को नाट्य-गृह के शिलान्यास के पूर्व भूमि की भलीभाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए। नाट्य-गृह या सभा-मण्डप की भूमि समतल, कठोर, काली या उजली होनी चाहिए। फिर शुभ्र वर्ण के बैलों से उस भूमि को हल से जोतकर झाड़-झंखाड़, कील, हड्डी, कपाल, घास-फूस आदि को दूर करके शुद्ध कर देना चाहिए। अनुराधा, पुष्य आदि प्रशस्त नक्षत्रों में शुक्ल सूत्र से भूमि को नापना चाहिए। भरत ने उन सारी वस्तुओं के नाम गिना दिये हैं, जिनसे रस्सी बनाई जानी चाहिए। कपास, सन, मूँज या वल्कल की रस्सी बनानी चाहिए। इन वस्तुओं के नाम गिनाने से स्पष्ट हो जाता है कि चमड़े के फीते का उपयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ भरत ने रस्सी या सूत्र की दृढ़ता या मजबूती पर बहुत बल दिया है। टूटी हुई रस्सी का उपयोग कभी नहीं करे। बीच में से या आधे पर से रस्सी के टूट जाने पर स्वामी—राजा आदि प्रेक्षापति—की मृत्यु होती है, तिहाई भाग पर टूटने से राष्ट्र में विप्लव होता है, चौथाई भाग पर टूटने से नाट्याचार्य का नाश होता है और हाथ से छूट जाने पर कोई हानि होती है। अतः, रस्सी या मानसूत्र दृढ़ता से पकड़ना चाहिए और सावधानी से भूमि की नाप करनी चाहिए। अनुकूल मुहूर्त्त, अनुकूल तिथि तथा सुन्दर करण में ब्राह्मणों को भोजनादि से तृप्त करके मण्डप की दागवेल करानी चाहिए।

विकृष्ट आकार के मण्डप की रूपरेखा : पहले लिखा जा चुका है कि विकृष्ट, चतुरस्त्र तथा त्र्यस्त्र—तीनों आकार के मण्डपों में मध्यम मण्डप को ही भरत मुनि ने उत्तम माना है। अतः, उन्होंने सबसे पहले विकृष्ट आकार के ६४ गुणा ३२ हाथ के परिमाण-वाले मण्डप की रूपरेखा प्रस्तुत की है। विकृष्ट या आयताकार मध्यम परिमाण के मण्डप की लम्बाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ की होती है। अभिनव ने स्पष्ट रूप से इसके

चार विभाग स्वीकार किये हैं। इसके बीच में सूत डालने से ३२ हाथ की भुजावाले दो वर्गाकार विभाग हो जायेंगे। इनमें से ३२ गुणा ३२ हाथ का आगेवाला भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए रखा गया। पिछले भाग को फिर चौड़ाई में दो भागों में विभक्त करने पर १६ गुणा ३२ हाथ के दो आयत निकलेंगे। इनमें सबसे पीछे के १६ गुणा ३२ हाथवाले स्थान में नेपथ्य-गृह रखा गया है, जहाँ वेश-भूषा आदि धारण की जाती है और आगेवाले १६ गुणा ३२ हाथ के स्थान को दो बराबर भागों में बाँटकर उनमें से ८ गुणा ३२ हाथ के दो भाग बनाने का विधान है। प्रेक्षकों के समीपवाले स्थान में मुख्य रंगपीठ और उसके पीछे नेपथ्य-गृह तथा मुख्य रंगपीठ के बीचवाले ८ गुणा ३२ हाथ के स्थान में रंगशीर्ष बनाया जाता है।

नाट्य-मण्डप के विषय में डॉ० मनमोहन घोष का मत : कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' के सन् १९३२ ई० के तृतीय अंक में डॉ० डी० आर्० मनकद ने भरत के नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती के आधार पर एक लेख प्रकाशित कराया था, जिसका विषय नाट्य-मण्डप का निर्माण था। इसी लेख की आलोचना में सन् १९३३ ई० में 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' में डॉ० मनमोहन घोष ने एक लेख लिखा। इस लेख में डॉ० घोष ने डॉ० मनकद से निम्नलिखित दो बातों पर मतभेद प्रकट किया : १. डॉ० घोष ने सिद्ध किया है कि नाट्य-मण्डप में रंगपीठ तथा रंगशीर्ष दो विभिन्न भाग नहीं, अपितु वे दोनों शब्द एक ही स्थान के वाचक पर्याय शब्द हैं; २. डॉ० मनकद ने नाट्य-मण्डप का जो चित्र बनाया है, उसमें आधा भाग रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा नेपथ्य की रचना के लिए है और केवल आधा भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए दिया है। डॉ० घोष का कथन है कि यह उचित नहीं है। उनके मतानुसार तीन-चौथाई भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए और एक-चौथाई भाग में रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा नेपथ्य-गृह की रचना होनी चाहिए। डॉ० घोष ने इन दो नवीन तथ्यों का समावेश अपने निबन्ध में किया है।

इनमें प्रथम तथ्य को, अर्थात् रंगपीठ तथा रंगशीर्ष विभिन्न स्थान न होकर एक ही स्थान के विभिन्न नाम हैं, सिद्ध करने के लिए डॉ० घोष ने निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं :

(क) नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि नाट्य-मण्डप के विभिन्न स्थानों की रक्षा के निमित्त ब्रह्मा ने व्यवस्था की है, उसमें रंगपीठ का दो बार उल्लेख हुआ है, परन्तु रंगशीर्ष की कोई चर्चा नहीं हुई है। रंगपीठ का दो बार उल्लेख श्लोक-संख्या ९०-९१ में प्रस्तुत किया गया है।

(ख) द्वितीय अध्याय के श्लोक ३२-३३ में नाट्य-मण्डप के विभिन्न भागों का निर्देश हुआ है। इन श्लोकों में केवल रंगशीर्ष का उल्लेख हुआ है, रंगपीठ का कोई उल्लेख नहीं। इससे पता चलता है कि प्रथम अध्याय में जिसे रंगपीठ कहा गया है, वही द्वितीय अध्याय में रंगशीर्ष नाम से उल्लिखित है।

(ग) द्वितीय अध्याय के श्लोक ७२, ७३, ७५ में फिर केवल रंगशीर्ष का उल्लेख किया गया है। फिर इस स्थल पर भी रंगपीठ की कोई चर्चा नहीं है। इससे पता चलता है कि प्रथम अध्याय में जिस स्थान को रंगपीठ नाम दिया गया, उसी स्थान का निर्देश द्वितीय अध्याय के इन दोनों स्थलों पर रंगशीर्ष नाम से किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ संस्करणों में **'रंगशीर्षं प्रशस्यते'** के स्थान पर **'रङ्गपीठं प्रशस्यते'** पाठान्तर भी मिलता है। इससे अनुमान होता है कि प्राचीन काल में भी नाट्यशास्त्र के कुछ पाठक रंगपीठ तथा रंगशीर्ष को एक ही स्थान मानते थे। रंगशीर्ष का यह उल्लेख विकृष्ट मण्डप की रचना के प्रसंग में किया गया है।

(घ) त्यस्र रंग-मण्डप की रचना का विवरण द्वितीय अध्याय के श्लोक १०२, १०३, १०४ में दिया गया है। इनमें भी केवल रंगपीठ का उल्लेख हुआ है, रंगशीर्ष का नहीं। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष विभिन्न स्थान नहीं।

(ङ) द्वितीय अध्याय के श्लोक ८८ से १०१ तक चतुरस्र मण्डप की रचना का विवरण दिया गया है। यहाँ भी चार स्थानों पर रंगपीठ शब्द का और एक स्थान पर रंगशीर्ष का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। इस एक स्थान पर भी पाठान्तर में रंगपीठ पाठ भी पाया जाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि रंगपीठ और रंगशीर्ष वास्तव में एक ही स्थान के दो नाम हैं, अलग-अलग स्थान नहीं।

डॉ० घोष के इस विवेचन से यवनिका या पर्दे के स्थान का भी प्रश्न उपस्थित हो गया है। नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में, जहाँ नाट्य-मण्डप का विवरण है, यवनिका की कोई चर्चा नहीं है, परन्तु आगे चलकर अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख किया गया है। यवनिका के स्थान का विवेचन करते समय अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से लिखा है: **'तत्र यवनिका रङ्गपीठ तच्छिरसोर्मध्ये'**। इससे यवनिका का स्थान रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में निर्धारित होता है। परन्तु, डॉ० मनमोहन घोष रंगपीठ तथा रंगशीर्ष को भिन्न नहीं मानते, अतः उन्होंने अभिनवगुप्त के इस स्पष्ट निर्देश की भी अवहेलना करके नेपथ्य-गृह के द्वारों पर पड़े पर्दों को यवनिका मान लिया है। इस प्रकार, डॉ० घोष ने अपने उस लेख में निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों की स्थापना की है:

१. रंगपीठ और रंगशीर्ष अलग-अलग स्थान नहीं, प्रत्युत एक ही स्थान के दो नाम हैं, अर्थात् दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

२. नाट्य-मण्डप का तीन-चौथाई भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए रहना चाहिए और एक-चौथाई भाग में रंगपीठ तथा नेपथ्य-गृह केवल दो भाग रहने चाहिए।

३. नेपथ्य-गृह के द्वारों पर पड़े पर्दों को ही यवनिका, पटी आदि कहते हैं।

डॉ० मनकद द्वारा प्रत्यालोचना : डॉ० मनमोहन घोष के उपर्युक्त लेख की प्रत्यालोचना डॉ० मनकद] ने 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' के सन् १९३३ ई० के अंक में

की थी । कुछ अन्य श्लोकों का हवाला देकर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष की अलग-अलग स्थिति ही भरत मुनि को अभिप्रेत है । मुख्यतः निम्नलिखित श्लोकों के द्वारा उन्होंने यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है :

१. समुन्नतं समं चैव रङ्गशीर्षं तु कारयेत् ।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरस्रे समं तथा ॥[1]

इस श्लोक में समुन्नत तथा सम दो प्रकार के रंगशीर्ष का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि विकृष्ट मण्डप में समुन्नत और चतुरस्र मण्डप में सम रंगशीर्ष बनाना चाहिए । यहाँ प्रश्न उठता है कि किसकी अपेक्षा समुन्नत अर्थात् अधिक ऊँचा रंगशीर्ष बनाना चाहिए । इसका उत्तर रंगपीठ में मिलता है । कहने का तात्पर्य यह हुआ कि विकृष्ट नाट्य-मण्डप में रंगपीठ की अपेक्षा रंगशीर्ष कुछ ऊँचा होना चाहिए और चतुरस्र मण्डप में रंगपीठ तथा रंगशीर्ष दोनों एक ही ऊँचाई के होने चाहिए । यही भरत मुनि का अभिप्राय है, जिसका समर्थन अभिनवगुप्त ने इस श्लोक की टीका में किया है ।

२. फिर रंगपीठ तथा रंगशीर्ष की भिन्नता सिद्ध करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया है :

रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
रङ्गशीर्षं तु कर्त्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥[2]

इस श्लोक में रंगपीठ तथा रंगशीर्ष का अलग-अलग स्पष्ट उल्लेख किया गया है । इस आधार पर डॉ० मनकद ने डॉ० घोष के मत का खण्डन करके अपना पक्ष पुष्ट करने की चेष्टा की है ।

डॉ० राघवन द्वारा डॉ० घोष की आलोचना : 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' के सन् १९३३ ई० के उसी अंक में डॉ० वी० राघवन का भी लेख निकला, जिसमें डॉ० घोष के मत की आलोचना थी । उस लेख में उन्होंने 'अभिनवभारती' के कतिपय उद्धरण देकर रंगशीर्ष तथा रगपीठ को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से कई स्थलों पर इन दोनों को भिन्न प्रतिपादित किया है । डॉ० राघवन द्वारा दिये गये उद्धरण ये हैं :

१. रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः । तथा च रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नतं वक्ष्यते । (पृ० ६९, प्रथम संस्करण) ।

२. समुन्नतमिति रङ्गपीठापेक्षया । (पृ० ७०, प्रथम संस्कर ।)

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २, श्लोक १००
२. वही, श्लोक ६७-६८

३. तत्र रङ्गपीठरङ्गशिरसोर्वक्तव्यशेषं निरूपयति अष्टहस्तं त्विति। (पृ० १०२, प्रथम संस्करण)

इस प्रकार विद्वानों द्वारा उस लेख की आलोचना हुई थी।

आचार्य विश्वेश्वर द्वारा डॉ० घोष की आलोचना : आचार्य विश्वेश्वर का मत है कि डॉ० घोष ने यह भूल इसलिए कर दी कि वे उन श्लोकों का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझ सके हैं। इन श्लोकों में भरत मुनि ने ६४ गुणा ३२ हाथ के नाट्य-मण्डप को तीन बार बाँटकर चार विभाग किये हैं। यह सभी जानते हैं कि किसी क्षेत्र को तीन बार बाँटने से उसके चार भाग हो जाते हैं। भरत मुनि ने यहाँ **१. द्विधा कुर्यात्, २ द्विधा भूतस्य तस्य तु** और **३. सममर्द्धविभागेन**—इस प्रकार तीन बार विभाजन का निर्देश किया है, जिससे इस क्षेत्र के चार विभाग बन जाते हैं। परन्तु, डॉ० घोष ने चार के स्थान पर तीन ही विभाग किये हैं, अतः उनका सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। उन्होंने रंगशीर्ष एवं नेपथ्य —इन दो ही भागों को देखा और तीसरा भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए मानकर तीन ही भाग समझ लिया। यदि **'रङ्गशीर्ष'** इस एकवचन पाठ के स्थान पर उनके सामने **'रङ्गशीर्षे'** यह द्विवचन पाठ रहता, तो सम्भवतः वे इस प्रकार भटक नहीं जाते। उस दशा में वे चार विभागों की बात ठीक से समझ जाते और उसके अलग-अलग नामों का भी ज्ञान हो जाता। उन्होंने रंगशीर्ष और रंगपीठ को अलग-अलग नहीं समझा, यही भूल है, जिसके कारण उपरिलिखित दो अन्य भी भूलें हुई हैं। यदि इस मौलिक भूल को सुधार लिया जाय, तो शेष दो भूलें भी स्वयं ही सुधर जायेंगी। यदि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष की स्थिति अलग-अलग स्वीकार कर ली जाती है, तो जो अभिनवगुप्त के स्पष्ट निर्देश की अवहेलना करके नेपथ्य-गृह के पर्दे को यवनिका कहा गया है, वह भूल नहीं होती। फिर भी सहज ही समझा जा सकता था कि यवनिका का स्थान रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के बीच में ही रहना चाहिए। इस प्रकार, आचार्य विश्वेश्वर के मतानुसार यह सारी गड़बड़ी इस पाठ-दोष के कारण हुई है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष-रूप में मेरा निवेदन है कि डॉ० मनमोहन घोष के उपर्युक्त तीनों ही सिद्धान्त मिथ्या तथा भ्रमपूर्ण हैं। अभिनवगुप्त के ही उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि रंगशीर्ष तथा रंगपीठ नाट्यमण्डप में दो भिन्न-भिन्न स्थान हैं। यह मान लेने पर डॉ० घोष की दूसरी स्थापना भी निराधार हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यवनिका नेपथ्य के द्वार पर लगा पर्दा नहीं है, प्रत्युत रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में लगी रहती है।

नेपथ्य-गृह : रंगशीष के पीछे १६ गुणा ३२ हाथ भाग को नेपथ्य-गृह बनाना चाहिए। यहाँ अभिनवगुप्त ने तीन आचार्यों के मत दिये हैं, जिनमें नेपथ्य-गृह, रंगशीर्ष तथा रंगपीठ की तीन प्रकार से माप दी गई है। स्वयं अभिनवगुप्त ने ६४ गुणा ६४ हाथ के वर्गाकार नाट्यमण्डप की नाप देकर चक्कर में डाल दिया है, जबकि भरत ने ६४

गुणा ३२ हाथ के आयताकार मण्डप का वर्णन इस स्थल पर किया है। नेपथ्य में दो द्वार होते हैं—एक उत्तर की ओर और दूसरा दक्षिण की ओर। ये द्वार अभिनव के बाद पात्रों के विश्राम के लिए तथा रंगमंच पर स्थित पात्रों पर समाजियों की एकाएक दृष्टि बचाने के लिए होते हैं।

रंगशीर्ष : रंगशीर्ष की स्थिति नेपथ्य-गृह और रंगपीठ के बीच में मानी गई है। ६४ गुणा ३२ हाथ के मण्डप में यह ८ गुणा ३२ हाथ के परिमाण का होता है। यह थोड़ा ऊँचा होता है और यहीं पर अभिनेता के द्वारा नाटक के आरम्भ होने के पूर्व पूजा आदि का विस्तृत विधान है और यहीं वे वस्त्रादि से सज्जित होकर आगे के दृश्यों के लिए तैयारी करते थे। रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच एक पर्दा-मात्र का व्यवधान होता था। इस पर्दे को यवनिका कहते हैं। अभिनव ने कहा है कि यदि नाट्य-मण्डप उत्तान सोये मनुष्य के रूप में माना जाय, तो यह स्थान उसके सिर के समान लगेगा। रंगशीर्ष का अर्थ भी रगमंच का सिर है। रंगशीर्ष से नेपथ्य में आने-जाने के लिए दो द्वारों का भी विधान है। रंगशीर्ष का धरातल कछुए या मछली की पीठ के समान नहीं बनाना चाहिए, वरन् शुद्ध दर्पण के तल के समान एक-सा समतल होना चाहिए। समतल रंगशीर्ष ही अच्छा समझा जाता है। रंगशीर्ष में काष्ठ की कला भी आवश्यक है।

षड्दारुक : रंगशीर्ष की रचना में षड्दारुक के प्रयोग की भी समस्या है। भरत ने रंगशीर्ष की रचना में षड्दारुक का विधान किया है :

रङ्गशीर्षं तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम्।[1]

अभिनवगुप्त ने मूल कारिका में प्रयुक्त षड्दारुक पद की तीन व्याख्याएँ दी हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार नेपथ्य-गृह की दीवाल के सामने उससे लगे हुए रंगशीर्ष और रंगपीठ की सीमा पर पहले काष्ठ के चार सुन्दर स्तम्भ खड़े किये जायँ। ये चार काष्ठ हो गये। उनके ऊपर और नीचे के दो काष्ठों को मिलाकर छह काष्ठ हो जाते हैं। इन काष्ठों पर सुन्दर कारीगरी रहनी चाहिए। इस तरह रंगशीर्ष **'षड्दारुकसमन्वित'** हो जाता है। स्मरणीय है कि रंगशीर्ष के इस भाग की लम्बाई ३२ हाथ है। पहले दो स्तम्भ एक-दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर खड़े किये जाते हैं; इस प्रकार दोनों ओर की अन्तिम दीवाल से १२-१२ हाथ की दूरी रहेगी। अब इन स्तम्भों से अपनी दीवालों की ओर चार हाथ हट-कर दो और स्तम्भ खड़े किये जायँ। इस प्रकार ये दोनों स्तम्भ अपनी ओर की दीवालों से ८-८ हाथ की दूरी पर रहेंगे। इस हिसाब से रंगशीर्ष में दोनों किनारों पर दो द्वार और बीच में एक द्वार (कुल तीन द्वार) आठ-आठ हाथ की दूरी पर और दो द्वार चार-चार हाथ की दूरी पर बन जाते हैं। इन चार स्तम्भों के ऊपर और नीचे सरदल और देहरी के रूप में दो काष्ठ लगेंगे, जिससे षड्दारुक बन जाते हैं। इस प्रकार छह काष्ठों से पाँच द्वार बन जाते हैं, जिसके कारण रंगशीर्ष का सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है।

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय २, श्लोक ६८**

अभिनवगुप्त ने अपने कुछ पूर्ववर्त्ती आचार्यों के भी मत, इस प्रसंग में, उद्धृत किये हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार पहली व्याख्या के ही समान चार स्तम्भ लगाये जाते हैं, किन्तु उनकी स्थिति में थोड़ा अन्तर है। उसमें दोनों पार्श्वों, अर्थात् अगल-बगल की दोनों दीवालों के सहारे दो स्तम्भ-सदृश भाग बनेंगे। इन दोनों पार्श्वों के बीच में दो स्तम्भ खड़े किये जायेंगे। पार्श्वों के दो स्तम्भ, बीच के दो स्तम्भ तथा ऊपर-नीचे के दो काष्ठों को मिलाकर षड्दारुक हो जाते हैं। इस मत के अनुसार तीन द्वार होंगे।

षड्दारुक की तीसरी व्याख्या कुछ पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित है, अतः दुरूह हो गई है। इसमें १. ऊह, २. प्रत्यूह, ३. निर्यूह, ४. संजवन, ५. अनुबन्ध और ६. कुहर––इन छह काष्ठों को षड्दारुक कहा गया है। ग्रन्थकार को इन छहों पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या देनी पड़ी है। स्तम्भ के सिर के ऊपर सबसे बाहर निकला हुआ पहला काष्ठ ऊह कहा जाता है। इसके ऊपर दूसरा काष्ठ-खण्ड रहता है, जो पहले से भी अधिक बाहर निकला रहता है। इसे प्रत्यूह या तुला कहा जाता है। तीसरा काष्ठ प्रत्यूह से बाहर दो स्तम्भों के बीच लगे हुए भित्ति-सदृश तख्तों में चौखटे के समान जो होता है, वह निर्यूह कहलाता है। इस निर्यूह चौखटे के भीतर भित्ति के समान जो तख्ता लगाया जाता है, उसे संजवन फलक कहा जाता है। स्तम्भों के ऊपर जो सिंह, सर्प आदि के चित्र उभरे हुए बने होते हैं, उन्हें अनुबन्ध कहते हैं। कुहर उस प्रकार की कारीगरी को कहते हैं, जो स्तम्भों पर भीतर की ओर गड्ठा करके बनाई रहती है। इस कारीगरी में पर्वत, वन, नगर, कुंज, गह्वर आदि का अंकन हो सकता है। यह जो छह प्रकार का दारुकर्म होता है, उसे ही यहाँ षड्दारुक कहा गया है। ये सब कार्य प्रत्येक दो स्तम्भों के बीच में हो सकते हैं। ऊह-प्रत्यूह आदि की कल्पना निराधार नहीं है, आगे भरत ने इनका वर्णन किया है। ऊह आदि के अतिरिक्त शालभंजिका का अर्थ उन्होंने काठ की पुतलियाँ माना है। विभिन्न आकारवाली वेदियों, विचित्र चौकोर एवं अठकोनोंवाली जालियों, गोल छेदवाले झरोखों, स्तम्भों के ऊपर सुन्दर पीठों, उनके ऊपर धारणियों, कबूतरों की पंक्तियों आदि का रचना-विधान भी दिया गया है।

रंगपीठ : नाट्य-मण्डप या प्रेक्षागृह की रचना में रंगपीठ का स्थान सबसे प्रधान है। रंगपीठ वह स्थान है, जहाँ नाट्य का अभिनय होता है, इसलिए नाट्य-मण्डप की रचना में इसका महत्त्व सर्वाधिक है। वस्तुतः, सारे नाट्य-मण्डप की रचना का उद्देश्य अभिनय करना ही होता है, अतः अभिनय करने का स्थान रंगपीठ ही सभी प्रेक्षकों की दृष्टि का केन्द्र बना रहता है। इसकी रचना दो प्रकार से हो सकती है : १. इसे प्रेक्षकों के बैठने के स्थान से ऊँचा बनाया जाय और २. इसे प्रेक्षकों के बैठने के स्थान से नीचा बनाया जाय। डॉ० मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अपने अँगरेजी-अनुवाद में रंगपीठ को प्रेक्षकों के बैठने के स्थान से नीचा बनाना उचित माना है। परन्तु, यह भ्रान्त धारणा है और यह भ्रम तत्सम्बन्धी श्लोक में 'रङ्गमण्डपम्' के अशुद्ध पाठ के कारण हुआ है।

रंगमण्डप के दो अर्थ हो सकते है; एक तो यह सम्पूर्ण नाट्य-मण्डप को सूचित कर सकता है और दूसरा अर्थ उस स्थान से है, जहाँ प्रेक्षक बैठते हैं। परन्तु, इन दोनों अर्थों में प्रेक्षकों के बैठनेवाला स्थान ही उचित तथा प्रमुख अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार उक्त श्लोक का अभिप्राय होगा कि प्रेक्षकों के बैठने का स्थान ऊँचा रहना चाहिए, अर्थात् रंगपीठ या अभिनय करने का स्थान नीचा होना चाहिए। परन्तु, भरत तथा अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह नहीं है। उनके मतानुसार रंगपीठ को प्रेक्षकों के बै ने के स्थान से डेढ़ हाथ ऊँचा बनाना चाहिए। इसका सामान्य कारण तो यह है कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष में 'पीठ' तथा 'शीर्ष' शब्द ऊँचे स्थान के ही द्योतक हैं। इन दोनों शब्दों से सूचना मिलती है कि प्रेक्षकों के बैठने के स्थान से अभिनय करने का स्थान अधिक ऊँचा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि रंगपीठ नीचा बनाया जायगा, तो प्रकाश आदि की रुकावट से अभिनय ठीक से दिखाई ही नहीं देगा। अतः, उसको ऊँचा रखनेवाला ही पक्ष युक्तियुक्त प्रतीत होता है। डॉ० मनकद ने भी नीचा रखनेवाले ही पक्ष का समर्थन किया है, जो ठीक नहीं है।

प्रेक्षकों के बैठने का स्थान : भरत ने प्रेक्षकों के बै ने के स्थान का भी सुन्दर निर्देश दिया है। प्रेक्षकों का यह स्थान सोपानाकृति में होना चाहिए। आसन लकड़ी के या ईंटों के बने रहने चाहिए। दीवालों पर अनेक प्रकार की कला-कृतियाँ होनी चाहिए, जिनमें विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों तथा लताओं की आकृतियाँ बनी रहनी चाहिए। प्रेक्षकों के बैठने का स्थान ऐसा होना चाहिए कि बीच में एक भी स्तम्भ नहीं हो। बैठने का यह स्थान सीढ़ी के समान एक-एक हाथ भूमि से क्रमशः ऊँचा होता जाय, जिसमें दर्शक रंगपीठ के सब दृश्यों को अच्छी तरह देख सकें।

मत्तवारणी : मत्तवारणी की समस्या नाट्यशास्त्र की सबसे अधिक जटिल, साथ ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। आधुनिक युग के भी कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों ने इसके विषय में विचार-विमर्श करके तथ्य का निर्णय करने का यथासाध्य प्रयास किया है। परन्तु, वे किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने में असमर्थ ही रहे हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र में मत्तवारणी के विषय में लिखा है :

रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः॥[1]

—अर्थात् रंगपीठ के दोनों ओर रंगपीठ की ही माप की और चार खम्भों से युक्त मत्तवारणियों की रचना करनी चाहिए। इसके आकार के विषय में दो मत दिये गये हैं। पहले मत के अनुसार मत्तवारणी वर्गाकार होती है और इसकी लम्बाई-चौड़ाई आठ-आठ हाथ होती है। अभिनवगुप्त का अपना मत यही है। किन्तु, दूसरे लोगों के मत से मत्तवारणी भी रंगपीठ के समान आयताकार बननी चाहिए। उनके मतानुसार इसकी लम्बाई सोलह हाथ तथा चौड़ाई आठ हाथ की होनी चाहिए। पहले मत के अनुसार

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २, श्लोक ६३

विकृष्ट रंग-मण्डप में केवल रंगपीठ के ही किनारों पर मत्तवारणी ८ गुणा ८ हाथ के वर्ग के आकार में होगी। दूसरे मतवाले इसकी लम्बाई १६ हाथ और चौड़ाई ८ हाथ मानते हैं। यह मत्तवारणी रंगपीठ तथा रंगशीर्ष दोनों के किनारों के साथ बनेगी। विकृष्ट मण्डपों में रंगपीठ और रंगशीर्ष—दोनों की चौड़ाई आठ-आठ हाथ होती है, अतः दोनों मिलकर चौड़ाई १६ हाथ की हो जाती है। इस प्रकार, दोनों भागों को मिलाकर उनके किनारों पर मत्तवारणी बनाने से १६ गुणा ८ हाथ की आयताकार मत्तवारणी बन जाती है। चतुरस्र मण्डप में रंगपीठ आठ हाथ चौड़ा और रंगशीर्ष चार हाथ चौड़ा, दोनों मिलकर १२ हाथ चौड़ा होता है। अतः, उसमें आयताकार मत्तवारणी १२ गुणा ८ हाथ की हो जा सकती है। उसे १६ गुणा ८ हाथ की बनाने के निमित्त चार हाथ चौड़ा क्षेत्र नेपथ्यगृह के सामने से लेना होगा। विकृष्ट मण्डप में रंगपीठ तथा रंगशीर्ष दोनों आठ-आठ हाथ चौड़े होते हैं, अतः उसमें १६ गुणा ८ हाथ की आयताकार मत्तवारणी रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के सामने सहज ही बन सकती है।

मत्तवारणी की समस्याएँ : पहले लिखा जा चुका है कि मत्तवारणी की समस्या नाट्यशास्त्र की बहुत ही जटिल, साथ ही महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस समस्या के कई भाग हैं—१. उसका ठीक शब्द या नाम क्या है? २. उसका वास्तविक अर्थ क्या है? ३. उसका ठीक स्थान क्या है? ४. उसका आकार क्या है? ५. उसकी संख्या कितनी है? ये सब प्रश्न इस मूल समस्या से सम्बद्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रासंगिक प्रश्न हैं। नीचे इन प्रश्नों पर विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

१. मूल नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती में सर्वत्र 'मत्तवारणी' शब्द छपा है, इसलिए सभी विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु, यह शब्द सन्दिग्ध जान पड़ता है और इसकी अपेक्षा 'मत्तवारण' अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। कोश और साहित्य – दोनों ही दृष्टियों से 'मत्तवारणी' शब्द उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। कोश तथा साहित्य—कहीं भी 'मत्तवारणी' शब्द नहीं मिलता; इसके स्थान पर मत्तवारण शब्द ही मिलता है। '**शब्दकल्पद्रुम**' में मत्तवारण ही मिलता है। '**कुट्टनीमतम्**' नामक ग्रन्थ में 'मत्तवारण' ही मिलता है। महाकवि सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में भी मत्तवारण का ही प्रयोग किया गया है। इन सभी ग्रन्थों में 'मत्तवारण' शब्द ही है। वस्तुतः, नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ में 'मत्तवारणी' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिए, ऐसा अनुमान होता है कि 'मत्तवारण' शब्द का ही प्रयोग 'मत्तवारणी' के रूप में कर दिया गया है।

२. दूसरी समस्या 'मत्तवारणी' या 'मत्तवारण' शब्द के अर्थ की है। आधुनिक विद्वानों में इस शब्द के अर्थ को लेकर बड़ा मतभेद है। कोश में 'मत्तवारण' शब्द का अर्थ बरामदा है। शब्दकल्पद्रुम में '**मत्तं वारयतीति मत्तवारणः**' व्युत्पत्ति करके '**प्रासादवीथीनां वरण्डः**' अर्थ किया गया है। '**कुट्टनीमतम्**' के टीकाकार ने भी 'मत्तवारण' का अर्थ '**प्रासादवीथीनां वरण्डः**' ही किया है। साहित्य और कोश के प्रमाणों से 'मत्तवारण' शब्द का

अर्थ बरामदा ही होना चाहिए। आधुनिक विद्वानों में डॉ० मनकद, प्रो० सुब्बाराव, प्रो० भानु तथा श्रीमती गोदावरी केतकर ने 'मत्तवारणी' के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।

३. तीसरी समस्या नाट्य-मण्डप में 'मत्तवारणी' के स्थान-निर्धारण की है। आधुनिक विद्वानों में प्रो० सुब्बाराव को छोड़कर लगभग सभी ने एक ही रूप में 'मत्तवारणी' का स्थान निश्चित किया है। परन्तु, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उन सबका निर्णय प्रामाणिक माना जायगा। वास्तविक बात इसके सर्वथा विपरीत है। इन सबका निर्धारित किया हुआ स्थान अभिनवगुप्त के मत के विरुद्ध पड़ता है। अभिनवगुप्त द्वारा दी हुई व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि मत्तवारणियों की रचना रंगपीठ के दोनों ओर होनी चाहिए। जब यह ज्ञात हो जाता है कि 'मत्तवारण' का अर्थ बरामदा है तब बहुत सरलता से यह बात समझ में आ जाती है कि इसकी रचना मण्डप के बाहर होनी चाहिए। बरामदा मुख्य भवन के सदा बाहर ही बनता है, भीतर नहीं। इसलिए, अभिनवगुप्त ने बहुत स्पष्ट शब्दों में मण्डप के बाहर ही इसकी रचना का विधान किया है। किन्तु, आधुनिक विद्वान् यह बात नहीं समझ सके हैं। डॉ० मनमोहन घोष और डॉ० मनकद ने मुख्य मण्डप के भीतर ही मत्तवारणी का स्थान निकालने का प्रयत्न किया है। यह अभिनवगुप्त के मत के विरुद्ध होने के कारण भूल है। इस भूल का एकमात्र कारण यही है कि वे लोग इस शब्द का यथार्थ अर्थ नहीं समझ सके हैं। वस्तुतः, रंगपीठ के दोनों ओर बनाई जानेवाली जिन मत्तवारणियों का विधान किया गया है, उनकी स्थिति भी रंगपीठ से लगी हुई, किन्तु उसके बाहर की ओर होती है। इसकी वास्तविक स्थिति यही है। इसलिए, अन्य लोगों ने मत्तवारणी की जो स्थिति दिखाई है, वह अभिनवगुप्त के सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण अनुपादेय तथा अग्राह्य है।

४. चौथी समस्या मत्तवारणी की संख्या की है। यह एक है या दो? इसका उत्तर है कि रंगपीठ के दोनों ओर एक-एक मत्तवारणी या कुल दो मत्तवारणियों की रचना करनी चाहिए। नाट्यशास्त्र की कारिका में **'कर्त्तव्या मत्तवारणी'** आदि में एकवचन का प्रयोग हुआ है, जिससे पता चलता है कि रंगपीठ के एक ही ओर एक ही मत्तवारणी की रचना होती है। परन्तु, अभिनव ने उसकी व्याख्या में द्विवचन **'भाविनोर्द्वयोः पार्श्वयोः'** का प्रयोग किया है, अर्थात् दोनों किनारों पर मत्तवारणी का विधान माना है।

५. पाँचवीं समस्या मत्तवारणी के आकार की है। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

इस सारी जटिलता का मुख्य कारण नाट्यशास्त्र के प्राचीन संस्करण में पाया जानेवाला पाठ-दोष है। वहाँ पाठ है : **'रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी'**। किसी आरम्भिक लिपिकार की भूल से **'कर्त्तव्यौ मत्तवारिण्यौ'** के स्थान पर **'कर्त्तव्या मत्तवारणी'** पाठ आ गया। इसीसे सभी समस्याएँ उत्पन्न होती गईं। यदि यह पाठ शुद्ध कर दिया

जाय, तो सारी समस्याओं का समाधान हो जायगा। आचार्य विश्वेश्वर ने उक्त श्लोक का उचित पाठ निम्नलिखित रूप में माना है :

पार्श्वयो रङ्गपीठस्य कर्त्तव्यौ मत्तवारणौ।
चतुःस्तम्भसमायुक्तौ रङ्गपीठप्रमाणतः ॥[1]

'मत्तवारणी' के विषय में प्रो० सुब्बाराव की कल्पना : नाट्यशास्त्र के बड़ौदा से प्रकाशित द्वितीय संस्करण के अन्त में प्रेक्षागृह की रचना के सम्बन्ध में प्रो० सुब्बाराव का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में उन्होंने एक सर्वथा नवीन कल्पना 'मत्तवारणी' के विषय में रखी है। इस कल्पना का आधार नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त **'पार्श्वे'**, **'कर्त्तव्या'** और **'मत्तवारणी'** शब्दों का एकवचन में प्रयोग है। अभिनवगुप्त तथा आधुनिक विद्वानों ने रंगपीठ के दोनों ओर दो मत्तवारणियों के विधान का प्रतिपादन किया है, किन्तु प्रो० सुब्बाराव ने एक ही मत्तवारणी स्वीकार की है। उन्होंने 'मत्तवारणी' शब्द का अर्थ किया है : **'मत्तानां वारणानां श्रेणी मत्तवारणी'** और रंगपीठ के सामने की ओर धरातल से डेढ़ हाथ उठे हुए भाग की दीवाल पर जो पलस्तर किया जाय, उसमें मत्त हाथियों के चित्र बनाये जायँ। उनका मत है कि पलस्तर में बनी मत्त हाथियों की यह श्रेणी ही मत्तवारणी है।

प्रो० सुब्बाराव ने अपनी इस विचित्र कल्पना के समर्थन में द्वितीय पंक्ति में आये हुए **'चतुःस्तम्भसमायुक्ता'** में 'भ' के स्थान पर 'ब' करके **'चतुःस्तम्भसमायुक्ता'** के स्थान पर **'चतुःस्तम्बसमायुक्ता'** पाठ स्वीकार किया है। 'स्तम्भ' शब्द का अर्थ हाथियों को बाँधने का खम्भा या आलान है। प्रो० सुब्बाराव का कथन है कि 'स्तम्ब' पाठ ही मानना चाहिए। इस प्रकार चार स्तम्बों से युक्त मत्तवारणों की श्रेणी रंगपीठ के सामने, केवल एक ही भाग में, पलस्तर में चित्रित की जायगी। इसी का नाम मत्तवारणी है। इस कल्पना के आधार पर उन्होंने मत्तवारणी का चित्र भी प्रस्तुत किया है।

प्रो० सुब्बाराव की यह अपूर्व कल्पना स्थापत्य-कला की दृष्टि से भले ही उपयोगिनी सिद्ध हो, परन्तु हमें तो इस बात की परीक्षा करनी है कि यह भरत मुनि के अभिप्राय के अनुकूल है या नहीं, और अभिनवगुप्त उसका समर्थन कर रहे हैं या नहीं। यदि यह कल्पना भरत के नाट्यमण्डप-सम्बन्धी विचार के अनुकूल पड़ जाती है तब तो उपादेय हो सकती है। यदि भरत के विचार से इसकी संगति नहीं बैठती है, तो स्थापत्य-कला की दृष्टि से कुछ भी उपयोगी होने पर भी हम उसे स्वीकार नहीं कर सकते। प्रो० सुब्बाराव की कल्पना को इस कसौटी पर कसने पर वह संगत नहीं प्रतीत होती। भरत मुनि के प्रेक्षागृह में ऐसी मत्तवारणी का कोई स्थान नहीं है।

---

१ हिन्दी-अभिनवभारती, पृ० ३१२

प्रो० भानु का मत : 'मत्तवारणी' की व्याख्या के सम्बन्ध में प्रो० भानु का मत प्रो० सुब्बाराव आदि के मत से अधिक तर्कसंगत है। महाराष्ट्र के गण्यमान्य विद्वान् प्रो० भानु ने भरत के नाट्यशास्त्र का मराठी-भाषा में उत्कृष्ट अनुवाद प्रस्तुत किया है। इस अनुवाद में उन्होंने 'मत्तवारणी' की भी व्याख्या की है। 'मत्तवारणी' का सरल अर्थ है कि जो मत्तों का वारण करनेवाली हो। उन्होंने यही अर्थ ग्रहण किया है और इसकी उपयोगिता भी दिखा दी है। वे कहते हैं कि नाटक देखते समय कोई अत्यन्त भावपूर्ण दृश्य देखकर कुछ प्रेक्षक उन्मत्त-से हो जाते हैं और उस भावावेश में मंच पर अभिनय करनेवाले अभिनेताओं के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। यदि ऐसे मत्त किसी प्रकार मंच पर पहुँचने में सफल हो जायँ, तो सारे नाटक का अन्त वहीं हो जायगा। अतः, उन लोगों को रोकने के विचार से रंगपीठ के सामने की ओर छोटी-सी दीवाल या कटहरा आदि लगा देने की आवश्यकता होती है। इस रुकावट के कारण मंच पर जाने से मत्त लोगों का वारण हो जाता है। अतः उस रुकावट को 'मत्तवारणी' कहा जाता है।

निष्कर्ष : शब्द की अन्वर्थता तथा मत्तवारणी की उपयोगिता की दृष्टि से प्रो० भानु द्वारा दी गई व्याख्या सुन्दर एवं उपादेय प्रतीत होती है। परन्तु, यह व्याख्या अभिनवगुप्त के अभिप्राय के सर्वथा प्रतिकूल है। पहले ही लिखा जा चुका है कि अभिनवगुप्त ने रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में मत्तवारणी बनाने का विधान किया है। भरत मुनि का भी यही विधान है। ऐसी दशा में रंगपीठ के सामने की ओर मत्तवारणी बनाने का प्रश्न उठाना असंगत होगा। दूसरी बात है कि रंगपीठ के सामने रोक लगा देने से प्रेक्षकों को अभिनय देखने में बहुत बाधा उत्पन्न होगी। कुछ लोगों की दृष्टि में प्रो० भानु ने जिस अन्वर्थता के बल पर यह व्याख्या दी है, वह अन्वर्थता ही ठीक नहीं बन पाती है। **'मत्तान् वारयतीति मत्तवारणः'** इस प्रकार 'मत्तवारण' शब्द पुँल्लिंग में बनेगा। उसके स्थान पर स्त्रीलिंग में **'मत्तवारिणी'** शब्द बनना चाहिए, **'मत्तवारणी'** नहीं। इसलिए, गोदावरी केतकर आदि ने 'मत्तवारिणी' पाठ माना है। किन्तु, यह कोई बड़ा दोष नहीं है। वस्तुतः, भरत मुनि तथा अभिनवगुप्त को वह अर्थ अभीष्ट नहीं जान पड़ता, जो प्रो० भानु ने ग्रहण किया है। फिर भी यह अर्थ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यही अर्थ ग्रहण किया है। मैं प्रो० भानु द्वारा दिया गया यह अर्थ ग्रहण करता हूँ।

नाट्यमण्डप की रचना का प्रकार : मण्डप की रचना का प्रकार बताते हुए भरत मुनि ने लिखा है :

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्॥[1]

—अर्थात् नाट्य-मण्डप पर्वत-कन्दरा के आकार का तथा दो भूमियोंवाला (दो भिन्न स्तरों पर) होना चाहिए और ध्वनि को गम्भीर बनाने की दृष्टि से इसमें छोटी खिड़कियाँ होनी चाहिए तथा ऐसा हो, जिसमें वायु का प्रवेश न हो सके।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २, कारिका ८७ (काव्यमाला)

इस सम्बन्ध में डॉ० राघवन द्वारा डॉ० कीथ की आलोचना द्रष्टव्य है : In this connection, we may observe that Keith's connecting this diction of Bharata's that the hall should look like a cave with the Ramgarh hill cave, taken to have been once used for recitation etc. does not prove anything.[1]

'शैलगुहाकार' शब्द से स्पष्ट अर्थ निकलता है कि नाट्यशाला की छत समतल नहीं होती थी, वरन् बीच में ऊँची होती थी। उसकी यह बनावट अभिनय में प्रयुक्त ध्वनियों की दृष्टि से वैज्ञानिक है। इस प्रकार की छत से रंगमंच की ध्वनियाँ प्रतिध्वनित न होकर प्रेक्षक को अधिक स्पष्ट सुनाई देती होंगी।

अभिनवगुप्त ने द्विभूमि के विषय में अपने पूर्वाचार्यों के कई मत उद्धृत किये हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार रंगपीठ में ही नीचे और ऊपर की दो भूमियाँ मान ली गई हैं। उनमें भी कुछ के अनुसार नेपथ्य तथा मत्तवारणियों से रंगपीठ का धरातल भिन्न ऊँचाई का होता था और कुछ के अनुसार रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के धरातल में अन्तर होता था। 'रंगावतरण' शब्द के आधार पर यह कल्पना की गई है कि रंगस्थल नेपथ्य की अपेक्षा नीचा होता था।

दूसरे आचार्यों के अनुसार मत्तवारणी मण्डप से जितनी बाहर निकली हो, उसी के बराबर दूसरी भित्ति बनाकर देव-मन्दिर की अट्टालिका के चारों ओर परिक्रमा करने के मार्ग के समान दूसरी भूमि बनाई जाती है। तीसरे आचार्यों का मत है कि मण्डप के ऊपर एक दूसरी मंजिल बनाई जाती है। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में दो-मंजिले रंगमंच का भी विधान था। रत्नावली नाटिका में नाटककार ने ऐसी योजना की है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्याख्याकार हैं, जो समतल भूमि को ही स्वीकार करते हैं। परन्तु, अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतोत की वीप्सा-गर्भ-व्याख्या को ही प्रस्तुत किया है, जिसका अर्थ है क्रमशः नीची से ऊँची होती हुई भूमि। इस प्रकार, रंगपीठ के पास से लेकर द्वार तक रंगपीठ के समान ऊँचाई हो जाती है। ध्यान देने की बात है कि द्विभूमि का प्रयोग सम्पूर्ण नाट्य-मण्डप के लिए किया गया है और इस विचार से भट्टतोत की व्याख्या उपयुक्त प्रतीत होती है। स्वयं अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि इस प्रकार बैठने की व्यवस्था करने से निम्नलिखित कई लाभ हैं : १. प्रेक्षक एक-दूसरे को आच्छादित नहीं करते, अर्थात् ढँक नहीं लेते; २. मण्डप का आकार पर्वत की गुफा के समान बन जाता है; ३. शब्दों में स्थिरता आ जाती है, अर्थात् शब्द अनुगुंजित नहीं होते। वातायनों की मन्दता उनमें जाली आदि लगाकर करनी चाहिए। अभिनवगुप्त की यह व्याख्या बहुत स्पष्ट दृष्टि उपस्थित करती है।

---

१. The Theatre of the Hindus, p. 160.

स्थापन-विधि

भरत मुनि ने नाट्य-मण्डप के विधिपूर्वक शिलान्यास आदि कार्यों का विस्तृत निर्देश दिया है। नाट्य-मण्डप की भूमि का स्थूल विभाजन हो जाने पर शुभ नक्षत्र और मुहूर्त्त में मण्डप का शिलान्यास विशाल समारोह के साथ करना चाहिए। मंगल शंख, मृदंग आदि का वादन होना चाहिए और फूलों से श्रृंगार करना चाहिए। उस अवसर पर काषाय वस्त्रधारी संन्यासियों और विकलांगों को दूर हटा देना चाहिए। शिलान्यास करने के दिन रात्रि में अनेक प्रकार के भोजनों, सुगन्धित पुष्पों तथा फलों से सजावट करनी चाहिए। उस अवसर पर पूर्व दिशा में शुक्ल अन्न, दक्षिण में रक्त वर्ण के अन्न, पश्चिम में पीत वर्ण के अन्न तथा उत्तर में नील वर्ण के अन्नों से युक्त भाण्ड भित्ति के नीचे रखना चाहिए।

नाट्य-मण्डप के शिलान्यास के अवसर पर भरत मुनि ने सब लोगों के लिए विशेष भोजन करने का विधान किया है। ब्राह्मणों को घृत मिश्रित खीर का विशेष भोजन देना चाहिए, राजा को मधुपर्क अर्थात् घृत तथा मधु मिश्रित दधि और नाट्य-मण्डप बनानेवाले कारीगरों को गुड़-भात देना चाहिए। रात्रि का शिलान्यास का कार्य सम्पन्न हो जाने पर दूसरे दिन शुभ सूर्योदय के अवसर पर भित्ति-निर्माण का कार्य आरम्भ करना चाहिए।

स्तम्भ-स्थापन : इस प्रकार भित्ति-कर्म का प्रतिपादन करने के बाद भरत मुनि ने आगे स्तम्भ-विधि का प्रतिपादन किया है। इससे अनुमान होता है कि भित्ति-कर्म वहीं तक करना चाहिए, जहाँ से खम्भों का आरम्भ होता है। स्तम्भ की स्थापना का विधान अनेक धार्मिक अनुष्ठानों से पूर्ण है। स्तम्भ-स्थापना के तीन दिन पूर्व से आचार्य के लिए उपवास का विधान है। ईशान कोण (पूर्व-उत्तर के बीच) में स्थित प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भ में घृत तथा सरसों से संस्कृत सभी शुक्ल पदार्थों से युक्त विधि करनी चाहिए और ब्राह्मणों को भोजन के लिए खीर देनी चाहिए। इसके बाद आग्नेय कोण (पूर्व-दक्षिण के बीच) वाले क्षत्रिय-स्तम्भ में वस्त्र, माल्य, अनुलेपन आदि सब कुछ लाल रंग का देना चाहिए और द्विजों को गुड़-भात देना चाहिए। फिर नैऋत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम के बीच) में स्थित वैश्य-स्तम्भ में वस्त्र, माल्य आदि सब कुछ पीले रंग का देना चाहिए और द्विजों को भोजन के लिए भात देना चाहिए। अन्त में, वायव्य कोण (पश्चिम-उत्तर के बीच) में स्थित शूद्र-स्तम्भ में प्रयत्नपूर्वक वस्त्र, माल्य आदि सब कुछ नीले रंग का देना चाहिए और द्विजों को खिचड़ी देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-स्तम्भ के मूल में सोना, क्षत्रिय-स्तम्भ के मूल में तांबा, वैश्य-स्तम्भ के मूल में चाँदी तथा शूद्र-स्तम्भ के मूल में लोहा रखने का विधान है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि प्रेक्षकों की दीर्घा में विभिन्न वर्णों के लिए अलग-अलग स्थान निर्धारित थे, इसका संकेत विभिन्न वर्णों के स्तम्भों से मिलता था।

भरत मुनि ने स्तम्भ-स्थापन के दोषों और फलों का विवेचन करके भोजन तथा दक्षिणा का निर्देश किया है। फिर सारी विधियाँ करके वाद्यों के बजाने के साथ शुद्ध-

पवित्र होकर तथा अभिमन्त्रित करके स्तम्भ को उठाने का विधान किया है। स्तम्भ को उठाते समय एक प्रकार की प्रार्थना की जाती थी :

यथाचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबल: ।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव ॥[1]

—अर्थात् जिस प्रकार मेरु पर्वत और महान् हिमालय अचल हैं, राजा के लिए जय का आवाहन करनेवाले, हे स्तम्भ ! उसी प्रकार तुम भी अचल हो।

स्तम्भ की स्थापना करते समय बहुत सावधानी से कार्य करना होता था। यदि स्तम्भ हिल गया, खिसक गया या काँप गया, तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की आशंका हो सकती है। रंगशाला की प्रत्येक क्रिया में किसी विघ्न का भय लगा रहता था। भित्ति-कर्म, नाप-जोख, चूना पोतना, चित्रकर्म, खम्भा गाड़ना, भूमि-शोधन आदि सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से की जाती थीं। इसलिए पद-पद पर ब्राह्मण-भोजन, पूजा, प्रार्थना की आवश्यकता समझी जाती थी।

चतुरस्र मण्डप में स्तम्भ-व्यवस्था : स्तम्भों की यह व्यवस्था भरत मुनि ने तीन बार में की है। उन्होंने एक श्लोक में दस स्तम्भों का विधान किया, फिर दूसरे श्लोक में छह स्तम्भों का और फिर अन्य श्लोक में आठ स्तम्भों का विधान किया। इस प्रकार १०+६+८=२४ स्तम्भों का निर्माण चतुरस्र मण्डप के भीतर होता है। विकृष्ट मण्डप के प्रसंग में मण्डप के बाहरी कोनों पर ब्राह्मण आदि के नाम पर चार स्तम्भों का विधान विस्तारपूर्वक पहले ही हो चुका है। उन्हें मिलाकर २८ स्तम्भ हो जाते हैं। मण्डप के भीतर लगनेवाले २४ स्तम्भों में कहाँ-कहाँ और कैसे लगाये जायँ, इस विषय को लेकर प्राचीन टीकाकारों में अनेक मत हैं। अभिनवगुप्त ने चार टीकाकारों या आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। वे हैं : १. श्रीशंकुक, २. 'अन्य' भट्ट लोल्लट आदि, ३. वार्त्तिककार तथा ४. उपाध्याय भट्टतोत।

द्वार-विधि : अभी यह चतुरस्र मण्डप की रचना का प्रकरण चल रहा है। स्तम्भ-विधि का विवेचन करने के अनन्तर भरत मुनि तथा अभिनवगुप्त ने अत्यन्त संक्षेप में नेपथ्य-रचना का वर्णन किया है। रंगशीर्ष के पीछे बचे हुए, आठ हाथ चौड़े और बत्तीस हाथ लम्बे क्षेत्र में नेपथ्य-गृह की रचना करनी चाहिए। फिर वे द्वार-विधि का वर्णन करते हैं।

भरत मुनि ने दो श्लोकों में द्वार-विधि का वर्णन किया है, परन्तु वे दोनों श्लोक अत्यन्त अस्पष्ट हैं। अभिनवगुप्त ने इनकी संगति लगाने का विशेष प्रयत्न किया है। भरत ने रंगपीठ पर प्रवेश करानेवाले एक द्वार का उल्लेख किया है :

द्वारं चैकं भवेत्तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम् ।[2]

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २, कारिका ६८

२. वही, अध्याय २, कारिका १०२ (काव्यमाला)

किन्तु, यह कथन भरत के दूसरे निम्नलिखित श्लोक के विपरीत पड़ता है :

यतो मुखं भवेद् भाण्डद्वारं नेपथ्यकस्य च।
सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगेन नित्यशः ॥[1]

—अर्थात् जिस ओर नेपथ्यगृह का भाण्डद्वार (वाद्यों के रखने का द्वार) हो, नाट्य के प्रसंग में विद्वानों को उस दिशा को पूर्व दिशा समझना चाहिए। अभिनवगुप्त ने यह श्लोक उद्धृत भी किया है। उन्होंने पहले ही दो द्वारों का उल्लेख किया है, परन्तु यहाँ एक ही द्वार का वर्णन किया गया है। यह स्पष्ट रूप से विरोध है, जिसका परिहार करने के लिए अभिनव को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ा है। उन्होंने 'द्वारं' एकवचन के प्रयोग का कारण **'जातावेकवचनं'** लिखकर जाति में एकवचन माना है। उन्होंने अर्थ किया है कि एक प्रकार के दो द्वारों की रचना करनी चाहिए। परन्तु, एक दूसरी समस्या उपस्थित हो जाती है। भरत ने **'द्वारं चैकं भवेत्तत्र'** में एक शब्द का भी स्पष्ट प्रयोग कर दिया है। 'द्वारं' में एकवचन से जाति का बोध करनेवाला मान लेने पर भी 'एक' पद दो द्वारों का बोध कभी नहीं करा सकता। इसकी संगति बैठाने के लिए अभिनव ने बहुत प्रयास किया है। यह अनुमान करना कठिन है कि भरत ने इस प्रकार का प्रयोग क्यों किया, जिसके लिए इस प्रकार के मानसिक व्यायाम की आवश्यकता पड़ गई।

ये दोनों द्वार रंगशीर्ष और नेपथ्य के बीचवाली दीवार के मध्य बिन्दु से समान दूरी पर दोनों तरफ बनाये जाते थे। जैसा कि उपर्युक्त तेरहवें अध्याय के ११वें श्लोक से पता चलता है, इन दोनों के बीच में वाद्य रखे जाते थे। गायक तथा वादक इन्हीं के बीच में बैठते थे और नेपथ्य से रंगशीर्ष और रंगपीठ पर पात्रों का आना-जाना इन्हीं के द्वारा होता था।

इन द्वारों से पात्रों के प्रवेश तथा प्रस्थान के विशेष नियमों का विस्तृत विवरण भरत मुनि ने दिया है।[2]

इन नियमों के अनुसार अवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रकृति के पात्र उत्तर-द्वार से प्रवेश तथा प्रस्थान करते थे। पांचाली तथा औड्र मागधी प्रकृति के पात्र दक्षिण-द्वार से प्रवेश तथा प्रस्थान करते थे। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि नेपथ्य से रंगपीठ पर प्रवेश करने के लिए एक द्वार नहीं, प्रत्युत दो द्वार होते थे। अतः **'द्वारं चैकं भवेत्तत्र रङ्गपीठ-प्रवेशनम्'** पाठ के स्थान पर **'द्वारद्वयं भवेत्तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम्'** पाठ आचार्य विश्वेश्वर ने अधिक युक्तियुक्त तथा संगत माना है।

जिस प्रकार, भारतीय रंगमंच पर प्रवेश के लिए विभिन्न प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों के लिए नियम बने हैं, उसी से मिलती-जुलती व्यवस्था यूनानी तथा चीनी रंगमंचों के लिए भी

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय १३, कारिका ११ (काव्यमाला)**
२. **वही, अध्याय १३, श्लोक ५२-५४**

देखी जा सकती है। यूनानी रंगमंच पर निकट का पात्र दाहिनी ओर से और दूर का पात्र बाईं ओर से आता है। परन्तु, भारतीय नियम से इनमें भेद भी है। भारतीय रंगमंच पर जो पात्र दक्षिण-द्वार से प्रवेश करता है, वह चक्कर काटकर फिर उसी द्वार से प्रस्थान भी करता है। इसके प्रतिकूल चीनी तथा यूनानी रंगमंचों पर दाहिनी ओर से प्रवेश करनेवाला पात्र बाईं ओर से प्रस्थान करता है और बाईं ओर से प्रवेश करनेवाला पात्र दाहिनी ओर से प्रस्थान करता है।

पूर्व और पश्चिम के दो द्वार : अभी जिन दो द्वारों का विवेचन किया गया, वे नेपथ्यगृह से रंगपीठ पर पात्रों के प्रवेश के लिए हैं। उनका उपयोग प्रेक्षागृह के बाहर से उसके भीतर प्रवेश करने की दृष्टि से कुछ नहीं है। प्रेक्षागृह के बाहर से उसके भीतर प्रवेश करने के लिए दो अन्य द्वारों की आवश्यकता है। उनमें से एक द्वार रंगपीठ के सामने की ओर होना चाहिए, जिससे सामाजिक नाट्य-मण्डप में प्रवेश कर सकें। यही नाट्य-मण्डप का मुख्य द्वार है। दूसरा द्वार प्रेक्षागृह के पिछले भाग में होना चाहिए, जिससे नटजन अपने परिवार के साथ नेपथ्यगृह में प्रवेश करें। भरत मुनि ने इस स्थल पर कहा है :

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥[1]

किन्तु, इससे पहलेवाले श्लोक में नेपथ्यगृह से सम्बद्ध दो द्वारों का वर्णन हो चुका है। तृतीय द्वार का प्रयोजन अभिनवगुप्त के अनुसार नटजन के परिवार का प्रवेश नाट्य-मण्डप में कराना है। यह भी नेपथ्यगृह से सम्बद्ध है। इसके बाद सामाजिकों के प्रवेश के लिए चतुर्थ द्वार का वर्णन होना चाहिए। तृतीय द्वार का स्थान नाट्य-मण्डप के पीछे की ओर अर्थात् नाट्य-मण्डप के पश्चिम भाग में होना चाहिए। कई बातों पर विचार करके आचार्य विश्वेश्वर ने उपर्युक्त श्लोक का निम्नलिखित पाठ शुद्ध माना है :

नेपथ्याभिमुखं कार्यं तृतीयं द्वारमेव तु।
जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ॥[2]

यदि ऐसा पाठ माना जाय तो श्लोक का अर्थ पूर्ण और स्पष्ट हो जाता है।

शेष दो द्वार : ऊपर चार द्वारों की विवेचना हुई। छह द्वारों में से दो द्वारों के विषय में विवेचन करना अभी बच रहा है। अभिनवगुप्त ने इन शेष दो द्वारों के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि प्रकाश के आने के निमित्त दो अन्य द्वारों की रचना पार्श्व में करनी चाहिए। प्रकाश की विशेष आवश्यकता रंगपीठ पर ही होती है, अतः रंगपीठ के दोनों बगल में जहाँ मत्तवारणी का निर्माण हुआ है, वहीं इन दोनों द्वारों को बनाना चाहिए।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २, श्लोक १०३ (काव्यमाला)
२. हिन्दी-अभिनवभारती, पृ० ३८४

पहले ही लिखा जा चुका है कि मत्तवारणी बरामदे का ही दूसरा नाम है। मुख्य भवन से बरामदे में आने के लिए द्वार होता ही है। अतः, ये दोनों द्वार मत्तवारणी के ही स्थान पर रहते हैं। इनसे रंगपीठ पर प्रकाश भी आयगा और बरामदे में जाने का रास्ता तो बनेगा ही।

त्र्यस्र प्रेक्षागृह : भरत मुनि ने निर्देश दिया है कि त्र्यस्र नाट्यगृह त्रिकोणात्मक बनाना चाहिए, और उसके बीच में त्रिकोणात्मक ही रंगपीठ बनाना चाहिए। अभिनवगुप्त ने आगे बताया कि विकृष्ट तथा चतुरस्र दोनों प्रकार के मण्डपों से सम्बन्ध होने के कारण त्र्यस्र मण्डप दोनों प्रकार के परिमाणवाले हो सकते हैं, अर्थात् इस त्रिभुजाकार मण्डप की प्रत्येक भुजा विकृष्ट मण्डप के आकार के समान ६४ हाथ की भी हो सकती है और चतुरस्र मण्डप के परिमाण के अनुसार ३२ हाथ की भी। इस मण्डप में रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी त्रिभुजाकार होने चाहिए।

डॉ० मनमोहन घोष ने त्र्यस्र प्रेक्षागृह का जो चित्र दिया है, उसमें केवल नेपथ्य-गृह त्रिभुजाकार बनाया गया है, परन्तु भरत मुनि ने रंगपीठ भी त्रिभुजाकार बनाने का विधान किया है। किन्तु, यह बात उस चित्र में नहीं होने के कारण यह भरत मुनि के अभिप्राय के अनुसार नहीं है। कु० गोदावरी केतकर ने भी त्र्यस्र मण्डप का चित्र दिया है, किन्तु उसमें रंगपीठ तथा नेपथ्यगृह में से एक भी त्रिभुजाकार नहीं बनाया गया है। उसकी स्थिति भी उलटी रखी गई है। अतएव, यह चित्र भी भरत मुनि तथा अभिनवगुप्त के अभिप्राय के अनुरूप नहीं है। आचार्य विश्वेश्वर ने हिन्दी-अभिनवभारती में त्र्यस्र नाट्यगृह के दो चित्र दिये हैं, जिनमें रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह—तीनों ही त्रिभुजाकार बनाये गये हैं। सम्भव है, इनमें से कोई रचना भरत मुनि तथा अभिनवगुप्त को अभिप्रेत हो।

त्र्यस्र नाट्यगृह का द्वार भी विकृष्ट तथा चतुरस्र मण्डपों के सदृश बनाना चाहिए, अर्थात् मुख्य (जन-प्रवेशन) द्वार का निर्माण पूर्व की ओर करना चाहिए। पात्र-प्रवेशवाले द्वार के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के—वाद्यवाले पूर्वोक्त द्वारों की रचना रंगपीठ के पीछे की ओर करनी चाहिए। अर्थात् नेपथ्य से आनेवाले पात्रों के प्रवेश के लिए रंगशीर्ष और नेपथ्यगृह के बीच में दो द्वारों का निर्माण करना चाहिए।

अबतक की व्याख्या में त्र्यस्र नाट्य-गृह के पूर्व दिशा में बननेवाले मुख्य द्वार या जन-प्रवेशन द्वार और रंगशीर्ष में बननेवाले दोनों द्वारों को मिलाकर तीन द्वारों का वर्णन हो चुका है। अब '**द्वितीयं चैव कर्त्तव्यं**' में चकार से बचे द्वारों का ही ग्रहण हो सकता है। नाट्य-मण्डप के द्वारों के विषय में '**चतुर्द्वारं नाट्यगृहम्**' तथा '**षड्द्वारं नाट्यगृहम्**' दो मत पाये जाते हैं। अब '**चतुर्द्वारं**' वाले मत से एक द्वार और '**षड्द्वारं**' वाले मत से तीन द्वार बच रहे हैं; क्योंकि तीन द्वारों का विधान किया ही जा चुका है। '**चकार**' से इन्हीं बचे द्वारों का ग्रहण होता है। यहाँ वास्तव में, 'चकार' का अभिप्राय नेपथ्यगृह में नटों के

प्रवेश के लिए बनाये जानेवाले पिछले द्वार से है। यह व्याख्या **'चतुर्द्वारं'** पक्ष में हुई। यदि **'षड्द्वारं नाट्यगृहम्'** वाला पक्ष लिया जाय, तो नेपथ्यगृहवाले द्वार के अतिरिक्त मत्तवारणियों में बनाये जानेवाले द्वारों को भी 'चकार' से ग्रहण करना होगा।

रंगमंच की पूजा : प्रेक्षागृह का निर्माण भी एक महान् धार्मिक अनुष्ठान माना गया है, जिसकी पूजा में सभी देवी-देवताओं तथा चर-अचर सभी प्राणियों को सम्मिलित किया जाता है और नाट्य की सफलता के लिए सभी से प्रार्थना की जाती है। रंगपूजा का महत्त्व अत्यधिक है; वस्तुतः रंगपूजा के विना नाट्य-प्रयोग की सफलता की सम्भावना ही नहीं मानी जाती। अतः, भरत ने बहुत विस्तार से रंगपूजा का विधान किया है।

नेपथ्यज विधि

भरत मुनि ने अभिनय के स्थूल रूप से दो भेद किये—सामान्य अभिनय और आहार्य अभिनय। सामान्य अभिनय के तीन मुख्य भेद हैं—वाचिक, सात्त्विक और आंगिक। इन अभिनयों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रंगमंच से न होकर पात्रों के अंगों से है। भरत मुनि ने इनका विवरण अनेक अध्यायों में दिया है। परन्तु, आहार्य अभिनय का सम्बन्ध रंगमंच से है; क्योंकि आहार्य अभिनय का विधान नेपथ्य में होता है और नेपथ्य रंगमंच का अभिन्न अंग है। भरत ने आहार्य अभिनय को नेपथ्यज विधि कहा है और नेपथ्य को नाट्य का अलंकार माना है। उन्होंने नेपथ्य को बहुत महत्त्व प्रदान किया है :

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता॥
नाट्यस्येह अलङ्कारो नेपथ्यं सम्प्रकीर्त्तितम्।[1]

पुस्त : भरत ने आहार्य अभिनय अथवा नेपथ्यज विधि के चार भेद माने हैं—पुस्त, अलंकार, अंगरचना तथा संजीव। पुस्त के अन्तर्गत नाट्य की कुछ ऐसी विधियाँ आती हैं, जिनकी सहायता से वस्त्र, चमड़े या पत्ते आदि से अनुकरणात्मक रूप बनाकर रंगमंच पर अभिनय के लिए उतारा जा सकता है। पुस्त के भी तीन भेद माने गये हैं—सन्धिम, व्याजिम तथा चेष्टिम। सन्धिम में वस्त्र या चमड़े से रूप बनाते हैं। किन्तु व्याजिम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें यन्त्र आदि के सहारे रूप बनाकर रंगमंच पर उतारा जाता है। उज्जैन के राजा चतुर्सेन के यन्त्रमय गज की कथा कथासरित्सागर में आई है। वस्त्रादि से वेष्टित होकर जिस रूप की चेष्टा की जाती है, वह चेष्टिम पुस्त है।

वस्तुतः, पुस्त-विधि की सहायता से नाटक में अधिक-से-अधिक स्वाभाविकता आती है। इसके द्वारा अधिक-से-अधिक स्वाभाविक दृश्य रंगमंच पर दिखाये जा सकते हैं, यहाँ तक कि पर्वत, महल, यान आदि का बहुत ही सफलता से अनुकरण किया जा सकता है। भरत ने कहा है :

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २१, श्लोक २-३ (काव्यमाला)

शैलयानविमानानि चर्मवर्म ध्वजाः नगाः ।
यानि क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञितः ॥[1]

अलंकार : अलंकार भी आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आता है। रंगमंच पर उतरने के पहले अभिनेता का शृंगार नेपथ्य में ही किया जाता है, जो रस, भाव, देश तथा काल के अनुरूप होता है। शृंगार के भी अनेक साधन हैं, जिनमें माला, आभूषण और वेशभूषा प्रधान हैं। माला के भी पाँच मुख्य भेद माने गये हैं। भरत ने इस बात का विस्तृत वर्णन किया है कि किस प्रकार आभूषणों के द्वारा अभिनेताओं का शृंगार करना चाहिए। उन्होंने अनेक प्रकार के आभूषणों का वर्णन किया है और बताया है कि किस प्रकार उनका उपयोग देश तथा जाति के अनुसार पुरुष और स्त्री-पात्रों को करना उचित है। आभरण शृंगार के अन्तर्गत नेत्रों में अंजन लगाना, कपोलों पर तिलक तथा पत्ररेखा के चित्र, अधरों तथा दाँतों को रंजित करना आदि हैं। स्त्री-पात्रों के सभी अंगों के आभूषणों का विस्तृत विवरण मिलता है, परन्तु आभूषण धारण करते समय रस तथा भाव की अनुकूलता पर ध्यान देना आवश्यक है। भरत मुनि ने रंगमंच पर अभिनय करते समय अधिक आभूषणों का प्रयोग वांछनीय नहीं माना है; क्योंकि अधिक आभूषणों के भार के कारण पात्र स्वच्छन्दतापूर्वक भावों का अभिनय करने में असमर्थ हो जाता है। इसका फल होता है कि रस-निष्पत्ति में बाधा उत्पन्न होती है। यह भी विधान किया गया है कि स्वर्ण के स्थान पर अबरख या लाह के आभूषणों का प्रयोग रंगमंच पर करना चाहिए। ऐसे ही चमत्कारी और बनावटी आभूषण रंगमंच पर अधिक उपादेय सिद्ध होते हैं।

तस्मान्न सम्यक् च कृतं सौवर्णं भूषणं भवेत् ।
जतुपूर्णाल्यरत्नं तु न खेदजननं भवेत् ॥[2]

वेश-रचना द्वारा शृंगार का वर्णन करते हुए भरत ने देवांगनाओं, अप्सराओं, यक्षिणियों के उपयुक्त वेश-भूषा का विवरण दिया है और भिन्न-भिन्न देश, भाव, वय आदि के अनुरूप मनुष्य-जाति के स्त्री-पुरुष पात्रों के वेश का वर्णन दिया है।

अंग-रचना : किन्तु पात्रों की वेश-रचना के पहले अंग-रचना आवश्यक है। वेश-रचना और अंग-रचना के ही माध्यम से सामान्य व्यक्ति दुष्यन्त अथवा शकुन्तला के रूप का अनुकरण करके हृद्गत विशिष्ट भावों का भी अनुकरण करने में समर्थ होते हैं। यह अंग-रचना भिन्न रंगों की सहायता से होती है। भरत मुनि ने विभिन्न रंगों का वर्णन किया है और यह भी बताया है कि किन-किन रंगों के योग से कौन-से रंग बनते हैं। रंग द्वारा रूप-परिवर्तन की विधि को भरत ने शास्त्रीय नाम 'वर्त्तना' (Make up)

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २१, श्लोक ९

२. वही, श्लोक ४०

दिया है। कोई अभिनेता अपना स्वभाव छोड़कर राम, दुष्यन्त आदि के स्वभाव का अनुकरण करता है और थोड़ी देर के लिए यही उसका स्वभाव बन जाता है, इसी तरह अंग-रचना के द्वारा थोड़े समय के लिए वही उसका प्रकृत रूप भी हो जाता है। अंग-रचना तथा वेश-रचना के द्वारा अभिनेता दुष्यन्तादि विशिष्ट व्यक्तियों का वेश धारण कर उन्हीं का प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

वर्णकैश्चापि वेषैश्च छादितः पुरुषस्तथा।
परप्रभावं कुरुते यस्य वेषसमाश्रयम्॥[1]

अंग-रचना के सन्दर्भ में भरत ने देश, जाति, वय, सामाजिक स्थिति आदि के अनुसार विभिन्न रंगों का विवरण दिया है। देवताओं की अंग-रचना गौर; नारायण का श्याम; समुद्र, हिमालय तथा गंगा का श्वेत और आकाश का नील रूप होना चाहिए। सातों द्वीपों के रहनेवाले मनुष्य-मात्र का रूप तप्त स्वर्ण के समान होना चाहिए। भारत के राजाओं का रूप देशकाल के अनुसार गौर, श्याम तथा पद्म वर्ण का होना चाहिए। सुखी मनुष्यों का रूप गौर वर्ण का; कुकर्मी, ग्रहग्रस्त, रोगी, कुजाति आदि का रंग काला और ऋषि, तपस्वियों का रंग बैग (बदर) के समान होना चाहिए। बर्बर, किरात, द्रविड़, आन्ध्र तथा दाक्षिणात्य काले रंग के; शक, यवन तथा उत्तरदेशवासी गौर वर्ण के होने चाहिए। अंग, वंग, कलिंग के निवासी श्याम; ब्राह्मण, क्षत्रिय गौर और वैश्य, शूद्र काले रंग के दिखाये जायँ। अंग-रचना के सिलसिले में वेश-रचना का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। केवल मूँछ ही चार प्रकार की कही गई है—शुक्ल, श्याम, विचित्र तथा रोमश। देश, काल तथा अवस्था के अनुसार इनका प्रयोग होना चाहिए। मन्त्री, पुरोहित आदि की मूँछ शुक्ल; दुःखी, विपत्तिग्रस्त, तपस्वी आदि की श्याम; राजा, राजकुमार तथा यौवनोन्मत्त पात्रों की मूँछें विचित्र होने का विधान किया गया है।

भरत मुनि ने वेश-रचना या 'परिधान-विधान' तीन प्रकार के बताये हैं—शुद्ध, विचित्र और मलिन। इनका उपयोग देश, काल तथा पात्र के अनुसार होना चाहिए। विवाह आदि मंगलमय अवसरों पर स्त्री-पुरुषों का वेश शुद्ध शुक्ल होना चाहिए। राजा का वेश मंगलमय, पवित्र अनुष्ठानों के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर सदा चित्र-चमत्कारी होना चाहिए। दरबारी, मन्त्री, पुरोहित, सेठ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य सभी मनुष्यों के लिए शुद्ध वेश उपादेय माना गया है। उन्मत्त, प्रमत्त तथा व्यसन-ग्रस्त मनुष्यों का वेश मलिन होना चाहिए। मुनि, तपस्वी आदि का वेश वल्कल, चमड़ा या वस्त्र का होना चाहिए। अन्तःपुर में रहनेवाले कंचुकी आदि काषाय वस्त्र या लम्बा झूल धारण करें। किसी भी योद्धा को धनुष, तरकस, कवच आदि धारण करना अनिवार्य है। राजाओं के सिर पर मुकुट; युवराज और सेनापति के सिर पर आधा मुकुट; विद्याधर, चारण आदि के सिर पर केश-मुकुट; अमात्य, पुरोहित, सेठ आदि के सिर पर पगड़ी आदि

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २१, श्लोक ८३

धारण करने का विधान है। बालक का भी सिर नंगा नहीं रहना चाहिए। मुनियों और तपस्वियों की लम्बी जटाएँ लटकनी चाहिए। बौद्ध श्रमण, संन्यासी आदि के सिर मुँड़े रहने चाहिए।

भरत ने पुरुष-पात्रों की वेश-रचना का विवरण देते समय स्त्री-पात्रों की भी वेश-रचना का वर्णन किया है। स्त्री-पात्रों में सिद्ध गन्धर्व, यक्ष की स्त्रियों और अप्सराओं की भी वेश-भूषा का वर्णन है। मनुष्य-जाति के स्त्री-पात्रों के देश, काल, अवस्था आदि पर यथार्थ ध्यान दिया गया है। यदि देशकाल के अनुसार वेश-रचना नहीं हो, तो वह उसी प्रकार हास्यास्पद हो जाती है, जिस प्रकार वक्षःस्थल पर मेखला धारण करना :

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥[1]

मुनि-कन्याओं की वेश-रचना वन के ही अनुरूप होनी चाहिए, वे कोई आभूषण नहीं धारण करें, उनके सिर पर एक चोटी होनी चाहिए। अवन्ति देश की युवतियों के केश घुँघराले हों, और गौड़ की युवतियों के सिर पर एक ही वेणी होनी चाहिए। आभीर युवतियों के सिर पर दो वेणियाँ हों और उनके सिर नील परिधान से ढँके हों। पूर्व तथा उत्तर-भारत की स्त्रियाँ के सिरों पर केश-गुच्छों के समान बाँधकर उठाया जाय, साथ ही केश तक शरीर आच्छादित रहना चाहिए। वेश्या-पात्रों का शृंगार इच्छानुसार शोभापूर्ण हो। प्रोषितपतिका तथा विपत्तिग्रस्त स्त्रियों का वेश मलिन होना चाहिए तथा उनको एक ही वेणी बनानी चाहिए। वियोग में वेश सादा होना चाहिए और कोई आभूषण नहीं धारण करना चाहिए।

स्त्री-पात्रों का अभिनय प्रायः अभिनेत्रियाँ ही करती थीं। इस विषय में श्री एच्० एच्० विल्सन की सम्मति है :

Females were represented in general by females : but it appears not to have been uncommon for men or lads to personate female characters, especially those of a graver character, like the Baudho priestess in Malati and Madhava.[2]

संजीव : आहार्य अभिनय के तीन भेदों—पुस्त, अलंकार तथा अंग-रचना—का विवेचन करने के उपरान्त भरत मुनि ने चतुर्थ भेद संजीव का विवरण दिया है। भरत ने संजीव शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। अपद, द्विपद तथा चतुष्पद प्राणियों के रंगमंच पर प्रवेश-विधि को भरत ने संजीव संज्ञा दी है। इस प्रकार सभी प्राणियों को रंगमंच पर उपस्थित करने की अनुमति दे दी गई है। सर्प के अतिरिक्त अन्य सभी प्राणी रंगमंच पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ऐसे प्राणियों को रंगमंच पर सचमुच उपस्थित

---

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय २१, श्लोक ७१**
२. The Theatre of the Hindus, p. 50

किया जाता होगा। केवल कल्पना से काम नहीं चलता होगा। विशेष रूप से मृच्छकटिक में ऐसा किये विना दृश्य ठीक तरह दिखाया नहीं जा सकता।

युद्ध आदि के अभिनय में अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग का विधान किया गया है। ध्वजा, छत्र, चमर, स्वर्णभाण्ड आदि का भी उपयोग रगमंच पर यथावसर किया जाना चाहिए। इतना ही नहीं, शिल्प-कला के द्वारा जितनी वस्तुओं का निर्माण किया जा सकता है, सबका उपयोग करने का विधान किया गया है। कहा नहीं जा सकता है कि देवताओं के आकाशगामी रथों के लिए क्या किया जाता था। परन्तु, भरत ने यह भी स्वीकार किया है कि रगमंच की अपनी सीमा है और संसार की बहुत बड़ी वस्तुओं को उसपर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अतः उनके अनुकरण के द्वारा ही प्रेक्षकों के हृदय में रस-निष्पत्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

वस्तुतः लोक-धर्म से नाट्य-धर्म भिन्न हुआ करता है और इसीलिए वास्तविक शस्त्रास्त्रों के स्थान पर लाह, चमड़े, वस्त्र आदि के बने कृत्रिम अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग का विधान किया गया है। रंगमंच के उपकरणों का निर्माण, पत्थर, लोहा तथा अन्य धातुओं से नहीं होना चाहिए; क्योंकि ये भारी होंगे और रंगमंच पर इनके संचालन में कठिनाई होगी। कवच, ढाल, झण्डा, महल, पहाड़, गुफाएँ, हाथी, घोड़ा आदि का निर्माण बाँस की कमाचियों और रंगीन कागजों की सहायता से करना चाहिए। इतना ही नहीं, मुकट तथा आभूषणों के विषय में भी भरत ने इस बात का ध्यान रखा है। वे सब लाह, अबरख आदि से बनाये जाते थे। रगमंच पर शस्त्रों का प्रहार वर्जित है, केवल संकेत की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार, नाट्यशास्त्र के कतिपय अध्यायों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय रगमंच पूर्णरूप से सुसज्जित था। हाँ, यह सत्य है कि संस्कृत रंगमंच अपने आदर्शों तथा परम्पराओं के कारण—जिसे नाट्यधर्मी का नाम दिया गया—एक सीमा से बाहर नहीं जा सकता था। इक्कीसवें अध्याय में वर्णित नेपथ्यज विधियों का विवरण अभी दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त ३५वें अध्याय के अन्त में ऐसे कलाकारों तथा कारीगरों का विवरण दिया गया है, जो रंगमंच के साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध थे। मालाकार, स्वर्णकार, मुकुटकार, चित्रकार, रजक, बढ़ई आदि का उल्लेख किया गया है।

प्राचीन काल में लोक-रंगमंच : डॉ० मनमोहन घोष ने लिखा है कि यद्यपि नाट्य-शास्त्र ने अनेक प्रकार की नाट्यशालाओं का वर्णन किया है और उनके विभिन्न अंगों का भी विस्तार से वर्णन हुआ, परन्तु किसी प्रमाण के अभाव में यह कहना कठिन है कि प्राचीन भारतीय नाटक कहाँ तक, विशेष रूप से सुनिर्मित रंगशालाओं में अभिनीत होते थे। सम्भव है कि केवल राजे तथा बहुत धनी व्यक्तियों के ही पास ऐसी रंगशालाएँ थीं, जो नाट्यशास्त्र के आदेश के अनुसार बनाई जाती थीं। डॉ० घोष का विश्वास है कि सामान्य जनों के लिए जो नाटक प्रदर्शित होते थे, वे खुले कमरों में खेले जाते थे, जिन्हें नाट्य-मन्दिर

या नट-मन्दिर कहा जाता था। ये मन्दिरों के सामने या शामियाने में अस्थायी रूप से बनाई रंगशालाओं में खेले जाते थे, जो आजकल की बंगाली यात्राओं से मिलते-जुलते थे। नाट्यशास्त्र में जिन नाट्यगृहों का वर्णन किया गया है, उनमें एक विशेष बात ध्यान देने की यह है कि वे नितान्त सामान्य आयाम के होते थे। मानव के लिए बड़ी रंगशाला ६४ हाथ लम्बी और ३२ हाथ चौड़ी होती थी। ऐसी रंगशालाओं में लगभग ४०० दर्शक बैठ सकते हैं। ग्रीक रंगशालाओं से यह सर्वथा विपरीत है; क्योंकि ग्रीस की रंगशालाओं में पन्द्रह हजार दर्शक बैठ सकते थे।

दृश्य-विधान : प्राचीन भारतीय रंगशालाओं के उस छोटे आयाम का मुख्य कारण इन नाटकों के प्रस्तुतीकरण का विचित्र शिल्प-विधान है। बड़ी नाट्यशालाओं में दर्शक उन छोटी और नाजुक बातों को नहीं सुन सकते थे, जिनपर नाटक के अभिनय का बहुत बड़ा अंश निर्भर करता था। ग्रीक रंगशालाओं का अत्यधिक बड़ा आयाम इससे प्रभावित नहीं होता था; क्योंकि वे नाटक दूसरे ही शिल्प-विधान पर अधिकतर निर्भर करते थे।

प्राचीन भारतीय यह बात बहुलांश में जानते थे कि उनकी विभिन्न कलाएँ कुछ सीमाओं में बद्ध हैं, अतः विचित्र दृश्यों के द्वारा प्रभाव का उत्पादन उनकी रुचि के अनुकूल नहीं था। नाटकीय कथानक के काल और स्थान को प्रत्यक्ष कराने के लिए प्राचीन हिन्दुओं के पास एक दूसरा ही उपाय था। संस्कृत-नाटकों में दृश्यों के बहुत लम्बे और पूरे वर्णन गद्य-पद्य में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। इन्हीं से चित्रित दृश्यों का काम हो जाता था। यदि उचित रीति से पढ़ा या गाया जाय, तो ये गद्य-पद्य अंश बहुत स्पष्टता से देश-काल का प्रभाव उत्पन्न करते थे। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के भव्य भवन का वर्णन पढने से आँखों के सामने सारे दृश्य नाच जाते हैं। वैसे ही उत्तररामचरित में दण्डक वन का शानदार वर्णन है। शेक्सपियर ने भी इस उपाय का सहारा लेकर अपने दृश्यों को जीता-जागता बनाया है। नाटकों में कहीं-कहीं ऐसे सुन्दर वर्णन मिलते हैं कि कलाकारों के द्वारा रंगमंच पर बनाये गये चित्र भी व्यर्थ-से लगते हैं। शेक्सपियर के रगमंच पर भी चित्रित दृश्य नहीं होते थे।

भारतीय रंगमंच पर चित्रित दृश्य नहीं होने के कारण दर्शकों को अपनी कल्पना से बहुत काम लेना पड़ता था। रगमंच पर कक्षा-विभाग से भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय दर्शकों को अपनी कल्पना से कितना अधिक काम लेना पड़ता था।

जन-नाट्यशाला : भरत ने नाट्यगृह का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसमें कुछ व्याख्यागत मतभेदों के रहने पर भी एक समुन्नत नाट्यशाला की दृष्टि मिलती है। इससे यह भी स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि उस समय तक भारत में नाट्य-कला पूर्ण रूप से विकसित कला के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। इस समृद्ध युग के उपरान्त नाट्य अनेक शतियों तक ह्रासोन्मुख ही रहा। विगत १२-१३ शतियों में नाटक तथा उसका रगमंच लोक-जीवन से ही प्रेरणा प्राप्त करता रहा और उसी के सहारे जीवन्त भी रहा। आधुनिक

युग में यूरोप के सीधे सम्पर्क में आने के फलस्वरूप यूरोपीय रंगमंच के अनुकरण पर भारत में भी रंगमंच का विकास करने के अनेक प्रयत्न किये गये। कुछ प्रान्तों को अपनी परम्परा के आधार पर नाट्य-कला एवं रंगमंच के विकास में कुछ अंश में सफलता मिली है। परन्तु, ये रंगमंच अपनी सफलता में भी यूरोपीय यथार्थवादी रंगमंच की ही ओर अधिक अग्रसर हुए हैं। हो सकता है कि आधुनिक नाट्यकला तथा रंगमंच उसकी नवीन उद्भावना और सम्भावना को आत्मसात् कर ले।

प्राचीन भारत के नाटकों का अभिनय प्रायः राजभवन के नाट्यगृहों तथा रंगशालाओं में हुआ करता था, जिनमें सामन्तों, राजपुरुषों तथा विद्वद्वृन्द का ही प्रवेश हो सकता था, परन्तु जन-जीवन की स्वाभाविक प्रेरणा का परिणाम होने के कारण नाटक केवल राजप्रासादों तक ही सीमित नहीं रह सका। समाज के मध्यम तथा निम्नवर्गों ने भी अपने मनोरंजन के लिए अपनी रुचि के अनुसार अभिनय के साधन जुटा लिये। इसलिए, एक ओर देव-मन्दिरों, गुफाओं तथा सामूहिक रूप में निर्मित नाट्यशालाओं में रास, यात्रा आदि लोक-नाट्य विकास पाते रहे और दूसरी ओर, गेय लोक-नाट्यों से भी जनता अपना मनोरंजन करती रही। इसका परिणाम यह हुआ कि आचार्यों को दस प्रकार के रूपकों के अतिरिक्त १८ या २० प्रकार के उपरूपकों के भी अस्तित्व को मान्यता देनी पड़ी।

जिन नाटकों का अभिनय विद्वन्मण्डली में हुआ करता था, उनके आधार पर आचार्यों ने नाट्य-रचना के विभिन्न अंगों का विवेचन किया। भरत मुनि ने नाटक में केवल ३६ अंगों का विवेचन किया, किन्तु राजा भोज का समय आते-आते यह संख्या २५६ तक पहुँच गई। प्राचीन भारत के सर्वोत्तम तथा सर्वप्रकारेण पूर्ण नाटकों का अभिनय इन्हीं विद्वन्मण्डलियों में हुआ।

संस्कृत और प्राकृत की ये पद्धतियाँ हिन्दी में आईं। संस्कृत के समान हिन्दी में भी एक पद्धति दूसरी को प्रभावित करती रही। अतः, भारतेन्दु-युग में इन तीनों पद्धतियों का विकास स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

रंगमंच-सम्बन्धी पुस्तकें

भरत के नाट्यशास्त्र में रंगशाला के निर्माण की विधि का बहुत ही विस्तार से विवरण दिया गया है। उसमें छोटी-से-छोटी बातों पर भी काफी ध्यान दिया गया है। वैसा विस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र नहीं प्राप्त हो सकता। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी रंगमंच का वर्णन मिलता है। नीचे उनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण : विष्णुधर्मोत्तर पुराण में केवल दो प्रकार के रंगमंच का उल्लेख पाया जाता है। इसमें कहा गया है कि केवल प्रेक्षागृह में ही नाट्य प्रस्तुत करना चाहिए। प्रेक्षागृह दो प्रकार का हो सकता है – आयताकार और वर्गाकार।

वर्गाकार प्रेक्षागृह १६×१६ गज का होना चाहिए। नाट्यगृह न बहुत बड़ा होना चाहिए और न बहुत छोटा; क्योंकि छोटे नाट्यगृह में संकीर्णता के कारण श्वासावरोध की दशा हो सकती है और बड़े नाट्यगृह में नाट्य-प्रदर्शन अस्पष्ट हो जायगा। इस ग्रन्थ में त्रिभुजाकार नाट्यगृह का कोई उल्लेख नहीं है।

संगीत-मकरंद : नारद लिखित संगीत-मकरन्द में केवल वर्गाकार नाट्यगृह का उल्लेख मिलता है। इसमें एक नई नाप दी गई है; क्योंकि इस ग्रन्थ के अनुसार नाट्य-गृह ४८×४८ गज का वर्ग होना चाहिए।

भावप्रकाशन : शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन के १०वें अधिकार में बताया है कि राजा के प्रासाद में तीन प्रकार के नाट्यगृह रहने चाहिए। इन्होंने चतुरस्र, व्यस्र तथा वृत्त—तीन प्रकार के रंगमंच का उल्लेख किया है। भरत द्वारा निर्दिष्ट विकृष्ट के स्थान पर इन्होंने वृत्त रंगमण्डप रखा है।

शिवतत्त्व-रत्नाकर : वासवराज ने अपने ग्रन्थ शिवतत्त्व-रत्नाकर में लिखा है कि राजा वेंकटप्पा ने एक नाट्यगृह का निर्माण कराया था। ग्रन्थ में इस नाट्यगृह की भव्यता का वर्णन किया गया है। इसमें हाथी-दाँत और चन्दन का काम किया गया था और बहुमूल्य रत्न जड़े थे।

संगीत-चूडामणि : संगीत-चूडामणि संगीतशास्त्र-विषयक एक अप्रकाशित ग्रन्थ है। जान पड़ता है कि इसमें नाट्यगृह का विवेचन किया गया है। काव्यशास्त्र-विषयक एक अन्य ग्रन्थ में इसके दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनमें यवनिका का वर्णन हुआ है।

संगीतरत्नाकर : संगीतरत्नाकर में प्रेक्षागृह का जो वर्णन दिया गया है, वह वस्तुतः संगीत तथा नृत्य का प्रदर्शन करने के स्थान का वर्णन है, परन्तु निस्सन्देह इसी स्थान पर नाट्य का भी प्रदर्शन होता होगा। प्रेक्षक भी दोनों अवसरों पर समान ही रहते होंगे। उस वर्णन में बताया गया है कि संगीतशाला विशिष्ट रूप से अलंकृत रहती थी। यह पुष्पों, पताकाओं तथा मणिस्तम्भों से सुसज्जित रहती थी। जिस भवन में नृत्य के प्रदर्शन का आयोजन होता है, वह प्रशस्त होना चाहिए।

संगीतरत्नाकर में नाट्यशाला में दर्शकों के बैठने की व्यवस्था से पता चलता है कि यह नाट्यशाला राजप्रासाद से सम्बद्ध है। ये दर्शक शिक्षित, संस्कृत तथा कलात्मक रुचि के हैं—जैसे राजा, रानियाँ, मन्त्री, राजकवि आदि। इस रंगशाला में बैठने की व्यवस्था से यह भी ज्ञात होता है कि सामने का स्थान रंगमंच के लिए रहता था, जिसके बाँयें गायक आदि के लिए स्थान था और बीच तथा दाहिनी ओर के स्थान का उपयोग नृत्य तथा अभिनय के लिए होता था।

मानसार शिल्पशास्त्र : मानसार शिल्पशास्त्र में मन्दिर से सम्बद्ध नाट्यशाला का विवरण दिया गया है। ये नाट्यशालाएँ मन्दिर के खुले हुए प्रांगण के साथ सम्बद्ध

होती थीं, और प्राय: मन्दिर के सरोवर या शाला और राजप्रासाद के मध्य में अवस्थित रहती थीं।

मध्यकालीन रंगमंच : मध्यकाल में भारत का शासन-सूत्र मुसलमानों के हाथ में आ गया था। उन्होंने नाट्य को प्रोत्साहन नहीं दिया; क्योंकि वे किसी का रूप बनाना धर्म-विरुद्ध समझते थे। दूसरी ओर, राजाओं का आश्रय समाप्त हो जाने से रंगमंच की सुव्यवस्था जाती रही और जनता अपने मनोरंजन के लिए खुले मैदान में स्वांग आदि के रूप में नाटक खेलने लगी। ऐसे समय में जनता ने रामलीला, रासलीला आदि का आश्रय लेकर अपना मनोरंजन भी किया और धार्मिक वृत्ति भी जागरित की।

रामलीला तथा रासलीला के रंगमंच का इतिहास काफी पुराना है और भक्ति-काव्य का जब ऊषाकाल था, उसी समय हिन्दी नाट्य-रचना और रंगमंच का भी सुनहला प्रभात था। दोनों को उसी विराट् वैष्णव आन्दोलन से प्रेरणा मिली, जिसने १३वीं शती से लेकर तीन शतियों तक उत्तर-भारत को अभिसिंचित किया। भक्ति-भाव को जाग्रत् करने के लिए भगवान् की लीलाओं का नाटकीय प्रदर्शन अत्यन्त सफल तथा आकर्षक साधन सिद्ध हुआ। स्पष्टतः इस प्रकार एक आकर्षक और लोकप्रिय रंगमंच के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत हो गई। वैष्णव आन्दोलन के द्वारा धर्म के जिस रूप का विकास हुआ, वह लकाश्रयी था—जनसाधारण की प्रवृत्तियों की सहायता से ही उसका उत्कर्ष हुआ। फलतः, क्लिष्ट आध्यामिक सिद्धान्तों के माध्यम संस्कृत की अपेक्षा देशी भाषाओं में ही इस नवीन रंगमंच के लिए नाटकों की माँग हुई। अनेक देशी भाषाओं में भक्त-वत्सल भगवान् की लीलाओं का प्रदर्शन आरम्भ हुआ। उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में ब्रजभाषा, मध्य में अवधी और पूर्व में मैथिली भाषाओं में लीलाएँ प्रदर्शित की जाने लगीं। इस रंगमंच के दो क्षेत्र थे—मन्दिर और राजभवन। वैष्णव रंगमंच की पश्चिमी शाखा का विकास मन्दिरों या अन्य धार्मिक स्थानों में हुआ, परन्तु पूर्वी शाखा का विकास प्राय: राज-भवनों या दरबारों में हुआ। मन्दिरों में प्रचलित रंगमंच के मुख्य रूप थे रासलीला तथा रामलीला और ये दोनों रूप अभी धार्मिक लोक-रंगमंच की परम्परा को कायम रखे हुए हैं।

ऐसा माना जाता है कि रासलीला का प्रथम आयोजन वल्लभाचार्य ने किया और रामलीला का श्रीगणेश स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने किया। यह दिखाया जा सकता है कि सूरसागर के अनेक पद संवाद-रूप में हैं, जिनका प्रयोग रासलीला में किया जाता था। रामचरितमानस के भी अनेक स्थल संवाद-रूप में हैं। उसके अनेक संवाद एक प्रकार से छोटे-छोटे एकांकी ही हैं, जिनका अभिनय रामलीला में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। अयोध्याकाण्ड में घटनाओं का गुम्फन, चरित्र-विकास, आन्तरिक तथा बाह्य द्वन्द्व और करुण रस का पर्यवसान उसे यूनानी त्रासदियों की श्रेणी में ला देते हैं। रामलीला का रंगमंच यथार्थवादी रंगमंच और साथ ही वस्तु-विषय की महत्ता को भी प्रकट करनेवाला है। लोक-परम्परा से भी रामलीला के रंगमंच ने बहुत-कुछ प्राप्त किया, विशेषत: परिहास के

प्रसंग और पात्र। किन्तु, रामचरितमानस इन अभिनयों का सदा ही प्राण रहा, और इसी कारण रामलीला में रंगमंच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा और रामलीला तो सदा के लिए सुरक्षित रह ही गई।

फिर भी, मानना पड़ेगा कि वैष्णव रगमंच की यह पश्चिमी शाखा नाटक के मौलिक रूप तथा विशेषताओं को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ रही। समय बीतने पर व्रजमण्डल के गीत, नाट्य आदि भक्त गवैयों के गीत काव्य बनकर रह गये। रगमंच से उनका सम्बन्ध क्रमशः टूटता ही गया। इस प्रकार, एक महान् नाट्य-रचना-शैली की सभी सम्भावनाएँ विलुप्त हो गईं। इसका कारण स्पष्ट ही है—राज्य-संरक्षण का अभाव। सुव्यवस्थित रंगमंच संरक्षण के ही सहारे संवर्द्धित होता है; यही बात साहित्यिक नाट्य-लेखन के साथ भी लागू होती है। संरक्षण के अभाव में इनका पनपना कठिन है।

सौभाग्य से वैष्णव रगमंच की पूर्वी शाखा को यह संरक्षण प्राप्त था। १५वीं से लेकर १८वीं शती के बाद तक मिथिला, नेपाल और आसाम में हिन्दी की समृद्ध उपभाषा मैथिली में ३५ से ऊपर उच्चकोटि के नाटककारों और कवियों ने १०६ से अधिक नाटकों की रचना की। ये सभी नाटक उस रमणीक तथा सुरम्य रगमंच पर अभिनीत हुए और शीघ्र ही हिन्दी तथा मैथिली-साहित्य की अमूल्य तथा अमर निधि बन गये। मिथिला के इन नाटकों को कीर्त्तनिया नाटक की संज्ञा दी गई है। मिथिला के इन कीर्त्तनिया नाटकों से मिलते-जुलते, किन्तु उनसे बहुत पहले आसाम में मैथिली-भाषा के 'अंकिया नाट' कहे जानेवाले वैष्णव नाटकों की रचना हुई।

कीर्त्तनिया नाटक के रंगमंच की आवश्यकताएँ भी बदल गईं। सूत्रधार एवं नटी प्रस्तावना समाप्त हो जाने के बाद भी पूरे अभिनय-भर रगमंच पर विद्यमान रहने लगे। दृश्य-परिवर्त्तन के लिए पर्दे आदि की सुविधा थी नहीं; इसीलिए सूत्रधार और नटी गीतों के बीच में कथा का सूत्र कायम रखते थे; उनका आशय दर्शकों को समझाते चलते थे और बीच-बीच में यथास्थान टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। पीछे चलकर मैथिली में सूत्रधार के स्थान पर 'तटस्थ' कहलानेवाले पात्रों का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार, साहित्यिक तथा साधन-सम्पन्न रंगमंच का रूप लोक-रंगमंच के रूप में बदलता गया। इस रंगमंच तथा नाटकों के लिए संगीत प्राण था। ऑर्केस्ट्रा इसका अत्यन्त आवश्यक अंग था और लेखक, सूत्रधार, अभिनेता सभी को संगीत का पूरा मर्मज्ञ होना आवश्यक था। वास्तव में, कीर्त्तनिया नाटक और पाश्चात्त्य देशों के ओपेरा में थोड़ा ही अन्तर था।

रामलीला, रासलीला आदि वैष्णव-नाटकों के लिए किसी विशेष रंगमंच की व्यवस्था नहीं होती थी, परन्तु पात्रों की सजावट की व्यवस्था होती थी। इसमें सामूहिक तथा व्यक्तिगत नृत्य का भी आयोजन होता था। प्रायः खुले मैदान में अभिनय होता था, जिसके कारण युद्ध, विवाह आदि के भी दृश्य दिखाये जाने लगे। भक्ति-भावना में वृद्धि हो जाने के कारण राम, कृष्ण आदि के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले ही अभिनय प्रायः

जनता के सम्मुख प्रदर्शित किये जाते थे। पात्रों को अभिनय की शिक्षा भी नहीं दी जाती थी; निर्देशक जनता के सामने ही अभिनेताओं को बताता चलता था। दर्शकों के मनोरंजन के लिए साधारण ढंग के परिहास प्रस्तुत किये जाते थे।

आधुनिक रंगमंच : अँगरेजों के आगमन के बाद ही आधुनिक रंगमंच की उत्पत्ति हुई। उन्होंने सन् १७४७ ई० में कलकत्ता के फोर्ट में रंगमंच की स्थापना की और सन् १७७५ ई० में उसका पुनर्निर्माण हुआ। परन्तु, इस रंगमंच पर केवल अँगरेजी-नाटकों का ही अभिनय होता था। उसके बाद धीरे-धीरे नाटक-कम्पनियाँ बनने लगीं। पारसी रंगमंच का विकास हुआ।

सन् १८७० ई० में व्यावसायिक रंगमंच स्थापित हुआ। सेठ पेस्टनजी फ्रामजी ने ओरिजिनल थिएट्रिकल कम्पनी की स्थापना बम्बई में की। फ्रामजी की मृत्यु के उपरान्त यह कम्पनी भंग हो गई और अभिनेताओं ने बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में अपनी अलग-अलग कम्पनियाँ खोलीं। सभी नाटक-कम्पनियों में वेतनभोगी लेखक थे, जो लेखक कम और नौकर अधिक थे। उनमें प्रधान थे आगा हश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद 'बेताब' आदि।

उस युग में दृश्य काव्य के रूप में जिन नाटकों का अभिनय पारसी रंगमंच पर होता था, वे निस्सन्देह दृश्य थे, परन्तु उन्हें काव्य की संज्ञा देना हास्यास्पद होगा। उनसे काव्य-गुणों की कोई आशा भी नहीं करता था। पैसा कमाने के लिए जनता के आकर्षण को अधिकाधिक उत्तेजित करना उनका मुख्य उद्देश्य था। नाटक की कथावस्तु, संशय आदि से अधिक महत्त्व दिया जाता था भड़कीली पोशाक और चमकीले पर्दे को। एक-एक दृश्य सजाने में काफी कारीगरी और पैसे खर्च किये जाते थे। पारसी रंगमंच पर चमत्कारपूर्ण दृश्य खूब दिये जाते थे और यही उसके विनाश का कारण भी हुआ। चलचित्रों में रंगमंच से कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखाये जा सकते हैं, उनकी दृश्य-योजना बहुत ही उत्कृष्ट होती है, जिनके सामने पारसी रंगमंच के दृश्य ठहर नहीं सके। नाटककार रंगमंच पर जीवन के विराट् एवं मार्मिक सत्य उपस्थित करता है, पश्चिमवालों ने यही किया; परन्तु पारसी रंगमंचवालों ने जीवन को नहीं, अस्वाभाविकता को आधार बना लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह सदा के लिए मिट गया।

उस समय भी शिक्षित वर्ग पारसी रंगमंच के अभिनयों से चिढ़ा हुआ था। सस्ते किस्म का मनोरंजन तो किसी प्रकार सहा भी जा सकता है, परन्तु सांस्कृतिक निधियों की मिट्टी पलीद होते देखकर बुद्धिमान् लोग स्वभावतः बुरा मानते थे। भारतेन्दुजी ने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में लिखा है : "काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर, मटक-मटककर नाचने और '**पतरी कमर बलखाय**' यह गाने लगा, तो डॉक्टर थिबो और बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ गये कि अब देखा नहीं जाता।

ये लोग कालिदास के गले पर छुरी चला रहे हैं।" पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी उनपर अपना क्रोध व्यक्त किया था। पारसी रंगमंच में भी कुछ ऐसी कम्पनियाँ थीं, जो साहित्य का तो नहीं, किन्तु सुरुचि पर कुछ ध्यान देती थीं। काठियावाड़ की 'सूर-विजय नाटक-मण्डली' तथा मेरठ की 'भारत-व्याकुल कम्पनी' ऐसी ही नाटक-मण्डलियाँ थीं।

रामलीला तथा रासलीला के बाद उत्तरी भारत के कई भागों में नौटंकी की चाल चल निकली। १९वीं शती में इन निकृष्ट नौटंकियों से जनता का मन दूषित हो गया। फल यह हुआ कि इस नौटंकी से केवल निम्नकोटि के दर्शकों का मनोरंजन होने लगा। इसके वार्त्तालाप और गीत अत्यन्त भद्दे और अश्लील हुआ करते थे। ऐसी परिस्थिति में किसी पठनीय नाटक का अभिनय इसमें नहीं हो सकता था।

हिन्दी का पहला रंगमंच लखनऊ के कैसरबाग में नवाब वाजिदअली शाह के समय में बना। अमानत-लिखित गीति-नाट्य 'इन्दर-सभा' का इसपर अभिनय हुआ। इसमें स्वयं वाजिदअली शाह ने इन्दर की भूमिका अदा की थी।

१९वीं शती में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में हिन्दी-रंगमंच का पुनर्गठन हुआ, परन्तु उसपर सीधा प्रभाव वैष्णव-रंगमंच की उपर्युक्त दोनों शाखाओं ने नहीं डाला। भारतेन्दु को शायद मैथिली-नाटक देखने का अवसर नहीं मिला था, और रामलीला तथा रासलीला के अभिनय को तत्कालीन रूप में उन्होंने भद्दा एवं कला-विहीन पाया होगा। उन्होंने एक दूसरी दिशा से प्रेरणा ग्रहण की होगी। श्रीजगदीशचन्द्र माथुर का अनुमान है कि उन्होंने बँगला-रंगमंच और नाटक से वास्तविक और प्रभावशाली प्रेरणा ली होगी। यात्राएँ कीर्त्तनिया नाटकों की ही लोकपक्षीय तथा बहुत-कुछ विकृत रूपाकृति थीं। यात्रा-रंगमंच का बहुत व्यापक तथा गम्भीर प्रभाव बँगला-रंगमंच तथा नाट्य-रचना पर पड़ा। इस प्रकार, उत्तरी भारत में प्रचलित वैष्णव-रंगमंच का अप्रत्यक्ष प्रभाव भारतेन्दु पर माना जा सकता है। भारतेन्दु ने वैष्णव नाट्य-शैली की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता को भी अपनाया, उन्होंने अंकों तथा दृश्यों के बीच-बीच में राग-रागिनियों में बँधे गीतों को स्थान दिया। परन्तु, परवर्त्ती नाटककारों ने गीतों की रुचिकर तथा मनोरंजक परम्परा को छोड़ दिया, जिसका फल यह हुआ कि हिन्दी-नाट्य-शैली नीरस हो गई और रंगमंच क्रमशः लोक-रुचि से दूर होता गया।

भारतेन्दुजी की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अव्यावसायिक रंगमंच का सूत्रपात किया। यह अव्यावसायिक रंगमंच भारतेन्दु की हिन्दी और उत्तर-भारत को अनूठी और अमूल्य देन है। इसका जन्म व्यावसायिक रंगमंच के उत्तर में हुआ। पारसी रंगमंच अमानत की 'इन्दर-सभा' वाली परिपाटी का क्रमिक उत्कर्ष था। पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों का विकास बहुत तेजी से हुआ, इसका एक मुख्य कारण यह था कि देश के जिस भू-भाग में इन नाटकों का प्रदर्शन किया गया, वहाँ शतियों के बाद एक रंगमंच जनता के सामने आया था। वहाँ सैकड़ों वर्षों से कोई रंगमंच था ही नहीं, और

सदियों की तृष्णा जगाकर इस रंगमंच ने उससे भरपूर लाभ उठाया। ध्यान देने की विशेष बात यह है कि मिथिला, असम, उड़ीसा आदि प्रदेशों में जहाँ पहले से अपना रंगमंच वर्त्तमान था, यह पारसी रंगमंच अपना कुछ भी प्रभाव नहीं जमा सका।

जनसाधारण में रंगमंच के लिए बलवती तृष्णा तो थी ही, भारतेन्दुजी ने इसीलिए, पारसी कम्पनी के उत्तरस्वरूप अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियों की स्थापना की। परन्तु, अव्यावसायिक रंगमंच व्यावसायिक रंगमंच का सामना करने में समर्थ नहीं हो सकता। यदि उस समय उत्तरी भारत में भारतेन्दुजी को कुछ ऐसे सेठ मिल जाते, जो आवश्यकतानुसार द्रव्य व्यय कर सकते, तो सम्भवतः आज हिन्दी-रंगमंच का इतिहास कुछ दूसरे ही रूप में रहता। फिर भी, यह मानना होगा कि अव्यावसायिक अभिनयों की परम्परा चलाकर भारतेन्दु ने साहित्यिक नाटकों के लिए, एक प्रकार से, प्रयोगशालाएँ उपस्थित कर दीं और इन्हीं प्रयोगशालाओं के सहारे हिन्दी-नाटक अपने अस्तित्व की रक्षा करने में समर्थ हुआ है।

भारतेन्दु के बाद कानपुर में एक उत्साही नाटक-मण्डली की स्थापना हुई, प्रयाग में पं० माधव शुक्ल और उनके सहयोगियों के उद्योग से पहले 'श्रीरामलीला नाटक-मण्डली' (सन् १८९८ ई०) और पीछे 'हिन्दी-नाट्य-समिति' (सन् १९०८ ई०) का जन्म हुआ। इन मण्डलियों ने 'सीय-स्वयंवर', 'महाराणा प्रताप' और 'महाभारत पूर्वार्द्ध' जैसे नाटकों का अभिनय किया। काशी में सन् १९०९ ई० में भारतेन्दुजी के घराने के वृजचन्द्रजी और अन्य व्यक्तियों के उद्योग से 'भारतेन्दु नाटक-मण्डली' और 'काशी नागरी नाटक-मण्डली' की स्थापना हुई। ये मण्डलियाँ काफी दिनों तक गतिशील रहीं और न केवल भारतेन्दु के रूपकों का, प्रत्युत और भी अनेक नाटकों का अभिनय इन्होंने किया। पं० माधव शुक्ल ने कलकत्ता में 'हिन्दी-नाट्य-परिषद्' के नाम से एक अन्य अव्यावसायिक नाटक-मण्डली की स्थापना की, जिसमें कई वर्षों तक अनेक नाटक अभिनीत हुए और इससे उस मण्डली को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई। इन अव्यावसायिक मण्डलियों पर भारतेन्दु के रंगमंच की शैली की छाप निरन्तर रही। पर्दे और मंच-विधान तो बहुलांश में पारसी शैली पर ही रहे, परन्तु चमत्कारपूर्ण दृश्यों के प्रदर्शन पर उतना बल नहीं दिया जाता था, जितना भाषा की शुद्धता, सुरुचिपूर्ण गीतों और आदर्शोन्मुखता पर। इन अभिनयों में अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति सक्रिय भाग लिया करते थे। आश्चर्य की बात यह है कि अव्यावसायिक रंगमंच का इस रूप में सन् १९२५ ई० के बाद से परिवर्त्तन होने लगा, वयस्क व्यक्तियों ने इसमें भाग लेना छोड़ दिया और अव्यावसायिक रंगमंच शनैः-शनैः छात्रों का क्षेत्र माना जाने लगा। इस परिवर्त्तन का फल यह हुआ कि कुछ दिनों के बाद यह रंगमंच अधिक प्रयोगशीलता और बुद्धिवादिता की ओर लगातार झुकता गया।

किन्तु, कभी-कभी उत्साही युवकों के प्रयत्नों से अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ स्थापित होती रहीं। सन् १९१८-१९ ई० में छपरा में कुछ सरकारी पदाधिकारियों तथा

उत्साही युवकों ने एक नाट्य-मण्डली की स्थापना की, जिसने कई नाटकों का सफलता से अभिनय किया। पीछे चलकर 'श्रीशारदा नाट्य-समिति' की स्थापना हुई। देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के अग्रज श्रीमहेन्द्र प्रसाद ने इसमें प्रमुख भाग लिया। इस संस्था ने द्विजेन्द्र लाल राय के कई नाटकों का अभिनय किया। कुछ दिनों के बाद महेन्द्र बाबू के नेतृत्व में कुछ सदस्यों ने अलग होकर 'अमेचर ड्रामेटिक एसोसिएशन' नाम की नई नाट्य-समिति की स्थापना की।

इसी प्रकार, कई अन्य नगरों में भी अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियाँ स्थापित की गईं। इस प्रसंग में मुजफ्फरपुर के कलाकार श्रीललितकुमार सिंह 'नटवर' की सेवाओं को नहीं भुलाया जा सकता।

परन्तु, सिनेमा के आगमन से सभी नाटक-मण्डलियाँ समाप्त हो गईं। पारसी रंगमंच की मलिन होती हुई आभा सिनेमा की चकाचौंध में शीघ्र ही अपनी रही-सही चमक खो बैठी। हिन्दी का वह व्यावसायिक रंगमंच आधुनिकता के स्पर्श-मात्र से धराशायी हो गया। भारतेन्दु-युग के अव्यावसायिक रंगमंच इसके प्रभाव से कैसे बच सकते थे? कॉलेज की नाट्य-मण्डलियों ने समझ लिया कि जीवन का यथार्थ प्रदर्शन, स्वाभाविक कथोपकथन और हमारे जीवन के दैनिक क्रिया-कलाप––सभी रंगमंच के सीमा-क्षेत्र के अन्तर्गत समाविष्ट हो सकते हैं। अव्यावसायिक रंगमंच ने एकांकी को सहर्ष अंगीकृत किया; क्योंकि इसमें यह सुविधा है कि इसके अभिनय के लिए कम-से-कम साधनों की आवश्यकता होती है।

सन् १९३५ ई० के बाद हिन्दी-रंगमंच के इतिहास में दो दिशाओं में विकास हुआ है, जिनका महत्त्व बहुत अधिक है। उनमें एक बात तो यह है कि भारतेन्दुजी ने जिस अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की थी, उसका सम्बन्ध साहित्यिक नाटक से एकांकियों के माध्यम से फिर स्थापित हो गया। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि बम्बई में प्रख्यात कलाकार श्रीपृथ्वीराज कपूर ने आर्थिक घाटा सहकर भी एक सुरुचिपूर्ण और नवीन सन्देश के वाहक व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की, परन्तु दुर्भाग्यवश वह अधिक दिनों तक नहीं चल सका। हिन्दी में आधुनिक एकांकी का काफी विकास हुआ है और उसका महत्त्व इसलिए भी माना जायगा कि वह एक परिवर्त्तनशील रंगमंच की माँग की पूर्त्ति करने के लिए रचा गया है और उस रंगमंच को पुनर्जीवन देने में उसका बड़ा भारी योगदान है। श्रीपृथ्वीराज कपूर ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लिया था, यदि हिन्दी-लेखक उसे आह्वान के रूप में स्वीकार करें, तो उनका आयोजन युगान्तरकारी आन्दोलन सिद्ध हो सकता है।

इतिहास और परम्परा की उपेक्षा करके हम अपने भविष्य का निर्माण करने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हो सकते। किन्तु, यह सोचना ठीक नहीं कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक ही प्रकार का रंगमंच बनना चाहिए। एक ही प्रकार का रंगमंच सारे देश में

सर्वमान्य होना सम्भव नहीं, उचित भी नहीं कहा जा सकता। 'एलडोइस' निकल के शब्दों में "सजीव रंगमंच के लिए एक भौगोलिक केन्द्र, यथोचित स्वच्छन्दता, जनसाधारण और बुद्धिजीवियों दोनों ही के समर्थन, व्यावसायिक नाटककार के लिए सहारे का प्रबन्ध और युग-परिस्थितियों के अनुकूल रंगमंच-विधान—इन अवयवों की आवश्यकता होती है।"[1] इतना तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष जैसे विशाल देश में ये कतिपय अवयव भी और भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं, और परिणामस्वरूप रंगमंच और नाट्य-रचना की शैली के भी अनेक रूप सम्भव हैं।

भारत-सरकार ने नई दिल्ली में एक कला-केन्द्र स्थापित किया है। उपर्युक्त प्रयत्नों से ऐसी आशा बँधती है कि भारतीय रंगमंच फिर अपनी उन्नतावस्था को पहुँचेगा।

रंगमंच के सम्बन्ध में प्रसादजी के विचार : रंगमंच के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद का विचार सर्वथा वही नहीं है, जो इस विषय में परम्परा से आ रहा है और जो सामान्यतः सभी लोगों में प्रचलित है। यदि रंगमंच के विकास पर दृष्टिपात किया जाय, तो पता चलेगा कि पहले नाटक आदि दृश्य काव्य रचे गये, तब उनका अभिनय करने के लिए सुविधानुसार रंगमंच का निर्माण हुआ। प्रसादजी इतिहास के इसी साक्ष्य को आधार और प्रमाण मानते हैं। फलस्वरूप उन्होंने घोषणा की—"प्रत्येक काल में काव्य अथवा नाटक के लिए ही रंगमंच होते हैं, न कि रंगमंच के लिए नाटक अथवा काव्य।"[2] इस विषय में विचार करते हुए उन्होंने दूसरे स्थल पर इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा—"रगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाट्य रंगमंच के लिए लिखे जाते हैं। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों।"[3] प्रसादजी का विचार है कि नाटककार रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटक नहीं लिखे। वह तो कथानक आदि अनेक बातों को ध्यान में रखकर नाटक लिख देता है, अब रंगमंच-व्यवस्थापक और नाट्य-प्रयोक्ता का काम है कि उस नाटक का सफल अभिनय करने के लिए उपयुक्त रगमंच का निर्माण करे।

सेठजी के विचार : रंगमंच के सम्बन्ध में सेठ गोविन्ददास के भी अपने विचार हैं। उनका कहना है—"जो नाटक पढ़ने योग्य होते हुए खेले जा सकें और साथ ही साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के हों, वे अधिक अच्छे हैं, इसमें मतभेद नहीं हो सकता। ऐसे नाटक लिखने के लिए नाटककार को लिखने की विधि के साथ ही रंगमंच-सम्बन्धी विधि की ओर भी लक्ष्य रखना आवश्यक है। रंगमंच-सम्बन्धी बातों में नाटककार को दृश्यों की

---

१. हिन्दी-रंगमंच और नाट्यकला का विकास : श्रीजगदीशचन्द्र माथुर, 'आलोचना', नाट्य-अंक, जुलाई १९५६ ई०

२. काव्यकला एवं अन्य निबन्ध (प्रसाद), पृ० १०३

३. वही, पृ० ११०

व्यवस्था, पात्रों की वेशभूषा तथा पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान आदि बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।"[१] आगे लेखक ने इन सभी विषयों (अंक तथा दृश्य, पात्रों की वेशभूषा और उनके प्रवेश-प्रस्थान) पर अपने विचार प्रकट किये हैं। पाश्चात्त्य नाटककारों ने रगमंच पर भोजन आदि का प्रबन्ध करके कथोपकथन की स्वाभाविकता बढ़ा दी है। इस विषय में सेठजी का मत है कि भोजन आदि की व्यवस्था से कथोपकथन की स्वाभाविकता में वृद्धि ही होती है।

रंगमंच पर वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव : इधर वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण रंगमंच के निर्माण तथा व्यवस्था पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। जिन दृश्यों को रंगमंच पर दिखाना कुछ समय पहले असम्भव या अत्यन्त कठिन था, वे अब विज्ञान के प्रभाव से सहज ही दिखाये जा सकते हैं। लकड़ी के बने भारी-भारी दृश्य अब यन्त्रों के द्वारा रंगमंच पर तुरन्त लगाये या हटाये जा सकते हैं। टेलीफोन के द्वारा स्वगत भाषण की अस्वाभाविकता दूर की जा सकती है और ऐसे अनेक कार्य किये जा सकते हैं, जिनके विषय में कुछ दिन पहले कोई नाटककार अपने नाटक में रखने को सोच भी नहीं सकता था।

आजकल बिजली के द्वारा रंगमंच पर प्रकाश की पूर्ण व्यवस्था होती है। विभिन्न रंगों के प्रकाश से दृश्य में विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। आवश्यकतानुसार कभी रंगमंच पर पूर्ण अन्धकार से अँधेरी रात का दृश्य और पूर्ण प्रकाश द्वारा चाँदनी रात या दिन के दृश्य सुविधापूर्वक दिखाये जा सकते हैं। पहले प्रकाश-विधान में विविधता देने के लिए उपयुक्त साधन नहीं थे, अतः प्रकाश से नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने की बात नहीं सोची जाती थी, परन्तु अब बिजली के प्रयोग से प्रकाश-विधान भी रंगमंच का आवश्यक अंग माना जाने लगा है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने बताया है कि आधुनिक नाटकों में प्रकाश-निर्देश तीन प्रकार से किया जाता है : १. समय-सूचना द्वारा (जैसे प्रातःकाल, सूर्योदय हो रहा है), २. विशिष्ट सूचनात्मक निर्देशों से (जैसे खुली चाँदनी, चन्द्रमा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ रहा है); ३. विस्तृत आलोक-विधान के निर्देश से, जो नवीन ढंग के हैं। त्रासदियों तथा गीति-नाट्यों या नृत्य-नाटकों में इस प्रकार के आलोक-विधान का अधिक प्रयोग किया जाता है। चतुर्वेदीजी ने रंगमंच पर दस प्रकार के प्रकाश का भी उल्लेख किया है।[२]

वैज्ञानिक आविष्कारों से रंगमंच में बहुत परिष्कार हुआ है, सुविधा और स्वाभाविकता में वृद्धि हुई है। इनसे रंगमंच की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ गई हैं।

---

१. नाट्यकला-मीमांसा, पृ० ३१

२. अभिनव नाट्यशास्त्र (प्रथम संस्करण), पृ० ३०७

स्वातन्त्र्योत्तर रंगमंच

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के युग में रंगमंच के विकास की दिशा में उत्साहवर्द्धक प्रगति हुई है। राष्ट्रीय सरकार ने कला एवं संस्कृति के विकास को अपनी योजना में स्थान दिया है और फलतः रंगमंच की स्थापना में योगदान किया है। सरकार ने रंगमंच के विकास तथा सफल अभिनेय नाटकों की रचना पर विशेष बल दिया है। प्राचीन भारत में भी कभी धर्म ने और कभी राज्य ने नाटक तथा रंगमंच को संरक्षण प्रदान किया था। राष्ट्रीय सरकार की संगीत-नाटक-अकादमी ने देश में रंगमंच के विकास एवं विभिन्न भारतीय भाषाओं में नाटक-लेखन तथा प्रदर्शन के लिए पुरस्कार देने की व्यवस्था की है। अकादमी ने अव्यावसायिक संस्थाओं को भी अनुदान देने का प्रबन्ध किया है। उत्तरप्रदेश, बिहार आदि कई राज्यों में भी इस प्रकार की कुछ संस्थाएँ ऐसे ही कार्य कर रही हैं। आरम्भ में 'पृथ्वी थिएटर' ने देश के अनेक भागों में अपने नाटकों का प्रदर्शन किया, परन्तु उसके टूटने के बाद हिन्दी-क्षेत्र में व्यावसायिक रंगमंच नहीं के बराबर हैं। किन्तु, स्वातन्त्र्योत्तर युग में देश में नव जागरण हुआ है और अनेक भागों में अव्यावसायिक रंगमंच का उदय हुआ है। प्रायः सभी बड़े तथा महत्त्वपूर्ण नगरों में अव्यावसायिक संस्थाओं की स्थापना हो चुकी है। रंगमंच के इस नवजागरण से हिन्दी-नाटकों के लेखन में भी गति आई है। हिन्दी के नाटककारों तथा आलोचकों ने भी रंगमंच के प्रति सजगता प्रदर्शित की है और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रंगमंच तथा नाट्य-प्रदर्शन-सम्बन्धी मूल्यवान् टिप्पणियाँ प्रकाशित होती रहती हैं।

रंगमंच की सीमाएँ और उनका भारतीय नाट्य-विधान पर प्रभाव

संसार में जितनी वस्तुओं का निर्माण शिल्प-कला द्वारा हुआ हो, उन सबका उपयोग रंगमंच पर करने की स्वतन्त्रता नाट्यशास्त्रियों ने दी है। परन्तु, भरत ने स्वीकार किया है कि संसार की बड़ी-बड़ी वस्तुएँ रंगमंच पर उपस्थित नहीं की जा सकतीं; क्योंकि रंगमंच की भी अपनी सीमा है। इसलिए, रंगमंच पर जब अभिनेता इन बड़ी वस्तुओं का अनुकरण करता है, तो प्रेक्षक को उसी के द्वारा हृदय में रस-निष्पत्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिए। राजमहल, भवन, विभिन्न सवारियाँ आदि नाट्य के लिए उपकरण हैं, परन्तु ये सब मंच पर वास्तविक रूप में उपस्थित नहीं किये जा सकते :

यद् द्रव्यं जीवलोके तु नानालक्षणलक्षितम्।
तस्यानुकृतिसंस्थानं नाट्योपकरणं भवेत्॥
प्रासादगृहयानानि नाट्योपकरणानि च।
न शक्यानि तथा कर्त्तुं यथोक्तानीह लक्षणैः॥[1]

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २१, श्लोक १९१-१९२ (काव्यमाला)

वास्तव में, भरत ने लोकधर्म और नाट्यधर्म में स्पष्ट भेद कर दिया है। कुछ उपकरण लोकधर्मी होते हैं और कुछ नाट्यधर्मी। कोई पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप में लोकधर्मी कहलाता है। यह लोक का शुद्ध तथा स्वाभाविक अनुकरण है। इसमें विभिन्न भावों का संकेत करनेवाली आंगिक अभिनय-भंगिमाओं को नहीं ग्रहण कर सकते (**अंग लीला विवर्जितम्**)। अत्यन्त सांकेतिक वाक्य और क्रियाएँ, लीला, अंगहार, नाट्योक्त रूढ़ियाँ—यथा जनान्तिक, स्वगत, आकाशभाषित आदि। पर्वत, रथ, विमान, ढाल, तलवार आदि के संकेत देनेवाली रूढ़ियाँ और सूक्ष्म भावों का संकेत देनेवाले अभिनय नाट्यधर्मी हैं। जो भी सुख-दुःख का क्रियात्मक अभिनय लोक का होता है, वह भी नाट्य-धर्मी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रंगमंच पर किये जानेवाले वे सभी संकेतात्मक आंगिक अभिनय नाट्यधर्मी हैं, जो साक्षात् रूप से अनुकरण का विषय नहीं हैं। नाट्य-धर्मी पदार्थ लोकधर्मी से भिन्नता रखता है :

लोकधर्मी भवेत् कान्या नाट्यधर्मी तथापरा।
स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि॥[1]

यही कारण है कि लोहे या पत्थर के बने वास्तविक शस्त्र आदि उपकरणों का रंगमंच पर प्रयोग वर्जित है; क्योंकि इनसे अभिनेताओं को थकावट होती है, जिसके कारण नाटकीय प्रभाव उत्पन्न होने में बाधा पड़ती है। इनके स्थान पर लाह, चमड़े, वस्त्रादि से बने कृत्रिम शस्त्रास्त्रों के प्रयोग का विधान किया गया है। यहाँ तक कि मुकुट आदि तथा विभिन्न आभूषण आदि के भी सम्बन्ध में भरत मुनि ने इस बात का ध्यान रखा है। उन्होंने पूर्ण विस्तार से बताया है कि मुकुट, आभूषण, शस्त्र आदि विभिन्न उपकरणों का निर्माण किन-किन विभिन्न वस्तुओं से करना चाहिए। रंगमंच पर शस्त्रों द्वारा प्रहार वर्जित है, उनका केवल संकेत होना चाहिए।

रंगमंच की सीमा को सभी नाट्यशास्त्रियों ने मान्यता दी है। श्रव्य काव्य में वस्तु की सीमा का कोई बन्धन नहीं है। किन्तु, दृश्य काव्य रंगमंच पर दिखाया जाता है, अतः देश-काल की संकुचित सीमा में बँधा रहता है। यह सम्भव नहीं कि कुछ हाथ लम्बे और कुछ हाथ चौड़े रंगमंच पर किसी नायक के जीवन से सम्बद्ध सभी घटनाओं का सांगोपांग उसी रूप में प्रदर्शन किया जा सके और वह भी कुछ ही घण्टों की अवधि में। आजकल चलचित्रों में फोटोग्राफी आदि की सहायता से प्रायः सभी प्रकार के दृश्य दिखाये जा सकते हैं, परन्तु नाटककार रंगमंच पर अत्यन्त प्रयोजनवती घटनाओं को ही दिखाता है। वह अवान्तर गौण घटनाओं को पात्रों के वार्त्तालाप, नेपथ्य या किसी अन्य प्रकार से सूचित करता है। इतना ही नहीं, कई घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका रंगमंच पर प्रदर्शन नाट्यशास्त्र के विरुद्ध माना जाता है। भारतीय परम्परा उनको रंगमंच पर नहीं दिखाकर उनकी सूचना ही देती है। इसलिए, भरत मुनि ने रंगमंच पर कुछ प्रकार के दृश्य नहीं दिखाने का आदेश दिया है।

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २१, श्लोक १९३

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ॥[1]

युद्ध, राज्य-विप्लव, मृत्यु, नगर का घेरा आदि को अंक में प्रत्यक्ष नहीं दिखाकर प्रवेशक आदि से सूचित करना चाहिए। इस स्थल पर धनंजय ने लिखा है :

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।[2]

वे वस्तुएँ, जो नीरस हैं, जिनमें रस-प्रवणता नहीं—जिनका रंगमंच पर दिखाया जाना नैतिकता आदि के योग्य नहीं, वे संसूच्य या सूच्य कही जाती हैं।

विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंच पर नहीं दिखाये जानेवाले दृश्यों को निम्नलिखित श्रेणियों में रख सकते हैं :

१. युद्ध, राज्य-विप्लव, राज्य-भ्रंश, नगर का घेरा, दूर से पुकारना, दूर की यात्रा आदि के दृश्य, जो रंगमंच के संकीर्ण क्षेत्र में सम्भव नहीं। छोटे रंगमंच पर ऐसे दृश्य दिखाना अस्वाभाविक लगेगा।

२. मृत्यु, वध, आत्महत्या आदि के दृश्य, जिनसे भय उत्पन्न होता है और हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

३. चुम्बन, परिरम्भन आदि के अनैतिक दृश्य तथा स्नान, भोजन, विवाह आदि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले दृश्य।

इनमें से प्रथम कोटि के दृश्य रंगमंच की सीमा के कारण नहीं दिखाये जा सकते, शेष के अपने-अपने कारण हैं। इस विषय में पाश्चात्त्य परम्परा भारतीय परम्परा से सर्वथा भिन्न होने के कारण वहाँ के रंगमंच पर मृत्यु, वध, चुम्बन आदि के दृश्य दिखाये जाते हैं और भारतीय रंगमंच पर भी ऐसे दृश्य दिखाये जाने लगे हैं।

नाट्यधर्मी रूढ़ियों में अश्राव्य और नियत श्राव्य भी हैं। अश्राव्य स्वगत भाषण है और नियत श्राव्य दो प्रकार का होता है—जनान्तिक तथा अपवारित। इस विषय में भी रंगमंच की सीमा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। श्राव्य काव्य में तो कवि को पूरी स्वतन्त्रता रहती है कि चाहे जिस रूप में वह वस्तु का विकास करे, परन्तु नाटक में नाटककार को ऐसी सुविधा नहीं रहती। वास्तव में, नाटककार विवश होकर ही स्वगत, जनान्तिक तथा अपवारित का प्रयोग करता है; क्योंकि ये सर्वथा अस्वाभाविक हैं।

●

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, श्लोक २१ (काव्यमाला)

२. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, श्लोक ५७

नवम अध्याय

रूपक के भेदोपभेद

रूपक के भेद

काव्य के दो भेद किये गये हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह होता है, जिसका अभिनय हो सके और सामाजिकों के द्वारा देखा जा सके। दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं; क्योंकि नट या अभिनेता में रामादिक नाटक के पात्रों का स्वरूप आरोपित किया जाता है। नट राम, सीता, दुष्यन्त, शकुन्तला आदि का रूप धारण करता है और सामाजिकों को ऐसा आरोपात्मक ज्ञान होता है कि 'यह राम है', 'यह सीता है।' अतः, रूप का ज्ञान होने के कारण दृश्य काव्य का दूसरा नाम रूपक है। धनंजय ने कहा है—**'रूपकं तत्समारोपात्।'**[1] वही नाट्यरूप रूपक भी कहा जाता है; क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता है।

धनंजय ने कथावस्तु, नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना है। यदि इन भेदक तत्त्वों के आधार पर रूपकों के भेद की कल्पना करें, तो मोटे तौर पर बहत्तर भेद होंगे। इसका कारण यह है कि धनंजय के मत से कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—(क) प्रख्यात, (ख) उत्पाद्य और (ग) मिश्र। नायक भी तीन प्रकार के कहे गये हैं—(क) उत्तम, (ख) मध्यम और (ग) नीच। रस आठ स्वीकृत हैं, वे शान्त रस को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार वस्तु, नायक और रस के भेद से ३×३×८=७२ भेद हो जाते हैं। परन्तु, भरत व्यावहारिक विवेचक थे। उन्होंने उन्हीं दस रूपकों की विवेचना की है, जो उनके समय में प्रचलित थे।

भरत मुनि ने रूपक के दस भेद बताये—नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। नाट्यशास्त्र में उन्होंने इन रूपकों की गणना कराई है :

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः॥
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः॥[2]

धनंजय तथा विश्वनाथ ने इन्हीं दस रूपकों की गणना अपनी पुस्तकों में दूसरे शब्दों में कराई है। साथ ही विश्वनाथ ने अठारह उपरूपकों को भी स्थान दिया है।

---

१. दशरूपक : प्रथम प्रकाश, का० ७
२. नाट्यशास्त्र : अध्याय १८, का० २-३

धनंजय ने उन ग्रन्थकारों के मत का खण्डन किया है, जो मानते हैं कि 'जैसे नृत्य के डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य—ये सात भेद होते हैं, वे भाण की तरह ही होते हैं, इस प्रकार दस के अतिरिक्त अन्य भी रूपक हो सकते हैं।' धनंजय का उत्तर है कि भावाश्रय नृत्यनाट्य से भिन्न होते हैं—**अन्यद् भावाश्रयं नृत्यम्।**[1] रूपक रस पर आश्रित रहने के कारण नृत्य से सर्वथा भिन्न होता है, जो भाव पर आश्रित होता है। इस प्रकार, धनंजय ने श्रीगदित आदि को केवल नृत्य माना, रूपक नहीं। अतः, उनके भी मत से दस ही रूपक होते हैं।

अग्निपुराण में दस रूपकों के साथ १७ उपरूपकों के भी नाम दिये गये हैं। शारदातनय ने भावप्रकाशन में भरतादि के मत से रूपकों का निर्धारण किया। उन्होंने, दशरूपक का ही श्लोक उद्धृत करके दस रूपकों की गिनती कराई है, साथ ही तोटक, श्रीगदित आदि अन्य रूपकों का भी उल्लेख करके अन्त में लिख दिया :

रसात्मका दशैतेषु विंशद्भावात्मका मताः।
तेषां रूपकसंज्ञापि प्रायो दृश्यतया क्वचित्॥
त्रिंशद्रूपकभेदाश्च प्रकाश्यतेऽत्र लक्षणैः।[2]

शारदातनय ने दोनों मतों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। वे मानते हैं कि दृश्यता के कारण ही तोटकादि बीस भावात्मक रूपकों को रूपक माना जाता है। किन्तु, सबका योगफल वे तीस मानते हैं।

जैन आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने ग्रन्थ नाट्यदर्पण में रूपकों की संख्या बारह मानी है। सर्वमान्य दस रूपकों में उन्होंने नाटिका तथा प्रकरणी नामक दो रूपक जोड़ दिये। उन्होंने नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में नाटक का तथा द्वितीय विवेक में अन्य ग्यारह रूपकों का विवेचन किया है। मूल ग्रन्थ में श्रीगदित आदि का उल्लेख नहीं है, परन्तु सविवरण पुस्तक के अन्त में उन्होंने लिखा है : **'अन्यानि च रूपकाणि दृश्यन्ते। यदाहुः'** लिखकर १३ नृत्यों या उपरूपकों का उल्लेख किया है।

अब रूपक के उपर्युक्त भेदों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। नाट्य के विभिन्न तत्त्वों का जिस परिमाण में उपयोग किया जाता है, उसी क्रम में विभिन्न रूपकों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

नाटक : सभी नाट्याचार्यों ने सर्वप्रथम नाटक का विवेचन किया है। रूपक के सभी भेदों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध यही भेद है। यहाँ तक कि आगे चलकर प्रान्तीय भाषाओं में रूपक के अन्य भेदों को लोग कम ही जानते हैं और सभी रूपकों को नाटक ही कहा जाने लगा। नाटक अपनी सर्वग्राहिणी प्रकृति के कारण रूपक का स्थानापन्न

---

१. दशरूपक : प्रथम प्रकाश, का० ९

२. भावप्रकाशन : अष्टम अधिकार, पृ० २८१

बन गया है और सामान्य बोलचाल में 'नाटक' शब्द से दृश्यकाव्य के सभी भेदों का बोध हो जाता है। शास्त्रीय शब्द का यह अनुचित प्रयोग अत्यधिक प्रचलित हो गया है। नाटक को सभी रूपकों का प्रतिनिधि मान लेने में कोई बुराई नहीं है।

नाट्यशास्त्र-विषयक सभी लक्षण नाटक में पाये जाते हैं और इसमें सभी रसों का समावेश भी हो सकता है, यद्यपि इसमें वीर अथवा शृंगार रस की ही प्रधानता होती है। यही कारण है कि नाट्याचार्यों ने नाटक को नाट्य-प्रकृति कहा है।

धनंजय ने दशरूपक के तृतीय प्रकाश के प्रथम श्लोक में ही उन कारणों का निर्देश कर दिया है कि क्यों वे सर्वप्रथम नाटक का विवेचन दे रहे हैं :

प्रकृतत्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥[1]

धनंजय ने तीन कारणों का निर्देश किया है। पहला कारण है कि नाटक ही अन्य रूपक-भेदों की प्रकृति अथवा मूल है, अर्थात् नाटक में ही वस्तु, नेता अथवा रस में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर देने से प्रकरण आदि अन्य रूपक-भेदों की सृष्टि हो जाती है। दूसरा कारण है कि नाटक में ही रस का पूर्ण परिपाक होता है। यह रस-परिपाक अनेक रूपों में सम्भव है। नाटक में वीर या शृंगार कोई रस अंगी या प्रधान होता है और अन्य सभी रसों का भी सन्निवेश इसमें हो सकता है। तीसरा कारण है कि वस्तु, नेता और रस के सम्पूर्ण लक्षण नाटक में ही पाये जाते हैं। इन कारणों से नाटक सभी रूपकों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए, इसका पहले विवेचन किया गया।

नाटक का नायक प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न राजर्षि या राजा होता है, जो सर्वगुण सम्पन्न भी होता है। वह धीरोदात्त प्रकृति का तथा प्रतापी होता है। यहाँ धीरोदात्त, धीरोद्धत तथा धीरललित का भी उपलक्षण है। वह यश-कामना करनेवाला, उत्साही तथा वेदों का रक्षक होता है। नाटक का नायक दिव्यपुरुष (जैसे श्रीकृष्ण), अथवा दिव्यादिव्य (जो दिव्य होने पर भी अपने को अदिव्य समझे, जैसे श्रीराम) पुरुष भी हो सकता है, जिसमें उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान रहते हैं। उस नायक के विषय में इतिहास या पुराण में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक में आधिकारिक कथावस्तु रखा जाता है। यदि कवि नायक के सम्बन्ध में किसी कल्पित कथा का सन्निवेश प्रसिद्ध कथावस्तु में करना चाहता है, तो उसे प्रासंगिक ही रूप देना होगा। सभी इतिवृत्त नाटक के उपयुक्त नहीं हो सकते; केवल वे ही हो सकते हैं, जिनमें इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त कोई नायक वर्त्तमान हो। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल का नायक दुष्यन्त प्रसिद्ध कुलोत्पन्न राजर्षि है, कथानक भी प्रसिद्ध ही है। उत्तररामचरित के नायक श्रीरामचन्द्र भी धीरोदात्त राजर्षि हैं, अवतार होने से वे दिव्य व्यक्ति भी हैं। कथानक भी रामायण आदि में प्रख्यात ही है।

---

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, श्लोक १

यदि नायक के इतिवृत्त में कोई ऐसी बात पाई जाती हो, जो नायक की प्रकृति अथवा नाटक के प्रधान रस—वीर या शृंगार—के प्रतिकूल पड़ती हो, तो नाटककार को चाहिए कि उसमें ऐसा परिवर्त्तन कर दे, जिससे नायक के चरित्र का वह दोष नहीं रहे या रस का वह प्रतिकूल तत्त्व मिट जाय। कवि का अधिकार या कर्त्तव्य है कि वह उस अनुचित अंश को छोड़ दे या उसमें आवश्यक परिवर्त्तन ला दे। जैसे 'उदात्त राघव' के नाटककार ने राम के द्वारा छल से बालि-वध की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया। भवभूति ने महावीरचरित में दिखाया है कि रावण की मित्रता के कारण बालि राम के वध के लिए आता है और तब राम उसका वध कर देते हैं। दूसरा उदाहरण अभिज्ञान-शाकुन्तल का लिया जाय। पद्मपुराण में शापवाली घटना का कोई उल्लेख नहीं किया गया। इस तरह अकारण ही शकुन्तला को भूल जाने से दुष्यन्त के चरित्र की कामुकता तथा लम्पटता सूचित होती है। इसीलिए, कालिदास ने धीरोदात्त नायक दुष्यन्त का चरित्र दोष-रहित और अकलुषित रखने के लिए दुर्वासा के शाप की घटना की कल्पना की है।

जब नाटककार नायक या रस की दृष्टि से अनौचित्य का परिहार करके कथावस्तु को शुद्ध कर लेता है तब वह इस बात का विभाग कर लेता है कि कथावस्तु की कौन-कौन-सी बातें रंगमंच पर दिखाने की हैं और किनकी सूचना विष्कम्भकादि अर्थोपक्षेपकों के द्वारा देनी है। नाटक में कवि पाँचों अर्थ-प्रकृतियों, पाँचों अवस्थाओं और पाँचों सन्धियों तथा उनके अंगों की योजना करता है। अंक की व्यवस्था कार्य के आधार पर होती है। अंक में नायकादि का चरित प्रत्यक्ष रूप से दिखाया जाता है। नायक या तो स्वयं रंगमंच पर आता है या मंच पर घटित घटना उसके चरित्र से साक्षात् सम्बन्ध रखती है। अंक में कुछ बातों या घटनाओं को साक्षात् रूप से दिखाना वर्जित है। कुछ से हृदय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और कुछ व्यावहारिक दृष्टि से रंगमंच पर दिखाने के अनुपयुक्त हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि पाश्चात्त्य नाट्याचार्य युद्ध, वध आदि के दृश्य रंगमंच पर दिखाना अनुचित नहीं मानते; बल्कि त्रासदी में इन्हें रंगमंच पर दिखाना आवश्यक माना जाता है।

नाटक में पाँच से दस अंक तक रहते हैं। यदि किसी नाटक में दस अंक हों और सभी अर्थ-प्रकृतियाँ तथा सन्धियाँ हों, तो उसे महानाटक कहते हैं। शारदातनय ने पाँच अंकवाले नाटक का उदाहरण मारीचवंचित, छह अंकों का उदाहरण वेणीसंहार, सात अंकों का अभिज्ञानशाकुन्तल, आठ अंकों का नलविक्रम, नौ अंकों का देवी-परिणय तथा दस अंकों का उदाहरण बालरामायण दिया है। इस नियम का प्रायः पालन होता रहा है, परन्तु डॉ० कीथ ने ऐसे परवर्त्ती नाटकों के उदाहरण दिये हैं, जो नाटक होते हुए भी इस नियम के अपवाद-स्वरूप हैं। उन्होंने एक अंक के नाटक का उदाहरण रविदास का मिथ्याज्ञान-विडम्बना और दो अंकों का उदाहरण वेदान्तवागीश का भोजचरित दिया है। तीन और चार अंकों के नाटकों की भी विद्यमानता उन्होंने बताई है। उन्होंने ऐसे महानाटक का भी उल्लेख किया है, जिसमें चौदह अंक हैं। कविभूषण के अद्भुतार्णव में बारह अंक हैं।

नाटक में अंगी रस एक ही उपनिबद्ध होना चाहिए। अंगी रस या तो शृंगार हो या वीर। अन्य रसों का भी उपनिबन्धन हो सकता है, परन्तु वे सब अंगरूप में रहते हैं, अंगी रूप में नहीं। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का उपनिबन्धन होना चाहिए। कवि को चाहिए कि वह अनुभाव, विभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव के द्वारा अंगी रस को पुष्ट करे।

नाटक में अंक पर आचार्यों ने पूरा ध्यान दिया है। जो कथा वर्ष-भर की हो, उसे एक वर्ष से कम की बना लेना चाहिए। जो कथा महीने-भर अथवा वर्ष-भर की हो, उसे अंकच्छेद के द्वारा कम समय की कर देना चाहिए। एक अंक के कथानक की योजना इस प्रकार करनी चाहिए कि वह एक ही दिन की घटना से सम्बद्ध हो। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि वह एक ही प्रयोजन से सम्बद्ध हो। प्रायः सभी भारतीय नाट्याचार्य इस विषय में एक मत हैं। इस स्थल पर इस सिद्धान्त की तुलना ग्रीक विद्वान् अरस्तू के अन्विति-त्रय से की जा सकती है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अंक में एक ही दिन की घटना का, और विशेषतः एक ही प्रयोजन का, सन्निवेश क्रमशः कालान्विति और कार्यान्विति से सम्बन्ध रखता है। परन्तु, भारतीय नाटककारों ने स्थलान्विति पर कभी बल नहीं दिया। कालान्विति पर भी कोई विशेष बल नहीं है। परन्तु, प्रयोजन की एकता के कारण कार्यान्विति पर पूरा बल दिया गया है। अंक में मंच पर कभी पात्रों की भीड़ नहीं होनी चाहिए; केवल तीन या चार पात्रों का प्रवेश कराया जाय। अंक के अन्त में सभी पात्र निष्क्रान्त हो जायँ।

शारदातनय के अनुसार नाटक में जब ५ अर्थप्रकृतियाँ, ५ अवस्थाएँ, ६४ अंग, ४ वृत्तियाँ, ५ सन्धियाँ, २१ सन्ध्यन्तर, ३६ भूषण और ९० संगीतांग रहें; तभी वह पूर्ण होता है। इस दृष्टि से उन्होंने भोज के 'शृंगार-प्रकाश' का अनुसरण नहीं किया, जिसके अनुसार ६४ अंगों के ४ समूहों से नाटक में पूर्णता आती है। शारदातनय ने ६४ अलंकारों का उल्लेख किया है, जिनमें ५४ के लक्षण लिखे हैं। भरत के नाट्यशास्त्र के १६वें अध्याय में जिन ३६ भूषणों का उल्लेख हुआ है, उनमें से अधिकतर इनमें आ गये हैं, किन्तु शेष के मूल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। नाटक के विषय में शारदातनय ने अधिकतर भरत और धनंजय का अनुसरण किया है और मतभेद के स्थलों पर कोहल और मातृगुप्त के मतों का भी उल्लेख किया है।

शारदातनय ने नाटकों के वर्गीकरण के विषय में सुबन्धु का मत उद्धृत किया है। सुबन्धु ने नाटकों के पाँच प्रकार बताये हैं—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र। प्रथम प्रकार पूर्ण के उदाहरण के रूप में उन्होंने 'कृत्यारावण' रखा है; क्योंकि इसमें पाँचों सन्धियों का पूर्ण विकास हुआ है। द्वितीय भेद प्रशान्त में मुखादि के स्थान पर न्यासादि पाँच नई सन्धियाँ रहती हैं। 'स्वप्नवासवदत्ता' ऐसे नाटक का उत्तम उदाहरण है। तृतीय भेद भास्वर नाटकों में दूसरी ही पाँच सन्धियाँ रहती हैं। बालरामायण का उदाहरण दिया गया है। प्रथम सन्धि 'माला' का उदाहरण देने के लिए मुद्राराक्षस की एक घटना उद्धृत की

गई है, परन्तु प्रसंग के अनुरूप यह नहीं जान पड़ता। चतुर्थ भेद ललित नाटकों का उदाहरण विक्रमोर्वशीय दिया गया है। इस प्रकार के नाटकों की सन्धियों के उदाहरण देने के लिए वत्सराज, ययाति और राम की कथाओं की कुछ घटनाओं का उल्लेख किया गया है। पंचम भेद समग्र का उदाहरण महानाटक दिया गया है, जिसमें सभी वृत्तियों और लक्षणों की विशेषताएँ पाई जाती हैं।

नाटक सुखान्त या प्रसादान्त होना चाहिए। दुःखान्त नाटकों का निषेध है, यद्यपि इस निषेध का कोई कारण नहीं बताया गया है। नाटक का गद्य सरल होना चाहिए, और उसमें लम्बे समास नहीं होने चाहिए। पद्य भी मधुर और स्पष्ट होना चाहिए। इसमें अनेक प्राकृतों का प्रयोग होना चाहिए और कैशिकी या सात्त्वती वृत्ति होनी चाहिए। नाटक का शीर्षक नायक के नाम अथवा विषयवस्तु पर होना चाहिए और यही प्रायः हुआ भी है।

आचार्यों का कथन है कि नाटक के अंकों की रचना गो-पुच्छ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए। कुछ आचार्य इसका अर्थ लगाते हैं कि नाटक के अंक उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि गौ की पूँछ के कुछ बाल छोटे और कुछ बड़े होते हैं, उसी प्रकार कुछ कार्य मुखसन्धि में और कुछ आगे चलकर समाप्त हो जाने चाहिए। कुछ दूसरे विद्वान् इसका अर्थ यह करते हैं कि जैसे गौ की पूँछ के अग्रभाग में दो-ही-एक बाल सबसे बड़े दीखते हैं, उसी तरह नाटक का आरम्भ एकाध व्यापक बात से होना चाहिए और गाय की पूँछ के बालों के ही समान नाटक में क्रम से वृद्धि पाती हुई सभी कथाओं का उपसंहार समन्वय में हो जाना चाहिए। परन्तु, वास्तव में इसका तात्पर्य यह होना चाहिए कि थोड़े से आरम्भ करके मध्य भाग सर्वाधिक क्रियाशील होना चाहिए और अन्त में इस प्रकार कार्य-कलाप कम हो जाय कि नाटक के उपसंहार में अधिक समस्याओं का समाधान नहीं करना पड़े।

सभी रूपकों में नाटक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। वस्तुतः रूपक की पूर्णता नाटक में ही होती है। भरत मुनि आदि सभी आचार्यों ने इसे बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

प्रकरण : महत्त्व की दृष्टि से नाटक के बाद प्रकरण का स्थान आता है। यह प्रायः सभी बातों में नाटक के ही समान होता है। प्रकरण का कथानक प्रख्यात नहीं होता, प्रत्युत उत्पाद्य या कवि-कल्पित होता है। इसमें राजा-रानी की कथा न होकर मध्यम वर्ग के सामान्य व्यक्ति की कथा होती है, अर्थात् प्रकरण में लोकसंश्रय इतिवृत्त होता है। इसका नायक ब्राह्मण, मन्त्री और वणिक् में से कोई हो सकता है। ब्राह्मण नायक मृच्छकटिक में, अमात्य मालतीमाधव में और वैश्य पुष्पदूतिका में देख सकते हैं। नायक धीरप्रशान्त होता है और उसके कार्य की सफलता विघ्नों से युक्त होती है। वह कारणवश विपन्न हो गया रहता है और सम्पत्ति तथा प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा करता है, जिसमें उसे अन्ततः

सफलता मिलती है। प्रकरण का नायक त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम—में तत्पर रहता है। उदाहरणस्वरूप, मृच्छकटिक प्रकरण का कथानक कल्पित एवं लोक-संश्रय है। इसका नायक चारुदत्त ब्राह्मण है और धीरप्रशान्त कोटि में आता है। मालतीमाधव प्रकरण का भी कथानक उत्पाद्य और लोक-संश्रय है। इसका भी नायक ब्राह्मण तथा धीरप्रशान्त है। दोनों प्रकरणों में विपत्तियों को पार करने पर कार्य-सिद्धि होती है। मृच्छकटिक में शकार की दुष्टता के कारण विपत्तियाँ आती हैं और मालतीमाधव में मालती के पिता के वैर एवं भाग्य की विडम्बना के कारण। अन्त में, विपत्तियों का अन्त होता है और कार्य की सिद्धि होती है।

प्रकरण के नायक की नायिका दो प्रकार की होती है—या तो वह कुलीन स्त्री होती है या गणिका। किसी प्रकरण में नायिक अकेली कुलीन स्त्री ही होती है, जैसे पुष्प-दूतिका प्रकरण में; किसी प्रकरण में अकेली वेश्या ही नायिका होती है, जैसे तरंगदत्त प्रकरण में, और कुछ प्रकरणों में एक ही साथ कुलीन स्त्री और वेश्या नायिका-रूप में पाई जा सकती है; जैसे मृच्छकटिक में चारुदत्त की स्त्री और गणिका वसन्तसेना दोनों ही नायिकाएँ हैं। कुल-स्त्री आभ्यन्तर नायिका होती है और गणिका बाह्य नायिका। इस प्रकार की नायिका या तो कुल-स्त्री, या गणिका या दोनों ही हो सकती है—इस विषय में कोई व्यतिक्रम नहीं हो सकता। इस प्रकार, प्रकरण तीन तरह के हो जाते हैं—कुलजा-निष्ठ या शुद्ध, गणिका-निष्ठ या विकृत और उभयानिष्ठ या संकीर्ण।

प्रकरण में विट, चेट, शकार, सार्थवाह तथा अनेक प्रकार के धूर्त्तों का भी समावेश किया जा सकता है। ऐसा प्रकरण संकीर्ण या मिश्रित कहा जाता है। प्रकरण का मुख्य रस श्रृंगार होता है, यद्यपि धनंजय ने वीररस के भी समावेश की व्यवस्था दी है। इसमें नाटक की ही भाँति सन्धियों आदि तथा प्रवेशक का समावेश हो सकता है। नाटक के ही समान अंकों की संख्या पाँच से दस तक होती है। नायक या नायिका या दोनों के नाम पर शीर्षक रखा जाता है; जैसे मालतीमाधव और अश्वघोष का शारिपुत्र प्रकरण। किन्तु, ध्यान देने की बात है कि मृच्छकटिक का नाम नायक आदि पर नहीं है और प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण में चार ही अंक हैं, नियम के अनुसार पाँच अंक या अधिक नहीं। प्रकरण में कैशिकी वृत्ति होती है।

शारदातनय ने प्रकरण के तीन लक्षण दिये हैं; पहले दो तो भरत और धनंजय-वाले हैं, किन्तु तीसरे के उद्भव का पता नहीं। इस लक्षण के अनुसार विष्कम्भक प्रकरण में रखा जा सकता है। उन्होंने प्रकरण का एक नया उदाहरण पद्मावती-परिणय दिया है।

नाटक और प्रकरण : रूपकों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद नाटक है, परन्तु प्रकरण का महत्त्व बहुत अधिक है। नाटक के बाद प्रकरण ही सबसे प्रसिद्ध रूपक-भेद है। कवि नाटक के द्वारा लोकजीवन को प्रकृत रूप देने का प्रयास करता है। इसमें ख्यात कथा तथा ख्यात देश के साथ सहचर उदात्त चरित्र की परिकल्पना विद्यमान रहती है। यह उदात्त

चरित्र आदर्श मनोवृत्ति का परिचायक रहता है। नाटक के द्वारा आदर्शोन्मुख जीवन को रूप देने की परम्परा का संकेत प्राप्त होता है। यही कारण है कि संस्कृत-नाटकों के नायक वे ही आदर्श पुरुष बनाये गये हैं, जिन्होंने इतिहास, धर्म तथा संस्कृति की धारा में प्रगति लाने का प्रयास किया है। उन आदर्श चरित्रों के द्वारा धर्म एवं संस्कृति को नया बल तथा नवीन प्रेरणा मिली है।

नाट्यकला के उत्कर्ष की दृष्टि से प्रकरण की कल्पना नाटक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि की प्रतिभा के स्फुरण का अवकाश नाटक की अपेक्षा अधिक रहता है। यह सामान्य जीवन के स्वच्छ एवं तरल स्रोत से अनुप्राणित रहता है; अतएव भरत-कल्पित प्रकरण की भावना यथार्थोन्मुखी है, जबकि नाटक की भावना आदर्शोन्मुखी होती है। जहाँ तक सुख-दुःखात्मक दृष्टि का प्रश्न है, दोनों रूपक-भेदों में एक ही प्राणधारा का सरस स्पर्श रहता है। किन्तु, दो बातों में दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं—पहली बात है पात्रों का सामाजिक स्तर और दूसरी बात है कथा का स्रोत। पहले लिखा जा चुका है कि नाटक के पात्र उच्चवर्ग के राजा, मन्त्री, सेनापति आदि होते हैं, परन्तु प्रकरण के पात्र सामान्य जीवन से लिये जाते हैं। नाटक का कथास्रोत इतिहास, पुराण आदि हैं, परन्तु प्रकरण का कथानक कवि-कल्पित होता है।

भाण : धूर्तों के चरित्र से युक्त, अनेक अवस्थाओं से व्याप्त, भाण एक अंक का रूपक होता है। इसमें कोई अत्यन्त चतुर एवं बुद्धिमान् विट अपने द्वारा अनुभूत अथवा अन्य व्यक्तियों द्वारा अनुभूत धूर्त्त, चोर, जुआरी आदि लोगों के चरित का वर्णन करता है। यहाँ विट ही अकेला पात्र होता है; रंगमंच पर कोई दूसरा पात्र नहीं होता। वही आकाश-भाषित के सहारे किसी से वार्त्तालाप या भाषण करता दिखाया जाता है। आकाश-भाषित के ही द्वारा वह सम्बोधन अथवा उक्ति-प्रत्युक्ति करता जाता है। इसमें कोई रस स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होता, अतः सौभाग्य और शौर्य के वर्णन के द्वारा क्रमशः शृंगार तथा वीररस व्यक्त होते हैं। भाण में भारती वृत्ति की प्रधानता रहती है, परन्तु कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी रहती है। इतिवृत्त प्रख्यात नहीं होकर कवि-कल्पित होता है। इसमें पाँचों सन्धियों का समावेश नहीं हो सकता, अतः मुख तथा निर्वहण दो ही सन्धियों की योजना की जाती है। भाण में दस लक्ष्यांगों का समावेश होता है। शारदातनय ने एक नया अंग भाविक जोड़ दिया है, जिसका लक्षण भी उन्होंने दिया है। विश्वनाथ ने लीला-मधुकर का उदाहरण दिया है। शारदातिलक भी बहुत प्रसिद्ध है। शारदातनय ने धनंजय, भोज और कोहल के आधार पर भाण की परिभाषा दी है। जबतक कोहल की पुस्तक का पता नहीं चलता, तबतक यह कहना कठिन है कि यह कोहल का उद्धरण है या मात्र उनके विचारों का पद्यमय रूप।

संक्षेप में भाण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

१. भाण का इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है, नाटक के समान प्रख्यात नहीं। इसमें धूर्त्त-चरित रहता है।

२. इसका नायक विट होता है। दूसरा कोई पात्र नहीं होता। वह वार्त्तालाप आकाश-भाषित के सहारे करता है।

३. इसमें पाँचों सन्धियाँ नहीं हो सकतीं; केवल मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं।

४. इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता रहती है, कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी रहती है।

५. इसमें स्पष्ट रूप से कोई रस नहीं रहता, परन्तु शृंगार तथा वीररस की सूचना होती है।

६. भाण में एक ही अंक होता है।

डॉ० भोलाशंकर व्यास ने दशरूपक की टीका में भाण के विषय में लिखा है, उसे साभार उद्धृत किया जा रहा है—'भाण कई अवस्थाओं में—पाश्चात्य पद्धति के एकाभिनय (मोनो-ऐक्टिंग) से मिलता है। उसमें भी इसी की तरह एक ही पात्र अभिनय करता है। संस्कृत-साहित्य के रूपक-साहित्य में भाण का विशेष स्थान रहा है। ८वीं शती से १७वीं-१८वीं शती तक सैकड़ों भाण लिखे गये। वामन, भट्ट, बाण, युवराज, राजवर्मा आदि अनेकों ने भाण को एक सुन्दर साहित्यिक रूप दिया। भाण के द्वारा कवि सामाजिक कुरीतियों पर भी बड़ा गहरा व्यंग्य कसता है। सामाजिक कुरीतियों का पर्दाफाश करने के लिए कवि के पास भाण व प्रहसन—ये दो बड़े अस्त्र थे। किन्तु, दोनों की प्रणाली में गहरा भेद है। भाण की व्यंग्य-प्रणाली बड़ी गम्भीर व उद्धत होती है; प्रहसन की छिछली। यही कारण है कि भाण का रस हास्य नहीं होता है, प्रहसन का हास्य होता है। संस्कृत के भाणों में अधिकतर वेश्याओं के वर्णन, उनके बाजारों के वर्णन, उनसे सम्बद्ध दूसरे धूर्त्त व जुआरियों के वर्णन मिलेंगे। भाणों में सर्वत्र शृंगार की प्रधानता मिलती है, वीर की बहुत कम। इनके प्राकृतिक वर्णन भी शृंगार से प्रभावित होते हैं।'[1]

भाण के विषय में दस लास्यांगों का उल्लेख किया गया है। ये लास्यांग संगीत के भेद हैं। धनंजय, विश्वनाथ आदि ने लास्यांगों का वर्णन किया है। लास्य में निम्नलिखित दस अंगों की कल्पना की जाती है—गेय पद, स्थित पाठ्य, आसीन, पुष्प-गण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ़, सैन्धव, द्विगूठक, उत्तमोत्तमक तथा उक्त-प्रत्युक्त। यहाँ इन सबका वर्णन करना अनावश्यक है।

प्रहसन : प्रहसन का कथानक कवि-कल्पित तथा लोक-संश्रय होता है। इस बात का पर्याप्त संकेत मिलता है कि इसकी उत्पत्ति सामान्य जनता की रुचि के अनुसार हुई होगी। इसमें मुख्यत: निम्नकोटि के पात्रों के चरित्र या कारनामों का चित्रण रहता है। भाण के समान ही इसमें वस्तु, सन्धि (मुख तथा निर्वहण) सन्ध्यंग, लास्यांग आदि होते हैं। भाण के समान इसमें एक ही अंक होता है। प्रहसन में हास्य-रस प्रधान रहता है। भरत ने प्रहसन के दो भेद किये हैं—शुद्ध तथा संकीर्ण, किन्तु धनंजय ने तीन भेद किये—

१. दशरूपक (टीका०—डॉ० भोलाशंकर व्यास), पृ० १७४

शुद्ध, विकृत तथा संकर। भरत के अनुसार शुद्ध प्रहसन में तपस्वी, ब्राह्मण, कापुरुष आदि पात्रों के द्वारा परिहास-भाषण होता है और संकीर्ण प्रहसन में वेश्या, दास-दासी, नपुंसक, विट, धूर्त आदि अपनी विचित्र वेशभूषा और चेष्टाओं के द्वारा हास्य उत्पन्न करते हैं।

धनंजय के अनुसार शुद्ध प्रहसन के पात्र पाखण्डी (बौद्ध और जैन भिक्षु), ब्राह्मण, दास-दासियाँ आदि हैं। इनकी वेशभूषा तथा भाषा के अनुरूप इनकी चेष्टाएँ होती हैं, और इनका कथोपकथन हास्ययुक्त होता है। विकृत प्रहसन वह कहा जाता है, जहाँ ऐसे नपुंसक कंचुकी या तपस्वी पात्र नियोजित किये जायँ, जो कामुकों के वचन तथा वेश का प्रयोग करें। संकीर्ण प्रहसन वह होता है, जिसके पात्र धूर्त व्यक्ति हों। संकीर्ण में वीथ्यंगों का मिश्रण होता है। इसमें केवल हास्य-रस का प्रयोग होता है और हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित—इन छह रूपों का सन्निवेश होता है। इस प्रकार, धनंजय के विकृत तथा संकर प्रहसनों का अन्तर्भाव भरत के संकीर्ण प्रहसन में हो जाता है। विश्वनाथ ने शुद्ध प्रहसन का उदाहरण 'कन्दर्पकेलि' दिया है। उन्होंने संकीर्ण प्रहसन में एक या अनेक धृष्टों की स्थिति स्वीकार की है। ऐसी दशा में प्रहसन में दो अंक भी हो सकते हैं, जैसे लटकमेलक। शारदातनय ने शुद्ध प्रहसन का उदाहरण सागरकौमुदी, विकृत का कलिकेलि और संकीर्ण का सैरन्ध्रिका दिये हैं। किन्तु, दुर्भाग्यवश ये सभी अप्राप्य हैं।

प्रहसन में आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होतीं; विष्कम्भक और प्रवेशक का भी सन्निवेश नहीं किया जाता।

कुछ यूरोपीय विद्वानों का मत है कि प्रहसन की भी उत्पत्ति प्राचीन कामदी (old comedy) के ही समान लिंगोत्सव से हुई होगी। प्रहसन के विषय के सम्बन्ध में श्रीविल्सन का कथन है :

"Unlike the Aristophanic comedy, however, it is not levelled at the many headed mob, but in general at the sanctified and previleged orders of the community, as ascetics, Brahmans, men of rank and wealth, and priests".[१]

प्रहसनों में व्यंग्य का मुख्य लक्ष्य समाज का वह अंग होता था, जिसे धार्मिक या राजनीतिक या आर्थिक दृष्टि से विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। ब्राह्मण, संन्यासी, मन्त्री, सेनापति, राजकुमार, सेठ आदि पर मुख्य रूप से प्रहार होते थे। राजकुमार, मन्त्री, सेठ आदि पर अधिकार के दुरुपयोग के कारण नहीं, वरन् धन के दुरुपयोग के कारण अधिक व्यंग्य किया जाता था। व्यंग्य का कारण यह नहीं था कि वे अत्याचारी तथा निरंकुश थे, अपितु यह था कि वे निम्नकोटि के विलास में आकण्ठ निमग्न थे। ब्राह्मण तथा संन्यासी पर कामुकता तथा ढोंग के कारण व्यंग्य किया जाता था। श्रीविल्सन ने भारतीय प्रहसनों को यूनानी कामदियों से बहुत घटिया किस्म का माना है।

१. The Theatre of the Hindus, p. 27.

"It is their extreme indelicacy that they resemble although perhaps they scarcely equal, the Greek Comedy; but they have not its redeeming properties, exuberant gaiety and brilliant imagination; they have some causticity and humour, but they are deficient in the high merits of poetry and wit".[1]

भाण और प्रहसन की तुलना : भाण और प्रहसन परस्पर मिलते-जुलते हैं। कई बातों में इनमें साम्य है और कुछ में वैषम्य। नीचे के कोष्ठ में तुलना की जा रही है :

साम्य : १. दोनों का कथानक कवि-कल्पित और लोक-संश्रय रहता है।
२. दोनों के सहारे कवि सामाजिक कुरीतियों और ढोंगों पर प्रहार करता है।
३. दोनों में धूर्त चरित्र रहते हैं।
४. दोनों में से किसी में भी पाँचों सन्धियाँ नहीं रहतीं, केवल मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं।
५. दोनों में एक ही अंक रहता है।
६. दोनों में समान वृत्तियाँ होती हैं।

वैषम्य : १. भाण में एक ही पात्र रहता है, परन्तु प्रहसन में अनेक पात्र रहते हैं।
२. भाण का नायक विट होता है, जो किसी कला में दक्ष रहता है। प्रहसन का नायक कोई भी निम्नकोटि का पात्र हो सकता है।
३. भाण में स्पष्ट रूप से कोई रस नहीं रहता; शृंगार या वीर की सूचना होती है। प्रहसन में हास्य-रस रहता है।

डिम : डिम बहुत अल्पज्ञात रूपक है, यद्यपि नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का उल्लेख किया है। इसका इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण आदि से गृहीत एवं प्रख्यात तथा इतिहास-प्रसिद्ध होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति वर्जित है, शेष सात्त्वती, आरभटी और भारती––तीन वृत्तियों का समावेश होता है। इसके नेता मनुष्येतर जाति के—देवता, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग आदि होते हैं और भूत, प्रेत, पिशाच आदि का भी समावेश डिम में हो सकता है। इसके पात्र बड़े उद्धत होते हैं और उनकी संख्या १६ होती है। इसमें शृंगार और हास्य रसों का समावेश नहीं होता, शेष वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक रस पाये जाते हैं। किन्तु, प्रधान रस रौद्र ही होता है। डिम में माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाएँ वर्णित रहती हैं और सूर्य-ग्रहण तथा चन्द्रग्रहण के दृश्य प्रायः दिखाये जाते हैं। इसमें केवल चार अंक होते हैं और विमर्श सन्धि के अतिरिक्त शेष चार सन्धियों—मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण—का समावेश पाया जाता है। डिम में विष्कम्भक तथा प्रवेशक नहीं होते।

---

१. The Theatre of the Hindus, p. 27-28.

स्पष्ट है कि अपर्याप्त सामग्री के ही आधार पर इस रूपक-भेद का वर्णन किया गया है। सम्भव है कि आरम्भ में सामान्य जनता के बीच इससे मनोरंजन होता रहा हो, परन्तु इसे पूर्ण मान्यता नहीं मिल सकी। धनिक ने इसकी उत्पत्ति डिम संघाते धातु से मानी है, जिसका अर्थ घात-प्रतिघात करना माना है, किन्तु अन्य विद्वानों (कीथ आदि) का कथन है कि ऐसी कोई धातु नहीं है।

डिम के लक्षण के विषय में शारदातनय भरत तथा धनंजय से सहमत हैं। इस प्रसंग में एक बात ध्यातव्य है। डिम के लक्षण के विषय में धनिक ने दशरूपक की टीका **दशरूपकावलोक** में भरत का एक श्लोक उद्धृत किया है :

इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥[1]

यह श्लोक नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता, किन्तु इसका पूर्वार्द्ध भावप्रकाशन में मिलता है और उत्तरार्द्ध दूसरा ही है :

इदं त्रिपुरदाहाख्ये लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
उदाहरणमेतस्य वृत्रोद्धरणमुच्यते ॥[2]

इसका उत्तरार्द्ध भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। इस श्लोक के अनुसार डिम का लक्षण आरम्भ में ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह डिम में दिया था, जिसका अभिनय शिवजी के सामने हुआ था। शारदातनय ने डिम के दो उदाहरण वृत्रोद्धरण और तारकोद्धरण दिये हैं, परन्तु ये दोनों अप्राप्य हैं।

व्यायोग : व्यायोग की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है और इसमें किसी प्रसिद्ध उद्धत पौराणिक व्यक्ति या राजर्षि का चरित चित्रित रहता है। व्यायोग में स्त्रियाँ बहुत थोड़ी होती हैं, और पुरुषों का बाहुल्य रहता है। इसमें गर्भ तथा विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं, शेष मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण नामक सन्धियाँ होती हैं। रसों की योजना डिम की ही तरह होती है, अर्थात् वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण तथा भयानक रस पाये जाते हैं। इसमें युद्ध का वर्णन रहता है, परन्तु वह युद्ध स्त्री-प्राप्ति के निमित्त नहीं होता, जैसे जामदग्न्य नामक व्यायोग में परशुराम का युद्ध वर्णित है, जो स्त्री-प्राप्ति के लिए नहीं हुआ है। व्यायोग की कथा एक ही दिन की होती है और इसमें एक ही अंक होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं होती। यह रूपक-भेद काफी पुराना है; क्योंकि भास ने भी व्यायोग की रचना की है। सांगन्धिकाहरण व्यायोग का उदाहरण है।

समवकार : समवकार का वर्णन सम्भवतः एक ही रचना 'समुद्रमन्थन' के आधार पर किया गया है, जिसमें अमृत की प्राप्ति के लिए देवताओं और दानवों के द्वारा समुद्र के

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, पृ० ५९
२. भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २४८

मन्थन की कथा है। समवकार में भी नाटक की ही तरह आमुख की योजना की जानी चाहिए। इसका इतिवृत्त इतिहास और पुराण-प्रसिद्ध प्रख्यात होता है, जिसमें देवताओं और दैत्यों की कथा वर्णित होती है। इसमें विमर्श के अतिरिक्त शेष चार सन्धियों की योजना होनी चाहिए और कैशिकी के अतिरिक्त शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमें तीन अंक होते हैं। उनमें से प्रथम अंक में दो सन्धियाँ मुख तथा प्रतिमुख और द्वितीय तथा तृतीय अंकों में एक-एक सन्धि होती है। इसमें बारह उदात्त देवता तथा दानव पात्र निबद्ध होते हैं और सभी पात्रों का फल पृथक्-पृथक् होता है; जैसे समुद्रमन्थन में विष्णु आदि सभी पात्रों को लक्ष्मी आदि भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं। ये सभी पात्र वीररस से पूर्ण होते हैं, फलस्वरूप समवकार का अंगी रस वीर होता है, शेष रस अंग होते हैं।

समवकार में बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति तथा प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक नहीं होते। प्रहसन के समान इसमें भी आवश्यकतानुसार तेरह वीथ्यंगों की योजना की जाती है। गायत्री, उष्णीक् आदि अनेक प्रकार के छन्दों का इसमें प्रयोग किया जाता है। इसमें नगरावरोध तथा युद्ध, वात, अग्नि आदि उत्पातों के कारण विद्रव का वर्णन किया जाता है। प्रत्येक अंक में तीन बार कपट, तीन प्रकार का श्रृंगार तथा तीन बार पात्रों में विद्रव या भगदड़ की योजना की जानी चाहिए। इसके प्रथम अंक में १२ नालिका (२४ घड़ी), द्वितीय अंक में ४ नालिका (८ घड़ी), तृतीय अंक में २ नालिका (४ घड़ी) की कथा होनी चाहिए। नालिका का अर्थ दो घड़ी है।

श्रृंगार तीन प्रकार का होता है—धर्मश्रृंगार, अर्थश्रृंगार तथा कामश्रृंगार। शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करके जिस श्रृंगार में प्रवृत्त हुआ जाता है, उसे धर्म-श्रृंगार कहते हैं। धन के लिए जिस श्रृंगार में प्रवृत्ति होती है उसे अर्थश्रृंगार और जो काम के ही अनुगुण हो उसे कामश्रृंगार कहते हैं। कामश्रृंगार समवकार के प्रथम ही अंक में होता है, अन्य श्रृंगारों के लिए कोई विशेष नियम नहीं। स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज—तीन प्रकार का कपट होता है। चेतन, अचेतन और चेतनावचेतन के द्वारा किया हुआ तीन प्रकार का विद्रव होता है। चेतन मनुष्य आदि, अचेतन अग्नि आदि और जो कुछ चेतन तथा कुछ अचेतन हों, उन्हें चेतनाचेतन कहते हैं; जैसे हाथी आदि। समवकार का सर्वोत्तम उदाहरण समुद्र-मन्थन है। भास के पांचरात्र में भी ये लक्षण कुछ अंशों में लागू होते हैं।

समवकार के विषय में भी शारदातनय ने भरत और धनंजय का अनुकरण किया है। केवल नालिका तथा कपट की परिभाषाओं में थोड़ा अन्तर है। शारदातनय ने कपट की दो परिभाषाएँ दो आचार्यों के आधार पर दी हैं, किन्तु दोनों में से कोई भी नाट्यशास्त्र या दशरूपक में नहीं है।

वीथी : धनिक ने वीथी का अर्थ मार्ग बताया है और यह रूपक-भेद—वीथी—मार्ग के समान है, इसलिए इसे वीथी कहते हैं। परन्तु, डॉ० कीथ ने वीथी का अर्थ 'माला'

लगाया है और उनका कथन है कि कोई भी आचार्य 'वीथी' नाम की व्याख्या नहीं कर सका है। कीथ अर्थ लगाते हैं कि इसमें कई रस माला की तरह गुँथे रहते हैं। इसीलिए, इसे वीथी (माला) कहते हैं।

यह रूपक-भेद कई बातों में भाण से मिलता-जुलता है। इसमें भी एक ही अंक होता है, और आकाश-भाषित से अधिक काम लिया जाता है। इसमें भी दो ही सन्धियाँ—मुख और निर्वहण—होती हैं, परन्तु सभी अर्थप्रकृतियाँ रहती हैं। इसमें शृंगार रस होता है, किन्तु रस का पूर्ण परिपाक नहीं होने से वह सूच्य होता है। अन्य रसों का भी स्पर्श रहता है। शृंगार रस के ही कारण इसमें कैशिकी वृत्ति का विधान है। वीथी में एक या दो पात्र रहते हैं और यह तेरह अंगों से युक्त होती है। वे अंग हैं—उद्घात्यक, अवलगित, प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिवल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव। भरत और विश्वनाथ ने सबके विस्तार से लक्षण और उदाहरण दिये हैं।

शारदातनय ने वीथी के विषय में लिखते समय लास्यांगों के विषय में भी लिखा है और इस प्रसंग में उन्होंने कोहल और भोजराज के मतों का उल्लेख किया है। कोहल का मत है कि लास्यांग केवल ऐच्छिक है, परन्तु भोजराज इन्हें अनिवार्य मानते हैं। विश्वनाथ ने वीथी का एकमात्र उदाहरण मालविका (मालविकाग्निमित्र नहीं) दिया है। मालतीमाधव के प्रथम अंक का नाम बकुल वीथी दिया गया है, परन्तु यह वीथी का उदाहरण किसी भी प्रकार नहीं समझा जा सकता।

अंक अथवा उत्सृष्टिकांक : अंक को उत्सृष्टिकांक भी कहा गया है। इसका कारण यह है कि नाटक या अन्य रूपकों में वर्णित अंक से इसका अन्तर स्पष्ट हो जाय। दूसरे लोग कहते हैं कि इसमें सृष्टि उत्क्रान्त अर्थात् विपरीत रहती है, इसलिए इसे उत्सृष्टिकांक कहते हैं। अंक का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है, पर कवि अपनी कल्पना से उसे परिवर्त्तित या परिवर्द्धित कर देता है। इसके नेता और अन्य पात्र सामान्य व्यक्ति होते हैं। इसमें सन्धि, वृत्ति तथा अंक भाण के ही समान होते हैं। भाण के ही समान अंक में भी मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। भरत ने अंक में केवल भारती वृत्ति को स्वीकार किया है और शेष तीनों वृत्तियों—कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी—का निषेध किया है। धनंजय और विश्वनाथ ने भरत का ही अनुकरण किया, परन्तु शारदातनय ने केवल कैशिकी को अनावश्यक माना है। धनंजय, विश्वनाथ आदि ने अंक में एक ही अंक माना है, परन्तु शारदातनय ने लिखा है कि अंक या उत्सृष्टिकांक में भरत के अनुसार एक, कोहल के अनुसार दो और व्यास तथा आंजनेय के अनुसार तीन अंक होने चाहिए।

अस्याङ्कमेकं भरतो द्वावङ्काविति कोहलः।
व्यासाञ्जनेयगुरवः प्राहुरङ्कत्रयं यदा ॥[1]

१. भावप्रकाशन, षष्ठ अधिकार, पृ० २५१

वर्त्तमान नाट्यशास्त्र में किसी संख्या का निर्देश नहीं है; इससे विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि सम्भवत: किसी अन्य प्राचीनतर भरत का यह मत रहा होगा। इसका स्थायी रस करुण होता है और स्त्रियों के विलाप के साथ पात्रों में वाग्युद्ध तथा जय-पराजय की योजना की जाती है। परन्तु, ये सब रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किये जाते। इसमें निर्वेद के भी वचन होते हैं। विश्वनाथ ने अंक का उदाहरण 'शर्मिष्ठा-ययाति' दिया है।

शारदातनय ने बताया है कि यद्यपि अंक में युद्ध, विलापादि की योजना होती है, परन्तु यह सदा सुखान्त होना चाहिए। भरत इस विषय में मौन हैं। प्राचीनकाल में दिव्य नायकों में जो युद्ध हुए हैं, उनका वर्णन भारतवर्ष में ही होना चाहिए; क्योंकि यही भूमि कर्मभूमि रही है :

कस्माद् भारतमिष्टं वर्षेभ्यस्तस्य कर्मभूमित्वात् ॥[1]

रूपक के इस भेद के उदाहरण देने के लिए शारदातनय ने तीन उत्सृष्टिकांकों का उल्लेख किया है—शक्ति से लक्ष्मण की मृत्यु, नागानन्द में जीमूतवाहन का वध तथा चन्द्रापीड का मरण, जहाँ नायक पुनर्जीवित हो गये हैं और रूपक सुखान्त हो गये हैं।

ईहामृग : ईहामृग का इतिवृत्त मिश्रित होता है, अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध, प्रख्यात और कल्पना का मिश्रण इसके कथानक में होता है। इसमें चार अंक होते हैं और मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण—तीन सन्धियाँ होती हैं। इसके नायक तथा प्रतिनायक प्रख्यात इतिहास-प्रसिद्ध धीरोदात्त मनुष्य अथवा देवता होते हैं। प्रतिनायक ज्ञान की भ्रान्ति के कारण अनुचित कर्म करनेवाला वर्णित होता है अथवा वह प्रच्छन्न रीति से पापाचरण करता है। इसमें प्रतिनायक ऐसी दिव्य नारी का अपहरण करना चाहता है, जो उससे प्रेम नहीं करती; इस प्रकार कवि इसमें कुछ श्रृंगाराभास भी प्रदर्शित करता है। ईहामृग का मुख्य तथ्य यह है कि किसी दिव्य अथवा अदिव्य नायक के पास से प्रतिनायक उसकी प्रेमिका का अपहरण करना चाहता है, फलस्वरूप दोनों में संघर्ष होता है, परन्तु कभी वास्तविक युद्ध नहीं होता। नायक और प्रतिनायक के विरोध को पूर्णता तक पहुँचाकर किसी बहाने से युद्ध का निवारण कर दिया जाता है। अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होकर युद्ध की पूरी तैयारी हो जाती है, परन्तु किसी बहाने वह टल जाता है। वध के अत्यन्त निकट होने पर प्रतिनायक का वध नहीं कराया जाता, अर्थात् प्रतिनायक का वध इतिहास-प्रसिद्ध होने पर भी ईहामृग में प्रदर्शित नहीं किया जाता। महात्मा लोग वध योग्य होने पर भी मारे नहीं जाते, छोड़ दिये जाते हैं।

ईहामृग में कैशिकी वृत्ति के अतिरिक्त शेष तीन वृत्तियाँ रहती हैं। विश्वनाथ ने एक मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार इसमें एक ही अंक रहता है, एक ही देवता नायक होता है; परन्तु अन्यों का मत है कि छह नायक होते हैं और दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होता है :

---

१. भावप्रकाशन, षष्ठ अधिकार, पृ० २५२

एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः ।
स्त्रीदिव्यहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे ॥[1]

विश्वनाथ ने ईहामृग का उदाहरण 'कुसुमशेखर-विजय' दिया है। धनंजय ने ईहामृग नाम का कारण बताया है। इसमें नायक मृग के समान किसी अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है, इसीलिए इसका नाम ईहामृग रखा गया।

नाटक और प्रकरण से अन्य आठ रूपक-भेदों में मुख्य अन्तर यही जान पड़ता है कि नाटक और प्रकरण में पाँचों सन्धियों की योजना अनिवार्य है, परन्तु अन्य रूपक-भेदों में नहीं। कभी-कभी तो इनमें से अधिकांश की योजना नहीं ही होती। भाण, प्रहसन, वीथी तथा उत्सृष्टिकांक छोटे रूपक हैं। भाण तथा प्रहसन में तो एक ही या दो पात्र रहते हैं और उनमें नायक स्वयं रंगमंच पर नहीं आता। जिन व्यक्तियों की चर्चा होती है, रंगमंच पर उनका रूप-विधान नहीं होता। लगभग ऐसी ही बात वीथी और उत्सृष्टिकांक के भी विषय में कही जा सकती है। वास्तव में ये अपने समय में तमाशे ही रहे होंगे। वास्तविक अर्थ में इन्हें रूपक कहने में हिचक होती है। अनुकार्य के रूप के आरोप से ही रूपक होता है, परन्तु इनमें अनुकार्य का आरोप स्पष्ट नहीं होता। जितना आरोप होता है, उतना तो काव्य-पाठक और कथा-वाचक पर भी होता है।

उपरूपक

आदिलेखक : परवर्ती आचार्यों ने अनेक उपरूपकों का भी उल्लेख किया है। दस प्रकार के रूपकों या प्रधान नाट्यों का मुख्य उद्देश्य सामाजिक या दर्शक के मन में रसों की जागृति है, किन्तु नाट्य के अन्य भेदों, अर्थात् उपरूपकों का मुख्य उद्देश्य दर्शक के मन में उचित भंगिमा द्वारा भावों को जागरित करना है, इसीलिए इन्हें नृत्य कहते हैं। वर्त्तमान नाट्यशास्त्र में इन उपरूपकों का कोई उल्लेख नहीं है, अतः इनकी उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। यद्यपि नाट्यशास्त्र में उल्लेख नहीं है, फिर भी कुछ ऐसे उद्धरण पाये जाते हैं, जिनसे उपरूपकों का कृतित्व, कुछ विद्वानों द्वारा, भरत को ही दिया जाता है, किन्तु वहाँ १५ ही नाम हैं और कुछ परिवर्त्तनों के साथ। नाट्यशास्त्र में कुछ ऐसी कारिकाएँ हैं, जिनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि कोहल ने उपरूपकों की कल्पना की थी।[2]

वस्तुतः, कोहल और उनके अनुयायियों ने नाट्यवेद को नाट्यकारी के निकट पहुँचाने में बड़ा काम किया। उपरूपकों का एक भेद तोटक है, जिसका लक्षण हर्ष ने दिया है। इससे सिद्ध होता है कि हर्ष के समय के पूर्व ही उपरूपकों की स्थिति थी। शारदातनय ने हर्षकृत तोटक का यह लक्षण उद्धृत किया है :

१. साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक २४९-५०

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ३७, का० १८, २४, २५

दिव्यमानुषसंयोगे यत्राङ्कैरविदूषकः ।
तदेव तोटकभेदो नाट्यस्येति च हर्षवाक् ॥[1]

नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय के अन्तिम अंश पर अभिनवगुप्त ने जो टीका लिखी है, उसमें उन्होंने उपरूपकों के साथ कोहल का सम्बन्ध बताया है। इससे इस कथन को बल मिलता है कि कोहल ही उपरूपकों के जन्मदाता रहे होंगे।

हेमचन्द्राचार्य ने काव्यानुशासन में इस मत की पुष्टि की है।[2]

उपरूपकों और उनकी संख्या के विषय में एक संकेत 'दशरूपकावलोक' में धनिक द्वारा उद्धृत किसी अज्ञात आचार्य के एक श्लोक में मिलता है, जिसमें उपरूपकों की संख्या ७ बताई गई है और इन्हें भाण की श्रेणी में रखा गया है :

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी-प्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥
इति रूपकान्तराणामपि ।[3]

अग्निपुराण में कुछ नामों में परिवर्त्तन करके १७ उपरूपक गिनाये गये हैं।[4] तदुपरान्त अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की अपनी टीका में उपरूपकों का उल्लेख किया है और 'तदुक्तं चिरन्तनैः' लिखकर किसी प्राचीन ग्रन्थ से बहुत-से उद्धरण दिये हैं।

'चिरन्तन' कहकर जिस सर्वप्रथम आचार्य के उद्धरण अभिनवगुप्त ने दिये हैं, उसका पता नहीं चलता; परन्तु वे ही श्लोक हेमचन्द्र और शारदातनय ने उद्धृत किये हैं।[5] कालक्रम से इनके बाद भोज के श्रृंगारप्रकाश का स्थान आता है, जिसमें १४ उपरूपकों के लक्षण पद्य में दिये गये हैं। वे सभी श्लोक भावप्रकाशन में भी पाये जाते हैं, जो शारदातनय के श्लोकों के साथ मिल-जुल गये हैं। उपरूपकों का विवेचन करने के पूर्व भोज ने १० रूपकों का विवेचन किया है और भरत के नाट्यशास्त्र के १८वें अध्याय में दिये गये श्लोक उद्धृत किये हैं। साथ ही उन्होंने यह भी लिख दिया है कि मैंने इस विषय में भरताचार्य का अनुसरण किया है। किन्तु, उपरूपकों के विषय में भोज ने किसी आचार्य का उल्लेख नहीं किया, जिसका उन्होंने अनुसरण किया हो। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत ने दस ही रूपकों का वर्णन किया और उपरूपक की कल्पना परवर्त्ती काल की है। तब भोज ने नाटिका और सट्टक का वर्णन किया है; क्योंकि ये नाटक और प्रकरण से प्रत्यक्ष रूप से निकले हैं। इन दो रूपकों के बाद बारह अन्य उपरूपकों का वर्णन हुआ है। इन

१. भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २३८
२. काव्यानुशासन, पृ० ३२५–३२९
३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ८ के बाद
४. अग्निपुराण, ३३७।२।४
५. काव्यानुशासन, पृ० ३२७-२८ ; भावप्रकाशन, नवम अधिकार, पृ० २६५।२३; ६६, १४

चौदह प्रकार के उपरूपकों के विषय में स्पष्ट है कि भोज ने किसी अज्ञात और प्राचीन आचार्य के श्लोक उद्धृत किये हैं, जो भरत के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति है। जिस प्रकार भोज ने दस रूपकों के विषय में भरत के श्लोक उद्धृत किये, उसी प्रकार इन चौदह उपरूपकों के विषय में किसी अन्य आचार्य के श्लोक उद्धृत किये, यद्यपि उन्होंने किसी आचार्य का नाम नहीं लिया है।

अग्निपुराण में जिन (१७ या १८) उपरूपकों के नाम दिये गये हैं, वे भी बहुत प्राचीन नहीं माने जा सकते; क्योंकि उस पुराण में ध्वन्यालोक के उद्धरण हैं और भोज के शृंगाररस के सिद्धान्त के साथ उसकी सबल समता है। इन तथ्यों पर ध्यान देने से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस काल में भरत ने नाट्यशास्त्र की रचना की थी, उस काल में इन उपरूपकों की कल्पना नहीं हुई थी, किन्तु धनिक के काल के पूर्व ही इनकी कल्पना हो गई थी; क्योंकि दशरूपक में नाटिका का वर्णन है और धनिक ने सात उपरूपकों का उल्लेख किया है। इनका समय वस्तुतः अनिश्चित है। सम्भवतः कोहल ने उपरूपकों की कल्पना की थी। विश्वनाथ ने १८ उपरूपकों का वर्णन किया है। धनिक से लेकर विश्वनाथ तक जितने आचार्यों ने उपरूपकों की सूची दी है, सम्भवतः शारदातनय की सूची सबसे लम्बी है, जिन्होंने २०-२० भेदों की दो सूचियाँ दी हैं। किन्तु, पहली सूची में सट्टक को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है और भाण को छोड़ दिया गया है। दूसरी सूची में सट्टक के स्थान पर भाण का उल्लेख हुआ है और सट्टक को नाटिका में ही अन्तर्हित कर लिया गया है।

उपरूपक के भेद : कविराज विश्वनाथ ने उपरूपक के निम्नलिखित १८ भेद माने हैं : १. नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४. सट्टक, ५. नाट्यरासक, ६. प्रस्थानक, ७. उल्लास्य, ८. काव्य, ९. प्रेंखण, १०. रासक, ११. संलापक, १२. श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका, १५. दुर्मल्लिका, १६. प्रकरणिका, १७. हल्लीश और १८. भाणिका।

शारदातनय ने उपरूपक के २० भेद स्वीकार किये, जो निम्नलिखित हैं :

१. तोटक, २. नाटिका, ३. गोष्ठी, ४. सल्लापक, ५. शिल्पक, ६. डोम्बी, ७. श्रीगदित, ८. भाण, ९. भाणिका, १०. प्रस्थान, ११. काव्य, १२. प्रेंखण, १३. रासक, १४. नाट्य-रासक, १५. उल्लोप्यक, १६. हल्लीसक, १७. दुर्मल्लिका, १८. मल्लिका, १९. कल्पवल्ली और २०. पारिजातक।

आगे शारदातनय ने लिखा है कि इनमें से डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक, काव्य—ये सात कुछ विद्वानों के मत से भाण के समान नृत्य के भेद हैं और कुछ लोग सभी को नृत्यात्मक कहते हैं।

इन दोनों सूचियों में १५ नाम एक ही या एक-से ही हैं। विश्वनाथ के तीन भेद सट्टक, विलासिका और प्रकरणिका नये हैं। शारदातनय के पाँच भेद—डोम्बी, भाण, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक नये हैं। इस प्रकार दोनों आचार्यों की सूचियों को मिलाने से उपरूपक के भेद २३ हो जाते हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में दस रूपकों के साथ नाटिका और प्रकरणी का विवरण दिया है। इस प्रकार उनके मत से बारह रूपक हैं। अन्य रूपकों का उल्लेख मूल पुस्तक में नहीं है। पुस्तक समाप्त करने के बाद अन्त में लिखा है : **अन्यान्यानि च रूपकाणि दृश्यन्ते।** फिर उन्होंने निम्नलिखित उपरूपकों का संक्षिप्त विवरण दिया है : १. सट्टक, २. श्रीगदित, ३. दुर्मिलिता, ४. प्रस्थान, ५. गोष्ठी, ६. हल्लीसक, ७. प्रेक्षणक, ८. रासक, ९. नाट्यरासक, १०. काव्य, ११. भाण और १२. भाणिका।

अग्निपुराण में १७ उपरूपकों को स्वीकार किया गया है : १. त्रोटक, २. नाटिका, ३. सट्टक, ४. शिल्पक, ५. कर्णा, ६. दुर्मल्लिका, ७. प्रस्थान, ८. भाणिका, ९. भाणी, १०. गोष्ठी, ११. हल्लीशक, १२. काव्य, १३. श्रीगदित, १४. नाट्यरासक, १५. रासक, १६. उल्लाप्यक और १७. प्रेंक्षण।

अब इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

नाटिका : भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटक और प्रकरण दोनों के लक्षण का निर्देश करने के पश्चात् उनके संकर का वर्णन किया है :

अनयोश्च बन्धयोगादन्यो भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटी संज्ञाश्रिते काव्ये॥[1]

उनके अनुसार नाटक और प्रकरण का संकीर्ण भेद नाटी कहा जाता है। धनिक ने 'दशरूपकावलोक' में भरत की यह कारिका उद्धृत की है, परन्तु भरत का नाम नहीं देकर **'अत्र केचित्'** लिख दिया है। नाट्यशास्त्र के गायकवाड़वाले संस्करण में यह कारिका नहीं मिलती; क्योंकि इसे कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त अंश मानते हैं। परन्तु, दूसरे संस्करणों में यह कारिका वर्त्तमान है। आगे की दो कारिकाओं में नाटिका का लक्षण लिखा गया है, जो सभी संस्करणों में है।[2]

इस विषय में धनंजय ने भरत का अनुसरण किया है। वे भी भरत के ही समान किसी उपरूपक का लक्षण नहीं बताते, परन्तु उस संकीर्ण भेद का लक्षण बताते हैं। वे भी भरत के ही समान नाटक और प्रकरण के लक्षण का निर्देश करने के शीघ्र ही बाद इस संकीर्ण भेद—नाटिका का लक्षण बता देते हैं। नाटिका पर कुछ विशेष बल देने के ही अभिप्राय से भरत मुनि ने इसका लक्षण किया है। वैसे तो शुद्ध रूपकों—नाटक और प्रकरण—के लक्षणों के मिश्रण से भी नाटिका का लक्षण सिद्ध हो सकता था, परन्तु नाटिका का अलग से लक्षण देकर इसपर विशेष बल दिया गया है।

नाटिका की कथावस्तु कवि-कल्पित या प्रख्यात हो सकती है। परवर्त्ती आचार्यों ने इसे कवि-कल्पित होना आवश्यक माना है; क्योंकि प्रकरण की कथावस्तु कवि-कल्पित होती है और नाटिका की कथावस्तु प्रकरण के ही समान होनी चाहिए। धनंजय ने स्पष्ट

१. **नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, का० १०९**

२. **वही, अध्याय १८, का० ११–१११**

शब्दों में निर्देश कर दिया है कि नाटिका की कथावस्तु प्रकरण से ली जाती है और नायक नाटक से लिया जाता है :

तत्र वस्तुप्रकरणान्नाटका त्रयको नृपः ।[1]

नाटिका का नायक प्रख्यात अथवा इतिहास-प्रसिद्ध होता है । वह प्रख्यात वंश में उत्पन्न धीर-ललित तथा राजा होता है । स्त्री-पात्रों की अधिकता नाटिका की विशेषता है । इसकी संज्ञा (नाटिका) में स्त्रीलिंग का प्रयोग इस बात का सूचक है कि इसमें स्त्रियों की प्रधानता होनी चाहिए । नाटिका में दो नायिकाएँ होती हैं । ज्येष्ठा देवी या महारानी राजवंश में उत्पन्न और प्रगल्भ प्रकृति की होती है । वह बहुत गम्भीर और मानिनी होती है । कनिष्ठा नायिका भी राजवंश में उत्पन्न होती है, परन्तु किसी दुर्घटनावश या किसी उपाय से वह निम्न श्रेणी की कन्या के रूप में अन्तःपुर में पहुँचा दी जाती है । अन्तःपुर से सम्बन्ध के कारण वह नायिका नायक के श्रुतिपथ या दृष्टि-पथ में आती है । उसे देखकर या उसके विषय में सुनकर नायक उससे प्रेम करने लगता है । यह अनुराग आरम्भ में नवीन होता है, पर पीछे परिपक्व हो जाता है । महादेवी के भय से राजा शंकित रहता है, फलतः वह छिप-छिपकर अनुराग-चेष्टा करता है । नायक और नायिका (प्रेमी और प्रेमिका) को महादेवी की ईर्ष्या से बचने का प्रयत्न करना होता है; क्योंकि नायक का प्रेम महादेवी के भय से शंकायुक्त होता है । अन्त में, महादेवी उनके विवाह की स्वीकृति दे देती है । वस्तुतः, नायक और नायिका का समागम महादेवी के ही अधीन रहता है । राजप्रासाद का वातावरण होने के कारण नाटिका में मनोविनोद के लिए गीत, संगीत तथा नृत्य की योजना करने का पर्याप्त अवसर रहता है । उदाहरण के लिए रत्नावली नाटिका का नायक राजा उदयन है । उसकी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता राज-कुलोत्पन्न है । वह गम्भीर, प्रगल्भ तथा मानिनी है । उदयन और रत्नावली का समागम उसी के अधीन है । रत्नावली भी राजकुलोत्पन्न है, परन्तु वह उपायवश अन्तःपुर में आ गई है । वह मुग्धा तथा सुन्दरी है ।

नाटिका में चार अंक होते हैं, परन्तु धनंजय ने कम अंक की भी स्वीकृति दी है । नाटिका में अवमर्श नामक सन्धि बहुत अल्प होती है, अतः इसमें चार अंकों की योजना उचित जान पड़ती है । इसका अंगी रस शृंगार होता है । इसमें कैशिकी वृत्ति होती है और चारों अंकों में कैशिकी वृत्ति के चारों अंग नर्म, नर्म स्फिज, नर्म स्फोट तथा नर्म-गर्भ की योजना की जाती है ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में देवी और कन्या (नवीन प्रेमिका) की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के आधार पर नाटिका के चार भेद किये हैं :

अख्याति-ख्यातिः कन्यादेव्योर्नाटो चतुर्विधा ।[2]

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, का० १०९

२. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, का० ४३

१. देवी सप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा, २. देवी अप्रसिद्धा कन्या भी अप्रसिद्धा, ३. देवी प्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा, ४. देवी प्रसिद्धा कन्या भी प्रसिद्धा। परन्तु, इस प्रकार विभाग करना अनावश्यक है और यदि इस प्रकार के भेद किये जायँ, तो अनेक अन्य भेद भी हो जायेंगे।

प्रकरणिका : जिस नाटिका में नायक सेठ आदि हो और नायिका उसकी सजातीय हो, उसे ही प्रकरणी या प्रकरणिका कहते हैं। वस्तुतः, नाटिका और प्रकरणिका एक ही है, अन्तर केवल यही है कि नाटिका में नायक राजवंश का धीरललित होता है और प्रकरणिका का नायक व्यापारी-वर्ग का व्यक्ति होता है। अन्य सभी बातें समान ही हैं। स्पष्टतः, प्रकरणिका की कल्पना एक संगति बैठाने की मिथ्या इच्छा से उत्पन्न हुई है; क्योंकि यदि वस्तु, नेता और रस—तीनों भेदकों की दृष्टि से देखें तो यह प्रकरण ही है। इसीलिए, धनिक ने इसे स्वीकार नहीं किया है।

धनिक ने इस विषय पर विचार किया है। कुछ विद्वान् संकर या संकीर्ण उपरूपकों में नाटिका तथा प्रकरणिका दो भेद मानते हैं। इसके प्रमाण में वे भरत का वह श्लोक उद्धृत करते हैं, जो अभी नाटिका के विवेचन के सम्बन्ध में उद्धृत किया गया है। वे इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार करते हैं—"नाटक और प्रकरण दोनों के योग से काव्य के दो भेद होते हैं; एक भेद प्रख्यात है—नाटिका, तथा दूसरा भेद अप्रसिद्ध है—प्रकरणिका। दोनों नाटी संज्ञा से जाने जाते हैं।" किन्तु, दशरूपक के वृत्तिकार यह मत स्वीकार नहीं करते। वे प्रकरणिका को अलग भेद मानने को तैयार नहीं। उनका कथन है कि भरत के उद्धृत श्लोक में प्रकरणिका के नाम और लक्षण नहीं पाये जाते। इसका कारण यह है कि प्रकरण के समान ही प्रकरणिका में लक्षण पाये जाते हैं और इन दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। वस्तुतः, प्रकरणिका की वस्तु, नायक और रस प्रकरण से अभिन्न होते हैं। भरत मुनि ने नाटिका का लक्षण उसपर केवल बल देने के लिए दिया है। नाटक, प्रकरण, नाटिका के अतिरिक्त वस्तु आदि के भेद के अभाव से प्रकरणिका कोई अलग भेद नहीं जान पड़ता। वैसे अंकों और पात्रों के भेद से ही यदि अलग भेद माना जाय, तो भेद-गणना असीम हो जायगी। इस प्रकार, रूपकों और उपरूपकों के अनन्त भेद हो जायेंगे। इन्हीं तर्कों के आधार पर धनिक ने प्रकरणिका को उपरूपक का कोई अलग भेद नहीं माना। शारदातनय ने यह भेद स्वीकार नहीं किया। विश्वनाथ ने यह भेद स्वीकार किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी अपने नाट्यदर्पण में प्रकरणी नामक भेद स्वीकार किया है। उन्होंने भरत और धनंजय के समान नाटक और प्रकरण के लक्षण लिखने के तुरन्त बाद नाटिका का लक्षण लिखा और उसके बाद प्रकरणी का लक्षण लिखा—'**एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदितः।**'[1] अर्थात् नाटिका के ही समान प्रकरणी होती है, परन्तु इसका नायक प्रकरण के समान होता है।

---

१. नाट्यदर्पण, अध्याय २, का० ८

किन्तु, यदि ध्यान से देखा जाय, तो प्रकरणिका या प्रकरणी नामक भेद करना सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होता है। यदि इस प्रकार भेद किये जायँ, तो रूपक या उपरूपक के असंख्य भेद हो सकते हैं। इस विषय में धनिक का मत अधिक समीचीन जान पड़ता है।

सट्टक : सट्टक का भी उल्लेख विश्वनाथ तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने किया है। शारदातनय ने इसे नाटिका का भेद-मात्र माना है, स्वतन्त्र उपरूपक नहीं :

सट्टकं नाटिकाभेदो नृत्यभेदात्मकं भवेत्।[1]

यह भी नाटिका के ही समान होता है। नाटिका से मुख्य अन्तर यह है कि यह आदि से अन्त तक पूर्णरूप से प्राकृत में ही लिखा रहता है, इसमें संस्कृत का प्रयोग बिलकुल नहीं होता। भाण के विषय में शारदातनय ने दो मत उद्धृत किये हैं। एक मत से राजा प्राकृत नहीं बोलता है और दूसरे मत से राजा मागधी या शौरसेनी बोलता है :

न वदेत् प्राकृतीं भाषां राजेति कतिचिज्जगुः।
मागध्या शौरसेन्या वा वदेद्राजेति केचन॥[2]

सट्टक में प्रवेशक तथा विष्कम्भक का भी अभाव रहता है और अद्भुत रस की प्रचुरता रहती है। इसके अंकों का नाम जवनिका होता है; अन्य सभी बातों में यह नाटिका के ही समान होता है। सट्टक नाम का एक नृत्य भी होता है और सम्भवतः इसमें उस प्रकार के नृत्य की अधिकता रहती होगी, इसीलिए इसका नाम सट्टक पड़ा। राजशेखर की **कर्पूर मञ्जरी** सट्टक का उदाहरण है।

त्रोटक या तोटक : विश्वनाथ ने 'त्रोटक' लिखा, परन्तु शारदातनय आदि ने 'तोटक' लिखा। यह नाटक से बहुत मिलता-जुलता है या नाटक का ही परिवर्त्तित रूप है; इसलिए शारदातनय ने नाटक आदि रूपकों के बाद सबसे पहले इसी का विवेचन किया। विश्वनाथ ने भी नाटिका के ही बाद इसका विवेचन किया। इसमें सात, आठ, नौ अथवा पाँच अंक होते हैं और यह देवता तथा मनुष्यों के आश्रित रहता है। इसके प्रत्येक अंक में विदूषक वर्त्तमान रहता है और इसका प्रधान रस श्रृंगार होता है; क्योंकि श्रृंगार में ही विदूषक की स्थिति रहती है। शारदातनय ने तोटक के तीन लक्षण लिखे हैं, जिनमें से पहला हर्ष का दिया हुआ है और शेष दो अज्ञात आचार्यों के हैं। विदूषक की योजना के विषय में तीनों आचार्यों में मतभेद है। हर्ष ने विदूषक की योजना आवश्यक मानी है और शेष दो आचार्य ऐसा नहीं मानते। भोज ने १४ उपरूपकों की अपनी सूची में तोटक की गणना नहीं की है।

शारदातनय ने भिन्न-भिन्न संख्या के अंकोंवाले तोटकों के उदाहरण दिये हैं। नौ अंकोंवाले तोटक का उदाहरण 'मेनका-नहुष', आठ अंकों का तोटक 'मदलेखा', सात अंकोंवाला 'स्तम्भित रम्भक' है। अन्तिम दो तोटकों में विदूषक की योजना नहीं है, पाँच अंकोंवाले तोटक का उदाहरण विक्रमोर्वशीय है। विश्वनाथ ने तोटक का उदाहरण

---

१. भावप्रकाशन, नवम अधिकार, पृ० २६९
२. वही

विक्रमोर्वशीय दिया है। किन्तु, डॉ० कीथ ने लिखा है कि विक्रमोर्वशीय के केवल बँगला-संस्करण को यह नाम दिया गया है, जिसमें अपभ्रंश पद्य तथा उन्मत्त राजा के दृश्य दिये गये हैं। डॉ० कीथ ने लिखा है कि अन्य संस्करणों में इसे नाटक संज्ञा दी गई है। शारदातनय के दिये चार उदाहरणों में आजकल केवल विक्रमोर्वशीय उपलब्ध है।

गोष्ठी : गोष्ठी का लक्षण विश्वनाथ और शारदातनय ने एक ही साथ दिया है। गोष्ठी में नौ या दस प्राकृत पुरुष-पात्र और रूप-सौन्दर्ययुक्त पाँच या छह स्त्री-पात्र रहते हैं। इसमें उदात्त वचनों का प्रयोग नहीं होता और कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं, केवल मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियों की योजना रहती है। गोष्ठी में एक ही अंक रहता है और काम श्रृंगार रहता है। इसका कथानक कवि-कल्पित होता है। शारदातनय ने गोष्ठी के लक्षण के प्रसंग में भोज के भी मत की ओर संकेत किया है :

गोष्ठे यत्तु विहरतश्चेष्टितमिह कंटभद्विषः किञ्चित्।
रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति ॥[1]

यही श्लोक रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में दिया है।[2]

शारदातनय की एक पंक्ति से तुलना की जा सकती है :

गोपीपतेर्विहरतो गोपबालस्य चेष्टितम्।[3]

विश्वनाथ ने गोष्ठी का उदाहरण 'रेवतक-मदनिका' दिया है।

रासक : रासक और नाट्यरासक के विषय में प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। दोनों वास्तव में भिन्न-भिन्न रीतियों के नृत्य हैं और उपरूपक पर लिखनेवाले चार आचार्यों—भोज, शारदातनय, विश्वनाथ और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इनपर अलग-अलग लिखा है। इन दोनों प्रकार के नृत्यों के विषय में जितने भी श्लोक श्रृंगारप्रकाश में हैं, शारदातनय ने सभी को ग्रहण कर लिया है। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र की टीका में अभिनवगुप्त ने जो श्लोक उद्धृत किये हैं, उन्हें भी शारदातनय ने ग्रहण कर लिया है। अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत लक्षण भोजादिक परवर्त्ती आचार्यों के द्वारा दिये गये लक्षणों से भिन्न हैं।

भोज और शारदातनय के अनुसार रासक एक विशेष प्रकार का नृत्य है, जो १६, १२ या ८ स्त्रियों के दल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यह नृत्य चार रूपों—पिण्डी, श्रृंखला, भेधक और लता—में किया जाता है। रासक के अन्त में शुभ वचन कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने किसी अज्ञात विद्वान् का श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि

१. श्रृंगारप्रकाश, पृ० १४५
२. नाट्यदर्पण, अन्तिम पृष्ठ
३. भावप्रकाशन, नवम अधिकार, पृ० २५६

गोपियों के साथ कृष्ण का जैसा नृत्य भागवत में वर्णित है, वैसा ही नृत्य रासक होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने जो लक्षण दिया, वह भी भोज और शारदातनय के ही समान है :

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम् ॥[1]

परन्तु, विश्वनाथ ने रासक को नृत्य नहीं मानकर अभिनयात्मक उपरूपक का एक भेद माना है। उनके मतानुसार रासक में पाँच पात्र होते हैं। इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं; कोई-कोई प्रतिमुख सन्धि भी मानते हैं। यह भाषा तथा विभाषा से व्याप्त और भारती तथा कैशिकी वृत्तियों से युक्त होता है। यहाँ नान्दी में श्लिष्टता होती है। इसमें सूत्रधार नहीं रहता और केवल एक अंक होता है। यह वीथ्यंग और कलाओं से युक्त होता है। रासक की नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। यह उत्तरोत्तर उदात्त भावों से पूर्ण होता है। शारदातनय ने भी भावप्रकाशन में इस मत का संकेत किया, जिसे विश्वनाथ ने अपनाया और इसका संकेत दूसरे का मत कहकर लिया है :

एवं लक्षणमुद्दिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन।[2]

नाट्यरासक : भोज तथा शारदातनय के मतानुसार नाट्यरासक एक विशेष प्रकार का नृत्य है, जिसमें राजा के भी कार्य स्त्रियाँ ही विभिन्न मुद्राओं एवं भावभंगियों में प्रस्तुत करती हैं, साथ ही नृत्य भी करती हैं। भावप्रकाशन में नाट्यरासक के कई भेद वर्णित हैं और 'रत्नावली' नाटिका में प्रयुक्त चर्चरी का भी समावेश इस कोटि में किया गया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शारदातनय के समान विस्तार नहीं किया। एक ही श्लोक में उन्होंने नाट्यरासक का लक्षण कहा, परन्तु वह श्लोक अक्षरशः भावप्रकाशन में विद्यमान है। वह श्लोक निम्नलिखित है :

कामिनीभिर्भुवो भर्त्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते।
रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥[3]

परन्तु, विश्वनाथ ने नाट्यरासक को केवल नृत्य ही नहीं माना। उन्होंने इसमें नृत्य को गौण स्थान दिया है और मुख्य रूप से इसे अभिनयात्मक उपरूपक ही माना। विश्वनाथ के मतानुसार नाट्यरासक में एक ही अंक होता है और रूप तथा ताल की अधिकता होती है। इसका नायक उदात्त होता है और पीठमर्द उपनायक होता है। शृंगार-सहित हास्य-रस प्रधान रस होता है। इसमें नायिका वासकसज्जा होती है। नाट्यरासक में मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं, परन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रतिमुख के अतिरिक्त शेष चारों सन्धियों की योजना इसमें होती है। इसमें दस लास्यांग भी रखे

---

१. नाट्यदर्पण, अन्तिम पृष्ठ
२. भावप्रकाशन, नवम अधिकार, पृ० २६९
३. वही, नवम अधिकार, पृ० २६४; नाट्यदर्पण, अन्तिम पृष्ठ

जाते हैं। विश्वनाथ ने दो सन्धियोंवाले नाट्यरासक का उदाहरण 'नर्मवती' और चार सन्धियोंवाले का उदाहरण 'विलासवती' को प्रस्तुत किया है। परन्तु, ये ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। रासक के विषय में शारदातनय और विश्वनाथ का मत एक ही है, परन्तु नाट्यरासक के विषय में ऐसा नहीं है।

प्रस्थान अथवा प्रस्थानक : अन्य कई उपरूपकों के समान प्रस्थान या प्रस्थानक के विषय में भी मतभेद है। श्रृंगारप्रकाश में भोज और नाट्यदर्पण में रामचन्द्र-गुणचन्द्र के दिये लक्षण मिलते-जुलते हैं। उनके मतानुसार प्रस्थानक में प्रचुर मात्रा में संगीत तथा नृत्त रहते हैं। इसमें प्रथमानुराग, मान, प्रवास-वर्णन तथा वसन्त-वर्णन आदि की विशेषता रहती है। परन्तु, साहित्यदर्पणकार ने प्रस्थान का सर्वथा भिन्न ही लक्षण दिया है। उनके मतानुसार इसमें नायक दास होता है और उपनायक उससे हीन होता है। दासी नायिका होती है। इसमें कैशिकी तथा भारती वृत्तियों की योजना की जाती है। मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। मदिरा-पान के संयोग से उद्दिष्ट अर्थ की पूर्त्ति होती है। प्रस्थान में दो अंक होते हैं और लय, ताल, विलास आदि की अधिकता रहती है। इसका उदाहरण **शृंगार-तिलक** दिया गया है। शारदातनय ने भी यही उदाहरण दिया है।

शारदातनय के भावप्रकाशन में इन दोनों लक्षणों का समावेश हुआ है। ध्यातव्य है कि जहाँ भोज तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक रूपकों में नृत्य और संगीत पर बल दिया है, वहाँ विश्वनाथ ने अभिनयात्मक उपरूपकों पर बल दिया है। यह बात रासक, नाट्यरासक तथा प्रस्थान में देखी जा सकती है।

उल्लाप्य अथवा उल्लोप्यक : साहित्यदर्पण में इसका नाम उल्लाप्य दिया गया है, परन्तु भावप्रकाशन में उल्लोप्यक लिखा गया है। दोनों ग्रन्थों में लक्षण मिलते-जुलते हैं। सम्भवतः, विश्वनाथ और शारदातनय, दोनों ने किसी एक ही स्रोत से अपनी सामग्री ग्रहण की है। भोज ने श्रृंगारप्रकाश में उपरूपकों के अन्तर्गत इसे नहीं रखा है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। शारदातनय ने इसमें विचित्र नाम का कारण बताया है कि इसमें एक विशेष प्रकार के गीत का प्रयोग होता है, जिसे उल्लोप्यक कहते हैं।

उल्लाप्य अथवा उल्लोप्यक में नायक धीरोदात्त होता है और कथा दिव्य। इसमें एक ही अंक होता है और शिल्पक (एक उपरूपक, जिसका वर्णन आगे किया जायगा) के समान २७ अंग होते हैं। उल्लाप्य में हास्य, श्रृंगार और करुण रस होते हैं। इसमें संग्राम बहुत होता है, अस्त्रगीत भी होता है। अस्त्रगीत का लक्षण है :

उत्तरोत्तररूपं यत्प्रस्तुतार्थपरिष्कृतम्।
अन्तर्जवनिकं गीतमस्त्रगीतं तदुच्यते॥

उल्लाप्य में चार नायिकाएँ होती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इसमें तीन अंक होते हैं। विश्वनाथ ने उल्लाप्य का उदाहरण **देवी महादेव** दिया है। शारदातनय ने **देवी महादेव** के अतिरिक्त **उदात्त कुंजर** भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

काव्य : साहित्यदर्पण और भावप्रकाशन में दिये गये काव्य के वर्णनों में थोड़ा अन्तर है। भोज ने काव्य के दो भेद दिये—शुद्ध और चित्र। उन्हें भी शारदातनय ने रासक के शीर्षक में अन्तर्हित कर लिया है। शारदातनय के भी विचार से काव्य के दो भेद होते हैं, एक का प्रतिनिधित्व 'गौड़विजय' करता है और दूसरे का 'सुग्रीवकेलन'। भोज और शारदातनय के मतों को मिला देने से काव्य के चार भेद हो जाते हैं।

विश्वनाथ के मतानुसार काव्य आरभटी वृत्ति से रहित एक अंकवाला उपरूपक है। यह हास्य-रस से व्याप्त, खण्ड-मात्रा, द्विपदिक और भग्नताल नामक गीतों से पूर्ण, और वर्ण-मात्रा तथा छगणिकाख्य छन्दों से युक्त होता है। यह श्रृंगारभाषित से मनोहर होता है। इसमें नायक और नायिका दोनों ही उदात्त होते हैं। मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियों की योजना इसमें की जाती है। विश्वनाथ ने उदाहरण-स्वरूप 'यादवोदय' प्रस्तुत किया है।

शारदातनय के दिये लक्षण में थोड़ा ही अन्तर है। उनके मतानुसार काव्य में हास्य के साथ श्रृंगार रस भी विद्यमान रहता है और इसमें चारों वृत्तियाँ रहती हैं, साहित्य-दर्पण में दिये लक्षण के समान आरभटी वृत्ति से रहित नहीं। भग्नताल, द्विपदी और खण्ड-मात्रा नामक गीतों से युक्त तो होना ही है, साहित्यदर्पण में दिये लक्षण के समान ही मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियों से युक्त और एक अंक होना चाहिए। कहीं-कहीं लास्ययुक्त और विट-चेटी-समन्वित होता है। काव्य कुलांगनाओं और वेश्याओं से युक्त होता है और इसका नायक धीरललित तथा धीरोदात्त होता है। इस प्रकार के काव्य का उदाहरण 'गौड-विजय' है। दूसरे प्रकार के काव्य में नायक विप्र, अमात्य अथवा वणिक् होता है; नायक तथा नायिका उज्ज्वल होते हैं और इसमें विट, चेटी आदि भी ग्रथित रहते हैं। इस प्रकार के काव्य का उदाहरण शारदातनय ने 'सुग्रीवकेलन' दिया है।

नाट्यदर्पण में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने काव्य का जो लक्षण दिया है, वह अति संक्षिप्त और अपूर्ण है :

आक्षिप्तिकाऽथवर्णो मात्राध्रुवकोऽप्यभग्नतालश्च।
पद्धतिका छर्दनिका यत्र स्युस्तदिह काव्यमिति॥[1]

प्रेंखण अथवा प्रेक्षणक : विश्वनाथ ने इस उपरूपक का नाम प्रेंखण तथा शारदातनय ने प्रेक्षणक दिया है। भोज ने इसके दो भाग कर दिये हैं : नर्त्तनक तथा प्रेक्षणक।

शारदातनय ने इस उपरूपक का विवेचन करते समय श्रृंगारप्रकाश में दिया हुआ लक्षण दुहराया है और नर्त्तनक तथा प्रेक्षणक का विवेचन एक ही शीर्षक के अन्तर्गत कर दिया है। शारदातनय ने दो विभिन्न मतों के दो प्राचीन आचार्यों के भी आधार पर प्रेक्षणक का विवेचन किया है और इनका वर्णन भोज के वर्णन से भी उत्तम है। साहित्यदर्पण में

१. नाट्यदर्पण, अन्तिम पृष्ठ

विश्वनाथ ने जो वर्णन दिया है, वह शारदातनय के दिये इस दूसरे वर्णन से मिलता-जुलता है।

शारदातनय का दिया पहला लक्षण वही है, जो शृंगारप्रकाश में है। अन्य आचार्यों के मतानुसार, जो लक्षण उन्होंने दिया है, वह निम्नलिखित है। प्रेक्षणक में गर्भ अथवा अवमर्श नामक सन्धियाँ नहीं होतीं, सभी वृत्तियाँ होती हैं। इसमें प्रचुर मात्रा में मागधी और शौरसेनी प्राकृतों का प्रयोग होता है। प्रेक्षणक में उत्तम तथा अधम नायक होते हैं। भारती और आरभटी वृत्तियाँ होती हैं और कहीं-कहीं सात्त्वती भी होती है। बालिवध और नृसिंहविजय उदाहरण-स्वरूप शारदातनय ने रखे हैं। फिर उन्होंने प्रेक्षणक का दूसरा उदाहरण दिया है। नान्दी का पाठ नेपथ्य में ही होता है। कहीं गर्भ और अवमर्श नामक सन्धियाँ होती हैं और कहीं चारों वृत्तियाँ रहती हैं। सूत्रधार कभी नहीं रहता। इसका उदाहरण 'त्रिपुरमर्दन' है।

विश्वनाथ के मतानुसार प्रेंखण में नायक हीन होता है और गर्भ तथा विमर्श सन्धियाँ नहीं रहतीं। इसमें सूत्रधार, विष्कम्भक तथा प्रवेशक नहीं होते और एक ही अंक होता है। इसमें सभी वृत्तियाँ होती हैं और युद्ध तथा सम्फेट की योजना की जाती है। नान्दी तथा प्ररोचना का पाठ नेपथ्य में ही होता है। विश्वनाथ ने उदाहरण-स्वरूप 'बालिवध' को प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः, भोज और विश्वनाथ के दिये हुए लक्षण एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। शारदातनय ने कई आचार्यों के दिये लक्षण उद्धृत किये हैं, जिससे स्पष्टता आ गई है। विश्वनाथ का दिया लक्षण स्पष्ट और सटीक है। शारदातनय ने तीन उदाहरण दिये : बालिवध, नृसिंहविजय और त्रिपुरमर्दन। विश्वनाथ ने केवल **बालिवध** का उदाहरण दिया। भोज ने **कामदहन** का उदाहरण दिया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने प्रेक्षणक के लक्षण के लिए भोज के शृंगारप्रकाश के उन दोनों श्लोकों को उद्धृत किया है। उन्होंने भोज के अनुसार नर्त्तनक तथा प्रेक्षणक दो भेद किये हैं। यह भोज का उद्धरण-मात्र है, अतः इसमें कोई नवीनता या विशेषता नहीं। उन्होंने पहले श्लोक में प्रयुक्त कुछ शब्दों के अर्थ स्पष्ट किये, यथा **किन्नरविषयं लास्यं नृत्तं शम्या। शृङ्गाररसप्रधानं लास्यम्। शृङ्गारवीररौद्रादिप्रधानं छलितम्।**

संलापक अथवा सल्लापक : विश्वनाथ ने इस उपरूपक का नाम संलापक दिया है, किन्तु शारदातनय ने सल्लापक लिखा। दोनों के दिये लक्षण लगभग एक ही हैं। विश्वनाथ के मतानुसार संलापक में तीन या चार अंक होते हैं और नायक पाखण्डी होता है। शृंगार और करुण के अतिरिक्त अन्य रस रहते हैं। इसमें नगर-निरोध, छलयुक्त संग्राम और विद्रव की योजना रहती है, भारती और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होतीं, केवल सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ रहती हैं। उन्होंने **मायाकापालिक** का उदाहरण दिया है।

शारदातनय के मतानुसार सल्लापक का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध भी हो सकता है, अथवा कवि-कल्पित भी या दोनों का मिश्रण भी। इसमें शृंगार और हास्यरस वर्जित हैं।

वीर और रौद्र रस के साथ अन्य रस भी रह सकते हैं। नायक प्रायः पाखण्डी होता है। इसमें स्थान का अवरोध, कपट, युद्ध, विद्रव आदि की योजना होती है। सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ रहती हैं। सल्लापक में तीन अंक होते हैं। प्रथम अंक में विद्रव, द्वितीय अंक में ताल की प्रचुरता तथा तृतीय अंक में कपट रहता है। प्रतिमुख को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ रहती हैं।

संलापक के विषय का विवेचन विश्वनाथ से अधिक पूर्ण शारदातनय का ही है। विश्वनाथवाले लक्षण में सभी बातें नहीं आ सकी हैं, यद्यपि दोनों के दिये लक्षण मिलते-जुलते हैं।

श्रीगदित : विश्वनाथ ने दो प्रकार के श्रीगदित का वर्णन किया है। प्रथम प्रकार का श्रीगदित अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, परन्तु द्वितीय प्रकार भोज के शृंगारप्रकाश में है। शृंगारप्रकाश के ही श्लोक रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में उद्धृत कर दिये हैं। भाव-प्रकाशन में दोनों वर्णनों का मिश्रण है।

श्रीगदित नामक उपरूपक में कथानक प्रख्यात होता है और एक ही अंक होता है। इसका नायक प्रसिद्ध तथा धीरोदात्त होता है, नायिका भी प्रख्यात होती है। इसमें गर्भ तथा विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं, शेष तीन सन्धियाँ होती हैं। श्री शब्द और भारती वृत्ति की इसमें अधिकता होती है। विश्वनाथ के द्वारा दिया हुआ श्रीगदित का यह प्रथम भेद है। शारदातनय ने भी यह लक्षण दिया। विश्वनाथ ने इसका उदाहरण **'क्रीडा-रसातल'** दिया है।

विश्वनाथ ने श्रीगदित का दूसरा भी भेद बताया है। किन्तु, **'केचित् प्रचक्षते'** लिखकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि यह मत किसी अन्य आचार्य का है, उनका नहीं। इस मत के अनुसार श्रीगदित में लक्ष्मी का रूप धारण करके नटी बैठकर कुछ गाती और पढ़ती है। इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता रहती है, और एक अंक होता है। इसी से मिलता-जुलता लक्षण भोज और शारदातनय ने भी दिया है। श्रीगदित में कोई कुलांगना अपनी सखियों के आगे अपने पति के शौर्य, धैर्य आदि गुणों का बखान करती है या उपालम्भ देती है। वह विरहिणी अपने पति से समागम की आशा में बैठकर उत्कण्ठित होकर ललित पद पढ़ती या गाती है। शारदातनय ने श्रीगदित का उदाहरण **'रामानन्द'** दिया है। विश्वनाथ ने दूसरे भेद का कोई उदाहरण नहीं दिया।

डॉ० कीथ ने लिखा है कि इस नाम का एक ही उपरूपक ज्ञात है, वह है, सन् १६०० ई० के पहले का माधव का लिखा 'सुभद्राहरण', जो सामान्य रूपक के समान है, परन्तु इसमें एक आख्यानात्मक पद्य है, जिसका सम्बन्ध छाया-नाटक से जान पड़ता है।

शिल्पक : शिल्पक का लक्षण विश्वनाथ और शारदातनय ने लगभग एक ही दिया है, परन्तु दोनों ने २७ अंगों के नाम गिनाये हैं। उनमें थोड़ा अन्तर है। यद्यपि विश्वनाथ

शारदातनय के परवर्ती हैं, फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने शारदातनय का अनुसरण किया। इसका मुख्य प्रमाण यह है कि शारदातनय के द्वारा उल्लिखित दो अतिरिक्त उपरूपकों— कल्पवल्ली और पारिजातक—को उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया, परन्तु विलासिका नाम के सर्वथा भिन्न उपरूपक का उल्लेख किया। डोम्बी नामक उपरूपक को धनिक और अभिनवगुप्त भी जानते थे, शारदातनय ने भी उसका वर्णन किया, परन्तु विश्वनाथ ने उसका उल्लेख नहीं किया। किन्तु, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उन दोनों ने किसी आचार्य के एक ऐसे ग्रन्थ का अनुसरण किया, जो उन दोनों के पहले वर्त्तमान था, परन्तु अब वह ग्रन्थ अप्राप्य है।

शिल्पक में चार अंक होते हैं और चारों वृत्तियाँ होती हैं। इसमें शान्त और हास्य के अतिरिक्त अन्य रस होते हैं। शिल्पक में ब्राह्मण नायक होता है, हीन पुरुष उपनायक होता है और श्मशानादि का वर्णन रहता है। इसमें २७ अंक होते हैं; यथा विश्वनाथ के अनुसार – १. आशंसा, २. तर्क, ३. सन्देह, ४. ताप, ५. उद्वेग, ६. प्रसक्ति (आसक्ति), ७. प्रयत्न, ८. ग्रथन, ९. उत्कण्ठा, १०. अवहित्था, ११. प्रतिपत्ति, १२. विलास, १३. आलस्य, १४. वाष्प, १५. प्रदर्ष, १६. आश्वास, १७. मूढता, १८. साधनानुगम, १९. उच्छ्वास, २०. विस्मय, २१. प्राप्ति, २२. लाभ, २३. विस्मृति, २४. सम्फेट, २५. वैशारद्य, २६. प्रबोधन और २७. चमत्कृति।

शारदातनय के अनुसार—१. उत्कण्ठा, २. अवहित्था, ३. प्रयत्न, ४. आशंसन, ५. तर्क, ६. संशय, ७. ताप, ८. उद्वेग, ९. मौर्ख्य, १०. आलस्य, ११. कम्प, १२. अनुगति, १३. विस्मय, १४. साधन, १५. उच्छ्वास, १६. आतंक, १७. शून्यता, १८. प्रलोभन, १९. नाट्य, २०. सम्फेट, २१. आश्वास, २२. सन्तोषातिशय, २३. प्रमद, २४. प्रमाद, २५. युक्ति, २६. प्रलोचना, २७. प्रशस्ति। इस प्रकार दोनों सूचियों में थोड़ा अन्तर है। शिल्पक के उदाहरण के लिए **कनकवती-माधव** का उल्लेख किया गया है।

विलासिका : विलासिका नामक उपरूपक का विवेचन केवल विश्वनाथ ने किया है, अन्य किसी ने नहीं। इसमें शृंगार रस की बहुलता रहती है और एक ही अंक होता है। यह उपरूपक दस लास्यांगों से युक्त होता है और इसमें विशेषता यह है कि इसमें नायक की सहायता के लिए विदूषक के अतिरिक्त विट और पीठमर्द भी होते हैं। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियों को छोड़कर शेष तीन सन्धियाँ होती हैं। विलासिका का नायक हीन गुणों से युक्त होता है और इसकी कथा थोड़ी होती है। इसमें सुन्दर वेशादि की योजना की जाती है। विश्वनाथ ने वृत्ति में लिखा है कि कुछ लोग विलासिका के स्थान पर विनायिका कहते हैं, परन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि विनायिका का अन्तर्भाव दुर्मल्लिका में हो जाता है, विश्वनाथ ने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है।

दुर्मल्लिका : दुर्मल्लिका का विवेचन करते समय शारदातनय ने प्राचीन आचार्यों के तीन विभिन्न मत उद्धृत किये हैं। पहले मत के अनुसार दुर्मल्लिका में प्रौढ़ और नागर

नायिका होती है, चार अंक होते हैं, और गर्भ सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होती हैं। प्रथम अंक तीन नाली का और विट की क्रीड़ाओं से युक्त होता है। द्वितीय अंक पाँच नाली का और विदूषक की क्रीड़ा से युक्त होता है। तृतीय अंक सात नाली का (विश्वनाथ के मत से छह नाली का) और पीठमर्द के विलास से पूर्ण होता है। चतुर्थ अंक दस नाली का होता है और इसमें नागरिक पुरुषों की क्रीड़ा होती है। विश्वनाथ का भी यही मत है। उन्होंने केवल थोड़ा बढ़ा दिया है कि दुर्मल्लिका में कैशिकी और सात्त्वती वृत्तियाँ होती हैं, सभी नट-पात्र चतुर होते हैं, परन्तु नायक छोटी जाति का पुरुष होता है।

दूसरे मत के अनुसार दुर्मल्लिका में एक दूतिका रहती है, जो नायक-नायिका की चौर्यरति का वर्णन रंगमंच पर ग्राम्य ढंग से करती है और दर्शकों से धन माँगती है, फिर धन पाकर भी बार-बार माँगती है। यह मत भोज के शृंगारप्रकाश में प्रकट किया गया है। वस्तुतः, शारदातनय ने भोज के ही दो श्लोक उद्धृत किये हैं। वे श्लोक निम्नलिखित हैं :

चौर्यरतप्रतिभेदं यूनोरनुरागवर्णनं द्वापि।
यत्र ग्राम्यकथाभिः कुरुते किल दूतिका रहसि॥
मन्त्रयति च तद्विषयं न्यग्जातित्वेन याचते च वसु।
लब्ध्वाऽपि लब्धुमिच्छति दुर्मिलिता नाम सा भवति॥[1]

शारदातनय ने अन्तिम चरण **'दुर्मिलिता नाम सा भवति'** के स्थान पर **'दुर्मल्लिका नाम्ना'** कर दिया है।

तीसरे मत के शारदातनय ने कुछ विचारकों का मत दिया है, जिन लोगों ने माना है कि इस उपरूपक को 'मत्तल्लिका' भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में शारदातनय ने किसी प्राचीनतर ग्रन्थ से दो श्लोक उद्धृत करके दो वर्णन दिये हैं। जिस मत्तल्लिका का वहाँ वर्णन है, उसकी गणना भोज के शृंगारप्रकाश में २४ श्रव्य काव्यों के अन्तर्गत की गई है। वे दोनों श्लोक वहाँ थोड़े परिवर्त्तन के साथ उद्धृत हैं और उनका नाम मन्धुल्ली या मन्धुल्लिका है। यह स्पष्ट नहीं है कि इस प्रकार के श्रव्य काव्य को कुछ लेखकों ने उपरूपकों के अन्तर्गत क्यों रखा है।

हल्लीश अथवा हल्लीसक : विश्वनाथ ने इस रूपक का नाम हल्लीश दिया है; भोज, शारदातनय आदि ने हल्लीसक लिखा है। इस उपरूपक के लक्षण के विषय में प्राचीनतर आचार्यों में मतभेद जान पड़ता है। पूर्ववर्त्ती आचार्य भोज तथा अभिनवगुप्त के दिये लक्षणों से परवर्त्ती आचार्य विश्वनाथ तथा शारदातनय के दिये लक्षण मेल नहीं खाते। भोज ने शृंगारप्रकाश में हल्लीसक का लक्षण दिया है :

यन्मण्डलेन वृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत्प्राहुः।
तत्रैको नेता स्याद्गोपस्त्रीणामिव मुरारिः॥[2]

---

१. शृंगारप्रकाश, पृ० १४५; नाट्यदर्पण, अन्तिम पृष्ठ

२. वही

और अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में हल्लीसक के विषय में लिखा है :

यन्मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम् ।
एकस्तत्र तु नेता स्यात् गोपस्त्रीणां यथा हरिः ।।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भोजवाला ही लक्षण नाट्यदर्पण में उद्धृत कर दिया है। इन आचार्यों के अनुसार हल्लीसक केवल एक प्रकार का नृत्य है, जिसमें अनेक स्त्रियाँ मण्डल बनाकर नाचती हैं और जिसमें एक नेता होता है; जैसे गोपियों के नृत्य में कृष्ण थे।

किन्तु, विश्वनाथ ने सर्वथा भिन्न लक्षण दिया है। उनके मतानुसार हल्लीश में एक ही अंक होता है और सात, आठ या दस स्त्रियाँ रहती हैं। उदात्त वचन बोलनेवाला एक पुरुष होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति और मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। गाने में लय और ताल बहुत होते हैं। शारदातनय का दिया हुआ लक्षण विश्वनाथवाले ही लक्षण से मिलता है, परन्तु इन्होंने एक अंक के साथ दो अंकवाले भी हल्लीसक की स्वीकृति दी है। दो अंकवाले हल्लीसक में मुख और अवमर्श सन्धियाँ होती हैं। शारदातनय ने नायक के विषय में भी अधिक विस्तार किया है। विश्वनाथ और शारदातनय दोनों ने **केलिरैवतक** का उदाहरण दिया है।

भाण : भाण नामक उपरूपक का विवरण शारदातनय, भोज और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने दिया, परन्तु विश्वनाथ ने इसका उल्लेख नहीं किया है। शारदातनय ने भाण का विवरण देते समय दो वर्णन दिये हैं, जो एक ही-से हैं। दूसरा वर्णन किसी भिन्न विचारधारा का है; जैसा कि लेखक ने पुस्तक के अन्त में संकेत किया है :

तेषां मतैरभिन्नोऽपि भिन्नवत् प्रतिभाति सः ।[2]

भावप्रकाशन में दिया हुआ पहला लक्षण वही है, जो शृंगारप्रकाश और नाट्यशास्त्र में दिया गया है, शब्द भी लगभग वे ही हैं। यथा :

हरि-हर-भानु-भवानी-स्कन्द-प्रमथाधिप-स्तुति-निबद्धः ।
उद्धतकरणप्रायः　स्त्रीवर्ज्यो　वर्णनायुक्तः ।।[3]

आगे भी कई श्लोक अक्षरशः एक ही हैं। परन्तु, भावप्रकाशन में दिये गये दूसरे लक्षण का स्रोत अज्ञात है।

गीत में प्रयुक्त भाषा के अन्तर के आधार पर भाण के तीन भेद किये गये हैं—शुद्ध, संकीर्ण तथा चित्र। यदि गीत की भाषा शुद्ध है तो वह शुद्ध भाण है, यदि भाषा संकर है तो भाण संकर है और यदि भाषा सभी भाषाओं से चित्रित है तो भाण भी चित्र कहा जाता है।

---

१. अभिनवभारती, पृ० १८३

२. भावप्रकाशन, दशम अधिकार, पृ० ३१३

३. वही, नवम अधिकार, पृ० २५२; नाट्यदर्पण, अन्तिम पृष्ठ, शृंगारप्रकाश

गीत के उपरान्त आये हुए कथानक या कार्य के आधार पर भाण के तीन भेद होते हैं— उद्धत, ललित तथा ललितोद्धत। भाण का कार्य या अर्थ यदि उद्धत है, तो भाण उद्धत कहलाता है; यदि ललित है, तो वह ललित भाण कहा जाता है और यदि उद्धत तथा ललित दोनों हो, तो ललितोद्धत भाण कहा जाता है।

फिर भोज और शारदातनय ने नन्दिमाली नाम के भाण के अन्य भेद को स्वीकार किया है और इस विषय में उन्होंने कहा है कि जो लोग इसे भिन्न उपरूपक मानते हैं, उन्हें भरत द्वारा निर्दिष्ट नियमों का सम्यक् ज्ञान नहीं है।

इन दोनों आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भरत ने नन्दिमाली को स्वीकार किया है, परन्तु यह विचित्र बात है कि वर्त्तमान नाट्यशास्त्र इस विषय में सर्वथा मौन है। नन्दिमाली का वर्णन प्रधान रूपक के दस भेदों में से एक विशिष्ट भेद भाण के ही सदृश है। नन्दिमाली में आकाश-पुरुष को उद्देश्य करके कोई वस्तु कही या पढ़ी जाती है। इसमें प्रायः उद्धत क्रियाएँ की जाती हैं और कहीं-कहीं स्त्रियों का वर्णन वर्जित रहता है।

भाणिका : भाणिका नामक उपरूपक का विवेचन इस विषय पर लिखनेवाले प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। विश्वनाथ ने भाणिका का जो लक्षण दिया है, उसमें और शारदातनय के दिये हुए लक्षण में बहुत अन्तर है। शारदातनय ने इस विषय में दो विचार-धाराओं के मतों का निर्देश दिया है। प्रथम मत के अनुसार भाण का ही एक दूसरा रूप भाणिका है, यद्यपि इसका प्रधान अंश गीत तथा नृत्त से ही पूर्ण रहता है। भाणिका के प्रथम लक्षण से सम्बन्ध रखनेवाले जितने श्लोक भावप्रकाशन में है, वे सभी शृंगारप्रकाश में भी पाये जाते हैं। नाट्य-दर्पण में केवल पहला श्लोक उद्धृत किया गया है।

भावप्रकाशन में दिया गया दूसरा मत भाणिका को एक अभिनयात्मक उपरूपक मानता है, जिसमें शृंगार-प्रधान रस होता है। इसमें मुख, प्रतिमुख, निर्वहण—तीन सन्धियाँ होती हैं और कथानक छोटा होता है। विट, पीठमर्द और विदूषक इसके पात्र होते हैं। इसमें दस लास्यांग होते हैं और पांचाली रीति होती है। इसकी नायिका सुन्दर वेशभूषा की होती है। उदाहरण के लिए शारदातनय ने वीणावती को प्रस्तुत किया है, परन्तु इसके विषय में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है।

विश्वनाथ के मतानुसार भाणिका में वेशादि की रचना सुन्दर होती है और मुख तथा निर्वहण सन्धियों की योजना की जाती है। इसमें एक ही अंक होता है और कैशिकी तथा भारती वृत्तियाँ पाई जाती हैं। इसका नायक मन्द होता है, परन्तु नायिका उदात्त होती है। इसमें सात अंग होते हैं, जिनके नाम हैं : उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निवृत्ति और संहार। किसी प्रसंग से कार्य का कथन उपन्यास कहा जाता है, निर्वेदपूर्ण वाक्यों का विस्तार करना विन्यास है, भ्रान्ति दूर करना विबोध होता है, मिथ्या कथन करना साध्वस कहा जाता है, कोप अथवा पीड़ा के कारण उपालम्भ वचन कहना समर्पण

कहा जाता है। दृष्टान्त-निरूपण को निवृत्ति कहते हैं और कार्य-समाप्ति को संहार कहा जाता है। विश्वनाथ ने भाणिका का उदाहरण 'कामदत्ता' दिया है, जो अब अप्राप्य है।

डोम्बी : डोम्बी नामक उपरूपक का लक्षण सर्वप्रथम शारदातनय ने भावप्रकाशन में दिया। कुछ आचार्यों ने डोम्बी को ही भाणिका कहा है और वही बात भावप्रकाशन की निम्नलिखित पंक्ति में देखी जाती है :

डोम्ब्येव भाणिकोदात्तनायिकैकाङ्कभूषिता।[1]

विश्वनाथ ने यही सिद्धान्त अपनाया और भाणिका का विवेचन किया, जो शारदातनय की डोम्बी का ही लक्षण है। उन्होंने कामदत्ता का ही उदाहरण दिया, जो शारदातनय ने डोम्बी का उदाहरण दिया है। भोज और शारदातनय ने भाणिका के, जो लक्षण दिये, वे विश्वनाथ के दिये लक्षण से सर्वथा भिन्न हैं, यह ऊपर दिखलाया जा चुका है।

शारदातनय के मतानुसार डोम्बी में एक अंक होता है और उदात्त नायिका होती है। इसमें कैशिकी तथा भारती वृत्तियाँ होती हैं और वीर तथा शृंगार रस होते हैं। इसका नायक मन्द होता है और वेशादि की रचना सुन्दर होती है। इसमें सात अंग होते हैं, यथा—विन्यास, उपन्यास, विबोध, साध्वस, अनुवृत्ति, संहार और समर्पण। द्रष्टव्य है कि ऊपर भाणिका का, जो लक्षण विश्वनाथ ने दिया है, वही लक्षण शारदातनय ने डोम्बी का दिया है। उदाहरण भी दोनों का एक ही है।

मल्लिका : केवल भावप्रकाशन में ही मल्लिका को उपरूपकों में सम्मिलित किया गया है। पहली परिभाषा के अनुसार यह वस्तुतः दुर्मल्लिका ही है। भोज ने शृंगार-प्रकाश में जिस मणिकुल्या को २४ श्रव्य काव्यों में स्थान दिया है, उसे शारदातनय ने उपरूपक मल्लिका का एक दूसरा भेद माना है। उन्होंने थोड़े परिवर्तन के साथ वही श्लोक उद्धृत किया है, जो शृंगारप्रकाश में पाया जाता है। यथा शृंगारप्रकाश में :

मणिकुल्यां जलमिव न लक्ष्यते यत्र पूर्वतो वस्तु।
पश्चात् प्रकाशते सा मणिकुल्या मत्स्यहसितादि॥[2]

और भावप्रकाशन में :

मणिकुल्यां जलमिव न लक्ष्यते यत्र पूर्वतो वस्तु।
पश्चात् प्रकाशते या सा मणिकुल्यामपि मल्लिका ज्ञेया॥[3]

मल्लिका में सम्भोग शृंगार रस रहता है और कैशिकी वृत्ति होती है। इसमें एक या दो अंक रहते हैं। यह विदूषक तथा विट की क्रियाओं से युक्त होता है। इसमें गर्भ तथा

---

१. भावप्रकाशन, नवम अधिकार, पृ० २५७

२. शृंगारप्रकाश, पृ० १४७

३. भावप्रकाशन, नवम अधिकार, पृ० २६८

अवमर्श के अतिरिक्त शेष तीन सन्धियाँ मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण की योजना होती है। शारदातनय ने मल्लिका का कोई उदाहरण नहीं दिया है।

कल्पवल्ली : शारदातनय ने ही सर्वप्रथम कल्पवल्ली को उपरूपकों की सूची में गिनाया। कल्पवल्ली में वासकसज्जा अथवा अभिसारिका नायिका रहती है और नायक उदात्त होता है। इसमें हास्य अथवा शृंगार रस की प्रधानता रहती है और दस लास्यांगों तथा तीन लयों की योजना की जाती है। इसमें उपनायक पीठमर्द होता है। कल्पवल्ली में मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियों की योजना होती है और यह उदात्त वर्णनों से युक्त होती है। उदाहरण के लिए 'माणिक्यवल्लिका' को प्रस्तुत किया गया।

पारिजातक : पारिजातक को भी सर्वप्रथम शारदातनय ने ही उपरूपकों में रखा। इसमें देव या क्षत्रिय नायक रहता है और वीर या शृंगार रस की प्रधानता रहती है। इसमें एक अंक रहता है और मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। नायक उदात्त होता है और नायिका कलहान्तरिता होती है। कहीं-कहीं पारिजातक विदूषक के हास-परिहास से समन्वित होता है। इसमें अनेक प्रकार के नृत्य की योजना की जाती है। उदाहरण-स्वरूप 'गंगातरंगिका' को प्रस्तुत किया गया है। कुछ लोग उसे 'पारिजात लता' भी कहते हैं।

अन्त में विश्वनाथ ने उपसंहार किया है कि इन सब रूपक-उपरूपकों की प्रकृति यद्यपि नाटक की ही है, तथापि औचित्य के अनुसार यथासम्भव नाटक के अंगों का इनमें समावेश करना चाहिए। जहाँ नाटकोक्त अंगों का फिर कथन किया गया है, वहाँ उन अंगों की अवश्य कर्त्तव्यता जाननी चाहिए। उसमें वे सब अंग अवश्य होने चाहिए।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उपरूपकों के लक्षण के विषय में नाट्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। उपरूपकों का विवेचन करनेवाले सभी नाट्याचार्य भरत के परवर्त्ती और धनंजय के पूर्ववर्त्ती थे। उनमें कोहल, मातृगुप्त और हर्ष के अतिरिक्त अन्य आचार्य भी थे, जिनकी कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। विश्वनाथ, शारदातनय आदि परवर्त्ती आचार्यों ने उन्हीं पूर्ववर्त्ती आचार्यों के आधार पर उपरूपक के अपने लक्षण दिये। यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कोहलादि आचार्यों के पहले बड़ी संख्या में रूपक तथा उपरूपक विद्यमान थे, जिनको आधार मानकर इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्त निर्धारित किये और अपने आलोचना-ग्रन्थ लिखे। वर्त्तमान युग में भी हमें कई प्रकार के नृत्य तथा अभिनय मिल जाते हैं, जो कृष्ण तथा अन्य नायकों के कृत्यों से सम्बन्ध रखते हैं। ये नृत्य तथा अभिनय संगीत के साथ जन-रंगमंच पर या विवाह तथा किसी अन्य उत्सव के अवसर पर राजाओं के दरबार में दिखाये जाते हैं और प्राचीन नाट्य-सिद्धान्त के नियमों के अनुसार होते हैं। किन्तु, दुर्भाग्यवश इस प्रकार का साहित्य, अधिकांशतः समाप्त हो चुका है।

वर्गीकरण के आधार

रूपक और उपरूपकों के वर्गीकरण के आधार : धनंजय और धनिक उपरूपकों को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार डोम्बी, श्रीगदित आदि सात भेद नृत्य ही हैं, उपरूपक

नहीं। उन्होंने उन विद्वानों से अपनी असहमति प्रकट की है, जो इन्हें भाण की ही तरह अभिनयात्मक रूपक मानते हैं। धनंजय की मान्यता है कि नृत्य नाट्य से सर्वथा भिन्न होता है। रूपक और नृत्य में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि रूपक या नाट्य रसाश्रित होता है, परन्तु नृत्य भावाश्रित। नाट्य में पात्रों का सर्वांगीण चित्रण करते हुए, रस को परिपुष्ट किया जाता है, परन्तु नृत्य में केवल भावों की अभिव्यंजना करना उद्देश्य रहता है। फिर नाट्य में चारों प्रकार के— आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक—अभिनय होते हैं, परन्तु नृत्य में केवल आंगिक अभिनय होता है। दोनों में एक अन्तर यह भी है कि नाट्य में दृश्य के अतिरिक्त श्रवणीय भी बहुत रहता है, परन्तु नृत्य में सब कुछ दर्शनीय रहता है, श्रवणीय कुछ भी नहीं।

इस प्रकार धनंजय-धनिक ने डोम्बी, श्रीगदित आदि को नृत्य ही माना, रूपक नहीं।

इसके विपरीत कविराज विश्वनाथ ने दस रूपकों के अतिरिक्त १८ उपरूपकों की भी स्थिति स्पष्ट रूप से स्वीकार की। परन्तु, उन्होंने उपरूपक मानने का कोई कारण नहीं दिया और न रूपक तथा उपरूपक में अन्तर ही बताने का प्रयास किया है।

शारदातनय में दोनों मतों का समन्वय है। उन्होंने दस रूपकों की गिनती कराने के बाद बीस उपरूपकों को भी स्वीकार किया। किन्तु, उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि नाटकादि दस रूपक रसात्मक हैं और तोटकादि बीस रूपक (या उपरूपक) भावात्मक; और दृश्यता के ही कारण इन्हें कुछ लोग रूपक कहते हैं :

रसात्मका दशैतेषु विंशद् भावात्मका मताः।
तेषां रूपकसंज्ञापि प्रायो दृश्यतया क्वचित्॥[1]

शारदातनय ने सब—रूपकों तथा उपरूपकों—का योगफल तीस ही माना है।

इस दृष्टि से शारदातनय का दृष्टिकोण सर्वाधिक वैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक है। वस्तुतः, उपरूपक नृत्य ही है, परन्तु उसमें अभिनयात्मक तत्त्व विद्यमान रहता है। फिर उपरूपक भाव पर आश्रित रहता है, जबकि रूपक रस पर।

इस प्रकार रूपक और उपरूपक के वर्गीकरण के आधार दो हैं :

१. रूपक में अभिनय का तत्त्व प्रमुख रहता है, परन्तु उपरूपक में नृत्य की प्रमुखता रहती है।

२. रूपक रसात्मक होता है, अर्थात् रस पर आश्रित रहता है, परन्तु उपरूपक भावात्मक होता है, अर्थात् भाव पर आश्रित रहता है।

विभिन्न रूपकों तथा उपरूपकों के वर्गीकरण के आधार : रूपकों का भी नाटक, प्रकरण आदि में वर्गीकरण किया गया है। वैसे ही उपरूपक का भी नाटिका, तोटक आदि

१. **भावप्रकाशन, अष्टम अधिकार, पृ० २२१**

विश्वनाथ के मत से १८ तथा शारदातनय के मत से २० भेदों में वर्गीकरण हुआ है। इस वर्गीकरण के मुख्य आधार तीन हैं—वस्तु, विस्तार और रस।

वस्तु : पहले निर्देश किया जा चुका है कि वस्तु तीन प्रकार की होती है– प्रख्यात (इतिहास-प्रसिद्ध), उत्पाद्य (कवि-कल्पित) तथा मिश्रित। रूपकों तथा उपरूपकों का वर्गीकरण करने में वस्तु के ये भेद सबल आधार होते हैं। रूपक तथा उपरूपक के कुछ भेदों की वस्तु प्रख्यात अथवा ऐतिहासिक होती है : जैसे नाटक, व्यायोग, समवकार आदि। कुछ रूपकों की कथावस्तु उत्पाद्य या कवि-कल्पित होती है : जैसे प्रकरण, भाण, प्रहसन आदि। ईहामृग की कथावस्तु मिश्रित होती है, अर्थात् इसका कुछ अंश इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध होता है और कुछ अंश कवि-कल्पित होता है। इसी प्रकार उपरूपकों में भी कुछ भेदों की कथावस्तु ऐतिहासिक तथा कुछ की कवि-कल्पित होती है। नाटिका की कथा उत्पाद्य अथवा कवि-कल्पित होती है, परन्तु नायक प्रख्यात होता है।

इस विवेचन से देखा जा सकता है कि रूपक-उपरूपक के वर्गीकरण में कथावस्तु का पर्याप्त महत्त्व है। वस्तु के आधार पर वर्गीकरण में सुविधा होती है।

विस्तार : विस्तार के भी आधार पर रूपकों तथा उपरूपकों के विभिन्न वर्ग हुए हैं। सभी रूपकों का विस्तार बराबर नहीं होता, प्रत्युत न्यूनाधिक हुआ करता है। महानाटक दस अकों का होता है, तो भाण एक ही अंक का होता है। वैसे ही सभी रूपकों तथा उपरूपकों के विस्तार में अन्तर होता है। नाटक और प्रकरण पाँच अंकों से दस अंकों तक के होते हैं। नाटिका, शिल्पक, ईहामृग, डिम आदि में चार अंक होते हैं, समवकार में तीन अंक होते हैं, तो तोटक में सात, आठ, नौ अथवा पाँच अंक होते हैं। संलाप में तीन या चार अंक होते हैं और प्रहंस में दो ही अंक। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे रूपक तथा उपरूपक हैं, जिनमें एक ही अंक रहता है, जैसे भाण, प्रहसन, अंक, वीथी, व्यायोग आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक से दस तक अंक पाये जानेवाले रूपकों तथा उपरूपकों का निर्देश हमारे नाट्यचार्यों ने किया है।

अतः, स्पष्ट हो जाता है कि रूपक और उपरूपक के भेदों के वर्गीकरण में विस्तार भी एक प्रमुख आधार है।

रस : रूपक तथा उपरूपक के विभिन्न भेदों के वर्गीकरण में रस का भी प्रधान स्थान है। सभी रूपकों तथा उपरूपकों में किसी-न-किसी रस की प्रधानता रहती है, कुछ रस गौण या अंग-रूप में भी रह सकते हैं और कुछ रस वर्जित हैं। नाट्यकार को नाट्य की रचना करते समय रस पर पर्याप्त ध्यान देना होता है। नाटक में वीर अथवा शृंगार रस की प्रधानता होती है, वैसे सभी रस अंग-रूप में रहते हैं। प्रहसन में हास्य रस, समवकार में वीर रस, वीथी में शृंगार रस, अंक में करुण रस की प्रधानता रहती है। डिम और व्यायोग में शृंगार और हास्य जैसे कोमल रसों का समावेश नहीं होता, शेष वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण तथा भयानक रस रहते हैं, परन्तु प्रधान रस रौद्र ही होता है।

रस की यह विभिन्नता उपरूपकों में भी देखी जा सकती है। नाटिका, प्रकरणिका, सट्टक, गोष्ठी तथा तोटक में श्रृंगार रस प्रधान रहता है। उल्लाप्य में हास्य, श्रृंगार तथा करुण रस; काव्य में हास्य रस, प्रेंखण में वीर तथा रौद्र रस और संलापक में श्रृंगार तथा करुण के अतिरिक्त अन्य सभी रस रह सकते हैं।

इस प्रकार, प्रमाणित हो जाता है कि रूपकों तथा उपरूपकों के विविध भेदों के वर्गीकरण का आधार रस भी है। रस के आधार पर अनेक भेद किये गये हैं।

युग की प्रेरक भावना : रूपकों के वर्गीकरण में युग की प्रेरक भावनाओं का भी सबल आधार रहा होगा। समाज के अनुरूप ही साहित्य की सृष्टि होती है। जिस प्रकार का समाज होगा, उसी के अनुकूल साहित्य का भी निर्माण होता है। तद्युगीन समाज का प्रभाव रूपक आदि किसी कलाकृति पर अवश्य पड़ता है। समाज की कला-भावना भी समय के साथ परिवर्त्तित होती रहती है। जनता की रुचि के आधार पर भी कलाकृति में समय-समय पर परिवर्त्तन तथा परिवर्द्धन, विकार तथा परिष्कार होता रहता है। यदि समाज में सुख-शान्ति है, सभी को जीवन-यापन के साधन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं, उस समय श्रृंगारिक नाटक, नाटिका आदि श्रृंगार-प्रधान रूपकों की सृष्टि अवश्य होगी। यदि समाज और देश में उपद्रव और अशान्ति चल रही है, तो वीररस के नाटक, डिम तथा व्यायोग की रचना हो सकती है। समाज में कुरीति, पाखण्ड आदि का साम्राज्य हो जाने पर भाण तथा प्रहसन के कशाघात की आवश्यकता होगी, जिससे उन कुरीतियों और पाखण्डों की जड़ हिल जाय। उस युग में ऐसे ही रूपकों की रचना होगी। जब-जब जैसा समय आयगा, उसी के अनुरूप रूपकों का भी निर्माण होना अवश्यम्भावी है।

अतः रूपकों के वर्गीकरण का एक प्रबल आधार युग की प्रेरक भावना भी है। उक्त वर्गीकरण पर समाज की कला-भावना का भी प्रर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

एकांकी

सवाक् चलचित्र की प्रतिक्रिया के रूप में यूरोप में एकांकी नाटकों की रचना होने लगी; क्योंकि सवाक् चलचित्र के आविष्कार में नवीनता तथा अल्पव्ययता तो थी ही, समय की भी काफी बचत होती थी। अतः कई उच्चकोटि के लेखकों का इस ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। इन लेखकों के साथ बहुत बड़ी कठिनाई यह थी कि इन एकांकियों से रंगशालाएँ आरम्भ में सन्तुष्ट नहीं थीं और यद्यपि इनमें दृश्य-तत्त्व तथा अभिनय-तत्त्व वर्त्तमान थे, परन्तु इनमें कला-तत्त्व का पर्याप्त विकास नहीं पाया जाता था। फिर भी, इनमें धीरे-धीरे सुधार हुआ और लोग इनका महत्त्व समझने लगे। स्कूलों और कॉलेजों की छोटी रंगशालाओं ने थोड़े समय के लिए मनोरंजन का अच्छा साधन समझकर इन्हें अंगीकृत किया और इनका प्रचार भी किया। शीघ्र ही शिष्ट समुदाय ने भी इन्हें अधिक मान्यता दी और इनका प्रयोग सर्वत्र होने लगा।

संस्कृत-साहित्य में एकांकी : स्थापत्य तथा प्रवृत्तियों की दृष्टि से आधुनिक साहित्य के कई अंग पाश्चात्त्य साहित्य से ही प्रभावित हैं। उनका मूल वेदों में ढूँढ़ना हास्यास्पद होगा। उदाहरणार्थ आधुनिक उपन्यास कादम्बरी की या आधुनिक छोटी कहानी पंचतन्त्र आदि की परम्परा की नहीं हैं। उसी प्रकार, आधुनिक एकांकी भी भास आदि से प्रभावित नहीं है। फिर भी यह कहना कि भारतीय नाट्य-साहित्य में एकांकी की कल्पना थी ही नहीं, पाश्चात्त्य साहित्य के प्रति अनावश्यक पक्षपात ही कहा जायगा। आधुनिक एकांकी का उत्स संस्कृत के एकांकी नाटकों में मिलता है और उनका प्रभाव भी कुछ अंश में हिन्दी-एकांकी पर पड़ा है।

जिन व्यक्तियों ने संस्कृत-नाट्यशास्त्र या नाट्य-साहित्य का अध्ययन नहीं किया है, उनकी धारणा है कि एकांकी भी बीसवीं शती के वैज्ञानिक आविष्कारों के समान पश्चिमी देशों की देन है। ईसा के काफी पहले ही भास ने एकांकी नाटकों का आरम्भ कर दिया था। किन्तु, यह भी उतना ही सत्य है कि आज के एकांकी नाटक भास के एकांकी नाटकों के उत्तराधिकारी नहीं कहे जा सकते। यूरोप में भी छोटे, सम्बद्ध एवं कलात्मक नाटक नवीन आविष्कार के रूप में नहीं आये हैं। प्राचीन यूनान और इटली में छोटे प्रहसनों का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ था।

यह ठीक है कि एकांकी नाम प्राच्य नामों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता; क्योंकि यह अँगरेजी के one-act play के अनुकरण पर प्रचलित हुआ। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एकांकी मूल रूप में भारतीय नाट्य-साहित्य में विद्यमान था, परन्तु आधुनिक साहित्य उससे प्रेरणा नहीं लेकर पाश्चात्त्य-साहित्य से अनुप्राणित हुआ। रूपक के दस भेदों में एक 'अंक' भी होता है, जिसमें एक ही अंक रहता है; यदि हम चाहें तो एकांकी के मूल शास्त्रीय रूप में उसे याद कर सकते हैं। हमारे यहाँ एकांकी नाम का कुछ नहीं है, परन्तु रूपक और उपरूपक के कई भेद एक अंक के होते हैं, जिन्हें एकांक नाटक या एकांक रूपक कह सकते हैं।

इस स्थल पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारे यहाँ साहित्य के अंग-उपांग का वर्गीकरण पाश्चात्त्य वर्गीकरण से भिन्न प्रकार का है। यहाँ साहित्य को क्यों, कला-मात्र की आत्मा के रूप में रस को स्वीकार किया गया है। इसलिए हमारी विभाजन-प्रणाली रस के आस्वाद की प्रक्रिया पर ही सर्वथा निर्भर है। रसास्वाद ही भारत में साहित्य या कला का चरम अभिप्राय माना जाता रहा है। अतः एकांकी के भी वर्गीकरण तथा स्वरूप-निरूपण के मूल में रस ही है।

पहले लिखा जा चुका है कि भरत मुनि, आचार्य धनंजय आदि नाट्याचार्यों ने रूपक के दस भेद माने—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, वीथी, अंक, समवकार तथा ईहामृग। इनमें पाँच एकांक हैं—भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी और अंक।

कुछ आलोचकों ने आधुनिक युग को कर्म-संकुल घोषित करके छोटी कहानी को उपन्यास का संक्षिप्त रूप सिद्ध करने का प्रयास किया। इसी प्रकार एकांकी को नाटक का

संक्षिप्त रूप ही समझा गया। परन्तु, अब ये साहित्य के स्वतन्त्र अस्तित्व निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुके हैं। परन्तु, संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करने से पूर्वोक्त एकांकियों पर कर्मसंकुलता का तर्क किसी भी प्रकार लागू नहीं किया जा सकता। संस्कृत के श्रव्य काव्यों का आरम्भ जहाँ वेद, वाल्मीकि तथा व्यास से हुआ, वहाँ भरत मुनि ने दृश्य काव्य का उद्गम 'अमृतमन्थन' नामक समवकार और 'त्रिपुरदाह' नामक 'डिम' से बताया और ये दोनों एकांकी रूपकों से थोड़े ही बड़े आकार के होते हैं। भास ने भी नाट्यकला के उस आरम्भिक युग में पाँच-पाँच एकांकी या एकांक रूपक लिखे थे। इससे एकांकी की स्वतन्त्र सत्ता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इससे प्रकट होता है कि एकांकी बड़े नाटक का संक्षिप्त रूप नहीं है, अपितु निर्वाह की दृष्टि से उसका कौशल नाटक से भी अधिक कठिन है और उसका क्रमिक विकास अपने ढंग पर हुआ है। भास से कांचनाचार्य तक के एकांकियों में वैधानिकता एवं रसात्मकता की विदग्धता का हमें अनुभव होता है, जो १५ सौ वर्षों से सहृदयों के मानस पर अपना प्रभाव डालती आई है। उन एकांकियों ने युगोचित उपयोगिता का त्याग कर स्थायी आनन्द का वरण कर लिया है।

अभी जिन पाँच प्रकार के एकांकियों का उल्लेख किया गया, वे दस रूपकों में से हैं। परन्तु इन दस रूपकों के अतिरिक्त विश्वनाथ ने १८ और शारदातनय ने २० उपरूपकों का भी विवेचन किया है। सौभाग्यवश इन उपरूपकों में से दस एकांकी हैं—गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीश और भाणिका।

इस प्रकार पाँच रूपक और दस उपरूपक एकांकी होते हैं और ये पन्द्रह प्रकार पन्द्रह सौ वर्षों की परम्परा रखते हैं, आधुनिक युग का कोई आविष्कार नहीं है। एकांकी के व्यक्तित्व का विकास अपनी ही सीमा में हुआ है, उसमें पूर्ण नाटक के लक्षणों को आत्मसात् करने की कल्पना कभी नहीं की गई। एकांकी कभी भी जीवन की सम्पूर्णता का अंकन करने का प्रयास नहीं करता, प्रत्युत उसकी एक विशेष परिस्थिति की झाँकी देता है। इसीलिए, उसका प्रधान उद्देश्य एक विशेष स्थिति में ही जीवन को प्रस्तुत करना होता है। वास्तव में, एकांकी की कला के निर्वाह के लिए उपर्युक्त लक्ष्य की सीधी-सादी अभिव्यक्ति आवश्यक है। इसमें रूढ़ नाटकीय जटिलताओं के लिए अवकाश नहीं होता।

परन्तु, साथ ही, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आज के एकांकी वही नहीं हैं, जो प्राचीन संस्कृत-साहित्य के एकांकी या एकांक रूपक थे। वस्तुतः, आधुनिक एकांकी संस्कृत-एकांकी का पूर्ण उत्तराधिकारी नहीं कहा जा सकता है।

कला की दृष्टि से एकांकी अपने में पूर्ण होता है। यह एक अंक का भी होकर अनेकांकी नाटकों की अनेक जटिलताओं से युक्त होता है। यह अगस्त्य ऋषि के चुल्लू में समुद्र रखने की भाँति ही एक ही अंक में सन्धियों, अन्वितियों आदि का निर्वाह करते हुए चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है। यह फूलों का गुलदस्ता नहीं, एक कली है, जो स्वयं अपने में पूर्ण है।

हिन्दी के एकांकी तथा नाटक के अन्य आधुनिक भेदों का निरूपण आगे के एक अध्याय में किया जायगा।

प्राचीन भारतीय नाटकों में त्रासदी का अभाव

त्रासदी : यूनान में त्रासदी की रचना हुई और वहाँ की रंगशालाओं में इसका प्रदर्शन होता था। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक और आलोचक अरस्तू ने अपनी पुस्तक पोएटिक्स में त्रासदी की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है :

"Tragedy is an imitation of an action that is serious, complete, and of a certain magnitude in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper katharsis of purgation of these emotions."[1]

इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि त्रासदी में भी, सभी ललित कलाओं के समान, अनुकरण ही है। आगे सुखान्त नाटकों या कामदियों से त्रासदी का अन्तर बताते हुए, अरस्तू ने बताया कि त्रासदी ऐसे कार्यों का अनुकरण है, जो न तो हास्यास्पद हैं और न नैतिक दृष्टि से तुच्छ हैं, प्रत्युत गम्भीर उद्देश्य से सम्बद्ध हैं। वस्तुतः, यह मानव-भाग्य का चित्र है। महाकाव्य से त्रासदी का अन्तर बताया गया है कि यह महाकाव्य के समान विवरणात्मक नहीं होता, वरन् कार्यात्मक या नाट्यात्मक होता है। परिभाषा के शेषांश में त्रासदी के प्रभाव का उल्लेख है। त्रासदी में भय और करुणा के संचार से भावनाओं का शुद्धीकरण हो जाता है। अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'Katharsis' शब्द का संसार के अनेक देशों के असंख्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ लगाया है।

जर्मन दार्शनिक श्रीनीत्शे के मतानुसार त्रासदी ही नाटक का मूल स्वरूप है। नाटक के इस मूल स्वरूप — त्रासदी — में यूनान के दो विरोधी भावों का सामंजस्य है। एक है दायोनिसियस, जो कल्पना, आवेश, उद्वेग और लालसा का प्रतीक है। दूसरा है एपोलो, जो सामंजस्य, सन्तोष, शालीनता, मर्यादा तथा प्रेम का प्रतीक है। इन दो विरोधी भावों के समन्वय से त्रासदी की रचना हुई है। दायोनिसियस की आत्मा उन्मत्तता तथा प्रलाप की आत्मा है और एपोलो की आत्मा स्वप्नलोक की उज्ज्वल आभा है। यूनानी कवियों ने इन दो विरोधी आत्माओं में अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे एक समन्वय कर दिया। वस्तुतः, कल्पना और वास्तविकता, मर्यादा और प्रलाप, लालसा और प्रेम में सामंजस्य उपस्थित करना असाधारण काम था।

प्रसिद्ध आलोचक रिजवे का अनुमान है कि प्राचीन काल में मनुष्यों की टोलियाँ ऋतु-परिवर्त्तन के अवसर पर प्रसन्न होकर नृत्य करती थीं, उस समय अपनी जाति-विशेष के वीरों का आह्वान कर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती थीं। इस

१. *Poetics*—translated by S. H. Butcher, p. 23

श्रद्धांजलि में ही नाटक का बीज छिपा था। दायोनिसियस की पूजा के निमित्त जिस वेदी का निर्माण होता था, वस्तुतः वह बलिवेदी थी। वहाँ दायोनिसियस तथा अन्य जातीय वीरों की आत्मा की सन्तुष्टि के लिए बलिदान होते थे। इसी बलिदान के कार्यक्रम में त्रासदी का बीज निहित था। जब मनुष्यों की इन टोलियों के द्वारा दायोनिसियस की पूजा सम्पन्न की जाती थी, उस समय बहुत अशिष्ट एवं अश्लील रूप में नृत्य तथा गायन होते थे। उस समय के यूनानियों का विश्वास था कि दायोनिसियस के ही कारण खेती होती है तथा मनुष्यों को सुख-समृद्धि की प्राप्ति होती है। उस समय के ये उत्सव यूरोप के मई-दिवस और भारत की होली की रँगरेलियों से मिलते-जुलते थे।

नाट्यकला के आलोचक मूरे के मतानुसार भी त्रासदी का मूल दायोनिसियस की पूजा में छिपा था। दायोनिसियस की पूजा वसन्त तथा नववर्ष के आगमन की सूचना देती थी। प्रत्येक वर्ष का जीवन कभी गर्व से उन्नत होता था और कभी उस गर्व का पतन होता था। वसन्त में उस गर्व की पराकाष्ठा थी और शिशिर में उसी का पतन होता था। इन्हीं दो भावों—गर्व तथा उसका पतन—को लेकर त्रासदी की आत्मा की सृष्टि हुई। गर्व तथा उसके पतन का प्रतिवर्ष पुनरागमन होता रहता था और इसकी एक अविच्छिन्न शृंखला बँधी रहती। इस शृंखला में नाट्यकला का उद्भव हुआ।

मध्ययुग के कलाकारों के लिए त्रासदी के अर्थ में थोड़ा परिवर्त्तन हुआ। उनके लिए किसी श्रेष्ठ तथा सम्पन्न व्यक्ति के भाग्य में आकस्मिक परिवर्त्तन ही त्रासदी का आधार हुआ। इस आकस्मिक भाग्य-परिवर्त्तन को देखकर किसी के मन में भय, करुणा और सहानुभूति—तीनों ही भावनाओं की जागृति होती है। वे लोग समझते हैं कि मनुष्य भाग्य या नियति के हाथ में खिलौना-मात्र है। भाग्य जैसा चाहे, मनुष्य को बना या बिगाड़ सकता है। भाग्य किसी को सदा सुखी नहीं देख सकता, वरन् कुछ ही देर तक उसे सुखी रखकर शीघ्र उसका पतन करा देता है। वस्तुतः मध्ययुग के कलाकारों के ये विचार निराशावादी हैं।

पाश्चात्य दृष्टि में नाटक : सामान्यतः नाटक-रचना एक कला है। अरस्तू ने कला की परिभाषा देते समय कहा है कि समस्त कला अनुकरण-मात्र है। इस परिभाषा से अरस्तू का तात्पर्य यह था कि कलाकार की दृष्टि जीवन के विशद विस्तार की ओर रहती है। जीवन के कुछ अंग कलाकार को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वह अपने लेखनी या तूलिका के सहारे शब्दों या रंगों के प्रयोग से चित्र या कविता की रचना करता है। इस कविता या चित्र में कलाकार के द्वारा पहले देखे गये जीवन का प्रतिबिम्ब रहता है। दूसरे शब्दों में, वह कविता या चित्र जीवन का अनुकरण है।

यूनान के एक दूसरे प्रसिद्ध आलोचक और दार्शनिक अफलातून (Plato) ने इस परिभाषा की आलोचना की। उनका कथन है कि जब सब कलाएँ अनुकरण-मात्र हैं तो वे झूठ या मिथ्यावाद का प्रचार करती हैं; अतः कलाकारों को सभ्य समाज से दूर ही रहना

उचित है। उनका विचार था कि मूल रूप से सारी वस्तुएँ ईश्वर के मस्तिष्क में ही वर्त्तमान हैं और संसार की सभी वस्तुएँ उसी मूल रूप का प्रतिबिम्ब हैं। अब कलाकार सांसारिक जीवन का अनुकरण करता है, तो वह मूल रूप के प्रतिबिम्ब का अनुकरण-मात्र करता है। इस प्रकार, वह मूल रूप और भी दूर जा पड़ता है (Thrice removed from reality)।

अरस्तू ने इस आलोचना का उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि यद्यपि कला अनुकरण-मात्र है, फिर भी यह अनुकरण मूल रूप से ही सम्बद्ध है, चाहे वह सम्बन्ध कितनी ही दूरी का क्यों न हो। अतः, कला और कलाकार को सभ्य समाज से हटने की आवश्यकता नहीं; उन्हें भी सभ्य समाज में रहने का पूर्ण अधिकार है। अरस्तू का कथन है कि कला में न निस्सारता है और न मिथ्यावाद। उसमें सत्य रहता है, परन्तु कला का सत्य इतिहास के सत्य से सर्वथा भिन्न होता है। उसमें कल्पना-जगत् की सत्यता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यकला एक कल्पनापूर्ण अनुकरण है, जो जीवन के सुन्दरतम अंगों का कल्पनात्मक अनुकरण करती है।

फ्रांसीसी आलोचक ब्रूनेवरे के मतानुसार दो इच्छा-शक्तियों के द्वन्द्व के ही आधार पर नाटक का निर्माण होता है। सम्भव है कि किसी एक ही व्यक्ति की दो इच्छाओं, अथवा दो व्यक्तियों की दो इच्छाओं अथवा किसी एक व्यक्ति की एक इच्छा और एक वर्ग या समूह की इच्छा में द्वन्द्व हो। द्वन्द्व का रहना आवश्यक है, तभी नाटक का जन्म होता है। कभी-कभी यह भी होता है कि एक ही व्यक्ति की इच्छा घटनाओं या बाधाओं से टकराकर द्वन्द्व उत्पन्न कर सकती है। यदि किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं होगा, तो नाटक का जन्म नहीं हो सकता। साहित्य में इस सिद्धान्त का बहुत आदर रहा है।

कुछ आलोचकों का कथन है कि नाटक में द्वन्द्व तो रहना चाहिए, परन्तु वह द्वन्द्व विस्तृत या विशाल न होकर एक केन्द्र पर स्थित रहना चाहिए। यदि वह द्वन्द्व घटनाओं या अड़चनों से सीमित रहेगा, तो वह अकर्षक या हृदयग्राही होगा। इसी के आधार पर कतिपय आलोचकों ने नाटक में आपत्काल (Crisis अथवा catastrophe) पर बल दिया है। जब द्वन्द्व एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाता है, जब सम्भावना हो जाती है कि अब सारा खेल बना या बिगड़ा, तो उसी क्षण आपत्काल की सृष्टि होती है। यदि इस आपत्काल को नाटक झेल गया, तो उसकी सफलता हो गई और यदि आपत्काल को वह नहीं झेलकर हार गया, तो उसकी असफलता हो गई। इसी सफलता या असफलता के आधार पर नाटक कामदी या त्रासदी बनता है।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह हुआ कि नाटक एक अनुकरणात्मक कला है और इससे जीवन का कल्पनापूर्ण प्रतिबिम्ब प्रदर्शित होता है। इस प्रदर्शन में सीमित और केन्द्रीभूत इच्छा-शक्तियों के द्वन्द्व में नाटक की आत्मा प्रस्फुटित होती है।

त्रासदी की आत्मा : प्राचीन यूनान और रोम में कई नाटककारों ने नाटक की रचना की, परन्तु उनमें किसी ने त्रासदियों की आत्मा का विश्लेषण करने का प्रयास नहीं

किया। परवर्त्ती दार्शनिकों तथा तत्त्ववेत्ताओं ने इस दिशा में प्रयास किया है। जब कोई व्यक्ति किसी दैवी घटना के द्वारा किसी मनुष्य को पीड़ित होते देखता है, तो उसमें अपनी हीनता की भावना जागरित होती है। इस दशा में वह अवाक् होकर दुर्घटनाएँ होते देखता है और ऐसी भावना में त्रासदी की आत्मा छिपी रहती है।

जर्मन दार्शनिक हेगेल ने त्रासदी की आत्मा का विश्लेषण दो खण्डों में किया है। पहले खण्ड में धार्मिक दृष्टिकोण है और दूसरे में सौन्दर्य-कलात्मक है। हेगेल के मतानुसार त्रासदी दोष या अनैतिकता पर आधारित है और उसका सम्बन्ध मानव-आचरण से है। त्रासदी की आत्मा उस दोष या अनैतिकता का समाधान निकालने का प्रयास करती है। इसी समाधान निकालने के प्रयास में हमें ईश्वर के आचरण का भी विवेचन करना पड़ता है और ईश्वर तथा मनुष्य के सम्बन्ध में हमें अपने विचार प्रकट करने पड़ते हैं।

त्रासदी की आत्मा का प्रथम तत्त्व ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध का अस्पष्ट रहस्य है। जब कभी हम त्रासदी देखते हैं, तो हमारे सम्मुख यही रहस्यपूर्ण समस्या उपस्थित हो जाती है। हम कर्त्ता का कारण से तथा घटनाओं से सम्बन्ध जानने की इच्छा करते हैं। हम कर्त्ता के कार्य का प्रत्येक रहस्य जानने को उत्सुक होते हैं, पर इसमें हमें सफलता नहीं प्राप्त होती। इसी रहस्य में त्रासदी की आत्मा विद्यमान रहती है।

इसके साथ ही त्रासदी की आत्मा सिद्धान्त-रूप में मान लेती है कि संसार में नैतिकता है। मनुष्य में नैतिक आचरण वर्त्तमान रहता है और वह यह प्रयत्न करता रहता है कि वह अनैतिक आचरण से अलग रहकर अपना जीवन व्यतीत करे। जब इस नैतिक मनुष्य में कोई दोष या अवगुण आ जाता है, तो त्रासदी की आत्मा मानव के चरित्र में इस दोष या अवगुण की प्रगति देखती रहती है और उस दोष को दबाने और अवगुण पर विजय पाने की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न करती है।

सिद्धान्ततः, त्रासदी का मूल आधार मृत्यु है। मृत्यु के विना त्रासदी का निर्माण नहीं हो सकता। दोष या अवगुण पर विजय पाने का सर्वोत्तम साधन मृत्यु ही है और इस मृत्यु को किसी भी रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह मृत्यु शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक किसी भी रूप में हो सकती है।

त्रासदी का प्रभाव : अरस्तू ने अपनी पुस्तक पोएतिका में त्रासदी के प्रभाव का भी मौलिक विवेचन किया है। त्रासदी का प्रभाव दर्शक पर कब और कैसे पड़ता है, इसका वैज्ञानिक विवेचन उन्होंने किया है। मानव-हृदय पर त्रासदी के प्रभाव को अरस्तू ने चिकित्साशास्त्र के आधार पर समझाया है। कोई कुशल चिकित्सक रेचक औषधियों के द्वारा किसी व्यक्ति के शरीर को शुद्ध कर देता है, उसके शरीर के अन्दर की गर्मी दूर करके शरीर को पूर्णतः नीरोग बना देता है। उसी प्रकार निपुण नाटककार दर्शक के अन्दर से विकार निकालकर उसकी शुद्धि भय और करुणा के संचार से करता है। अरस्तू ने कहा है :

"In other words, tragedy is a form of Homoeopathic treatment curing emotion by means of emotion-like in kind, but not identical."[१]

इस भय तथा करुणा का संचार नायक की अन्तिम दशा के परिणाम-रूप में होता है। त्रासदी का मूलाधार नायक का पतन होता है। प्रत्येक त्रासदी का नायक चरित्रवान्, विचारशील, निश्छल, निष्कपट तथा नैतिक होता है, परन्तु इन गुणों के साथ ही उसमें कोई एक दोष भी रहता है। यह एकांकी-दोष नायक की चित्तवृत्ति में या नैतिक सिद्धान्त में, या विचार में, या आदर्श में—चाहे किसी भी समय प्रकट हो, उसकी कारुणिक दशा या शोचनीय पतन का मूल कारण होता है। इसी दोष के कारण वह अपना पतन तो कराता ही है, अपने मित्रों, सम्बन्धियों तथा सम्बद्ध व्यक्तियों को दुःख पहुँचाता है और कभी-कभी उनकी हत्या तक कर देता है। त्रासदी देख चुकने के बाद दर्शक के हृदय में स्वभावतः दो भावों का उदय होता है। पहला करुणा का भाव होता है और दूसरा भाव भय का होता है। मनोवैज्ञानिक कारणों से इन भावों की जागृति होती है।

जब हम रंगमंच पर किसी चरित्रवान् निष्ठावान्, स्वस्थ, सुन्दर, तेजस्वी, विचारशील नायक का पतन देखते हैं, तो हममें घोर करुणा की भावना उत्पन्न होती है। स्वभावतः हमारे हृदय में करुणा की भावना रहती है और जब हममें करुणा की अत्यधिक भावना जग पड़ती है, तो हम दुःखी और उदास हो जाते हैं। किन्तु, रंगमंच पर किसी त्रासदी का अभिनय देखने पर, तो हमारे हृदय में विशेष मात्रा में करुणा का संचार हो जाता है और उसके साथ ही हमारे हृदय में स्थित स्वाभाविक करुणा की मात्रा सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करती है। परिणाम-स्वरूप यदि हममें अधिक मात्रा में करुणा होगी, तो उसका परिमार्जन तथा संशोधन होगा और हममें उतनी ही मात्रा में रह जायगी, जो हमें दुःखी तथा उदास नहीं बना सकेगी। उसकी स्थिति उसी परिमाण में रह जायगी, जितनी हमको स्वाभाविक रूप में मानव बनाये रखने के लिए पर्याप्त होगी। जिस रूप में विरेचक औषधि से हमारे शरीर की शुद्धि होती है, उसी रूप में त्रासदी से हमारी करुणा का संशोधन और परिमार्जन होता है।

त्रासदी देखने या पढ़ने से हममें करुणा के साथ ही भय का भी संचार होता है। अरस्तू ने कहा है :

"We can now see that the essential tragic effect depends on maintaining the intimate alliance between pity and fear."[२]

जब हम देखते हैं कि इतने गुणवान् और श्रेष्ठ नायक का पतन हो गया, तो हम सोचने लगते हैं कि पता नहीं, हमारा भी गर्व कब चूर्ण हो जाय। त्रासदी का अन्त देखते-देखते हमारे गर्व के अति का संशोधन हो जाता है। कुछ लेखकों का मत है कि इस संशोधन

१. *Aristotle's Theory of Poetry*, translated by S. H. Butcher, p. 248.

२. Ibid, p. 263.

में हमारी कायरता का भी परिमार्जन हो जाता है। जब त्रासदी हमें भयरूपी औषधि मात्रा में दे देता है, तो हमारे मूल भय की भावना में विद्रव हो जाता है और हमारे भय की भावना की अति का शमन हो जाता है। कुछ अन्य आलोचकों का मत है कि त्रासदी के फलस्वरूप हमारी केवल दो ही भावनाओं का संशोधन नहीं होता, वरन् हमारी सम्पूर्ण आत्मा का परिमार्जन हो जाता है और फलस्वरूप वह शुद्ध हो जाती है। आत्मा की शुद्धि के पश्चात् उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्य सुदृढ़ स्थान बना लेता है।

यदि अरस्तू के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय, तो उनमें साहित्यिक विचारों की सत्यता का ज्ञान हो जायगा। पहले तो अरस्तू ने कला को नैतिकता, आध्यात्मिकता तथा राजनीति—तीनों से सम्बद्ध कर दिया है। दूसरे, उनका चरित्र-संशोधन-सिद्धान्त वस्तुतः चिकित्साशास्त्र के रेचन-सिद्धान्त पर अवलम्बित है। परन्तु, साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि अरस्तू का अभिप्राय त्रासदी से आत्मिक अथवा आध्यात्मिक परिमार्जन न होकर केवल भावनाओं की अति का परिमार्जन है।

"Tragedy, according to the definition, acts on the feeling, not on the will. It does not make men better, though it removes certain hindrances to virtue."[१]

इसका एक विश्वस्त प्रमाण यूनानी जीवन-दर्शन से प्राप्त होता है। यूनानियों ने जीवन की सम्पूर्णता समझकर न केवल अध्यात्मावाद को ही ग्रहण किया और न सौन्दर्यवाद को ही लेकर जीवन व्यतीत किया, वरन् उन्होंने जीवन में दोनों का उचित मात्रा में सम्मिश्रण करने में ही जीवन की सार्थकता देखी। उन्होंने दायोनिसियस की उन्मत्तता और एपोलो की मर्यादा-प्रियता दोनों का स्वाभाविक सम्मिश्रण कर लिया। फलतः, इन दोनों की अति का परिमार्जन यूनानियों के साहित्य-सिद्धान्त का प्रधान लक्ष्य हो गया। यह संकेत यूनान के सभी लेखकों के त्रासदी में मिलता है और इसी संकेत से सभी यूनानी त्रासदियों का अन्त भी होता है।

ऐसा अन्त दिखाने में लेखक की नैतिक कला निहित रहती है। रंगमंच पर किसी श्रेष्ठ पुरुष का दुःखमय अन्त देख लेने पर भी और नियति का कुटिल विधान पहचान लेने पर भी दर्शक जीवन से निराश नहीं होता। वह नास्तिक नहीं बनता, प्रत्युत ईश्वरीय विधान में अपनी आस्था बनाये रखता है; क्योंकि दर्शक जान लेता है कि नायक के चरित्र के किसी दोष के परिणामस्वरूप उसका पतन हुआ। उसके पतन में भाग्य का हाथ तो अवश्य था, परन्तु सबसे बड़ा हाथ उसके चरित्र के किसी अवगुण का था। यदि उसमें यह एकांगी अवगुण या दोष नहीं रहता, तो सम्भवतः भाग्यचक्र उसका कुछ अधिक नहीं बिगाड़ सकता था। वस्तुतः यूनान के त्रासदियों में उस देश के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक विचारों का प्रतिविम्ब वर्त्तमान है।

१. *Aristotle's Theory of Poetry*, translated by S. H. Butcher. p. 263

त्रासदी का विषय : यूनानी त्रासदी का विषय होता था किसी उच्च तथा सम्भ्रान्त कुल में उत्पन्न नायक का दुर्भाग्य तथा विनाश। नायक प्रायः असाधारण कोटि का व्यक्ति होता था और उसके पतन या दुर्भाग्य से दर्शकों या पाठकों के मन में क्षोभ और सहानुभूति का उद्रेक होता था। किन्तु नायक बहुलांश में साधारण जनों के ही सदृश होता था, अतः उसके दुर्भाग्य से दर्शकों के मन में भय तथा आशंका का भी संचार होता था। नायक को तीव्र यातना भोगनी पड़ती थी और अन्त में उसका विनाश हो जाया करता था। इस दुःख तथा विनाश के कई कारण होते थे—१. कभी-कभी भाग्य-देवता अप्रसन्न रहते थे; २. कभी अभिशाप कार्य करता था; ३. कभी नायक उन विरोधी शक्तियों का शिकार बन जाता था, जिन पर न उसका कोई वश था और न जिनमें उसके लिए किसी प्रकार की दया थी। अपने कष्ट तथा मरण के लिए उसका थोड़ा-सा ही उत्तरदायित्व था। पर वह परिस्थितियों का उचित मूल्यांकन करने में असमर्थ होता था। कभी-कभी परिस्थितियों का उसका ज्ञान अपूर्ण ही होता था और उसी अज्ञान या त्रुटियुक्त दृष्टि के कारण उसे कठिन दण्ड भुगतान पड़ता था।

शेक्सपियर के त्रासदियों में नायक अपने चरित्र की किसी भयानक त्रुटि के कारण यातना सहता है और अन्त में विनाश को प्राप्त करता है। किन्तु, यूनानी त्रासदियों में वैयक्तिक नैतिकता का यह आदर्श नहीं दिखाई देता। उनमें तो नायक अधिक-से-अधिक अपने अज्ञान अथवा त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण का ही दोषी है। यूनानी कवि और नाटककार अपने त्रासदियों के कथानक पाठकों अथवा दर्शकों के पूर्व-परिचित विख्यात वंशों के इतिहास से ग्रहण करते थे। इस प्रकार की कथाओं में मौलिकता का अभाव होता था और आधुनिक आलोचकों ने इसका उल्लेख दोष-रूप में किया है। परन्तु, इसमें एक लाभ था; कवि को स्वच्छन्द रूप से काव्यात्मक तथा नाटकीय विशेषताओं पर ध्यान देने का अवसर मिल जाता था। दर्शक जब रंगशाला में प्रवेश करता था, तो उसे कथावस्तु जानने की उत्सुकता नहीं होती थी, प्रत्युत उसका सम्पूर्ण ध्यान काव्य-कौशल देखने और उसका आस्वाद लेने में केन्द्रित रहता था।

भारतीय नाट्य-साहित्य में त्रासदी के अभाव के कारण

भारतवर्ष में त्रासदी लिखने की प्रथा नहीं चली। वस्तुतः पूर्वी देशों की सामाजिक आत्मा सदा इसके विरुद्ध रही। इसके कई कारण हैं :

१. त्रासदी के कारण जनता में ईश्वर के विरुद्ध अश्रद्धा और अविश्वास तथा ईश्वरीय अनुशासन के प्रति घृणा उत्पन्न होने का भय था। इसीलिए बहुत-से संस्कृत-नाटक त्रासदी के अत्यन्त निकट पहुँचकर भी त्रासदी नहीं हुए; क्योंकि उन्होंने मृत्यु का आधार नहीं लिया। वेणीसंहार, नागानन्द और उत्तररामचरित आदि कई नाटक उदाहरण के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

२. इन भारतीय लेखकों ने आध्यात्मिक दृष्टि से मृत्यु का महत्त्व बहुत-कुछ कम कर दिया था। उनके विचार से मृत्यु जीवन का अन्त नहीं करती, प्रत्युत आध्यात्मिक जीवन का द्वार खोलकर ईश्वर तक पहुँचाती है। फलस्वरूप, इस भावना की वर्त्तमानता में त्रासदी का निर्माण नहीं हो सकता और न हुआ। इस दृष्टि से यूनानी और भारतीय लेखकों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर था।

३. संस्कृत-नाटकों का एक उद्देश्य मनोरंजन भी रहा है। किसी दुःखी व्यक्ति के मनोरंजन के लिए कोई साधन चाहिए, किन्तु त्रासदी से तो दर्शक के मस्तिष्क का भारी बोझ और भी गुरुतर हो जायगा।

४. हिन्दू-नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है कि पुण्य पाप पर विजय प्राप्त करता है; गुण दोष पर विजयी होता है। यह सिद्धान्त उदात्त गुणों से सम्पन्न नायक का पतन नहीं होने देता और उसे विपन्न नहीं बनने देता। कर्मफल के नियम के अनुसार यदि किसी व्यक्ति पर विपत्ति आती है, तो इससे किसी की सहानुभूति जागरित नहीं होती; क्योंकि वह व्यक्ति केवल अपने किये का फल पा रहा है। अतः, उसका पतन त्रासदी नहीं कहा जा सकता। तथापि संस्कृत के कई नाटक हैं, जो अत्यन्त कारुणिक हैं; उदाहरणार्थ, उत्तर-रामचरित, वेणीसंहार तथा नागानन्द में कई दृश्य ऐसे हैं, जो यदि नाटककार चाहते, तो बहुत सरलता से त्रासदी में परिवर्त्तित कर सकते, परन्तु उन्होंने अलौकिक शक्ति का उपयोग करके उन्हें सुखान्त बना दिया है।

परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय नाटक स्पष्ट विभागों—शुद्ध त्रासदी और शुद्ध कामदी या सुखान्त नाटकों में विभक्त हैं। किसी भी नाटक में दुःखान्त और सुखान्त स्वतन्त्रतापूर्वक मिश्रित किये गये हैं। हास्य-योजना विदूषक के द्वारा की जाती है।

यूरोपीय तथा संस्कृत-नाटकों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि संस्कृत-नाटकों में त्रासदी और कामदी के अन्तर का नितान्त अभाव है। भारतीय नाटक अपने को न अपराधों में और न जीवन की विरूपता में ही सीमित कर लेते हैं। वे न कष्ट के भय में और न समृद्धि के आह्लाद में ही लीन हो जाते। इस दृष्टि से संस्कृत-नाटक अँगरेजी तथा स्पेनी नाटकों के समकक्ष सिद्ध होते हैं, जिनके विषय में 'त्रासदी' और 'कामदी' शब्द उस अर्थ में पूर्णरूप से लागू नहीं होते, जिस अर्थ में प्राचीनों ने इनका प्रयोग किया था। इन नाटकों में सुख तथा दुःख का अपूर्व मिश्रण होता है। वे कभी भी विपन्न अन्त प्रस्तुत नहीं करते, जैसा डॉ॰ जॉनसन ने कहा है कि शेक्सपियर के युग में त्रासदी के निर्माण के लिए यही पर्याप्त होता। यद्यपि संस्कृत-नाटक मानव-हृदय में उठनेवाले सभी भावों (जिनमें भय तथा करुणा भी हैं) का उद्रेक करने का प्रयत्न करते हैं तथापि वे कभी भी प्रेक्षकों के मस्तिष्क पर कष्टप्रद प्रभाव नहीं छोड़ते। वस्तुतः भारतीय नाटकों में त्रासदी है ही नहीं। इस तथ्य से यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है कि कामदी के पूर्व त्रासदी का विकास हुआ।

यह समझना ठीक नहीं है कि भारतीय नाटकों में दुःखजनक अन्त केवल भूल से छूटता रहा है। सत्य तो यह है कि दुःखजनक अन्त का निवारण विशेष नियम के द्वारा

किया गया है और नायक अथवा नायिका की मृत्यु की घोषणा कभी नहीं की जा सकती। इसीलिए, प्रेक्षकों की दृष्टि के सामने कभी मृत्यु नहीं दिखाई जा सकती है।

संस्कृत-नाटक तथा ग्रीक त्रासदी : कई बातों में संस्कृत-नाटक और ग्रीक त्रासदी में तुलना की जा सकती है। अरस्तू ने त्रासदी के विषय में लिखा है :

The imitation of a solemn and perfect action of adequate importance, told in a pleasing language, exhibiting the several elements of dramatic composition in its different parts, represented through the instrumentality of agents, not by narration and purifying the affections of human nature by the influence of pity and terror.[1]

संस्कृत-नाटकों तथा ग्रीक त्रासदियों—दोनों में नायक योग्य और उच्च व्यक्ति होते हैं। विषय की दृष्टि से भी दोनों में समानता है। परन्तु, दोनों में कुछ विभिन्नताएँ भी हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना अनिवार्य है। नीचे कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

१. संस्कृत-नाटक में ग्रीक त्रासदी में पाई जानेवाली तीनों अन्वितियों में से केवल कार्यान्विति को पूर्ण स्वीकृति मिली है। स्थानान्विति को संस्कृत-नाटक में कोई स्थान नहीं मिला है। ग्रीक रंगमंच बहुत विस्तार से सजाया जाता था, इसलिए उसे प्रत्येक स्थान के लिए बदलना कठिन था। फलस्वरूप आदि से अन्त तक एक ही स्थान का दृश्य रखा जाता था। इसके विपरीत भारतीय रंगमंच में उतनी सजावट नहीं करके कल्पना से ही अधिक काम लिया जाता था। अतः, स्थान-परिवर्त्तन करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी। कालान्विति परिवर्त्तित रूप में भारतीय नाटकों में अंशतः पाई जाती थी। व्यवहार में नियम की अपेक्षा कम स्वतन्त्रता है और एक अंक की कथा प्रायः कार्य होने का ही समय लेती है या अधिक-से-अधिक सूर्य के एक दूसरे चक्कर—एक दिन का समय लेती है। किन्तु, उत्तररामचरित में बहुत अधिक समय लिया गया है और प्रथम तथा द्वितीय अंकों के बीच में पूरे बारह वर्ष का समय बीत जाता है। कथा के विषय के लिए ऐसा करना अनिवार्य था।

२. संस्कृत-नाटक का अन्य देशों के नाटकों से दूसरा अन्तर यह है कि संस्कृत-नाटक में त्रासदी और कामदी के अन्तर का नितान्त अभाव है। उनमें दुःख की गम्भीरता तथा हास्य के हल्केपन का विचित्र मिश्रण रहता है। यद्यपि इन नाटकों का भी उद्देश्य मानव-हृदय में सभी प्रकार के भावों—करुणा और भय-सहित—का उद्रेक करना होता है, फिर भी वे प्रेक्षक के हृदय पर कष्टदायक प्रभाव नहीं छोड़ना चाहते। वस्तुतः, भारतीय नाटकों में त्रासदी का अभाव ही है। भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने नियम बनाकर रंगमंच पर नायक और नायिका की मृत्यु के प्रदर्शन पर रोक लगा दी थी।

---

१. श्रीविल्सन द्वारा उद्धृत, 'द थियेटर ऑफ द हिन्दूज़', पेज १२

३. अन्य देशों के नाटकों से भारतीय नाटक का अन्तर विस्तार की दृष्टि से भी है। संस्कृत-नाटक कुछ अधिक लम्बे हैं। अकेला मृच्छकटिक सामान्य विस्तार के तीन ग्रीक त्रासदियों के बराबर है। किन्तु, वास्तविक प्रस्तुतीकरण में यूनानी प्रदर्शन की अपेक्षा भारतीय प्रदर्शन प्रेक्षक के धैर्य की कम ही परीक्षा करता था; क्योंकि यूनानी रंगमंच पर तीन त्रासदियों के साथ एक प्रहसन का भी एक ही बैठक में प्रदर्शन होता था। यदि भारतीय नाटक लम्बा होता था, तो एक बैठक में एक ही दिखाया भी जाता था।

उपसंहार

(क) रूपक के भेदों के विकास में नाटक-प्रकरण : (दस या बारह) रूपकों और अट्ठारह, बीस या बाईस उपरूपकों की गणना से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उपस्थित होते हैं। संस्कृत-नाट्य-साहित्य का मनन करने से स्पष्ट हो जाता है कि भास के पूर्व ही रूपक के विभिन्न भेदों की रचना होने लगी थी; क्योंकि स्वयं भास के ही नाट्य-साहित्य में रूपक के कई एकांकी, व्यायोग आदि पाये जाते हैं। रूपकों में भी कई ऐसे भेद हैं, जिनके उदाहरण स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं होते, परन्तु उनका गठन देखने से स्पष्ट होता है कि उनकी रचना की प्रेरणा सर्वलक्षण-सम्पन्न नाटक से मिली होगी। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि सबसे पहले नाटक की ही रचना हुई होगी, यद्यपि डॉ० मनमोहन घोष के अनुसार सबसे पहले एकांकी की ही रचना हुई और वे एकांकी को ही सबसे अधिक प्राचीन मानते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, कुछ-कुछ विशेषताओं को लेकर प्रकरण आदि अन्य भेदों का विकास होता गया। उदाहरण के लिए नाटिका और प्रकरणी को ले सकते हैं। दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि नाटक के समान नाटिका का नेता राजा होता है और प्रकरणी का नेता प्रकरण के समान ब्रह्मा, वणिक् आदि।

(ख) रूपक के रूप में ही विशुद्ध नाट्य की गणना : कुछ विद्वानों का मत है कि भरत के समय में ही उपरूपक के भेद प्रचलित थे और भरत ने जान-बूझकर ही उनकी पृथक् गणना नहीं की और रूपकों के अन्तर्गत उनका अन्तर्भाव भी नहीं किया। यह मत ठीक भी हो सकता है; क्योंकि दशरूपक के टीकाकार धनिक और अभिनवगुप्त के मत से उपरूपक गीत-नृत्य-प्रधान रूपक थे, नाट्य-प्रधान नहीं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने तो इन्हें गेय श्रेणी में रखा ही है। कोहल ने एक और भी विभाजन प्रस्तुत किया है और नाम दिया है मार्ग और देशी। इस विभाजन के आधार पर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल से ही रूपकों की दो परम्पराएँ प्रचलित थीं—एक थी साहित्यक परम्परा और दूसरी थी लोक-परम्परा।

(ग) रूपक आभिजात्य कला एवं संस्कार से प्रभावित : रूपकों और उपरूपकों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि रूपकों पर आभिजात्य कला तथा संस्कार का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है; परन्तु उपरूपक ऐसे प्रभाव से अलग ही रहे। रूपक परिष्कृत तथा सुरुचिपूर्ण हैं और कला की दृष्टि से पूर्ण हैं; परन्तु देशी वे ही बने रहे, जिनमें आभिजात्य

संस्कार का विकास नहीं हो सका और कला की दृष्टि से वे पूर्ण नहीं हो सके। उपरूपकों में केवल कुछ गीतों, नृत्यों या नृत्तों का प्रयोग करके मनोरंजन करने की थोड़ी-सी चेष्टा की जाती थी। रूपक के भेदों में भी नाटक तथा प्रकरण सर्वाधिक पूर्ण थे और इनमें सुख-दुःखात्मक जीवन-रस की जैसी मनोहर संवेदना, सौन्दर्य की जैसी जीवन्त सृष्टि तथा जीवन के ओज एवं उदात्तता का जैसा सजीव प्रतिफलन होता था, वैसा रूपक के अन्य भेदों में नहीं। अन्य रूपकों या उपरूपकों में भावों की यह उच्चता, विचारों की समृद्धि, हास्य एवं आनन्द का वह सम्मिलित प्रभाव कहाँ मिलने को, जैसा नाटक और प्रकरण में हम पाते हैं? अन्य रूपक या उपरूपक प्रायः एकांकी ही हैं। कुछ में रौद्र या वीर प्रधान है, तो दूसरे में शृंगार या हास्य और किसी अन्य में अश्लील हास्य या विनोद का ही प्राधान्य पाया जाता है। अतः, सम्भव है कि भेद की परम्परा का आरम्भ भरत से भी पूर्व का हो और भास का काल आते-आते यह परम्परा पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो चुकी होगी।

(घ) भेदों के मूल में सामाजिक कारण : रूपक के इन भेदों में सामाजिक कारण भी देखा जा सकता है। रूपक के विभिन्न भेदों में समाज के विभिन्न स्तर दिखाई देते हैं। नाटक में प्रायः सामन्ती समाज का चित्रण देखा जा सकता है, प्रकरण में मध्यम वर्ग के व्यक्तियों तथा उनकी समस्याओं का विवरण मिलता है और प्रहसन में समाज के निम्न वर्ग के पात्रों तथा उनके कार्य-कलाप के द्वारा समाज की कुरीतियों पर कशाघात किया जाता है। इसी प्रकार अन्य रूपक-भेदों में भी यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है।

(ङ) रूपकों के भेद में आर्यों की चिन्तन-समृद्धि का प्रतीक निहित : जब हम रूपक के विभिन्न भेदों का विश्लेषण करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि रूपकों के भेदों में आर्यों की चिन्तन समृद्धि का प्रतीक निहित है। हमारे प्राचीन आचार्य किसी विषय का गहन अध्ययन तथा मनन करके उसका सूक्ष्म विश्लेषण करते थे और फिर उसके विभिन्न भेद तथा उपभेद करते थे। रूपक के भी अनेक भेदों से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे पूर्वज आर्यों का चिन्तन कितना समृद्ध था। जबतक चिन्तन की समृद्धि नहीं होगी, तबतक भेदोपभेदों में इतना सूक्ष्म अन्तर बताना असम्भव ही है।

(च) भेदों के आधार में भरत की विचारधारा : नाट्यशास्त्र की अन्य बातों के समान रूपक के भेदों के विवेचन में भी भरत की विचारधारा दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने कथावस्तु, विस्तार तथा रस को ध्यान में रखकर रूपक को दस भेदों में विभक्त किया और प्रत्येक के लिए कुछ नियम भी निर्धारित किये। भरत मुनि मौलिक चिन्तक थे और रूपक के भेदों के विश्लेषण में भी उनकी चिन्तन-पद्धति तथा विचारधारा का स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है।

दशम अध्याय

हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त का विकास

पृष्ठभूमि : हिन्दी में नाट्य-सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों की रचना काफी पीछे चलकर हुई। भारतेन्दुजी का 'नाटक' शीर्षक ग्रन्थ नाट्य-सिद्धान्त सम्बन्धी प्रथम पुस्तक है। नाट्य-सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ की रचना के बहुत पूर्व ही नाटकों की रचना होने लगी थी। इन नाटकों में संस्कृत-ग्रन्थों में निर्दिष्ट सिद्धान्त ही मुख्यतः अपनाये गये। उनमें कहीं-कहीं अँगरेजी तथा बँगला से प्रभाव ग्रहण करके नाट्य-सिद्धान्त में यथास्थान परिवर्त्तन किया गया। उन नाटकों में उनके लेखकों का नाट्य-सिद्धान्त अभिव्यक्त होता है। अतः, प्रमुख नाटककारों के नाट्य-सिद्धान्त का विश्लेषण उनके नाटकों के आधार पर करने का प्रयास किया जा रहा है। कुछ अन्य विद्वानों ने स्वतन्त्र पुस्तकें लिखकर नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन किया है; उनके सिद्धान्तों का भी विकास दिखाने का प्रयत्न किया जायगा।

हिन्दी का प्रथम नाटक रास के रूप में विक्रम की तेरहवीं शती में ही लिखा जा चुका था। परन्तु, भारतेन्दुजी ने अपनी 'नाटक' शीर्षक पुस्तक में हिन्दी के आरम्भिक नाटकों के रूप में 'देवमायाप्रपंच', 'प्रभावती' तथा 'आनन्द-रघुनन्दन' को माना है। परन्तु, इनमें नाटकीय नियमों का पूर्ण पालन नहीं है और ये छन्द में हैं, अतः भारतेन्दुजी ने इन्हें नाटक नहीं स्वीकार किया। उन्होंने अपने पिता गिरिधरदास के 'नहुष' को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक कहा है। परन्तु, 'विद्यासुन्दर' की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में उन्होंने 'आनन्द-रघुनन्दन' को हिन्दी का प्रथम नाटक स्वीकारा है। डॉ० गुलाबराय[1] और बाबू ब्रजरत्न दास[2] रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह-रचित 'आनन्द-रघुनन्दन' को ही हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भी इसे ही हिन्दी का पहला नाटक मानते हैं।[3]

कलकत्ता में नाट्य-गृह का निर्माण हो चुका था, जिसमें अँगरेजी-नाटकों का अभिनय होता था। इन अँगरेजी-नाटकों का अभिनय देखकर देशी भाषा-प्रेमी भारतीयों की आँखें खुलीं और प्रतिभाशाली विद्वानों का ध्यान देशी भाषाओं में नाटक रचने की ओर गया। इन लेखकों का ध्यान संस्कृत की प्रचुर नाट्य-सामग्री की ओर जाना स्वाभाविक ही था। ऐसे पुनरुत्थान के युग में लेखकों ने नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक की रचना करना लाभदायक माना।

---

१. हिन्दी-नाट्य-विमर्श, पृ० ७६

२. हिन्दी-नाट्य-साहित्य, पृ० ५८

३. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृ० ४९६

अब कुछ प्रमुख नाटककारों की नाट्य-रचनाओं में परिलक्षित और विशिष्ट नाट्यशास्त्रियों के ग्रन्थों में प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन करें।

विश्वनाथ सिंह

रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने अपना नाटक 'आनन्द-रघुनन्दन' नवीन दृष्टिकोण से लिखा और नाट्य-लेखन में भरत के नाट्यशास्त्र के नियमों को परवर्त्ती संस्कृत-नाट्याचार्यों द्वारा संशोधित तथा परिवर्त्तित रूप में अपनाया।

'आनन्द-रघुनन्दन' में स्वीकृत नाट्य-सिद्धान्त : 'आनन्द-रघुनन्दन' नाटक में सात अंक हैं और प्रत्येक अंक में अनेक दृश्य हैं। दृश्य-परिवर्त्तन स्पष्ट रूप से नहीं लिखा गया है; परन्तु जहाँ 'सर्वे निष्क्रान्ताः' लिखा गया है, वहीं दृश्य-परिवर्त्तन समझ लेना चाहिए। इस तरह कथानक का एक अंश जिस स्थल पर समाप्त होता है, वहीं दृश्य-परिवर्त्तन हो जाता है और जब पाठक नाटक पढ़ता है, तो उसे कथानक की कड़ी जुड़ी हुई जान पड़ती है।

नाटक में गद्य का सर्वप्रथम शास्त्रीय रीति से प्रयोग करने का श्रेय महाराज विश्वनाथ सिंह को ही है। उन्होंने नाटक में नान्दी, सूत्रधार, विष्कम्भक, भरतवाक्य आदि को स्थान दिया। चरित्र-चित्रण तथा संवाद-योजना में उन्हें पूर्ण सफलता मिली और उन्होंने भविष्य के नाटककारों का पथ-प्रदर्शन किया।

शतियों की नाट्य-रचना के पश्चात् देश में ऐसा वातावरण उपस्थित हुआ कि विश्वनाथ सिंह ने संस्कृत की नाट्य-शैली को पूर्णतया अपनाया। उन्होंने नान्दी, सूत्रधार और प्रस्तावना का विधान संस्कृत से लिया और यह विधान परवर्त्ती नाटककारों ने स्वीकार किया। यह परम्परा भारतेन्दु-काल में तो चली ही, प्रसादजी के आरम्भिक नाटकों में भी इसे देख सकते हैं।

विश्वनाथ सिंह ने अपने नाटक में भजन, पद आदि गेय पदों को स्थान दिया। नाटक में गीत देने की परम्परा चली, जिसे भारतेन्दुजी ने भी स्वीकार किया और आगे चलकर प्रसादजी आदि कई श्रेष्ठ नाटककारों ने भी यह शैली अपनाई।

विश्वनाथ सिंह ने दृश्य-परिवर्त्तन की भी नवीन पद्धति चलाई, जिसका प्रभाव प्रसादजी के युग तक रहा। विष्कम्भक, आकाश-भाषित आदि का प्रयोग भारतेन्दुजी ने भी किया और प्रसादजी के पहले तक यह चलता रहा। स्पष्ट है कि नाटक के क्षेत्र में महाराज विश्वनाथ सिंह का प्रभाव लगभग एक शती तक अक्षुण्ण रहा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के बाल्यकाल में नाटक की निम्नलिखित शैलियों का प्रचलन था—१. ब्रज में रासलीला की शैली, २. उत्तर-भारत में रामलीला की शैली,

३. बंगाल में यात्रा-नाटक की शैली, ४. स्वांग आदि जन-नाटकों की शैली और ५. महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा गृहीत 'आनन्द-रघुनन्दन' नाटक में नवीन शैली, जिसपर संस्कृत-नाटकों की पूरी छाप थी।

भारतेन्दुजी के पिता गिरिधरदास ने 'नहुष' नाटक लिखा था, जिसमें तीन चौथाई भाग पद्य है, जो ब्रजभाषा में है। अभिप्राय यह है कि भारतेन्दुजी को बचपन में नाट्य-शैली के रूप में जो पैतृक सम्पत्ति मिली, वह ब्रजभाषा में पद्य-प्रधान थी। परन्तु, यह नाटक 'आनन्द-रघुनन्दन' की शैली पर है, जिसमें नान्दी, सूत्रधार तथा प्रस्तावना का समावेश है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में कई शैलियों का प्रयोग किया। उनके मौलिक नाटकों को देखने से पता चलेगा कि उन्होंने कितनी शैलियों में नाटक लिखे।

नाटकों में प्रयुक्त सिद्धान्त : भारतेन्दुजी ने अपने स्वर में नवीनता भरने का यथासम्भव प्रयास किया, परन्तु परम्परा से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सके। सम्भवतः वे अपने युग की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के बाह्य कलेवर में इस प्रकार आबद्ध हो गये कि उन्हें दूसरी बातों का ध्यान ही नहीं रहा। किसी संस्थापक के सामने कई विवशताएँ रहती हैं, भारतेन्दुजी के भी सामने विवशताएँ थीं, इसी कारण उनमें आधुनिकता का पूरा समावेश नहीं हो सका। उनकी उपलब्धि यही है कि उन्होंने अपने समय की बदलती हुई लोक-रुचि पर ध्यान देकर प्राचीन नाट्यशास्त्रीय नियमों की जटिलता दूर कर दी और उन नियमों में आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हें अपने नाटकों के शिल्प के रूप में स्वीकार किया। भारतेन्दुजी के नाट्य-सिद्धान्त में प्राचीन तथा नवीन का न्यूनाधिक मिश्रण है। उनकी धारणा थी कि अतीत तथा वर्त्तमान के आलोक में ही भविष्य की रूपरेखा खड़ी की जा सकती है; इसीलिए हमारे नाटकों को न तो अपनी परम्परा से मुँह मोड़ लेना चाहिए और न नवीन मान्यताओं को ग्रहण करते समय किसी प्रकार की दुविधा होनी चाहिए।

भारतेन्दुजी ने परम्परागत संस्कृत-शैली को मुख्य रूप से अपनाया, परन्तु उसमें यूरोपीय नाट्य-कला का भी मिश्रण कर लिया। उन्होंने अपने आरम्भिक नाटकों में दोनों शैलियों का अलग-अलग प्रयोग किया और जिस कथानक के अनुकूल जो पद्धति जँची, उसे ही स्वीकार किया। रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। उन्होंने न अँगरेजी-नाटकों का अन्धानुकरण किया और न बँगला-नाटकों के समान भारतीय शैली की सर्वथा उपेक्षा की। साथ ही, उन्होंने यह भी ध्यान में रखा कि संस्कृत-नाट्य-शास्त्र में उनका नाट्य बुरी तरह उलझ न जाय। कहने का अभिप्राय यह है कि उन्होंने अपने को उन सभी बन्धनों से मुक्त रखा, जो नाटक में गतिरोध उत्पन्न करते हैं। उन्होंने अपने नाटकों का विषय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से लिया, अतः उनके नाटकों में शृंगार, शौर्य, करुणा आदि सभी विषयों का समावेश हुआ। भारतेन्दु ने अपनी दृष्टि बहुत व्यापक रखी और संस्कृत, बँगला, अँगरेजी; जहाँ कहीं उन्हें उपयुक्त सामग्री मिली, निस्संकोच ग्रहण की।

'अंधेर नगरी' नामक प्रहसन में एक ही अंक है, जो कई दृश्यों में विभक्त है। 'विषस्य विषमौषधम्' एक अंक का भाण है। भावप्रकाशन में वर्णित नौ प्रकार के भाणों में यह चित्र-जाति का है। इसमें भारतेन्दुजी ने मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया है। चित्र-जाति के भाण में अनेक भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। 'चन्द्रावली' नाटिका को उन्होंने पूर्वकाल से चली आ रही रास-शैली पर रचा है। इस नाटिका की रचना द्वारा उन्होंने रासलीला-नाटकों में एक नये विधान का संयोग करने का प्रयत्न किया। इस नाटिका में चार अंक तथा एक विष्कम्भक हैं। 'भारत-दुर्दशा' एक प्रतीकात्मक नाटक है। इसके आधे से कम पात्र वर्ग या समुदाय के प्रतिनिधि हैं और आधे से अधिक पात्र मानवीकृत रूप में हैं।

परन्तु, भारतेन्दुजी की शैली पूर्ण परिपक्वता नहीं पा सकी। उनके नाटकों में प्रस्तावना, मंगलाचरण, नान्दीपाठ, सूत्रधार, नटी, भरतवाक्य आदि आये हैं। 'नीलदेवी' में पताकास्थानक का प्रयोग है और 'सत्यहरिश्चन्द्र' आदि कई नाटकों में आकाश-भाषित मिलता है। कहीं-कहीं स्वगत भाषण की अधिकता हो गई है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में श्मशान का वर्णन आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है। इसमें चतुर्थ (अन्तिम) अंक भी बहुत दीर्घ है, जो संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त के विरुद्ध है। उन्होंने अपने नाटकों में पद्यों तथा गीतों का बाहुल्य रखा है। वस्तुतः, भारतेन्दु के सामने 'दृश्य काव्य' का उद्देश्य था, इसीलिए वे नाटकों को पद्य से मुक्त नहीं कर सके। उन्हें यह असुविधा इसलिए हुई कि गद्य और पद्य की भाषा भिन्न-भिन्न थी। वे अपने नाटकों को स्वाभाविकता के निकट लाने में असमर्थ ही रहे। एक समृद्ध रंगमंच के अभाव, जनता की विकृत रुचि तथा उनके असामयिक निधन ने उनके नाटकों को आधुनिकता से कुछ दूर ही रख दिया।

इन कतिपय त्रुटियों के रहते भी हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त के विकास में भारतेन्दुजी का स्थान बहुत उच्च तथा महत्त्वपूर्ण है।

'नाटक' पुस्तक में नाट्य-सिद्धान्त : भारतेन्दुजी ने 'नाटक' शीर्षक अपनी पुस्तक में भरत द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों में युगानुरूप परिवर्तन करने का परामर्श दिया है—"नाट्य-कला-कौशल दिखाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। इसमें अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य-प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोचन', कहीं 'सम्फेट', कहीं 'पंचसन्धि' आदि ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत-नाटक की भाँति हिन्दी-नाटक में इनका अनुसन्धान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी-नाटक लिखना व्यर्थ है।"[1]

फलस्वरूप भारतेन्दुजी ने रूपक तथा उपरूपक के कुछ प्राचीन भेदों को छोड़ दिया और कुछ नवीन भेद ग्रहण किये। उनके नाटकों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है।

१. नाटक, पृ० १३-१४

भारतेन्दुजी ने नाटकों के दस प्रकार प्रस्तुत किये हैं। वे निम्नलिखित हैं। कुछ की परिभाषा उन्हीं के शब्दों में दी जा रही है।

१. नाटक : 'काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यन्त) वा ईश्वरांश (जैसा राम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस श्रृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए।'[१]

२. रूपक : भारतेन्दुजी ने रूपक की कोई परिभाषा नहीं दी। पाखण्ड-विडम्बन रूपक माना गया है।

३. प्रहसन (वैदिकी हिंसा, 'अन्धेर नगरी'), ४. व्यायोग (धनंजय-विजय), ५. नाटिका (चन्द्रावली), ६. भाण (विषस्य विषमौषधम्), ७. सट्टक (कर्पूरमंजरी), ८. नाट्यरासक या लास्य रूपक (भारत-दुर्दशा), ९. ऑपेरा : भारतेन्दुजी ने ऑपेरा के लिए 'संगीत-नाट्य' पर्याय दिया है (भारत-जननी), १०. गीतिरूपक : 'ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक; दूसरा गीतिरूपक। जिसमें कथा-भाग विशेष और गीति न्यून हो, वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीतिरूपक।' उदाहरण नीलदेवी और सती-प्रताप।

इस प्रकार भारतेन्दुजी ने मौलिक कृति तथा अनुवाद के रूप में दस प्रकार प्रस्तुत किये। इनमें से तीन—रूपक, ऑपेरा तथा गीतिरूपक—ऐसे हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन नाट्यशास्त्र में नहीं है और सात प्राचीन शास्त्र के अनुकूल हैं। उन्होंने भारतीय नाट्य-शास्त्र के अन्य रूपों को क्यों नहीं प्रस्तुत किया? भारतेन्दुजी ने अपने ग्रन्थ 'नाटक' में जिन प्राचीन रूपों का उल्लेख किया है, उनमें समवकार डिम, ईहामृग, अंक और वीथी के सम्बन्ध में लिखा है कि इनके उदाहरण नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में केवल शास्त्र के ज्ञान पर इन रूपकों की रचना नहीं हो सकती थी। रूपकों में प्रकरण और उपरूपकों में त्रोटक—ये दो भेद ऐसे हैं, जिनके उदाहरणों से परिचित होते हुए भी भारतेन्दुजी ने उनकी रचना नहीं की। नाटक से प्रकरण की अत्यधिक समता होने के कारण शायद उन्होंने प्रकरण नहीं लिखा। शेष उपरूपकों के विषय में भारतेन्दुजी ने लिखा है—'यों ही थोड़े-थोड़े भेद में और भी शेष उपरूपक होते हैं। न तो इन उपरूपकों का काम ही विशेष पड़ता है। इससे सविस्तार वर्णन नहीं किया गया।'[२]

भारतेन्दुजी ने रूपक के उन्हीं भेदों की रचना की है, जिनका प्रायः काम पड़ता है। इससे उनके दृष्टिकोण का कुछ आभास मिलता है।

---

१. नाटक, पृ० ७
२. वही, पृ० ११
३. वही, पृ० १०

नवीन नाटक-रचना के लिए भारतेन्दुजी ने पाँच मुख्य उद्देश्यों का निर्देश किया है—१. श्रृंगार, २. हास, ३. कौतुक, ४. समाज-संस्कार, ५. देश-वत्सल। उन्होंने कौतुक छोड़कर सभी प्रकार के नाटक लिखे। कौतुक के विषय में उन्होंने लिखा—'कौतुक विशिष्ट वह है, जिसमें लोगों के चित्त-विनोदार्थ किसी यन्त्र-विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्‌भुत छटा दिखाई जाय।'[1] भारतेन्दुजी ने सबसे अधिक समाज-संस्कार और देश-वत्सल नाटक लिखे। देश-वत्सल के विषय में उन्होंने लिखा है—'इन नाटकों का उद्देश्य पढ़नेवालों वा देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये करुण और वीर रस के होते हैं।'[2] भारत-जननी, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि ऐसे ही नाटक हैं।

वस्तुतः, भारतेन्दुजी के विषय में डॉ० सत्येन्द्र का निम्नलिखित कथन सर्वथा उपयुक्त है—'भारतेन्दु ने समस्त भारतीय नाट्य-प्रणालियों को समझने की चेष्टा की और हिन्दी के लिए उपयोगी शैली निर्धारित की, जिसमें पूर्व का पूर्ण परित्याग न हो, पर नूतन का उचित आदर हो। वे वस्तुतः युग-प्रवर्त्तक हैं।'[3]

भारतेन्दुजी ने प्रस्तावना के उद्‌घातक आदि उन पाँच भेदों का उल्लेख किया है, जो प्राचीन नाट्यशास्त्रियों द्वारा उल्लिखित हैं। उन्होंने पुरानी परम्परा के अनुसार कैशिकी आदि चार वृत्तियों की चर्चा की है, परन्तु उनके समस्त उपभेदों का वर्णन नहीं करके केवल उपक्षेप तथा प्ररोचना का ही उल्लेख किया है। उन्होंने उपभेदों के विस्तार में जाना अनावश्यक समझा। इस विषय में उनका दृष्टिकोण नवीनता से प्रभावित है।

भारतेन्दुजी वस्तु तथा पात्र के विषय के विस्तार में बिल्कुल नहीं गये। अभिनय की चर्चा करते समय उन्होंने चार प्रकार के अभिनय का उल्लेख करके बीभत्साभिनय की भी चर्चा कर दी है—"एक पात्र द्वारा जब कथित अभिनय में से दो या तीन अथवा सब प्रदर्शित होते हैं, तो उसको बीभत्साभिनय कहते हैं।"[4]

अंक का लक्षण देने के बाद उन्होंने विरोधक में उन विषयों का उल्लेख किया है, जो रंगमंच पर निषिद्ध हैं। अर्थोपक्षेकों में केवल विष्कम्भक की चर्चा की गई है, शेष प्रवेशक आदि की नहीं। विदूषक के विषय में भारतेन्दुजी का विचार है कि आवश्यकता पड़ने पर ही इस पात्र की अवतारणा करनी चाहिए, "वीर अथवा करुणरस-प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। श्रृंगार की पुष्टि के हेतु विदूषक का प्रयोजन होता है, सो भी सब स्थलों पर नहीं।"[5]

---

१. नाटक, पृ० १२
२. वही, पृ० १२
३. भारतेन्दु के नाटक : 'सेठ गोविन्द दास अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० २९०
४. नाटक, पृ० २६
५. वही, पृ० ३६

नाटक-रचना-प्रणाली के अन्तर्गत लेखक ने पात्रानुकूल वार्त्तालाप, तथा अन्तर के भाव के चित्रण पर बल दिया है। उनका कथन है कि नाटक-रचना में शिथिलता का दोष कभी नहीं आने देना चाहिए। वेश और वाणी दोनों ही पात्रानुकूल होने चाहिए। लेखक ने बहुत संक्षेप में रसों का परिचय दिया है। परम्परागत नव रस के अतिरिक्त भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द का भी उल्लेख हुआ है। अन्त में लिख दिया गया है कि वात्सल्य और प्रमोद के उदाहरण नहीं हैं।

अभिनय-विषयक अन्यान्य स्फुट नियम के अन्तर्गत भारतेन्दुजी ने निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला है—नाटक की कथा, पात्रों के स्वर, पात्रों की दृष्टि, पात्रों के भाव, पात्रों का फिरना और पात्रों का परस्पर कथोपकथन। अन्त में नाटकों का इतिहास दिया गया है, जिसमें संस्कृत तथा हिन्दी के नाटकों के साथ यूरोप में नाटकों के प्रचार का भी विवरण है।

भारतेन्दुजी की यह पुस्तक हिन्दी में लिखित नाट्यशास्त्र-विषयक पहली रचना है। यह अधिकांशतः परिचयात्मक है, सभी विषयों का मात्र परिचय दिया गया है। इसमें किसी विषय का विस्तृत तथा सम्यक् विवेचन ढूँढ़ने का प्रयास उचित नहीं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह हिन्दी में अपने विषय का प्रथम प्रयास है। दूसरी विशेषता यह है कि लेखक ने परम्परा का पालन करते हुए भी नवीन प्रभाव से मुख नहीं मोड़ा है। प्राचीन नाट्यशास्त्र के कई अप्रचलित विषयों को छोड़ दिया गया है और कई नई बातों का समावेश किया गया है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य के सभी क्षेत्रों की ओर ध्यान दिया और नाट्यशास्त्र पर भी उनकी दृष्टि गई। उन्होंने सन् १९०३ ई० में 'नाट्यशास्त्र' शीर्षक एक निबन्ध लिखा, जो सन् १९११ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। यह बहुत छोटी पुस्तक है, परन्तु द्विवेदीजी ने इसमें नाट्यशास्त्र की प्रायः सभी आवश्यक विषयों की चर्चा की है। इसमें भारतीय नाट्य-साहित्य की प्राचीनता का विवरण देने के बाद रूपक तथा उपरूपक का परिचय दिया गया है। लेखक ने इस पुस्तिका में पात्र-योजना, वृत्ति, रचना-चातुर्य, भाषा आदि का भी संक्षेप में विवरण दिया है। द्विवेदीजी का मुख्य उद्देश्य हिन्दी के पाठकों को नाट्यशास्त्र की मुख्य बातों से परिचित कराना ही है, जिसमें वे बहुत अंश में सफल भी हुए हैं। उनके इस विवेचन का आधार मुख्यतः संस्कृत-ग्रन्थों में प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्त ही है।

यद्यपि इस पुस्तिका से नाट्य-सिद्धान्त के विकास में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी, फिर भी इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। इसके पहले इस विषय पर केवल एक ही रचना उपलब्ध थी—वह थी भारतेन्दुजी की 'नाटक'-शीर्षक निबन्ध-पुस्तक।

भारतेन्दुजी की पुस्तक के पश्चात् द्विवेदीजी की इस पुस्तक का द्वितीय स्थान है। इसके बहुत दिनों बाद तक हिन्दी में इस विषय पर कोई अन्य पुस्तक नहीं लिखी गई। भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के विकास में यह पुस्तक निश्चय ही एक मोड़ है।

द्विवेदीजी ने पं० बलवन्त कमलाकर द्वारा लिखित नाट्यशास्त्र-प्रबन्ध के हिन्दी-अनुवाद की चर्चा की है। इसपर अनुवादक ने मूल लेखक का नामोल्लेख नहीं किया है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

सन् १९३१ ई० में डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के सम्मिलित प्रयत्न से 'रूपक-रहस्य' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। भूमिका में स्वीकार किया गया है कि इस पुस्तक का मूलाधार धनंजय-कृत 'दशरूपक' और उसपर धनिक-कृत टीका है। अनेक स्थलों पर कुछ अन्य पुस्तकों से भी सहायता ली गई है और कई स्थलों पर स्वतन्त्र विवेचन भी किया गया है। इस पुस्तक में नौ अध्याय हैं।

पहले अध्याय का आधार 'दशरूपक' नहीं है। इसमें नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित कई यूरोपीय तथा भारतीय सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है। लेखकों ने नाटक के बीज-रूप में अनुकरण को स्वीकार किया है। नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति के विषय में उनकी स्थापना है कि नृत्य तथा संगीत से नाटक की उत्पत्ति हुई, 'संसार की भिन्न-भिन्न जातियों के नाट्य-साहित्य का प्राचीन इतिहास भी यही बतलाता है कि नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति वास्तव में नृत्य से, और उसके साथ-ही-साथ संगीत से भी हुई है।'[१] भरत के नाट्यशास्त्र से कई उद्धरण देकर दिखाया गया है कि भारतीय नाट्य का आदर्श केवल मनोरंजन ही नहीं, प्रत्युत धर्म, आयु और यश की वृद्धि करना है। वे मानते हैं कि नाट्य-शास्त्र में वर्णित नाट्यवेद के पाठ्य आदि चार तत्त्व चार वेदों से लिये गये हैं।

लेखकों ने कुछ यूरोपीय विद्वानों के इस कथन का खण्डन किया है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटक से प्रभावित है: 'सारांश यह है कि कदाचित् एक भी बात ऐसी नहीं है, जो यूनानी और भारतीय नाटकों में समान रूप से पाई जाती हो।'[२] यूनानी, रोमन, यूरोपीय, अँगरेजी, मिस्री तथा चीनी नाटकों के विकास का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। वस्तुतः, एशिया में प्राचीनकाल में भारत तथा चीन दो ही देशों में नाटक का आरम्भ, प्रचार तथा विकास हुआ था। अध्याय के अन्त में आधुनिक भारतीय नाटकों का विकास दिखाया गया है।

दूसरा अध्याय छोटा है। इसमें भरत द्वारा निर्दिष्ट अभिनय के आंगिक आदि चार भेदों का विवरण देकर नृत्त के भेद बताये गये हैं। फिर, रूपक के दस तथा उपरूपक के

१. रूपक-रहस्य, पृ० ४
२. वही, पृ० २७

अट्ठारह भेद गिनाये गये हैं। अन्त में, धनंजय के अनुसार रूपक के तीन भेदक तत्त्वों—वस्तु, नेता और रस—का उल्लेख कर दिया गया है।

तीसरा अध्याय वस्तु-विन्यास का है। इसमें पहले वस्तु के दो भेद आधिकारिक तथा प्रासंगिक बताकर साहित्यदर्पण के अनुसार पताकास्थानक के चार भेदों का विवरण दिया गया है। लेखकों ने अर्थ-प्रकृति के बीज आदि पाँच भेदों और कार्य की आरम्भ आदि पाँच अवस्थाओं का विवेचन किया है। इसके बाद नाटक-रचना के मुख आदि पाँच सन्धियों और उनके ६४ अंगों का विवरण दिया गया है। इसी अध्याय में वस्तु के दो विभाग—दृश्य और सूच्य—का विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में विष्कम्भक आदि पाँच अर्थोपक्षेपकों और नाटकीय वस्तु के अन्य तीन भेदों—श्राव्य, अश्राव्य तथा नियत-श्राव्य—का विवेचन हुआ है। इन सबके उदाहरण संस्कृत-नाटकों के हिन्दी-अनुवाद से दिये गये हैं।

चौथे अध्याय का नाम 'पात्रों का प्रयोग' है। पहले धनंजय के अनुसार नायक के गुणों की गिनती कराई गई है। उसके बाद लेखकों ने स्वभाव-भेद से नायक के धीर, शान्त आदि चार भेदों का वर्णन किया है। फिर, अनुकूल आदि शृंगार रस के चार नायक-भेदों का विवरण दिया गया है। इसी स्थल पर नायक के आठ सात्त्विक गुणों का भी वर्णन हुआ है। लेखकों ने नायक के विट, विदूषक आदि अनेक सहायकों का भी उल्लेख किया है। तत्पश्चात् नायिका के स्वकीया, परकीया तथा सामान्या और फिर स्वकीया के मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा और फिर इनके अनेक भेद संस्कृत-ग्रन्थों के अनुसार दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त नायिका के व्यवहार और दशा-भेद के अनुसार स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों का विवेचन किया गया है। नायिका की दूतियों और उनके अलंकारों—अंगज, अयत्नज तथा स्वभावज—का विस्तार से वर्णन हुआ है। नायक, नायिका, अलंकार आदि के उदाहरण प्रायः ब्रजभाषा-काव्य से दिये गये हैं।

पाँचवें अध्याय में लेखकों ने वृत्तियों की विवेचना की है। उन्होंने प्राचीन नाट्य-शास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट कैशिकी वृत्ति, सात्त्वती वृत्ति तथा आरभटी वृत्ति के चार-चार भेदों का विस्तृत विवेचन उपयुक्त उदाहरणों के साथ किया है।

छठे अध्याय का शीर्षक है—'रूपक की रूप-रचना'। इसमें पूर्वरंग तथा प्रस्तावना का विवरण दिया गया है। इसी प्रसंग में भारती वृत्ति और उसके चार अंगों का परिचय दिया गया है। इसी स्थल पर लेखकों ने आमुख और प्रस्तावना का भी विस्तृत विवेचन किया है। फिर, वीथी तथा प्रहसन के अंगों का भी परिचय विस्तार से दिया गया है। यह सम्पूर्ण विवरण दशरूपक के आधार पर है।

सातवें अध्याय में लेखकों ने रूपक के नाटक आदि दस भेदों का विवेचन किया है। यह विवेचन भी मुख्यतः दशरूपक को आधार मानकर किया गया है। तदुपरान्त उपरूपक के अट्ठारह भेदों का विश्लेषण हुआ है, जिसका आधार 'साहित्य-दर्पण' है। रूपकों तथा उपरूपकों के यथासम्भव उदाहरण भी दिये गये हैं।

आठवें अध्याय का नाम 'रसों का रहस्य' है। यह अध्याय अन्य अध्यायों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। भरत मुनि रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक चाहे हों या न हों, परन्तु रस के सम्बन्ध में सदा उन्हीं का अनुसरण होता रहा है। इस ग्रन्थ में भी भरत मुनि के ही अनुसरण पर भाव, स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव, अनुभाव आदि का विवेचन किया गया है। भरत द्वारा गिनाये ३३ संचारी भावों को सभी प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया और इस ग्रन्थ में भी वे ही संचारी भाव गिनाये गये हैं, किन्तु उदाहरण हिन्दी-काव्य-ग्रन्थों से खोज-खोजकर दिये गये हैं। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र की व्याख्या में भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद, श्रीशंकुक के अनुमितिवाद, भट्टनायक के भक्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का विवेचन हुआ है। परवर्त्ती आचार्यों ने अभिनवगुप्त द्वारा दी गई व्याख्या को स्वीकार किया है। प्रस्तुत लेखकों ने अपूर्ण रस कहकर भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि तथा भाव-शबलता का भी उल्लेख किया है। तत्पश्चात् शान्त-सहित नव रस का विश्लेषण किया गया है; रसों के उपभेद भी उल्लिखित हैं। सभी के उदाहरण भी प्राचीन हिन्दी-काव्य-ग्रन्थों से प्रस्तुत किये गये हैं।

नवें अध्याय में भारतीय रंगशाला का विवरण है। इसमें विशेष रूप से भरत के नाट्यशास्त्र से सहायता ली गई है। इस अध्याय में नाट्य, वेशभूषा आदि का भी उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मौलिकता का स्थान अत्यन्त गौण है। प्राचीन नाट्यशास्त्रियों—विशेषत: धनंजय ने रूपक, रस, नायक-नायिका, कथावस्तु आदि का विवेचन किया, उसे ही लेखकों ने अपने ढंग से लिखा। कई स्थानों पर भरत के आधार पर विषय का प्रतिपादन किया गया है। उपरूपक के विषय में भरत तथा धनंजय ने कुछ नहीं लिखा, तो प्रस्तुत लेखकों ने इस विषय में विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण को अपना आधार बनाया। 'रूपक-रहस्य' की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें नाट्य-सम्बन्धी सभी आवश्यक विषयों का विवेचन हुआ है और यह उस समय लिखा गया था, जब इस विषय पर केवल दो ही छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ वर्त्तमान थीं और उनमें भी सभी विषयों का समावेश नहीं हो सका था।

श्रीजयशंकर प्रसाद

हिन्दी में भारतेन्दुजी और उनके मण्डल के अन्य नाटककारों ने मौलिक नाटकों की जो तीव्र धारा प्रवाहित की थी, वह मन्द पड़ चुकी थी। अब विभिन्न भाषाओं से नाटकों का अनुवाद करके हिन्दी-नाट्य-साहित्य का कोश भरा जा रहा था और साथ ही नवीन शक्ति का संचार किया जा रहा था। शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद द्वारा हिन्दी में भावुकता आ रही थी। जहाँ पहले नाटकों का मुख्य उद्देश्य रस का प्रतिपादन था, अब वहाँ अन्तर्द्वन्द्व तथा क्लाइमेक्स पर अधिक बल दिया जाने लगा। द्विजेन्द्रलाल राय पर शेक्सपियर का गहरा प्रभाव पड़ रहा था, वही प्रभाव उनके नाटकों द्वारा हिन्दी-नाटकों पर

पड़ने लगा। द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम से शेक्सपियर का प्रभाव हिन्दी-नाटकों पर आया। उनकी शैली के द्वारा भावोन्माद तथा करुणा को प्रमुख स्थान मिलने लगा। उनके नाटकों में हिन्दू-संस्कृति के प्रति एक विशेष मोह दिखाई देता है, नारी के प्रति आदर की भावना भी मिलती है। तत्कालीन हिन्दी-नाटक-लेखक तथा पाठक द्विजेन्द्र बाबू की ओर बहुत आकृष्ट हुए।

प्रसादजी का जब आविर्भाव हुआ, उस समय एक ओर नवयुग-प्रवर्त्तक भारतेन्दुजी प्राचीन नाट्यशास्त्र के प्रतिनिधि के रूप में खड़े थे और दूसरी ओर, बँगला-नाटकों के माध्यम से शेक्सपियर का प्रभाव पड़ रहा था और पाश्चात्त्य नाटकों की अभिनय-कला अपना जादू डाल रही थी। ऐसे ही सन्धि-काल में प्रसादजी ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ किया। उन्होंने दोनों पश्चिमी और पूर्वी नाट्य-सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयास किया; भारतीय रस-सिद्धान्त के साथ पाश्चात्त्य शील-वैचित्र्य का समन्वय किया।

आरम्भिक नाटकों में नाट्य-सिद्धान्त : प्रसादजी ने अपने आरम्भिक नाटक 'सज्जन' में भारतेन्दु के चलाये मार्ग का अनुसरण करके नान्दी, सूत्रधार आदि को स्थान दिया और प्राचीन नाट्य-सिद्धान्त का पूर्ण निर्वाह किया। कथानक प्रख्यात तथा चिरपरिचित है। नाटक का आरम्भ नान्दी-पाठ से और अन्त भरत-वाक्य से होता है। संवाद में पद्यांशों का भी प्रयोग किया गया है, जो अस्वाभाविक प्रणाली है। इसपर पारसी थिएटरों का भी प्रभाव देखा जा सकता है। एक अन्य बात में भी भारतेन्दुजी का अनुसरण इसमें दिखाई देता है। इस एकांकी रूपक में गद्य तो खड़ीबोली में रखा गया है, परन्तु पद्य ब्रजभाषा में है। स्पष्टतः, प्रसादजी ने अपने प्रथम नाटक में भारतेन्दुजी का पूरा अनुकरण किया।

प्रसादजी ने अपने दूसरे एकांकी रूपक 'प्रायश्चित्त' में नान्दीपाठ, सूत्रधार, प्रस्तावना और भरत-वाक्य को बिल्कुल हटा दिया है। संवाद-योजना में भी स्पष्ट परिवर्त्तन हुआ है, पद्यात्मक कथोपकथन का बहिष्कार हो गया है। इसमें नाटककार ने दो नई बातें रख दी हैं : १. आकाशभाषित और २. सामाजिक स्थिति के कारण पात्रों की भाषा में परिवर्त्तन।

प्रसादजी का एक अन्य एकांकी नाटक 'कल्याणी-परिणय' है, जिसका कथानक प्रख्यात तथा सरल है। इसमें एक ही घटना सरल गति से आगे बढ़ती है। इस नाटक का आरम्भ नान्दी-पाठ से होता है और अन्त भरत-वाक्य से। इसमें पद्यात्मक संवाद की योजना हुई है।

'राज्यश्री' के आरम्भिक दो संस्करणों में पर्याप्त अन्तर है। प्रथम संस्करण आरम्भिक नाटकों के समान है, जिसमें नान्दीपाठ और भरत-वाक्य का प्रयोग किया गया है। इसमें दृश्य-विधान, कथानक-गठन आदि से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। किन्तु, दूसरे संस्करण में इन त्रुटियों को दूर कर दिया गया है और नान्दी एवं भरत-वाक्य को भी हटा दिया गया है।

'स्कन्दगुप्त' में प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्त : प्रसादजी के नाट्य-सिद्धान्त के क्रमिक विकास की दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' का विशेष महत्त्व है। इसमें उनके नाट्य-सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है। इस नाटक में उन्होंने यूरोपीय तथा भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया है। यूरोपीय नाटककार कथावस्तु में वैचित्र्य को प्रधानता देते हैं, प्रसादजी ने भी इस नाटक में कथा-वैचित्र्य का सुन्दर विधान किया है। कथा के प्रवाह में एक चक्रावर्त्त आ जाता है, जिसमें नायक स्कन्दगुप्त फँस जाता है। वह भट्टार्क के विश्वासघात के कारण कुभा की लहरों में बह जाता है। प्रेक्षक को ऐसा भान होने लगता है कि अँगरेजी के दुःखान्त नाटकों के समान 'स्कन्दगुप्त' का भी अन्त दुःख में होगा। यदि नाटक का अन्त यहीं हो जाता, तो यह पूर्णतः दुःखान्त होता। परन्तु, इससे भारतीय पद्धति का निर्वाह नहीं होता। इसीलिए, प्रसादजी ने और दो अंकों की योजना करके इसे सुखान्त बना दिया है। वास्तव में, यह नाटक पूर्णतः सुखान्त नहीं होकर करुण-सुखान्त (ट्रैजी-कॉमेडी) है।

इसमें भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों की भी योजना हुई है, नाटक की कार्यावस्था, अर्थ-प्रकृति तथा सन्धियों का समुचित रीति से निर्वाह हुआ है। नाटक के प्रथम दो अंक प्रारम्भ तथा प्रयत्न नामक कार्यावस्था हैं। अँगरेजी-शैली से ये प्रारम्भ तथा विकास की सूचना देते हैं। तीसरे अंक के समाप्त होने तक प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था होनी चाहिए, परन्तु प्रसादजी ने इसे अँगरेजी-शैली की चरम सीमा या क्लाइमेक्स बनाया है। इस स्थल पर नायक स्कन्दगुप्त कष्ट और विरोध के शिरोबिन्दु पर पहुँच गया है। चौथे अंक में नियताप्ति का निर्वाह प्रच्छन्न रूप से हुआ है, परन्तु अँगरेजी-शैली की निगति भारतीय नियताप्ति की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। पंचम अंक में सभी विरोधी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और भारत का अन्तर्विरोध और बाह्यविद्रोह शान्त हो जाता है। इस प्रकार, फलागम की अवस्था प्रभावोत्पादक रीति से सम्पन्न होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तु-विन्यास की दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भारतीय तथा पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

प्रसाद के नाटकों में कथानक : प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का गरिमामय युग अपने नाटकों का विषय बनाया। सभी नाटकों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दो सूत्र इनमें आदि से अन्त तक साथ-साथ चलते हैं। एक सूत्र तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं को पिरोता चलता है और दूसरा, सांस्कृतिक विचारों को गूँथता चलता है। प्रसादजी के नाटकों का कथानक-पट इन दो तानों-बानों से बुना हुआ है।

प्रसादजी के आरम्भिक नाटकों का कथानक उतना जटिल नहीं है, परन्तु क्रमशः यह जटिलता बढ़ती गई है। उनके नाटकों के कथानकों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा। 'विशाख' में एक ही कथा-सूत्र है; 'राज्यश्री' में दो हैं। 'अजातशत्रु' में कथानक की यह जटिलता और भी बढ़ गई है। मगध, काशी, कोशल और कौशाम्बी की घटनाएँ

कभी-कभी अलग-अलग चलती हैं और कभी-कभी दो-दो, तीन-तीन एक साथ मिलकर। 'स्कन्दगुप्त' में छह कथासूत्र चलते हैं, तो 'चन्द्रगुप्त' में सात। परन्तु, अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में कथानक की यह जटिलता मिट गई है और एक ही सूत्र में सम्पूर्ण कथानक गुँथा हुआ है।

जटिल कथानकवाले नाटकों में भी प्रसादजी ने अपनी निपुणता का परिचय दिया है और भिन्न-भिन्न इतिवृत्तों को कलात्मक रीति से संगठित किया है। शास्त्रीय विवेचन करने पर ज्ञात होगा कि कई नाटकों में कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों का भी यथावत् निर्वाह हुआ है।

नाट्य-सिद्धान्त में समन्वय : जयशंकर प्रसाद को भारतीय और यूरोपीय दोनों नाट्य-सिद्धान्तों तथा शिल्पों की विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान था और वे दोनों का समन्वय करने के पक्षपाती थे। फलस्वरूप वे एक ओर हिन्दी-नाटकों के शिल्प की स्वतन्त्रता पर बल देते थे तथा मौलिकता का आग्रह करते थे और दूसरी ओर, भारतेन्दु के ही समान नवीन प्रभावों को ग्रहण करके उसे पूर्ण बनाने की भी इच्छा रखते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाटकों के शिल्प का ऐसा विधान किया, जिसमें भारतीय तथा यूरोपीय दोनों नाट्य-सिद्धान्तों एवं शिल्पों की प्रधान विशिष्टताओं का सुन्दर समन्वय हुआ।

यूरोपीय नाट्यशास्त्री कथावस्तु में संघर्ष को बहुत महत्त्व देते हैं। 'स्कन्दगुप्त' में प्रसादजी ने संघर्ष का कुशलता से समावेश किया है, अन्य नाटकों में भी संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व को उचित स्थान दिया है। घटनाओं में आरोह तथा अवरोह होता है, जिससे कथावस्तु की धारा कभी तीव्र गति से और कभी मन्द गति से प्रवाहित होती है। इस प्रकार, प्रसादजी ने कथावस्तु के निर्माण में भारतीय पद्धति से लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उद्योग के साथ पाश्चात्त्य शैली से विरोध की चरम सीमा, निगति तथा समाप्ति का समन्वय किया है।

प्रसादजी ने संस्कृत तथा हिन्दी के प्राचीन नाट्यशास्त्र में बताई रूढ़ियों का तिरस्कार करके अपने नाटकों से नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि जटिलताओं का बहिष्कार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने संस्कृत-नाटकों तथा नाट्यशास्त्र के आदेश की अवहेलना करके हत्या, मृत्यु, युद्ध आदि के वर्जित दृश्यों को अपने नाटकों में स्थान दिया। पश्चिमी रोमाण्टिक नाटकों के अनुकरण पर उन्होंने अपने नाटकों में शील-वैचित्र्य, संघर्ष, भावों के घात-प्रतिघात आदि के दृश्य दिखाये। उन्होंने कार्यावस्थाओं के विषय में भी भारतीय तथा पाश्चात्त्य पद्धतियों का समन्वय किया और उनका निर्वाह इस प्रकार किया कि दोनों पद्धतियों की मूल बातों की पूर्त्ति हो गई है। प्रसादजी ने दृश्य-योजना तथा अंक-विभाजन के सम्बन्ध में प्राचीन परिपाटी का त्याग कर पाश्चात्त्य प्रणाली का अनुसरण किया। इस प्रकार, उन्होंने ऐसे नाटकों का निर्माण किया, जिनका शिल्प-विधान भारतीय एवं पाश्चात्त्य मान्यताओं तथा विशेषताओं के मेल से गठित हुआ है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण : प्रसादजी के कई नाटकों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ऐतिहासिक पुरुष-पात्रों के साथ-साथ काल्पनिक स्त्री-पात्रों की सृष्टि की है। इस प्रकार, इतिहास का कल्पना से मेल करने से नाटकों में सरसता आ गई है। प्रायः सभी राज्य-संचालकों और प्रसिद्ध दार्शनिक नेताओं की सृष्टि ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर की गई है, परन्तु स्त्री-पात्रों की कल्पना प्रसादजी की मौलिक सृष्टि है।

प्रसादजी के इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों का व्यक्तित्व अनूठा है। चरित्र-चित्रण पर बल देने के कारण उन्होंने अपने पात्रों का व्यक्तित्व बहुत सावधानी से गढ़ा है। उनके समक्ष कई प्रश्न थे, इसीलिए नाटकों में द्वन्द्वात्मक स्थिति देखी जाती है। उन्हें मानव-मन का विश्लेषण करना था, इसीलिए इतिहास की रेखाओं में परिवर्त्तन करना पड़ा है। इतिहास चाणक्य को एक निर्मम राजनीतिज्ञ ही जानता है, परन्तु प्रसादजी ने उनके हृदय में प्रेम का बीजारोपण किया है।

प्रसादजी के समस्त पुरुष-पात्रों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है—देवता, दानव और मानव। उनके प्रत्येक नाटक में कोई-न-कोई ऐसा पात्र है, जो तत्कालीन तत्त्व-चिन्तन का प्रतीक है, वही देवता की कोटि में रखा जा सकता है। इन महात्माओं का चरित्र पूर्ण रूप से विकसित है और ये प्रथम दर्शन में ही प्रेक्षकों को मुग्ध कर लेते हैं। इनका चरित्र इतना विकसित है कि उसमें अधिक विकास सम्भव ही नहीं है। दाण्ड्यायन ऐसे चरित्र का उदाहरण है।

दूसरी कोटि में दानव-पात्र आते हैं। इनमें से कुछ पूर्णतः दानव हैं और आदि से अन्त तक वैसे ही बने रहते हैं। दानव-कोटि में कुछ ऐसे भी पात्र हैं, जो पतनोन्मुख हैं और लगातार पतन की ओर बढ़ते जाते हैं। इनके जीवन में विकास का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ये अपनी वासनाजन्य प्रवृत्ति के अनुकूल परिस्थिति को ही बना लेते हैं। शान्तिभिक्षु ऐसे पात्र का अच्छा उदाहरण है।

पात्रों की तीसरी कोटि इन दोनों के बीच में आती है। ये पात्र मानव हैं और इनके अन्तःकरण में सदा देव तथा दानव-प्रवृत्तियों का संघर्ष चलता रहता है। देवत्व तथा दानवत्व के इसी संघर्ष में इन्हें अपना विकास करना होता है। कभी देवत्व की विजय होती है और कभी दानवत्व की। परन्तु, जब अनुकूल परिस्थितियाँ आती हैं, तब दानव-प्रवृत्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं और उनका उद्धार हो जाता है। इन पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित करने में प्रसादजी को विशेष सफलता मिली है। ऐसे चरित्रों के उदाहरण अजातशत्रु, पुरगुप्त आदि हैं।

इन तीन कोटियों के पात्रों के अतिरिक्त शेष पात्र भी मूलतः मानव ही हैं, परन्तु वे या तो देवप्राय हैं या दानवप्राय। विरुद्धक आदि ऐसे पात्र हैं, जिन्हें आरम्भ में विश्वासघात या हत्या करने में कोई हिचक नहीं होती, परन्तु अनुकूल अवसर आने पर

इनमें सुधार होने लगता है और अन्त में ये मानव-कोटि में आ जाते हैं। ऐसे चरित्रों को देखकर प्रेक्षक के मन में जीवन-विकास की आशा बँधती है।

पहले निवेदन किया जा चुका है कि प्रसादजी के नारी-पात्र उनकी कल्पना की देन हैं। वस्तुतः, उन्होंने नारी-जीवन का चित्रण करने में व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है और स्त्री-चरित्र के निर्माण में उसके शील-निर्देश का प्रयत्न किया है। प्रसाद के नारी-पात्र उनकी कल्पना तथा भावुकता के अधिक निकट हैं। इन नारियों की अतिशय भावुकता तथा कल्पना प्रसाद के व्यक्तिपरक दृष्टिकोण के उपयुक्त ही है। देवसेना का समर्पण तथा त्याग आदर्श की रेखाओं से बना है। इसमें यथार्थ कम ही है। कल्याणी, मालविका आदि के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। चरित्र-चित्रण में यह उनकी शक्ति है, परन्तु अभिनय में दुर्बलता है। नाटकों में चरित्र-चित्रण का प्रवेश उनकी निजी विशेषता है।

संवाद : प्रसादजी के तीन बड़े नाटकों—अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त—के संवाद में कठिन शब्द, लम्बे समास और बृहद् भाषण कहीं-कहीं इस तरह आ गये हैं कि उनका अभिनय कठिन है। किन्तु, इसके प्रतिकूल उनके प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'राज्यश्री' तथा अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में यह दोष नहीं है। सम्भवतः, प्रसादजी ने इन नाटकों को अभिनेय बनाने के लिए विशेष यत्न किया। इन नाटकों के संवाद का शब्द-चयन और भाषण की लघुता व्यापाराश्रित है और जनता की योग्यता के अनुसार है।

संवाद की भाषा : प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों ने संवाद की भाषा के विषय में नियम बनाया कि विद्वान्, ब्राह्मण, राजा तथा उच्च वर्ग के पुरुष संस्कृत का प्रयोग करें और शेष स्त्री-पुरुष विभिन्न प्राकृतों में वार्त्तालाप करें। हिन्दी-नाट्यकारों में महाराजा विश्वनाथ सिंह तथा भारतेन्दुजी ने विभिन्न पात्रों से विभिन्न प्रान्तीय अथवा जनपदीय भाषाओं का प्रयोग कराया है।

प्रसादजी ने इन दोनों शैलियों में से किसी को नहीं अपनाया। उन्होंने सदा खड़ी-बोली हिन्दी का प्रयोग किया है। भाषा की शैली प्रान्त की विभिन्नता के कारण नहीं होती, वरन् विषय की गहनता के कारण होती है। नरदेव न्यायासन पर बैठकर व्यवहारोपयोगी सरल भाषा का प्रयोग करता है, परन्तु वही प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर गहन दार्शनिक भाषा बोलता है।

प्रसादजी ने कुछ ही अंशों में इस सिद्धान्त का अनुसरण किया है। यदि वे इस सिद्धान्त का पालन सभी नाटकों में करते, तो एक बहुत बड़े दोष से बच जाते। आलोचकों ने आक्षेप लगाया है कि उनके सभी पात्रों की भाषा में एकरूपता रहती है और उनके पात्र कवि से लेकर दौवारिक तक प्रायः कवित्वमयी भाषा का प्रयोग करते हैं। परन्तु, यह आक्षेप अंशतः ही सत्य है।

स्वगत कथन : स्वगत कथन की व्यवस्था प्राचीन नाट्याचार्यों ने की है, परन्तु आजकल इसे अनावश्यक ही नहीं, दोष भी माना जाता है। किन्तु, प्रसादजी ने अपने नाटकों में यथास्थान इसका प्रयोग किया है। कुछ स्वगत कथन किसी घटना की सूचना-मात्र देते हैं, ये निश्चित रूप से नीरस और नाट्यकला के प्रतिकूल पड़ते हैं। प्रसादजी के स्वगत कथन पात्र की अवस्था की सूचना देते हुए, भावी घटना की भूमिका भी तैयार करते हैं। ऐसे स्वगत भाषण कई नाटकों में देखे जा सकते हैं। स्वगत भाषण का तीसरा रूप वहाँ देखा जाता है, जहाँ कोई पात्र रंगमंच पर उपस्थित दूसरे पात्रों के सामने रहकर अपने मन की बातों को स्वगत रूप में और व्यवहार के उपयुक्त बातों को प्रकट रूप में व्यक्त करता है। स्वगत कथन का यह तीसरा रूप नाटक के लिए किसी प्रकार भी उपयोगी नहीं कहा जा सकता। संस्कृत की जनान्तिक शैली आजकल सर्वथा अस्वाभाविक समझी जाती है और आज का कोई अच्छा नाटककार इसका उपयोग करना अनुचित समझता है।

प्रसादजी ने सिद्धान्त-रूप से स्वगत कथन को अस्वाभाविक मानकर इसपर व्यंग्य किया है। इस विषय में 'विशाख' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—'जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, दर्शक-समाज वा रंगमंच सुन लेता है, पर पास खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है।'[1] फिर भी विवश होकर कहीं-कहीं प्रसादजी ने स्वगत भाषण का सहारा लिया है। कोई भी नाटककार विवश होकर ही स्वगत कथन जैसे अस्वाभाविक उपाय की शरण लेता है।

नृत्य-गीत : भरत मुनि ने नाटक में गीत तथा नृत्य को आवश्यक माना, परन्तु परवर्त्ती नाट्याचार्यों ने इनपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। भारतेन्दुजी के अनुसरण पर प्रसादजी ने अपने पहले नाटक 'सज्जन' में गीतों की रचना की। उस समय हिन्दी-नाटकों में दो प्रकार के गीत रचे जा रहे थे—एक तो भारतेन्दुजी की शैली पर और दूसरे, पारसी रंगमंच के गीतों की शैली पर। विशेष रूप से पारसी रंगमंच के गीतों की धूम थी। इनमें से किसी शैली ने प्रसादजी को सन्तुष्ट नहीं किया। फिर, उनका ध्यान बँगला-नाटकों की ओर गया।

प्रसादजी ने अपने प्रत्येक नाटक में अनेक गीतों का समावेश किया। किसी-किसी नाटक में तो गीतों की भरमार हो गई है। उनके गीतों पर अनेक प्रकार के आक्षेप भी लगाये जाते हैं। गीतों को गानेवाली कोई नर्त्तकी है या कोई ऐसी पात्रा, जिसका अवतरण विशेषतः गीत गाने के लिए ही हुआ है। इससे कहा जा सकता है कि प्रसादजी अपने नाटकों के वस्तु-विन्यास में नृत्य-गीत को पर्याप्त महत्त्व प्रदान करते थे। उनके नाटकों में नृत्य का आयोजन केवल मनोरंजन के लिए नहीं, वरन् वातावरण-निर्माण तथा चरित्र के विकास के लिए भी किया गया है।

---

१. विशाख, प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य, पृ० २२

विदूषक : संस्कृत-नाटकों में विदूषक का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह नायक का सखा उसके प्रत्येक कार्य में साथ देता और मनोरंजन करता था। प्रसादजी ने विदूषक को अपने नाटकों से हटा दिया और उनमें हँसोड़ प्रकृति के किसी पात्र को स्थान देने लगे। इससे लाभ यह हुआ कि विदूषक का स्थानापन्न पात्र अन्य नाटकीय व्यापार करता हुआ, दर्शकों का मनोरंजन भी कर लेता था। 'विशाख' में महापिंगल और 'स्कन्दगुप्त' में मुद्गल ऐसे ही विनोदी पात्र हैं।

नाटक का अन्त : प्रसादजी के नाटकों में दुःखान्त या सुखान्त लेकर भ्रम फैला हुआ है। इसका कारण स्वयं उनके हृदय का अन्तर्द्वन्द्व है, जो पात्रों के माध्यम से प्रकट होता है। स्कन्दगुप्त नाटक के अन्त में यदि स्कन्दगुप्त और देवसेना का मिलन हो जाता, तो उसे सुखान्त माना ही जाता। परन्तु, नाटककार की प्रेम-कल्पना तथा जीवन-दृष्टि से एक अद्भुत कुतूहल की सृष्टि होती है। नाटक का यह अन्त प्रसादजी के जीवन-विषयक दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए, उनके नाटकों में दुःखान्त या सुखान्त ढूँढ़ना उनके प्रति अन्याय करना है। इन नाटकों में कवि की सुख-दुःख-विषयक विचारधारा काम करती है। इसीलिए, प्रसादजी अपने नाटकों में जीवन के कुछ प्रश्नों पर विचार करने में सफल हो सके हैं। उन्होंने अपने नाटकों को सुखान्त या दुःखान्त के चौखटों में बाँधकर नहीं लिखा है। अधिकांश नाटकों में बड़े-से-बड़े सुख के पीछे करुणा या उदासी की क्षीण धारा बहती रहती है, जो नियति द्वारा नियन्त्रित रहती है। कई आलोचकों ने उनके नाटकों को सुखान्त तथा दुःखान्त नहीं कहकर प्रसादान्त कहना अधिक पसन्द किया है।

प्रसाद और रंगमंच : कहा जाता है कि प्रसादजी के अधिकांश नाटक अनभिनेय हैं। उनके समक्ष कोई रंगमंच नहीं था, जिसे ध्यान में रखकर वे नाटक लिखते, सम्भवतः इसीलिए उनके नाटक अभिनेय नहीं बन सके हैं। अन्य साहित्यिक विधाओं के ही समान प्रसादजी ने नाटक की भी रचना की है। कुछ स्वगत भाषण, क्लिष्ट भाषा, अतिशय भावुकता, गीतों का बाहुल्य, जटिल दृश्य-विधान आदि कुछ ऐसे दोष हैं, जिनके कारण उनके नाटक अभिनेय नहीं बन पाये हैं। रंगमंच की दृष्टि से उनमें कुछ सुधार भी हुआ। उन्होंने सम्भवतः अपनी त्रुटियाँ समझ ली थीं, इसलिए अपने अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में उन्हें दूर करने का प्रयास किया। अभिनय की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की सर्वोत्तम कृति है। कुछ साधारण परिवर्त्तन कर देने से 'स्कन्दगुप्त' का भी अभिनय सफलता से किया जा सकता है।

किन्तु, रंगमंच के सम्बन्ध में प्रसादजी का अपना दूसरा ही दृष्टिकोण है। काव्य के विकास से ही रंगमंच के विकास का भी दिशा-संकेत हुआ था। इतिहास के इस साक्ष्य के आधार पर उन्होंने घोषणा की—"प्रत्येक काल में काव्य अथवा नाटक के लिए ही रंगमंच होते हैं न कि रंगमंच के लिए नाटक अथवा काव्य।"[1] इससे भी अधिक स्पष्ट रूप से

---

१. काव्यकला एवं अन्य निबन्ध ; प्रसाद; पृ० १०३

उन्होंने अन्यत्र कहा—"रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक हो।"[1]

प्रसादजी के दृष्टिकोण का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि उनके नाटक शिल्प-विधान की दृष्टि से न तो प्राचीन पद्धति में लिखे जान पड़ते हैं और न भविष्य के नाटकों के लिए शिल्प की भूमिका ही प्रस्तुत करने में समर्थ हुए। आलोचकों तथा पाठकों ने समझ लिया कि उनके नाटक पढ़ने के लिए हैं, खेलने के लिए नहीं। यही सोचकर उन लोगों ने सन्तोष कर लिया। नाटक और रंगमंच के इस भिन्न देशत्व को किसी भी प्रकार शुभ नहीं माना जा सकता।

हरिकृष्ण प्रेमी

श्रीहरिकृष्ण प्रेमी के नाट्य-सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके नाटकों का विश्लेषण तथा उनके नाटकों की भूमिकाओं का अध्ययन उपयोगी है। इस दृष्टि से उनके नाटकों की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर उनके नाट्य-सिद्धान्तों की कल्पना कर सकते हैं। उनके नाट्य-सिद्धान्त में साहित्य, कला तथा अभिनय का सुन्दर समन्वय है। उन्होंने किसी से भी पूर्णतः प्रभावित नहीं होकर भी सभी से लाभ उठाया। प्रेमीजी संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त के बन्धनों से मुक्त हैं और वर्तमान स्वाभाविक तथा स्वस्थ सिद्धान्तों के गुणों से युक्त हैं।

प्रेमीजी यथार्थ को संयत रूप में प्रस्तुत करने के समर्थक हैं। उन्होंने साहित्य में लोकहित का समावेश करते हुए भी कुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देनेवाले पात्रों का समावेश करना समाज के लिए अहितकर माना है। उनके प्रत्येक नाटक में आदर्शवाद का स्वर प्रमुख रहा है और किसी-न-किसी पात्र ने घटनाओं को आदर्श की ओर प्रेरित किया है। प्रेमीजी ने साहित्य में राष्ट्रीयता के समावेश पर भी पर्याप्त बल दिया है। उन्होंने अपने नाटकों की भूमिकाओं में स्थान-स्थान पर इस बात का संकेत किया है कि उनके नाटक देश की सामयिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर रचे गये हैं। इतना होने पर भी उनके नाटकों में सर्वथा सामयिक होने का आरोप करना उचित नहीं। सच तो यह है कि उनके नाटकों में सामयिकता की स्थिति अधिक प्रखर नहीं हो सकी है। उनमें गांधीवादी विचारधारा भी उपलब्ध होती है। जनता के हृदय में राष्ट्र-प्रेम की जागृति के लिए परतन्त्रता के विनाश के साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता पर भी उन्होंने पर्याप्त बल दिया है। इस दृष्टि से 'रक्षाबन्धन', 'स्वप्नभंग' तथा 'शिवा-साधना' द्रष्टव्य हैं।

कथानक : प्रेमीजी ने अपने नाटकों में कथा-तत्त्व को प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत किया है। उनके नाटक अधिकतर ऐतिहासिक हैं, अतः स्वभावतः प्रश्न उठता है कि

१. नाट्यकला एवं अन्य निबन्ध : प्रसाद; पृ० ११०

उन्होंने अपने नाटकों में किस सीमा तक इतिहास का निर्वाह किया है। वस्तुतः, उन्होंने इतिहास में कल्पना का मधुर मिश्रण किया है। इस विषय में उनका मत है कि ऐतिहासिक नाटकों में कल्पना के मिश्रण के सहारे कथानक को सदा प्रवहमाण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में उनका एक वक्तव्य देखा जा सकता है—'नाटकों में इतिहास की अक्षरशः रक्षा करना कठिन कार्य होता है। नाटकों में दो-एक पात्रों का चरित्र सर्वथा काल्पनिक भी हो सकता है।'[1]

प्रेमीजी ने अपने नाटकों की कथावस्तु सदा संक्षिप्त रखी है, अनावश्यक विस्तार की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। उन्होंने आधिकारिक कथावस्तु के अतिरिक्त अपने नाटकों में प्रासंगिक कथानकों का भी सफलता से निर्वाह किया है। देश-प्रेम की चेतना उनके सभी नाटकों में वर्त्तमान रही है। उनके नाटकों के कथानक पाठकों को सदा देश-प्रेम की प्रेरणा देते हैं। यह बात उनके ऐतिहासिक नाटकों में तो सत्य है ही, सामाजिक नाटकों में भी समान रूप से सत्य है।

प्रेमीजी ने कहीं भी स्वगत भाषण का भद्दा प्रदर्शन नहीं किया। 'रक्षाबन्धन' उनका दूसरा ही नाटक है, फिर भी उनकी अत्यन्त विकसित कला का नमूना है, इसमें केवल चार स्वगत हैं। उनका 'स्वप्नभंग' अपवाद ही है, जिसमें स्वगत भाषण की अस्वाभाविक और अनावश्यक भरमार है—यद्यपि वह उनका छठा नाटक है। वस्तुतः, जैसे-जैसे उनकी कला का विकास होता गया, वे स्वगत भाषण कम करते गये। कार्य-व्यापार की दृष्टि से भी प्रेमीजी के सभी नाटक—'स्वप्नभंग' को छोड़कर—श्रेष्ठ हैं। 'रक्षाबन्धन' के कई दृश्य कार्य-व्यापार तथा गतिशीलता में आदर्श हैं। 'शिवा-साधना' कार्य-व्यापार तथा घटनावली में अन्य सभी नाटकों से बढ़कर है। कथानक अत्यन्त गतिशील है; सभी घटनाएँ रंगमंच पर ही घटती हैं। कार्य-व्यापार की दृष्टि से 'स्वप्नभंग' सबसे शिथिल है। इसमें घटनाएँ पात्रों के मुँह से सूचित की जाती हैं, रंगमंच पर नहीं घटित होतीं। यह इस नाटक का सबसे बड़ा दोष है।

पात्र-योजना : प्रेमीजी ने अपने नाटकों में पात्र-योजना की ओर विशेष ध्यान दिया है। पात्रों की संख्या और उनके चरित्र का विकास नाट्यकला का महत्त्वपूर्ण अंग है। वे रचना-क्रम में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये, पात्रों की संख्या त्यों-त्यों कम होती गई और चारित्रिक विकास अधिक होता गया। पात्रों की संख्या की दृष्टि से 'शिवा-साधना' में सबसे अधिक भीड़ है। चरित्र का विकास 'रक्षाबन्धन' और 'स्वप्नभंग' में सर्वाधिक सुन्दर रीति से हुआ है। ऐतिहासिक होते हुए भी प्रेमीजी ने इन दोनों नाटकों में चरित्र का उद्घाटन करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। यह सत्य है कि आदर्शवादी होने के कारण उन्होंने कुछ कुटिल पात्रों को छोड़कर अपने पात्रों को आदर्श प्रेमी रखने पर बल दिया है, फिर भी इस विषय में उन्होंने अतिवादिता का कहीं भी परिचय नहीं दिया है। उनके पात्र विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर भी अति मानवता से मुक्त ही हैं।

१. शिवा-साधना, अपनी बात, पृ० ८ तथा १०

संवाद : चरित्र-चित्रण को सजीवता प्रदान करने के लिए नाटककार को संवाद-योजना पर ध्यान देना आवश्यक होता है। प्रेमीजी ने इस तथ्य की उपयोगिता को ध्यान में रखकर नाटकीय संवादों से मानव-जीवन को उचित अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने अपने संवादों में भाव-तत्त्व तथा विचार-तत्त्व दोनों का उचित समावेश किया है। संवादों को स्वाभाविक बनाने के लिए उन्हें संक्षिप्त बनाया गया है। उनमें अनावश्यक विस्तार कर देने से विषयान्तर होने का भय बना रहता है और नाटक में वर्णनात्मकता की प्रधानता हो जाती है। प्रेमीजी ने संवाद-योजना में इस तथ्य पर पर्याप्त ध्यान दिया है। उन्होंने निरर्थक संवादों की योजना नहीं की है और उनके संवाद अधिकांशतः उनके पात्रों का व्यक्तित्व प्रकाशित करनेवाले होते हैं।

प्रेमीजी के संवादों की भाषा नाटकोचित, स्पष्ट और प्रभावमयी है। उनकी भाषा में सादगी के साथ शक्ति भी है। वह पात्रानुकूल परिवर्तित होती रहती है और वहीं क्लिष्ट हुई है, जहाँ गहन भावों की अभिव्यक्ति करती है। प्रेमीजी की भाषा की विशेषता इसमें भी है कि वह कृत्रिमता-रहित है और रंगमंच पर उच्चरित होने पर सामान्य श्रोता की भी पहुँच के बाहर नहीं होती। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिन्दी के सरल शब्दों के अतिरिक्त उर्दू तथा अँगरेजी के भी सरल शब्दों का व्यवहार किया है। मुसलमान पात्रों से सरल उर्दू का प्रयोग कराया गया है। इसका अपवाद केवल 'स्वप्नभंग' है; क्योंकि उस नाटक के प्रायः सभी पात्र मुसलमान हैं और यदि सभी उर्दू बोलते, तो नाटक पूर्णतः उर्दू का ही हो जाता। यह बात उन्होंने नाटक की भूमिका में स्पष्ट कर दी है।

वातावरण तथा गीत : प्रेमीजी ने अपने नाटकों में वातावरण का भी पूरी तरह ध्यान रखा है। उन्होंने वातावरण-सम्बन्धी दृश्यों से नाटकीय लाभ उठाया है। आधुनिक युग में कई नाटककार गीत का प्रयोग उचित नहीं मानते, परन्तु प्रेमीजी ने गीत को नाटक का आवश्यक तत्त्व माना है। उन्होंने कहा है कि गीतों से अभिनय में सजीवता आ जाती है। उनके पहले प्रसादजी ने भी गीतों का सफल प्रयोग किया था, प्रेमीजी ने सम्भवतः उन्हीं से प्रेरणा लेकर गीतों की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

रंगमंच तथा अभिनय : प्रेमीजी ने अपने नाटकों की रचना करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि नाटक रंगमंच के उपयुक्त हो। उनके द्वारा लिखे सभी नाटक अभिनय की विशेषताओं से पुष्ट रहे हैं। 'शिवा-साधना' जैसे कुछ नाटकों में पात्राधिक्य तथा शीघ्र दृश्य-परिवर्तन के कारण यद्यपि अभिनय में बाधा पहुँचती है, तथापि सामान्य रूप से कह सकते हैं कि उनके नाटकों में हिन्दी के अन्य नाटकों की अपेक्षा रंगमंच और अभिनय पर अधिक ध्यान दिया गया है।

प्रेमीजी ने भूमिकाओं में हिन्दी-रंगमंच के अभाव की ओर संकेत करके अपने नाटकों की रंगमंचीय क्षमता का भी निर्देश किया है। इस दृष्टि से उनके 'प्रकाश-स्तम्भ', 'बादलों के पार', 'स्वप्नभंग' तथा 'विषपान' की भूमिकाएँ देखी जा सकती हैं। आलोचकों ने उनके

नाटकों की अभिनेयता की चर्चा करते समय दो आरोप लगाये हैं : १. प्रेमीजी ने अपने नाटकों में गीतों की अतिशयता के कारण जीवन की वास्तविकता की कुछ अंशों में उपेक्षा की है; २. दृश्य-योजना में शिथिलता आ गई है। प्रेमीजी ने अपने नाटकों की भूमिकाओं में इन आरोपों का प्रतिवाद किया है। 'विषपान' की भूमिका में प्रथम आरोप का उत्तर देते हुए, उन्होंने संगीत को रस-सृष्टि में सहायक मानकर वातावरण के स्पष्टीकरण में सहायक माना है। दूसरे आरोप के उत्तर में प्रेमी ने कहा है कि रंग-सज्जा की योजना के लिए दृश्य-योजना को विशेष प्रकार से रखना नाटककार को आवश्यक हो जाता है–'जो नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखा गया है, उसका पूर्ण सौन्दर्य रंगमंच पर ही देखा जा सकता है—या वह व्यक्ति देख सकता है, जो उसे पढ़ते समय रंगमंच की कल्पना अपने मस्तिष्क में रखता है।'[१]

शीघ्र दृश्य-परिवर्त्तन का दोष स्वीकार करके प्रेमीजी ने अपने बाद के नाटकों में उसे हटा दिया है। इस दृष्टि से उनका 'प्रकाश-स्तम्भ' देखने योग्य है, जिसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है—'मेरे इस नाटक से पहले के प्रायः सभी नाटक पटों (पर्दों) की सहायता से खेले जानेवाले रहे हैं। सेट्स के हिसाब से वे नहीं लिखे गये। मेरा यह नाटक केवल दो सेटिंग्स पर खेला जा सकता है और दो दृश्यों की संख्या भी इसमें बहुत थोड़ी है।'[२]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमीजी ने अपने नाटकों को रंगमंच के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। अभिनय को सफल बनाने के लिए वे रंग-संकेत उपस्थित करने में सचेष्ट रहे हैं। निम्नलिखित पंक्तियों से उनके नाटकों का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है—'इतना प्रयत्न तो मैं करता हूँ कि नाटक रंगमंच के उपयुक्त रहें, जनसाधारण की पहुँच के बाहर न हों और उनमें रसानुभूति का अभाव न हो।'[3]

लक्ष्मीनारायण मिश्र

किसी भी साहित्य-रूप में स्वभावतः एक प्रतिक्रिया होती है। प्रसादजी के भावना-प्रधान नाटकों की प्रतिक्रिया में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने बौद्धिकता-प्रधान नाटकों को प्रस्तुत किया है। नार्वे के फेबियन समाजवादी नाटककार इब्सन ने समाज की समस्याओं पर बौद्धिक दृष्टिकोण से विचार किया था। आगे चलकर जॉर्ज बर्नार्ड शॉ इस बौद्धिक क्रान्ति के नेता हुए। इन लेखकों ने समाज की रूढ़ियों तथा परम्पराओं का खुलकर विरोध किया और समाज के नग्न चित्र पाठकों के सामने रखे। मिश्रजी ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया।

हिन्दी-नाटक तथा नाट्य-सिद्धान्त के विकास में लक्ष्मीनारायण मिश्र का विशिष्ट स्थान है। नाटक-क्षेत्र में उनका आगमन नाट्य-कला तथा सिद्धान्त के विकास में एक

१. विषपान, पुकार, पृ० १२-१३
२. प्रकाश-स्तम्भ, संकेत, पृ० ग
३. स्वप्नभंग, कुछ बातें, पृ० ३

मोड़ है, उन्होंने हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त को एक दिशा दी है। प्रसाद के नाटकों में एलिजाबेथ (प्रथम)-काल के अँगरेजी-नाटकों की प्रवृत्तियाँ द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के प्रभाव के कारण आ गई थीं, उनका जमकर विरोध प्रसादोत्तर काल के नाटककारों ने किया। मिश्रजी इनमें अग्रगण्य हैं। उन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय तथा प्रसादजी दोनों का विरोध किया। उनका कहना है कि प्रसाद के नाटकों में जो कथानक आये हैं, वे तो अवश्य भारतीय इतिहास के गौरव पर आधारित हैं, किन्तु उनके चरित्र के निर्माण में भारतीय जीवन-दर्शन की उपेक्षा की गई है। मिश्रजी के इस विरोध का कारण यह है कि प्रसादजी ने द्विजेन्द्र बाबू की कला का अनुकरण किया था और द्विजेन्द्र बाबू की कला शेक्सपियर की कला थी, जिसका पश्चिम में तिरस्कार किया गया था। तिरस्कार यह कहकर किया गया था कि यह मनोविज्ञान तथा यथार्थ के सर्वथा प्रतिकूल है।

प्रसादजी जहाँ बँगला के माध्यम से शेक्सपियर के नाटकों से प्रभावित हैं, वहाँ मिश्रजी आधुनिक यूरोपीय नाटककारों—इब्सन और शॉ—से प्रभावित हैं। प्रसादजी में जहाँ भावनात्मकता मिलती है, वहाँ मिश्रजी में बौद्धिकता का प्राबल्य है। प्रसादजी के भावना-प्रधान नाटकों के प्रति मिश्रजी का असन्तोष इतना प्रबल है कि उन्हें अपने मत के समर्थन में चीखना-चिल्लाना भी पड़ा है। नाटकों की लम्बी भूमिकाएँ इसका प्रमाण हैं। इस प्रकार उनकी प्रतिभा का अपव्यय भी बहुत हुआ है।

मिश्रजी ने अनेक सांस्कृतिक तथा समस्या-नाटकों की रचना करके हिन्दी-नाट्य-भाण्डार को भरा है, हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त के विकास में योगदान किया है और अभी भी करते जा रहे हैं। उन्होंने अभिनेयता पर भी ध्यान दिया है और मूलतः नारी-जीवन की समस्याओं, प्रेम और यौन-सम्बन्ध का विशेष विवेचन किया है। मिश्रजी का ध्यान जीवन के अन्य पहलुओं की ओर भी गया है। उनकी कला यथार्थवादी है। जहाँ तक भावना की बात है, उसे यथार्थवादी से अधिक आदर्शवादी और पुनरुत्थानवादी ही कहना उपयुक्त होगा। उनकी सारी समस्याएँ मूलतः वैयक्तिक हैं और उनके नाटकों का स्वर वैयक्तिक ही है। उनमें व्यक्तियों की समस्या का मूलरूप से चित्रण हुआ है। मिश्रजी के नाटकों ने नारी-समस्या और विशेषतः यौन-समस्या का उद्घाटन किया है। किरणमयी, मालती, चम्पा, चन्द्रकला या बालविधवा मनोरमा सभी के द्वारा यौन-समस्या का अंकन किया गया है।

समस्या-नाटक की प्रेरणा : समस्या-नाटकों के आधुनिक जन्मदाता मिश्रजी माने जाते हैं। इस प्रकार का प्रथम नाटक 'संन्यासी' सन् १९२७ ई० में लिखा गया। इस नाटक की प्रेरणा के विषय में मिश्रजी ने कहा है कि कुछ पाश्चात्य लेखक जातीय भेद और विद्वेष बढ़ा रहे थे, रंगीन जातियों को सब तरह से हीन कहने की चेष्टा कर रहे थे। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी के प्रथम समस्या-नाटक 'संन्यासी' का जन्म हुआ। उसके पहले मिश्रजी छायावादी कवि थे। परन्तु, उन्होंने देख लिया कि "छायावादी हिन्दी

कवियों के रूप में अँगरेजी-कवियों की लिरिक पोएट्री का जो प्रभाव चल रहा है, वह व्यक्ति की अतृप्त लालसा, वासना, परिताप, एकांगी स्वार्थ के उन्माद का फल है। इसमें जातीय जीवन और संस्कृति का ह्रास है।" अतः, छायावादी कविता छोड़कर मिश्रजी सदा के लिए नाटककार बन गये; क्योंकि नाटक में जीवन का सच्चा चित्रण करने का पर्याप्त अवसर है। कर्म-संश्रय से छूटकर गीतों में डूबे रहना उन्होंने पाप समझा।

मिश्र के नाटक और पश्चिमी प्रभाव : मिश्रजी के समस्या-नाटकों के विषय में अनेक आलोचकों ने कहा है कि ये नाटक पश्चिम से प्रभावित हैं, इसलिए भारतीय मान्यताओं के विरुद्ध हैं। लेखक ने इस आरोप का तीव्र प्रतिरोध किया है। अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?) में उन्होंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे यूरोपीय बुद्धिवाद को उसी रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते, प्रत्युत अपने बुद्धिवाद के समर्थन में उपनिषद् आदि भारतीय ग्रन्थों को उपस्थित करते हैं। वे यह पसन्द नहीं करते कि लोग उन्हें इब्सन और शॉ का हिन्दी-संस्करण कहें। वे अपने को भारतीय विचारकों की पंक्ति में रखना चाहते हैं। मिश्रजी का दावा है कि उनके नाटक मौलिक तथा स्वाभाविक हैं, वे भास तथा कालिदास की परम्परा में हैं और उनमें भारतीयता की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। किन्तु, आचार्य शुक्ल ने बताया कि वे यूरोप का अनुकरण करते हैं।[1] मिश्रजी इस आक्षेप से तिलमिला गये। उन्हें इस बात का कष्ट है कि शुक्लजी ने उनके साथ न्याय नहीं किया और उनका झुकाव प्रसादजी के ही पक्ष में रहा।

पश्चिम के प्रभाववाले आरोप के उत्तर में मिश्रजी का कहना है कि यदि एक नाटक का संवाद, कथानक, व्यापार और परिणति पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं—"नर-नारी के प्रेम और आकर्षण के साथ-ही-साथ हमारे जीवन की जो अन्य समस्याएँ नाटकों में आई है, वे भारतीयता को और भी अधिक चमका देती हैं। नारी चाहे जिस रूप में पहली बार जिस पुरुष के राग का माध्यम बनती है, उसे जन्म-भर उसी के साथ रहना है। इस कठोर नियम और मान्यता में उसके निजी प्रेम को हारना ही पड़ता है।" अपने इस कथन की पुष्टि में मिश्रजी ने 'मुक्ति का रहस्य' की आशा देवी का उदाहरण दिया है, जो अपने प्रेम के देवता उमाशंकर को छोड़कर अपने पतन के साथी डॉक्टर की सहगामिनी बनती है। दूसरा उदाहरण 'सिन्दूर की होली' से दिया जा सकता है। बाल-विधवा मनोरमा अपने पति की मूर्त्ति अपनी कल्पना की आँखों से सदा देखती रहती है। जिस स्त्री के हृदय में पति का रूप-यौवन का समस्त आकर्षण लेकर इस प्रकार बैठ गया हो, उसके लिए दूसरा कोई भी पुरुष सर्वथा हीन जँचेगा और उसकी तरफ वह आँख उठाकर देखना भी नहीं चाहेगी। भारतीयता का इससे बढ़कर स्वस्थ उदाहरण दूसरा क्या हो सकता है ?

---

१. **हिन्दी-साहित्य का इतिहास : शुक्लजी, पृ० ५५४**

मिश्रजी के सांस्कृतिक नाटक : अपने सारे बुद्धिवाद के बावजूद लक्ष्मीनारायण मिश्र स्वयं भावुकता से सर्वथा मुक्त नहीं हो सके हैं। उनके मन में एक द्वन्द्व दिखाई देता है। पहले उन्होंने समस्या-नाटकों की रचना की, परन्तु पीछे कई सांस्कृतिक नाटक लिखे। वस्तुतः, इस क्षेत्र में भी उनकी देन अमूल्य है।

मिश्रजी ने 'अशोक' नाटक की रचना २३ वर्ष की अवस्था में की थी। यह सांस्कृतिक नाटकों की कोटि में आ सकता है, अतः यह उनका प्रथम सांस्कृतिक नाटक माना जायगा। इसे उन्होंने अपने प्रमाद का फल स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि जब शेक्सपियर का भूत बंगाली नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के हृदय का देवता बन रहा था, उस समय देश की अनेक भाषाओं के नाटककारों ने उसकी अर्चना जाने-अनजाने की। उसी प्रभाव के कारण अशोक की रचना हुई। मिश्रजी का कहना है कि यदि शेक्सपियर से प्रभावित द्विजेन्द्रलाल के नाटक नहीं लिखे गये रहते, तो सभी नाटककार भास और कालिदास की परम्परा में चलते और भारतीय जीवन-दर्शन के प्रति निष्ठा दिखाते। उस समय यूरोप में इब्सन और शॉ का प्रभाव चल रहा था और शेक्सपियर के प्रति प्रतिक्रिया चल रही थी, परन्तु मिश्रजी का कहना है कि उस समय देश के दुर्भाग्य से शेक्सपियर के छोटे संस्करण के रूप में द्विजेन्द्र का जन्म बंगाल में हो गया।

मिश्रजी ने कहा है कि प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों की प्रतिक्रिया में मुझे ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नाटकों की रचना करनी पड़ी। उनके मतानुसार प्रसादजी के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्महत्याओं के दृश्य दिखाये जाते हैं, अस्वाभाविक संवाद उपस्थित किया जाता है और प्रेम प्रकट करने के लिए लम्बे भाषणों का प्रयोग किया जाता है, वे सब कुछ भारतीय नाट्य-पद्धति के विरुद्ध हैं। वैसे ही वे प्रसादजी के नाटकों में दोष बताते हैं कि उनमें कौमार्य को विवाह से श्रेष्ठ बताया गया है, जो भारतीय नाट्य-पद्धति तथा संस्कृति के विरुद्ध है। मिश्रजी ने इन त्रुटियों को अपने नाटकों से दूर रखने की बात कही है।

मिश्रजी के सांस्कृतिक नाटकों की शैली : १. मिश्रजी के सभी सांस्कृतिक नाटकों में तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक में कई दृश्य हैं।

२. किसी नाटक में गीत का समावेश नहीं है।

३. उनके सांस्कृतिक नाटकों में भाव-चित्रण के साथ-साथ बौद्धिक विवेचन पर भी बल दिया गया है। वस्तुतः, उनके नाटकों में भावात्मकता से भी बढ़कर बौद्धिकता देखी जाती है।

४. उनके नाटकों में एक त्रुटि है कि अधिकांश घटनाओं को क्रिया या व्यापार के रूप में नहीं दिखाकर पात्रों के संवाद के द्वारा उनकी सूचना दी जाती है। घटनाओं को क्रिया द्वारा दिखाना अधिक अच्छा होता है।

५. उनके सांस्कृतिक नाटकों में भी नान्दी, सूत्रधार आदि तो हैं ही नहीं, परन्तु **'नारद की वीणा'**, **'गरुड़ध्वज'**, **'वत्सराज'** और **'दशाश्वमेध'** में भरत-वाक्य के समान कुछ है। इन नाटकों में किसी-न-किसी पात्र ने मंगल और उत्कर्ष की बात कही है।

६. मिश्रजी के सांस्कृतिक नाटकों की भाषा काव्यमयी नहीं, वरन् सरल, स्वाभाविक, ओजस्वी और नाट्योपयोगी है। उनकी भाषा अन्तर्जगत् का चित्रण करने में पूर्णतः समर्थ होती है।

७. कहा जाता है कि मिश्रजी की शैली का आधार भारतीय नाट्शास्त्र नहीं, प्रत्युत पाश्चात्त्य नाट्यकला है। परन्तु वे इस आरोप को भी स्वीकार नहीं करते।

मिश्रजी का मूल्यांकन : लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी-नाटकों में बुद्धिवाद का प्रवेश कराया और सामाजिक नाटकों को अधिक ठोस यथार्थ की भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। कला की दृष्टि से भी उनका कार्य प्रशंसनीय है। पात्र-संशोधन तथा अंकों एवं दृश्यों की सन्तुलित योजना में उन्हें अवश्य सफलता मिली है। परन्तु, उन्हें नाट्यकला तथा रंगमंच का व्यावहारिक अनुभव नहीं रहने के कारण उनके सभी नाटक पूरी तरह अभिनेय नहीं बन सके हैं। मिश्रजी के संवाद छोटे-छोटे होते हैं, नाटकों में गतिशीलता भी है, परन्तु उनमें अपेक्षित चुस्ती, संक्षिप्तता, प्रभावान्विति एवं शिल्प का अर्थगत आकलन नहीं हो पाया है। मिश्रजी ने यथार्थ के नाम पर कहीं-कहीं अश्लीलता को भी स्थान दिया है। 'राक्षस का मन्दिर' और 'संन्यासी' में चुम्बन-आलिंगन की भरमार है।

मिश्रजी एक अंक में एक ही दृश्य रखने के पक्षपाती हैं। 'मुक्ति का रहस्य' में तीन दृश्य और तीन अंक हैं। "बार-बार पर्दा गिराना और उठाना रंगमंच को अस्वाभाविक बना देता है।.... रंगमंच और हमारे स्वाभाविक निवास में कोई बहुत विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए।"[1]

'संन्यासी' में गीत रखे गये हैं, परन्तु 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' आदि में नहीं। "मेरी राय में नाटक में गीत रखना कोई बहुत जरूरी नहीं है। कभी-कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं।.... नाटक में गीत का पक्षपाती मैं वहीं तक हूँ, जहाँतक इसे जीवन में देख पाता हूँ।"[2]

मिश्रजी अभिनय के सम्बन्ध में स्वाभाविकता पर जोर देना चाहते हैं। "इसी कारण मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझकर छोड़ दिया है। पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है, उतना स्वगत नहीं। जहाँ कहीं स्वगत ऐसी चीज की जरूरत पड़ी है, मैंने मूक अभिनय से काम लिया है।"[3]

---

१. **मुक्ति का रहस्य (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?), पृ० २४**

२. **वही, पृ० २५**

३. **वही, पृ० २५-२६**

हिन्दी-नाटकों में बौद्धिक कलेवर देने के कारण साहित्य मिश्रजी का ऋणी है, किन्तु उनकी अपनी विवशताएँ तथा सीमाएँ भी हैं। आलोचना करते समय हमें उन विवशताओं पर भी दृष्टि रखनी है।

सेठ गोविन्ददास

प्रभाव तथा प्रवृत्ति : सामाजिक यथार्थ के साथ राजनीति को लेकर नाटक लिखनेवालों में सेठ गोविन्ददास अग्रगण्य हैं। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है, अतः उनके नाटकों में यथार्थ की प्रमुखता है।

सेठ गोविन्ददास के नाटक का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा समस्यामूलक नाटकों की रचना की है। उनके एकांकियों के कई संग्रह निकले हैं, स्वोक्ति-शैली पर भी उनके नाटक हैं। उन्होंने इब्सन की परम्परा के नये नाटकों से प्रेरणा ग्रहण की है और इस अर्थ में उन्हें इब्सन का अनुयायी कहा जा सकता है। सेठजी ने इंगलैण्ड के शॉ, स्वीडेन के स्ट्रिण्डबर्ग और अमेरिका के ओनील से भी पर्याप्त मात्रा में प्रेरणा ली है; भारतीय नाट्याचार्यों से तो उन्हें प्रेरणा मिली ही है। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्रों का समुचित अध्ययन किया। इसका बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि वे एक ओर भारतीय नाट्यशास्त्र की जटिलताओं को समझने में समर्थ हुए, तो दूसरी ओर पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्र की उन विशेषताओं को अपना सके, जिन्हें हिन्दी-नाटक में लाकर उनका परिष्कार किया। सेठजी विचारों से पूर्णतः भारतीय हैं। अतः उनके भारतीय नाटक के व्यक्तित्व की रक्षा की आशा की जा सकती है।

सेठजी ने भारतीय तथा यूरोपीय नाटकों तथा नाट्यशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करके नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी अपने मत स्थिर किये और उन्हें 'नाट्यकला-मीमांसा' में ठोस रूप दिया। इब्सन ने अपने नाटकों में स्वाभाविकता लाने के प्रयत्न में नियत श्रव्य तथा अश्रव्य—दोनों प्रकार के स्वगत कथनों का बहिष्कार किया था। स्वभावतः इस कारण भी सेठजी उनकी ओर झुके। इब्सन की इस प्रवृत्ति की सार्थकता की ओर संकेत करते हुए सेठजी ने लिखा है—"स्वगत कथन से अधिक अस्वाभाविक बात नाटकों में कोई और नहीं हो सकती।"[1] उन्होंने ऐसा इसलिए कहा कि वे भी नाटकों में स्वाभाविकता लाने के आग्रही हैं।

सेठजी आलोचना को बुरा नहीं मानते, प्रत्युत प्रयोगशील कलाकार होने के कारण उस आलोचना के प्रकाश में अपने नाटकों में परिष्कार लाने का प्रयत्न करते हैं। उनके नाटकों के प्रकाशन के बाद डॉ० नगेन्द्र ने कहा कि उनके नाटकों में अन्तःसंघर्ष बड़ा दुर्बल होता है। इसके बाद सेठजी ने अपने नाटक 'गरीबी या अमीरी' में अपने नाट्य-सिद्धान्त पर फिर से विचार करके अपनी सम्पूर्ण मान्यताओं में संशोधन किया।

---

१ तीन नाटक (प्राक्कथन), पृ० ११

इस नाटक (गरीबी या अमीरी) में उन्होंने स्वगत कथन का प्रयोग किया और यह भी कह दिया कि यदि नाटक सफल हुआ, तो इसका सारा श्रेय इसके स्वगत कथनों को प्राप्त होगा और यह कदाचित् असफल हुआ, तो उसके लिए स्वगत कथन ही उत्तरदायी होंगे।[1]

नाट्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी सेठजी के विचार : सेठजी ने अपनी पुस्तक 'तीन नाटक' की एक विस्तृत भूमिका लिखी थी, जो पीछे 'नाट्यकला-मीमांसा' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इस पुस्तक से सेठजी के नाट्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी विचार प्रकट होते हैं।

भारतेन्दुजी ने सन्धि आदि के विषय में विचार प्रकट किया था—'संस्कृत-नाटक की भाँति हिन्दी-नाटक में इनका (प्रकरी, सन्धि आदि का) अनुसन्धान करना या किसी नाटकांग में इनकी यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी-नाटक लिखना व्यर्थ है।' भारतेन्दु से सेठजी बहुत दूर तक सहमत हैं, परन्तु इतना अवश्य मानते हैं कि 'प्राचीन पद्धति के मनन से आधुनिक काल में भी श्रेष्ठ नाटक के प्रणयन में बहुत सहायता मिलती है।'[2] वे यह भी मानते हैं कि नाटककारों के लिए यूनानी पद्धति का भी ज्ञान आवश्यक है। यूरोप के आधुनिक नाटककारों ने इब्सन का बहुत अनुकरण किया और फिर अँगरेज नाटककारों ने इब्सन से प्रभावित शॉ तथा गाल्सवर्दी से प्रभाव ग्रहण किया है। सेठजी का मत है कि भारतीय परिस्थिति के अनुसार उचित परिवर्त्तन करके उसी पद्धति का अनुसरण भारतवर्ष में भी होना चाहिए। अनेक नाटककारों के समान सेठजी ने भी अपने नाटकों में यह प्रभाव ग्रहण किया है।

भारत तथा पश्चिम के प्राचीन तथा नवीन विद्वानों का मत लेकर सेठजी किसी उत्तम नाटक में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक मानते हैं।

नाटक में सबसे पहले विचार या समस्या होना आवश्यक है। फिर उस विचार के विकास के लिए संघर्ष अनिवार्य है। संघर्ष बाह्य और आन्तरिक दोनों ही आवश्यक है। आन्तरिक संघर्ष में ही मनोविज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर मिलता है। विचार तथा संघर्ष की सम्बद्धता तथा मनोरंजकता के लिए कथा की सृष्टि होती है। बिना पात्रों के कथा नहीं हो सकती, अतः पात्रों का प्रादुर्भाव और उनका चरित्र-चित्रण होता है। पात्रों की कृति और कथोपकथन उस कथा को कहने के साधन हैं। अतः सेठजी ने उत्तम नाटक के विषय में लिखा है—'जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित और मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होंगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।'[3]

---

१. **गरीबी या अमीरी, भूमिका, पृ० ८**
२. **नाट्यकला-मीमांसा, पृ० १२**
३. **वही, पृ० १६**

सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के समान नाटक का भी आरम्भ, विकास तथा अन्त होता है। किस स्थान पर नाटक का आरम्भ हो और विकास के उपरान्त कहाँ उसका अन्त हो, इस बात पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। फिर नाटक प्रदर्शन की वस्तु है, अतः क्षणमात्र के लिए भी उसमें शिथिलता नहीं होनी चाहिए। इसलिए, नाटक का आरम्भ संघर्ष से ही होना चाहिए। विकास के बाद नाटक का अन्त चरम सीमा पर होना चाहिए या यदि चरम सीमा के बाद उपसंहार के लिए कुछ कहना हो, तो उपसंहार के बाद अन्त होना चाहिए।

इतना होने पर भी सेठजी का मत है कि यदि नाटक में रस का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, तो वह कला का उत्तम उदाहरण नहीं कहा जा सकता। नाटक में स्वाभाविकता का रहना नितान्त आवश्यक है। पाश्चात्य नाटककारों ने इस विषय में बहुत उन्नति की है।

नाटक में अंकों की संख्या, व्यवस्था और उनका बड़ा या छोटा होना कथानक पर निर्भर करता है। आजकल हिन्दी-नाटकों में तीन ही अंक रखकर सभी अंकों को बराबर बनाने का जो प्रयास हो रहा है, उससे अस्वाभाविकता बढ़ती है। बहुत अधिक पात्र भी रखना अस्वाभाविकता बढ़ाता है।

नाटक में हास्य रस : हास्य की उत्पत्ति किसी असाधारण या विकृत रूप, वेश, संकेत, चरित्र, परिस्थिति अथवा शब्द या वाक्य देखने या सुनने से होती है। सेठजी अन्तिम दो से उत्पन्न हास्य को श्रेष्ठ मानते हैं। जब कोई व्यक्ति असाधारण या विकृत परिस्थिति देखता है अथवा असाधारण या विकृत शब्द या वाक्य सुनता है, तो उससे उत्तम हास्य उत्पन्न होता है। इन दोनों में भी वह हास्य अधिक अच्छा है, जो विकृत शब्द या वाक्य के सुनने से उत्पन्न होता है। जिन शब्दों या वाक्यों से हास्य उत्पन्न होता है, उन्हें व्यंग्य कहा जाता है। पश्चिमी साहित्यकारों ने इस व्यंग्य के तीन भेद किये हैं—सटायर, विट और ह्यूमर। हास्यरस में इन तीनों का सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है। सेठजी पारसी रंगमंच पर प्रदर्शित हास्य को अत्यन्त निम्नकोटि का और अश्लील मानते हैं।

पात्रों की भाषा : पात्रों की भाषा के सम्बन्ध में सेठजी का मत है कि कुछ पात्र उप भाषाओं का प्रयोग करें, तो स्वाभाविकता में वृद्धि ही होगी। अँगरेजी पढ़े-लिखे पात्र अत्यन्त प्रचलित अँगरेजी-शब्दों का प्रयोग करें, तो स्वाभाविक लगेगा। बंगाली, पंजाबी, महाराष्ट्री आदि जैसी हिन्दी बोलते हैं, यदि रंगमंच पर वैसी भाषा बोलें तो स्वाभाविकता बढ़ेगी। हिन्दू, मुसलमान पात्रों के पारस्परिक वार्त्तालाप में हिन्दू-पात्रों का सरल हिन्दी में और मुसलमान-पात्रों का सरल उर्दू में ही बोलना उचित जान पड़ता है।

रंगमंच : सेठजी का प्रस्ताव है कि रंगमंच की उन्नति के लिए विज्ञान से प्राप्य सुविधाओं से लाभ उठाना श्रेयस्कर होगा।[1] वे नहीं मानते कि चलचित्र के आविष्कार

1. **गरीबी या अमीरी (निवेदन), पृ० ८**

से नाटक की रचना निश्चित रूप से बाधित हो जायगी। वे तो अमेरिका के प्रभाव पर कहते हैं कि चलचित्र की उन्नति से नाटक का पुनरुद्धार हो सकता है। परन्तु, इसके लिए आवश्यक यह है कि रंगमंच वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठावें।

संस्कृत-नाटकों में एक अंक में एक ही दृश्य रहता था, इसके अतिरिक्त किसी अंक के आरम्भ या अन्त में विष्कम्भक, प्रवेशक आदि का प्रयोग होता था। सेठजी ने भी अपने कई नाटकों में एक अंक में एक ही दृश्य की योजना की है, तथापि उन्हें यह प्रथा बहुत रुचिकर नहीं प्रतीत होती। उन्होंने इसके तीन कारण बताये हैं—१ पूरे अंक में एक ही दृश्य रखने से वह आकर्षण नहीं रह जाता, जो दृश्यों के परिवर्त्तन में रहता है; २. उसी एक दृश्य में कई पात्रों का प्रवेश, प्रस्थान तथा सम्भाषण होता है, जो नहीं होना चाहिए; ३. एक ही दृश्य रखने से समय के एकीकरण की कठिनाई का सामना करना होता है। एक दृश्य में एक ही समय की घटना का प्रदर्शन हो सकता है, पर दृश्य-परिवर्त्तन से यह कठिनाई दूर हो जाती है।

एक अंक में दृश्यों की संख्या के विषय में कोई नियम नहीं हो सकता; क्योंकि यह कथानक आदि पर निर्भर करता है। पात्रों के प्रवेश तथा प्रस्थान की ओर भी नाटककार को ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई पात्र एक दृश्य में किसी से बात कर रहा है या मूर्च्छित होकर गिरता है, तो वह उसके बादवाले दृश्य में बैठा हुआ नहीं दिखाया जाना चाहिए। फिर नाटककार को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि पात्र किस प्रयोजन से प्रवेश या प्रस्थान कर रहे हैं।

दृश्य, पात्र और वेशभूषा : जिस युग की कथा पर नाटक लिखा जा रहा है, उस युग के दृश्यों एवं वेशभूषा पर और जिस प्रकार के पात्र हों, उसपर विचार करके नाटककार को दृश्यों, पात्रों और वेशभूषा का पूरा वर्णन कर देना चाहिए। इससे लाभ यह होता है कि यदि नाटक खेला जाय तो उसका अभिनय भ्रष्ट नहीं होगा और पढ़ते समय भी पाठक के नेत्रों के समक्ष सभी बातें चित्र के समान प्रकट हो जायेंगी।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाट्यशास्त्र की परम्परा : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक' शीर्षक अपनी पुस्तक की विस्तृत भूमिका में भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा का विवेचन किया है। इसमें विशेषतः भरत के 'नाट्यशास्त्र' तथा धनंजय के 'दशरूपक' के आधार पर नाट्य-सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण तथ्यों का विश्लेषण हुआ है। नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्यवेद की उत्पत्ति-विषयक कथा का द्विवेदीजी ने एक नवीन अर्थ प्रस्तुत किया है। यह नाट्यवेद चारों वेदों से तथ्य ग्रहण करके भी स्वतन्त्र वेद है, जो सार्ववर्णिक है। उस समय भारत में बहुत-सी जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। द्विवेदीजी ने इस बात का तर्कपूर्ण समर्थन किया है कि नाट्यवेद में ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत-अंश और अथर्ववेद से रस लिये गये। नाट्यशास्त्र में

'अभिनय' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है। इसमें नाटक के प्रायः सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

नाट्यशास्त्र में वर्जित कई कथाओं से द्विवेदीजी ने सिद्ध किया है कि नाट्यवेद में क्रमिक विकास और विस्तार होता गया। पहले नाटक में स्त्रियों का योग नहीं था, पीछे जब यह अनुभव किया गया कि स्त्रियों के विना नाटक की कुछ क्रियाएँ सम्भव नहीं हैं, तब स्त्रियों के प्रवेश का विधान हुआ।

पूर्वरंग आदि तथा रूढ़ियाँ : भरत ने पूर्वरंग तथा रंगपूजन का विस्तृत विवरण दिया है, पीछे धनंजय ने संक्षेप में उनकी चर्चा-भर कर दी है, इससे अनुमान किया गया है कि बाद में इतने विस्तार और आडम्बर के साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। द्विवेदीजी का मत है कि ईसवी सन् के पहले और बहुत बाद भी इस प्रकार की विधि अवश्य रही है।

आचार्य द्विवेदीजी ने नाट्यशास्त्र में वर्णित लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विश्लेषण किया है और निष्कर्ष निकाला है कि लोकधर्मी विधियों की कसौटी लोक-जीवन ही है। नाट्यशास्त्र के वर्त्तमान रूप के विषय में द्विवेदीजी का मत है कि यह अनेक परम्पराप्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है। इसने ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी तक वर्त्तमान रूप अवश्य ले लिया होगा; क्योंकि कालिदास जैसे नाटककार को नाट्यशास्त्र का लगभग ऐसा ही रूप प्राप्त था।

रूपक-भेद : धनंजय ने कथावस्तु, नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना है। द्विवेदीजी का कथन है कि इस प्रकार रूपकों के भेद ३ (कथावस्तु) × ३ (नायक) × ८ (रस) = ७२ स्वीकार करने होंगे, परन्तु भरत व्यावहारिक नाट्य-प्रयोग के विवेचक थे, अतः उन्होंने १० ही रूपकों की विवेचना की है, जो उनके समय में प्रचलित थे।

अर्थ-प्रकृति : अर्थ-प्रकृतियों को द्विवेदीजी ने विशेष प्रयत्न से स्पष्ट किया है। 'बिन्दु पात्रों की कवि-निबद्ध चेतन चेष्टाएँ हैं, पर कार्य अचेतन साधन, जैसे सैन्य-सामग्री, दुर्ग, कोश, धन आदि। किसी वृक्ष का उपमान लें, तो बीज बीज है, बिन्दु उसे सुरक्षित, पल्लवित, पुष्पित करने का सोद्देश्य प्रयत्न है, कार्य कुदाल, खाद आदि हैं, पताका किसी स्वार्थ-सिद्धि के प्रतिदान में नियुक्त माली है और प्रकरी, क्वचित्-कदाचित् अनायास उपस्थित होकर सहायता कर जानेवाला हितैषी।'[1] द्विवेदीजी मानते हैं कि कवि या नाटककार का सबसे बड़ा कौशल बिन्दु की योजना में प्रकट होता है। इसी उपाय के द्वारा वह कथा को अवान्तर प्रसंगों में बहकने से रोकता है और नायक की प्रयत्नादि अवस्थाओं को जागरूक बनाये रखता है। जरूरत पड़ने पर वह अन्य अर्थ-प्रकृतियों का सहारा लेता है, परन्तु बिन्दु सर्वत्र आवश्यक होता है। वस्तुतः, 'अर्थ-प्रकृति कथा के उचित संघटन के उपाय हैं, अवस्थाएँ नाटक के नायक की फल-प्राप्तिजन्य क्रियाओं की

१. नाट्य की भारतीय परम्परा और दशरूपक—भूमिका, पृ० ४०

अवस्थाएँ हैं और सन्धियाँ, इन अवस्थाओं को अनुकूल दिशाओं में ले जानेवाले उस घटना-चक्र के, जो अर्थ-प्रकृतियों से मिलकर पूरा इतिवृत्त या कथानक बन जाता है, विभिन्न अंग हैं।'[1]

धीरोद्धत में 'धीर' : द्विवेदीजी ने नायक के भेद धीरोद्धत आदि में 'धीर' शब्द की तर्क-सम्मत व्याख्या की है। वस्तुतः, जो 'धीर' होगा, वह 'उद्धत' कैसे हो सकता है ? उनका कथन है कि एक पुराना 'धीर' शब्द था, जो 'धी' से निकलता था। अतः, 'धीर' शब्द का अर्थ है सहज बुद्धिवाला, मनोभाव-सम्पन्न। नेता कथावस्तु का नियन्त्रण करता है। जिन रूपकों में धीरोद्धत नायक होते हैं, वे पूर्णांग नहीं होते। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग--इसी प्रकार के रूपक हैं। वीथी, उत्सृष्टिकांक आदि वस्तुतः तमाशे ही रहे होंगे, सही अर्थों में उन्हें रूपक नहीं कह सकते। इनपर अनुकार्य का आरोप स्पष्ट रूप से नहीं होता। ये अल्पोद्भिन्न रूपक ही कहे जा सकते हैं।

रस : रस के विषय में चर्चा करते हुए आचार्य द्विवेदीजी ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि श्रृंगार रस में चित्त का विकास और वीर रस में विस्तार होता है। इसीलिए, पूर्णांग रूपकों में इन्हीं दो रसों की प्रधानता रहती है। नाटक अन्य रसों में नहीं बनते। भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने करुण रस को नाट्य रस मानते हुए भी शोकान्त नाटकों की कल्पना नहीं की। परन्तु, यदि नाटक में नायक या नायिका उसे माना जाय, जो सामाजिकों की सहानुभूति पा सके, तो ऐसे नायक भी सामाजिकों की सहानुभूति के पात्र हो सकते हैं, जो चरित्र-बल में उदात्त होते हुए भी किसी विशेष दुर्बलता के कारण कष्ट में पड़ जाते हैं। पाश्चात्त्य देशों में ऐसी परिस्थिति के शिकार उदात्त तथा ललित कोटि के पात्र त्रासदी के नायक होते हैं। प्रत्येक अवस्था में उनका स्थायी भाव शोक ही नहीं होता, कई बार चित्त में उत्साह, रति आदि भाव भी प्रबल होते हैं, केवल परिणाम अनिष्टकारक होता है।

यवन-प्रभाव : भारतीय नाट्य-परम्परा बहुत प्राचीन है। कई बार कुछ बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यूरोपीय विद्वानों ने इसपर यावनी प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु, द्विवेदीजी का मत है कि यह कहना ठीक नहीं। भारतीय नाट्य-परम्परा का स्वतन्त्र विकास हुआ है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से भिन्न है। यह तो नहीं माना जा सकता कि यूनानियों जैसी शक्तिशाली जाति के सम्पर्क में आने पर भारतीयों के विचारों तथा कल्पनाओं में परिवर्त्तन हुआ ही नहीं होगा, परन्तु जहाँतक नाटकीय सिद्धान्तों का प्रश्न है, भारत में इसकी बहुत प्राचीन तथा समृद्ध परम्परा विद्यमान थी। यहाँ के नाट्य-सिद्धान्तों पर बाह्य प्रभाव की बात केवल अटकल पर आधारित है। भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है।

---

१. नाट्य की भारतीय परम्परा और दशरूपक—भूमिका, पृ० ४३

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

नाटक की उत्पत्ति : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने 'अभिनव नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ लिखकर नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके सिद्धान्तों का उल्लेख विभिन्न अध्यायों में यथावसर किया गया है। नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित सभी सिद्धान्तों की समीक्षा करके उन्होंने अपना मत दिया है कि नाटक की उत्पत्ति लोक-चिन्ता का शमन करने के लिए संगीत, कथा और अभिनय के संयोग से हुई। वे सुखान्त नाटक ही उचित मानते हैं, और गीतों का उपयोग भी स्वीकार करते हैं, परन्तु नाटक में अधिक गीतों का प्रयोग उचित नहीं मानते। उनके अनुसार थोड़े पात्रों तथा दृश्योंवाले नाटक श्लाघ्य हैं। नाटक में एक ही इतिवृत्त होना चाहिए और वह निश्चित परिमाण का हो। पताकास्थानक और अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग ठीक नहीं।

पात्र : चतुर्वेदीजी के अनुसार नाटकीय पात्र के तीन भेद होते हैं : सुबुद्धि, अबुद्धि और जड़। सुबुद्धि मनुष्य होता है और अबुद्धि पशु-पक्षी आदि। नाट्य-क्रिया जड़ भी कर सकते हैं, जैसे पुतली, कटा हाथ आदि। उन्होंने प्राचीन नाट्यशास्त्रियों द्वारा वर्णित पात्रों के अनेक भेदों का विवेचन करके सिद्ध किया है कि पुराने भेद युग-प्रभाव के कारण स्वयमेव लुप्त हो गये हैं। चतुर्वेदीजी ने अनेक दृष्टियों से पात्रों के अनेक भेद किये हैं। इस विषय में पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिकों के मतों की भी समीक्षा की गई है।

संवाद तथा रस : चतुर्वेदीजी का सिद्धान्त है कि नाटक में प्रयुक्त संवाद स्वाभाविक हो और उतना ही हो, जितने से कथा का विस्तार तथा नाटकीय चरित्र का विकास हो। संवाद लोकबोध्य होना चाहिए। उन्होंने रस का अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में किया है। रस और स्थायी भाव की व्याख्या के बाद संचारी भाव का भी विश्लेषण किया गया है। उन्होंने भरत द्वारा गिनाये ३३ संचारियों में कई को छोड़कर कुछ नवीन संचारियों का भी विवेचन किया है और इस प्रकार सब मिलाकर संचारियों की संख्या ३२ मानी है।

रूपक के भेद तथा रंग-निर्देश : चतुर्वेदीजी ने रूपकों तथा उपरूपकों के परम्परागत नाटकादि भेदों के अतिरिक्त कई नवीन भेद किये हैं; जैसे नाट्य, नृत्य, गीतिनाट्य, मूक नाट्य आदि। फिर उन्होंने विषय, रंगमंच, प्रदर्शन-विधि, प्रभाव, रचना, उद्देश्य, दर्शक तथा पात्र के आधार पर नाटक के अनेक भेद किये। अन्त में वर्त्तमान वर्गीकरण के अनुसार नाटक के कथा-प्रधान आदि छह भेद किये गये हैं। उन्होंने प्रस्तावना की प्राचीन प्रणाली के अतिरिक्त कई नवीन प्रणालियों का भी विवेचन किया है, जो वस्तुतः आधुनिक नाटकों में प्रयोग में लाई जा रही हैं। चतुर्वेदीजी ने अभिनेता, रंग-व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीत-व्यवस्थापक तथा नेपथ्य-

व्यवस्थापक की दृष्टियों से रंग-निर्देश के भी महत्त्व का निरूपण किया है। उन्होंने केवल नाटक-लेखक की दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत अभिनेता तथा प्रयोक्ता की दृष्टियों से भी नाट्यशास्त्र का विवेचन किया है। उनके नाट्यशास्त्र में भारतीय नाट्यशास्त्रियों के अतिरिक्त विदेशी विद्वानों के भी सिद्धान्तों की समीक्षा हुई है, उन्होंने कई देशों के नाट्य-सिद्धान्तों की भी चर्चा की है। चतुर्वेदीजी केवल नाट्यशास्त्री ही नहीं, नाटक-लेखक भी हैं, अतः उन्हें नाट्यशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान है, जिसका उपयोग उन्होंने किया है।

अभिनव नाट्यशास्त्र का दूसरा भाग भारतीय तथा पाश्चात्त्य रंगमंच के नाम से निकला है, जिसमें रस, रंगमंच आदि विषयों पर सम्यक् रूप से विचार किया गया है।

डॉ० दशरथ ओझा

नाट्य की भारतीय परम्परा : हिन्दी-साहित्य के आधुनिक नाट्य-शास्त्रियों में डॉ० दशरथ ओझा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने साहित्यिक नाटकों के साथ लोक-नाट्य का भी सम्यक् अनुशीलन किया है; साथ ही नाटक के वैधानिक पक्ष तथा उसकी अभिनेयता आदि के विषय में भी पर्याप्त चिन्तन किया है। उनकी पुस्तक 'नाट्य-समीक्षा' में उनके कुछ ऐसे निबन्धों का संग्रह हुआ है, जिनमें नाटक-सम्बन्धी सैद्धान्तिक तथा प्रक्रियागत विचार प्रकट हुए हैं। अँगरेजी राज्य में भारतीय विद्वानों की दृष्टि बहुलांश में पाश्चात्त्य नाट्य-समीक्षा-पद्धति से प्रभावित रहती थी। भारत की नाट्य-पद्धति हजारों वर्ष प्राचीन है, परन्तु यहाँ के आधुनिक विद्वानों की दृष्टि पश्चिम की नाट्य-पद्धति की चकाचौंध में अपनी परम्परा का तिरस्कार कर रही थी। डॉ० ओझा ने अपनी नाट्य-परम्परा और नाट्य-समीक्षा को नये परिवेश में देखने का प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्होंने दक्षिण भारत की नाट्य-परम्परा पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। इस पुस्तक के प्रथम तीन निबन्धों में नाट्य-सिद्धान्त का क्रमिक विकास दिखाते हुए परम्परागत रूपकों तथा उपरूपकों का विवेचन नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है।

'रूपक' की व्याख्या : 'रूपक का स्वरूप' में डॉ० ओझा ने पहले 'रूपक' शब्द की व्युत्पत्ति बताकर इसके विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डाला है। 'रूपक' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित विभिन्न अर्थों में होता है :

१. रूपक नामक एक ताल है और उससे युक्त प्रबन्ध रूपक-प्रबन्ध कहलाता है।

२. रूपक का दूसरा प्रयोग कथाकाव्य के रूप में होता है। हिन्दी में रूपक काव्य वही है, जो अँगरेजी में एलीगॉरी (allegory) कहा जाता है। हिन्दी और संस्कृत-साहित्य में रूपक-कथा के अनेक भेद देखे जाते हैं ;

(क) वह कथा, जिसमें भावनाओं तथा विचारों आदि अशरीरी तत्त्वों को मानव के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, जैसे 'प्रबोधचन्द्रोदय'।

(ख) कहीं-कहीं अशरीरी तत्त्व और मानव-पात्र दोनों दिखाये जाते हैं, जैसे पन्तजी का 'ज्योत्स्ना' नाटक।

(ग) "रूपक नाटकों में तीसरे प्रकार के मानवेतर प्राणियों को, साथ-ही-साथ अभिधार्थ से चरित्रगत विशेषता को प्रकट करनेवाले मानव को पात्र के रूप में लाया जाता है।"[1] जैसे 'एक घूँट' नाटक में कुंज आदि प्रकृति के पदार्थ तथा मनोवृत्तियों का मानवीकरण किया गया है, तो झाड़ूवाला अपने नाम से ही चरित्र का द्योतक जान पड़ता है।

(घ) चौथे प्रकार की रूपक-कथाओं में पात्र तो वास्तविक मानव होते हैं, परन्तु उन घटनाओं में एक गूढ़ अर्थ छिपा रहता है, जैसे 'कामायनी'।

३. रूपक का तीसरा अर्थ है—**'रूपारोपात्तु रूपकम्'**—रंगमंच पर किसी पात्र में राम या सीता आदि का आरोप करके जो अभिनय दिखाया जाता है, उस सम्पूर्ण क्रिया को रूपक का नाम दिया जाता है। नाट्यशास्त्र में यही अर्थ अभिप्रेत है।

दशरूपक : दूसरे निबन्ध में भरतादि द्वारा निर्दिष्ट दस रूपकों का विवेचन हुआ है। पहले नाटक का विवेचन है और स्वभावतः यह अन्य रूपकों के विवेचन से अधिक विस्तृत है। 'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत की समीक्षा की गई है। लेखक का कथन है कि यद्यपि नाटक और रूपक दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, फिर भी दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। "नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है, किन्तु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है।"[2]

आगे नाटक के सम्बन्ध में भरत, सुबन्धु, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ आदि संस्कृत के नाट्याचार्यों और भारतेन्दु, गुलाब राय आदि हिन्दी के आचार्यों के विचारों का विश्लेषण किया गया है। इस स्थल पर नाटक और नाटिका के सम्बन्ध का विश्लेषण एवं नाटिका के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा हुई है। तदुपरान्त रूपक के प्रकरणादि भेदों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। सभी के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। यथास्थान हिन्दी के आचार्यों—भारतेन्दु तथा डॉ० गुलाब राय के मत भी दिये गये हैं। स्थान-स्थान पर डॉ० राघवन् आदि विद्वानों के मतों की भी चर्चा की गई है।

---

१. नाट्य-समीक्षा, पृ० ३

२. वही, पृ० ८

उपरूपक और रासक : तीसरा निबन्ध 'उपरूपक का स्वरूप' छोटा है। इसमें पहले रूपक तथा उपरूपक में अन्तर संक्षेप में बताया गया है। फिर अग्निपुराण, भावप्रकाशन तथा साहित्यदर्पण में वर्णित उपरूपकों का उल्लेख हुआ है। लेखक ने उपरूपकों के सृजन-काल के विषय में प्रचलित विभिन्न मतों की समीक्षा की है।

'रासक (उपरूपक) का विकास' में पहले रूपकों और उपरूपकों का अन्तर बताया गया है। उपरूपक नृत्य से विकसित होकर नाट्य की कोटि में पहुँचे हैं। नाट्यशास्त्र में ऐसे उद्धरण आये हैं, जिनके आधार पर उपरूपकों की बीजावस्था का अनुमान लगाया जाता है। 'रासक' नामक उपरूपक का तो अपना इतिहास है। दशरूपक की 'अवलोक' टीका में एक श्लोक आया है, जिससे डोम्बी आदि नृत्यों का पता लगता है। 'अभिनव-भारती' में भी इसका संकेत है। विश्वनाथ आदि विभिन्न आचार्यों ने रासक का लक्षण बताया है। डॉ० ओझा ने विवेचन करके निष्कर्ष निकाला है—"कालान्तर में रासक के दो रूप हो गये—एक तो मूल नृत्य के ही रूप में तद्वत् बना रहा, दूसरा विकसित होता हुआ उपरूपक की परिधि में विराजमान हो गया।"[१]

प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटक : अगले निबन्ध 'नाटक : प्रेक्ष्य और पाठ्य' में प्रेक्ष्य तथा पाठ्य नाटकों के पृथक्करण की सैद्धान्तिक समस्या उठाई गई है। अभिनेय या प्रेक्ष्य नाटकों का तो महत्त्व है ही, परन्तु साथ ही पाठ्य नाटकों के महत्त्व की ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं। साहित्य की इस विधा का भी, अन्य विधाओं के समान, अपना महत्त्व है। डॉ० ओझा ने प्रेक्ष्य तथा पाठ्य नाटकों में निम्नलिखित विषयों में अन्तर दिखाया है—१. आकार, २. कथानक के प्रकार, ३. वस्तु-संघटन और ४. पात्रों की वक्तृता। 'यदि पाठ्य नाटकों की तुलना प्रेक्ष्य नाटक, काव्य या उपन्यास से की जाय तो यह कहा जा सकता है कि पाठ्य नाटकों का दृश्य-विधान एवं कथोपकथन तो प्रेक्ष्य नाटकों की पद्धति के अनुसार होता है, किन्तु उनका कथानक एवं घटना-विकास काव्य एवं उपन्यास की शैली के अधिक समीप पहुँचता है।'[२] हमारे यहाँ जो नाटक अभिनेय नहीं होते, उन्हें सामान्यतः पाठ्य कह दिया जाता है, परन्तु पाश्चात्त्य देशों में पाठ्य नाटकों की स्वतन्त्र परम्परा तथा पृथक् विधा है। पाठ्य नाटकों की भी जान-बूझकर रचना की जाती है। डॉ० ओझा ने इन दोनों परम्पराओं की सुन्दर रीति से मीमांसा की है।

नाटक में आरम्भिक गद्य : एक निबन्ध में लेखक ने नाटक में आरम्भिक गद्य-प्रयोग का विवरण दिया है। प्राचीन भारतीय नाट्यकला के मुख्यतः दो केन्द्र रहे हैं—१. राजप्रासाद और २. खुले रंगमंच। परन्तु, १५वीं शती में नाटककारों का एक तीसरा वर्ग भी था। इस वर्ग के विद्वान् महात्मा संस्कृत और लोक-प्रचलित नाट्य-पद्धतियों के मिश्रण से एक नवीन नाट्य-शैली का प्रयोग कर रहे थे। इनमें आसाम के शंकरदेव

१. नाट्य-समीक्षा, पृ० ३४
२. वही, पृ० ४०

प्रमुख थे। इन्हीं नाटककारों ने भाषा-नाटक में पहले-पहल गद्य का प्रयोग किया। अगले छोटे-से अध्याय में पद्य-नाटक की विशेषता बताई गई है। अँगरेजी-साहित्य में काव्य-नाटक और नाटकीय काव्य--दो भिन्न-भिन्न काव्य-रूप माने गये हैं। लेखक ने इन दोनों विधाओं में स्पष्ट अन्तर बताया है। हिन्दी में गम्भीर पद्य-नाटकों की बहुत कमी है। इस अध्याय में ओझाजी का निष्कर्ष है कि कुछ विशेष प्रकार के विषय एवं प्रसंग की अभिव्यक्ति पद्य-नाटक के रूप में सफलतापूर्वक हो सकती है।

लोक-नाट्य : एक अन्य निबन्ध में डॉ० ओझा ने हिन्दी-लोक-नाट्य की शिल्प-शैली का अनुसन्धानात्मक विवेचन किया है। इस निबन्ध के आरम्भ में ही लेखक ने ब्रर्नार्ड शॉ का हवाला देकर बताया है कि नाटक मानव की दो उद्दाम वृत्तियों के मिलने से पैदा हुआ है—नृत्य देखने की प्रवृत्ति और कहानी सुनने की प्रवृत्ति। परन्तु, भारत के वातावरण में नृत्य तथा कहानी के साथ संगीत को भी जोड़ देना चाहिए। विद्वानों का मत है कि लोक-नाट्य में नृत्य की प्रवृत्ति ही आधार है। भिन्न-भिन्न देशों के नृत्यों के उदाहरण देकर ओझाजी ने यह सिद्ध किया है।

भारत में भी नृत्य का बहुत प्राचीन इतिहास है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में पाया जाता है। हिन्दू-मन्दिरों में देवदासियों का नृत्य बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। जनकवियों ने भी सामान्य जनता के लिए धार्मिक तथा सामाजिक आख्यानों को हृदयंगम कराने के लिए नृत्य को प्रधान साधन बनाया। भरतनाट्यम्, कथाकली, मणिपुरी तथा कत्थक-नृत्य में वे ही भाव अभिव्यक्त हो रहे हैं। डॉ० कीथ का मत है कि वैदिक यज्ञों के अवसर पर सम्पन्न होनेवाले नृत्य धीरे-धीरे यात्रा-नाटक, रास-नाटक, भरत-नाटक आदि के रूप में विकसित हो गये।

डॉ० ओझा ने नृत्य, नृत्त तथा नाट्य में पारस्परिक अन्तर स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि उपरूपक नृत्य के अधिक समीप हैं और रूपक उपरूपकों के विकसित रूप हैं। रूपकों में नाटक सबसे अधिक विकसित रूप हैं और इसका स्थान सर्वोपरि है। राज्य का संरक्षण पाने के कारण नाटक में सभी गुणों का रहना आवश्यक था, परन्तु लोक-नाट्य में जन-जीवन की अभिव्यक्ति की भावना अधिक रही है। अतः, उसमें नाटक के सभी गुण ढूँढ़ना उचित नहीं है। लोक-नाटक में नृत्य तथा संगीत को मुख्य स्थान मिला है। लेखक ने भारत में मध्यकाल में प्रचलित विभिन्न लोक-नृत्यों—यक्षगान, यात्रा, रामलीला, स्वांग, भवाई, गिद्धा आदि--का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।

समस्या-नाटक का मूल : समस्या-नाटक के उत्स और रूप पर गम्भीरता से विचार करते हुए डॉ० ओझा ने समस्या-नाटक के विभिन्न पहलुओं की विद्वत्तापूर्ण विवेचना की है। पाश्चात्त्य देशों में एक विशेष सामाजिक परिस्थिति में समस्या-नाटकों का निर्माण एवं विकास हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि इन समस्या-नाटकों ने नाट्य-क्षेत्र में नवीन शिल्प को जन्म दिया है, परन्तु इनसे नवीन समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। समस्या-नाटक की

सबसे बड़ी समस्या है कि इन नाटकों को किस प्रकार मनोरंजक तथा ग्राह्य बनाया जाय। समस्या-नाटक की बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि इसमें समस्या के निरूपण के साथ ही नाटकीय तत्त्वों का भी निर्वाह करना होता है। दोनों का निर्वाह और विकास कठिन होता है। वर्त्तमान युग के नाटकों की अतिशय बौद्धिकता के कारण भी उनसे विरक्ति हो जाती है। दूसरी कठिनाई यह भी है कि वर्त्तमान युग का पाठक बुद्धि-व्यवसायी भी है, साथ ही वह नाटक में रसात्मकता भी ढूँढ़ता है। वर्त्तमान नाटकों की यह बहुत बड़ी समस्या है।

प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता : नाटकों में अभिनेयता के विषय में लेखक का दृष्टिकोण बहुत उदार है। प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता पर विचार करते हुए उन्होंने विश्वास प्रकट किया है कि प्रसाद के नाटकों में अभिनय की क्षमता है, परन्तु उनके अभिनय के साधन एकत्र करने का प्रयास नहीं हुआ है। अन्य देशों में राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण की दिशा में अतुल धन व्यय किया जाता है, परन्तु हिन्दी-साहित्य में विना सोचे-समझे प्रसादजी के नाटकों को अनभिनेय कहकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली जाती है। ऐसा करना प्रसादजी के प्रति अन्याय तो है ही, नाट्य-समीक्षा के प्रति भी कम अन्याय नहीं है। इस निबन्ध के निष्कर्ष-रूप में डॉ० ओझा ने लिखा है : 'प्रसाद के नाटकों के लिए रंगमंच तैयार करने की आवश्यकता नहीं, प्रेक्षक बनाने की आवश्यकता है। अतः, प्रसाद के नाटक समयोपयोगी होने के साथ-साथ शाश्वत धर्मसंयुक्त होने से अमर रहेंगे। यदि प्रसाद की इस परम्परा को त्याग दिया गया, तो हिन्दी में उच्च कोटि का अमर साहित्य कदाचित् ही बन पाये। अतः, प्रसाद के नाटकों के उपयुक्त रंगमंच बनाने के लिए प्रेक्षकों को यत्न करना चाहिए।'[१]

यक्ष-गान : डॉ० ओझा ने दक्षिण-भारत में प्रचलित यक्ष-गान का विवरण भी पुस्तक में दिया है। यक्ष-गान भारतीय नाट्य-साहित्य का एक अत्यन्त लोकप्रिय स्वरूप रहा है, परन्तु अब विस्मृत होता जा रहा है। उत्तर-भारत में प्रचलित नाट्य-परम्परा का विवेचन करने के बाद सम्पूर्ण दक्षिण-भारत में प्रचलित इस यक्ष-गान का परिचय देकर ओझाजी ने एक नवीन तथा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इससे उत्तर और दक्षिण में और भी दृढ़ (भावनात्मक) एकता बढ़ाने में सहायता मिलेगी।

डॉ० ओझा का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास' एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका है। उपर्युक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद उन्होंने नाट्य-साहित्य-विषयक अनेक मौलिक अनुसन्धान किये हैं। 'रास और रासान्वयी काव्य' नामक अपने विशाल ग्रन्थ में ओझाजी ने रासक काव्यरूप के विकास का गम्भीर तथा प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

---

१. नाट्य-समीक्षा, पृ० १३९

डॉ० रामकुमार वर्मा

रंगमंचीय नाटक : अपने नाटक 'विजय-पर्व' की भूमिका में डॉ० रामकुमार वर्मा ने रंगमंचीय नाटक के विषय में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। वे मानते हैं कि नाटक साहित्य का सगुण रूप है। जैसे निराकार ब्रह्म अपने वैभव का ज्ञान, अवतार लेकर, भक्त को कराता है; वैसे ही साहित्य का सौन्दर्य रंगमंच पर नाटक के रूप में प्रकट होता है। नाटक के दो पार्श्व हैं—प्रथम, हृदय की वे सारी अनुभूतियाँ हैं, जो मनोविज्ञान या रस से भरकर जीवन के यथार्थ या आदर्श के रूप में दृष्टिगत होती हैं, और द्वितीय, काल की वे सभी रूपरेखाएँ, जो मंच, नृत्य, संगीत और अभिनय का माध्यम अपनाती हैं। नाटक में दोनों पार्श्व आवश्यक हैं।

हिन्दी में जो नाटक लिखे गये, वे प्रायः सभी संस्कृत-नाट्यशास्त्र की परम्परा से, मुख्यतः रस-सिद्धान्त से प्रभावित हैं। परन्तु, इधर के कुछ नाटकों में पश्चिमी मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण कुछ परिवर्तन हुए हैं। एक परिवर्त्तन यह है कि ये नाटक पाठ्य नाटक-मात्र रह गये हैं। पाश्चात्त्य प्रभाव के कारण हिन्दी के नाटकों ने मनोविज्ञान तथा चिन्तन की इतनी अधीनता स्वीकार कर ली कि वे रंगमंच के योग्य नहीं रह गये।

पाठ्य नाटक और रंगमंच के नाटक में अन्तर है। पाठ्य नाटक कथावस्तु के विन्यास में किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नहीं करना चाहते। "पाठ्य नाटक केवल अभिनय की शैली में उपन्यास ही हैं। कथा का वर्णन स्वयं लेखक न करके पात्रों के द्वारा करा देता है।"[१] रंगमंच के नाटकों की दृष्टि मुख्यतः अभिनयात्मक साहित्य की रचना करना है। डॉ० वर्मा का विश्वास है कि "रंगमंच के नाटकों की सृष्टि उस समय तक नहीं हो सकती, जबतक कि अभिनय की कला साहित्य-कला का पथ-निर्देश न करे।"[२] रंगमंच का नाटककार व्यंजना-शैली से बड़ी-से-बड़ी परिस्थिति को कम-से-कम शब्दों में स्पष्ट कर देगा। उससे कथावस्तु में अनावश्यक विस्तार नहीं होगा और अनावश्यक प्रसंगों से भी छुटकारा मिल जायगा। रंगमंच का नाटककार उपन्यासकार के समान छोटी-मोटी घटनाओं के मोह में नहीं पड़ता। वह कथा की पूरी परिधि में घूम भी नहीं सकता। वह तो परिधि के कुछ बिन्दुओं को चुन लेगा और उन्हीं बिन्दुओं के सहारे सम्पूर्ण वृत्त का रूप स्पष्ट कर देगा।

रंगमंच के नाटकों में चरित्र-चित्रण का भी विशेष महत्त्व है। चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध व्यक्तित्व से है और व्यक्तित्व मनोविज्ञान पर आधारित है। मनोविज्ञान के दो पक्ष हैं। पहले पक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति के संस्कारों से है और ये संस्कार ही उसके स्वभाव का निर्माण करते हैं। ये संस्कार उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं और बड़ी

---

१. विजय-पर्व (भूमिका); पृ० १३

२. वही, पृ० १३

कठिनाई से बदलते हैं। संस्कार पात्र को अपनी स्थिति में बड़ी स्वाभाविकता प्रदान करते हैं। मनोविज्ञान के दूसरे पक्ष का सम्बन्ध परिस्थितियों के प्रभाव से है। पात्र के संस्कारों पर परिस्थितियों के प्रभाव पड़ने पर वे विकास करने लगते हैं। यदि यह प्रभाव संस्कार के प्रतिकूल पड़ता है, तो पात्र में अन्तर्द्वन्द्व का उदय होता है। "संस्कार और प्रभाव की उचित युति में चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य है। जब यह सौन्दर्य अभिनय-कला के साँचे में ढलता है तो रंगमंच पर सच्चे जीवन का अवतरण होता है।"[१] रंगमंच पर पात्र अपने मनोविज्ञान में इतना लीन हो जाय कि वह कार्य में अपने मन की दिशा बना ले। जब उसे भान होगा कि उसे कोई देख रहा है तो उसमें अस्वाभाविकता आ जायगी। उसे ऐसा लगना चाहिए कि उसे कोई देख नहीं रहा है। "दर्शक जैसे पात्र के अनजाने किसी दीवार के छिद्र से उसका कार्य-कलाप देख रहे हैं।"[२]

रंगमंचीय नाटकों के संवाद संक्षिप्त और चुभते हुए होना आवश्यक है। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक प्रभाव छोड़ने की क्षमता उसमें होनी चाहिए। प्रसादजी के पूर्व के नाटकों में प्रभाव डालने के ही उद्देश्य से संवाद में पद्य का प्रयोग होता था, परन्तु यह अस्वाभाविक है। अतः अब रंगमंच के नाटकों में पद्य का प्रयोग बिल्कुल छोड़ दिया गया है। स्वाभाविकता की माँग के ही कारण स्वगत कथन तथा आकाश-भाषित का भी त्याग किया जा चुका है।

डॉ० वर्मा का विचार है कि कथोपकथन में भाव-तीव्रता के साथ मनोरंजन का भी स्थान है, परन्तु केवल मनोरंजन ही कथोपकथन का संचालन नहीं कर सकता। प्राचीन नाटकों में मनोरंजन के समावेश के लिए एक विशिष्ट पात्र विदूषक की अवतारणा होती थी। अब किसी नाटकीय पात्र के ही द्वारा मनोरंजन का समावेश कर लिया जाता है। "मेरी दृष्टि में रंगमंच के नाटक में विदूषक-जैसा पात्र तो अवश्य ही होना चाहिए, भले ही वह कथा के किसी सूत्र का विधायक बना दिया जाय।"[३]

संवाद की भाषा के विषय में दो मत प्रचलित हैं। पहले मत के अनुसार नाटक के संवाद में सर्वत्र एक-सी ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए, जिससे कथावस्तु की पूर्ण संवेदना सभी दर्शकों के पास एक ही रूप में प्रेषित की जा सके। प्रसादजी के नाटकों में यही सिद्धान्त अपनाया गया है। दूसरा मत है कि एक ही शैली विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व की स्वाभाविकता के प्रतिकूल है। रंगमंच पर स्वाभाविकता लाने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक पात्र के स्वभाव तथा व्यक्तित्व के अनुसार संवाद की शैली में परिवर्त्तन किया जाय। यदि नाटक में कोई विदेशी पात्र है, तो उसकी भाषा अपनी

---

१. विजय-पर्व (भूमिका), पृ० १५
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० १७

विशेषता लिये हुए अन्य पात्रों की भाषा के अधिक-से-अधिक निकट होगी। रंगमंचीय नाटकों के लिए डॉ० वर्मा इसी दूसरे मत के समर्थक हैं।

रंगमंच के नाटकों में व्यक्ति और समाज को उन्नत करने की शक्ति है। किसी प्रवचन या उपदेश के विना भी कथावस्तु के ही सहारे यह कार्य सम्पन्न हो सकता है। नाटक दृश्य तथा श्रव्य होने के कारण उपन्यासादि से अधिक प्रभावशाली है। "अतः, यदि नाटक साहित्य का सबसे विशिष्ट अंग होना चाहता है, तो उसे रंगमंच का आश्रय ग्रहण करना ही होगा। यदि नाटक प्राण है, तो रंगमंच उसका शरीर, विना शरीर के प्राण की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती।"[1]

संस्कृत, मैथिली, बँगला और मराठी-नाटकों को रंगमंच मिले, परन्तु हिन्दी-नाटकों को रंगमंच नहीं प्राप्त हो सका। डॉ० वर्मा ने इसके दो कारण दिये हैं : १. विदेशी शासकों ने रंगमंच की व्यवस्था को धर्म के प्रतिकूल समझा, अतः रंगमंच के अंकुर को निर्मूल कर दिया; २. रंगमंच की व्यवस्था के लिए वातावरण में सुख-शान्ति का होना आवश्यक है, परन्तु विदेशी शासन में यह सम्भव नहीं था। अँगरेजों को भी डर था कि रंगमंच की व्यवस्था कहीं सांस्कृतिक जागरण का रूप न धारण कर ले। व्यावसायिक पारसी थिएट्रिकल कम्पनियाँ शहरों में घूमती रहीं। रामलीला और रास-लीला केवल धर्मप्रवण वर्गों तथा निम्नवर्गों तक रह गई।

नवयुग के जागरण से साहित्य और संस्कृति को नई दृष्टि, नई दिशा मिली है। पश्चिम ने सवाक् चलचित्र के माध्यम से एक विशाल रंगमंच दिया है। शिक्षा-संस्थाओं में छात्रों द्वारा एकांकी नाटकों से एक प्रयोगात्मक रंगमंच हमें मिला है। आशा है कि निकट भविष्य में अभिनय-कला की भी शिक्षा की व्यवस्था होगी। अभिनय-कला में वेशभूषा का अध्ययन, संगीत, प्रकाश-व्यवस्था और अनेक भावों के प्रदर्शन की कला भी आ जाती है। रंगमंच की पूरी जानकारी पा लेने पर ही रंगमंच के उपयुक्त नाटकों की रचना सम्भव है। साहित्य और रंगमंच के योग से ही वास्तविक नाटक प्राप्त किया जा सकता है।

एकांकी के सिद्धान्त : डॉ० वर्मा ने 'रेशमी टाई' संग्रह की भूमिका में एकांकी नाटक के तत्त्व के विषय में अपना सिद्धान्त प्रकट किया है। उन्होने बताया है कि नाटक की ही भाँति एकांकी में भी आन्तरिक अथवा बाह्य संघर्ष प्रधान वस्तु है। फिर, अन्य प्रकार के नाटकों से एकांकी की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। एकांकी नाटकों की कथावस्तु में एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कुतूहल का संचय करती हुई चरम सीमा या क्लाइमैक्स तक पहुँच जाती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता, एक-एक शब्द आवश्यक रहता है। कथावस्तु में स्पष्टता के साथ कुतूहल रहता है और उसमें वर्णनात्मक तत्त्व गौण, किन्तु अभिनयात्मक तत्त्व प्रधान

१. विजय-पर्व (भूमिका), पृ० १९

होता है। कथावस्तु में प्रारम्भ, विकास, चरम सीमा तथा अन्त का निर्वाह स्वाभाविक रीति से होता है और कहीं शिथिलता नहीं आने पाती।

उसी स्थल पर वर्माजी ने बताया है कि एकांकी में पात्र चार-पाँच ही होते हैं, जो नाटक की घटना से पूर्णतः सम्बद्ध रहते हैं। उसमें अनावश्यक पात्रों का किसी प्रकार भी समावेश नहीं हो सकता। प्रत्येक पात्र की रूपरेखा पूर्णतः स्पष्ट रहती है। 'विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की तरह खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं।' डॉ० वर्मा ने एकांकी के द्वन्द्व, घटना, पात्र तथा कथानक पर संक्षेप में प्रकाश डाला।

वर्माजी ने विस्तार से लिखा है कि एकांकी की कथावस्तु कहाँ से ली जानी चाहिए। उन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया है कि एकांकी की कथावस्तु बाहर से लेने की आवश्यकता नहीं। हमारे जीवन में चारों तरफ ऐसी घटनाएँ निरन्तर होती रहती हैं, जिनमें प्राणों के तत्त्वों के रहस्यमय संकेत मिलते हैं। नाटककार को उन्हें देखकर उनकी व्यंजना में कथावस्तु का निर्माण करना चाहिए। उन घटनाओं को घनीभूत करके कार्य-कारण की शृंखला में कस देने में ही नाटककार की कथा-चातुरी निहित है।

घटनाओं के चुनाव के सम्बन्ध में वर्माजी ने समकालीन प्रगतिशील लेखकों से अपना मत-वैभिन्न्य प्रदर्शित किया है। उनका कहना है कि प्रगतिशील लेखक जीवन की कुरूपता पर ही दृष्टिपात करते हैं, वे अश्लीलता के किनारे बैठकर साहित्य के नाम पर अपनी भावनाओं का नग्न नृत्य देखना पसन्द करते हैं। वर्माजी का विचार है कि नाटककार को अपने नाटक के लिए जीवन की ऐसी घटनाएँ चुननी चाहिए, जो हृदय की सहानुभूति प्राप्त कर सके। इस प्रकार, यद्यपि वे रंगमंच पर स्वाभाविकता के पोषक हैं, फिर भी उसमें जीवन के विकासशील भावों के चित्रण के समर्थक हैं।

प्रगतिशील लेखकों से वर्माजी की एक और भी शिकायत है। वे लेखक मनुष्य को भूलकर वर्ग के पीछे पड़ जाते हैं और प्रतिहिंसा लेकर साहित्य की रचना करते हैं। वर्माजी का कथन है कि यदि कोई रचना प्रतिहिंसा लेकर होती है, तो वह सत्य तथा सौन्दर्य से दूर ही रहेगी। उनका यह विचार यूरोप के १९वीं शती के रोमाण्टिक लेखकों के बहुत निकट है। वे जीवन के बाह्य एवं सामयिक द्वन्द्वों की अपेक्षा मानव-हृदय के शाश्वत प्रश्नों की ओर संकेत करना अधिक अच्छा समझते हैं।

आधुनिक हिन्दी-नाटकों के भेद

आधुनिक काल के हिन्दी-नाटकों की प्रवृत्तियों तथा नाट्य-सिद्धान्त के क्रमिक विकास को समझने के लिए उन विभिन्न रूपों को समझना लाभदायक होगा, जिनमें आधुनिक नाटक लिखे जा रहे हैं। प्रसाद के युग के बाद नाटक का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक हो गया और यह कई रूपों में लिखा जाने लगा। जो नाटक-नदी आरम्भ से

एक ही धारा में प्रवाहित हो रही थी, वही मैदानी भाग में जाकर अनेक धाराओं में बहने लगी। आधुनिक नाटक का वर्गीकरण कई दृष्टियों से हो सकता है, परन्तु सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण समीचीन जान पड़ता है : १. नृत्त-नाटक, २. नृत्य-नाटक, ३. गीति-नाटक, ४. ऐतिहासिक नाटक, ५. सामाजिक नाटक, ६. धार्मिक तथा पौराणिक नाटक, ७. एकांकी, ८. स्वोक्ति-नाटक और ९. रेडियो-नाटक।

नाटकों के वर्गीकरण का यह अन्तिम रूप नहीं कहा जा सकता। इसमें कुछ भेद घटाये या बढ़ाये जा सकते हैं। संस्कृति से सम्बन्ध रखनेवाले ऐतिहासिक या पौराणिक नाटक सांस्कृतिक नाटकों की श्रेणी में रखे जाने लगे हैं। इसी प्रकार सामाजिक या राजनीतिक समस्याओं को विषय बनाकर लिखे जानेवाले समस्या-नाटकों की धूम मच गई है। समस्या-नाटकों का विशिष्ट शिल्प-विधान बन गया है। इनमें कुछ प्रमुख भेदों की प्रवृत्तियों तथा विशिष्टताओं का विश्लेषण किया जा रहा है।

गीति-नाट्य

कुछ भारतीय विद्वान् गीति-नाट्य को प्राचीन भारतीय नाट्य-शैली मानते हैं। गीति-नाट्य के विषय में डॉ० दशरथ ओझा का कथन है : "यह हमारी नितान्त मौलिक शैली न्यूनाधिक आठ सौ वर्षों से निरन्तर चली आ रही है।"[1] परन्तु, कुछ अन्य विद्वान् मानते हैं कि यह आधुनिक युग की देन है। जिस प्रकार, आधुनिक हिन्दी-एकांकियों का मूल प्राचीन संस्कृत भाण, वीथी आदि एकांक नाटकों में ढूँढ़ना उचित नहीं, उसी प्रकार आधुनिक गीति-नाट्य का मूल रास-नाटकों में ढूँढ़ना लाभदायक नहीं होगा। प्राचीन रास-नाटकों तथा आधुनिक गीति-नाटकों में कुछ समानता अवश्य है, परन्तु दोनों में काफी अन्तर भी है।

सन् १९२० ई० के बाद यूरोप में नाटक तथा रंगमंच के प्रति जनता के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन आने लगा। यथार्थवादी नाटकों की प्रतिक्रिया और सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की प्रवृत्ति के कारण यह परिवर्त्तन आया। नाटकों में इब्सन और शॉ की यथार्थवादी वृत्ति और बौद्धिकता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। परिणाम यह हुआ कि नाटक में नया मोड़ आया और गीति-नाट्यों की रचना होने लगी। अँगरेजी के प्रसिद्ध कवियों—ईट्स, इलियट, स्टीफेन, स्पेण्डर आदि—ने इस दिशा में काम किया।

गीति-नाट्य सामान्यतः भावनामय होता है, उसमें बाह्य संघर्षों की अपेक्षा अन्तस्संघर्ष प्रधान होता है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसमें जीवन की ठोस वास्तविकता का सर्वथा तिरस्कार होता है। उसमें बाह्य द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व दोनों ही चलते हैं। वस्तुतः, गीति-नाट्य में बाह्य संघर्ष को प्रकट होने का अवकाश कठिनता से

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ४०६

मिलता है। गीति-नाट्य की दूसरी विशेषता है कि इसका सम्पूर्ण कथानक गेय होता है और इसका अभिनय संगीतमय। नृत्त-नाटक (Ballet) में भी गेय पद रखे जाते हैं, परन्तु नृत्त-नाट्य से गीति-नाट्य भिन्न होता है। इसमें कविता का प्रभाव अन्य प्रभावों से विशेष महत्त्व रखता है, परन्तु नृत्त-नाट्य में पात्रों की वेश-भूषा, रंगमंच की साज-सज्जा और प्रकाश की सुन्दर व्यवस्था पर ही विशेष बल दिया जाता है।

जयशंकर प्रसाद : गीति-नाट्य आधुनिक युग की देन है और हिन्दी में प्रथम गीति-नाट्य प्रस्तुत करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को है। संस्कृत-नाटकों में पद्य की बहुलता होने पर भी एक भी ऐसा नाटक नहीं है, जो गीति-नाट्य कहा जा सके। प्रसादजी को 'करुणालय' लिखने की प्रेरणा सम्भवतः बँगला गीति-नाट्यों से मिली। 'करुणालय' में छपी सूचना से विदित होता है कि उन्हें अँगरेजी के ब्लैंक वर्स और बँगला के अभियाक्षर छन्द से अवश्य प्रेरणा मिली थी।

'करुणालय' एक पौराणिक कथा के आधार पर रचा गया है। आगे चलकर प्रसादजी की रचनाओं में जिस आनन्दवाद, जीवन के प्रति एक दृढ़ आस्था, अमानुषिक आचार के प्रति घृणा, प्रेम की धवल ज्योति आदि के मनोहर चित्र प्राप्य हैं, उनका स्रोत इसी गीति-नाट्य में ढूँढ़ा जा सकता है। परन्तु, गीति-नाट्य का मूल तत्त्व मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व है, जिनका समुचित चित्रण इसमें नहीं हो सका है। इस कथानक में मानसिक संघर्ष दिखाने के लिए पर्याप्त स्थान था, परन्तु उसका पूरा उपयोग नहीं किया गया है। अन्य पात्रों की अपेक्षा रोहित के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व अधिक दिखाया गया है, परन्तु वह भी कुछ देर में समाप्त हो जाता है। एक ओर उसे अपने पिता की आज्ञा का पालन करना है, तो दूसरी ओर आत्मरक्षा का प्रश्न है। परन्तु, इन्द्र की प्रेरणा से उसे आत्मरक्षा का प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर जान पड़ा। नाटक के अन्त में शुनःशेप के करुण क्रन्दन और अजीगर्त्त की क्षुधा से उत्पन्न पाशविक वृत्ति का जो संगम हुआ है, वह चरम विकास के लिए अच्छा अवसर था, परन्तु नाटककार से उसका उचित निर्वाह नहीं हो सका है।

मैथिलीशरण गुप्त : मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' शिल्प-विधान की दृष्टि से गीति-नाट्य है, परन्तु इसकी आत्मा संवाद-काव्य की ही है। गुप्तजी ने इस गीति-नाट्य को दृश्यों में नहीं बाँटकर स्थानों के नाम पर उनका निर्देश किया है। यह गांधीवादी जीवन-दर्शन के स्थूल आदर्शों तक ही रह गया है, उससे आगे बढ़कर अन्तर्द्वन्द्वों के सूक्ष्म स्तर तक जाने में असमर्थ ही रहा है। इसका नायक मघ एक टाइप-मात्र है, उसे मानवीय व्यक्तित्व नहीं मिल पाया है। एक ही दृश्य में उसमें चोरों के साथ युद्ध में बाह्य संघर्ष और कुछ अंश में अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाया गया है, जिससे इस गीति-नाट्य में गतिशीलता आ गई है। सुरभि में अन्तर्द्वन्द्व का आरोह-अवरोह है, किन्तु मघ के सिद्धान्तों की छाया के कारण उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सका है। कथावस्तु भी बहुत-कुछ यान्त्रिक हो गई है।

सियारामशरण गुप्त : सियारामशरण गुप्त ने भी 'उन्मुक्त' शीर्षक एक गीति-नाट्य लिखा। इस गीति-नाट्य में भी 'अनघ' के समान स्थान से ही दृश्य की सूचना मिलती है। रंगमंच के संकेत भी 'अनघ' के ही समान इसमें भी हैं। इसे सफल गीति-नाट्य मान सकते हैं।

निराला : निरालाजी ने 'पंचवटी-प्रसंग' नामक गीति-नाट्य मुक्त छन्द में लिखा। इसमें गीतिमयता के साथ चरित्र-निर्माण की अपूर्व क्षमता है। यह उत्तम गीति-नाट्य है।

प्रेमी : हरिकृष्ण प्रेमी ने 'स्वर्णविहान' नामक गीति-नाट्य लिखा, जिसमें अहिंसा की हिंसा पर विजय दिखाई गई है। इसमें कई स्थलों पर मानसिक संघर्ष भी सुन्दर रीति से दिखाया गया है। यह भी एक सफल गीति-नाट्य है।

भगवतीचरण वर्मा : भगवतीचरण वर्मा के गीति-नाट्य 'तारा' में वही समस्या है, जो उनके उपन्यास चित्रलेखा में है। 'तारा' में उद्दाम वासना का वर्णन करते समय उसके सामाजिक परिवेश को भी ध्यान में रखा गया है। इस गीति-नाट्य में सामाजिक बन्धनों की अवहेलना करने के कारण बृहस्पति के अभिशाप से तारा और चन्द्रमा जड़ बन जाते हैं। यह घटना पौराणिक दृष्टि से युक्तियुक्त है, परन्तु मानवीय तथा नाटकीय दृष्टि से इसके महत्त्व का मूल्यांकन उचित नहीं।

गीति-नाट्य का मूल तत्त्व अन्तर्द्वन्द्व, इसमें आदि से अन्त तक विद्यमान है। आजकल की मान्यताओं पर फ्रायड का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मानव के व्यक्तित्व के कुछ तत्त्वों का विश्लेषण करके फ्रायड ने हमारी परम्परायुक्त मान्यताओं को झकझोर दिया है। इस पौराणिक आख्यान को इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा गया है।

वर्माजी ने इस गीति-नाट्य में जो समस्या उठाई है, वह बहुत विचारोत्तेजक है। उन्होंने समस्या का जो हल निकाला है, वह यद्यपि असामाजिक है, फिर भी उस परिस्थिति में वही सम्भव भी था। 'साधना की अतिशयता और जीवन के स्वाभाविक धर्मों की उपेक्षा की चरम परिणति इसी रूप में दिखाई पड़ती है।'[1]

उदयशंकर भट्ट : हिन्दी के गीति-नाट्यों में उदयशंकर भट्ट की देन अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। उन्होंने अपने तीन गीति-नाट्यों—'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' और 'राधा'—में जो भाव-सृष्टि की है, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। उनके पौराणिक पात्र लेखक के व्यक्तित्व के कारण चमककर महत्त्वपूर्ण बन गये हैं। उन पात्रों का व्यक्तित्व पाठकों के लिए मूल्यवान् हो गया है; क्योंकि लेखक ने अपनी कल्पना से उन्हें सँवारा-सजाया है।

भट्टजी ने अपने तीनों गीति-नाट्यों में अन्तर्द्वन्द्व तथा मानसिक संघर्ष की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। यह संघर्ष सबमें है—नारी में, पुरुष में और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध में भी। मत्स्यगन्धा, मेनका और राधा—तीनों प्रेम की अनुवर्त्तिनी हैं, यह प्रेम ही

१. हिन्दी के गीतिनाट्य (डॉ० बच्चन सिंह)—आलोचना : नाटक-अंक, जुलाई, १९५६

नारी-जीवन का मधुर स्वप्न और सर्वस्व है। परन्तु, तीनों की यौवन-सुलभ अभिलाषा में गुणात्मक अन्तर है। मत्स्यगन्धा में यौवन की उद्दाम लालसा चरमसीमा तक पहुँच गई है। मेनका में नारी की सहज कोमलता, स्निग्धता तथा प्रेरणा है, परन्तु वह भी रूप की प्यास का आश्रय पुरुष में ढूँढ़ती है। राधा में यह अदम्य तथा असन्तुलित वासना सात्त्विक तथा प्रतिदानशून्य प्रेम में परिवर्त्तित हो गई है। यही प्रेम की सबसे ऊँची चोटी है। इस प्रकार, इन तीनों गीति-नाट्यों में एक ही भाव के विविध स्तर दिखाई देते हैं।

'मत्स्यगन्धा' नाटक में उन सघन क्षणों की अभिव्यक्ति सुन्दर रूप से हुई है, जिसके लिए गीति-नाट्य का आविर्भाव हुआ है। इस गीति-नाट्य का आरम्भ प्रकृति के सुरम्य प्रांगण में हुआ है, जिससे मत्स्यगन्धा जैसी यौवन-प्राणा नारी में प्रभावोत्पादकता और भी बढ़ जाती है। कवित्व की दृष्टि से इस स्थल का बहुत महत्त्व है।

गीति-नाट्य में आवश्यक नहीं कि प्रत्येक कविता भावोन्मेषपूर्ण हो, परन्तु उसमें प्रयुक्त प्रत्येक पंक्ति का नाटकीय होना आवश्यक है। 'मत्स्यगन्धा' में प्रत्येक छोटे-छोटे वार्त्तालाप में नाटकीयत्व दिखाई देता है। प्रत्येक दृश्य के नाटकीय आरम्भ और अन्त करने में भट्टजी अत्यन्त निपुण हैं।

भट्टजी के दूसरे गीति-नाट्य 'विश्वामित्र' में जीवन के स्वीकृत्यात्मक तथा निषेधात्मक मूल्यों में संघर्ष दिखाया गया है। विश्वामित्र जीवन के सुखोपभोग से विमुख, कठोर जीवन बितानेवाले निषेधात्मक पक्ष के प्रतीक हैं और मेनका प्रतीक है स्वीकृत्यात्मक मूल्यों का, जो लौकिक सुख में विश्वास करती है। इस प्रतीक का एक दूसरा पक्ष भी देखा जा सकता है। विश्वामित्र पुरुषत्व के चरम अहंकार तथा रूक्ष विवेक के प्रतिनिधि हैं और मेनका स्त्री-सुलभ कोमलता तथा स्फूर्त्ति का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ नारी की मनोवृत्ति दो भिन्न रूपों में दिखाई गई है। उर्वशी की दृष्टि में पुरुष घृणा का पात्र है, परन्तु मेनका की दृष्टि में प्रेम का। विश्वामित्र, मेनका तथा उर्वशी की मानसिक स्थितियों और उनके अन्तर्द्वन्द्वों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

अभिनेयता की दृष्टि से 'मत्स्यगन्धा' की अपेक्षा 'विश्वामित्र' गीति-नाट्य अधिक सफल है। किन्तु, इसका आरम्भ तथा समापन 'मत्स्यगन्धा' की अपेक्षा कम नाटकीय तथा प्रभावोत्पादक है। इन दोनों गीति-रूपकों में कोरस के अभाव में गीत नहीं रखे जा सके।

नर और नारी की चिरन्तन समस्या प्रेम है, जिसका समाधान भट्टजी को उपर्युक्त दोनों गीति-रूपकों में नहीं मिल पाया था, वह उन्हें 'राधा' नामक गीति-नाट्य में मिला। राधा उस प्रेम का प्रतीक है, जिसमें न उपचार होता है और न प्रतिपादन की आकांक्षा। राधा में मत्स्यगन्धा के समान न अतृप्त यौवन की उद्दाम लालसा है और न मेनका की अस्थिरता ही। उसमें निष्काम प्रेम-भावना है, जिसके आगे कृष्ण को भी झुकना पड़ता है।

अनेक मध्यकालीन भक्तों ने राधा को परकीया-रूप में देखा है। वस्तुतः, भक्ति-भावना की जो सान्द्रता परकीया में दिखाई देती है, उतनी स्वकीया में नहीं। भट्टजी ने भी राधा को परकीया-रूप में ही दिखाया है। राधा के गीतिमय व्यक्तित्व में भट्टजी की काव्य-प्रौढ़ता निखर उठी है। उसके प्रेम में उन्होंने क्रमिक सघनता लाने का सफल प्रयास किया है।

शिल्प-विधान में कुछ अंश में मत्स्यगन्धा का अनुसरण इसमें किया गया है। उदाहरण के लिए प्राकृतिक सेटिंग और कोरस को ले सकते हैं। करुण वादन से समस्त वातावरण एक करुण अनुभूति से व्याप्त हो जाता है। मत्स्यगन्धा की अपेक्षा इस नाटक में नाटकीय आरोह-अवरोह का अवकाश कम है। अन्त में, कृष्ण ने जो लम्बा प्रवचन दिया है, उससे प्रभावान्विति क्षीण पड़ जाती है।

सुमित्रानन्दन पन्त : सुमित्रानन्दन पन्त रेडियो में आने के बाद गीति-नाट्य लिखने में प्रवृत्त हुए हैं। उनके गीति-नाट्यों के संग्रह 'रजत-शिखर' में छह और 'शिल्पी' में तीन गीति-नाट्यों का संग्रह हुआ है। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से इनका प्रसारण हो चुका है। इनके अधिकांश गीति-नाट्यों में वर्त्तमान संघर्ष को पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया गया है, परन्तु भविष्य की सुनहली कल्पना इससे कट गई है। पन्तजी दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने में पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं।

'रजत-शिखर' संग्रह का पहला गीति-नाट्य 'रजत-शिखर' है, जो अन्तश्चेतना का उज्ज्वल प्रतीक है। इसमें मन की उच्च तथा समतल स्थितियों का समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है। 'फूलों का देश' में अध्यात्मवाद-भौतिकवाद, आदर्शवाद-यथार्थवाद का समन्वय किया गया है।

'रजत-शिखर' के सभी गीति-नाट्य प्रतीकात्मक हैं। इसलिए, यह विचार संगत नहीं प्रतीत होता कि रंगमंच की दृष्टि से ये सफल हैं या असफल।

पन्तजी के दूसरे संग्रह 'शिल्पी' में तीन गीति-रूपक संगृहीत हैं—'शिल्पी', 'ध्वंसशेष' और 'अप्सरा'। यह हमारे जीवन के अधिक पास है, इसलिए 'रजत-शिखर' की अपेक्षा कई अर्थों में अधिक सरल है। 'रजत-शिखर' पर पहुँचने के लिए अरविन्द का दर्शन समझने की आवश्यकता है, जो सामान्य मनुष्यों की शक्ति के बाहर है। परन्तु, 'रजत-शिखर' के ही समान 'शिल्पी' का काव्यत्व भी सन्देहास्पद ही है। इसमें लम्बे-लम्बे रूखे सैद्धान्तिक भाषण हैं। अन्तर्द्वन्द्व के अभाव के कारण इसमें नाटकीयता की कमी है।

धर्मवीर भारती : धर्मवीर भारती के गीति-नाट्य 'अन्धायुग' का प्रकाशन गीति-नाट्यों की परम्परा में एक नया मोड़ प्रस्तुत करता है। इसके पहले जो गीति-नाट्य हिन्दी में लिखे गये थे, वे सभी एकांकी थे, परन्तु यह पूर्ण गीति-नाट्य है। इसमें पाँच अंक हैं। छन्द की दृष्टि से भी इसमें नवीनता है। पहले के गीति-नाट्य अतुकान्त

छन्द में लिखे गये हैं, परन्तु इसमें मुक्त छन्द का प्रयोग किया गया है। मुक्त छन्द के ही कारण यह रंगमंच के उपयुक्त बन सका है और भावाभिव्यंजन में भी अधिक सक्षम है।

पहले के गीति-नाट्यों में लघु-विस्तार के कारण छोटा ही कथानक लिया जा सकता था, परन्तु 'अन्धायुग' में कथानक अपेक्षाकृत विस्तृत है और अधिक प्रख्यात तथा मार्मिक है। परन्तु, पात्रों की भावाभिव्यंजना एवं कथा-विन्यास में लेखक की कल्पना की उर्वरता का परिचय मिलता है।

महाभारत-युग में नैतिक स्तर काफी गिर चुका था। युद्ध में अनैतिकता सर्वत्र दिखाई देती है। युद्ध के अठारहवें दिन की संध्या से प्रभास तीर्थ में कृष्ण के शरीर-त्याग के दिन तक की कथा इस गीति-नाट्य का विषय है। कथावस्तु को गतिशील एवं अन्वितिपूर्ण बनाने के लिए भारती जी मुख्यतः दो उपाय काम में लाये हैं—कथा-गायन या कोरस और प्रसंगानुकूल बदलता हुआ टोन या लय। 'अन्धायुग' में कथा-गायन वस्तु-संघटन का एक आवश्यक उपादान है। गीति-नाट्यों की अभिनयात्मक सफलता बहुलांश में ध्वनि पर आश्रित रहती है। नाटककार संवादों के माध्यम से ध्वनि या टोन द्वारा भावनाओं का चित्र प्रस्तुत करता है। इससे नाटक की कड़ी जुड़ती है और पात्रों के चरित्र में भी विकास होता है। 'अन्धायुग' में इस प्रकार के विविध टोनों के प्रयोग के लिए उचित स्थल पर नाटकीय स्थितियाँ उपस्थित की गई हैं।

वस्तुतः, 'अन्धायुग' हिन्दी-गीतिनाट्य-परम्परा को एक स्वस्थ मोड़ देता है। "कथानक की उत्कृष्टता, गीति-संवादों का नाटकीय निर्वाह, प्रभावान्विति, प्रतीक-योजना आदि पर विचार करते हुए यह श्रेष्ठ गीति-नाट्य में परिगणित होगा, इसमें सन्देह नहीं।"[1]

जानकीवल्लभ शास्त्री : जानकीवल्लभ शास्त्री के गीति-नाट्यों का संग्रह 'पाषाणी' कुछ दिन पहले प्रकाशित हुआ। इसमें पाँच गीति-नाट्य संगृहीत हैं : 'गंगावतरण', 'उर्वशी', 'वासन्ती', 'पाषाणी' और 'मंजरी'। आकाशवाणी से इनका सफल प्रसारण हो चुका है और कुछ संशोधनों के साथ इनका अभिनय रंगमंच पर भी हो सकता है।

'गंगावतरण', 'उर्वशी' तथा 'पाषाणी' के कथानक पौराणिक आख्यानों पर आधारित हैं। 'मंजरी' राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' की कथावस्तु से प्रेरित और प्रभावित है। परन्तु, लेखक ने इसमें प्राचीन चरित्रों का नवनिर्माण किया है। नव-निर्माण के क्रम में रसान्तर हो जाना भी स्वाभाविक ही है। 'वासन्ती' प्रतीकात्मक गीति-नाट्य है और इस दिशा में यह शास्त्रीजी का प्रथम प्रयास है। इसमें विश्वास, पतझड़, आशा आदि का मानवीकरण हुआ है। 'गंगावतरण' में पौराणिक वातावरण के लिए सूत्रधार की अवतारणा की गई है।

---

१. **हिन्दी के गीतिनाट्य (डॉ० बच्चन सिंह), आलोचना, जुलाई, १९५६ ई०**

जीवन की गम्भीर घटनाएँ, मार्मिक अनुभूतियाँ तथा तीव्र मानसिक संघर्ष लेकर लेखक ने अपने गीति-नाट्यों की रचना की है। कई स्थलों पर मानसिक संघर्ष का अच्छा चित्रण हो सका है, परन्तु अनेक स्थलों पर अन्तर्द्वन्द्व दिखाने का अवकाश रहने पर भी उचित रीति से नहीं दिखाया जा सका है। काव्य-नाट्य और गद्य-नाट्य की विषयवस्तु में स्पष्ट अन्तर होता है। कर्मयोगी भगीरथ को भावनिष्ठ काव्यात्मक चरित्र बनाया गया है और ब्रह्मा के साथ उनके संवाद में नाटकीय उत्कर्ष के प्रदर्शन की चेष्टा की गई है।

'पाषाणी' गीति-नाट्य मूलतः मनोवैज्ञानिक है। पाषाणी की तृप्त अतृप्ति और ऋषि की अतृप्त तृप्ति का अन्तर्द्वन्द्व काव्य को तीव्र-तीक्ष्ण बनाने में समर्थ हुआ है। कवि का प्रयास रहा है कि तपोबल की प्राकृतिक सीमाओं में वाद्य और संगीत की कलात्मक सीमाएँ एकतान हो जायँ।

पाषाणी के गीति-नाट्य काफी सफल हैं।

उपसंहार : प्रसाद, उदयशंकर भट्ट आदि के गीति-नाट्य काव्य-नाटक के स्वरूप-विधान की सार्थकता सिद्ध नहीं करते। वे नाटक की अपेक्षा काव्य के अधिक निकट हैं। उनमें रंगमंच अथवा प्रदर्शन के किसी अन्य माध्यम का ध्यान नहीं रखा गया है। वास्तविक अर्थ में हिन्दी के गीति-नाट्य का विकास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही हुआ है। आकाशवाणी के केन्द्रों के विस्तार के कारण काव्य-नाटक के प्रस्तुतीकरण का नवीन माध्यम भी मिला है। गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', सिद्धनाथ कुमार आदि ने रेडियो पर प्रसारण के लिए गीति-नाटकों की रचना की है, जिनमें वस्तु तथा शिल्प की विविधता मिलती है। इस युग में धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' काव्य-नाटक का नया चरण है। यह हिन्दी का पहला काव्य-नाटक है, जिसका रंगमंच पर अभिनय हुआ है। इस नाटक की एक विशेषता यह है कि इससे हिन्दी-नाटकों को विकास मिला है।

नृत्य-नाट्य

इटली में पान्तोभीम या मूक नाट्य की एक शैली का प्रचलन हुआ। कालान्तर में इस मूकाभिनय में नृत्य और संगीत का योग कर दिया गया। ये नृत्य-नाट्य या बैले फ्रांस में अत्यन्त लोकप्रिय हुए। पीछे चलकर इनमें गीतों के आधार पर मूक नाट्य और मूक नृत्य की योजना की जाने लगी। इस प्रकार, यूरोप में ओपेरा या डान्स-बैले के नाम से जिस नाट्य-प्रणाली का प्रचलन हुआ, उसमें पहले नृत्य के साथ कथा का नाट्य होता था। आरम्भ में उसमें गीत का अभाव रहता था, परन्तु पीछे गीत भी जोड़ दिया गया।

भारत में 'इन्दर-सभा' नाम का संगीत-नाटक उर्दू में लिखा गया, परन्तु उसमें सुरुचि का अभाव था और नाट्य-तत्त्व की अपेक्षा गीत-तत्त्व की ही प्रधानता थी। बँगला

में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुछ उच्च कोटि के संगीत-नाटकों की रचना की और स्वयं उनका सफल प्रयोग किया। यों तो उत्तरी भारत में यात्रा, स्वांग, रास और नौटंकी के रूप में संगीत-नाटकों या नृत्य-नाटकों का अपरिष्कृत रूप में प्रयोग बहुत पहले से होता रहा है, परन्तु परिष्कृत रूप में इनका प्रयोग आधुनिक काल में हुआ है।

नृत्य-नाटक में एक भाव-नटी रंगमंच पर आकर नृत्य के सहारे कथा-भाव को समझाती है और रंगपीठ के एक ओर बैठे कुछ गायक-गायिकाओं के द्वारा उसका विवरण दिया जाता रहता है। पात्रों के जो संवाद होते हैं, उनमें पुरुषों के संवाद पुरुष गायक द्वारा गाये जाते हैं और स्त्रियों के संवाद गायिकाओं द्वारा। अभिनेतागण गाये जानेवाले शब्दों के साथ उन भावों के व्यंजक अभिनय करते जाते हैं। पीछे का पर्दा रंगदृश्य के भाव के अनुकूल होता है और रस तथा भाव के अनुकूल रागों का प्रयोग किया जाता है।

नृत्य-नाटकों के गीतों में लाक्षणिकता तथा चमत्कारोक्ति का कोई स्थान नहीं होता। इसका कारण यह है कि नृत्य-नाटक का रूप कथात्मक तथा संवादात्मक होता है, अतः सरल होने पर ही इसका अभिनय सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

हिन्दी में सर्वप्रथम नृत्य-नाटक या डान्स-बैले, सम्भवतः आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का 'सिद्धार्थ' है, जिसका अभिनय बम्बई में सन् १९४७ ई० में बहुत सफलतापूर्वक किया जा चुका है। इसमें भगवान् बुद्ध का जन्म से धर्मचक्र-प्रवर्त्तन तक का जीवन विभिन्न रागों के गीतों की सहायता से दिखाया गया है। बीच-बीच में नृत्य का भी प्रयोग किया गया है। रागों का प्रयोग भाव तथा रस के अनुकूल हुआ है।

समस्या-नाटक

समस्या-नाटक की उत्पत्ति : यूरोप के समस्या-नाटकों के मूल में १९वीं शती के सामाजिक नवजागरण और बौद्धिक नवचेतना ही है। जॉन स्टुअर्ट मिल, मार्क्स, हीगेल, फ्रॉयड आदि के विचारों का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। इस आन्दोलन का प्रभाव पहले शिक्षित वर्ग पर पड़ा, जिससे नाट्य-साहित्य की कटु आलोचना हुई। इसी समय नाट्य-साहित्य में नार्वे के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन का आगमन हुआ और उन्होने अपने नाटकों में नवीन मार्ग निकाला। उन्होंने अपने नाटकों में तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया : १. युग-जीवन की अभिव्यक्ति, २. समाज के विकृत अंगों का चित्रण और सामाजिक ढोंग पर प्रहार, ३. प्राचीन रंगमंचीय विधाओं का त्याग और नवीन पद्धति का जन्म, जिससे सरलता तथा स्वाभाविकता का पालन हो। इसीलिए, इब्सन को तत्कालीन प्रवाह का नियामक माना गया है। यूरोपीय समस्या-नाटकों में इब्सन के बाद बर्नार्ड शॉ आये, जिन्होंने इब्सन की लीक को और भी प्रशस्त बनाया। विचारों की नवीनता से यूरोपीय समस्या-नाटक पूर्णतः बौद्धिक हो उठा है। हिन्दी-समस्या-नाटकों पर इनका पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है।

समस्या-नाटक का लेखक अपने युग तथा समाज की समस्याओं का घनिष्ठ परिचय पाता है। उसकी पारदर्शी दृष्टि समस्या की गहराई में देख लेती है। समस्या की गहराई में उसे यथार्थ का पता लगता है। इसके साथ ही वह समाज के नग्न चित्र उपस्थित रकता है, खोखले आदर्शों पर प्रहार करता है और सामाजिक रूढ़ियों का उपहास करता है। उसका उद्देश्य प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नवीन मान्यताओं की स्थापना करना है।

सन् १९२० ई० के आसपास हिन्दी-क्षेत्रों में विचारों की वह क्रान्ति दिखाई देने लगी, जो समस्या-नाटकों के मूल में थी। इस क्षेत्र में पहले से ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसॉफी आदि संस्थाएँ थीं, जो सामाजिक रूढियों पर प्रहार कर रही थीं। इसी समय असहयोग-आन्दोलन छिड़ा, जिससे राष्ट्रीय चिन्ताधारा में चेतना आई। यहाँ भी युग-जीवन तार्किक एवं बौद्धिक हो चला था। फलस्वरूप, साहित्यकार परम्परागत असंगतियों के प्रति व्यंग्य करने लगा। परन्तु, आशा के प्रतिकूल स्वस्थ परिणाम तथा समाधान नहीं मिल सका। नवीन साहित्यकार प्राचीन के स्थान पर कोई नया मार्ग प्रशस्त करने में असमर्थ रहे। इसीलिए, हिन्दी समस्या-नाटकों में तत्कालीन जीवन की व्याख्या मिलती है, परन्तु कोई स्वस्थ बौद्धिक समाधान नहीं मिलता।

सन् १९२० ई० के बाद भारत में, विशेषतः हिन्दी-क्षेत्रों में, समस्या-नाटकों के उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया था। अछूतोद्धार, राजनीतिक विचार-परिवर्त्तन, अन्तर्जातीय विवाह, नारी के अधिकारों की चर्चा, विधवा-विवाह, बेमेल विवाह आदि विषयों पर वाद-विवाद होते रहते थे। इन सारी बातों ने समस्या-नाटक के लिए उपयुक्त भूमि तैयार कर दी थी। अनुमान किया जाता है कि यदि इब्सन और शॉ का आदर्श हमारे सम्मुख नहीं भी रहता, तो भी समस्या-नाटक लिखे जाते। किन्तु, यह कहना कठिन है कि ये नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का आदर्श लेकर चलते या 'सिन्दूर की होली' का। इतिहास की दृष्टि से लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रथम समस्या-नाटक-लेखक हैं, परन्तु उनका व्यक्तित्व शॉ के समान प्रखर नहीं बन पाया। वे चिन्तनधारा के अभाव में इधर-उधर भटकते दिखाई देते हैं।

समस्या-नाटकों की लोकप्रियता का प्रधान कारण रहा है, बुद्धि-प्रधान युग। किन्तु, इनमें धीरे-धीरे अतिशय बौद्धिकता नष्ट होती जा रही है। शीघ्र ही लोग समझने लगे कि केवल बुद्धि ही सब कुछ नहीं है। समस्या-नाटकों में चित्रित जीवन भी एकांगी ही है। इसीलिए, अँगरेजी में समस्या-नाटकों की प्रतिक्रिया में गेय रूपकों की परम्परा चली। हिन्दी-समस्या-नाटकों में इनकी प्रतिक्रिया स्वयं इनके जन्मदाता मिश्रजी में देखी जा सकती है। उन्होंने 'सिन्दूर की होली' की धारा में अब 'नारद की वीणा' और 'चक्रव्यूह' जैसे सांस्कृतिक नाटक लिखे हैं।

बीसवीं शती में स्त्री-शिक्षा का प्रचार हुआ, राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी स्त्रियाँ भाग लेने लगीं। फलस्वरूप भारत में पश्चिमी समाज के अनुकरण पर समाज का निर्माण होने लगा, परन्तु भारत में विवाह की प्रथा पुरानी ही थी। अतः, इस समय दाम्पत्य और उन्मुक्त प्रेम में एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा में एक नवीन समस्या उत्पन्न हो गई। जो नाटककार समस्या-नाटक लिखने के उत्सुक थे, उनका ध्यान इस बात की ओर गया। उन्होंने इब्सन और बर्नार्ड शॉ के नाटकों में इस समस्या का समाधान ढूँढने का प्रयास किया। इब्सन के 'डॉल्स हाउस' में विचार मिला कि पुरुष स्त्री को किस सीमा तक स्वतन्त्रता दे सकता है, जिससे नारी के विकास में कोई बाधा नहीं पड़े। 'वाइल्ड डक' में भी ऐसी समस्या उठाई गई है। इब्सन के अन्य नाटक 'घोस्ट्स' में एक स्त्री की दुर्दशा का चित्रण किया गया है, जो अपने पति से अलग हो गई है। बर्नार्ड शॉ ने 'मैन ऐण्ड सुपरमैन' में वैवाहिक जीवन की समस्याओं की ओर ध्यान खींचा है।

भारतेन्दु-कालीन तथा आधुनिक समस्या-नाटक : भारतेन्दु युग के नाटककारों ने भी समाज की अनेक समस्याएँ––बालविवाह, विधवा-विवाह, बहुविवाह, मद्य-निषेध आदि––लेकर नाटकों की रचना की थी। उस युग के लिए वे ही समस्यामूलक नाटक थे, परन्तु आजकल समस्या-नाटक का रूप सर्वथा परिवर्त्तित हो गया है। आधुनिक समस्या-नाटकों में भावुकता का स्थान मनोविज्ञान ने ले लिया है। तात्पर्य यह कि आज के नाटकों में कोई पात्र भावुकता की धारा में बह नहीं जाता, वरन् अपने साथियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है। इन नाटकों पर भारतेन्दु आदि से अधिक प्रभाव पाश्चात्य नाटककारों इब्सन और शॉ का पड़ा है। इनमें भारत के नाट्यशास्त्र के नियमों के पालन से अधिक उल्लंघन ही मिलेगा और यूरोप में प्रचलित नाट्य-कला का ही अधिक पालन दिखाई देता है। भारतेन्दु-काल के नाटककार समाज की बुराइयों के निदान के साथ चिकित्सा का भी प्रबन्ध करते थे, परन्तु आधुनिक समस्या-नाटककार समस्या का केवल निदान करते हैं, चिकित्सा का भार देश और समाज के कर्णधारों के ऊपर छोड़ देते हैं। भारतेन्दु युग के नाटककार नारी के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का सन्तुलन करते थे, परन्तु आजकल के समस्या-नाटकों में नारी के कर्त्तव्यों से अधिक अधिकारों पर बल दिया जाता है।

नाट्य-शैली की तुलना : यदि आज के समस्या-नाटकों की शैली की तुलना भारतेन्दु-युगीन नाट्य-शैली से करें, तो हमें दोनों में बहुत अन्तर दिखाई देगा।

१. आज के समस्या-नाटकों में नृत्य तथा गीत का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। भारतेन्दु-काल के नाटकों में गीत तथा नृत्य का समावेश किया जाता था।

२. पहले के नाटकों में स्वगत भाषण का प्रयोग किया जाता था। प्रसादजी ने भी स्वगत भाषण का काफी प्रयोग किया है, परन्तु आज के समस्या-नाटकों में इसका बहिष्कार कर दिया गया है। इसी प्रकार, आकाश-भाषित का भी बहिष्कार हुआ है।

३. पहले के भारतीय-नाटकों में दृश्य का संकेत बहुत छोटा—प्रायः एक ही पंक्ति में—होता था। परन्तु, समस्या-नाटकों में दृश्य-संकेत काफी बड़ा होने लगा है। कहीं-कहीं दृश्य-संकेत दो-दो पृष्ठों का भी दिया गया है।

४. भारतेन्दु-काल के नाटककार राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द से प्रेरणा प्राप्त करके सामाजिक कुरीतियों का विश्लेषण करते थे। परन्तु, आजकल समस्या-नाटकों के लेखक पश्चिम के मॉक्र्स और फ्रॉयड से प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

५. पहले के नाटककार भास, कालिदास तथा भवभूति आदि के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते थे, परन्तु आज का नाटककार इब्सन और शॉ के पथ का अनुगामी है।

६. समस्या-नाटकों में नायक की धारणा में भी बहुत परिवर्त्तन हो गया है। संस्कृत-नाटकों में नायक उच्च कुल-सम्भूत क्षत्रिय या राजा होता था और सम्पूर्ण नाटक में उसका महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रहता था। वही कथानक को आगे बढ़ाता था। भारतेन्दु, प्रसाद और हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में भी इसी परम्परा का पालन हुआ है। किन्तु, समस्या-नाटकों में नायक किसान, मजदूर, चोर, शराबी कुछ भी हो सकता है। सम्पूर्ण नाटक में उसकी विद्यमानता भी आवश्यक नहीं रह गई है। नाटक के थोड़े अंश में भी वह रह सकता है। 'सिन्दूर की होली' का नायक रजनीकान्त तो कभी रंगमंच पर आता ही नहीं। अन्त में, उसका शव ही रंगमंच पर लाया जाता है।

शिल्प-विधान : समस्या-नाटक के शिल्प-विधान पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। इसकी विशेषताओं को दो वर्गों में रखना अच्छा होगा—(क) अन्तरंग और (ख) बहिरंग।

(क) पहले अन्तरंग विशेषताओं पर ध्यान दिया जाय। १. समस्या-नाटक की पहली अन्तरंग विशेषता है—समस्या की प्रधानता। इसमें प्रधान समस्या एक ही होती है, परन्तु अन्य समस्याएँ भी उसके आसपास चक्कर काटती रहती हैं। ऐसे नाटककारों का मत है कि समस्याएँ केवल उठाई जायँ, उनका समाधान प्रस्तुत नहीं किया जाय। २. दूसरी अन्तरंग विशेषता है यथातथ्यवाद। इन लोगों का सिद्धान्त है—**Draw life to life and the moral will come out itself.** इस सम्बन्ध में भी मिश्रजी का कहना है—जो यथार्थ नहीं है, वह आदर्श नहीं हो सकता। कल्पना की रंगीनी और असंगति साहित्य का मापदण्ड नहीं बन सकतीं। कहने का अभिप्राय यह है कि समस्या-नाटककार समाज के गलित चित्रों का मात्र फोटो तैयार करता है। ३. समस्या-नाटक की तीसरी अन्तरंग विशेषता है अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। प्रसादजी के नाटकों में एक दोष बताया जाता है—बाह्य कार्य-व्यापार की बहुलता। परन्तु, इन समस्या-नाटकों में कार्य-व्यापार की अत्यन्त कमी ही दोष है। इनमें घटना की अपेक्षा मानसिक संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व की अधिकता रहती है। अन्तर्द्वन्द्व दोनों रूपों—व्यष्टिनिष्ठ और समष्टिनिष्ट—में पाया जाता है।

मिश्रजी के समस्या-नाटकों में व्यष्टिनिष्ठ अन्तर्द्वन्द्व की ही प्रधानता है। 'सिन्दूर की होली' के मनोजशंकर में यह बात देखी जा सकती है। ४. चौथी विशेषता है बौद्धिकता। समस्या-नाटकों में हृदय-पक्ष लगभग शून्य रहता है और बुद्धिमूलक व्यापार ही इनका प्राण है। इन नाटककारों ने मान लिया है कि आज की समस्याएँ बुद्धि से उत्पन्न हुई हैं और बुद्धि ही उनका समाधान भी करेगी। ५. समस्या-नाटकों की पाँचवीं अन्तरंग विशेषता है व्यंग्य। प्राचीन आदर्श, रूढ़ि, परम्परा आदि का मूलोच्छेद करने के लिए व्यंग्य का प्रहार किया जाता है।

(ख) समस्या-नाटकों की बहिरंग विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—१. संघर्ष की प्रबलता, २. कार्य-व्यापार की अल्पता, ३. चरित्र-चित्रण की विशिष्ट मान्यता, ४. संवाद, ५. बाह्य उपधान-वर्णन, ६. स्वगत कथन का अभाव, ७. गीतों का अभाव। समस्या-नाटकों में पात्र नाटककार के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं; उनका स्वाभाविक रूप नष्ट हो जाता है। पात्र रक्तहीन तथा अस्थिहीन प्रतिमा-मात्र बनकर रह जाते हैं। स्ट्रिण्डबर्ग ने तो अपने नाटक Paric में पात्रों का काम केवल x और y से लिया है। इसीलिए, आलोचकों ने समस्या-नाटकों के नायक को वितर्कवादी नायक (Reasoning Hero) ही कहना अच्छा समझा। इसके संवाद भी पुष्ट तथा स्वस्थ रूप में नहीं, विकृत रूप में ही रहते हैं। इनके संवादों का मुख्य उद्देश्य सिद्धान्त-प्रतिपादन और समस्या का दार्शनिक विवेचन ही होता है। समस्या-नाटकों में उपधान-वर्णन (भूमिका, दृश्य-वर्णन, रंगमंच-निर्देश आदि) विस्तृत रूप में रहता है। एक प्रकार से नाटक में ये पूरक के रूप में रहते हैं। इन नाटकों में स्वगत कथन और गीत का अभाव रहता है। कुछ समस्या-नाटकों में गीत भी पाये जाते हैं, परन्तु उनका स्थान गौण ही है।

माना जाता है कि समस्या-नाटक का रंगमंच से घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु वास्तविकता की कसौटी पर देखने से यह धारणा सन्देहास्पद है। रंगमंच तथा अभिनय की दृष्टि से कार्य-व्यापार का उचित योग आवश्यक है, परन्तु समस्या-नाटकों में कार्य-व्यापार की कमी रहती है। आजकल नाटक पढ़ने से अधिक लोग देखना पसन्द करते हैं; अतः रंगमंच की दृष्टि से इन्हें सबल होना चाहिए। इसीलिए, ये नाटक संक्षिप्त, वैज्ञानिक और यथार्थवादी बनाये जाते हैं। दृश्य-परिवर्त्तन में भी कमी की जाती है। इन आधारों पर ये नाटक उचित जाँचते हैं, परन्तु इस वस्तु की अतिशयता अनुचित होती है। युग-जीवन का चित्रण होने के कारण ये नाटक विश्वास उत्पन्न करनेवाले होते हैं। यही कारण है कि कुतूहलवर्द्धक नहीं होने पर भी ये हृदय को स्पर्श करते हैं। अभिनय की दृष्टि से अश्क, वर्माजी और सेठजी के नाटक मिश्रजी के नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल हैं।

प्रमुख समस्या-नाटककार : लक्ष्मीनारायण मिश्र समस्या-नाटक के जन्मदाता माने जाते हैं और समस्या-नाटककारों में इनका स्थान सर्वप्रमुख है। प्रसादजी की 'ध्रुवस्वामिनी' भी समस्या-नाटक है। इन दो नाटककारों के अतिरिक्त कई अन्य नाटककारों ने समस्या-

नाटकों की रचना की है। निम्नलिखित नाटककार बहुत प्रख्यात हो चुके हैं– उपेन्द्रनाथ अश्क (स्वर्ग की झलक, छठा बेटा आदि), भगवतीचरण वर्मा (और रुपया तुम्हें खा गया), उग्र (डिक्टेटर, गंगा का बेटा, आवारा), उदयशंकर भट्ट (कमला, विद्रोहिणी अम्बा आदि), हरिकृष्ण प्रेमी (प्रतिशोध, छाया, बन्धन, मन्दिर आदि), सेठ गोविन्ददास (प्रकाश, सेवापथ, धीरे-धीरे आदि), गोविन्दवल्लभ पन्त (अंगूर की बेटी), वृन्दावनलाल वर्मा (खिलौने की खोज, पीले हाथ, बाँस की फाँस, लो भाई पंच लो), लक्ष्मीनारायण लाल (अन्धा कुँआ), भगवतीप्रसाद वाजपेयी (छलना), पृथ्वीनाथ शर्मा (दुविधा, अपराधी, शराबी), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द (समर्पण) आदि।

एकांकी नाटक

लक्षण तथा तन्त्र : आज एकांकी नाटक की एक स्वतन्त्र तथा विकसित विधा है। डॉ० दशरथ ओझा के शब्दों में एकांकी का लक्षण निम्नलिखित रूप में दे सकते हैं : 'जिस नाटक में नायक जीवन के एक ही लक्ष्य को प्रमुखता देने के लिए उत्तेजक, सूचक तथा प्रभाव-व्यंजक पात्रों की सहायता से घटनाओं तथा भाव-विचारों की तहें खोलता हुआ, हमारी जिज्ञासा को उभारकर या तो सन्तुष्ट कर देता है अथवा किसी उलझन में ही छोड़ देता है, वह एक अंक में समाप्त होनेवाला नाटक एकांकी है।'[1]

एकांकी में एक ही कथावस्तु होती है, प्रासंगिक कथानक के लिए स्थान नहीं। एकांकी की परिधि विस्तृत नहीं होती। छोटी-सी परिधि में एक छोटी-सी घटना सम्बद्ध कर दी जाती है। एकता ही एकांकी का प्राण, आत्मा और सब कुछ है। एकता के अभाव में परिधि न बनकर एक वक्र रेखा बनकर रह जाती है। एकांकी की मुख्य कथावस्तु को सब ओर से छोटी-छोटी घटनाएँ योग दें, यही इसकी एकता है। छोटी घटनाएँ कथावस्तु को एक निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर करायें, इसी में एकांकी की सफलता निहित है। यदि ये घटनाएँ मुख्य कथावस्तु से सहयोग नहीं करें, तो एकांकी का रस सूख जायगा। उदाहरणार्थ, डॉ० रामकुमार वर्मा के एकांकी '१८ जुलाई की शाम' में अशोक, राजेश्वरी और प्रमोद से सम्बद्ध कई छोटी-छोटी घटनाएँ एकरूप होकर मुख्य कथावस्तु को आगे बढ़ाती हैं। सभी घटनाओं का लक्ष्य है—उषा का हृदय-परिवर्त्तन।

अधिक लम्बा एकांकी प्रभावोत्पादक नहीं होता। जो एकांकी अधिक-से-अधिक एक घण्टे में खेला जा सके, वह बहुत प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। बड़े नाटकों के समान इसमें पाँच अवस्थाएँ नहीं होतीं, वरन् केवल तीन—प्रारम्भ, चरम सीमा और अन्त—होती हैं। नाटकों के समान इसकी भी चरम सीमा बहुत प्रभावोत्पादक, उत्तेजक तथा आकर्षक होती है।

---

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ४४७

एकांकी एक दृश्य का भी हो सकता है और अनेक दृश्यों का भी। इसमें दृश्यों का विभाजन एकरसता का भारीपन कम करने के लिए किया जाता है। यदि अनेक दृश्य नहीं किये जायँ, तो दशकों के उकता जाने का भय रहता है।

एकांकी की कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के विषय में प्रो० रामयतन सिंह 'भ्रमर' ने लिखा है : "एकांकी का क्षेत्र पढ़े-लिखे आदमी के उस छोटे-से कमरे के सदृश है, जिसमें स्थान की अत्यधिक न्यूनता होने पर भी कमरे की चीजों को वह इस प्रकार सजाकर रखता है कि बँगले का रहनेवाला दाँतों-तले उँगली दबाता है। कमरे की एक-एक अंगुल जमीन का उपयोग करता है। दीवाल के कण-कण में सौन्दर्य बिखेर देता है। अतः, एकांकी का 'उद्घाटन' दर्शकों के ध्यान को आकर्षित करनेवाला, 'विकास' आकर्षण को बढ़ानेवाला, 'अवरुन्धन' आकर्षण को गतिशील करनेवाला तथा 'अन्त' आनन्द-मग्न कर देनेवाला होना चाहिए।"[1]

आधुनिक एकांकियों में उलझन (अवरुन्धन) तथा संशयात्मकता का विशेष महत्त्व है। नाटकीय समस्याओं का हल उलझा देना ही उलझन का काम है। उलझन से ही संशय की उत्पत्ति होती है। नाटक या एकांकी में अनिश्चय की भावना दर्शकों को आगे की घटना जानने को प्रेरित करती है। नाटक की अतीत की घटनाओं तथा कार्य-व्यापारों पर ही संशयात्मकता अवलम्बित रहती है।

एकांकी में चरम सीमा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। चरम सीमा पर ही नाटक की सभी घटनाएँ और समस्त कार्य-कलाप एक होकर नाटक की सम्पूर्णता में विलीन हो जाते हैं। यहीं पहुँचकर सभी समस्याओं का हल निकल जाता है, सभी प्रश्नों का सन्तोष-जनक उत्तर मिल जाता है। एकांकी की चरम सीमा उसकी समाप्ति के कुछ ही पहले आती है। यदि एकांकीकार भूल से उसका प्रादुर्भाव पहले ही कर दे, तो एकांकी वहीं समाप्त हो जाता है। परन्तु, आजकल ऐसे भी बहुत एकांकी लिखे जा रहे हैं, जिनमें चरम सीमा नहीं रहती। कुछ आलोचकों का मत है कि चरम सीमा के अभाव में भी उत्कृष्ट एकांकी की रचना हो सकती है।

एकांकी का दूसरा तत्त्व उसके पात्रों से सम्बन्ध रखता है। मुख्य पात्रों के चरित्र में विस्तार नहीं होना चाहिए। चरित्र के विकास में आदि, मध्य और अन्त की अवस्थाएँ नहीं होतीं। एकांकी का काम पात्रों के सम्पूर्ण जीवन का चित्र उपस्थित करना नहीं, वरन् जीवन की एक घटना लेकर सम्पूर्ण जीवन की ओर संकेत-भर कर देना है। एकांकी के अन्य पात्रों की गतिविधि मुख्य पात्र के इर्द-गिर्द भाँवरियाँ देती रहती है। एक से अधिक मुख्य पात्र रहने से एकांकी प्रभावहीन बन जाता है। अतएव, अत्यधिक मुख्य या गौण पात्र एकांकी में निरर्थक हैं, पात्रों की अधिकता से एकांकी शिथिल पड़ जाता है।

---

१. एकांकी-कला, पृ० ११६-११७

नाटक या एकांकी को जीवन्त बनानेवाला तत्त्व उसका बाह्य या आन्तरिक द्वन्द्व है। यह नाटकीय संघर्ष या द्वन्द्व नाटक के पात्रों पर निर्भर करता है। पात्र ही नाटककार तथा दर्शक के विचार को अपने कन्धे पर ढोता है। वही दोनों को मिलाता है। अतः, एकांकी में पात्रों का चुनाव करने में बड़ी सावधानी से काम लेना होता है। "आधुनिक एकांकी में न तो धीरोदात्त या धीरललित नायक की आवश्यकता है, न द्विजेन्द्रलाल राय-कृत 'शाहजहाँ' के औरंगजेब ऐसे प्रतिनायक की। इन दोनों के अभाव में भी सुन्दर नाटक बन सकता है, बशर्त्ते नाटक की समस्या का दर्शक दो विभिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करे।"[१] सेठ गोविन्ददास के 'ईद और होली' में न तो नायक है और न प्रतिनायक ही, फिर भी दर्शकों को इससे तृप्ति होती है।

एकांकी में संवाद का विशेष महत्त्व है। घटना, परिस्थिति तथा पात्रों के चरित्र का विकास संवाद द्वारा ही सम्यक् रूप से होता है। इसी के द्वारा एकांकीकार पात्रों को रंगमंच पर नचाता है और दर्शकों के मन में विश्वास उत्पन्न करता है। संवाद की उत्कृष्टता इस बात में है कि वह चुस्त, अर्थपूर्ण तथा पात्रानुकूल हो। लम्बे संवादों से एकांकी में शिथिलता उत्पन्न होती है। फिर भी, संवाद एकांकी का एक उपादान-मात्र है, साध्य नहीं हो सकता, केवल साधन है। इसीलिए, जो संवाद नाटकीय घटनाओं को चरम सीमा तक सफलतापूर्वक पहुँचा दे, वही उत्तम समझा जाता है।

एकांकीकार को टेकनीक का ज्ञान होना चाहिए, परन्तु यदि वह प्रतिभाहीन तथा अदूरदर्शी है, तो टेकनीक उसे सफल नाटककार नहीं बना सकेगा। इससे उसका मार्ग-निर्देशन-मात्र होता है। एकांकी में टेकनीक का होना आवश्यक है, परन्तु टेकनीक के पीछे दौड़ लगाना उचित नहीं।

एकांकी के जन्म एवं लोकप्रियता के कारण : वर्त्तमान युग में हिन्दी में एकांकी नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं। डॉ० भोलानाथ ने हिन्दी में एकांकी के जन्म और उसकी लोकप्रियता के लिए निम्नलिखित कारणों का निर्देश किया है :

"(अ) हमारी शतधा 'अभिव्यक्त-अभिरुचि' (स्व० श्रीसूर्यकिरण पारीक)।

(आ) किसी एक ही ओर अपने ध्यान को अधिक देर तक निरन्तर केन्द्रित किये रह सकनेवाली इच्छा और इच्छा-शक्ति का सामान्यतः ह्रास।

(इ) संस्कृत, अँगरेजी और बँगला-साहित्य एवं उनके एकांकी-साहित्य से हमारा परिचय और उनके अनुकरण पर एकांकी लिखने की हमारी इच्छा का जन्म।

(ई) हिन्दी-नाट्य-साहित्य के प्रणयन के पूर्व हिन्दी-जनता का जो अपना रंगमंच था, उसपर अभिनीत होनेवाली कृष्ण-चरित्र-सम्बन्धी एकांकी झाँकियाँ।

---

१. एकांकी-कला (प्रो० रा० य० सिंह), पृ० १३७

(उ) कभी-कभी थोड़े समय के लिए खाली होने पर उतने थोड़े समय के लिए साहित्यिक मनोरंजन की हमारी माँग।

(ऊ) बालचरों के कैम्प-फायर के लिए आवश्यक सरल एकांकी की माँग।

(ए) विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में विशेष-विशेष अवसरों पर विद्यार्थियों द्वारा खेले जाने के लिए सुरुचिपूर्ण एवं साहित्यिक नाटकों की आवश्यकता और ऐसे अवसरों पर एकांकियों की विशेष उपयुक्तता एवं उपयोगिता।

(ऐ) रेडियो से हिन्दी-एकांकियों की माँग।"[1]

उपरिलिखित कारणों में से कुछ अनावश्यक विस्तार होने पर भी सामान्यतः यथार्थ हैं।

एकांकी का उद्देश्य : आधुनिक कर्म-संकुल युग का व्यस्त मानव सब प्रकार से समय बचाना चाहता है, साथ ही मनोविनोद के साधन भी रखना चाहता है। उसका लक्ष्य अल्पकाल में अधिक-से-अधिक मनोरंजन करना और विचार ग्रहण करना हो गया है। अतः, इस युग में किसी मनुष्य को एकांकी नाटकों का आश्रय लेना पड़ता है।

किन्तु, यह नहीं समझना चाहिए कि आज के एकांकी का एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन ही करना है। आज एकांकी जीवन की गहन तथा जटिल समस्याओं को प्रत्यक्ष रूप में देखने का अभिलाषी है। अतएव, जो एकांकी वर्त्तमान जीवन की जटिलताओं को कम-से-कम समय में अत्यन्त आकर्षक रूप में प्रकट कर दे, वही सफल समझा जायगा। अभिप्राय यह है कि जो एकांकी मनोविनोद और उन्नति दोनों का समन्वय और सन्तुलन कर दे, वही सफल गिना जायगा।

संस्कृत एकांकी और आधुनिक हिन्दी-एकांकी : संस्कृत में अनेक प्रकार के एकांकी लिखे गये। उनके वर्गीकरण के आधार थे—नायक का चरित, इतिवृत्त का प्रकार, रस की प्रधानता और वृत्तियों का विकास। कई दृष्टियों से आधुनिक हिन्दी-एकांकी भिन्न हैं। उनका अन्तर निम्नलिखित रूप में प्रकट कर सकते हैं :

१. आधुनिक हिन्दी-एकांकी में अन्तर्द्वन्द्व तथा संघर्ष की प्रधानता रहती है। मानसिक प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण ही आधुनिक एकांकी का प्राण है। परन्तु, संस्कृत-एकांकियों में इस तत्त्व का अभाव ही पाया जाता है।

२. आधुनिक युग का पाठक या दर्शक नाटक की घटनाओं को ही जानकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, उसे सन्तोष तब होता है, जब वह उनके कारणों को भी जान ले। परन्तु, भास के अतिरिक्त अन्य संस्कृत-एकांकीकार राजाओं के विलास तथा तत्कालीन

---

१. **हिन्दी-एकांकी का विकास (डॉ० भोलानाथ), सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन-ग्रन्थ (भारतीय नाट्य-साहित्य), पृ० ३७६**

परिस्थिति के चित्रण के अधिक प्रयास करते थे, कार्य-कारण-सम्बन्ध पर प्रकाश डालकर दर्शक या पाठक की जिज्ञासा शान्त करने की ओर उनका ध्यान विशेष नहीं रहता था।

३. आधुनिक एकांकीकार जीवन की वास्तविकता चित्रित करने में सचेष्ट है, इस विषय में उसकी दृष्टि बहुत पैनी है। परन्तु, संस्कृत-नाटककार की दृष्टि जीवन की वास्तविकता का चित्रण करने में उतनी पैनी नहीं दिखाई देती। आज जीवन की बड़ी-बड़ी घटनाओं का उतना मूल्य नहीं जितना दैनिक जीवन की छोटी-छोटी सामान्य घटनाओं के घात-प्रतिघात का है, जिनसे व्यक्तियों के चरित्र में विकास होता है।

४. संस्कृत के नाटककार विशेषतः राजा-महाराजा की ही परिस्थिति का प्रदर्शन करते थे, परन्तु आज का नाटककार साधारण तथा मध्यम वर्ग के दैनिक जीवन की सच्ची व्याख्या करना अपना कर्त्तव्य मानता है।

५. संस्कृत का नाटककार नायक की विजय का अटल सिद्धान्त लेकर आगे बढ़ता है, इसलिए कभी ऐसी घटनाओं का चित्रण नहीं करता, जिससे नायक मृत्यु या पराजय के मुख में पड़ जाय। वह ऐसी परिस्थितियों से कतरा कर निकल भागता है। परन्तु, आज का हिन्दी-एकांकीकार ऐसी परिस्थितियों का स्वागत करता है। अतः, आज के एकांकियों में चरम सीमा (Climax) अनिवार्य मानी जाती है, परन्तु संस्कृत-नाटककार इस चरम विकास की अवहेलना ही करते रहे।

यदि हम कथानक, नायक, संवाद और जीवन-दर्शन की दृष्टि से विचार करें, तो आधुनिक हिन्दी-एकांकी संस्कृत-एकांकियों से सर्वथा भिन्न प्रतीत होंगे। अतः दोनों की अलग स्वतन्त्र धारा स्वीकार की जा सकती है।

हिन्दी-एकांकी का विकास

भारतेन्दु-युग या प्रयोगकालीन युग : हिन्दी में वास्तविक एकांकी का प्रारम्भ प्रसादजी के 'एक घूंट' से माना जाता है, परन्तु तन्त्र तथा शिल्प-विधान की दृष्टि से इससे भी पूर्व कई नाटक उपलब्ध होते हैं, जो एकांकी की कोटि में गिने जा सकते हैं। भारतेन्दुजी ने अपने कुछ नाटकों को अंकों में विभाजित किया है, परन्तु यदि अंकों के स्थान पर दृश्य कर दिया जाय, तो वे एकांकी ही बन जायेंगे। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' तीन अंकों में बाँटा गया है, 'किन्तु प्रत्येक अंक में घटित होनेवाला व्यापार इतना सूक्ष्म है और घटनाएँ इतनी लघु तथा तीव्रगामिनी हैं कि इसे एकांकी कहना ही उचित है। इसी प्रकार, नीलदेवी को भी समालोचक एकांकी नाटक ही मानते हैं।'[1]

वस्तुतः हिन्दी-एकांकी का जन्म भारतेन्दु-युग में ही हो गया था। साहित्य के अन्य क्षेत्रों की तरह भारतेन्दुजी ने हिन्दी-एकांकी का प्रारम्भ किया था। उन्होंने पारसी रंगमंच से प्रभावित सस्ते रोमाण्टिक-नाटकों से जनता की रुचि हटाकर अपने साहित्यिक

१, प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल : नीलदेवी की भूमिका

नाटकों के माध्यम से उसमें परिष्कार किया। भारतेन्दु ने संस्कृत से नाट्यकला सीखी, परन्तु पाश्चात्त्य नाटकों का भी पर्याप्त प्रभाव उनपर पड़ा। संस्कृत के पुराने भारतीय आदर्शों पर ही उन्होंने अपने एकांकियों की रचना की। उन्होंने एकांकी के क्षेत्र में प्रहसन, ऑपेरा, व्यंग्य, गीति-रूपक, नाट्य-रासक, भाण इत्यादि विभिन्न प्रकारों के उदाहरण उपस्थित किये।

अनूदित एकांकी नाटकों में 'भारत-जननी' एक ऑपेरा है। कवि कंचन-कृत व्यायोग के आधार पर भारतेन्दुजी ने सन् १८७३ ई० में 'धनंजय-विजय' नामक एकांकी की रचना प्राचीन संस्कृत-प्रणाली पर की। 'पाखण्ड-विडम्बन' रूपक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के तृतीय अंक का अनुवाद है। कथानक को अपने-आप में पूर्ण बनाया गया है।

भारतेन्दुजी के मौलिक एकांकियों में 'प्रेमयोगिनी' (अपूर्ण, सन् १८७५ ई०), 'भारत-दुर्दशा' (सन् १८८० ई०), 'नीलदेवी' (सन् १८८१ ई०) प्रसिद्ध हैं। हिन्दी-एकांकियों में यथार्थवाद का आरम्भ 'प्रेमयोगिनी' से ही माना जा सकता है। 'माधुरी' में श्रीकृष्ण की प्रेमिका माधुरी का विरह-चित्रण है। यह कुछ अतिरंजित (Melodramatic) हो गया है। 'भारत-दुर्दशा' को भारतेन्दुजी ने नाट्य-रासक या लास्यरूपक कहा है। उपरूपक के १८ भेदों में नाट्य-रासक भी है। इसमें नान्दी नहीं है, परन्तु मंगलाचरण है। 'नीलदेवी' ऐतिहासिक गीति-रूपक है, जिसमें संगीत का सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। भारतेन्दुजी ने 'अंधेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखे। इनका विषय मुख्यतः समाज-सुधार था। इनमें अतीत भारत के गौरव तथा वर्त्तमान की दुरवस्था का चित्रण किया गया है और भविष्य के कल्याण की कामना की गई है। निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दुजी संस्कृत-नाट्यकला के पक्षपाती थे और संस्कृत के अध्ययन के साथ अपनी निजी मौलिकता भी उनमें प्रचुर परिमाण में विद्यमान थी।

भारतेन्दु-युग में एकांकी की एक नवीन पद्धति चल निकली थी, जिस पर जन-नाटकों का अधिक प्रभाव पड़ा था। इस शैली के प्रवर्त्तन का श्रेय लाला श्रीनिवासदास को है। उन्होंने 'प्रह्लाद-चरित' नामक नाटक की रचना उस शैली पर की, जो रासलीला एवं स्वांग-मण्डलियों में प्रह्लाद-लीला नाम से सैकड़ों वर्ष पहले से चली आ रही थी। यदि इस नाटक के विभिन्न दृश्यों को हटा दें, तो यह सम्पूर्ण नाटक रास तथा स्वांग का नाटक बन जाता है।

भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने उपर्युक्त दोनों रूपों को ग्रहण किया। इस युग के एकांकीकारों में पं० बालकृष्ण भट्ट का विशेष स्थान है। इनके पाँच एकांकी प्रकाशित हुए थे, जिनके नाम हैं—'शिक्षा-दान', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बालविवाह'। भट्टजी ने अपने एकांकियों में तत्कालीन समाज पर गहरा व्यंग्य किया है। श्रीराधाचरण गोस्वामी एकांकी के क्षेत्र में हास्य और व्यंग्य

के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके सात एकांकी उपलब्ध हैं। पं० प्रतापनारायण मिश्र के 'प्रेम-पुष्पावली', 'भारत-दुर्दशा रूपक', 'मन की लहर', 'श्रृंगार-विलास', 'जुआरी-खुआरी', 'कलि-कौतुक रूपक' शीर्षक एकांकी प्राप्य हैं। ये पुरानी संस्कृत-शैली पर ही रचे गये हैं। लाला श्रीनिवासदास के चार एकांकी उपलब्ध हैं। इनके कथनोपकथनों में अच्छी सजीवता है। पं० किशोरीलाल गोस्वामी के दो एकांकी मिलते हैं––'नाट्यसम्भव रूपक' और 'चौपट चपेट' (प्रहसन)। इनमें भी तत्कालीन सामाजिक दुरवस्था का चित्रण मिलता है। पं० रुद्रदत्त शर्मा ने निम्नलिखित एकांकी लिखे––'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमिटी', 'पाखण्डमूर्त्ति', 'अपूर्व संन्यासी' और 'कण्ठी-जनेऊ का विवाह'। श्रीराधाकृष्णदास ने 'दुःखिनी बाला' नामक एकांकी लिखा। इनके अतिरिक्त सर्वश्री देवकीनन्दन त्रिपाठी, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', कात्तिकप्रसाद खत्री, अम्बिकादत्त व्यास आदि ने भी कुछ एकांकी लिखे। इससे हिन्दी-एकांकी की एक परम्परा स्थापित हो जाती है। इस युग के एकांकियों पर संस्कृत का बहुत प्रभाव रहा है।

द्विवेदी-युग : द्विवेदी-युग में एकांकी के टेकनीक में धीरे-धीरे विकास हो रहा था। अँगरेजी के अध्ययन और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवाद से हिन्दी-एकांकीकार नये ढंग के एकांकियों की रचना कर रहे थे। इस युग के एकांकियों में शिल्प-विधि की दृष्टि से थोड़ा परिवर्त्तन दिखाई देता है। पश्चिमी कला का भी कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है। फिर भी, शिल्प-विधि की अपेक्षा जीवन-दर्शन पर अधिक ध्यान दिया जा रहा था।

इस युग में समाज-सुधार की प्रवृत्ति प्रमुख रही और समाज की त्रुटियों पर तीखे व्यंग्य किये गये। जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों, देशवासियों की त्रुटियों तथा कमजोरियों के विरुद्ध इन एकांकीकारों ने आन्दोलन किया और देश तथा समाज के सम्मुख व्यावहारिक आदर्श उपस्थित किया। बालविवाह, वृद्ध-विवाह, बेमेल विवाह, अछूतोद्धार, मालिक और नौकर के झगड़े, शराबखोरी, जुआ, वेश्यावृत्ति, ऊँच-नीच का बनावटी भेद, रूढ़िवादी संस्थाओं की आलोचना, धार्मिक तथा सामाजिक पाखण्ड आदि मुख्य विषय थे, जिनका विश्लेषण इन एकांकीकारों ने किया। इस युग का मूल स्वर सुधारवाद था। सुधारवादी एकांकियों में हास्य-व्यंग्य का प्रचुर प्रयोग किया गया। शैली व्यंग्यात्मक थी।

द्विवेदी-युग के एकांकियों को तीन धाराओं में बाँटा जा सकता है––१. राष्ट्रीय नैतिक चेतना, २. साहित्यिक सुधारवादी धारा और ३. पौराणिक आदर्शवादी विचारधारा। टेकनीक में पारसी प्रणाली ही रही, परन्तु भाषा में साहित्यिकता का समावेश हुआ। गीतमय संवादों में कमी आई और पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग हुआ।

इस युग के प्रमुख एकांकीकारों में पं० राधेश्याम कथावाचक, तुलसीदत्त शैदा, सियारामशरण गुप्त, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, जी० पी० श्रीवास्तव, रूपनारायण पाण्डेय, प्रेमचन्द, उग्रजी, सुदर्शन, रामनरेश त्रिपाठी, मंगलप्रसाद विश्वकर्मा, रामसिंह वर्मा, व्रजलाल शास्त्री, सरयूप्रसाद बिन्दु आदि हैं।

अन्य भाषाओं के कुछ एकांकियों का अनुवाद भी हुआ। इस प्रकार, द्विवेदी-युग में मौलिक तथा अनूदित एकांकियों की परम्परा चलती रही। संस्कृत के प्रभाव में कमी आ गई, बँगला का प्रभाव अब भी था, परन्तु पाश्चात्त्य प्रभाव हिन्दी-एकांकी में तेजी से परिवर्त्तन ला रहा था।

प्रसाद-युग (सन् १९२५–३८ ई०) : प्रसादजी का 'एक घूँट' निकलने पर शीघ्र ही यह विवाद छिड़ गया कि इसे एकांकी कहा जाय या नहीं। प्रो० अमरनाथ गुप्त ने इसे संस्कृत-शैली का एकांकी मानकर आधुनिक एकांकियों से अलग ही रखा। परन्तु, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० हरदेव बाहरी आदि ने इसे पूर्णतः आधुनिक एकांकी स्वीकार किया। उस समय जो भी विवाद रहा हो, परन्तु आज से काफी पहले ही इसे सर्वसम्मति से आधुनिक एकांकियों में गिना जाता है। बहुत लोग मानते हैं कि हिन्दी का सर्वप्रथम एकांकी 'एक घूँट' ही है।

धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टियों से यह जागृति का युग था। शिक्षा के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व जागृति हुई। इस काल में अँगरेजी-नाट्य-शैलियों का विशेष रूप से अनुकरण हुआ। हिन्दी-एकांकीकारों में ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक थी, जो सीधे अँगरेजी-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे। इस युग के एकांकीकारों में सर्वश्री डॉ० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास आदि ने अँगरेजी से प्रेरणा ली है। कृत्रिम तथा सस्ती भावुकता, जीवन का अतिरंजित स्वरूप, स्वगत कथन, काव्य का अधिक प्रयोग, दृश्यों की अधिकता और दूसरी अस्वाभाविकताओं के विरुद्ध यथार्थवादी क्रान्ति के चिह्न इस काल के एकांकियों में दृष्टिगत होने लगे। हिन्दी-एकांकीकारों ने अँगरेजी-एकांकियों की शैली पर रचना की। कुछ प्रयोगवादी एकांकीकारों ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने नये ढंग के एकांकी लिखने की प्रेरणा अँगरेजी से ग्रहण की।

पाश्चात्त्य शैली से प्रभावित एकांकीकारों की तीन श्रेणियाँ हैं :

१. वे एकांकीकार, जिन पर बँगला या अँगरेजी का प्रभाव अभी तक नहीं पड़ा था। इनके कथानक ऐतिहासिक हैं और शिल्प-विधान में भी नवीनता लाने का कोई प्रयत्न नहीं है। इस श्रेणी के एकांकीकारों में सर्वश्री जैनेन्द्र कुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविन्दवल्लभ पन्त, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी, डॉ० सत्येन्द्र आदि माने जाते हैं।

२. द्वितीय श्रेणी में उन एकांकीकारों की गणना होती है, जिन्होंने शिल्प-विधान, विषय, विचार और समस्याएँ—सब कुछ पाश्चात्त्य एकांकियों से ग्रहण किया है। बर्नार्ड शॉ उन पाश्चात्त्य नाट्यकारों में प्रमुख हैं, जिनसे आधुनिक हिन्दी-एकांकीकार विशेष रूप से प्रभावित हैं। कुछ नाट्यकारों पर पश्चिम का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है और उन्होंने पश्चिम का इतना अधिक अनुकरण किया है कि उनके एकांकियों में मौलिकता के लिए

स्थान ही नहीं है। ऐसे एकांकीकारों में भुवनेश्वर प्रसाद सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। धर्मप्रकाश आनन्द और गणेशप्रसाद द्विवेदी भी लगभग इसी श्रेणी में हैं। द्विवेदीजी में यह शैली मँज-पचकर सामने आई है।

३. तृतीय श्रेणी में वे एकांकीकार आते हैं, जिन्होंने पाश्चात्त्य शिल्प-विधान और विचारधारा को पूरी तरह पचाकर भारतीय जीवन और समाज को एक नये ढंग से प्रस्तुत किया। उनके एकांकियों का शिल्प-विधान पाश्चात्त्य है, फिर भी उनके विचार, दर्शन, तर्क आदि मौलिक हैं। उनकी शैली पर पाश्चात्त्य प्रभाव है परन्तु विचार आदि भारतीय हैं. शैली आदि केवल पोशाक का काम करती है। इस वर्ग के नेता डॉ० रामकुमार वर्मा हैं। इस वर्ग में अन्य कई श्रेष्ठ एकांकीकार हैं, जैसे सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा आदि। इस वर्ग ने हिन्दी-एकांकी के विकास में बहुमूल्य योगदान किया है और शिल्प-विधान की दृष्टि से हिन्दी-एकांकी को बहुत आगे बढ़ाया है।

आधुनिक अवस्था (सन् १९३८ से १९४७ ई० तक) : नवीन एकांकियों का मुख्य स्वर यथार्थवाद है। समाज अपनी अनेक कुरीतियों तथा विषमताओं के साथ यथार्थ रूप से चित्रित किया गया है। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का चित्रण यथार्थवादी ढंग से हुआ है। झूठी कल्पना, अस्वाभाविक भावावेश या अतिरंजना का बहिष्कार करके यथार्थवादियों ने समाज का नग्न चित्रण किया। आज के एकांकीकार वर्त्तमान संघर्ष तथा उत्पीड़न के चित्रण में कोरी कल्पना या निरा आदर्शवाद अनावश्यक समझते हैं। कथानक के सम्बन्ध में भी पुरानी मान्यताएँ धराशायी हो चुकी हैं। आज का एकांकीकार समझता है कि सफल एकांकी छोटा होते हुए भी पूर्ण हो। वह पात्रों की संख्या कम ही रखता है। आधुनिक एकांकियों का संविधान रंगमंचीय है। इनकी भाषा सरल, स्वाभाविक तथा प्रवाहमयी है। स्वगत कथन का प्रयोग छोड़ दिया गया है। रंगमंच-निर्देश अत्यन्त व्यापक और विस्तृत दिये जाते हैं। इनकी सहायता से रंगमंच की सारी व्यवस्था, परिस्थिति तथा पात्रों की रूप-कल्पना तक स्पष्ट कर दी जाती है।

इस नये युग के नेता सर्वश्री विष्णु प्रभाकर और सत्येन्द्र शरत् हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमनारायण टण्डन, प्रभाकर माचवे, जयनारायण नलिन, विश्वम्भर मानव, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, जगदीशचन्द्र माथुर, आरसीप्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, डॉ० सुधीन्द्र, प्रो० इन्दुशेखर, हंसकुमार तिवारी, अनिलकुमार, भारतभूषण अग्रवाल, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, राजीव सक्सेना, विनोद रस्तोगी, राजेन्द्रकुमार शर्मा आदि हिन्दी-एकांकी को समृद्ध कर रहे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में एकांकी : स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी-एकांकी नाटकों में बहुत विकास हुआ है। वस्तुतः, संख्या की दृष्टि से इस अवधि में जितने एकांकी नाटकों की रचना हुई, उतने बड़े नाटकों की नहीं हो सकी है। एकांकी को विकास की प्रेरणा कई दिशाओं से प्राप्त हुई ;

१. इस व्यस्त युग में लघु नाटकों के लिए उर्वर भूमि मिली है;

२. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में नई जागृति हुई है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए एकांकी बड़ा अच्छा साधन सिद्ध हुआ है;

३. अनेक प्रकार के नाट्य-समारोहों में जो प्रतियोगिताएँ होती हैं, उनसे एकांकी-लेखन को काफी प्रोत्साहन मिला है;

४. आकाशवाणी के केन्द्रों के विस्तार का भी स्वस्थ प्रभाव अत्याधुनिक हिन्दी-एकांकी पर पड़ा है। ठीक है कि रेडियो-नाटक रंगमंचीय नाटक से भिन्न होता है, परन्तु हिन्दी में प्रसारण के पश्चात् रेडियो-नाटक दृश्य-संकेतों के साथ इस प्रकार प्रकाशित किये गये हैं कि वे रंगमंचीय नाटक से भिन्न नहीं प्रतीत होते।

सत्येन्द्र शरत्, लक्ष्मीनारायण लाल आदि एकांकीकारों की रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंच के प्रति सजगता के कारण एकांकी के शिल्प को विकास मिला है। "नये एकांकी की प्रवृत्ति कथानक के विस्तार की ओर नहीं, सघनता की ओर है, जीवन के मार्मिक क्षणों को चित्रित करने की ओर है, चरित्र के आकर्षक पहलुओं को प्रस्तुत करने की ओर है, अन्वितियों के निर्वाह की ओर है, अभिनेयता और प्रदर्शन की ओर तो है ही।"[1]

इस युग में एकांकियों पर रेडियो का गहरा प्रभाव पड़ा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद रेडियो के अधिकारियों का ध्यान एकांकी की ओर गया। इस युग के एकांकियों में पूर्ववर्ती एकांकियों में प्राप्य तत्त्व तो है ही, रेडियो पर प्रसारित होनेवाले एकांकियों में कुछ नये तत्त्व भी आ गये हैं। उनमें कभी-कभी सूत्रधार या नैरेटर की भी आवश्यकता पड़ जाती है। रंगमंचीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पृष्ठभूमि, संगीत और ग्रामोफोन-रिकार्डों का भी सहारा लिया जाता है। पात्र भी कम ही रखे जाते हैं। पुराने और नये लगभग सभी एकांकीकार रेडियो के लिए एकांकी लिख रहे हैं।

हिन्दी-एकांकी-साहित्य आज अत्यन्त प्रौढ़ अवस्था में है। इसका भविष्य और भी उज्ज्वल है।

स्वोक्ति-नाटक

सेठ गोविन्ददास : संस्कृत और अँगरेजी में एकपात्रीय नाटक (**Mono-drama**) काफी संख्या में लिखे गये हैं। संस्कृत-नाट्यशास्त्र में भाण इसी शैली का रूपक होता है। भारतेन्दुजी का 'विषस्य विषमौषधम्' इसी शैली पर लिखा गया है। इधर हिन्दी में और भी स्वोक्ति-नाटकों की रचना हुई है। सेठ गोविन्ददास इस क्षेत्र में अग्रणी हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'चतुष्पथ' में ऐसे चार नाटकों का संग्रह किया है,

---

१. **डॉ० सिद्धनाथ कुमार (आलोचना–स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य-विशेषांक, अप्रैल, १९६६ ई०)**

जिनके शीर्षक हैं---'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा 'सच्चा जीवन'। इन चारों नाटकों में चार विभिन्न पथों का अनुसरण किया गया है, जो अन्त में एक ही में मिल जाते हैं।

'प्रलय और सृष्टि' सम्पूर्ण नाटक में एक ही पात्र एक कमरे में एक समय बैठा हुआ भिन्न-भिन्न खिड़कियों से बाह्य प्रकृति को देखकर अपने मन में उठनेवाले विभिन्न उद्गार व्यक्त करता जाता है। पात्र अधेड़ अवस्था का एक व्यक्ति है, जो अपने रंग-बिरंगे चश्मों, नोटबुक, कलम, लाइट हाउस-टावर, घण्टा, बिजली, बादल और पृथ्वी को देखकर अपने उद्गार व्यक्त करता है। जब वह एक विचार-शृंखला में रहता है तो नेपथ्य में कोई ध्वनि सुनता है और उसका ध्यान दूसरी ओर चला जाता है। यही सिलसिला चलता रहता है।

'अलबेला' नाटक में एक व्यक्ति अपने घोड़े से ही अपने उद्गार प्रकट करता है।

'शाप और वर' के दो भाग हैं। एक भाग में एक सम्पन्न पुरुष की उपेक्षिता स्त्री प्रसूति-गृह में मृत्यु के समय अपने उद्गार प्रकट करती है, जिसमें वह उसे शाप देती है। दूसरे भाग में एक निर्धन किसान की स्त्री अपनी मृत्यु के समय अपने पति से दूसरा विवाह कर लेने के लिए वर माँगती है।

'सच्चा जीवन' नाटक में खादी का कुर्त्ता पहने एक व्यक्ति इस समस्या का हल निकालने में लगा है कि सच्चा जीवन क्या है? बहुत तर्क-वितर्क करने के बाद वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि "सूर्य का जीवन ही सच्चा जीवन है।....काले-काले बादल उसे आच्छादित कर लेते हैं, पर वह विघ्न-बाधाओं की परवाह नहीं करता। सबकी सेवा करता है........मैं भी........मैं भी....।"[1]

नाट्य-शैली : सेठजी ने 'चतुष्पथ' की भूमिका में स्वीकार किया है कि ये मोनोड्रामा ब्राउनिंग, स्ट्रिण्डबर्ग तथा ओनील जैसे नाटककारों के प्रभाव के कारण लिखे गये हैं। किन्तु, हमें देखना है कि भारत में ऐसे नाटक रचे गये थे या नहीं। सेठजी ने 'सच्चा जीवन' नाटक में संस्कृत-भाण की शैली का अनुसरण किया है, जिसमें एकाकी पात्र आकाश-भाषित का प्रयोग करता है और पूछता है---किं ब्रवीसि? (क्या कहते हो?) स्पष्टतः इस प्रकार के रूपक संस्कृत-साहित्य में विद्यमान हैं। हिन्दी में भी भारतेन्दुजी ने 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण की रचना की थी। सेठजी के शेष तीन नाटकों में एक पात्र आदि से अन्त तक बोलता है और सामने उपस्थित दूसरा पात्र चुपचाप सुनता रहता है। वह अनुभावों के द्वारा अपना भाव प्रकट करता चलता है। दूसरे पात्र के सर्वथा और सर्वदा मौन रहने का कारण सेठजी ने उस पात्र की अत्यधिक भावुकता ही बताया है। प्रत्येक मोनोड्रामा में एक दृश्य है और

---

१. चतुष्पथ : सेठ गोविन्ददास (सच्चा जीवन), पृ० ८१

एक स्थान पर ही अभिनय सम्पन्न हो जाता है। केवल अभिनयकर्त्ता बोलता है, अन्य व्यक्ति के वार्त्तालाप का इसमें कोई स्थान नहीं है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सेठ गोविन्ददास ने उपर्युक्त चार नाटकों की रचना पाश्चात्त्य मोनोड्रामा से प्रभावित होकर की है। परन्तु, यह समझना ठीक नहीं होगा कि भारतवर्ष में पहले ऐसा कोई रूपक नहीं होता था। वस्तुतः, सेठजी पाश्चात्त्य नाट्यकला से पूर्णतः प्रभावित हैं और उसी प्रेरणा तथा प्रभाव से उन्होंने अपने नाटकों की रचना की है। परन्तु, उन्होंने पाश्चात्त्य नाट्यकला का अन्धानुकरण नहीं किया है, प्रत्युत अपनी प्रतिभा का पूर्ण योग दिया है।

रामवृक्ष बेनीपुरी : रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी 'सीता की माँ' नामक स्वोक्ति-रूपक लिखा है। इस रूपक में एक ही पात्र द्वारा रामायण की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन कर दिया गया है। नाटक में पाँच दृश्य हैं। सीता की माता सीता की उत्पत्ति से लेकर पृथ्वी में उसके लुप्त होने तक की कथा कह जाती है। इस नाटक का शिल्प-विधान सेठजी के स्वोक्ति-रूपकों से भिन्न है। इसमें नाटककार ने दृश्य-विधान इस प्रकार किया है कि पर्दे पर बने चित्र से घटना-स्थल का आभास मिल जाय। पर्दे की छाया-मूर्त्तियों में से एक स्त्री की छाया-मूर्त्ति निकलती है, जो सभी घटनाओं का वर्णन करती है। बेनीपुरीजी ने रामायण की सम्पूर्ण कथा को पाँच दृश्यों में बाँट दिया है : १. सीतामढ़ी के निकट अटवी, २. जनकपुर की पुष्पवाटिका, ३. चित्रकूट का पहाड़ी अंचल, ४. लंका की अशोक-वाटिका और ५. अयोध्या का प्रान्तर।

स्वोक्ति या एकपात्रीय नाटक की परम्परा : भाण-रूपकों में भी एक ही पात्र सम्पूर्ण नाटक का अभिनय करता है। इस प्रकार, सेठजी के स्वोक्ति-नाटक भाण की परम्परा में ही आते हैं, जिसमें आकाश-भाषित के द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति चलती है। परन्तु, बेनीपुरीजी की शैली नवीन जान पड़ती है। उनके रूपक 'सीता का माँ' में एक ही पात्र अन्य पात्रों के संवाद अभिनय द्वारा इस प्रकार बोलता है, मानो वे पात्र बारी-बारी से बोल रहे हैं। परन्तु, डॉ० दशरथ ओझा का कहना है कि दिल्ली के आसपास 'निहाल दे' नामक जननाटक इसी शैली में खेला जाता है, जिसमें सम्पूर्ण नाटक एक ही पात्र गाता है। अतः, कहा जा सकता है कि बेनीपुरीजी की यह शैली जननाटक के रूप में उत्तरी भारत में शतियों से विद्यमान थी। फिर भी, साहित्यिक नाटक में इसका प्रयोग करने का बेनीपुरीजी का प्रयास सर्वथा सफल तथा प्रशंसनीय है। इस शैली का प्रथम प्रयोग करने का श्रेय बेनीपुरीजी को ही है।

रेडियो-नाटक

आधुनिक युग में नाटक के विकास में रेडियो का बहुत बड़ा हाथ है। आकाशवाणी के प्रत्येक केन्द्र से रेडियो-नाटकों का प्रसारण नियमतः होता है। बहुत-से नाटककार रेडियो के लिए नाटक लिख रहे हैं। रेडियो-नाटक हिन्दी-साहित्य की

नवीनतम विधाओं में है। प्राचीन नाट्याचार्यों ने रूपक या नाटक को दृश्य काव्य कहा था, परन्तु विज्ञान के इस आविष्कार ने दृश्य काव्य को श्रव्य काव्य में परिणत कर दिया है। जो नाटक रंगमंच पर अभिनय के द्वारा दिखाया जाता है, वह आज रेडियो के स्टूडियो से प्रसारित किया जाता है और हजारों व्यक्ति अपने घर में बैठे उन्हें श्रवणेन्द्रिय के सहारे ही देखा करते हैं। पहले सामाजिक नाटक के पास जाते थे। आज स्वयं नाटक उनके पास पहुँचता है। आज दर्शक मात्र श्रोता हो गया है और रेडियो-सम्पन्न प्रत्येक घर नाटक का प्रेक्षागृह।[1]

रंगमंचीय नाटक और रेडियो-नाटक : माध्यम और साधनों में परिवर्त्तन हो जाने के कारण नाटक के शिल्प-विधान में भी बहुत परिवर्त्तन हो गया है। रंगमंच के नाटक और रेडियो-नाटक में यदि तुलना की जाय, तो स्पष्टतः कई प्रकार का अन्तर दिखाई देगा। पहले तो दिखाई देगा कि रेडियो-नाटक की अपेक्षा रंगमंचीय नाटक को कई सुविधाएँ हैं :

१. रंगमंच का नाटक एक साथ ही दृश्य भी है और श्रव्य भी, परन्तु रेडियो-नाटक केवल श्रव्य है।

२. रंगमंचीय नाटक आंगिक अभिनय की भी कला है और वाचिक अभिनय की भी। वाद्य का भी समावेश करके वह अधिक सरस बनाया जा सकता है।

३. रंगमंचीय नाटक में वातावरण तथा परिस्थिति की सूचना देनेवाले दृश्य साधन होते हैं, पात्रों के व्यक्तित्व का संकेत देनेवाले परिधान, अलंकरण आदि उपलब्ध होते हैं; परन्तु रेडियो-नाटक में वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं।

४. रंगमंचीय नाटक में यदि कई पात्र एक साथ ही रंगमंच पर उपस्थित हो जायँ, तो उन पात्रों तथा उनके क्रिया-कलाप का परिचय देने में कोई असुविधा नहीं होती, परन्तु रेडियो-नाटक में यह सदा ध्यान में रखना होता है कि श्रोताओं को पात्रों का परिचय मिलने में कोई कठिनाई नहीं हो।

स्पष्टतः रेडियो-नाटक में कई प्रकार की असुविधाएँ हैं, परन्तु यदि थोड़ा अधिक ध्यान दिया जाय तो विदित हो जायगा कि उसमें भी कई सुविधाएँ हैं, जो रंगमंचीय नाटक में नहीं हैं :

१. रंगमंचीय नाटक में कार्य या व्यापार, स्थान तथा काल की अन्वितियों का बन्धन किसी-न-किसी रूप में रहता है, परन्तु रेडियो-नाटक में ऐसा कोई बन्धन नहीं। रेडियो-नाटक की घटनाएँ कालान्विति का अतिक्रमण करके वैदिक काल से इस आणविक युग तक और स्थानान्विति का अतिक्रमण करके उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव में भ्रमण कर

---

१. सिद्धनाथ कुमार, आलोचना—नाटक-अंक, जुलाई १९५६ ई०

सकती हैं। केवल एक बात का ध्यान रखना होता है कि प्रभावान्विति में बाधा नहीं पड़नी चाहिए।

२. रंगमंचीय नाटक में पात्रों के मन की गहराई में उतरने की उतनी सुविधा नहीं होती, परन्तु रेडियो-नाटक में मनोवैज्ञानिक चित्रण की अनेक सुविधाएँ हैं, जिससे पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

३. रंगमंच की सीमाओं के फलस्वरूप रंगमंचीय नाटक केन्द्रमुखी होकर सघनता की ओर अग्रसर होता है, परन्तु रेडियो-नाटक विस्तार के साथ गहराई में भी प्रवेश कर सकता है। इसमें सामाजिक जीवन के अनेक यथार्थ चित्र भी अंकित हो सकते हैं और अन्तर्द्वन्द्व भी।

४. रंगमंच पर सभी प्रकार के गतिशील दृश्य उपस्थित नहीं किये जा सकते हैं, परन्तु रेडियो-नाटक में इनका संयोजन सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

५. रंगमंच पर सभी प्रकार के दृश्य नहीं दिखाये जा सकते, परन्तु रेडियो-नाटक में समुद्र की ऊँची लहरों में डूबती-उतराती नौका का भी चित्रण हो सकता है और कारखानों में कार्यरत मजदूरों का भी।

६. जो प्रतीकात्मक पात्र और मानवीकृत विचार तथा भाव रंगमंच पर मानव-रूप में अस्वाभाविक लगते थे, वे ही रेडियो पर प्राणवन्त तथा स्वाभाविक लगने लगते हैं। प्रसादजी की 'कामना' तथा पन्तजी की 'ज्योत्स्ना' के प्रतीकात्मक पात्र रेडियो पर जितने स्वाभाविक लगते हैं, उतने रंगमंच पर नहीं।

७. रंगमंच पर स्वगत कथन अस्वाभाविक लगता है, परन्तु रेडियो पर उसमें स्वाभाविकता आ जाती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि दृश्य-साधनों के नहीं रहने के कारण रेडियो-नाटक में जहाँ अनेक प्रकार की असुविधाएँ हैं, वहीं उसमें कई प्रकार की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। सुविधा और असुविधा की दृष्टि से पारस्परिक तुलना के अतिरिक्त रंगमंचीय और रेडियो-नाटक में कुछ मौलिक अन्तर हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है :

१. रंगमंचीय-नाटक के दर्शक समूह में रहते हैं, परन्तु रेडियो-नाटक के श्रोता वैयक्तिक इकाइयों में रहते हैं। वे व्यक्तिगत रूप से छोटे-छोटे समूहों में भी रेडियो-नाटक सुन सकते हैं, परन्तु यह समूह कभी बहुत बड़ा नहीं हो सकता। रेडियो-नाटक के श्रोता की इकाई व्यक्ति ही है।

२. दृश्यता के तत्त्व के अभाव के कारण रेडियो-नाटक वस्तुतः श्रोताओं की कल्पना में ही रहता है। इसके विपरीत रंगमंच पर या चलचित्रों के पर्दे पर नाटक का बाह्य अस्तित्व भी रहता है। इस प्रकार, रंगमंचीय नाटक में कहानी का प्रदर्शन होता है, परन्तु रेडियो-नाटक श्रोताओं को अपनी कल्पना में कहानी रखने को बाध्य करता है।

३. रेडियो-नाटक का श्रोता पुस्तक के सामान्य पाठक (Arm-chair reader) के समान होता है। रंगमंचीय नाटक का दर्शक एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक प्रतिबन्ध में रहता है, परन्तु रेडियो-नाटक के श्रोता पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

४. रंगमंचीय नाटक में व्यापार सीमित क्षेत्र में होते हैं, परन्तु रेडियो-नाटक में ऐसा कोई बन्धन नहीं होता। रेडियो के दृश्य में कुछ व्यय नहीं होता और बहुत सरलता से परिवर्त्तित होता रहता है। रेडियो-नाटककार को इतनी स्वतन्त्रता है कि वह कहानी की आवश्यकता के अनुसार ही दृश्यों का निर्माण कर सकता है।

रेडियो में श्रोता के मस्तिष्क तक पहुँचने के लिए कान ही मार्ग है। रेडियो-नाटक की मुख्य विशेषताएँ हैं—शीघ्र आरम्भ, सरल कथानक और कथावस्तु के तत्त्वों पर अभूतपूर्व एकाग्रचित्तता।

रेडियो-नाटक और एकांकी : कुछ लोग रेडियो-नाटक को एकांकी समझ लेते हैं। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि यह संक्षिप्त होता है और प्रायः १५-२० मिनट में प्रसारित कर दिया जाता है। परन्तु, ऐसा भ्रमवश ही समझा जाता है। वास्तविकता तो यह है कि रेडियो-नाटक में अंक का प्रश्न ही नहीं उठता, इसमें एक दृश्य भी रह सकता है और अनेक दृश्य भी। दृश्य दो पंक्तियों का भी हो सकता है और दो सौ पंक्तियों का भी। इस विषय में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। पाँच अंकवाला नाटक भी रेडियो-नाटक बनाकर प्रसारित किया जा सकता है। स्पष्टतः, रेडियो-नाटक को एकांकी कहना और उसे रेडियो-एकांकी या ध्वनि-एकांकी कहना ठीक नहीं।

वस्तुतः, रेडियो विज्ञान का नया आविष्कार है, रंगमंच के समान नाट्य-प्रदर्शन का कोई प्राचीन माध्यम नहीं, जिसकी अपनी कोई परम्परा हो। अमेरिका और यूरोप के कई देशों में रेडियो की नाट्यकला विकसित हुई है, उसके अनुभवों के आधार पर रेडियो-नाटक के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये जा सकते हैं। पश्चिम में इस कला का विकास पहले हुआ और वहाँ इस विषय में कुछ नियम बनाये जा चुके हैं। भारत में भी थोड़े दिनों में ही रेडियो-नाटक का काफी विकास हुआ है, जिसके आधार पर यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि रेडियो-नाटक और एकांकी में काफी अन्तर है।

ध्वनि का प्रयोजन : रेडियो-नाटक पूर्णतः श्रव्य होने के कारण ध्वनि ही उसका आधार है। रेडियो-नाटक में ध्वनि का उपयोग तीन रूपों में होता है—भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत। भाषा का वही रूप रेडियो-नाटक के काम में आता है, जो बोलने और सुनने के काम में लाया जाता है, पढ़ने-लिखनेवाला स्वरूप नहीं। भाषा का यही स्वरूप रेडियो-नाटक का वास्तविक आधार है। रंगमंचीय नाटकों का भी आधार भाषा ही है, परन्तु उसमें आंगिक अभिनय से भी भावाभिव्यक्ति में सहायता मिलती है, अतः उसमें यदि अपेक्षाकृत दुर्बल कथोपकथन भी रहा, तो किसी प्रकार काम चल जा सकता है। परन्तु, रेडियो-नाटक में तो कथोपकथन पर ही पूरा बल दिया जाता है।

ध्वनि-प्रभाव का अभिप्राय उन सभी ध्वनियों से है, जिनका उपयोग नाटक के प्रसारण के समय किया जाता है। नाटक-प्रसारण के समय कभी रेलगाड़ी के दौड़ने की ध्वनि, कभी टेलीफोन की घण्टी, कभी तूफान का भीषण चीत्कार, कभी रथ की घड़घड़ाहट की ध्वनि का व्यवहार किया जाता है। ध्वनि-प्रभाव और संगीत की आवश्यकता कई बातों के लिए होती है। कभी-कभी पात्रों के विभिन्न व्यापारों की पृष्ठभूमि तथा वातावरण के निर्माण के लिए इनका उपयोग होता है, तो कभी भाव की अभिव्यक्ति के लिए, कभी दृश्य में परिवर्त्तन सूचित करने के लिए होता है, तो कभी देश-काल का परिचय देने के लिए। रेडियो-नाटक का लेखक नाटक लिखते समय सदा उस नाटक के प्रसारित रूप की कल्पना करता रहता है। रंगमंच का नाटक-लेखक नाटक लिखते समय रंगमंच की सीमाओं तथा सुविधाओं को ध्यान में रखकर नाटक की रचना करता है, उसी प्रकार रेडियो-नाटक का लेखक भी रेडियो की सीमाओं और सुविधाओं पर दृष्टि रखता है।

रेडियो-नाटक का शिल्प : डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार हिन्दी का प्रथम रेडियो-नाटक 'राधा कृष्ण' है। इसकी रचना के लिए रेडियो के स्टेशन-डाइरेक्टर, नाटककार और कई दूसरे कलाकारों की समिति संघटित की गई थी। उसके बाद आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से अनेक रेडियो-नाटक समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं। वे नाटक भी बहुत-कुछ रंगमंच के ही नाटक थे। तीन-तीन घण्टे तक उनका प्रसारण होता था और उनमें रंगमंच के सभी ढंग अपनाये जाते थे। जिस प्रकार रंगमंच के नाटकों और फिल्मों में मध्यान्तर होता है, उसी प्रकार उन पुराने रेडियो-नाटकों में भी होता था। नैरेटर दृश्य-संकेतों को पढ़ दिया करता था। कथानक में भी ढीलापन होता था। संवादों में पारसी रंगमंच की शैली का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता था।

इसका फल यह हुआ कि रेडियो के स्टूडियो में भी रंगमंच की कला का प्रवेश हो गया और रेडियो के नाटककार तथा अभिनेता को उससे मुक्ति सहज ही नहीं मिल सकी। बहुत दिनों तक रेडियो-नाटककार रंगमंच की कला से रेडियो की कला में कोई अन्तर ही नहीं समझ सके। रंगमंच के साथ ही एकांकी नाटकों ने भी रेडियो-नाटकों के विकास को प्रभावित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश नाटककारों ने ऐसे ही नाटकों की रचना की, जो यद्यपि रंगमंच के लिए लिखे गये थे, परन्तु वे सरलता से रेडियो पर भी प्रसारित किये जा सकते थे। केवल रेडियो को ध्यान में रखकर बहुत कम ही नाट्य-कृतियों की रचना हुई। फलतः, यद्यपि अधिकांश नाटक रेडियो से प्रसारित हो जायँ, फिर भी उन्हें शिल्प की दृष्टि से सफल रेडियो-नाटक कहने में हिचक होती है।

सफल रेडियो-नाटक के लिए निम्नलिखित तत्त्वों की आवश्यकता है—(क) संश्लिष्ट तथा सुगठित कथानक, (ख) मूल समस्या या घटना या केन्द्र-बिन्दु, (ग) आरम्भ से अन्त तक द्वन्द्वात्मक स्थिति और (घ) उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में लिखे हुए सशक्त छोटे-छोटे

संवाद। परन्तु, रेडियो-नाटक के नाम पर जो नाट्य-कृतियाँ लिखी जा रही हैं, उनमें इन तत्त्वों का अभाव ही रहता है। उनमें कोई द्वन्द्व-रहित या संघर्षविहीन और शृंखलाहीन कहानी कथोपकथन के रूप में कह दी जाती है।

इन अधिकांश असफल नाट्य-कृतियों के साथ ऐसे अनेक नाटक लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं, जो रंगमंच के होकर भी रेडियो से समान सफलतापूर्वक प्रसारित किये जा रहे हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर आदि के नाम इन सफल नाटककारों में ले सकते हैं। इनकी सफलता का कारण मुख्यतः इनका काव्यात्मक दृष्टिकोण है। वस्तुतः, रेडियो-नाटककार के लिए कवि का दृष्टिकोणवाला नाटककार जीवन की गहराई में उतरता है, उसके विस्तार में जाने की चिन्ता नहीं करता, घटनाओं के विस्तार में नहीं जाकर अपने नाटक के लिए जीवन की किसी एक मार्मिक घटना को आधार बनाता है। नाटककार के इस काव्यात्मक दृष्टिकोण से उसका शिल्प-विधान स्पष्ट रूप से प्रभावित होता है। काव्यात्मक दृष्टिकोण एक निश्चित दिशा में अग्रसर होता है, जिसका फल होता है कि नाटककार एक सुसंगठित तथा संश्लिष्ट नाटक की रचना करने में सफल होता है। जो सफल रंगमंचीय नाटक होते हैं, उनमें भी यह काव्यात्मक दृष्टिकोण आवश्यक होता है। इसीलिए, जो रंगमंचीय नाटक इस दृष्टिकोण से लिखे गये, रेडियो से उनका प्रसारण बड़ी सरलता से, थोड़े परिवर्त्तन के बाद, किया जा सका है।

रंगमंचवाले नाटक तो रेडियो पर प्रसारित होते ही रहे हैं, विशुद्ध रेडियो के लिए भी कई नाटककारों ने नाटक लिखे हैं। इस दिशा में कई नाटककार अग्रसर हुए हैं, रेडियो के नवीन माध्यम ने कई प्रतिभा-सम्पन्न नाटककारों को आकृष्ट किया है। विष्णु प्रभाकर के समान आज कई नाटककार स्पष्ट रूप से कह सकते हैं—'सच तो यह है कि अभीतक मैंने रेडियो के लिए ही लिखा है।' रेडियो के निकट-सम्पर्क में रहने के कारण ऐसे लेखक प्रसारण की दृष्टि से अधिक सफल नाटक लिखने में समर्थ हो सके हैं। ऐसे नाटककारों में प्रमुख हैं—विष्णु प्रभाकर, रेवतीशरण शर्मा, सआदत हसन मण्टो, अमृतलाल नागर, हरिश्चन्द्र खन्ना आदि। डॉ० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर आदि ने भी रेडियो के लिए कई नाटक लिखे। डॉ० वर्मा के 'तैमूर की हार', 'स्वर्णश्री', 'दुर्गावती' आदि; अश्कजी के 'शिकारी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'छठा बेटा', 'अंजो दीदी' आदि; विष्णु प्रभाकर के 'जहाँ दया पाप है', 'उपचेतना का छल', 'क्या वह दोषी था ?'; रेवतीशरण शर्मा का 'अँधेरा-उजाला', 'दुश्मन' आदि सफल नाटक हैं।

उदयकाल और अत्याधुनिक काल के रेडियो-नाटक : जिन नाटककारों के नाटक रेडियो से समय-समय पर प्रसारित होते हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं : लक्ष्मीनारायण लाल, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', रामचन्द्र तिवारी, **राधाकृष्ण,**

राधाकृष्ण प्रसाद, विश्वम्भर मानव, धर्मवीर भारती, देवेन्द्रनाथ शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, रामवृक्ष बेनीपुरी, सिद्धनाथ कुमार, हंसकुमार तिवारी, प्रभाकर माचवे, जयनाथ नलिन, सत्येन्द्र शरत्, शिवसागर मिश्र, विनोद रस्तोगी आदि। इनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-रेडियो-नाटक के उदयकाल में लिखित नाटकों से आज के रेडियो-नाटकों में शिल्प की दृष्टि से कितना अन्तर आ गया है। रेडियो-नाटक के आरम्भिक काल में जो नाटक लिखे गये, उनमें रंगमंच का प्रभाव बहुत अधिक था, घटनाओं की प्रधानता थी और शैली में अतिरंजना होती थी। साथ ही, उन नाटकों में अलौकिकता, आकस्मिकता और संयोग को ही प्रमुख स्थान मिलता था। परन्तु, आज के रेडियो-नाटकों में इन त्रुटियों की बहुत कमी आ गई है। परन्तु, ऐसा भी कहना सत्य की उपेक्षा करना होगा कि अत्याधुनिक नाटकों में इन त्रुटियों का सर्वथा अभाव हो गया है। इतना तो कहा ही जा सकता है कि आज के रेडियो-नाटकों की प्रकृति अवश्य ही सरल, बोधगम्य घटना-क्रम की ओर है। उनमें कार्य-कारण से बँधे हुए घटना-क्रम दिखाये जाते हैं। एक विशेष बात यह है कि आरम्भिक नाटककारों को ध्वनि-प्रभाव जैसी एक नवीन वस्तु मिली थी, जिसका उपयोग वे अत्यधिक मात्रा में करते थे, परन्तु वह जोश अब कम हो गया है और इसका उपयोग आवश्यकता के अनुसार ही किया जाता है।

विषयवस्तु में अन्तर : यदि विषयवस्तु को ध्यान में रखकर तुलना करें, तो भी उदयकालीन हिन्दी-रेडियो-नाटकों से आज के रेडियो-नाटकों में अन्तर आ गया है। निम्नलिखित अन्तर पर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है :

१. स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व रेडियो से प्रसारित नाटकों में बहुत अधिक संख्या ऐतिहासिक और रोमाण्टिक नाटकों की थी। घटना-वैचित्र्य से श्रोताओं को चमत्कृत कर देना ही उनका उद्देश्य था; मनोरंजन उनका प्रधान तत्त्व रहता था। मनोरंजन तो रेडियो-नाटक का आवश्यक अंग है ही और सदा रहेगा भी, अन्तर यही है कि पहले के नाटकों में इसे प्रधानता दी जाती थी, किन्तु आजकल नहीं दी जाती। आज भी मनोरंजन-प्रधान नाटकों का प्रसारण किया जाता है। अमृतलाल नागर, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' आदि के नाटक इस कोटि में रखे जा सकते हैं।

२. आरम्भिक काल में ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथानक भी केवल कथा कहने के उद्देश्य से लिये जाते थे, परन्तु आज जीवन की विभिन्न समस्याओं को लेकर यथार्थवादी नाटकों की रचना हो रही है।

३. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर देश में नवजागरण हुआ, इससे भी रेडियो-नाटक प्रभावित हुआ। लेखकों की निजी दृष्टि के अतिरिक्त राष्ट्रीय सरकार ने समय-समय पर नवीन सामाजिक समस्याओं को लेकर नये-नये नाटक लिखवाये और रेडियो से प्रसारित कराये।

४. अभी जो ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथानकों के आधार पर नाटक लिखे जाते हैं, उनमें युग-भावना के अनुकूल प्राचीन कथाओं की व्यवस्था की जाती है।

५. आजकल कथा-साहित्य में स्थूलता से हटकर सूक्ष्मता को महत्त्व दिया जाता है। यह प्रवृत्ति रेडियो-नाटकों की कथावस्तु में भी दिखाई दे रही है। इसका दूसरा कारण यह है कि रेडियो के माइक्रोफोन का माध्यम स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को या घटना की अपेक्षा भाव तथा वातावरण को अधिक सफलता से प्रेषित कर सकता है। फलस्वरूप आज अनेक नाटककार घटनाओं की अपेक्षा मन की गुत्थियों को सुलझाने का ही अधिक प्रयास करते हैं। उदाहरण-स्वरूप विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क, हरिश्चन्द्र खन्ना आदि के मनोवैज्ञानिक नाटक उपस्थित किये जा सकते हैं।

रेडियो-नाटकों में हास्य को भी स्थान देने का प्रयास हो रहा है। हमारे साहित्य में शिष्ट हास्य का अभाव ही है, रेडियो में भी इसे उचित स्थान अभी नहीं मिल सका है। परन्तु, इस दिशा में जो प्रयास हो रहे हैं, वे आशाप्रद तथा प्रशंसनीय हैं। हास्य और व्यंग्य के लेखकों में प्रभाकर माचवे, अश्क, चिरंजीत आदि के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। हास्य-प्रधान नाटकों के अतिरिक्त झलकियाँ, लहर, इन्द्रधनुष आदि नामों से छोटी-छोटी नाट्य-कृतियों का भी संकलन प्रसारित किया जाता है। ऐसे लेखकों में चिरंजीत, मदनमोहन खन्ना आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

रेडियो सरकारी नियन्त्रण में है, अतः उसपर राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक विषयों का प्रसारण नहीं हो सकता। इस अच्छाई के साथ बुराई यह हो जाती है कि उसमें युग का स्वाधीन चिन्तन अभिव्यक्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप साहित्य की अन्य विधाओं में युग-जीवन की जो विविधता दिखाई देती है, रेडियो-नाटक में उसका अभाव है, जो खटकनेवाली बात है।

रेडियो-नाट्य के भेद : रेडियो-नाटक हमारे देश में पश्चिम से आया। पाश्चात्त्य देशों में तो इसका काफी विकास हो चुका है और इसकी नाट्यकला का निर्धारण किया जा चुका है। हमारे देश में भी विगत वर्षों में बहुत रेडियो-नाटकों की रचना हुई है और इसकी कला के निर्धारण के प्रयत्न हो रहे हैं। अभी रेडियो-नाटक का विवेचन हुआ है। रेडियो-नाटक के अतिरिक्त रेडियो-नाट्य के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं :

१. ध्वनि-गीतिरूपक या काव्य-नाटक : काव्य-नाटक या गीति-रूपक को भी रेडियो से बहुत प्रेरणा मिली है। रंगमंच पर प्रदर्शित होनेवाले गीति-रूपक भले ही अस्वाभाविक लगें, परन्तु रेडियो पर उनका प्रसारण अस्वाभाविक नहीं लगता। आजकल अनेक कवि रेडियो के लिए गीति-नाटक लिखने में संलग्न हैं। सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, गिरिजाकुमार माथुर, भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, सिद्धनाथ कुमार, नरेशकुमार मेहता आदि कवियों ने अनेक गीति-नाटकों की रचना की है। किन्तु,

अधिकांश गीति-नाटकों में काव्यत्व की ही प्रधानता है, उनमें नाटकत्व का अभाव ही है। नाटकत्व के अभाव के अतिरिक्त उनमें निम्नलिखित अन्य त्रुटियाँ भी दिखाई देती हैं : (क) सुसंगठित कथानक तथा केन्द्रीय भाव का अभाव, (ख) विचारों की पुनरुक्ति, (ग) लम्बे-लम्बे संवाद जो उबा देनेवाले होते हैं, (घ) कठिन भाषा का प्रयोग।

परन्तु, आशा है कि समय बीतने के साथ लेखक इन त्रुटियों को दूर करते रहेंगे, और रेडियो-गीतिरूपक के साहित्य को सम्पन्न बनाने में समर्थ होंगे। रेडियो-गीतिरूपक के उदाहरण पन्तजी का 'शिल्पी', भगवतीचरण वर्मा का 'कर्ण' आदि हैं।

२. **संगीत-रूपक** : रेडियो से संगीत-रूपक को भी काफी प्रेरणा मिली है। पर्व, ऋतु आदि से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक संगीत-रूपक रेडियो से समय-समय पर प्रसारित किये जाते हैं। वे रूपक अपने छोटे-छोटे गीतों के कारण बहुत मनोरंजक होते हैं। परन्तु, इनमें से अधिकांश में यह त्रुटि है कि ये श्रोताओं पर कोई निश्चित प्रभाव डालने में असमर्थ होते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि इनमें किसी केन्द्रीय भाव या विचार का अभाव रहता है।

३. **स्वगत नाट्य या एकालाप** : स्वगत नाट्य या मोनोलॉग की ओर आधुनिक लेखकों का ध्यान पर्याप्त रूप से नहीं गया। नाटक में कम-से-कम दो पात्र रहते हैं, परन्तु स्वगत नाट्य में एक ही पात्र सारी बातें कहता है। परन्तु, इसमें दो भावनाओं से द्वन्द्व का चित्रण किया जाता है। रेडियो-स्वोक्ति में कथानक का सुसम्बद्ध होना आवश्यक है, किन्तु रंगमंचीय स्वोक्ति में कथानक का सुसम्बद्ध होना उतना आवश्यक नहीं। हिन्दी में रेडियो-स्वगत नाट्य बहुत थोड़े ही लिखे गये हैं। विष्णु प्रभाकर के तीन स्वगत नाट्य 'सड़क', 'धुँआ' और 'नहीं, नहीं, नहीं' अच्छे बन पड़े हैं। इस दिशा में कर्तार सिंह दुग्गल, भृंग तुपकरी आदि ने भी अच्छा प्रयास किया है

४. **अतिकल्पना (फँटेसी)** : फँटेसी को उदयशंकर भट्ट ऋतु-सम्बन्धी नाटक मानते हैं और विष्णु प्रभाकर भाव-नाट्य कहते हैं। दूसरे लोग इसे अतिकल्पना नाम देना अच्छा समझते हैं। वस्तुतः, यह कल्पना-प्रधान रचना होती है, जो वास्तविकता की धरती पर खड़ी रहती है। रेडियो पर इसका प्रसारण बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से हो सकता है। रेडियो पर ही यह रचना बहुत आकर्षक बन जाती है, रंगमंच पर इसका अभिनय न तो सम्भव ही होता है और न स्वाभाविक ही। परन्तु, हिन्दी में इस प्रकार के रेडियो-नाटक की ओर बहुत कम ही लेखकों का ध्यान गया है। गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, रामचन्द्र तिवारी, सिद्धनाथ कुमार आदि लेखकों ने कुछ उत्कृष्ट अतिकल्पनाओं की रचना की है।

५. **रेडियो-रूपक या फीचर** : रेडियो-नाट्य के उपर्युक्त प्रकार साहित्य में पहले से विद्यमान विधाओं के रेडियो-रूप ही हैं। साहित्य में उपलब्ध विधाओं के रेडियो के नये माध्यम के लिए परिवर्तित रूप हैं। परन्तु, रेडियो-रूपक या फीचर रेडियो की विशेष

देन है। कुछ लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि जिन रेडियो-रूपकों में नैरेटेर या प्रवक्ता होते हैं, वे ही रेडियो-रूपक हैं। किन्तु, वस्तुतः वास्तविकता के प्रस्तुतीकरण में ही रेडियो-रूपक का महत्त्व निहित है। इसमें वास्तविक घटनाओं को कलात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता है। रूपक का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। इसके सहारे किसी देश या भूभाग की सभ्यता-संस्कृति का परिचय दिया जा सकता है, किसी महापुरुष के जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है या किसी आविष्कार, संस्था आदि का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। हिन्दी में रेडियो-रूपक अनेक प्रकार के लिखे गये हैं और उनमें विभिन्न विषयों का समावेश किया गया है। स्वतन्त्रता-दिवस, गणतन्त्र-दिवस, भारतेन्दु-जयन्ती, कालिदास-जयन्ती आदि विशेष अवसरों के लिए रूपकों की रचना तो होती ही है; सर्वोदय, हिमालय, भागीरथी, वन-महोत्सव आदि अनेक प्रसंग रूपक के विषय बने हैं। स्वाधीन भारत के नवजागरण में विभिन्न स्वरूप रेडियो-रूपक के द्वारा श्रोताओं के समक्ष प्रकट हुए हैं।

यदि शिल्प की दृष्टि से विचार किया जाय तो थोड़े ही रूपक सफल सिद्ध होते हैं, अधिकांश की असफलता के मुख्यतः दो कारण हैं——१. लेखक रेडियो-रूपक के शिल्प-विधान से पर्याप्त रूप से परिचित नहीं हैं, २. रूपक के समुचित प्रसारण के लिए रेडियो के सभी केन्द्रों पर आवश्यक व्यवस्था नहीं है।

चलचित्र में फीचर भ्रान्ति तथा पलायन के द्वारा मनोरंजन प्रदान करता है। पत्रकारिता में फीचर का अर्थ समाचार तथा टिप्पणी के अतिरिक्त समस्त सामग्री से लिया जाता है। परन्तु, प्रसारण में इस शब्द का अर्थ कार्यक्रम के विस्तृत क्षेत्र से लिया जाता है, जो विशेषतः तथ्यात्मक तथा डॉकुमेण्टरी रहता है और जिसमें नाटकीयता एवं तथ्य-सम्पादन का विशेष उपयोग किया जाता है।

रेडियो-रूपक अथवा फीचर तभी प्रभावोत्पादक होता है, जब इससे श्रोता कुछ सोचने को बाध्य होता है। इससे मनोरंजन प्राप्त करने का अर्थ तभी होता है, जब यह श्रोताओं का ध्यान केन्द्रीभूत करे ही, परन्तु साथ ही ज्ञानवर्द्धन भी करे। अच्छा रूपक-लेखक इस बात से लाभ उठाता है कि नाटकीकृत वक्तव्य बहुलांश जन-समुदाय के लिए सीधे-सादे वक्तव्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। वह तथ्यों को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रेडियो-रूपक में वार्त्तालाप की आधिकारिकता और नाटकीय वेग का सम्मिश्रण रहना चाहिए।

कई अन्य बातों के अतिरिक्त अच्छे फीचर में विचार तथा अभिव्यक्ति का संगम आवश्यक है। फीचर में एक ही विचार की अभिव्यक्ति रहती है, चाहे उसका शिल्प जो हो। फीचर लिखने में भाषा का बहुत अधिक महत्त्व है। फीचर को मनोरंजक बनाने में अन्तर्वीक्षा (इण्टरव्यू) का बहुत बड़ा हाथ रहता है। किन्तु अन्तर्वीक्षा छोटी होनी चाहिए

और एक ही शैली का बार-बार प्रयोग नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह ऊब पैदा करनेवाली हो जायगी।

लॉरेन्स विलियम के शब्दों में "A radio feature is the most modern of techniques of the most ancient of arts, the art of telling a true story."[1]

अब हमें रेडियो-रूपक के साहित्यिक मूल्यों पर विचार करना चाहिए; क्योंकि रेडियो-नाटक को साहित्य की एक विशेष विधा मानकर उसकी चर्चा की जा रही है। जब हम हिन्दी के लिखित रेडियो-रूपक का साहित्यिक मूल्यांकन करते हैं तो हमें मुख्यतः निराशा ही हाथ लगती है। रेडियो-रूपकों से हमें प्रायः इतिहास और शिक्षा की ही सामग्री अधिक उपलब्ध होती है, मनोरंजकता की मात्रा तो अल्प है और साहित्यिकता तो अल्पतर ही। लिखित रेडियो-रूपक में साहित्यिकता के अभाव का प्रधान कारण यह है कि इसकी सम्भावनाओं की ओर पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं दिया गया है। रूपक का लेखक अपनी सामग्री का संकलन इस प्रकार करता है कि श्रोता उसके प्रभाव से चमत्कृत हो जाय। वस्तुतः वास्तविकताओं पर आधारित रेडियो-रूपक को साहित्यिक कृति बनने में कोई बाधा नहीं।

हिन्दी में प्रकाशित रूप में रेडियो-रूपकों का प्रायः अभाव ही है। 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' डॉ० रामकुमार वर्मा का रेडियो-रूपक उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। इस रूपक में कबीर का सम्पूर्ण जीवन—जन्म से मरण तक—एक ही दृश्य में दिखाया गया है। इसमें कबीर के जन्म के पूर्व ही उनका एक भजन गाया जाता है, जिसे रंगमंचीय नाटक की दृष्टि से बहुत बड़ा दोष माना जायगा। ९५ वर्ष की घटनाएँ रेडियो-रूपक में ही दिखाना सम्भव है। रंगमंच पर तो कबीर के जीवन की कोई एक ही घटना इतनी देर में दिखाई जा सकती थी। इस रूपक में नैरेटर सभी घटनाओं की कड़ी जोड़ता चलता है। अन्य नाट्यकारों ने भी रेडियो-रूपक में उसी पद्धति का अनुकरण किया है। उदयशंकर भट्ट के 'कालिदास' को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस रूपक में कालिदास के सभी ग्रन्थों की रचना के उद्देश्य और प्रेरणा पर प्रकाश डाला गया है।

६. रेडियो-रूपान्तर : रेडियो से मौलिक नाटकों का प्रसारण तो होता ही है, प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण नाटकों, उपन्यासों और कहानियों के रेडियो-रूपान्तर का भी प्रसारण होता रहता है। इन रेडियो-रूपान्तरों का प्रकाशित रूप हम नहीं देखते, परन्तु श्रोताओं के लिए इनका महत्त्व तो है ही। थोड़े समय में बड़ी-बड़ी रचनाओं का रसास्वादन करने का अवसर मिल जाता है। स्वातन्त्र्योत्तर नवजागरण के फलस्वरूप हमारा ध्यान अपने प्राचीन गौरव-ग्रन्थों की ओर गया है, प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की ओर भी गया है। परिणाम-रूप में रेडियो के भिन्न-भिन्न केन्द्रों से संस्कृत, हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं के ग्रन्थों के रेडियो-रूपान्तर प्रायः प्रसारित होते रहते हैं।

---

१. **श्रीरमेशचन्द्र द्वारा उद्धृत**—Studies in Broadcasting; Vol. V-19

अँगरेजी में प्रसिद्ध उपन्यासों का रेडियो-रूपान्तर करने की कला बहुत पहले से है। सर क्विलर काउच ने इस कला का विशेष विकास किया। उन्होंने तीन प्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं का नाटक में रूपान्तर किया। इस शैली में प्रेमचन्द के उपन्यासों का भी रेडियो-रूपान्तर हुआ है।

७. **रिपोर्ताज** : वास्तविकता पर आधारित रिपोर्ताज भी आधुनिक रेडियो-नाट्य-कृति बन गया है। इसका आविष्कार और विकास विगत द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हुआ। युद्ध की भीषण, साथ ही महत्त्वपूर्ण, घटनाओं का समाचार जानने के लिए सारा संसार उत्सुक रहता था। सभी लोग समाचारपत्र और रेडियो की तरफ उत्सुकतापूर्वक उन्मुख रहते थे। युद्ध की घटनाएँ इस प्रकार तीव्र गति से घटित हो रही थीं कि कलाकार उन्हें सुन्दर तथा सुसज्जित शैली में जनता के समक्ष उपस्थित नहीं कर पाते थे। ऐसी असाधारण परिस्थिति में कलाकारों ने एक नवीन पद्धति को जन्म दिया, जिससे घटना, घटनाक्रम के इतिहास, उसके वातावरण, उसमें भाग लेनेवाली शक्तियों की गतिविधि, रीति-नीति पर समुचित रीति से प्रकाश डाल सके। युद्ध के भयानक परिणामों से कोई बच नहीं सकता था, अतः जनता उस संकट की घड़ी में घटनाओं के बाहरी कारणों और रूपों को जानकर भविष्य में होनेवाले उनके परिणामों से अभिज्ञ होने का प्रयास करती थी।

ऐसी परिस्थिति में रिपोर्ताज का आविष्कार हुआ। इसमें कलाकार किसी घटना का इस प्रकार वर्णन करता है; जैसे कोई ऐसा व्यक्ति वर्णन कर रहा हो, जो सम्बद्ध घटना से सीधा सम्बन्ध रखता हो या उसका अंग बन गया हो। वह पाठकों की सहानुभूति का पात्र बनकर उनके हृदयों में रागात्मक अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। यह उसी दशा में सम्भव होता है जब कलाकार विवेक-दृष्टि से या दिव्य चक्षु से युद्ध के विभिन्न दृश्यों तथा भीषणताओं का वर्णन रागात्मक सहानुभूति से करे।

रिपोर्ताज की कला का विकास रूस, अमेरिका आदि देशों में पर्याप्त रूप से हुआ है। भारत में भी स्वतन्त्रता-दिवस, गणतन्त्र-दिवस, क्रिकेट-मैच, किसी विशिष्ट अतिथि आदि का आगमन आदि विविध अवसरों तथा उत्सवों के समय इसी शैली में रेडियो से कार्यक्रम होते हैं। इसमें प्रस्तुत अवसर के वातावरण का समुचित वर्णन किया जाता है, साथ ही प्रसिद्ध व्यक्तियों के भाषण का अंश भी उन्हीं के मुख से सुनवाया जाता है।

यद्यपि रिपोर्ताज का जन्म युद्ध की घटनाओं का वर्णन करने के लिए हुआ, परन्तु पीछे सांस्कृतिक रिपोर्ताज भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। हिन्दी में सबसे पहले रूसी लेखक लियोनिद लियोनोव का रिपोर्ताज 'हंस' के शान्ति-संस्कृति अंक में निकला।[1] तब से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर रिपोर्ताज प्रकाशित

---

१. 'हंस', शान्ति-संस्कृति-अंक, वर्ष २२, अंक ६-७

होते रहते हैं। जब रूस और अमेरिका में इस कला का इतना विकास हो सका है, तो कोई कारण नहीं कि हमारे देश में, और विशेषतः हिन्दी में, इसका समुचित विकास न हो।

८. ध्वनि-नाट्य : वाचिक अभिनय के आधार पर ही ध्वनि-नाट्य की रचना होती है। इसमें कथोपकथन की ही प्रधानता रहती है, इसीलिए इसे कुछ लोग अन्धों का सिनेमा कहते हैं। विष्णु प्रभाकर के 'बीमार' को ध्वनि-नाट्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

९. जन-नाटक : रेडियो से समय-समय पर जन-नाटक भी प्रसारित होते रहते हैं। उनको रेडियो ने काफी प्रोत्साहन दिया है। रास, स्वांग, नौटंकी, डोमकच, निहाल दे आदि ऐसे जन-नाट्य हैं, जिनका प्रसारण प्रायः होता रहता है। जन-नाटक ग्रामीण जनता का मनोरंजन करने के साथ-साथ उसकी बौद्धिक चेतना का विकास भी करता है। देश के संकट-काल में कृष्ण-रास, जैन-रास, रामलीला आदि जन-नाटकों ने इसकी संस्कृति को जीवित रखा। आधुनिक युग में हमारी संस्कृति अपने ही देश की सीमाओं में बद्ध नहीं है, प्रत्युत अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी व्याप्त हो रही है। इसी दशा में दूसरे देशों की भी सांस्कृतिक विशेषताओं को हृदयंगम किया जा सकता है। इस प्रकार, ग्रामीण जनता में राष्ट्रीयता के साथ अन्तरराष्ट्रीय भावना का उद्रेक हो सकता है।

१०. व्यंग्य : रेडियो से व्यंग्य-नाटक भी प्रसारित होते रहते हैं। हास्य और व्यंग्य में कुछ भिन्नता है। हास्य का उद्देश्य केवल विनोद होता है, परन्तु व्यंग्य में वाग्विदग्धता, कटाक्ष तथा वक्रोक्ति के कशाघात के द्वारा सामाजिक कुरीतियों तथा आडम्बरमय विधि-विधानों पर चोट की जाती है। इसमें हास्य से भी विचारों को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता होती है। विष्णु प्रभाकर का 'कांगरेसमैन बनो', अश्क का 'अधिकार का रक्षक' और उदयशंकर भट्ट का 'दस हजार' सफल व्यंग्य-नाटक हैं।

रेडियो-नाटक में विकास का अभाव और उसके कारण : विगत लगभग तीस वर्षों से रेडियो-नाटक लिखे जा रहे हैं और उनका प्रसारण हो रहा है। इतने समय में रेडियो-नाटक में काफी विकास हो जाना चाहिए था, परन्तु उचित मात्रा में विकास नहीं हो सका है। रेडियो-नाट्य-विशेषज्ञों का कहना है कि उन्हें प्रसारण के लिए प्रथम श्रेणी के नाटक नहीं मिलते। भारतवर्ष में रेडियो के बहुत केन्द्र हैं और उनसे प्रति सप्ताह कई नाटक प्रसारित होते हैं। संख्या की दृष्टि से रेडियो-नाटक कम नहीं लिखे जाते, परन्तु गुण की दृष्टि से उनमें प्रथम कोटि के बहुत कम ही होते हैं। इसके निम्नलिखित कारण दिये जा सकते हैं :

१. सफल रेडियो-नाटक लिखने के लिए लेखक को सहज प्रतिभा के साथ शिल्प-विधान के अध्ययन तथा चिन्तन की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु, हिन्दी का रेडियो-

नाटक-लेखक शिल्पगत अध्ययन एवं चिन्तन की ओर ध्यान नहीं देता। फिर, केवल सहज प्रतिभा के ही बल पर सुन्दर नाटक की रचना की आशा कैसे की जाय ?

२. सफल रेडियो-नाटक के अभाव के मूल में रंगमंच की हमारी असंगठित परम्परा भी है। हिन्दी-रंगमंच नहीं रहने के कारण हिन्दी में कुशल नाटककार, कुशल अभिनेता, कुशल निर्देशक तथा कुशल प्रोड्यूसर सभी का अभाव है। कई अच्छे नाटककार भी ऐसे नाटकों की रचना नहीं कर पाते, जिनका अभिनय रंगमंच पर हो सके। वे संकेत-निर्देश के स्थान पर कहानी ही लिखने लग जाते हैं। यह बात उन नाटककारों की कही जा रही है, जो अभिनेय नाटक लिखने के लिए प्रसिद्ध हैं, पाठ्य नाटकों के लेखक की बात नहीं। यदि रंगमंचीय नाटकों की यह दशा है, तो रेडियो-नाटक की चर्चा करना व्यर्थ है। रेडियो-नाटक में तो बहुत ही सशक्त स्थापत्य की आवश्यकता है।

३. रेडियो-नाटक के इतने वर्षों के इतिहास में ऐसी पुस्तकों का लगभग अभाव ही है, जिनमें रेडियो-नाटक की कला का विवेचन किया गया हो। इस विषय पर हरिश्चन्द्र खन्ना की पुस्तक 'रेडियो-नाटक' और डॉ० सिद्धनाथ कुमार की पुस्तक 'रेडियो-नाट्य-शिल्प' महत्त्वपूर्ण हैं।

४. भारतवर्ष में रेडियो सरकारी संस्था है। इसमें नाटक-प्रसारण का कार्य करनेवाले अधिकांश अधिकारी जीविकोपार्जन के विचार से नौकरी करते हैं, इस कार्य में किसी विशेष अभिरुचि के कारण नहीं। जब किसी अधिकारी की यह मनोवृत्ति है कि किसी निश्चित समय पर किसी निश्चित अवधि में नाट्य को किसी प्रकार प्रसारित कर दिया जाय, तो इस दशा में रेडियो-नाटक के स्वस्थ विकास की आशा करना व्यर्थ है।

आज रेडियो हमारे जीवन का आवश्यक उपकरण बन गया है और रेडियो-नाटक का प्रसारण रेडियो का महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है। स्वभावतः सबका ध्यान रेडियो-नाटक की ओर गया है। हम आज न रेडियो की और न रेडियो-नाटक की ही उपेक्षा कर सकते हैं। भले ही रेडियो-नाटक का सर्वांगीण तथा समुचित विकास नहीं हुआ है, परन्तु यह कहना असत्य होगा कि अच्छे रेडियो-नाटक लिखे ही नहीं जा रहे हैं। आज हमें अनेक कलात्मक कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि रेडियो-नाटक का भविष्य उज्ज्वल है। हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि निकट भविष्य में ही रेडियो-नाटक हमारी अभिव्यक्ति का एक अत्यन्त समर्थ माध्यम सिद्ध होगा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के युग में रेडियो-नाटक में पर्याप्त विकास हुआ है। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में रेडियो-केन्द्रों की वृद्धि हुई है और नाट्य-लेखन-क्षेत्र में बहुत-से नये-नये लेखक आये हैं। रेडियो-नाटक एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकृत हो चुका है। रेडियो-माध्यम की विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर लिखनेवालों में विष्णु प्रभाकर, हरिश्चन्द्र खन्ना, भारतभूषण अग्रवाल, चिरंजीत, रेवतीशरण शर्मा आदि प्रमुख हैं। इस अवधि में रेडियो-नाटकों में विषय और शिल्प दोनों दृष्टियों से पहले के रेडियो-नाटकों

से काफी अन्तर पड़ा है। पहले के नाटकों में विषय प्रायः ऐतिहासिक तथा रोमाण्टिक होते थे, परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद रेडियो-नाटक सामाजिक विषयों पर भी लिखे जाने लगे हैं। परन्तु, रेडियो पर सरकारी नियन्त्रण रहने के कारण उसके लिए लिखे जानेवाले नाटकों में युग के स्वाधीन चिन्तन की अभिव्यक्ति का अवकाश कम ही रहता है। इधर रेडियो के लिए मनोवैज्ञानिक नाटकों की भी रचना होने लगी है। 'विविध भारती'-कार्यक्रम में हास्य तथा मनोरंजन के नाटक अधिक लिखे जाने लगे हैं, परन्तु उनमें सामाजिक विकृतियों पर व्यंग्य का अभाव ही रहता है। रेडियो-नाटक ने पर्याप्त विकास किया है और अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ सामने आई हैं, फिर भी इस माध्यम का जितना उपयोग होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका है।

एकादश अध्याय

परम्परा और आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त : नव्य रूपान्तर के कारण

पृष्ठभूमि : आज से हजारों वर्ष पूर्व भारत की नाट्य-परम्परा निर्मित हुई। भरत मुनि ने एक अत्यन्त समृद्ध तथा सम्पन्न नाट्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका नाट्यशास्त्र निश्चय ही अनेक नाटकों के विश्लेषण के उपरान्त ही रचा गया होगा; क्योंकि पहले काव्य-ग्रन्थ––अनुशिष्ट ग्रन्थों का निर्माण होता है। फिर, भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् अनेक ऐसे ग्रन्थ रचे गये, जिनमें नाट्य-सिद्धान्त का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया। उन ग्रन्थों का अनुशासन मानकर बहुत-से नाटकों की रचना होती रही। इस प्रकार, हमारे यहाँ नाट्य-सिद्धान्त की सुदीर्घ तथा अविच्छिन्न परम्परा स्थापित हो गई।

परन्तु, आधुनिक युग में कई कारणों से उस परम्परा में कुछ अंशों में थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन आ गया है। लगभग दो हजार वर्ष या इससे कुछ अधिक वर्षों में नाट्य-सिद्धान्त में जो दीर्घ परम्परा बन गई है, उसमें समय की संक्रमणशीलता, सभ्यता तथा संस्कृति में उलट-फेर के कारण काफी परिवर्त्तन हुआ। विदेशों के साहित्य के सम्पर्क में आने से भी परिवर्त्तन हुआ। आजकल हिन्दी तथा भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में जो नाटक लिखे जा रहे हैं, उनमें यह नव्य रूपान्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आगे इन्हीं नव्य रूपान्तरों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

नाट्य-रूढ़ियाँ—प्रस्तावना, रंगपूजा आदि : संस्कृत-नाटकों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सभी नाटककारों ने कुछ निश्चित रूढ़ियों का पालन नियमित रूप से किया है। नान्दी, प्रस्तावना, पूर्वरंग, सूत्रधार, नटी, नाटक-वस्तु तथा नाटक का परिचय और भरत-वाक्य ऐसी ही कुछ रूढ़ियाँ हैं। उसी प्रकार रंगमंच पर कुछ कार्यों का निषेध भी किया गया है। ये रूढ़ियाँ सभी नाटकों में समान रूप से दिखाई देती हैं। जिस प्रकार भारतीय नाटकों में पूर्वरंग, प्रस्तावना और भरत-वाक्य का विधान है, उसी प्रकार ग्रीक-नाटकों में पूर्वकथन (प्रोलॉग) तथा उपसंहार (एपीलॉग) का विधान था। परन्तु, ग्रीक-नाटकों के उपसंहार में वैसी लोक-मंगल की कामना नहीं पाई जाती है, जैसी हम भरत-वाक्य में देखते हैं। उसमें अपनी त्रुटियों के लिए केवल क्षमा-याचना की भावना रहती थी।

भारतीय नाट्याचार्यों ने पूर्वरंग, प्रस्तावना और नान्दी को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है और इसे नाट्य का प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण अंग माना है। भारतीय

नाटककारों ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में प्रायः तीन बातों का परिचय दिया है—अपना, नाटक की वस्तु का और नाटक खेलने के अवसर का। किसी-किसी नाटककार ने इसमें अपने कुल तथा गोत्र का भी परिचय दे दिया है। इस प्रकार, प्रस्तावना के माध्यम से अनेक जिज्ञासाओं की तुष्टि हो जाती है, जिससे नाटक का विवेचन करनेवाले व्यक्तियों को बहुत सुविधा प्राप्त होती है।

अब प्रश्न उठता है कि यह काम सूत्रधार-नटी से कराया जाय या किसी अन्य प्रस्तोता से कहला दिया जाय। सूत्रधार-नटी के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं : १. नाटक के सभी पात्रों को रंगपीठ पर आकर अपनी कला दिखाने का अवसर मिलता है, परन्तु जो सूत्रधार सबको सिखाता है, उसकी कला देखने का अवसर दर्शक को नहीं प्राप्त होता है। २. सूत्रधार नाटक के अंग-प्रत्यंग और सूक्ष्म भेदों को जानता रहता है, वही नाटक का वास्तविक पारखी होता है, इसलिए उसे अधिकार भी है कि वह नाटक और नाटककार के विषय में अपना मत प्रकट करे। ३. नाटक खेलते समय सभी व्यक्ति अपने-अपने कार्यों में पूर्णरूप से लीन हो जाते हैं। किसी को भी इतना अवकाश नहीं रहता कि वह अपनी भूमिका भी सँभाले और रंगपीठ पर उपस्थित होकर प्रस्तावना भी प्रस्तुत करे। केवल सूत्रधार बच रहता है, जो यह कार्य सम्पन्न कर सकता है। ४. प्रत्येक नाटक के प्रयोग के पूर्व अभिनेताओं को तैयार होने में प्रायः देर हो जाती है। इस दशा में एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता हो जाती है, जो तबतक के लिए दर्शकों का मनोरंजन भी करे और समय भी काटे। इसलिए, नटी का विधान है कि वह रंगपीठ पर आकर, नाच-गाकर और ऋतु-विषयक कुछ बातें कहकर दर्शकों को रिझावे और अभिनेताओं को तैयार होने का समय दे। ५. नाटक के दर्शक प्रायः इतने विज्ञ नहीं होते कि वे तुरन्त ही कथा का सूत्र पकड़ सकें। इसलिए, ऐसी प्रस्तावना होनी चाहिए, जिसके सहारे नाटक का कथा-सूत्र समझते चलने में सरलता हो।

भरत के नाट्य-सिद्धान्त में पूर्वरंग या दैवत-पूजा का जहाँतक प्रश्न है, वह तो प्रत्येक देश तथा समाज के अपने विश्वास तथा प्रचलन की बात है। पारसी रंगशाला में भी नाटक आरम्भ करने के पूर्व रंगपूजा तथा ईश्वर-स्तुति करने की प्रथा विद्यमान थी। कई अन्य देशों में भी ऐसी प्रथा है, यद्यपि यूरोप के देशों में इसका बहिष्कार किया गया है। यूरोप में सहसा नाटक आरम्भ कर दिया जाता है।

इस विषय में कोई निश्चित मत देना कठिन है कि यह प्रथा स्वीकार्य है अथवा नहीं; क्योंकि प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति तथा परम्परा भिन्न होती है। संस्कृत-नाटकों में प्रस्तावना अत्यन्त नाटकीय ढंग से समाप्त करके नाटक को प्रारम्भ किया जाता है।

परन्तु, प्रस्तावना के सम्बन्ध में भी अधिक आग्रह नहीं किया जा सकता। जब नाटक का कथा-सूत्र सरल हो और दर्शक उसे स्वयं ही सरलता से समझ ले, तो उस दशा में प्रस्तावना के विषय में आग्रह व्यर्थ ही होगा। प्रस्तावना देते समय इस बात का ध्यान

रखना आवश्यक है कि नाटक और नाटककार के विषय में कहा जाय, परन्तु कथा और उसके परिणाम के विषय में कोई बात नहीं बतानी चाहिए, नहीं तो सारा कुतूहल समाप्त हो जायगा।

वस्तुतः, आजकल कोई भी नाटककार अपने नाटक में प्रस्तावना की अवतारणा नहीं करता है। यह प्रथा पुरानी और बासी हो चुकी है। इस परम्परा का त्याग किया जा चुका है और आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त में इसका कोई स्थान नहीं रह गया है। हिन्दी-नाटकों में भी आजकल कहीं भी प्रस्तावना नहीं रखी जाती। नान्दीपाठ, रंगपूजा और भरत-वाक्य छोड़े जा चुके हैं। भारतेन्दुजी ने अपने कुछ नाटकों में इनका विधान किया, परन्तु अपने पिछले नाटकों में उन्होंने भी इस प्रथा का परित्याग कर दिया। फिर, किसी हिन्दी-नाटककार ने इन पुरानी बातों को स्वीकार नहीं किया।

आधुनिक भारतीय नाटकों पर अँगरेजी का प्रभाव बड़ी तेजी से पड़ रहा था। बँगला-नाटकों ने अँगरेजी-प्रभाव से नान्दी, प्रस्तावना आदि का परित्याग कर दिया। कुछ समय बाद हिन्दी-नाटकों ने भी इनका परित्याग किया। अँगरेजी-नाटकों में नान्दी, मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि नहीं होते, उसी की देखा-देखी पहले बँगला-नाटकों में से ये हटाये गये। हिन्दी-नाटकों में भी यही हुआ, परन्तु धीरे-धीरे। भारतेन्दुजी ने भी अपने दो-तीन नाटकों में ऐसा किया है, परन्तु मंगलाचरण के विचार से आरम्भ में मंगलगान के एकाध दृश्य रख दिये हैं, जैसे सती-प्रताप, नीलदेवी आदि के प्रथम दृश्य। प्रसादजी आदि नाटककारों ने इतना भी उचित नहीं समझा और नान्दी, मंगलाचरण आदि को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया। कुछ आलोचकों का कथन है कि प्रसादजी के कुछ नाटकों के प्रथम दृश्य केवल परिचयात्मक हैं और प्रस्तावना का काम करते हैं, परन्तु ऐसा कहना यथार्थ नहीं है।

वर्त्तमान युग में नाटकों की प्रस्तावना सर्वथा निरर्थक है; क्योंकि अभिनय के विज्ञापनों से तो अब नाटककार और नाटक के नाम-मात्र ही नहीं, वरन् सभी अभिनेताओं के नाम, कथावस्तु आदि की संक्षिप्त रूपरेखा दर्शकों को पहले से ही ज्ञात रहती है। आज के सवाक् चित्रपटों की तो बात ही दूसरी है। अतः, आज का कोई नाटककार नान्दी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना के झमेले में नहीं पड़ता।

प्रस्तावना की अन्य रीतियाँ : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने प्रस्तावना के अन्य प्रकारों का भी विवेचन किया है। संक्षेप में वे प्रकार निम्नलिखित हैं :

१. नेपथ्य से ही कह देना।

२. जिस स्थल से कथा का आरम्भ होनेवाला है, उसके पहले का सम्पूर्ण प्रसंग बताकर समाप्त कर देना। इस प्रकार, दर्शकों के मन में उत्सुकता पूरी तरह जगा दी जाती है।

३. लेखक दो साधारण पात्रों को उपस्थित करके उनके वार्त्तालाप के द्वारा नाटकीय कथा की जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है और उसी वार्त्तालाप के परिणाम-रूप में नाटक प्रारम्भ कर देता है।

४. यूरोप के नाटकों में प्रोलॉग (Prologue) के ढंग से रंगमंच पर एक विशेष प्रस्तोता को उपस्थित कराके उसी के द्वारा नाटक के विषय में समस्त ज्ञातव्य बातों का उल्लेख करा देना।

५. कभी-कभी नाटककार प्रस्तावना-रूप में एक ऐसी घटना प्रस्तुत करता है, जो नाटक के परिणाम का बोध कराती है। उदाहरणार्थ, एक साँड़ चीनी बरतनों की एक दूकान में घुसकर सामान तोड़-फोड़ डालता है। इस घटना से प्रेक्षकों को संकेत मिल जाता है कि नाटक का परिणाम इसी रूप में होगा कि कोई उद्धत व्यक्ति अपने पशुबल की सहायता से समाज का नाश करता है। परन्तु, यह ढंग अच्छा नहीं समझा जाता; क्योंकि इससे नाटक के परिणाम की सारी उत्सुकता शान्त हो जाती है।

६. सूत्रधार और नटीवाला ढंग तो बहुत प्रचलित हो चुका है।

७. कभी-कभी नाटककार कोई आकस्मिक घटना दिखाकर उसी के साथ नाटक आरम्भ कर देता है।

८. "प्रस्तावना में सम्पूर्ण नाटकीय पात्रों को उनके चरित्र के अनुरूप क्रियाओं में प्रस्तुत करके उनका इस प्रकार परिचय देना कि नाटकीय कथा के विषय का आभास मिल जाय, जैसा अभिनव भरत के 'देवता' नाटक में है।"[1]

नाटक का आरम्भ : प्रस्तावना आदि के उपरान्त मुख्य नाटक का आरम्भ होता है। मुख्य नाटक में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात फल की प्राप्ति है। उसे स्थिर करने में नाटककार को बहुत समझ-बूझ से काम लेना होता है। नाटक से मन-बहलाव और मनोरंजन तो प्राप्त होता ही है, पर यही एकमात्र नाटक का उद्देश्य नहीं है। इससे उच्च तथा उपकारी आदर्श की भी प्राप्ति होती है। नाटक जीवन की व्याख्या करता है, परन्तु उसे केवल यही नहीं बतलाना चाहिए कि जीवन कैसा होता है, परन्तु यह बताना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि जीवन कैसा होना चाहिए और उत्तम-से-उत्तम जीवन कैसा हो सकता है। इसीलिए, कहा गया है कि नाटक से धर्म, अर्थ और काम प्राप्त होते हैं। जब नाटककार फल को निश्चित कर लेता है, तो उसे अवस्थाओं, सन्धियों तथा अर्थ-प्रकृतियों के अनुसार नाटक की रचना करनी चाहिए।

यदि किसी भी कारण से कथा-प्रवाह से ध्यान हट जाय, तो सम्पूर्ण कुतूहल शान्त हो जाता है और नाटक का अभिनय देखने से मन उचट जाता है। इसीलिए, प्रत्येक अंक की कथा को अपने में ही पूर्ण नहीं होना चाहिए। यह जानने की उत्सुकता

१. **अभिनव नाट्यशास्त्र (प्रथम संस्करण), पृ० ३९४**

बनी रहनी चाहिए कि देखें, आगे क्या होता है। जो पात्र वस्तु-व्यापार को आगे बढ़ाने में सहायक हों, केवल उन्हें ही रंगपीठ पर आने देना चाहिए, इससे अधिक को नहीं। अवस्था, अर्थ-प्रकृति, सन्धि, अर्थोपक्षेपकों को ध्यान में रखकर एक अंक के पश्चात् दूसरे अंक की रचना में प्रवृत्त होना चाहिए।

कतिपय नाट्याचार्यों ने अंक के बीच में आनेवाले अंकों को गर्भांक नाम दिया है। उनका विचार है कि गर्भांक का प्रयोग रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के निमित्त किया जाना चाहिए। इसमें रंगद्वार तथा आमुख आदि अंग होते हैं और बीज तथा फल का स्पष्ट रूप से आभास पाया जाता है। ऐसा देखा जाता है कि किसी एक नाटक में दूसरा नाटक होता है, उसका गर्भांक में प्रदर्शन किया जाता है; जैसे उत्तर-रामचरित नाटक में वाल्मीकि ऋषि का राम-लक्ष्मण के सामने सीता के दूसरे वनवास की कथा अप्सराओं द्वारा दिखाना।

कथावस्तु की रचना : नाटक की रचना करने के पहले कथावस्तु अथवा संविधानक की रचना निश्चित और स्पष्ट रूप से कर लेनी चाहिए। ऐसा करने से ज्ञात हो जाता है कि नाटककार नाटक की घटनाओं को किस रूप में रखना चाहता है, जिससे उसके अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि हो। नाटककार को अपने अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए या नाटक में वर्णित किसी पात्र के चरित्र के निर्वाह के लिए या परिणाम को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कथानक की स्पष्ट रूपरेखा पहले ही तैयार कर लेना अत्यावश्यक होता है। ऐतिहासिक नाटकों में यह कार्य दुहरा हो जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें ऐतिहासिक कथा तो पहले से रहती ही है और दूसरे नाटक की कथावस्तु की रचना उस परिवर्त्तित रूप में की जाती है, जिस रूप में नाटककार उसे प्रस्तुत करने की आवश्यकता समझता है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक ही कथा कई पुराणों में कई रूपों में वर्णित मिलती है। ऐसी दशा में नाटककार को सुविधा रहती है कि वह चाहे जो भी कथा ग्रहण करे; साथ ही उसे कठिनाई भी रहती है कि वह कौन-सी कथा ग्रहण करे। ऐसे अवसर पर उचित यह होता है कि वह उन समस्त घटनाओं को ग्रहण कर ले, जो उसके नाटक के निमित्त अथवा उस नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए आवश्यक प्रतीत हों।

मौलिक नाटकों की कथावस्तु की रचना में नाटककार को इस बात का ध्यान रखना होता है कि कथा का कोई व्यापार या घटना असंगत अथवा असम्भाव्य नहीं हो। केवल ऐसी ही घटनाओं की योजना की जानी चाहिए, जो नाटकीय कथा के देश, काल तथा पात्र की मर्यादा के सर्वांशतः अनुकूल हों। यदि इसमें कोई भी असावधानी हुई, तो नाटक में बहुत बड़ा दोष आ जायगा। यदि कथानक में भूत, प्रेत आदि अलौकिक तत्त्वों का समावेश करने की आवश्यकता प्रतीत हो, तो उनकी अवतारणा इस रीति से करनी चाहिए, जिससे वे देश, काल तथा पात्र की भावना से भिन्न नहीं जान पड़ें।

विषयवस्तु पर नवीन प्रभाव : आज के साहित्यिक नाटकों की विषयवस्तु में समयानुकूल परिवर्त्तन आ गया है। जनता की समस्याओं को जनता की ही भाषा में उपस्थित करने का प्रयास किया जा रहा है। आज की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति का प्रभाव नाटक के विषय पर भी पड़ा है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद पराधीनता के समय की उन हिंसात्मक घटनाओं का भी समावेश कथानक के रूप में किया जा रहा है, जिनकी चर्चा भी विदेशी शासन-काल में नहीं हो सकती थी। सन् १८५७ से १९४७ ई० तक नब्बे वर्ष की अवधि में अनेक देशप्रेमी क्रान्तिकारियों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर संघर्ष किया। परन्तु, विदेशी शासन के वैधानिक बन्धन के कारण प्राणोत्सर्ग करनेवाले इन वीर देशभक्तों की कहानियाँ अन्धकार में पड़ी थीं। स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य-साहित्य में इनकी कथाएँ नाटक के रूप में आने लगी हैं। इन लोमहर्षक घटनाओं के आधार पर कई नाटक हिन्दी तथा भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में लिखे गये। इन नाटकों से क्रान्तिकारियों की गति-विधि तथा रीति-नीति पर प्रकाश पड़ता है और यह पता चलता है कि स्वतन्त्रता-संग्राम में संलग्न अहिंसावादी महात्मा गांधी तथा इन हिंसावादी क्रान्तिकारियों के जीवन-दर्शन में कितना अन्तर था।

आधुनिक नाटकों में एक अन्य नवीन प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। सन्त विनोबा भावे ने देश में त्याग की भावना उत्पन्न कर दी है। इस महान् सन्त के प्रभाव से देश के जन-जन के मानस में आत्म-त्याग की भावना आ गई है। देश के सभी लोगों की आँखें विनोबा भावे और उनके भूदान-ग्रामदान-यज्ञ की ओर लगी हैं। कई नाटककारों पर विनोबाजी तथा उनके इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा है और उन्होंने तत्सम्बन्धी नाटक लिखे हैं। इस प्रकार, देश में एक बार फिर हिंसा पर अहिंसा की और लोभ तथा विलास पर त्याग की विजय दिखाई गई है। अतः, आधुनिक नाटककार जनता के अधिक निकट आ गया है और उसके सुख-दुःख का चित्रण अपने नाटकों में अधिक ईमानदारी से करने लगा है। आधुनिक नाटक जीवन का सच्चे अर्थ में दर्पण बनता जा रहा है। कुछ दिन पहले के नाटककार प्रेरणा के लिए पश्चिम के नाटककारों की ओर देखते थे, परन्तु आजकल का नाटककार अपने ही बीच के सुख-दुःख से प्रेरणा पा रहा है।

सारांश-रूप में कहा जा सकता है कि आरम्भिक काल में हिन्दी-नाटक जन-जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर रहा था, बीच में इधर-उधर भटकता रहा, परन्तु आज फिर जन-जीवन में ही संश्लिष्ट हो गया है और वास्तविक अर्थ में समाज का दर्पण बन गया है। परन्तु, आरम्भिक काल और आधुनिक काल के हिन्दी-नाटकों में अन्तर है। आदिकाल का हिन्दी-नाटक जहाँ सरल, सुबोध, भावनायुक्त तथा संगीतमय था, वहाँ आज का नाटक जटिल, कठिन, बौद्धिक तथा गद्यमय बनता जा रहा है।

तर्क की प्रधानता : अति आधुनिक काल के नाटकों में बुद्धिवाद की प्रधानता दिखाई दे रही है। अब नाटकों में भाव-व्यंजना, चरित्र-चित्रण तथा अन्तर्द्वन्द्व के स्थान

पर तर्कवाद को प्रधानता मिल रही है। प्रत्येक स्थल पर हेतुवाद की प्रबलता दिखाई दे रही है। विशेषतः, आज के समस्या-नाटकों में हृदय-पक्ष से अधिक प्रबल बुद्धि-पक्ष हो रहा है।

पताकास्थानक : संस्कृत-नाटककारों ने नाटकीय वस्तु में पताकास्थानक की सहायता से नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया है। परन्तु, यह बहुत पुराना और बासी उपाय समझा जाता है। आजकल नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के अनेक कौशल निकल गये हैं, जिनसे कथा का चमत्कार तो बढ़ जाता है और कुतूहल में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। किन्तु, पताकास्थानक से तुरन्त पता चल जाता है कि आगे क्या होनेवाला है, इससे कुतूहल की पूरी रक्षा नहीं हो पाती। उत्तररामचरित में ज्यों ही राम कहते हैं—**'यदि परम सह्यस्तु विरहः'**—त्यों ही प्रतिहारी आकर कहता है—**'देव, उअट्ठिदो।'**

इस पताकास्थानक के प्रयोग से तुरन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि राम और सीता का शीघ्र ही वियोग होनेवाला है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि सारे कुतूहल की निवृत्ति हो जाती है और दर्शक उस घटना के लिए पहले से ही तैयार हो जाता है, जो अब शीघ्र ही होनेवाली है। पताकास्थानक रस में बाधा ही उत्पन्न करता है, सहायता तो करता ही नहीं। अतः, नाटकीय कुतूहल की रक्षा के विचार से पताकास्थानक का प्रयोग उचित नहीं। यह आज के नाटकों में छोड़ा जा चुका है। परन्तु, भारतेन्दुजी ने 'नीलदेवी' में पताकास्थानक का प्रयोग किया है, जिससे चमत्कार बढ़ गया है।

अर्थोपक्षेपक की अनुपयुक्तता : अर्थोपक्षेपकों का मुख्य उद्देश्य है नीरस तथा अनुचित वस्तु को रंगमंच पर नहीं आने देकर उसकी मात्र सूचना दे देना। जहाँ तक नीरस तथा अनुचित वस्तु का प्रदर्शन नहीं करने का प्रश्न है, इसमें किसी प्रकार की आपत्ति किसी को भी नहीं हो सकती। किन्तु, पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा वस्तु को सूचित करने का जो विधान किया गया है, उसपर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। नीच तथा मध्यम पात्रों के द्वारा आगे-पीछे की कथा की सूचना देना आधुनिक नाट्याचार के सर्वथा विरुद्ध है। यह सूचना रंगपीठ पर से कोई पात्र दे या नेपथ्य से, इसकी अस्वाभाविकता में कोई कमी नहीं हो पाती। आजकल कोई नाटककार इन अर्थोपक्षेपकों का सहारा नहीं लेता। आधुनिक नाटककार सभी सूच्य बातें अपने नाटक के दृश्य भागों में नाटक के पात्रों के द्वारा अवसर आने पर कहला देते हैं। फलस्वरूप वर्त्तमान युग के किसी नाटक में विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार तथा अंकमुख नहीं दिखाई देते। आज इनकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती।

अर्थ-प्रकृतियाँ तथा अवस्थाएँ स्वाभाविक तथा ग्राह्य हैं, परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उनके विना भी सरलता से काम चल जा सकता है और वे बिल्कुल अपरिहार्य नहीं हैं। किन्तु, सन्धियों के अंगों का बन्धन इतना कठोर है कि इसके कारण

नाटककार की प्रतिभा पूर्णरूप से बद्ध हो जाती है और कला का समुचित विकास नहीं हो पाता। इस कठोर और जटिल बन्धन से नाटककार को मुक्ति मिल गई है।

वर्ज्य या निषिद्ध कार्य : नाट्य-रूढ़ियों में कुछ निषिद्ध कार्य का भी समावेश है। भरत आदि सभी नाट्याचार्यों ने रंगमंच पर कई कार्यों का निषेध कर दिया है। उन कार्यों को सामान्यत: तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वे कार्य, जो साधारणत: लोक में भी सबके सामने नहीं किये जाते; जैसे शयन, भोजन, चुम्बन, नखच्छेद, मल-परित्याग आदि। दूसरे, वे कार्य जो भयंकर, बीभत्स अथवा लोमहर्षक होते हैं, जैसे हत्या, मृत्यु आदि। तीसरे प्रकार के वे कार्य हैं, जिन्हें रंगमंच पर दिखाना सम्भव नहीं है, जैसे नगरावरोध, राज्य-विप्लव, युद्ध आदि। विश्वनाथ ने दूराह्वान का भी निषेध किया है, परन्तु संस्कृत-नाटकों में दूराह्वान (दूर से पुकारना) के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। शारदातनय और धनंजय ने दूराध्वानम् (दूर का मार्ग दिखाना) का निषेध किया है, जो अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

लोकशील और लोक-मर्यादा को ध्यान में रखकर सभी देशों में यह माना जाता है कि रंगमंच पर स्नान, मलत्याग आदि कार्यों का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। परन्तु, यूरोप के कई देशों में रंगमंच पर भोजन और चुम्बन के दृश्य दिखाना अनुचित नहीं समझा जाता। इसका कारण यह है कि वहाँ भोजन सार्वजनिक रूप से किया जाता है और चुम्बन सामाजिक शिष्टाचार समझा जाता है। किन्तु, हमारे देश में ऐसे कर्म सार्वजनिक रूप से नहीं हुआ करते। परन्तु, आजकल हमारे देश में भी अब होटलों, जलपान-गृहों तथा सहभोजों में सामाजिक रूप से भोजन करने की प्रथा चल पड़ी है।

युद्ध, नगरावरोध आदि के प्रदर्शन का निषेध सुविधा को ध्यान में रखकर किया गया है। इन दृश्यों को रंगमंच पर दिखाने के लिए इतने अधिक व्यय और परिश्रम की आवश्यकता है कि ऐसे दृश्य दुरूह हो जाते हैं। पूरा नगर रंगमंच पर लाना, हजारों-लाखों व्यक्तियों को रंगमंच पर दिखाना और सबकी चेष्टाओं का प्रदर्शन असम्भव है। युद्ध के साथ भी यही बात है। फिर युद्ध में वध और मृत्यु जैसे बीभत्स और भयानक दृश्य दिखाने की आवश्यकता पड़ जायगी।

सारांश यह कि देश, काल और समाज के अनुकूल जो चेष्टा घृणित, बीभत्स, अश्लील और लज्जाजनक हो, रंगमंच पर जिन दृश्यों का प्रदर्शन सम्भव नहीं हो या अत्यन्त कष्टसाध्य हो और जिन दृश्यों में लोकहित के स्थान पर लोक का अहित होता हो, रंगपीठ पर उनका प्रदर्शन किसी भी दशा में नहीं होना चाहिए।

परन्तु, आधुनिक नाटककार कुछ अश्लील दृश्यों को छोड़कर सब प्रकार के दृश्य रंगमंच पर दिखा रहे हैं। हिन्दी के अनेक नाटककारों ने अपने नाटकों में भोजन, शयन, विवाह, वध, मृत्यु, युद्ध आदि के असंख्य दृश्य दिखाये हैं। इस प्राचीन परम्परा का त्याग किया जा रहा है और आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त में ऐसे दृश्य ग्राह्य हो रहे हैं।

नाटक में रंगमंच पर दिखलाने की अनुपयुक्तता ऐसे दृश्यों को वर्ज्य बनाने का प्रथम तथा प्रधान कारण थी, परन्तु आधुनिक युग में तो यह कारण उपेक्षणीय हो गया है। आज के सवाक् चलचित्रों में दो रेलगाड़ियों का टकराकर चकनाचूर हो जाना, तोपों से दुर्ग ढाहना आदि लोमहर्षक दृश्य तो दिखाये जा सकते हैं, किन्तु रंगमंच पर साधारण युद्ध, हत्या आदि का अभाव दर्शकों को खटकेगा। आज के दर्शक रोमांचकारी घटनाओं को देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। प्रसादजी आदि कई नाटककारों ने ऐसे वर्ज्य दृश्यों को सहर्ष अपनाया है। आधुनिक युग के नाटककार ऐसे दृश्य दिखाने में नहीं हिचकते।

अंक तथा दृश्य-विभाजन : नाटककार कथानक का निर्माण कर लेने पर पात्रों को चुनता है और फिर उनका नामकरण करता है। तब उसे अपने कथानक को अंकों में विभाजित कर लेना आवश्यक होता है। अंक के विभाजन कर लेने पर नाटककार को यह देखना होता है कि प्रत्येक अंक में कार्य पूर्ण करनेवाली कौन-कौन-सी घटनाएँ हैं। नाटक की दृष्टि से ऐसी प्रमुख घटनाएँ तीन प्रकार की होती हैं : १. संवाद, २. द्रष्टव्य या दिखाई जानेवाली और ३. सूच्य या सूचित की जानेवाली। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटककार को निश्चय कर लेना चाहिए कि इस अंक में पूर्ण होनेवाले कार्य में कितना अंश संवाद होगा, कितना अभिनय के द्वारा रंगमंच पर दिखाया जायगा और कितने अंश की केवल सूचना दे देनी होगी। रंगमंच पर जितनी घटनाओं का प्रदर्शन करना हो, वे जितने स्थलों या जितने विभिन्न कार्यों में हुई हों, उतने ही दृश्य उस अंक में बना लेने होते हैं।

यदि एक ही स्थान पर दो घटनाएँ अलग-अलग समय पर हुई हों, तो नाटककार दो दृश्य रखता है और दोनों घटनाओं के बीच समय का व्यवधान दिखाने के लिए वह दोनों दृश्यों के बीच एक तीसरे दृश्य की अवतारणा करता है। इस बीचवाले दृश्य में ऐसी कल्पित घटना की योजना की जानी चाहिए, जो मूल कथा के साथ में संगत जान पड़े। सफल नाटक लिखने के लिए दृश्य का क्रम ठीक रखना होता है।

इस स्थल पर यह भी समझ लेना ठीक होगा कि यदि एक अंक का कार्य एक ही स्थान पर अविच्छिन्न रूप से चलता हो, तो एक ही दृश्य एक अंक बन सकता है। संस्कृत-नाटककारों ने प्रायः एक स्थान पर होनेवाली सारी घटनाओं को एक ही दृश्य में रखा है। वस्तुतः, एक अंक में कई दृश्यों की योजना करने की प्रथा भारत में यूरोप से आई है, किन्तु यह न आवश्यक है और न प्रशंसनीय ही। यदि एक दृश्य से एक अंक का काम नहीं चलता हो, तभी अधिक दृश्यों की योजना करनी चाहिए, अन्यथा नहीं।

दृश्य-विभाजन के विषय में दूसरा ध्यातव्य तथ्य यह है कि रंगमंच की सुविधा का ध्यान रखते हुए आगे का एक ऐसा दृश्य दिखाना उचित है, जिसमें रंगपीठ पर सजावट या हटाई जानेवाली सामग्री नहीं हो और दूसरा दृश्य गहरा हो, जिसमें कुटिया, चौकी,

आसन आदि सामग्री सजाई जा सके। आगे दिखाये जानेवाले दो दृश्यों की भी योजना की जा सकती है; क्योंकि इसमें कोई झमेला नहीं होता, किन्तु दो गहरे दृश्य अर्थात् सजावटवाले दृश्य नहीं दिखाये जाने चाहिए।

इस विषय में ध्यान देने की तीसरी बात यह है कि लगातार दो या कई उत्तेजनापूर्ण दृश्यों की योजना नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसे अनेक दृश्यों की लगातार योजना की जायगी, तो या तो दर्शक ऊब जायेंगे या उनके मानसिक भावों पर बहुत अधिक तनाव पड़ जायगा, जिसका फल उनके हृदय और मस्तिष्क पर बहुत भयंकर होता है। इसलिए, दृश्य की योजना करते समय ध्यान रखना चाहिए कि यदि एक दृश्य तनाव उत्पन्न करनेवाला हो, तो दूसरा दृश्य हल्का, विनोदपूर्ण और मनोरंजक हो, जिसके कारण भावों के तनाव में शिथिलता आ जाय।

प्रसादजी ने नाटक के अंक-विभाग को अन्त तक माना है, परन्तु आगे चलकर अंकों के विभाग—दृश्य के नामकरण को नहीं माना है। प्रवेशक, विष्कम्भक आदि के दृश्य, जो कभी-कभी दो अंकों के बीच शृंखला जुटाने के विचार से लाये जाते हैं, काम में नहीं लाये गये हैं, परन्तु इस प्रकार के दृश्य अवश्य हैं। उनका अलग नामकरण नहीं किया गया है।

आजकल अंकों की संख्या भी कम हो गई है। प्राचीन नाटकों के समान अब ५, ७ या १० अंक नहीं रखे जाते। अंकों के अन्तर्गत दृश्यों की संख्या उसी रूप में बढ़ने लगी है। पहले नाटक में तीन अंक रखे जाते थे; क्योंकि अभिनय के समय दो इण्टर्वल रखे जाते थे। अबतक तीन से कम अंकों के नाटक देखने में नहीं आये हैं, परन्तु सिनेमा का प्रचार होने पर अब शायद दो ही अंकों के नाटक लिखे जायँ; क्योंकि उनमें एक ही इण्टर्वल होता है।

संवाद : आजकल के नाटककार स्वगत कथन, जनान्तिक, अपवारित और आकाश-भाषित को अस्वाभाविक मानते हैं। जनान्तिक, अपवारित तथा आकाश-भाषित तो प्रत्यक्ष रूप से अस्वाभाविक हैं ही, रंगमंच पर उपस्थित व्यक्तियों के समक्ष कोई बात कही जाय, जिसे सभी दर्शक और श्रोता सुन लें, परन्तु रंगमंच पर उपस्थित अभिनेता नहीं सुन सकें—यह सर्वथा असंगत और असम्भव है। प्राचीनकाल में प्रतीकात्मक अभिनय किया जाता था। उस युग में जब कभी कोई अभिनेता त्रिपताका की मुद्रा में कोई बात कहता था, तो दर्शक समझ जाते थे कि यह बात हमारे लिए है, रंगमंच पर उपस्थित सभी अभिनेताओं के लिए नहीं। किन्तु, आजकल त्रिपताका का कोई विधान ही नहीं है, अतः जनान्तिक और अपवारित अनावश्यक हो गये हैं।

स्वगत कथन के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। एक युग था, जब ये स्वगत कथन यूरोपीय रंगशाला में बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे और उनमें से बहुत-से स्वगत कथन विश्व-साहित्य में अमर विभूति बन गये हैं। किन्तु, स्वाभाविकता की दृष्टि से विचार करने पर उनका महत्त्व नहीं रह जाता। मनुष्य जब कोई बात सोचता है, तो

उस समय उसकी क्रिया मौन रहती है, सोची हुई बात वह चिल्लाकर नहीं कहता। सोचने की मानसिक क्रिया भी दर्शक के सम्मुख उपस्थित करनी चाहिए, जिससे वह पात्र का चरित्र समझ सके। स्वगत कथन की सृष्टि में भी यही विचार काम कर रहा था, परन्तु इसकी मानसिक क्रिया की अभिव्यक्ति उसके कार्यों के द्वारा होनी चाहिए, शब्दों के द्वारा नहीं। कला की दृष्टि से भी कुतूहल की रक्षा के निमित्त भी स्वगत कथन का बहिष्कार होना चाहिए। आधुनिक युग के विदेशी नाटककारों ने इसी नीति को अपनाकर ऐसे ही नाटकों की रचना आरम्भ की है, जो सर्वश्राव्य संवादों के द्वारा ही नाटक की वस्तु का प्रसार करें।

इसलिए नाटक में अश्राव्य और नियतश्राव्य संवादों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। स्वगत कथन, जनान्तिक, अपवारित तथा आकाश-भाषित से संयुक्त संवाद सर्वथा अस्वाभाविक हैं। जिसका वर्णन करना हो उसे सर्वश्राव्य संवादों तथा व्यापारों के द्वारा ही अभिव्यक्त करना चाहिए था।

स्वगत कथन के स्थान पर अति आधुनिक नाटककार कुछ अन्य उपायों का सहारा ले रहे हैं। कभी-कभी नाटककार नायक के किसी विश्वस्त व्यक्ति की अवतारण रंगमंच पर कर देता है, जिससे नायक या अभिनेता अपने मन की बातें कहता है। कभी-कभी स्वगत कथन के स्थान पर टेलीफोन का सहारा लिया जाता है। इन उपायों से स्वगत कथन का काम चल जाता है और अस्वाभाविकता भी नहीं आने पाती।

आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त में नायक

उच्च और अपराधी प्रकृति : आधुनिक नाट्यशास्त्रियों ने रंगशाला और चलचित्र दोनों की दृष्टि से दो प्रकार के मनुष्यों के विषय में बताया है। एक उच्च प्रकृति के मनुष्य होते हैं, जिनमें उन्नत, त्यागी, वीर, साहसी, दानी, दयालु, सिद्धान्तवादी, परोपकारी, लोक-सेवक, आशावादी, सदाचारी और धर्मभीरु को गिनाया गया है। दूसरे प्रकार के मनुष्य अपराधी प्रकार के होते हैं, जिनमें दूसरों को अकारण कष्ट देनेवाले, चुगली खानेवाले, घमण्डी, कामी, क्रोधी, अनुरक्त, उदासीन, कायर और हत्यारों की गिनती है। यह भी बताया गया है कि कभी ऐसी भी परिस्थिति आ सकती है, जब साधारण मनुष्य भी असाधारण कार्य करने को उद्यत हो जाता है। ये परिस्थितियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं : १. धन, जन या प्रतिष्ठा की असह्य हानि होने पर, २. उस क्रोध में जो अपने पर होता है या अपने इष्ट पर संकट आने पर या कोई अप्रत्याशित घटना हो जाने पर होता है।

इस प्रकार का वर्गीकरण यूरोपीय जीवन पर ध्यान रखकर ही किया गया है। किन्तु, यह वर्गीकरण व्यापक या सार्वभौम रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकता। सृष्टि गुण और अवगुण के योग से ही बनी है। कोई भी व्यक्ति सर्वथा अच्छा या सर्वथा बुरा नहीं हो सकता। सृष्टि की रचना ही गुण और दोष के संयोग से हुई है।

बहुत-से मनुष्य स्वभाव और संस्कार से मृदुभाषी और कोमल स्वभाव के हैं, परन्तु ऐसा अवसर आ जाता है जब वे कठोरतापूर्ण आचरण कर देते हैं। ऐसा भी होता है कि एक मनुष्य किसी समय अच्छा व्यवहार करता है और दूसरे समय वही कठोर व्यवहार करता है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि किसी मनुष्य का मूल्यांकन उसके आकस्मिक व्यवहार से नहीं किया जा सकता। मनुष्य परिस्थितियों का दास हुआ करता है और उसे वही करना पड़ता है, जो परिस्थितियाँ उसे करने को विवश करती हैं। ऐसे मनुष्य अंगुली पर गिनने-योग्य हैं, जो परिस्थितियों के स्वामी होते हैं और गुण, चरित्र तथा स्वभाव से परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेते हैं या परिवर्त्तित कर देते हैं।

जब कर्त्ता का उद्देश्य प्रत्यक्ष होता है, तब उसके चरित्र का मूल्यांकन करने में कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु यदि कर्त्ता अपना उद्देश्य छिपाकर रखता है, तो उसकी नैतिकता में भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि कोई साधु व्यक्ति दूसरे की रक्षा करने के हेतु अपने ऊपर उसका सारा अपराध ले लेता है और अपने सर्वस्व—यहाँ तक कि मान, प्रतिष्ठा, यश, धन और प्राणों—की भी बाजी लगा देता है। साधारण जनता की धारणा हो जाती है कि वह दुष्ट तथा ढोंगी था, परन्तु अन्त तक कोई नहीं जान पाता कि वह कितनी उत्तम प्रकृति का महापुरुष था।

नाटकीय दृष्टि से ऐसे चरित्रों की उपादेयता सन्दिग्ध है और जिन लोगों ने अपने नाटकों में ऐसे चरित्रों की अवतारणा की है, उन सबने किसी-न-किसी उपाय से भेद खोलकर उसका महत्त्व स्थापित करने का प्रयत्न भी किया है। नाटककार यदि ऐसा न करे, तो प्रेक्षक भी उस पात्र के प्रति घृणा का भाव लेकर रंगशाला से जाता है और इस प्रकार नाटक असत्य सिद्ध होता है। परन्तु, काव्य सत्य का स्थापक होता है और कवि को किसी भी विधि से सत्य की स्थापना करनी पड़ती है। यही सत्य-स्थापन ही काव्य-सत्य कहलाता है, जो विद्वानों के बीच विवाद का विषय रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के आचरण के उद्देश्य पर ही उसके चरित्र की परीक्षा निर्भर करती है। इसलिए, मनुष्यों का वर्गीकरण करते समय उनके आचरण पर कम ध्यान देना है और अधिक ध्यान देना है उनके उद्देश्य पर।

निष्कर्ष : आधुनिक मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने मनुष्य का जितने प्रकार से वर्गीकरण किया है, सबमें किसी-न-किसी प्रकार की त्रुटि है। भरत, धनंजय और शारदातनय ने दो प्रकार के मनुष्यों की प्रकृति का विश्लेषण किया है : १. उन व्यक्तियों की, जो संगीत और नाटक में सहायक होते हैं; जैसे नट, भरत, कुशीलव आदि; २. नाटकों में प्रयुक्त होनेवाले राजसी नायकों के परिजन, जिनका विस्तृत परिचय दिया गया है।

प्राय: समस्त लक्षण-ग्रन्थों में नायक-नायिका का जो वर्गीकरण किया गया है, उसका सम्बन्ध शृंगार रस से है और वह इतना पुराना पड़ गया है कि उसके अनुकरण

पर आधुनिक युग में नायक-नायिकाओं का भेद करना असंगत प्रतीत होता है। आजकल नायक-नायिकाओं की अनेक समस्याएँ स्वयमेव सुलझ गई हैं। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के शब्दों में कह सकते हैं : "रात को देर से लौटे हुए या दूसरे दिन प्रातःकाल आये हुए आजकल के किसी नायक के ओठ पर न तो किसी नायिका की आँख का काजल ही मिलता है और न उसके गले के हार की साट ही पड़ी दिखाई पड़ती है। यह सब बातें व्यवहारातीत हो गई हैं, इसलिए खण्डिता नायिका अब खण्डिता रह ही नहीं पाई है। इसी प्रकार, बिजली के इस युग में कृष्णा और शुक्लाभिसारिकाएँ भी व्यर्थ हो गई हैं। बड़े परिजनवाले वे राजा भी अब नहीं रहे, जिनके यहाँ चार-पाँच प्रकार की रानियाँ, विदूषक, विट और चेट हों। इस युग में न तो उनकी आवश्यकता है, न उनका प्रयोजन। हाँ, प्राचीन नाटकों के अध्ययन के लिए उनका विधान अवश्य सार्थक हो सकता है।"[1]

एक दूसरी बात है कि संस्कृत-नाटकों के युग में छोटे-बड़े राजाओं तथा सामन्तों का प्राबल्य था और नाटककारों ने उन्हें ही अपने नाटकों का नायक बनाया। किन्तु, आज के युग में नाटक का नायक कोई किसान, मजदूर, चोर या शराबी भी हो सकता है। अतः, आज चेट, विट, विदूषक आदि और उतने प्रकार के नायक-नायिका अनावश्यक हो गये हैं। उस युग में नायक को सर्वगुण-सम्पन्न होना आवश्यक समझा गया, परन्तु आजकल किसी नाटक का नायक चोर, शराबी या जुआड़ी भी हो सकता है। उस युग की आदर्शवादी तथा सामन्तवादी मान्यताएँ आज की यथार्थवादी तथा समाजवादी पृष्ठभूमि में धराशायी हो जाती हैं।

यूरोप के मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया हुआ वर्गीकरण भी अन्धाधुन्ध ही है। एक ओर कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य की इच्छाशक्ति ही उसका चरित्र प्रकट करती है; दूसरी ओर एक मत है कि कुल-संस्कार तथा संगति का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है; और तीसरा मत है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। ये तीनों मत परस्पर-विरोधी हैं। युंग ने मनुष्य की प्रकृति के अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी नामक दो भेद किये। यह मत और भी भ्रामक है। ये भेद केवल अपवाद-रूप में स्थित प्रकृतिवालों के लिए ग्राह्य हो सकते हैं, परन्तु सामान्य मानव-समाज के लिए उनका आरोप नहीं किया जा सकता। अतः, उपर्युक्त कोई भी मत पूर्णतः ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

पात्रों का नामकरण : ऐतिहासिक नाटकों के पात्रों के नामकरण के विषय में भरत ने नाट्यशास्त्र के अध्याय १९, श्लोक २९–३६ में विस्तृत विवेचन दिया है। वहाँ उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा, रानी, वेश्या, चेट आदि के नामकरण पर विचार किया है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक नामों के लिए तो अधिकतर पुराण तथा इतिहास पर निर्भर करना पड़ता है, शेष नामों का प्रयोग उन देशों की नाम-प्रकृति के

१. अभिनव नाट्यशास्त्र (प्रथम संस्करण), पृ० १४२

अनुसार करना होता है। किन्तु, नाटकीय पात्रों के नामकरण के विषय में कुछ सिद्धान्त आचार्य सीताराम चतुर्वेदी प्रभृति विद्वानों ने निश्चित किये हैं।

१. उदात्त चरित्रवाले नायकों के नाम भी उदात्तता के बोधक होने चाहिए; जैसे राणा प्रताप, विक्रम सिंह आदि। ऐसे पात्रों के नाम बुलाकी सिंह या छोटराम उचित नहीं होते।

२. प्रहसनों के लिए हास उत्पन्न करनेवाले नामों का विधान होना चाहिए; जैसे बुद्धू, घसीटा, लपेटू, चिथरू आदि।

३. दुष्ट तथा क्रूर व्यक्तियों के नाम दुष्टता तथा क्रूरता प्रकट करनेवाले रखने चाहिए; जैसे दुर्योधन, दुर्जन सिंह, काला पहाड़, विकराल जंग, भालामार सिंह आदि।

४. यदि नाटककार को व्यंग्य करना अभीष्ट हो, तो कुछ दुष्ट व्यक्तियों के अच्छे नाम भी रखे जा सकते हैं, जैसे किसी दुष्ट और कपटी व्यक्ति का नाम व्यंग्य के उद्देश्य से निर्मल प्रसाद रखा जाय।

५. सामान्य पात्रों के नामों के विषय में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। किन्तु, लेखक को चाहिए कि पात्र के गुण के अनुसार ही उसका नामकरण करे। शकुन्तला की दोनों सखियों के नाम अनसूया और प्रियम्वदा अत्यन्त सार्थक तथा साभिप्राय रखे गये हैं और उनका निर्वाह भी किया गया है।

नाटकों का आधुनिक वर्गीकरण : नाटकों का निम्नलिखित दृष्टियों से वर्गीकरण हो सकता है : (क) विषय, (ख) प्रदर्शन-विधि, (ग) प्रभाव, (घ) रचना, (ङ) उद्देश्य, (च) सामाजिक या दर्शक, (छ) पात्र, (ज) रंगमंच।

इतनी दृष्टियों से देखने से नाटक को बहुत वर्गों में रखा जा सकता है। फिर भी हम सभी नाटकों को निम्नलिखित कुछ वर्गों में रख सकते हैं :

१. कथा-प्रधान : ऐसे नाटक जिनमें नाटककार का प्रधान उद्देश्य किसी प्रसिद्ध कथा को उपस्थित करना रहता है।

२. चरित्र-प्रधान : चरित्र-प्रधान नाटक वे हैं, जिनमें नाटककार का उद्देश्य किसी विशिष्ट नायक अथवा नायिका के गुणों का विकास दिखाना हो या किसी व्यक्ति की निन्दा के माध्यम से उसके अवगुणों को समाज के सामने रखना हो।

३. व्यापार-प्रधान : व्यापार-प्रधान नाटक उनको कहते हैं, जिनमें घटनाओं तथा क्रियाओं का बाहुल्य हो और संवाद कम हों। ऐसे नाटकों में क्रियाओं के फलस्वरूप कोई विशेष स्वाभाविक एवं अनिवार्य फल प्राप्त होता है। इस प्रकार के मौलिक नाटकों की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की गई है। वास्तविक नाटकीयता तथा नाट्य-कौशल ऐसे ही नाटकों में परिलक्षित होती है।

४. संगीत-प्रधान : संगीत-प्रधान नाटकों में गीत, वाद्य, नृत्य आदि के माध्यम से ही नाट्य-व्यापार दिखाया जाता है।

५. उद्देश्य-प्रधान : जिस नाटक में किसी उद्देश्य का प्रतिपादन किया जाय, उसे उद्देश्य-प्रधान नाटक कहा जाता है।

६. संवाद-प्रधान : संवाद-प्रधान नाटकों में संवाद के ही माध्यम से अधिकांश नाटकीय व्यापार सिद्ध होते हैं। ऐसे नाटकों में भाषा-शैली पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

७. वातावरण-प्रधान : जिस नाटक में एक विशिष्ट वातावरण की सृष्टि की जाय, उसे वातावरण-प्रधान नाटक कहा जाता है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने प्रथम छह प्रकार के नाटकों का विवेचन किया है, परन्तु अन्तिम प्रकार (वातावरण-प्रधान) के नाटकों का उल्लेख नहीं किया है। मैं समझता हूँ कि वातावरण-प्रधान नाटकों का एक विशेष वर्ग रखना अच्छा होगा।

परन्तु, यदि सुविधा की दृष्टि से देखा जाय, तो निम्नलिखित भेदों में सभी का समन्वय हो जा सकता है : १. नृत्त-नाटक, २. नृत्य-नाटक, ३. गीति-नाटक, ४. ऐतिहासिक-नाटक, ५. सामाजिक नाटक, ६. धार्मिक तथा पौराणिक नाटक, ७. एकांकी, ८. स्वोक्ति-नाटक और ९. रेडियो-नाटक।

विशेष प्रकार के रूपक : सामान्यतः प्रचलित रूपकों या नाटकों के अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार के नाटक होते हैं, जिनकी चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है। उनका ग्रथन कुछ भिन्न प्रकार का होता है।

१. नाट्य-नृत्य : नाट्य-नृत्य के रचना-विधान में निम्नलिखित दो अंग होते हैं : (क) कथा, (ख) नृत्य-संकेत।

नाट्य-नृत्य में जो कथा दी जाती है, वह अत्यन्त काव्यमयी तथा प्रभावमयी होती है। यह बहुत स्पष्ट कथा सरल भाषा में लिखी जाती है, जिसे कोई चतुर सूत्रधार अथवा कोई विशेष व्यक्ति—स्थापक या प्रस्तोता—कहता है।

इसके दूसरे अंक में नृत्य-नृत्त-संकेत, वाद्य-संकेत और ताल-संकेत दिये जाते हैं। उसमें यह बताया जाता है कि कथा की किस घटना को किस प्रकार के नृत्य के सहारे किस वाद्य के किस राग, ताल, गति आदि के द्वारा प्रस्तुत किया जाय।

२. गीति-नाट्य : गीति-नाट्य के निम्नलिखित अंग स्वीकृत हैं :

(क) प्रस्तावना, (ख) कथा, (ग) संवादाभिनय, (घ) गीत, (ङ) नर्त्तन।

गीति-नाट्य में सब कुछ गीतों के ही सहारे होता है। ये गीत स्वयं अभिनेता नहीं गाते, प्रत्युत एक गायक-मण्डली के द्वारा गाये जाते हैं। गायक-मण्डली में प्रत्येक पात्र के

गायक प्रतिनिधि होते हैं, जो उन पात्रों के संवाद या अंश गाते हैं। पात्र केवल गीत-भाव का अभिनय करता चलता है। कथा-भाग का जो अंश संवाद के अतिरिक्त रहता है, उसे व्यक्त करने के दो उपाय काम में लाये जाते हैं—१ या तो गायक-मण्डली उसे गीत के द्वारा व्यक्त करती है या २. भावनट या भावनटी आकर नृत्य द्वारा व्यक्त करती है। अभिप्राय यह है कि गीति-नाट्य को प्रस्तुत करने में तीन दल होते हैं—१. अभिनेता, २. भावनट या भावनटी अथवा कथाभिनेता, ३. गायक और वादक-मण्डली के दो दल, जिनमें से एक पात्र-प्रतिनिधि होता है और दूसरा दल समवेत गायक होता है।

गीति-नाट्य की प्रस्तावना में केवल कथा-विषय दे दिया जाता है, अर्थात् मुख्य पात्र अथवा घटना का परिचय गीत और नृत्य में दे दिया जाता है। परिचय देने का यह कार्य भावनटी अपने नर्त्तन से सम्पन्न करती है।

मुख्य गीति-नाट्य में कतिपय तत्त्व होते हैं—१. कुछ गीतिमय संवाद, २. विभिन्न दृश्यों के बीच की शृंखला जोड़ने के लिए कुछ कथा, ३. विशेष अवसरों के मानसिक आवेगों को प्रकट करनेवाले कुछ गीत, ४. कुछ गीत-रहित नृत्य। नाटककार उचित स्थान पर पद्यमय कथा-भाग देकर संकेत करता है कि इसे भावनटी नृत्य द्वारा प्रस्तुत करेगी, अथवा गायक ही गाकर समझा देंगे। गीति-नाट्य के संवाद भी गीतिमय होते हैं और गद्य-नाटक के ही समान इसमें पात्रों का उल्लेख होता है। जिस स्थल पर किसी पात्र का विशेष भावावेश अथवा मानसिक आवेग दिखाना अभीष्ट हो, वहाँ गीत की योजना की जाती है। जिस स्थल पर संवादहीन उत्सव आदि या विशेष उपद्रव आदि दिखाना अभीष्ट हो, वहाँ केवल नृत्य का संकेत होता है। जहाँ कहीं कोई विशेष रंग-निर्देश करना होता है (जैसे 'युद्ध होता है' या 'अमुक पात्र घोड़े पर चढ़ा प्रवेश करता है') वहाँ वह संकेत गद्य में ही किया जाता है। ध्यान इस बात पर विशेष रूप से देना है कि संवाद-विधान बहुत कम होना चाहिए।

३. **मूक नाट्य** : मूक नाट्य में दो अंग होते हैं—(क) कथा या प्रस्तावना; (ख) अभिनय।

यदि कथा अप्रसिद्ध हो तो सारी कथा पहले ही दे देने से सुविधा होती है और यदि कथा प्रसिद्ध है तो उसके विषय में इतना अंश संकेत के रूप में दे देना आवश्यक है, जितने से कथा-प्रसंग समझने में आसानी हो। मूक नाट्य में गीत बिल्कुल ही नहीं रखा जाता। सभी पात्र कथा के क्रम के अनुसार रंगमंच पर प्रवेश करके बारी-बारी से कथा को कोमल आंगिक अभिनय से प्रकट करते हैं। अभिनय के बीच-बीच में यदि आवश्यकतानुसार नर्त्तन का प्रबन्ध हो, तो उसके साथ वाद्य का प्रयोग किया जाता है। ऐसे भी दीर्घ मौन की एकरसता दूर करने के लिए पक्ष-वाद्य, पृष्ठ-संगीत या वाद्य-ध्वनि सुनाई देती रहती है। सुविधा के लिए यह संकेत कर देना आवश्यक है कि कब-कब किस-किस राग और ताल में किन वाद्यों का प्रयोग किया जाय।

४. मूक संवाद-नाट्य : साधारण नाटक और मूक संवाद-नाट्य की रचना में कोई मौलिक अन्तर नहीं रहता, केवल उनके प्रस्तुत करने के ढंग में अन्तर हो जाता है। साधारण नाटक में तो अभिनेता ही संवाद और अभिनय दोनों–कार्य करते हैं, परन्तु मूक संवाद-नाट्य में ऐसा नहीं होता। मूक संवाद-नाट्य में संवाद का पाठ तो नेपथ्य में प्रत्येक पात्र के प्रतिनिधि संवाद-पाठक करते हैं और रंगमंच पर पात्रों की भूमिका में जो व्यक्ति रहते हैं, वे केवल अभिनय करते हैं। इसे ही नेपथ्य-वाक् या Play back कहा जाता है। आजकल चलचित्र में इस Play back का प्रयोग गीत गाने में खूब होता है। संगीत-ज्ञान-रहित कोई अभिनेता रंगमंच पर केवल अभिनय करता है और उसके लिए दूसरा व्यक्ति अदृश्य रूप से गीत गा दिया करता है।

५. श्रव्य नाट्य (रेडियो-नाटक) : रेडियो-नाटक इस युग का नवीन आविष्कार तथा पश्चिम की देन है। हमारे देश पर भी पश्चिम का प्रभाव पड़ा है और रेडियो-नाटक लिखे जा रहे हैं। नाटक दृश्य और श्रव्य दोनों हो सकते हैं, परन्तु रेडियो पर जो नाटक खेले जाते हैं, वे तबतक श्रव्य ही रहेंगे जबतक टेलीविजन का पूरा प्रचार नहीं हो जाता। ऐसे श्रव्य नाटकों के चार अंग होते हैं––१. सूचना, २. संवाद, ३. ध्वनियुक्त व्यापार-योजना और ४. संगीत (गीत, वाद्य तथा नृत्य)।

इसकी रचना में सूचना का विशेष महत्त्व है। इसकी रचना करते समय संवाद को छोड़कर सभी कार्यों को सूचक के द्वारा अवसर के अनुसार सूचित कराते जाना आवश्यक हो जाता है। इसकी सूचना की भाषा अत्यन्त काव्यमय और प्रभावशाली, किन्तु साथ ही सरल, होनी चाहिए। सूचक उसे पढ़ते समय स्वर के उतार-चढ़ाव के सहारे उसका भाव स्पष्ट करता चलता है।

श्रव्य नाटक में भी साधारण नाटक के ही समान रंग-निर्देश तथा संवाद-कार्य होता है, किन्तु इसमें संवाद इस प्रकार का बनाया जाता है कि अधिक-से-अधिक वाचिक अभिनय का अवसर मिले। किन्तु, इसका तीसरा अंग––ध्वनियुक्त व्यापार-योजना––सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा ध्यान देने का विषय है। साधारण दृश्य नाटकों में तो अभिनेता की सभी क्रियाएँ दर्शकों की आँखों के सामने होती रहती हैं, इसलिए वहाँ किसी प्रकार की असुविधा नहीं उपस्थित होती। किन्तु श्रव्य नाटक में पात्रों का उठना-बैठना, चलना-फिरना तो देखा नहीं जा सकता और सभी कार्यों की सूचना भी नहीं दी जा सकती। यदि सभी कार्यों की सूचना दी जाने लगे तो भावधारा पग-पग पर टूट जा सकती है। इसलिए, प्रायः ध्वनियुक्त व्यापारों की योजना करनी होती है, जिससे श्रोता उस व्यापार को सुनकर समझ सके। घोड़े की टाप, घड़ी की टिक-टिक ध्वनि, मोटर का भोंपा, किवाड़ की भड़भड़ाहट, कई जीवों की बोली, तलवारों की खनखनाहट, पिस्तौल और बन्दूक की आवाज, रेलगाड़ी और वायुयान की आवाज, बरतन माँजना आदि ऐसी ध्वनियाँ हैं, जिन्हें श्रोता स्पष्ट रूप से सुन सकें।

साधारण नाटकों के ही समान श्रव्य नाटकों में भी संगीत का आयोजन होता है। किन्तु, यह स्पष्ट रूप से संकेत रहता है कि कहाँ किस राग और ताल में किस लय में किस वाद्य के साथ नृत्य अथवा गीत हो, या केवल वाद्य अथवा केवल नृत्य हो। रेडियो-नाटक के फीचर आदि कई भेद हो गये हैं।

नाटक में पद्य का प्रयोग : कतिपय नाट्याचार्यों का मत है कि नाटक में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग वांछनीय है। संस्कृत-नाटकों के संवादों में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। जहाँ कहीं नाटककार को प्रकृति का वर्णन या सौन्दर्य का वर्णन करना हुआ या कोई उपदेश देना हुआ या किसी भाव अथवा रस की अभिव्यक्ति करनी हुई, वहाँ स्वच्छन्दता से पद्य का प्रयोग किया गया है। केवल कुछ ही बातें गद्य में कही गई हैं; जैसे नमस्कार, आशीर्वाद, शिष्टाचार-वाक्य, आदेश, प्रस्ताव आदि। किसी-किसी नाटककार को तो पद्य का यह रोग इस सीमा तक लग गया है कि 'अपि च', 'तथाहि' आदि लिखकर पद्यों की संख्या इतनी अधिक कर दी गई है कि पाठक या दर्शक का मन ऊब जाता है और वह नीरसता का अनुभव करने लगता है। पारसी रंगमंच पर भी जो नाटक-प्रस्तुत किये गये, उनमें भी पग-पग पर पद्य का प्रयोग होता था। अमानत का नाटक इन्दर-सभा तो बिल्कुल पद्य में ही लिखा गया है, उसके सभी संवाद पद्य में ही हैं।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के पन्द्रहवें अध्याय के ११८-११९वें श्लोकों में तथा सत्रहवें अध्याय के अन्तिम कई श्लोकों में पद्य-प्रयोग का विधान किया है, पर उन्होंने यह नहीं बताया कि कितना तथा कौन-सा अंश पद्यमय हो और कितना गद्यमय हो। यह निर्णय करना नाटककार पर छोड़ दिया गया है।

गद्य और पद्य के प्रयोग के विषय पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना चाहिए। एक तो प्रभाव की दृष्टि है और दूसरी है स्वाभाविकता की दृष्टि। प्रभाव की दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि पद्य अधिक प्रभावकारी होता है। पद्य का प्रभाव इतना अधिक और व्यापक होता है कि इसे सुनकर श्रोता उल्लसित हो जाता है और पद्यबद्ध होने के कारण कोई उक्ति श्रोता या दर्शक की स्मृति पर चिरस्थायी भी हो जाती है। यह शक्ति गद्य में कभी नहीं आ सकती। नाटक का एक उद्देश्य उपदेश भी है—इस दृष्टि से आवश्यक है कि नाटक में जो बातें कही जायँ, वे इस शैली में कही जायँ कि लोग उन्हें सुविधापूर्वक स्मरण रख सकें और अवसर आने पर उनका उपयोग करके अपना तथा अन्य लोगों का भी कल्याण करने में समर्थ हों। संस्कृत-नाटकों के असंख्य पद्य आज भी पण्डितों के जिह्वाग्र पर हैं, जिनका उपयोग वे यथावसर किया करते हैं।

किन्तु, स्वाभाविकता की दृष्टि से विचार करने पर मानना होगा कि पद्य का प्रयोग होना ही नहीं चाहिए। नाट्य यदि अवस्थानुकृति है, तो नाटक में पद्य सर्वथा अस्वाभाविक है; क्योंकि सामान्य जीवन में कहीं भी वार्त्तालाप या साधारण व्यवहार में पद्य का प्रयोग नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य होता है कि वार्त्तालाप के प्रसंग में कभी-

कभी उदाहरण-रूप में किसी कवि की सूक्ति कह दी जाती है। यदि इस प्रकार से पद्य का प्रयोग किया जाय, तो उसे उचित और स्वाभाविक मान सकते हैं, परन्तु उसकी भी सीमा होनी चाहिए। कोई भी व्यक्ति बात-बात में कवियों के पद्य उद्धृत नहीं करता रहता। कभी-कभी प्रसंगवश गद्यात्मक वार्त्तालाप में एक-आध पद्य कह दिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि स्वाभाविकता की दृष्टि से नाटकीय संवाद में पद्य का प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त है।

पद्य या गद्य के प्रयोग के विषय में लोकरुचि को भी ध्यान में रखना होता है। संस्कृत-नाटकों में पद्य का बाहुल्य देखकर अनुमान किया जाता है कि उस युग में जनता श्लोक अधिक पसन्द करती थी। यूनान और रोम के नाटकों में भी पद्य का बाहुल्य था; क्योंकि वहाँ के नाटक प्रायः गाकर ही अभिनीत होते थे। परन्तु, आज का युग गद्य का युग है और साथ ही स्वाभाविकता का युग है। आधुनिक युग के लोग नाटक में पद्य के प्रयोग को अनुचित, अस्वाभाविक और निरर्थक मानते हैं। इस मान्यता का उत्तरदायित्व, कुछ अंश में, वर्त्तमान स्वाभाविक अभिनय-कला पर भी है। जब अभिनेता पद्यमय संवादों में अभिनय करता था, तो उसे अतिनाट्य या अपनाट्य का आश्रय लेना ही पड़ता था। स्वाभाविक अभिनय में पद्यात्मक संवाद ठीक से बैठ ही नहीं सकते।

अतः निष्कर्ष-रूप में कह सकते हैं कि नाटक में संवाद केवल गद्य में ही रखा जाना चाहिए। पद्य का प्रयोग उन्हीं स्थलों पर किया जाय, जब कोई उपदेश देना हो या कोई सिद्धान्त कहने की आवश्यकता हो, और उपदेश तथा सिद्धान्त भी इस रूप में कहे जायँ कि अस्वाभाविक नहीं जान पड़ें।

हिन्दी के आधुनिक नाटककार अपने नाटकों के संवाद में कभी पद्य का प्रयोग नहीं करते। आरम्भ में भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने पद्य का प्रयोग विशेषतः वर्णन करने में किया। पारसी रंगमंच के नाटकों में संवाद में पद्य का प्रयोग बहुत किया गया। बाद के लेखकों––माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त आदि––ने संवाद में भी कुछ अंश में पद्य का व्यवहार किया। परन्तु, आजकल के जितने भी नाटककार हैं, उनमें कोई भी अपने नाटकों के संवाद में पद्य का व्यवहार नहीं करता है। पद्य की परम्परा समाप्त हो गई है और आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त में पद्य अस्वाभाविक और निरर्थक समझा जाता है।

गीत : नाटक के कथोपकथन में अब पद्य तो दिये ही नहीं जाते, परन्तु गाने योग्य पद्य अब भी दिये जाते हैं। नाटककार की रुचि पर ही निर्भर करता है कि वह गीत कम दे या अधिक। प्रसादजी के नाटकों में गीतों का आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया गया है। साथ ही उन्होंने अपने कई नाटकों के अन्त में गीतों की स्वरलिपि भी दे दी है। ऐसे नाटककार शायद समझते हैं कि प्रत्येक पाठक गायक होगा और यदि स्वरलिपि नहीं दी जायगी, तो उसे यह खटकेगा। परन्तु, वस्तुस्थिति तो यह है कि

कुशल गायक स्वर-लिपि के बिना भी अपना काम चला लेता है, इसलिए स्वरलिपि देना अनावश्यक है।

परन्तु, नाटक में अधिक गीत देना अस्वाभाविक तथा अनावश्यक है। भारतीय नाटकों में गीतों का एक विचित्र आडम्बर देखने को मिलता है। जब नाटक में कोई पात्र गीत गाता है, तो हमें देखना चाहिए कि क्या सचमुच ऐसा व्यक्ति इस अवसर पर स्वाभाविक रूप में गीत गा सकता है? प्रायः ऐसा देखा जाता है कि प्रसादयुगीन नाटकों में अनुचित अवसर पर पात्र गीत गाया करता है। आज का नाटककार ऐसा अस्वाभाविक समझकर इसे छोड़ चुका है। इस विषय में एक दूसरा प्रश्न यह होता है कि पात्र या अभिनेता जो गीत गायगा, वह तुरन्त अपना बनाया गीत कैसे गा लेगा? स्वाभाविक जीवन में हम देखते हैं कि ऐसे अवसरों पर कोई व्यक्ति कोई पुराना ही गीत गाता या गुनगुनाता है। यह तुरन्त का बनाया गीत गाना नाटक में अस्वाभाविकता ला देता है।

नाटक का परिमाण : आधुनिक नाटककार के सामने एक समस्या है कि नाटक कितना बड़ा हो। एक समय था जब नाटक देखने के लिए लोग रात-भर बैठे रह जाते थे, परन्तु आज का जीवन इतना व्यस्त हो गया है, जीवन-संग्राम इतना उग्र और जटिल हो गया है कि कोई भी व्यक्ति केवल मनोरंजन के नाम पर उतना समय नहीं व्यय कर सकता। चलचित्र के आविष्कार के कारण बहुत कम द्रव्य व्यय करके कोई भी व्यक्ति बहुत थोड़े समय में अपना मनोरंजन कर लेता है। इस दशा में अधिक पैसे और अधिक समय व्यय करके नाटक देखने में उसकी प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकती है? घर-घर में रेडियो लग जाने के बाद तो घर बैठे नृत्य, गीत, काव्य, संवाद आदि सुनने को मिल जाते हैं और रेडियो-रूपकों के माध्यम से श्रव्य नाटक भी सुनने को मिल जाते हैं।

इसलिए, नाटककारों के लिए आवश्यक हो जाता है कि सस्ते नाटक तैयार किये जायँ, साथ ही वे नाटक ऐसे हों कि कम ही समय में उनका अभिनय भी सम्पन्न हो जाय। इसके लिए आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने तीन उपायों की ओर संकेत किया है। वे उपाय निम्नलिखित हैं : १. नाटक ढाई घण्टे में समाप्त किया जाय, अधिकतम समय चार घण्टे का दिया जा सकता है, इससे अधिक समय तो किसी भी प्रकार नहीं लगना चाहिए। २. नाटक में कम ही पात्रों का समावेश किया जाय, जिससे उनकी वेशभूषा, साज-सज्जा, शिक्षा आदि में कम ही सामग्री और समय व्यय हो। ३. नाटक में बहुत कम ही दृश्य रखे जायँ, जिससे दृश्य-विधान में कम ही द्रव्य व्यय हो।

यदि इन तीन बातों की व्यवस्था हो जाती है, तो नाटक के प्रबन्धकों को नाटक खेलने में बहुत सुविधा होगी। वे बहुत सुगमता से अभिनेताओं का चुनाव कर सकेंगे और उन्हें उचित प्रशिक्षण बहुत मनोवेग से दे सकेंगे। एक लाभ यह भी होगा कि बहुत व्यस्त जीवनवाले व्यक्ति भी थोड़े समय में समाप्त होनेवाले नाटक देखने का समय

निकाल सकेंगे और उसकी व्यवस्था करने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होगा। एक बहुत बड़ा लाभ तो यह होगा कि चलचित्र के समान एक दिन में दो-दो या तीन-तीन खेल बहुत सुविधापूर्वक दिखाये जा सकेंगे।

यूरोप में छोटे नाटक खेलने का आन्दोलन ही चल निकला है। उसका लक्ष्य है कि छोटे-छोटे रंगपीठ हों, जिन्हें सुविधापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकें, उनपर खेले जानेवाले नाटक भी लघुकाय हों, उनमें पात्र भी कम ही हों और दृश्य-विधान अत्यन्त सरल तथा साधारण हों। नाट्यकला के सम्यक् उद्धार के लिए हमारे देश में भी ऐसे नाटकों की नितान्त आवश्यकता है। किन्तु, बड़े नगरों में बड़ी-बड़ी रंगशालाओं का निर्माण हुआ है या हो सकता है, उनके लिए बड़े नाटकों की रचना की जा सकती है। किन्तु, इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिए कि अभिनय में लगनेवाला समय कम हो, दृश्य सरल हो और कम ही अभिनेताओं द्वारा नाटक खेला जा सके। इन बातों पर ध्यान रखकर ही किसी नाटक की रचना होनी चाहिए।

नाटक का नामकरण : कथावस्तु की रचना कर लेने पर नाटक का नाम रखा जाय या नाम रख लेने के बाद कथावस्तु की रचना की जाय--दोनों में अधिक अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु, अधिक अच्छा यह होता है कि कथावस्तु की रचना कर लेने पर ही नाटक का नामकरण किया जाय। कथावस्तु की रचना करते समय उसमें ऐसे व्यापार आ सकते हैं, जिनके कारण नामकरण में सुविधा हो सकती है। ऐतिहासिक नाटकों में पात्र की भी प्रधानता होती है, परन्तु प्रायः ऐसा होता है कि नाटक की प्रकृति उस पात्र के नाम से उतनी स्पष्ट नहीं होती, जितनी किसी विशेष घटना से होती है। उदाहरण के लिए 'उरुभंग' नाटक का प्रधान पात्र भीमसेन है और इस नाटक का नाम 'भीमसेन' भी हो सकता था, परन्तु उरुभंग ऐसी विशिष्ट घटना है, जिससे यही नाम सर्वाधिक उचित जान पड़ता है। इसी प्रकार, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का नाम दुष्यन्त या शकुन्तला कुछ नहीं रखा गया, प्रत्युत इसका नाम अँगूठी के कारण ही रखा गया; क्योंकि समस्त घटना के प्रवाह का आधार वही अँगूठी-रूपी अभिज्ञान है।

नाटकों के नामकरण में निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा सकता है :

१. नायक-प्रधान या पात्र-प्रधान नाटकों का नामकरण नायक या पात्र के नाम पर होना चाहिए; जैसे चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि। यदि किसी नाटक में नायक और नायिका दोनों ही प्रधान हों, तो दोनों के सम्मिलित नाम से नाटक का नाम रखा जाना चाहिए, जैसे विक्रमोर्वशीय, मालती-माधव आदि।

२. व्यापार-प्रधान या घटना-प्रधान नाटकों का नामकरण मुख्य घटना के आधार पर करना चाहिए; जैसे वेणीसंहार, उरुभंग, सुभद्राहरण, मध्यम व्यायोग। प्रहसन या व्यंग्यात्मक नाटक में घटना के ही आधार पर नामकरण होना चाहिए; जैसे सूम के घर

धूम, मत्तविलास-प्रहसन। किन्तु, भवभूति के महावीरचरित के समान नहीं होना चाहिए, जिसमें रामचन्द्र का सम्पूर्ण चरित आ जाय।

३. जिन नाटकों में पात्र और घटना——दोनों की प्रधानता हो, उनका नामकरण पात्र और घटना, दोनों के आधार पर होना चाहिए; जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल, स्वप्नवासवदत्ता।

४. यदि नाटक में समुदाय-विशेष या जाति-विशेष की कोई वृत्ति दिखाई गई हो तो उस समुदाय या जाति से सम्बद्ध नामकरण किया जा सकता है; जैसे कायस्थ-कौशल, नाई की करतूत, मर्चेण्ट ऑफ वेनिस।

५. उद्देश्य-प्रधान नाटकों का नामकरण उद्देश्य या परिणाम के अनुसार किया जाना चाहिए; जैसे विश्वास, बलिदान, परित्याग, मंगलप्रभात, सत्य की विजय आदि।

६. कभी-कभी वस्तु या स्थान के नाम पर नाटक का नामकरण होता है, क्योंकि वे ही वस्तु या स्थान नाटकीय पात्रों या घटनाओं के कार्यकलाप के आधार होते हैं—जैसे हीरे का हार, हाथी-दाँत का डब्बा, रूमाल। यदि ऐसा स्थान हो, जहाँ एक ही विशिष्ट घटना हुई हो तो उस स्थान के नामानुसार नाटक का नाम रखा जाना चाहिए; जैसे चित्रकूट, कुरुक्षेत्र, नन्दिग्राम। यदि किसी स्थान पर अनेक विशिष्ट घटनाएँ हुई हों, तो नाटक का नाम उस स्थान पर नहीं रखना चाहिए; क्योंकि पता नहीं चलेगा कि नाटक का सम्बन्ध किस घटना से है। वृन्दावन, मथुरा, अयोध्या आदि स्थान कृष्ण तथा राम के जीवन से सम्बद्ध हैं, परन्तु वहाँ अनेक घटनाएँ हुई हैं, अतः उनके नाम पर नाटक का नामकरण करने से स्पष्टता के स्थान पर भ्रान्ति ही होगी।

७. प्रतीकात्मक नाटक के नाम से उसके विषय की स्पष्ट ध्वनि होनी चाहिए, जैसे प्रबोधचन्द्रोदय।

कहने का अभिप्राय यह है कि नाटक का नामकरण ऐसा होना चाहिए कि दर्शक को उसका नाम सुनने-मात्र से विषय का आभास हो जाय और वह उस नाटक को देखने के लिए उत्कण्ठित हो जाय। पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों के नाम तो प्रायः व्यक्तियों तथा स्थलों के नाम पर रखे जाते हैं, परन्तु मौलिक सामाजिक नाटकों में पात्र या स्थान के बदले घटना या परिणाम के अनुसार नाम रखना उचित तथा उपादेय सिद्ध होता है। इन नामों को इतना आकर्षक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए कि दर्शक इन नाटकों को देखने के लिए स्वयं आकर्षित हो जाय। ऐसे कुछ नाम निम्नलिखित हैं—अंगद का पैर, राक्षस का पिता, हत्यारा, पिशाच, प्यार के आँसू, विश्वासघात, देवता, प्रतिहिंसा, अत्याचार, सती का शाप, आग की चिनगारी, हृदयमंथन, जीवित समाधि, स्वर्ग में नरक, नरक की आग आदि।

खण्डित वाक्यों या पूर्ण वाक्यों में भी नाटक का नाम रखने की प्रथा चल पड़ी है; जैसे वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, मैं तुम्हारा हूँ, जब तारे भी रोये थे, यह आपका पत्र है, ऊषा कब उदय होगी, चलो दिल्ली, बादल बरसेंगे आदि।

आवेशपूर्ण तथा रोमांचकारी घटनाओं से भरे नाटकों के लिए इस प्रकार के नाम विशेष उपयुक्त जान पड़ते हैं।

दृश्य-संकेत : संस्कृत के नाटकों में और हिन्दी के भी आरम्भिक नाटकों में दृश्य के आरम्भ में स्थान, समय एवं उपस्थित पात्रों की संक्षिप्त सूचना एक-दो पंक्तियों में दे दी जाती थी। परन्तु, आधुनिक नाटकों में यूरोपीय नाटकों के समान कई पृष्ठों तक के लम्बे विवरण दृश्यों के आरम्भ में दिये जाते हैं। ऐसे विवरणों में सभी बातों का विस्तृत वर्णन रहता है। कमरा, उपवन, दरबार, युद्धस्थल, दफ्तर आदि स्थानों की पूरी सजावट के साथ पात्रों की साज-सज्जा, श्रृंगार आदि का वर्णनात्मक विवरण दिया जाने लगा है। संस्कृत-नाटकों में सभी वस्तुएँ रंगमंच पर नहीं दिखाई जाती थीं; बहुत-कुछ कल्पना से काम लिया जाता था, परन्तु आजकल रंगमंच पर सभी दृश्य दिखाने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए इतनी विस्तृत दृश्य-योजना की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा यूरोप के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण हुआ है।

नाटक में चतुर्थ आयाम (फोर्थ डाइमेन्सन) : प्राचीन तथा मध्यकाल के सभी भारतीय तथा पाश्चात्त्य नाटक दो आयामवाले होते थे। रंगमंच पर केवल दो आयाम—लम्बाई और चौड़ाई—होते थे, अर्थात् कोई पात्र रंगमंच पर चल, फिर, दौड़ सकता था। रंगमंच पर तीसरे आयाम—मोटाई या गहराई—का न कोई नाटक लिखा जाता था और न खेला जाता था, अर्थात् ऊपर चढ़ने या नीचे उतरने का कोई दृश्य नहीं दिखाया जाता था। यहाँ तक कि यूरोप की कठपुतलियाँ भी दो ही आयामों की बनाई जाती थीं। उनमें लम्बाई और चौड़ाई होती थी, परन्तु मोटाई नहीं होती थी। परन्तु, भारतवर्ष की कठपुतलियों में बहुत प्राचीन काल से ही मोटाई भी होती थी। आधुनिक युग में स्कैण्डेनेविया के कुछ नाटककारों ने आन्दोलन चलाया कि नाटक में तीसरे आयाम का भी समावेश होना चाहिए। जब सामान्य जीवन में हम सीढ़ी के सहारे मकान की ऊपरी मंजिल पर चढ़ते हैं और अन्यों को चढ़ते देखते हैं, पेड़ पर चढ़ते हैं, नीचे गहराई में उतरते हैं, तो फिर नाटक में इसका प्रदर्शन क्यों नहीं किया जाय? परिणामस्वरूप आधुनिक नाटककारों ने अपने नाटकों में ऐसे दृश्य दिखाना आरम्भ किया। भारतीय भाषाओं—विशेषतः हिन्दी—में भी ऐसे नाटक लिखे और खेले जाने लगे, जिनमें तीसरा आयाम भी दिखाया गया है। आधुनिक नाटकों में ऐसे दृश्य बहुतायत से दिखाये जाने लगे।

किन्तु, आधुनिक नाटककारों को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। ओनील ने चतुर्थ आयाम भी खोज निकाला और इसका प्रयोग भी किया। यह चतुर्थ आयाम मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। हम प्रायः देखते हैं कि कोई व्यक्ति बहुत प्रेमपूर्वक बातें कर रहा है, ऐसा भी होता है कि ऊपर से तो प्रेम की बातें करता है, परन्तु वह अपने मन में सोच रहा है कि अवसर मिले तो इस व्यक्ति को गोली मार दूँ। वह वही नहीं है, जो बाहर दीखता है; उसके मन में कुछ बात है, परन्तु बाहर दिखाता कुछ और है। यह उस चतुर्थ आयाम के ही कारण होता है।

इस चतुर्थ आयाम का अच्छा उदाहरण आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का मनोवैज्ञानिक नाटक 'पाप की छाया' है, जिसमें इसके नायक कमलाकान्त के मन में उठनेवाले मानसिक द्वन्द्व का सुन्दर विश्लेषण कई स्थानों पर किया गया है। आजकल इस चतुर्थ आयामवाले कई नाटक हिन्दी में लिखे गये हैं और धड़ल्ले से लिखे जा रहे हैं।

निष्कर्ष : इन सारे सिद्धान्तों तथा तथ्यों का विवेचन करने के अनन्तर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं : १. नाटक में अभिनेयता अवश्य होनी चाहिए, अर्थात् वह अभिनय के योग्य, खेलने-लायक हो, केवल पढ़ने के योग्य नहीं। २. उसमें एक ही प्रधान कथा अथवा इतिवृत्त होना चाहिए। ३. उसका अन्त सुखमय अथवा प्रसादयुक्त होना चाहिए। ४. नाटक में ऐसे दृश्यों का विधान नहीं होना चाहिए, जो अश्लील, कुरुचि-उत्पादक अथवा विनाशात्मक हों। ५. उसमें संवाद गद्यमय हो, पुराने नाटकों के समान पद्यमय नहीं। ६. गीतों का प्रयोग केवल उपयुक्त स्थलों पर हो, यह नहीं कि सस्ते मनोरंजन के लिए अनुचित स्थलों पर भी गीतों को भर दिया जाय। ७. नाटक ऐसा होना चाहिए, जिसका प्रदर्शन सुविधापूर्वक किया जा सके, ऐसा नहीं कि रंग-व्यवस्थापक की शक्ति के बाहर उसका प्रदर्शन हो। ८. नाटक के सफलतापूर्ण प्रदर्शन के लिए आवश्यक है कि उसके पात्र और दृश्य कम हों। ९. सफल नाटक में स्वगत भाषण, जनान्तिक, अपवारित तथा आकाश-भाषित का प्रयोग नहीं होना चाहिए। सभी संवाद सर्वश्राव्य हों। १०. नाटक ऐसा होना चाहिए, जो थोड़े समय में खेला जा सके, जिसके प्रदर्शन में दर्शकों के धैर्य की कठिन परीक्षा नहीं हो जाय। ११. नाटक में आरम्भ से लेकर अन्त तक कुतूहल व्याप्त रहना चाहिए, यह नहीं कि किसी प्रकार परिणाम दर्शकों को पहले ही ज्ञात हो जाय।

इन सारी बातों को ध्यान में रखकर जिन नाटकों की रचना होगी, वे सफल होंगे; उनसे राष्ट्र का भी कल्याण होगा और नाट्यकला की भी रक्षा होगी।

नव्य रूपान्तर के कारण

ऊपर दिखाया जा चुका है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन नाट्य-सिद्धान्त और आधुनिक नाट्य-सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर आ गया है। भारत का नाट्य-सिद्धान्त बहुत उन्नत रहा है, किन्तु आज उसका नव्य रूपान्तर हो गया है। इस नव्य रूपान्तर के कई कारण हैं। नीचे उन कारणों का निर्देश किया जा रहा है।

१. पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली का प्रभाव : उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत में राष्ट्रीय नवचेतना के साथ साहित्यिक जागरण के युग का भी आरम्भ हुआ। अँगरेजी शिक्षा के कारण हमारी अनेक रूढ़ियाँ ध्वस्त हो गईं, जिनमें साहित्यिक रूढ़ियाँ भी थीं। नवीन शिक्षा ने जीवन में भी नवीनता का समावेश किया। इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ना अवश्यम्भावी था। देश की सभी विकासोन्मुख भारतीय भाषाओं के नाट्य-साहित्य ने इस नवीनता के कारण अपने में परिवर्त्तन लाने का प्रयत्न किया।

हमारी नाट्य-परम्परा अत्यन्त सम्पन्न थी और उसमें परिवर्त्तन होने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती थी, परन्तु अँगरेजी-नाटकों तथा नाटककारों के प्रभाव से वह परम्परा भी छिन्न-भिन्न हो गई। फलस्वरूप भरत मुनि के निर्देश की उपेक्षा करके प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में दुःखान्त नाटकों की रचना होने लगी। प्रेम-पद्धति भी यूरोपीय ढंग की हो गई, उन्मुक्त प्रेम को प्रोत्साहन मिलने लगा। देशोद्धार के लिए भी नाटककार उपयुक्त उपकरण जुटाने लगे। इस प्रकार नाटक की एक नवीन परम्परा चली, जिस पर अँगरेजी तथा अन्य पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्र का पूर्ण प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा।

वस्तुतः, अँगरेजी-नाट्यशास्त्र ग्रीक विद्वान् अरस्तू का अनुसरण करता है जबकि भारतीय नाट्यशास्त्र के आदिव्याख्याता भरत मुनि हैं। यदि दोनों आचार्यों द्वारा किये गये नाटक के लक्षणों की तुलना की जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय तथा पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्रों का नाटक के उद्देश्य में एक मत नहीं है। भरत मुनि अनेक रसों से युक्त काव्य को नाटक संज्ञा देते हैं, परन्तु अरस्तू भावों के रेचन पर बल देते हैं। दोनों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। भारतीय नाटक का साध्य रस है और साधन हैं—संवाद, संगीत तथा अभिनय; निमित्त हैं नट; भोक्ता हैं दर्शक; आधार है कथा। इन सबका संयोग करनेवाले नाटककार तथा नाट्य-प्रयोक्ता हैं।

पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्त का भी प्रभाव आधुनिक भारतीय नाट्य-सिद्धान्त पर पड़ा है।

२. आधुनिक युग का व्यस्त जीवन : भारतीय नाट्य-सिद्धान्त में नव्य रूपान्तर के कारणों में आधुनिक युग का व्यस्त जीवन भी है। आज के कर्म-संकुल जीवन की भाग-दौड़ में किसी को इतना अवकाश नहीं मिलता कि वह बड़े-बड़े नाटक देखने में अपने बहुमूल्य समय के कई घण्टे लगाये। अतः, छोटे-छोटे नाटकों और एकांकियों का विकास हुआ। आज के दर्शक को न इतना समय है और न इतना धैर्य कि वह घण्टों बैठकर पूरा नाटक देखता रहे। परिणामस्वरूप नाटक लिखने के तन्त्र में परिवर्त्तन हुआ और छोटे नाटकों में लेखक अपनी सारी कला-चातुरी का प्रदर्शन करने लगे।

३. स्वाभाविकता की रक्षा : प्राचीन काल के नाटकों में कुछ ऐसे दृश्य या व्यापार होते थे, जो आज के दर्शकों तथा पाठकों को अस्वाभाविक लगते हैं; जैसे स्वगत भाषण, आकाश-भाषित आदि। आज का नाटककार स्वाभाविकता की रक्षा के लिए इन सब बातों का प्रयोग नहीं करता। आज के नाटक तथा अभिनय को अधिक-से-अधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की जाती है। प्राचीन नाटकों में यदि फूल चुनने का दृश्य दिखाना होता था, तो अभिनेता केवल संकेत से फूल चुनने का अभिनय या नाट्य करता था; परन्तु आज का अभिनेता सचमुच फूल चुनेगा—ऐसा दृश्य दिखाया ही नहीं जायगा। प्राचीन काल में यदि नदी-नाला पार करने का दृश्य होता था तो अभिनेता केवल कपड़े उठाकर चलने से नदी पार करने का अभिनय करता था, परन्तु आज के चलचित्रों में सचमुच नदी पार करके दिखाया जाता है और नाटकों में नदी पार

करने का दृश्य अस्वाभाविक समझकर नाटककार ऐसे दृश्य की अवतारणा ही नहीं करता। इसी प्रकार, अन्य दृश्य, जो रंगमंच पर स्वाभाविक रूप से नहीं दिखाये जा सकते, नाटक में नियोजित नहीं किये जाते और इस प्रकार स्वाभाविकता की रक्षा की जाती है। नाटककार ऐसा भरपूर प्रयत्न करता है कि नाटक में ऐसा कोई दृश्य नहीं आने पाये, जो अस्वाभाविक लगे।

स्वाभाविकता की रक्षा के लिए आधुनिक नाटककार निम्नलिखित प्रयोग करते हैं :

(क) स्वगत कथन और विशेषतः जनान्तिक का परित्याग।

(ख) नाटकों से पद्य, गीत तथा नृत्य का बहिष्कार।

(ग) लम्बे भाषणों का यथासम्भव बहिष्कार।

(घ) अंकों की संख्या अधिक नहीं रखते।

(ङ) पात्र कम ही रखे जाते हैं।

नाटकों को स्वाभाविक बनाने के लिए पूर्ण उद्योग करना चाहिए, परन्तु स्वाभाविकता के पीछे इतना पागल नहीं हो जाना चाहिए कि नाटक का मुख्य उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सके।

४. मनोविज्ञान : आधुनिक युग मनोविश्लेषण का है और नाटककार अपने नाटकों में वे ही दृश्य दिखाता है, जो मनोविज्ञान की कसौटी पर खरे उतरें। नाटक के प्रत्येक पात्र का कार्य-कलाप मनोविज्ञान की सुदृढ़ शिला पर आधारित रहता है, वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता या कोई भी ऐंसी बात नहीं कहता, जो मनोविज्ञान के विरुद्ध पडे। आज का नाटककार पात्रों के हृदय में होनेवाले अन्तर्द्वन्द्व तथा भावों के घात-प्रतिघात का मार्मिक चित्रण करता है। पहले के नाटककार इन बातों पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। इधर फ्रायड के मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों का प्रभाव नाटक पर बहुत अधिक पड़ा है। उन अनुसन्धानों से मनोविज्ञान के जगत् में एक प्रकार की क्रान्ति हो गई है। आधुनिक नाटककार अपने नाटकों में उन सारी वस्तुओं का उपयोग करता है। जो नाटक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ते हैं या जिनमें मनोविज्ञान का आधार नहीं होता, वे निकृष्ट कोटि के समझे जाते हैं।

५. आर्थिक कारण : भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के नव्य रूपान्तर के कारणों में एक प्रमुख स्थान आर्थिक कारण का भी है। किसी नाटक का अभिनय प्रस्तुत करने में काफी द्रव्य व्यय होता है। अभिनेताओं के अन्य आवश्यक व्ययों के अतिरिक्त दृश्य बनाने में भी बहुत व्यय होता है। यदि बहुत बड़ा और जटिल दृश्य बनाया जाय, तो बहुत अधिक व्यय की सम्भावना होती है। इसलिए, जो नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाते हैं, उनमें नाटककार यही प्रयत्न करता है कि सीधे-सादे दृश्यों में ही नाटक लिखे जायँ या एक ही दो दृश्य बना लिये जायँ, जिनपर सम्पूर्ण नाटक का अभिनय समाप्त हो जाय। यदि प्रत्येक दृश्य में एक नया ही दृश्य-विधान किया जाय, तो व्यय बहुत अधिक होगा, साथ ही प्रत्येक दृश्य के बाद नया दृश्य बदलने में प्रयोक्ताओं को कठिनाई

होगी और दर्शकों को भी विलम्ब के कारण असन्तोष होगा। अतः, आधुनिक नाटककार यथासम्भव सीधे-सादे और कम ही दृश्यों की योजना करता है।

दृश्य-योजना के अतिरिक्त पात्रों के प्रशिक्षण, साज-सज्जा, वेशभूषा में भी काफी द्रव्य व्यय होता है। यदि नाटक में अधिक पात्रों की योजना की जायगी, तो अन्य कठिनाइयों के साथ द्रव्य की भी कठिनाई होगी। अतः, आजकल जो नाटक रंगमंच के लिए लिखे जा रहे हैं, उनमें कम ही पात्रों की योजना की जाती है। इसी प्रकार, सामाजिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों में अभिनेताओं की साज-सज्जा पर अधिक व्यय होने की सम्भावना है। आधुनिक नाटककार इन सारी बातों का ध्यान रखता है।

६. रेडियो का आविष्कार : आधुनिक नाट्य-विधा में रेडियो का बहुत अधिक महत्त्व है। रेडियो के आविष्कार से इस दिशा में एक प्रकार से क्रान्ति आ गई है। पहले संकेत किया गया है कि आजकल रेडियो पर कितने प्रकार के नाटक प्रसारित किये जा रहे हैं, उन नाटकों में दृश्य कुछ भी नहीं होता, सब कुछ श्रव्य होता है; ध्वनि के सहारे सभी नाटक खेले जाते हैं। ऐसे नाटकों के अनेक प्रकार हो गये हैं। रेडियो-रूपक, रेडियो-फीचर, ध्वनि-नाट्य, रिपोर्ताज आदि कई नाट्य-भेद रेडियो के कारण उत्पन्न हुए हैं।

रेडियो-नाटक काव्य के दोनों भेदों—दृश्य तथा श्रव्य—का मिश्रित रूप है। इसके बन्ध दृश्य काव्य के ही समान रहते हैं, परन्तु इसमें ऐसे दृश्य नहीं रहते, जो नेत्र-पथ से मन तक पहुँच जायँ। इसमें शब्दों के ही द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं। रेडियो-नाटक के लिए रंगमंच, यवनिका, वेशभूषा या प्रेक्षागृह—किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। एक माइक्रोफोन तथा फेडर की सहायता से स्टूडियो में बैठा अभिनेता अपनी भूमिका अदा करता है और सैकड़ों-हजारों मील पर स्थित श्रोता नाटक का रसास्वादन करते रहते हैं। पतलून और टाई पहनकर भी अभिनेता अकबर या अशोक, या विश्वामित्र का पार्ट अदा कर सकता है और श्रोता को किसी भी प्रकार रस में व्यवधान नहीं होता। यदि ध्वनि का रेकार्ड कर लिया जाय, तो स्वयं अभिनेता भी अपना पार्ट सुन सकता है, रसास्वादन में किसी प्रकार बाधा नहीं होती। रेडियो-नाटक की सम्पूर्ण कला ध्वनि पर आधारित है और इसका समस्त कौशल माइक तथा फेडर पर निर्भर करता है। अतः, बहुत कम ही साधनों के सहारे रेडियो-नाटक अत्यन्त विशाल जन-समुदाय तक पहुँच जाता है। आजकल रेडियो के लिए काफी संख्या में नाटक लिखे जा रहे हैं।

ये नाटक बहुत कम साधनों के द्वारा, सुविधापूर्वक, अत्यन्त विशाल जन-समुदाय के पास पहुँचाये जा सकते हैं, इसीलिए रेडियो-नाटकों की लोकप्रियता स्वभावतः बहुत तेजी से बढ़ रही है। अतः, दृश्य नाटकों की अपेक्षा ये श्रव्य नाटक बहुत अधिक संख्या में लिखे जा रहे हैं। वस्तुतः, नाट्य-सिद्धान्त के नव्य रूपान्तर में रेडियो का बहुत बड़ा हाथ है।

७. बिजली आदि का आविष्कार : आजकल नाट्य-प्रयोग का ढंग बदल गया है। मध्ययुग में नाटक का अभिनय किसी ऊँचे स्थान पर खुले मैदान में हो जाता था, परन्तु आजकल बिजली के प्रभाव से रंगमंच पर अनेक प्रकार के साधनों के बल पर अति साधारण नाटक को भी अत्यन्त मनोहर बना दिया जाता है। आधुनिक युग का नट नाटककार के ही सदृश यशस्वी कलाकार माना जाता है। नव्य रूपान्तर पर इस बात का भी प्रभाव पड़ा है।

८. स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा सामयिक समस्याएँ : भारत में स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा जनतन्त्र की स्थापना के बाद यहाँ हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के नाटकों में विषयवस्तु की दृष्टि से काफी परिवर्त्तन हुआ है। क्रान्तिकारी देशभक्तों की कहानियाँ, जो अबतक विदेशी शासन के कारण प्रकाश में नहीं आ सकी थीं, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद नाटक का विषय बनकर आईं और उस विषय में अनेक नाटक रचे गये। इन नाटकों में अभिव्यक्त हिंसावादी देशभक्तों तथा अहिंसावादी महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। सन्त विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ के आन्दोलन से भी आधुनिक भारतीय नाटक बहुत प्रभावित हुआ है। इस विषय को भी लेकर नाटक लिखे गये हैं। आजकल की सामाजिक समस्याओं को भी लेकर नाटकों का निर्माण हो रहा है। इस प्रकार, आधुनिक नाटक जन-जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब उपस्थित कर रहा है। परन्तु, ये नाटक अधिक जटिल, बौद्धिक तथा गद्यमय होते जा रहे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में देश की चेतना तथा व्यवस्था में काफी परिवर्त्तन हुआ है। देश में बहुमुखी विकास-योजनाओं का कार्यान्वयन हुआ है, परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार के कारण उनका अपेक्षित फल नहीं प्राप्त हो रहा है। औद्योगिक विकास के साथ ही परम्परागत सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवस्था में भी परिवर्त्तन होता ही रहा है। देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय तथा भाषागत समस्याएँ आये दिन विकराल रूप में उपस्थित होती रहती हैं। अभिप्राय यह है कि देश की विविध तथा जीवन्त समस्याओं से हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर्याप्त मात्रा में जीवन-रस ग्रहण कर सकता है। इस दिशा में बहुत-कुछ नाटक लिखे भी गये हैं। उदयशंकर भट्ट और उपेन्द्रनाथ अश्क इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

चीनी आक्रमण की भी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। इस प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति साहित्य की अन्य विधाओं के समान नाटक में भी हुई। चीनी आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों की प्रेरणा से लिखित नाटकों में निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—'घाटियाँ गूँजती हैं' (शिवप्रसाद सिंह), 'नेफा की एक शाम' (ज्ञानदेव अग्निहोत्री) और 'अपनी धरती' (रेवतीशरण शर्मा)।

द्वादश अध्याय

निष्कर्ष

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के उद्भव और विकास का अध्ययन एवं विवेचन करने के उपरान्त हम सहज रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय नाट्य-सिद्धान्त एक सतत विकासशील सिद्धान्त रहा है। स्थैर्य मृत्यु है और गत्यात्मकता शाश्वत जीवन-प्रवाह। जब कोई शास्त्रीय सिद्धान्त अनुदार अथ च स्थिर हो जाता है और जीवन के परिवर्त्यमान स्वरूप से नैकट्य ग्रहण कर तदनुसार अपने स्वरूप में परिवर्त्तन की प्रक्रिया को अस्वीकार कर देता है, तो वह वहीं शिलीभूत एवं जड़ हो जाता है। इसके विपरीत सभ्यता के विकास के साथ ही चिरन्तन विकसनशील मानव-जीवन-धारा से अभिसिंचित होते हुए, उसके साथ ताल-मेल स्थापित कर एकमेक भाव से चलनेवाला सिद्धान्त जीवनानुरूप होकर सदैव जीवित एवं गतिशील बना रहता है। भारतीय नाट्य-सिद्धान्त की यही विशेषता है कि इसने भारतीय संस्कृति की भाँति ही उदारतापूर्वक भारतीय तथा भारतीयेतर विचारकों एवं नाट्यशास्त्रियों के विचारों तथा चिन्तनों को न केवल उचित रूप में स्वीकारा, प्रत्युत उन्हें सम्यक् रूप से आत्मसात् भी किया है।

पिछले अध्यायों के अध्ययन-अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य, रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्य, इतिहास, पुराण और कुछ अंशों में लोकगीतों से विभिन्न तत्त्व ग्रहण कर नाट्यवेद का उद्भव हुआ। आरम्भ में इसका उद्देश्य मात्र ऐसा सार्ववर्णिक मनोरंजन का साधन (क्रीडनीयक) प्रस्तुत करना था, जो एक साथ ही दृश्य और श्रव्य दोनों हो। वही नाट्यवेद आज जीवन की समस्त जटिलताओं तथा ग्रन्थियों और व्यक्ति तथा समाज के अन्तर्बाह्य संघर्षों के विस्तृत पर्यावरण से पोषण प्राप्त कर व्यक्ति और समाज का न केवल मनोरंजन करता है, वरन् उनमें एक विलक्षण सौन्दर्य-चेतना उत्पन्न करता है, नवीन संवेदनाओं का संचार करता है, उनकी आशा-आकांक्षाओं, जय-पराजयों, स्वप्न-लालसाओं तथा सुकृति-विकृतियों का सबल बिम्ब प्रस्तुत करता है और उनमें आशा का आलोक उँड़ेलकर जीवन-संग्राम में जूझने को उद्‌बुद्ध करता है। अतएव, हम सहज ही इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि भारतीय नाट्यशास्त्र अपने विकास की यात्रा में प्रायः ढाई सहस्र वर्षों के सामाजिक चिन्तनों का रस ग्रहण कर जीवन प्राप्त करता रहा है।

भरत-पूर्व नाट्याचार्यों से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक नाट्य-सिद्धान्त को विकसित करनेवाले प्रमुख आचार्यों की एक दीर्घ सूची है। इन आचार्यों में भरत, अभिनवगुप्त, धनंजय, शारदातनय, नन्दिकेश्वर, जैन-आचार्य-द्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र तथा विश्वनाथ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन आचार्यों को सात कोटियों में रख सकते हैं :

१. भरत-पूर्व नाट्याचार्य, जिनकी रचनाएँ अनुपलब्ध हैं, परन्तु जिनकी चर्चा भरत ने की है।

२. भरत मुनि, जिनका नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का आधार-ग्रन्थ है।

३. भरत के परवर्त्ती आचार्य, जिनका आधार-ग्रन्थ भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र है—जैसे धनंजय, शारदातनय आदि।

४. वे आचार्य, जिनकी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं, पर जिनके उद्धरण अन्य आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दिये हैं। अभिनवगुप्त ने कोहल के और विश्वनाथ ने नखकुट्ट के उद्धरण दिये हैं।

५. वे आचार्य, जिनका केवल नामोल्लेख अन्य आचार्यों ने किया है; जैसे—शिलाली, कृशाश्व, सदाशिव, पद्मभू आदि।

६. भरत के नाट्यशास्त्र के भाष्यकार; जैसे—अभिनवगुप्त, शंकुक, कीर्त्तिधर आदि।

७. वे आचार्य, जिन्होंने काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों के विवेचन-क्रम में नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया है। इनमें राजा भोज तथा कविराज विश्वनाथ प्रमुख हैं।

इन संस्कृत-नाट्याचार्यों के नाट्य-सिद्धान्तों के विकासक्रम में नया मोड़ तब आया जब पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्तों का प्रभाव हिन्दी के नाट्याचार्यों ने ग्रहण किया और भारतीय नाट्य-सिद्धान्त की विकसनशील परम्परा को युगानुरूप ढालने में योग दिया। ऐसे आचार्यों में भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद, डॉ० श्यामसुन्दर दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० दशरथ ओझा, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, व्रजरत्न दास, डॉ० रघुवंश, डॉ० एस० पी० खत्री आदि प्रमुख हैं।

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का विकास चौमुखी हुआ है। वस्तु, पात्र, रस, नाटक के युगानुरूप नवीन भेद आदि सभी दिशाओं में प्रचुर परिमाण में विकास के चिह्न परिलक्षित हो रहे हैं।

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के विकास की परम्परा अति दीर्घ है। स्वभावतः, आज भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का स्वरूप मूल रूप से भरतकालीन नाट्य-सिद्धान्त रहते हुए भी स्पष्ट रूप से परिवर्त्तित दिखाई पड़ता है।

वैसे भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का मूल स्रोत भरत का नाट्यशास्त्र ही है। किन्तु, परवर्त्ती आचार्यों ने उसके भाष्य, व्याख्या और स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा उसका रूप विकसित करने में विलक्षण अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। आचार्य विश्वनाथ के काल तक आते-आते भरत द्वारा निर्दिष्ट पूर्वरंग आदि की धारणा में पर्याप्त अन्तर आ गया था और आधुनिक हिन्दी-नाटकों में तो इनका लोप ही हो गया है। विश्वनाथ कविराज के काल

तक कथावस्तु के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर आ गया था; उसमें मनोरंजन के साथ ही सामाजिक उत्कर्ष की ओर भी संकेत होने लग गये थे। इस युग में आकर हिन्दी-नाटकों की कथावस्तु का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। कथावस्तु के निर्माण में भरत द्वारा निर्दिष्ट तथा अन्य आचार्यों द्वारा समर्थित सन्धियों तथा अर्थ-प्रकृतियों का पूर्णतः बहिष्कार किया जा चुका है।

यही स्थिति पात्रों की भी है। भरत ने नायक और नायिकाओं के जो भेद किये थे, वे विश्वनाथ के काल तक पर्याप्त विकसित हो गये थे। भरत ने नायक और नायिका के चार-चार भेद किये थे। किन्तु, आगे चलकर श्रृंगार रस के नायकों के दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल——ये चार भेद किये गये। फिर नायक के सहायक विट, चेट, विदूषक, पीठमर्द, शकार आदि में अनेक नाम शारदातनय, विश्वनाथ आदि ने जोड़े। विश्वनाथ ने अनेक प्रकार के दूतों की भी चर्चा की।

इसी भाँति भरत द्वारा प्रस्तुत नायिकाओं के दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका-जैसे चार भेदों को छोड़कर परवर्त्ती आचार्यों ने नायक-नायिका के पारस्परिक सम्बन्ध, नायिका की अवस्था, नायक के प्रतिकूल आचरण पर नायिका की प्रतिक्रिया तथा नायिका की प्रेम-दशाओं के आधार पर उनके ३८४ भेद, प्रभेद और उपभेद किये। धनंजय ने यह भेद नाटकीय पात्रों के सम्बन्ध में किया है, किन्तु विश्वनाथ ने रस के आलम्बन विभाव के पक्ष में यह विवरण दिया है। नायक-नायिका के भेदों का इतना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथा गहन अध्ययन विश्व के किसी अन्य नाट्य-सिद्धान्त में नहीं किया गया। इसे भारतीय नाट्याचार्यों की गम्भीर पर्यवेक्षण-शक्ति और पारदर्शी अन्तर्दृष्टि का परिणाम ही माना जा सकता है। इसके साथ ही नायिकाओं के शरीरज, अयत्नज तथा स्वाभाविक अलंकारों की विवेचना कर इन आचार्यों ने अपनी तलस्पर्शी दृष्टि का ही परिचय दिया है। इन नाट्याचार्यों से प्रेरणा लेकर हिन्दी के रीतिकालीन कवियों तथा आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया, जिसके फलस्वरूप यह स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित हुआ। परन्तु, रीतिकालीन कवियों का यह विवेचन नाट्यशास्त्र से नहीं, प्रत्युत काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखता था।

किन्तु, आज का हिन्दी-नाटककार नायक-नायिका-भेद के पचड़े में नहीं पड़ता। सामन्तयुगीन वातावरण के तिरोधान तथा पाश्चात्य प्रभाव के कारण आज न धीरोदात्त नायक राजा आदि को स्थान दिया जाता है और न उसके विदूषक आदि सहायकों का ही उल्लेख होता। नायक-नायिका-भेद युग-प्रभाव के कारण स्वयमेव लुप्त हो गया है। आज नायक के लिए सर्वगुण-सम्पन्न होना आवश्यक नहीं। कोई भी व्यक्ति आधुनिक हिन्दी-नाटकों का नायक हो सकता है। सामन्त-युग की पिटी-पिटाई लकीर को छोड़कर आधुनिक नाटकों का नायक अनेक रूपों में और अनेक मार्गों से आता है। आज जीवन के किसी भी क्षेत्र का कोई भी व्यक्ति नाटक के नायक के पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

रस के क्षेत्र में भी भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक बड़ा सूक्ष्म विवेचन हुआ है, और न मात्र उसकी संख्या में विस्तार हुआ, वरन् उसके अलौकिकत्व, स्थिति तथा निष्पत्ति पर भी जितना गम्भीर विवेचन हुआ है, वह भारतीय आचार्यों की, छिलके से बीज तक जाने की प्रवृत्ति का ही सूचक है। भरत ने जहाँ रस. भावादि के विवेचन में रंगमंच को दृष्टि में रखकर व्यावहारिकता को अपनाया है, वहाँ अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय दृष्टिकोण है। इधर हिन्दी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं के आचार्यों ने भी रस-सिद्धान्त पर गम्भीरता से विचार किया है। परम्परागत नव रस के अतिरिक्त देशभक्ति, प्रकृति आदि नवीन रसों की उद्भावना हुई है। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० गुलाबराय, डॉ० नगेन्द्र आदि विद्वानों का रस-सिद्धान्त के विवेचन में योगदान महत्त्वपूर्ण है। भारतीय नाट्य-सिद्धान्त में रस-सिद्धान्त का प्रमुख स्थान रहा है; क्योंकि प्राचीन नाटककारों ने नाटकों में अपना प्रधान उद्देश्य रस की निष्पत्ति माना था।

परन्तु, आधुनिक नाटकों में रस का वह महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रह गया है, जो प्राचीन नाटकों में था। संस्कृत-नाटकों में तो रस-निष्पत्ति को सर्वाधिक प्रधानता मिली, परन्तु आज के नाटकों में रस की उपेक्षा की गई है। आज के नाटककार का आकर्षण चरित्र के मनोवैज्ञानिक विवेचन के प्रति विशेष हो गया है। मनोविश्लेषण के युग में चरित्र के उत्थान-पतन, संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व ने नाटक में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है।

प्राचीन काव्यशास्त्र में रस की संख्या का भी विस्तार हुआ। पिछले अध्याय में इस विषय का विवेचन किया गया है। धनंजय ने नाटक के लिए आठ ही रसों की व्यवस्था दी, शान्त रस को नाटक के लिए अनुपयुक्त माना। दूसरी ओर, अभिनवगुप्त ने शान्त रस को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और रसों की संख्या नौ मानी। इस ग्रन्थ में शान्त रस को नाटक के लिए निषिद्ध नहीं माना गया है। हिन्दी में 'महात्मा ईसा', 'बुद्ध', 'सिद्धार्थ', अमिताभ आदि कई ऐसे नाटक लिखे गये हैं, जिनमें शान्त रस की प्रधानता है। इस प्रबन्ध में देशभक्ति, प्रकृति आदि रसों को मान्यता नहीं दी गई है और नव रस की स्थापना की गई है। काव्य के लिए भक्ति तथा वात्सल्य को भी रस स्वीकार किया गया है।

जीवन के अधिक जटिल होने, सामाजिक विसंगतियों के बढ़ने तथा पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप आज का भारतीय नाट्य-सिद्धान्त पारम्परिक भारतीय नाट्य-सिद्धान्त से प्रेरणा और प्रकाश लेकर भी अनेक अर्थों में संस्कार-मुक्त हो गया है।

हिन्दी के आदिनाटककार महाराजा विश्वनाथ सिंह ने पारम्परिक नाट्य-सिद्धान्त की मर्यादा मानी, परन्तु भारतेन्दु ने संस्कृत-नाट्य-शैली को प्रमुखता देकर भी यूरोपीय

नाट्य-कला का भी आश्रय ग्रहण किया। यदि उन्होंने शिल्प के रूप में प्रस्तावना, मंगलाचरण, नान्दी, सूत्रधार, भरत-वाक्य आदि को स्थान दिया, तो कथानक के रूप में तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को ही महत्त्व दिया। अब नाटक के नायक लोकोत्तर व्यक्ति ही नहीं, साधारण व्यक्ति भी होने लगे। भारतेन्दु-काल में जहाँ एक ओर कुछ नाटककार वेश्या का चरित्र दिखा रहे थे, वहीं दूसरी ओर, दूसरे नाटककार ऐसे पात्रों का नाम भी सुनना नहीं चाहते थे।

प्रसादजी के आगमन से हिन्दी-नाटकों तथा नाट्य-सिद्धान्त में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो गया। उनके नाटकों के कथानक क्रमशः जटिल होते गये। महाभारत से हर्ष के काल तक के पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्र नाटकों में प्रस्तुत होने लगे। अब नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि की जटिलताएँ समाप्त हो गईं। युद्ध, हत्या और मृत्यु के दृश्य रंगमंच पर अवतरित होने लगे तथा पाश्चात्त्य नाटकों की भाँति शील-वैचित्र्य, अन्तस्संघर्ष, भावों के घात-प्रतिघात और प्रेम की करुण अभिव्यंजना नाटकों में स्थान पाने लगीं। प्रसाद के नाटक न तो पारम्परिक संस्कृत-नाटकों की भाँति सुखान्त हैं, न पाश्चात्त्य नाटकों की भाँति पूर्ण दुःखान्त; बल्कि प्रसादान्त हैं। इस भाँति प्रसाद के नाटकों की शैली पूर्वीय और पश्चिमीय नाट्य-शैलियों के समन्वय से गढ़ी गई भारतीय शैली बन गई। नाट्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में यत्र-तत्र व्यक्त किये गये प्रसाद के विचारों का बहुत मूल्य है।

प्रेमीजी ने अपना क्षेत्र मुसलमान-कालीन भारत को चुना। इनके नाटकों में हिन्दू पात्रों के अतिरिक्त मुसलमान पात्र भी बहुलता से प्रस्तुत होने लगे। इन्होंने अपने इन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नाटकों में हिन्दू-मुसलमान-एकता पर सतत बल दिया है। इनके नाटकों में संवादों की भाषा पात्रानुकूल है। फिर भी इनके नाटकों तथा विचारों से हिन्दी-नाट्य-सिद्धान्त में कोई विशेष विकास नहीं हो सका। सेठ गोविन्ददास ने अनेक शैलियों में नाटक लिखे, जिनकी सूची लम्बी है। उन्होंने नाटक तथा नाट्य-सिद्धान्त में बहुमुखी विकास किया है।

पाश्चात्त्य नाटककारों—इब्सन और शॉ—से प्रभावित होकर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्या-नाटकों की रचना की। फिर अनेक प्रतिभाशाली नाटककारों ने उनका अनुसरण किया। समस्या-नाटकों में परम्परागत भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का अधिकतर उल्लंघन ही हुआ है। कुछ समस्या-नाटककारों ने पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्तों का अन्धानुकरण किया है, परन्तु अधिकतर ने पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्त को पचाकर उसे भारतीय रूप में ढालकर प्रस्तुत किया है।

कुछ आधुनिक नाट्यशास्त्रियों ने स्वतन्त्र पुस्तकें लिखकर या अन्य पुस्तकों की लम्बी भूमिकाएँ लिखकर नाट्य-सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की पुस्तक 'नाटक' हिन्दी की इस प्रकार की पहली पुस्तक है। इसमें अत्यन्त संक्षेप में नाट्य-सिद्धान्त की चर्चा हुई है, परन्तु पूर्ण विवेचना का अभाव है।

डॉ॰ श्यामसुन्दर दास तथा डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'रूपक-रहस्य' मुख्यतः 'दशरूपक' के आधार पर लिखा, यद्यपि इसमें कुछ प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों और कुछ यूरोपीय विद्वानों की पुस्तकों से भी सहायता ली गई है। स्वतन्त्र विवेचन का अभाव होते हुए भी इसकी विशेषता यही है कि इसमें परम्परागत सभी बातें आ गई हैं। डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'दशरूपक' की विस्तृत भूमिका में नाट्य-सिद्धान्त का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। डॉ॰ दशरथ ओझा के 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास', 'नाट्य-समीक्षा' तथा 'रास और रासान्वयी काव्य' नामक ग्रन्थों के द्वारा नाट्य-सिद्धान्त के विकास में अमूल्य सहायता मिली है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा की नाट्य-कृतियों की भूमिकाओं से भी नाट्य-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के 'अभिनव नाट्यशास्त्र' का नाट्य-सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आगे चलकर हिन्दी-नाटककारों ने नाटकों का दुःखान्त होना भी स्वीकार किया और ज्यों-ज्यों जीवन जटिल होता गया, विज्ञान का चमत्कार बढ़ता गया, उद्योगों ने प्रगति की तथा पाश्चात्त्य संस्कृति से भारतीय संस्कृति घुलने-मिलने लगी, त्यों-त्यों हमारे नाट्य-सिद्धान्त में भी परिवर्त्तन होते गये। अब नाटकों के पारम्परिक भेदों का परित्याग कर नये भेदों की स्थापना तथा उनमें रचना होने लगी। अब भाण, वीथी आदि के स्थान पर एकांकी, गीति-नाट्य, स्वोक्ति-नाटक आदि रूपकों के नये-नये भेद बन गये हैं। रेडियो के आविष्कार के फलस्वरूप उसपर नये-नये नाटकों का प्रसारण होने लगा। रेडियो-नाटक में भी रिपोर्ताज, फीचर, फैण्टेसी आदि कोटि के नाटकों की रचना होने लगी। नाटकों के सामाजिक, राजनीतिक, समस्यामूलक, सांस्कृतिक आदि कई भेद हुए। नाटकों में चमत्कार के स्थान पर मनोविज्ञान की प्रमुखता स्थापित हुई।

भरत ने रंगमंच का अत्यन्त सूक्ष्म तथा विस्तृत विवरण दिया और उनकी दृष्टि से रंगमंच-सम्बन्धी छोटी-से-छोटी बात भी नहीं बच सकी। परन्तु, परवर्त्ती आचार्यों ने रंगमंच पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। आधुनिक काल में हिन्दी का अपना रंगमंच नहीं है, परन्तु बँगला, मराठी आदि को अपना पूर्ण विकसित तथा सम्पन्न रंगमंच है। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में भी स्कूल-कॉलिजों में समय-समय पर उत्सवों के अवसरों पर नाटकों का अभिनय होता रहा है। परन्तु, इन अवसरों पर भरत के निर्देश के अनुसार रंगमंच का निर्माण नहीं होता। आजकल रंगमंच के निर्माण में बिजली आदि वैज्ञानिक आविष्कारों का पूरा लाभ उठाया जाता है। सेठ गोविन्ददास आदि नाटककारों तथा आचार्य सीताराम चतुर्वेदी आदि नाट्यशास्त्रियों का विचार है कि रंगमंच के निर्माण तथा सजावट में वैज्ञानिक आविष्कारों का पूर्ण तथा यथोचित लाभ उठाना चाहिए।

हमने पूर्व ही निवेदन किया है कि भारतीय नाट्य-सिद्धान्त एक गतिशील अथच जीवन्त सिद्धान्त रहा है। औदार्य इसका धर्म रहा है तथा नव-नवीन सिद्धान्तों को ग्रहण एवं पाचन करने की क्षमता इसका सामर्थ्य। यही कारण है कि यह आज विश्व की

जटिलतम स्थितियों और व्यक्ति तथा समष्टि के गहनतम भावों को प्रस्तुत करने का मार्ग उपस्थित करता है। पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्त से बहुत-कुछ ग्रहण करने के पश्चात् भी भारतीय नाट्य-सिद्धान्त अपने मूल में भारतीय ही है। नये विचार इसकी परम्परा के पारावार में मात्र लघुतम ऊर्मियाँ बनकर अपनी सुषमा का अनूठापन दिखा देते हैं, पारावार में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं करा पाते। जिस प्रकार बाह्य वेश के ग्रहण से मनुष्य का निजी स्वरूप नहीं परिवर्त्तित होता है, उसी प्रकार पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्तों के रासायनिक मिश्रण से भी भारतीय नाट्य-सिद्धान्त का व्यक्तित्व आहत नहीं होता। यही इसकी विलक्षणता तथा जीवन्तता का प्रमाण है।

इस प्रकार नाट्य-सिद्धान्त के विकास-क्रम का अध्ययन करने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शाश्वत विकासमान मानव-जीवन तथा समाज के नित परिवर्त्यमान मूल्यों, आचारों और संघर्षों के अनुसार ही भारतीय नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों में भी परिवर्त्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। भरत से लेकर वर्त्तमान काल तक जिस एक सिद्धान्त में कोई परिवर्त्तन नहीं हो सका, वह यह है कि नाटक मूलतः मानव-जीवन और समाज की अन्तर्बाह्य स्थितियों तथा छवियों की अनुकृति है। सभ्यता के विकास, वैज्ञानिक आविष्कार एवं औद्योगीकरण के कारण मानव-जीवन में जो जटिलताएँ और विविधताएँ आई हैं, उसकी अन्तर्बाह्य स्थितियों में जो परिवर्त्तन हुए हैं तथा उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक स्वरूप में जो क्रान्तियाँ हुई हैं, उनके अनुसार ही नाटकों के स्वरूप में भी विस्तार एवं नव्य रूपान्तर हुए हैं। समाज के साथ एकमेक भाव से चलनेवाला नाट्य-साहित्य जीवन की गद्यात्मकता से विमुख नहीं हो सकता। स्वभावतः नाट्य-सिद्धान्त में भी परिवर्त्तन और विकास होते रहे हैं। किन्तु, इन नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विकास के मूल में जो भाव कार्य कर रहा है, वह है समाज के साथ उसकी आत्मनिष्ठता एवं शिवत्व की प्रतिष्ठा। और, भविष्य में भी बदलते हुए सामाजिक परिवेश तथा मानव-जीवन के साथ नाट्यशास्त्र के सिद्धान्त उसी भाँति एकमेक भाव से सम्बद्ध बने रहेंगे; जैसे प्रत्येक स्थिति में भगवती उमा के साथ सम्बद्ध रहते हैं भगवान् अर्द्धनारीश्वर सदाशिव।

●

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत

१. ऋग्वेद-संहिता : परोपकारिणी सभा, अजमेर, चतुर्थ आवृत्ति
२. यजुर्वेद-संहिता : चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस
३. कृष्णयजुर्वेद : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
४. कौषीतकी ब्राह्मण
५. याज्ञवल्क्यस्मृति : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
६. नाट्यशास्त्र (भरत) : गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा
७. नाट्यशास्त्र (,,) : काव्यमाला सिरीज
८. नाट्यशास्त्र—हिन्दी-अनुवाद : डॉ० रघुवंश, मोतीलाल बनारसी दास
९. नाट्यशास्त्र (प्रथम तथा द्वितीय अध्याय)—हिन्दी-अनुवाद : श्रीरामगोविन्द शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस
१०. दशरूपक (धनंजय) : सम्पादक : डॉ० काशीनाथ पाण्डुरंग परब
११. दशरूपक (धनंजय) : सम्पादक : डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस
१२. साहित्यदर्पण (कविराज विश्वनाथ) : टीकाकार : शालग्राम शास्त्री, प्र० श्रीकान्त शास्त्री, ऐबट रोड, लखनऊ
१३. भावप्रकाशन (शारदातनय) : सम्पादक : यदुगिरि यतिराज स्वामी; गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा
१४. नाट्यदर्पण (रामचन्द्र-गुणचन्द्र), ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा
१५. अभिनवभारती (अभिनवगुप्त), गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा
१६. काव्यप्रकाश (मम्मट) : सम्पादक—रघुनाथ दामोदर करमरकर, भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, पूना
१७. शृंगारप्रकाश (भोजदेव)
१८. सरस्वती-कण्ठाभरण (भोजदेव) : सम्पादक : पं० केदारनाथ शर्मा
१९. अष्टाध्यायी (पाणिनि) : खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई
२०. महाभाष्य (पतंजलि) : सम्पादक : शिवदत्त शर्मा : पाण्डुरंग जावजी; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
२१. रसगंगाधर (पण्डितराज जगन्नाथ) : टीका—मथुरानाथ शास्त्री : पाण्डुरंग जावजी; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
२२. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्द्धन) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
२३. ध्वन्यालोकलोचन (अभिनवगुप्त) : हिन्दी-व्याख्याकार : आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्या-भवन, बनारस

२४. काव्यादर्श (दण्डी) : एस० के० बेलवलकर, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना
२५. काव्य-मीमांसा (राजशेखर) : हिन्दी-व्याख्याकार : डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस
२६. अमरकोश : प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, बनारस
२७. अग्निपुराण : मनसुख राय मोर, क्लाइव रो, कलकत्ता
२८. काव्यालंकार-सारसंग्रह (उद्भट)
२९. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
३०. व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट) : टीका—मधुसूदन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस
३१. संगीत-रत्नाकर (शार्ङ्गदेव), अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास
३२. प्रतापरुद्र-यशोभूषण (विद्यानाथ), चौखम्बा संस्कृत सिरीज
३३. भक्तिरसामृतसिन्धु (रूपगोस्वामी)
३४. भगवद्भक्ति-रसायन (मधुसूदन सरस्वती)
३५. औचित्य-विचार-चर्चा (क्षेमेन्द्र)
३६. अभिनय-दर्पण (नन्दिकेश्वर)
३७. हिन्दी-अभिनव भारती (अनु० आचार्य विश्वेश्वर), हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
३८. हिन्दी-नाट्यदर्पण (अनु० आचार्य विश्वेश्वर) ,, ,,
३९. शृंगारतिलक (रुद्रभट्ट)
४०. नाटक-लक्षण-रत्नकोश (सागरनन्दी) : सम्पादक ढिलन, आ० यू० प्रेस, लन्दन
४१. रसार्णवसुधाकर (शिंगभूपाल) : सम्पादक : टी० गणपति शास्त्री
४२. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा
४३. अभिज्ञानशाकुन्तल : टीका–राघव भट्ट; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
४४. हिन्दी-रसगंगाधर (अनु० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी), इण्डियन प्रेस, प्रयाग
४५. वक्रोक्तिजीवितम् (कुन्तक) : टीका—सुशील कुमार दे, प्रकाशक—एन० सी० पाल, कलकत्ता

हिन्दी

१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास (डॉ० दशरथ ओझा), द्वितीय संस्करण, राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली
२. नाट्य-समीक्षा (डॉ० दशरथ ओझा), द्वितीय संस्करण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
३. रास और रासान्वयी काव्य (डॉ० दशरथ ओझा)
४. संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा (चन्द्रशेखर पाण्डेय और नानूराम व्यास)
५. संस्कृत-साहित्य का इतिहास (आचार्य बलदेव उपाध्याय), शारदा-मन्दिर, काशी
६. समीक्षा-दर्शन (रामलाल सिंह), इण्डियन प्रेस, प्रयाग
७. नाटक की परख (डॉ० एस० पी० खत्री), प्रथम संस्करण, साहित्य-भवन, प्रयाग

८. रस-सिद्धान्त (डॉ० नगेन्द्र)
९. अरस्तू का काव्यशास्त्र (डॉ० नगेन्द्र)
१०. रीतिकाव्य की भूमिका (डॉ० नगेन्द्र), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
११. नाट्य-सिद्धान्त की भारतीय परम्परा और दशरूपक (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी)
१२. नाट्यकला (डॉ० रघुवंश), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
१३. रस-मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी
१४. चिन्तामणि (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)
१५. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), चतुर्थ संस्करण, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी
१६. रूपक-रहस्य (डॉ० श्यामसुन्दरदास और डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल), इण्डियन प्रेस, प्रयाग
१७. नाट्यकला-मीमांसा (सेठ गोविन्ददास), महाकोशल साहित्य-मन्दिर, जबलपुर
१८. साहित्य के रूप और तत्त्व (डॉ० शिवनन्दन प्रसाद), पुस्तक-भण्डार, पटना
१९. ब्रजभाषा-साहित्य का नायिका-भेद (प्रभुदयाल मीतल), अग्रवाल प्रेस, मथुरा
२०. सिद्धान्त और अध्ययन (डॉ० गुलाबराय)
२१. हिन्दी-नाट्य-विमर्श (डॉ० गुलाबराय)
२२. काव्य के रूप (डॉ० गुलाबराय)
२३. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त)
२४. अग्निपुराण का नाट्यशास्त्रीय भाग, हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय
२५. रसिकप्रिया (केशवदास)
२६. भवानी-विलास (देव)
२७. काव्यकला एवं अन्य निबन्ध (जयशंकर प्रसाद), भारती भण्डार, प्रयाग
२८. नाटक (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)
२९. भारतेन्दु-ग्रन्थावली
३०. हिन्दी-नाट्य-साहित्य (ब्रजरत्न दास), प्रथम संस्करण, हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस
३१. रेडियो-नाटक (हरिश्चन्द्र खन्ना)
३२. रेडियो-नाट्य-शिल्प (डॉ० सिद्धनाथ कुमार)
३३. हिन्दी-एकांकी की शिल्प-विधि का विकास (डॉ० सिद्धनाथ कुमार)
३४. एकांकी-कला (प्रो० रामयतन सिंह)
३५. हिन्दी-एकांकी (डॉ० सत्येन्द्र)
३६. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका (डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)
३७. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा), सरस्वती मन्दिर, बनारस

३८. रस-सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण (आनन्दप्रसाद दीक्षित); राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
३९. लोकधर्मी नाट्य-परम्परा (श्याम परमार); हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, काशी
४०. हमारी नाट्य-परम्परा (श्रीकृष्ण दास)
४१. हिन्दी के पौराणिक नाटक (देवर्षि सनाढ्य)
४३. हिन्दी-नाटक-साहित्य और रंगमंच (कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह)
४४. सेठ गोविन्ददास-अभिनन्दन-ग्रन्थ (भारतीय नाट्य-साहित्य), सम्पादक डॉ० नगेन्द्र
४५. हिन्दी-नाटककार (जयनाथ नलिन); आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४६. आधुनिक साहित्य (नन्ददुलारे वाजपेयी); भारती भण्डार, प्रयाग
४७. भारतीय नाट्यशास्त्र में रंगशालाओं के रूप (रामगोविन्द चन्द्र)
४८. अभिनव नाट्यशास्त्र (सीताराम चतुर्वेदी); प्रथम संस्करण, अखिलभारतीय विक्रम परिषद्, काशी
५०. हिन्दी के समस्या-नाटक (डॉ० विनय कुमार), अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध
५१. नाट्यशास्त्र को भरत की देन (डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित), अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध
५२. मनोविश्लेषण एवं फ्रायडवाद की रूपरेखा : डॉ० वाई० मसीह
५३. मुक्ति का रहस्य (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?) (लक्ष्मीनारायण मिश्र)
५४. तीन नाटक (प्राक्कथन) (सेठ गोविन्ददास)
५५. गरीबी या अमीरी (भूमिका) (सेठ गोविन्ददास)
५६. चारुमित्रा (भूमिका) (डॉ० रामकुमार वर्मा)
५७. रेशमी टाई (भूमिका) (डॉ० रामकुमार वर्मा)
५८. विजय-पर्व (भूमिका) (डॉ० रामकुमार वर्मा)
५९. शिवा-साधना (अपनी बात) (हरिकृष्ण प्रेमी)
६०. विषपान (पुकार) (हरिकृष्ण प्रेमी)
६१ प्रकाश-स्तम्भ (संकेत) (हरिकृष्ण प्रेमी)
६२. स्वप्न-भंग (कुछ बातें) (हरिकृष्ण प्रेमी)
६३. विशाख (जयशंकर प्रसाद)

English

1. Sanskrit Drama (Dr. A.B. Keith)
2. A History of Sanskrit Literature (A.A. Macdonall)
3. A History of Sanskrit Literature (V. Varadachari)
4. A History of Sanskrit Literature (S.N. Dasgupta & S.K. De)
5. Dramas (H. H. Wilson); Chowkhamba Sanskrit Series, Benaras.
6. Aristotle's Poetics (Translated by S.H. Butcher)
7. The Theatre of the Hindus (H.H. Wilson, Raghavan, Resharow, Vidya-bhushana)

8. The Natya Sastra of Bharat (Translated by Dr. M.M. Ghosh); Royal Asiatic Society of Bengal.
9. Selected Specimen of the Theatre of the Hindus (Vol. II), Calcutta, 1926-27.
10. History of Sanskrit Poetics (Dr. P. V. Kane)
11. The Number of Rasas (Dr. V. Raghavan); Adyar Library, Adyar, Madras.
12. Ancient Indian Theatre (D.R. Mankad)
13. Types of Sanskrit Drama (D.R. Mankad)
14. Aspects of Sanskrit Literature (S.K. De)
15. Classical Sanskrit Literature (Dr. A.B. Keith)
16. History of Sanskrit Poetics (S.K. De)
17. Indian Drama, Publication Division, New Delhi.
18. Natya Lakshana Kosh (Eng. Tra. V. Raghavan); The American Philosophical Society, Oriental Book Agency, Poona.
19. Theory of Rasa & Dhvani (A. Shankaran).
20. Contributions of Hindu Drama (Dr. M.M. Ghosh)
21. Upa-rupakas : Drama Seminar, Sangit Natak Academy, Delhi
22. Psychological Types (C. G. Jung)
23. An Outline of Psychology (William MacDoougall), Methuen & Co., London.

पत्र-पत्रिकाएँ

१. नई धारा, जनवरी, १९५२ ई०
२. नई धारा, अप्रैल-मई, १९५२ ई०
३. नई धारा : रंगमंच-विशेषांक, सन् १९५२ ई०
४. नई धारा, जुलाई, १९५३ ई०
५. आलोचना, जनवरी, १९५६ ई०
६. आलोचना, अप्रैल, १९५६ ई०
७. आलोचना, नाटक-अंक, जुलाई, १९५६ ई०
८. पाटल, अगस्त, १९५४ ई०
९. पाटल, नवम्बर, १९५४ ई०
१०. पाटल, जनवरी-फरवरी, १९५५ ई०
११. हंस, शान्ति-संस्कृति-अंक, वर्ष २२, अंक ६,७
१२. आजकल, सितम्बर-अक्टूबर, १९५५ ई०
१३. आजकल, फरवरी, १९५७ ई०
१४. आजकल, सितम्बर, १९६२ ई०

१५. आजकल, अप्रैल, १९६३ ई०
१६. आलोचना, जुलाई, १९६३ ई०
१७. कल्पना, अगस्त, १९६१ ई०
१८. कल्पना, जून, १९६२ ई०
१९. कल्पना, सितम्बर, १९६३ ई०
२०. नया पथ, नाटक-अंक, सन् १९५५ ई०
२१. समालोचक, दिसम्बर, १९५८ ई०
२२. साहित्य-सन्देश, जुलाई-अगस्त, १९५५ ई० (अन्तरप्रान्तीय नाटकांक)
२३. आकाशवाणी-प्रसारिका, अक्टूबर-दिसम्बर, १९५७ ई०
२४. आकाशवाणी-प्रसारिका, मार्च, १९५७ ई०
२५. आकाशवाणी-विविधा, सन् १९५९ ई०
२६. आकाशवाणी-विविधा, सन् १९६० ई०
२७. हिन्दी-अनुशीलन, अगस्त, १९६५ ई०
२८. हिन्दी-अनुशीलन, जनवरी-मार्च, १९६२ ई०
२९. हिन्दी-अनुशीलन : शोध-विशेषांक, सन् १९६२ ई०
३०. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९६३ ई०
३१. आलोचना : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-विशेषांक, अप्रैल, १९६६ ई०

शब्दानुक्रमणी

आ

ख

ग

घ

च

ध

न

भ

ष

ह